काशी हिन्दू विश्वविद्यालय प्रकाशन

नाथ और संत साहित्य

(तुलनात्मक अध्ययन)

(काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० उपाधि
के हेतु स्वीकृत शोध प्रबंध)



लेखक
नागेन्द्र नाथ उपाध्याय
एम० ए०, पी-एच० डी०,
हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

प्रकाशक
© काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी–५

मूल्य ९) अजिल्द
" १०) सजिल्द

मुद्रक
लक्ष्मी दास
बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी प्रेस, वाराणसी–५
भारत

प्रस्तुत प्रकाशन

बहुत दिनों से सभी विश्वविद्यालयों में इस आवश्यकता का अनुभव हो रहा था कि शोध और अनुशीलनपरक जितने प्रबन्ध उपाधिप्रदान के लिए प्रत्येक वर्ष स्वीकृत हो जाते हैं, उनके प्रकाशन की भी समुचित व्यवस्था की जाय। इस व्यवस्था का उत्तम रूप तो यही हो सकता है कि विभिन्न विश्वविद्यालय ऐसी उपादेय और विमर्शपूर्ण रचनाओं को स्वयं प्रकाशित एवं प्रसारित करें। संतोष का विषय है कि इधर कई विश्वविद्यालयों में अपने शोध-प्रबन्धों के प्रकाशन की यथासाध्य व्यवस्था होने लगी है।

विगत कुछ वर्ष पूर्व इसी प्रकार के उद्देश्य की सिद्धि के लिए काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की प्रशासक समिति ने भी एकाधिक निधियों की व्यवस्था करके इस ओर ठोस कदम उठाया है। विश्वविद्यालय के विशिष्ट अनुदानों द्वारा प्रदत्त धन से डा० रामदरश मिश्र के 'हिन्दी आलोचना का इतिहास', डा० विष्णुस्वरूप के 'कवि-समय-मीमांसा', डा० कणिका विश्वास के 'ब्रजभाषा और ब्रजबुली साहित्य' और डा० श्यामसुन्दर शुक्ल के 'हिन्दी काव्य की निर्गुण धारा में भक्ति'—इन चार हिन्दी ग्रन्थों का प्रकाशन किया गया। प्रस्तुत ग्रन्थ इस योजना का पंचम पुष्प है।

इस प्रबन्ध में लेखक ने बड़े श्रम से नाथों और संतों के साहित्य में साम्य तथा वैषम्य के मूलाधार भक्ति, योग, रहस्यवाद एवं काव्य के विन्दुओं को सुस्पष्ट रीति से उन्मीलित करने की चेष्ट की है। लेखक के अनुसार उभय-विध साहित्यों को गति और प्रेरणा देनेवाली परम्परा मूलतः तांत्रिक है। तंत्रों की योगप्रधान प्रवृत्ति शैवों की विशेष रूप से पाशुपत परम्परा से पुष्ट होकर नाथों के साहित्य में प्रस्फुटित हुई और उसी की भक्तिप्रधान प्रवृत्ति वैष्णवों की विशेषतः नारदीया परम्परा से अन्वित होकर संत साहित्य के रूप में अभिव्यक्त हुई। अतिवर्णाश्रमी या पंचमाश्रमी नाथों की परम्परा के काल-गत परिणाम के रूप में यद्यपि लेखक को बहुत से संतों की आनुवंशिक स्थिति मान्य है तथापि वे बौद्ध सिद्धों, नाथों और संतों की साधनात्मक समस्रोतता

का तथ्यात्मक खंडन करते हैं। इन उपस्थानों के साथ ही साथ समर्थ समीक्षकों को पारस्परिक परिवर्तनों के मूलभूत हेतुओं पर भी विचारार्थ सोत्साह प्रवृत्त होना चाहिए।

जगन्नाथ प्रसाद शर्मा
अध्यक्ष हिन्दी-विभाग
(संयोजक)

६–३–६५
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

प्राक्कथन

भारतीय अध्यात्मसाधन की रहस्यमयी प्रगति की समीक्षा के प्रसंग में मध्ययुग का इतिहास सर्वथा महत्त्वपूर्ण है। मध्ययुग में भी नाथ संप्रदाय की योगसाधना तथा संतों की योगसाधना विशेष रूप से उल्लेखयोग्य है। प्राचीन होने पर भी उस समय में जो शैव तथा वैष्णव आगममूलक साधनाएँ देश में प्रचलित होकर विस्तार को प्राप्त हुई थीं, वे सुदीर्घ काल तक अपने अपने गुरुत्व का संरक्षण कर सकी थीं। दोनों ही साधनाएँ यद्यपि योगसाधना के अन्तर्गत थीं तथापि नाथ संप्रदाय के योगी विशेष रूप से ज्ञानपथ के पथिक थे तथा संतों के साधन में भक्तिमार्ग का ही प्राधान्य था। यद्यपि उभय संप्रदायों में कुछ संस्कृत ग्रंथ उपजीव्य हैं तथापि विशेष रूप से दोनों संप्रदायों ने प्रादेशिक भाषाओं का अवलंबन करके अपना प्रचार किया था और इस प्रकार वे अपने उपदेशों का भी प्रसार किया करते थे। मध्ययुग में इस प्रकार ऐसे बहुत से संप्रदायों का उद्भव हुआ था जिनकी चिन्ताधारा उनकी चिन्ताधारा में सर्वथा सूक्ष्म रूप से परिलक्षित होती थी। इन संप्रदायों में नाथ तथा संत संप्रदाय ही अधिक विशिष्ट, सम्पन्न और व्यापक थे, इसमें संदेह नहीं। इन दोनों संप्रदायों के आधार तथा सिद्धान्तों के विषय में तुलनात्मक आलोचन की आवश्यकता सभी साहित्यिक लोग अनुभव करते थे।

इस समय में डा० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय ने बहुत दिनों के परिश्रम से एक सुदीर्घ निबंध की रचना करके उसे प्रकाशित किया है जो विशेषज्ञों से प्रशंसित भी हुआ है। इसमें उन्होंने निरपेक्ष दृष्टि लेकर दोनों संप्रदायों के संबंध में विचारपूर्वक समालोचन करने का प्रयत्न किया है। इसमें दोनों संप्रदायों, उनके साहित्य और उनके परस्पर संबंधों का भी आलोचन है। प्रसंगतः शव तथा वैष्णव संप्रदायों की चर्चा भी की गई है और उनके साथ नाथों तथा संतों के संबंध का भी यथासंभव विवेचन किया गया है। आनुषंगिक रूप से संत मत के उपोद्घात के आकार में भक्तिवाद का सुन्दर विवेचन किया गया है। भक्ति के सदृश योग की भी चर्चा की गई है। उसी के परिप्रेक्ष्य में नाथयोग के रहस्य को समझने में सुगमता होगी। यद्यपि शैव, शाक्त तथा तांत्रिक योग की बातें कही गई हैं, फिर भी उस विषय के साधन का मूल तत्व उतना परि-स्फुट नहीं हुआ है, जितना आवश्यक था।

नाथ तथा संत साधना के विषय में विश्लेषणात्मक पर्यालोचन करने के लिये क्रमशः योग तथा भक्ति का विशिष्ट स्थाननिर्णय करना आवश्यक है। इस प्रसंग में मैं पहले योग की बात कह रहा हूँ। पातंजल योग अथवा उसका अनुसरण करनेवाले संप्रदायों का सिद्धान्त की दृष्टि से, आत्मा की कैवल्यस्थिति ही परम-लक्ष्य है और इसी लक्ष्य को समाने रखकर उनकी योग में प्रवृत्ति होती है। चित्त की एकाग्र भूमि की प्राप्ति होने पर, अर्थात् अस्मिता समाधि की सिद्धि हो जाने पर ही परम प्रज्ञा का उदय होता है। इस प्रज्ञा का आलोक जब प्रतिष्ठित होकर विश्व के केन्द्र में स्थितिलाभ करता है, तब सर्वज्ञान, सर्व-भावाधिष्ठान प्राप्त हो जाता है, परन्तु मूल अविवेक अर्थात् चित् और अचित् का अभेदज्ञान तब भी रह जाता है। उसके बाद ग्रंथिभेद होने पर विवेक-ख्याति का मार्ग खुल जाता है। अवश्य ही यह विकाश क्रमशः होता है और अंत में एकाग्र दृष्टि का भी निरोध हो जाता है और चित्त संस्कार अवस्था में उपनीत हो जाता है। अंत में पुरुषख्याति हो जाने पर गुणवितृष्णा हो जाती है जिसका नाम परम वैराग्य है। उसके बाद और चित्त नहीं रहता। गुणाधिकार की निवृत्ति होती है। उस समय भोग तथा अपवर्ग दोनों ही पुरुषार्थों की सिद्धि हो जाने के कारण गुणों का परिणामक्रम समाप्त हो जाता है। धर्ममेघ समाधि का उदय होता है, चित्त का सर्वथा उपसंहार हो जाता है और चिदात्मा पुरुष अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। इसी का नाम कैवल्य है।

यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि पातंजल योग में कुंडलिनी के प्रबोधन तथा समुत्थान का प्रश्न ही नहीं उठता। कुंडलिनी शक्ति चित्शक्ति की ही प्रसुप्त अवस्था मात्र है। विश्वसृष्टि के प्राक्काल में परमेश्वर स्वरूप-स्थित रहते हुए भी अपने स्वातंत्र्य के बल से आत्मसंकोच करते हुए मायाप्रमाता के रूप में प्रकट होते हैं। उस समय एक अखंड 'परिपूर्ण अहं' विभक्त होकर परिच्छिन्न 'अहं' तथा उसके प्रतियोगी 'इदं' के रूप में प्रकाशित होता है। सबसे पहले इदं शून्यात्मक प्रमेय रहता है और उसके साथ अहं उस प्रमेय का प्रमाता रहता है। उसके अनन्तर क्रमशः अधिकतर बहिर्मुख बनने के कारण भौतिक स्तर में अवतरण होता है। यही है सृष्टि का प्रारम्भिक इतिहास। चित्शक्ति क्रमशः अक्षुण्ण होकर गाढ़ सुषुप्ति में मग्न होकर कुंडलिनी का आकार धारण करते हुए विद्यमान रहती है। उस समय शिव रूपी आत्मा पशु रूप में प्रकट होता है। इस पशु आत्मा का सुप्तिभंग और तदनन्तर शिवरूपता की प्राप्ति, यही योग

का परम लक्ष्य है। पातंजल योग में यह लक्ष्य नहीं दीख पड़ता; क्योंकि पुरुष अनादि काल से अविवेक के कारण प्रकृति के जाल से जड़ित होकर विद्यमान है। इस जाल से मुक्त होकर केवलत्व का लाभ करना ही पातंजल योग का उद्देश्य है। पुरुष पंचविंश तत्त्व है। 'पुरुष विशेष' ईश्वर षड्विंश तत्त्व है। अतएव पुरुष केवलत्वलाभ करने पर भी नित्य सिद्ध ईश्वर के पद को प्राप्त नहीं कर सकता। अर्थात् जीव मुक्त होने पर भी शिव नहीं होता। पातंजल मत से पुरुष का ईश्वरत्वलाभ कार्य-ईश्वरत्व का नामान्तर है। परन्तु यह विभूति मात्र है। इस स्थिति में अविवेक रह ही जाता है। विवेकज्ञान के प्रभाव से अविवेकनिवृत्त होने पर, अन्त में सब विभूतियों का अवसान हो जाता ह और पुरुष प्रकृति के संसर्ग से मुक्त होकर कैवल्यलाभ करता है। मुक्तभाव तथा ईश्वरत्व, ये दोनों धर्म, पुरूष के लिये सहभावी नहीं होते।

नाथयोग का लक्ष्य भी ठीक पातंजल योग के अनुरूप नहीं है। नाथयोगियों का कथन है कि आत्मा का चरम लक्ष्य है अद्वय भाव की प्राप्ति। इस मत के अनुसार सदगुरु की कृपा से चित्तविश्रांतिलाभ सबसे पहले होना चाहिए; क्योंकि बिना उसके सामरस्य प्राप्ति नहीं हो सकती। जब तक चित्त देहात्मबोध-मूलक क्षोभ से मुक्त न हो, तब तक इसमें शान्ति नहीं होती और यथार्थ साधना का प्रारंभ ही नहीं होता। चित्तविश्रांति से स्वभावतः भगवदानंद और अनंत ज्योतियों का आविर्भाव होता है। इस अद्वय प्रकाश से द्वैत भाव निवृत्त हो जाता है। इसके बाद चित्शक्ति का प्रकाश होता है और योगी निज देह के पूर्ण ज्ञान को प्रात करता है। इसका फल है देहसिद्धि या पिण्डसिद्धि। इसका नामान्तर है देह का असरत्व। उस समय काल का किसी प्रकार का प्रभाव देह के ऊपर नहीं पड़ता। इसे नामान्तर से सिद्ध अवस्था कह सकते हैं।§ परन्तु अभी भी जो यथार्थ अंतिम लक्ष्य है, वह दूर है। इस समय योगी की

---

§ पंतजलि की कायसिद्धि और यह पिंडसिद्धि ठीक एक प्रकार की नहीं है। दोनों स्थानों में वज्रदेह या वज्रांग का लक्षण दृष्ट होता है, यह सत्य है। परन्तु नाथों की पिंडसिद्धि के मूल में है परमपद का साक्षात्कार। यह उसके साथ एकीभाव या तादात्म्यभाव का पूर्ववर्ती है। पंतजलि का कायसंपत् पूर्णणतया देहशुद्धि होने पर भी पुरुष की स्वाभाविक शुद्धता के अनुरूप नहीं हो सकता। इसलिये पंतजलि का कायसंपत्, एक दृष्टि से देखा जाय तो प्रकृति का ही अंग है।

देह ज्योतिर्मय आकार को लेकर प्रकाशमान होती है। यह चैतन्य की सारभूत सत्ता है। परम पद के नित्य सिद्ध प्रकाश के साथ इस प्रकाशमय आकार का एकत्वसंपादन करना आवश्यक है। सुदीर्घ काल तक आत्मा के स्वरूपानु-संधान में तल्लीन रहने से यह हो सकता है। यही सामरस्य है। क्षणिक सामरस्य न होकर स्थायी सामरस्य का होना आवश्यक है। क्षणिक सामरस्य के अनन्तर व्युत्थान होता है, परन्तु स्थायी सामरस्य के बाद व्युत्थान नहीं होता। नाथयोगिगण इसी को निरुत्थान दशा कहते हैं।

सामरस्य और निरुत्थान दशा, दोनों के अंतराल में कुछ अवस्थाओं का पता चलता है। पहले विश्वातीत सत्ता का विश्व रूप में स्फुरण होता है। उससे बाद निराकार और साकार का जो भेद है, वह टूट जाता है। साथ ही आत्मा में विश्वदर्शन होने लगता है। उसके बाद आत्मा का शक्तिपुंज, जिससे आत्मा में ही आबद्ध रह जाय, उसके लिये योगी को ध्यान में रखना आवश्यक है। अंत में पूर्ण स्वातंत्र्य से समन्वित आत्मा का स्फुरण होता है। यही निरुत्थान दशा के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ अनन्त वैचित्र्य से युक्त एक अखंड सत्ता का प्रकाश रूप में अनुभव होता है। अतएव नाथयोगियों का लक्ष्य यह है कि पहले पिंडसिद्धि के द्वारा जीवन्मुक्ति की प्राप्ति हो। उस समय में कालवंचन सिद्ध होता है। अर्थात् काल के प्रभाव से योगी मुक्त हो जाता है। इसके अनन्तर समरसीकरण के द्वारा परा मुक्ति की सिद्धि होती है। प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि पिंडसिद्धि अथवा जीवन्मुक्ति के अनन्तर ओंकार-साधना के द्वारा परामुक्ति का अविर्भाव होता है।

रहस्य दृष्टि से नाथ साधना का आलोचन करने से यह पता चलता है कि यह व्यापक तांत्रिक दृष्टि का एक प्रकाशभंगी मात्र है। सृष्टि प्रसंग में पता चलता है कि नाथयोगी की दृष्टि से सृष्टि का मूल है अनामा अथवा शब्दब्रह्म से अतीत स्थिति। इसमें २५ गुणयुक्त पाँच शक्तियों का समन्वय है। इस शक्तिपंचक का समवाय ही अखंड दृष्टि से शिव नाम से प्रसिद्ध है। सांप्रदायिक दृष्टि से इसका नाम है परपिंड। इन पंचशक्तियों में निजा शक्ति से लेकर कुंडलिनीशक्तिपर्यन्त पाँच शक्तियों का अवस्थान है। इससे प्रतीत होता है कि यह मत प्राचीन शक्तिप्रधान शैवमत के अनुरूप है, इसमें कोई संदेह नहीं। प्रसिद्ध है कि मत्स्येन्द्रनाथ ने स्वच्छन्द भैरवी से महाज्ञान प्राप्त किया था। यह प्रसिद्धि पूर्वोक्त मत का पोषक है। नाथों का जो परपिंड है वह परमात्मा, निरंजन, शून्य, परम पद और अपरंपराख्य अनादि पिंड से अतीत है। अनादि

पिंड से आदि पिंड समुद्भूत है और महासाकार पिंड आदि पिंड का कार्य है। सर्वनिम्न में प्रकृति पिंड जानना चाहिए। पंचभूतात्मक प्रकृति से शिव तक सभी पिंडात्मक हैं। जो पिंडात्मक नहीं है, वह शक्तिमय है। उसी का नामान्तर अनामा है। नाथ संप्रदाय के योग में नवचक्र, षोडशाधार, तीन लक्ष्य, पाँच आकाश, इन सबका विवरण है। इनको न जानने पर योगमार्ग में सिद्धिलाभ नहीं हो सकता। यह मत भी आगम सम्मत ही है। पर पातंजल योग में इनमें से किसी का भी स्थान नहीं है।

संतों के साधन और साध्य क्या थे ? सर्वत्र अन्वेषण से यही पता चलता है कि किसी न किसी प्रकार से उनका मुख्य साधन वाग्योग का ही एक रूप है। इसे नामसाधन भी कहा जाता है। सुरत शब्दयोग इसका दूसरा नाम है। अन्वेषण करने से पता चलता है कि यह नामरहस्य अत्यंत गंभीर है। महात्मा तुलसीदास के नाम से प्रचलित "राम नाम कलामणि मंजूषा" के रहस्य से प्रतीत होता है कि नामसाधन के प्रभाव से साधक की देह तथा ज्ञानगोचर जगत् नाम में लीन हो जाते हैं। इस नाम की अर्थात् वाक् तत्त्व की पाँच कलाएँ हैं। यह महाजनों का सिद्धान्त है। तदनुसार जप अथवा नामस्मरण के प्रभाव से स्थूल देह और स्थूल जगत् नाम की पहली कला में लीन हो जाते हैं। सूक्ष्म देह और सूक्ष्म जगत् नाम की दूसरी कला में लीन हो जाते हैं और उसमें पहली कला भी लीन हो जाती है। कारण देह और कारण जगत् तीसरी कला में लीन होते हैं और उसी में दूसरी कला भी लीन हो जाती है। महा-कारण देह और अप्राकृत शुद्ध जगत् नाम की चतुर्थ कला में लीन हो जाते हैं। पहली तीन कलाएँ भी इस चतुर्थ कला में लीन हो जाती हैं। चतुर्थ कला अर्धचन्द्ररूप है। इसके बाद चिदात्मक आत्मा का कैवल्यात्मक चिन्मय स्वरूप रह जाता है और नाम की चतुर्थ कला रह जाती है तथा नाम की पंचम कला, जो चित् कला के नाम से प्रसिद्ध है, वह भी रह जाती है। अर्धचन्द्र शुद्ध सत्त्वमय है। आत्मा चित्स्वरूप है और नाम की पंचम कला, जिसे चित्कला कहते हैं वह बिंदुस्वरूप है। यही परा शक्ति है। बिंदु चिन्मय नाम का ही चरम अवयव है। पूर्ण सत्ता निष्कल है। वह चित्कला से भी अतीत है। उसको प्राप्त करने के लिये चिदात्मा को चाहिय कि वह चित्कला अथवा परा शक्ति का आश्रय करे। चित्कला का आश्रय किये बिना परम आत्मस्वरूप कलातीत में प्रवेश करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। विशुद्ध चित्स्वरूप आत्मा बिंदुरूप कलाशक्ति का अवलंबन किये बिना कलातीत का

संधान नहीं पा सकता। यदि उसको प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करे तो निष्कल का पता पाना तो दूर की बात है, अपनी सत्ता भी लुप्त हो जायगी।

वस्तुत: चित्कला और निष्कल स्वरूप में अचल अनुराग रहने पर संसार के पाशों से मुक्ति का लाभ होता है। यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि चित्कला-रूपा परा शक्ति में महाप्रकाश या निष्कल स्वरूप निरंतर प्रकाशित रहता है। गाढ़ अनुराग का तात्पर्य यही है कि चित्कला रूपा जानकी जी के हृदय में महाप्रकाश रूप 'रेफ' अर्थात् श्री रामचन्द्र नित्य प्रतिष्ठित हैं। जैसे स्पंदवादी संप्रदाय स्पंद में अस्पंद की सत्ता मानते हैं, यह भी ठीक उसी प्रकार की बात है। भक्त साधक को चाहिए कि वह अपनी सत्ता को इसी में एकात्म करके निष्कल का भजन करे। यही निरापद रसमार्ग है। इसी से सिद्ध पंचरसों का आस्वादन भी मिलता है। इन पंचरसों में शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और श्रृंगार अन्तर्गणित हैं। नाम अथवा वाक् से ही तत्त्व अभिव्यक्त होता है और तत्त्व से अर्थ या देहरूप प्रपंच स्फुरित होता है। नाम की कलाएँ चित्-अचित् भेद से दो प्रकार की हैं। अचित् कला से अचित् तत्त्व का संबंध है तथा चित्कला से चित् तत्त्व का। अचित् तत्त्व शुद्ध तथा अशुद्ध भेद से दो प्रकार का है। अशुद्ध तत्त्वों से स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण देह की रचना होती है। शुद्ध तत्त्व से महाकारण की रचना होती है। पहले जो विवरण दिया गया है, उससे प्रतीत होता है कि अशुद्ध अचित् तत्त्व में तीनों देह नाम की प्रथम तीन कलाओं में यथायोग्य भाव से अथवा क्रमश: लीन हो जाते हैं। यह लय आवश्यक है। शुद्ध अचित्तत्त्वमय महाकरण देह का लय नाम की चतुर्थ कला में होता है। यह भी होना चाहिए। इसके बाद त्रिगुणात्मिका प्रकृति का लंघन हो जाता है। अप्राकृत शुद्ध सत्त्व का कार्य भी लीन हो जाता है; क्योंकि यहाँ कारण देह भी नहीं रहता। रहता है केवल शुद्ध अप्राकृत सत्व, चित्तत्त्वमय पुरुष और चित् शक्ति। ये तीनों समष्टि होकर निष्कल परम सत्ता के साथ अभिन्न हो जाते हैं। इस प्रक्रिया के बिना निष्कल की ओर उन्मुख होने पर परब्रह्म का पता तो चलता ही नहीं, साथ ही साथ आत्मलोप अवश्यंभावी हो जाता है। परब्रह्म को प्राप्त करने के लिये तथा अनंत प्रकार से आस्वादन करने के लिये बिंदुरूपी चित्कला का संबधाश्रयग्रहण आवश्यक है। यही रसिकों का अनुमोदित मार्ग है; क्योंकि इसमें अद्वैत के भीतर प्रविष्ट होने पर भी अपना स्वरूप अव्याहत रह जाता है जिससे परमात्मा, चिदात्मा, चित्शक्ति तथा विशुद्ध सत्त्व का आस्वादन नष्ट नहीं होने पाता, अथच सदैव के लिये माया और काल के स्पर्श

से बचाव हो जाता है। इसका तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि आत्मा स्वरूप में रहते हुए भी स्वयं चित्कला बनकर अनंत प्रकार से निष्कल परब्रह्म का आस्वादन कर सकता है। इसीलिये रामायत संप्रदाय के लोग कहा करते हैं कि जानकी जी को छोड़कर केवल राम की तरफ झुकना नहीं चाहिए, नहीं तो अनर्थ की संभावना है।

संतों में सुरतशब्दयोग के विभिन्न प्रकार के प्रस्थान हैं। सर्वत्र ही दीख पड़ता है कि लक्ष्य तो है अनामी अथवा उस प्रकार की स्थिति जो संतों के अंगीकृत सत्यलोक के ऊर्ध्व में है। संत लोग भक्त रहे, इसीलिये नाथयोगियों के लक्ष्य से उनके लक्ष्य में कुछ भेद रहना स्वाभाविक है।

संत दरिया साहब के द्वारा प्रदर्शित अष्टदलकमल की प्रक्रिया में भी इस प्रकार का निगूढ़ रहस्य निहित है। संत योगी कहते हैं कि केवल षट्चक्र के भेद से परमतत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। षट्चक्र के भेद के अनन्तर अष्टदलकमल का भेद भी होना चाहिए। संत लोग सुरति और निरति के समन्वय के रूप में इस योग का निरूपण करते हैं। सुरति है 'तीव्र दर्शन की प्रगति' जिससे क्रमशः एकाग्रभाव की वृद्धि होती है और निरति है 'निर्विकल्पक ध्यान'। इन दो प्रक्रियाओं के परस्पर सहयोग से अष्टदलकमल का भेद सुकर हो जाता है। अष्टदलकमल का तात्पर्य है मनुष्य के दोनों नेत्रों के अवयवों की समष्टि। एक-एक नेत्र में चार-चार अवयव हैं जिनमें पहले चक्षुकी तारा हैं और अन्त में अग्रदृष्टि है। यह अग्रदृष्टि सूचिकाछिद्र के सदृश अति सूक्ष्म रन्ध्र है। सुरति की प्रक्रिया यथावत् सिद्ध होने पर इस अग्रगति को प्राप्त किया जा सकता है। इसके लिये उन्मनी मुद्रा का उपयोग करना पड़ता है। अग्रगति प्राप्त होने पर अष्टदलकमल का भेद हो जाता है जिससे साकार तथा निराकार का और सविकल्प तथा निर्विकल्प का भेद तिरोहित हो जाता है। इसी प्रकार से महाशून्य तथा भ्रमरगुहा का भेद करके सत्यलोक में प्रवेशलाभ होता है, जो कि परब्रह्म के केन्द्र में अवस्थित है। बंकनाल का विशिष्ट उपयोग इस साधनप्रक्रिया में दीख पड़ता है। बंकनाल एक नाड़ी का नाम है जिसकी प्रवृत्ति (प्रारंभ) मूलाधार से है और वह घूमती हुई, आज्ञाचक्रस्थ बिंदु का स्पर्श करती हुई ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचती है और वहाँ से नीचे की ओर लटकती हुई ऊर्ध्वमुख होती है। बंकनाल का अवसान हो जाने पर परम शुद्ध बिंदु की स्थिति दीख पड़ती है। इस साधना में भी शब्द की ही महिमा अनुभव में आती है। यह शब्द वर्णात्मक नहीं है, ध्वनिरूप है। यह शुद्ध ध्वनि ही

सद्गुरु का रूप है, ऐसा समझना चाहिए। परन्तु सत्यलोक के ऊपर भी ऐसी स्थिति है जहाँ किसी-किसी के मत के अनुसार ध्वनि नहीं है। अथवा, ध्वनि के रहने पर भी उसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता। ध्वनि के विषय में दृष्टि-भंगी के भेद के अनुसार किंचित भेद भी है, किंतु उपेक्षणीय है।

संक्षेप में यहाँ प्रसंगतः नाथ तथा संत संप्रदायों के विषय में एकोद्देश्य लेकर कुछ कहा गया है। ग्रंथकार ने इस विषय में वर्षों से परिश्रम करके बहुत कुछ विषयसंग्रह किया है जो हिन्दी साहित्य में आदर का स्थान प्राप्त करने योग्य प्रतीत होता है। मैं परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ कि ग्रंथकार इस विषय में और भी गंभीर अन्वेषणपूर्वक अधिक-अधिक तत्व निकालने का प्रयत्न करे।

२।ए सिगरा, वाराणसी
दीपावली २०२१।

गोपीनाथ कविराज

आदि वाणी

प्रस्तुत शोध प्रबंध के विषय पर शोध कार्य १९५४ में आरंभ किया गया और १९६१ में यह पूरा हुआ। इस अवधि में बौद्धों के तांत्रिक यानों का अध्ययन करने के बाद नाथों और संतों के संस्कृत और हिन्दी साहित्य का अध्ययन किया। विषय को दृष्टिगत रखकर संतों के साहित्य का विचार पूर्व अधीत साहित्य के प्रकाश में किया गया ऐसा प्रतीत हुआ कि बौद्ध सिद्धों, नाथों और संतों के साधन में तांत्रिक साधन की विविध प्रवृत्तियाँ विविध रूपों में अभिव्यक्त हुई हैं। जब इस उपलब्धि को अपेक्षाकृत अधिक व्यापक और अतीत के परिवेश में देखने और परखने की चेष्टा की गई तो यह उपलब्धि हुई कि तांत्रिक साधना और दर्शन के विविध तत्व प्राय: सभी संप्रदायों के साधनों और दर्शनों में विविध रूपों में मिलते हैं। इस प्रकार एक अति प्राचीन तांत्रिक साधना का अनुमान हुआ। जिसके प्रभाव को विविध साधन-संप्रदायों ने विविध रूपों में ग्रहण किया। इन साधन-संप्रदायों के विकास में वैदिक और तांत्रिक साधनतत्व इतने विमिश्रित हो गये हैं और कहीं-कहीं इतने परस्परा-वलंबी पूरक तत्वों के रूप में विकसित हुए हैं कि दोनों का इतिहास और भिन्न-भिन्न साधन प्रणालियों की दृष्टि से विभेद करना कठिन हो जाता है। फिर भी तांत्रिक परम्परा के शक्तिवाद, गुरुशिष्यवाद, अधिकारभेदवाद, पिण्ड-ब्रह्माण्डवाद, षट्चक्रभेद, कुण्डलिनीतत्व, षटकर्म, मंत्रयोग आदि विविध प्रवृत्तियों को ध्यान में रखा गया है। वैसे तंत्र ऋषिदृष्ट नहीं हैं, शिव द्वारा उपदिष्ट हैं। वे शिव और दुर्गा के संवाद के रूप में प्रकाशित हैं। उनके बहुत से वर्ण्य विषय हैं, जैसे—सृष्टि, प्रलय, लोक, वर्णाश्रम, देवी-देवपूजा, विधि, चिकित्सा, ध्यानोपाय, सप्ताचार, भावत्रय, पिण्ड, ब्रह्माण्ड, अभिषेक, दीक्षा, रसायन, मूर्तिविधानादि, सिद्धि, षटकर्म, अभिचार, मंत्र, यंत्र, चक्र, मुद्रा, बंध, वेध, पंचमकार, यज्ञ, बीज, न्यास, शिव, शक्ति, गुण, पुरुष, प्रकृति, बीज, भूतशुद्धि, क्रिया, चर्या, उत्सव, मायायोग आदि। कुछ लोग तंत्रशास्त्र में मंत्र, यंत्र, न्यास, दीक्षा, गुरु आदि विषयों की प्रमुखता मानते हैं। ऊपर की विषय सामग्री के आधार पर यह सरलता से कहा जा सकता है कि इसमें साधन, दर्शन और लोकजीवन आदि सभी पक्षों के विषय हैं। हमने इनमें से कुछ साधनात्मक विषयों को लेकर अपना कार्य किया है। इनमें से किसी

एक के आधार पर तंत्र अथवा तांत्रिक का अभिधान उचित नहीं। वस्तुतः तंत्र इन सब विषयों और प्रवृत्तियों का एक समवाय है। कुछ दूसरे विवेचक तंत्र अथवा आगम को वेदान्त (उपनिषद्) का ठीक उसी प्रकार का एक अर्थ-निरूपण मानते हैं जैसा शंकराचार्य अथवा रामानुज का था। ये सभी अपने अर्थनिरूपण को संगत मानते हैं। श्रुति या वेदान्त का जो सार आगमों ने निकाला है, उसकी उपलब्धि के लिये उनकी एक अपनी विधि-व्यवस्था है, कर्मकाण्ड है जो वैदिक कर्मकाण्ड से बहुत भिन्न है। कुछ लोग इसी आधार पर तंत्र को वेदान्त के एक अर्थ का व्यवहारपक्ष मानते हैं। इस व्यवहार-पक्ष को उपनिषत्परवर्ती बहुत से साधन संप्रदायों ने अपने अपने सिद्धान्तों के अनुकूल ग्रहण किया। यह बात पूरे प्रबंध में ध्यान रखने योग्य है।

नाथों और संतों के जातिगत संबंध को प्रायः सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है किंतु कबीर नाथसंप्रदाय में दीक्षित नहीं थे, यह बात भी सर्वस्वीकृत है। दूसरी ओर अधिकांश विद्वान् कबीर के वैष्णवत्व में संदेह नहीं करते। हमने यथाशक्ति प्राप्त सामग्री को देखकर यही निश्चय किया कि कबीर के जुग्गी या जुलाहा जाति में उत्पन्न अथवा पालित होने पर भी उनके वैष्णवत्व पर कोई संदेह नहीं किया जा सकता। हिन्दी में अन्य भाषाओं के साहित्य में बहुत से मुसलमान भक्त हो चुके हैं। वैष्णव कबीर ने अपनी परम्परा से अपनी दृष्टि के अनुसार ग्राह्य प्रत्येक वस्तु को ग्रहण किया जिसमें भक्ति, प्रपति, अहिंसा, योग आदि तत्व थे। अभी तक के विद्वानों के विवेचनों के अनुसार कबीर ने योग नाथों से लिया, प्रेम तत्व सूफियों से लिया, अहिंसा और प्रपति वैष्णवों से लिया और सबको मिलाकर अपना पंथ चलाया। विभिन्न सामग्रियों का अवलोकन करने पर मुझे यह मालूम पड़ा कि कबीर ने ये सारे तत्व भिन्न-भिन्न स्रोतों से नहीं लिये। ये सारे तत्व उन्हें तंत्रप्रभावापन्न वैष्णव परम्परा से मिले। कबीर ने केवल मुसलमान होने के कारण ही सूफियों से भावावेग-प्रधान प्रेम तत्व लिया हो, यह बात कुछ तर्कसंगत और जमती नहीं दिखाई पड़ती। वैष्णव परम्परा में नारद के नाम प्रचलित जनजल्पनिर्भया भावावेश-प्रधाना भक्तिधारा थी जिसकी ओर कबीर ने अपनी रचनाओं में संकेत भी किया है। तात्पर्य यह कि साधन की दृष्टि से कबीर पूर्णतया भारतीय वैष्णव थे।

इस प्रबंध में मैंने नाथों और संतों के जातिगत संबंधों के लिये अबतक की मान्यताओं को यथावत् मानकर तत्कालीन सामाजिक परिपार्श्व में उनका विचार किया है। साम्प्रदायिक दृष्टि से नाथ और संत दोनों ही शैव और वैष्णव

नाम की दो भिन्न साम्प्रदायिक परम्पराओं से संबद्ध थे। पाश्चात्य लेखकों (जैसे फर्कुहर) के अनुसार पाशुपतों में विकसित नाथों की परम्परा में आगे चलकर नाथ संप्रदाय का विकास हुआ जिसमें मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ जैसे सिद्धाचार्य हुए। कुछ भारतीय विद्वान् मत्स्येन्द्र, गोरक्ष आदि को शाक्त मानते हैं। ऐसे लोगों की दृष्टि में तांत्रिक मत शाक्त मत ही है। प्राप्त सामग्री तथा नाथ संप्रदाय के ग्रंथों के अनुसार नाथों के उपास्य शिव हैं, शक्ति नहीं। उन्हीं परमशिव को नाथ संज्ञा प्रदान की गई। मैंने इस प्रबंध में तंत्र और तांत्रिक का वही अभिप्राय लिया है जो सर जान उडरफ (आर्थर एवेलेन) के अनूदित और मौलिक ग्रंथों में उपलब्ध है। इस प्रकार नाथगण तांत्रिक जैनों और बौद्धों की तरह ही तांत्रिक शैव थे। कबीरादि की वैष्णवता में संदेह नहीं। वे रामानंद के प्रत्यक्ष शिष्य, संभव है, न रहे हों, किंतु वे किसी न किसी रूप में रामानंद की शिष्य-प्रशिष्य-परम्परा में अवश्य थे। कबीर के इस परम्परा में प्रवेश को मैं उनका पुनर्जन्म मानता हूँ। कबीर को संप्रदाय, साधना, दर्शन और साहित्य के आधार पर सूफी सिद्ध नहीं किया जा सकता और यदि ऐसा किया भी गया तो ऐतिहासिक और प्रवृतिगत असंगतियाँ उत्पन्न होंगी। मेरी दृष्टि में अभी तक की स्थापनाओं में उपर्युक्त बातों पर विचार नहीं किया गया। कबीर का मुसलमान होना, भावावेशमयी प्रेम साधना को स्वीकार करना, परम्परानिरपेक्ष होना, मूर्तिपूजा आदि का विरोधी होना आदि बातें कबीर को बेशरा सूफी सिद्ध करने के लिये पर्याप्त नहीं हैं।

नाथों और संतों की भक्ति पर विचार करने के लिये आधार रूप में श्वेताश्वतरोपनिषद्, श्रीमद्भगवद्गीता, जयाख्य संहिता, अहिर्बुध्न्य संहिता, नारद पंचरात्र, नारद भक्तिसूत्र, शांडिल्यभक्तिसूत्र, वैष्णवमताब्जभास्कर आदि का विचार किया गया है। इन ग्रंथों में से मुख्य रूप से संहिता ग्रंथ, नारद पंचरात्र, नारद भक्तिसूत्र को कबीर की भक्ति को निरूपित करने के लिये तथा श्वेताश्वतरोपनिषद् को नाथों की भक्ति का निरूपण करने के लिये स्वीकार किया गया है। कबीर ने स्वयं ही 'नारदी भगति' का आश्रय स्वीकार करने की घोषणा की है। भक्ति का शास्त्रीय निरूपण भी संतों (जैसे सुंदरदास छोटे) ने किया है। नाथों की भक्ति परम्परोपलब्ध है। शैव योगसाधक भक्त थे। शैव स्तोत्रों की भक्तिपरकता प्रसिद्ध है। तांत्रिक भी भक्त थे और हैं। शैव, शाक्त, भक्त अवश्य थे चाहे उनमें ज्ञानतत्व की प्रमुखता रही हो। प्राचीन शैवागमों में भी भक्ति तत्व मिलता है। हिन्दी रचनाकार परवर्ती नाथों (जैसे पृथ्वीनाथ) में भक्ति का अच्छा प्रकाशन हुआ है।

योग का विवेचन विस्तार से किया गया है। इस प्रकरण में मुख्य बात यह है कि वैष्णव पांचरात्र संहिताओं और वैष्णवों की परम्परा में विकसित योग को ध्यान में रखकर ही संतों के योग का विवेचन करना चाहिए। कारण यह है कि संहिता ग्रंथों में विवेचित योग भक्ति का सहयोगी है, गौणोपाय है। कबीरादि को जो योग मिला था, वह इसी तंत्र प्रभावित वैष्णव परम्परा से ही। संस्कारच्युत जुग्गी जाति में पालित कबीर को जो योग मिला होगा, वह भी कबीर को शुद्ध रूप में न मिला होगा। कबीर के जिस योग का परिचय हमें उनकी रचनाओं में मिलता है, वह उनके पुनर्जन्म के बाद का प्रतीत होता है। वस्तुतः वैष्णव और शैव परम्पराओं में विकसित योगों में प्रवृत्तियों का भेद नहीं, ज्ञान, योगादि के महत्व का भेद और योग के विविध तत्वों के विवरणों में भेद है। मैंने प्रबंध में केवल प्रवृतियों का विचार किया है। नाथों के योगयुक्त ज्ञान को संतों ने स्वीकार नहीं किया। संतों ने योग और ज्ञान से संवलित भक्ति को ही स्वीकार किया। भक्ति ही उनके यहाँ मुख्योपाय है। लक्ष्यभेद के कारण ही यह भेद हुआ है। नाथों के यहाँ कायसिद्धि को गौण और नाथ रूप से अवस्थिति को मुख्य लक्ष्य माना गया है। संतों में भक्ति ही मुख्य लक्ष्य है। कायसिद्धि जैसी वस्तुएँ उनके लिये स्वयंप्राप्त हैं। भक्ति-प्राप्ति के उपरान्त उसकी उपलब्धि के लिये प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं। उनके यहाँ रामरस ही कायसिद्धि प्रदान करता है। संतों ने भक्तिपरक सुरत-शब्द-योग या विहंगम योग को स्वीकार किया जब कि नाथों ने राजयोग के लिये हठयोगपरक पिपीलक योग को।

भारतीय रहस्यवाद का विचार करनेवाले विवेचक भक्ति और योग को रहस्यवाद के अन्तर्गत लेते हैं। भक्ति के अन्तर्गत भी रामानुजादि के संप्रदाय में योगिप्रत्यक्ष या इसी प्रकार के अतीन्द्रिप्रत्यक्ष या प्रातिभज्ञान को मान्यता प्रदान की गई है। इसका संबंध निर्गुण-सगुण-विवेचन से भी है। निर्गुण भक्ति भी संभव है और निर्गुण शब्द की परिभाषा भी एकमात्र वही नहीं है जिसे शुक्ल जी ने बना लिया था। रहस्यवादी पौराणिक शैली और प्रतीक-पद्धति का विकास कबीरादि में हुआ है। संधाभाषा जैसी शैली का प्रयोग तांत्रिकों में बहुत पुराना है। उसका विकास नाथों और संतों में हुआ है। वह शैली केवल बौद्धों की ही नहीं थी।

इन सारी विवेचनाओं और उपलब्धियों का मूल श्रेय हमारे आदरणीय विद्वज्जनों और गुरुजनों को है। नदीष्ण विद्वान् और विद्यादान में नित्योत्साही

परमादरणीय महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ जी के विराज ने ही प्रथमतः इस विषय पर शोधकार्य करने के लिये प्रेरित किया था। बाद में बहुत सी कठिनाइयाँ आईं। उन सबका निरास और यथायोग्य निर्देश कविराज जी ने दिया। पूर्ववत् प्राक्कथन लिखकर उन्होंने महती कृपा की। श्रद्धा के साथ मैं उन श्रीचरणों की पुनः पुनः बंदना करता हूँ।

इस संपूर्ण शोधप्रबंध के निर्देशक गुरुवर पं० पद्मनारायण जी आचर्य के बहुमूल्य निर्देशों के परिणामस्वरूप मैं शोधकार्य की विविध असंगतियों, अन्तर्विरोधों और दोषों से बच सका। अनेक परिच्छेदों का श्रमसाध्य और समय-साध्य जो संशोधन उन्होंने किया और जिससे शोध प्रबंध की गुरुता बढ़ी, उसके लिये यह जन उनका आजीवन ऋणी रहेगा। संपूर्ण शोधकार्यावधि में उन्होंने जिस स्नेह, उत्साह और लगन से मेरा पोषण किया, वह मेरे लिय चिरस्मरणीय रहेगा। धन्यवाद देकर इस महादान की गुरुता को कम करना धृष्टता होगी।

गुरुवर आचार्य पं० हजारी प्रसाद जी द्विवेदी ने ही मुझे बौद्ध सिद्ध और नाथ साहित्य में अध्ययन के लिये प्रथमतः दीक्षित किया था। बाद में, शोध प्रारम्भ करने के बाद विविध जटिल बिंदुओं को सुलझाकर प्रकाशित करने की भी उन्होंने कृपा की। आज वह कार्य इस रूप में पूर्ण और प्रकाशित देखकर द्विवेदी जी परम प्रसन्न होंगे, यह अनुमान ही मेरे लिये परम संतोष का विषय है। गुरु की गुरुता के आगे श्रद्धानत शिष्य चरण बन्दन करता है।

गुरुवर आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद जी मिश्र ने इस शोधप्रबन्ध के विविध विषयों और मतों को समझाया, विशेषकर भक्ति के विविध स्थापित मतों को समझाया और अंगुलिनिर्देश कर मार्ग प्रशस्त कर दिया। इस कार्य को शीघ्र पूर्ण करने में यदि उनकी प्रेरणा और कृपा न मिली होती तो कदाचित् ही यह कार्य पूरा हो पाता और शोधप्रबन्ध को यह रूप मिल पाता। आशीर्वाद का आकांक्षी यह जन प्रणतिनिवेदन के अतिरिक्त और कुछ करने में समर्थ नहीं है।

वर्तमान विभागाध्यक्ष आदरणीय डॉ० जगन्नाथ प्रसाद जी शर्मा की यदि कृपा न हुई होती तो यह शोधप्रबन्ध विश्वविद्यालय से प्रकाशित न हो पाता। प्रबन्धलेखन की अवधि में उन्होंने बार-बार कार्य को शीघ्रातिशीघ्र पूर्ण करने के लिये प्रेरित किया था। उनका मैं सश्रद्ध नमन करता हूँ।

उपाधि प्राप्ति के बाद मेरे पुराने दर्शन के गुरु प्रो० शिवानन्द जी शर्मा ने शोधप्रबन्ध को देखकर अनेक मूल्यवान् सुझाव दिये और विविध विषयों को सम्पन्न करने के लिये सामग्री भी प्रदान की। काशी के एकान्त विद्याव्यसनी, मंत्रशास्त्री और तन्त्रविद् पं० शिवकुमार शर्मा 'मानव' ने तन्त्र के विविध प्रकरणों को भलीभाँति उद्घाटित कर उनके नियोजन का उपाय बताया। मुख्यतः मल्लिकानाथ और उनसे सम्बन्धित हस्तलेख की सारी सामग्री का श्रेय 'मानव' जी को ही है। लेखक इन दोनों महाजनों को सश्रद्ध नति निवेदन करता है।

इस प्रबन्ध की रचना में जिन-जिन आकर ग्रन्थलेखकों, विद्वानों की रचनाओं और सम्मतियों से लेखक ने लाभ उठाया है, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में उपयोग किया है, उन सबके प्रति लेखक अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता है। मैं विश्वविद्यालय के अधिकारियों और यन्त्रालयाधिकारियों का भी उपकार स्वीकार करता हूँ।

होलिकोत्सव, २०२१ वैक्रम
हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी।

नागेन्द्रनाथ उपाध्याय

विषय-सूची

संकेताक्षरों का विवरण

आ० रे० क०	··· आब्स्क्योर रेलिजस कल्ट्स
आ० रे० लि० इं०	··· आउटलाइंस आव रेलिजस लिटरेचर आव इंडिया
इंट्रो०	··· इन्ट्रोडक्शन
इं० तं० शा०	··· इंट्रोडक्शन टु तंत्रशास्त्र
इं० रे० ए०	··· इन्साइक्लोपीडिया आव रेलिजन एण्ड एथिक्स
उ० भा० सं० प०	··· उत्तरी भारत की संतपरंपरा
ए हि० इं० फि०	··· ए हिस्ट्री आव इंडियन फिलासफी—दासगुप्त
क० एं० फा०	··· कबीर एण्ड हिज फालोअर्स
क० ग्रं०	··· कबीर ग्रंथावली
क० व०	··· कबीर वचनावली
क० व० भं०	···कलेक्टेड वर्क्स आव आर० जी० भंडारकर
गु० ग्रं० सा०	···गुरु ग्रंथ साहिब
गो० क० यो०	··· गोरखनाथ एंड कनफटा योगीज़
गो० सं०	··· गोरक्ष संहिता
गो० सि० सं०	··· गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह
घे० सं०	··· घेरण्ड संहिता
ज० रा० ए० सो०	··· जर्नल आव दि रायल एशियाटिक सोसायटी
ज० रा० ए० सो० ग्रे० ब्रि०	··· जर्नल आव दि रायल एशियाटिक सोसायटी आव ग्रेट ब्रिटेन
तां० बौ० सा० सा०	··· तान्त्रिक बौद्ध साधना और साहित्य
दि इं० सा० / इं० सा०	··· दि इंडियन साधुज़
दि नि० हिं० पो०	··· दि निर्गुण स्कूल आव हिंदी पोएट्री
दि स० पा०	··· दि सर्पेण्ट पावर
दि सि० रे०	··· दि सिख रेलिजन
ना० इ० द० सा० प्र० / ना० सं० इ० द० प्र०	··· नाथ संप्रदायेर इतिहास दर्शन ओ साधना प्रणाली
ना० भ० सू०	··· नारदभक्तिसूत्र
ना० यो०	··· नाथ योग

ना० सि० बा०	... नाथसिद्धों की बानियाँ
पा० यो० सू०	... पातंजल योगसूत्र
पु० नि०	... पुरातत्व निबंधावली
प्र० खं०	... प्रथम खंड
फि० सि०	... फिलासफी आव सिखिज्म
भू०	... भूमिका
मि० म०	... मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र
मे० मि० इं०	... मेडिएवेल मिस्टिसिज्म आव इंडिया
यो० बी०	... योग बीज—गोरखनाथ
यो० मा०	... योग मार्तण्ड
रा० यो०	... राजगुरु योगिवंश
रा० हिं० र०	... रामानन्द की हिंदी रचनाएँ
वै० म० भा०	... वैष्णवमताब्जभास्कर
वा०	... वाल्यूम
वै० शै०	... वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड माइनर रेलिजस सिस्टम्स
शां० भ० सू०	... शांडिल्य भक्तिसूत्र
श्लो०	... श्लोक
ष० नि०	... षटचक्रनिरूपण
सं० द० अ०	.... संत कवि दरिया : एक अनुशीलन
सि० रे०	.... सिख रेलिजन
सि० सि० प०	.... सिद्धसिद्धान्तपद्धति
सि० सि० प० अ० व० यो० सि० सि० प० अ० ना० यो०	... सिद्धसिद्धान्तपद्धति एण्ड अदर वर्क्स आव नाथयोगीज़
सि० सि० सं०	... सिद्धसिद्धान्तसंग्रह
सुं० ग्रं०	... सुंदर ग्रंथावली
ह० यो० ह० यो० प्र०	... हठयोगप्रदीपिका
हिं० का० नि० सं०	... हिंदी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय
हिं० सा० आ० इ०	... हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास
हिं० सा० बृ० इ०	... हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

प्रथम परिच्छेद

'नाथ' और 'संत' शब्द

प्रस्तावना

शोध का विषय

हिंदी साहित्य के इतिहासकारों ने निर्गुणी संतों के साहित्य का विवेचन करते समय विचारधाराओं, प्रवृत्तियों, काव्यशैलियों और रूपों तथा शब्दावली को भलीभाँति समझने के लिए भूमिका के रूप में हिंदी के बौद्ध सिद्धों और नाथ सिद्धों के साहित्य का भी विवेचन किया है। साहित्यिक इतिहास में नाथों का विस्तार-काल स्थूलतः भक्तिकाल के पूर्व माना गया है और निर्गुणी संतों के साहित्य का अभ्युदय भक्ति साहित्य के साथ माना जाता है। इस प्रकार हमारे शोध के विषय का संबंध हिंदी साहित्य के आदिकाल तथा भक्तिकाल से है। इन निर्गुणी संतों का अस्तित्व आलोचकों ने आधुनिक काल तक भी स्वीकार किया है। हमारा शोध का उद्देश्य है—नाथों और निर्गुणी संतों के साहित्य का संबंध निरूपण करना तथा उनका तुलनात्मक अध्ययन उपस्थित करना। परवर्ती निर्गुणी साहित्य में, नाथ संप्रदाय और साहित्य का प्रभाव धीरे-धीरे क्षीण होता गया है। इसलिये अत्यधिक आधुनिक अर्थात् १९-२० वीं शताब्दी के संतों का विवेचन इस प्रबंध में नहीं किया गया है। इन निर्गुणी संतों का महत्व संप्रदायनिर्माण, साहित्यनिर्माण तथा मौलिक विचारों के कारण हैं तथापि साहित्यिक तुलना का उद्देश्य होने के कारण साहित्य निर्माण में समृद्ध और उसी दृष्टि से महत्वपूर्ण संत इस प्रबंध में विवेच्य माने गये हैं। दूसरी ओर नाथ सिद्धों की संख्या परंपरा के अनुसार नौ है। यद्यपि नाथ सिद्धों की परंपरा अद्यतन जीवित है फिर भी साहित्य की तुलना की दृष्टि से उनमें से केवल अत्यन्त प्रसिद्ध और प्राचीन साहित्यरचयिता नाथ सिद्धों को ग्रहण किया गया है। नाथ सिद्धों की विभिन्न प्राचीन-अर्वाचीन ग्रंथों में जो सूचियाँ मिलती हैं, उन सब पर विचार करने पर नाथ सिद्धों की संख्या नौ से अधिक हो जाती है। उनमें से कुछ की ही रचनाएँ इस समय उपलब्ध हैं। जिनकी रचनाएँ उपलब्ध हैं, उनका अधिकतम आविर्भाव काल १६-१७ वीं शताब्दी

पूर्व निर्णीत हुआ है। इन सीमाओं और आधारों को ध्यान में रखकर नाथ सिद्धों और निर्गुणी संत कवियों के साहित्य के संबंधों का निर्णय कर उनकी तुलना इस प्रबंध में उपस्थित की जायगी। काव्यात्मक तुलना का उचित परिज्ञान करने के लिए संप्रदाय, दर्शन, साधना, कला तथा संस्कृति सभी का यथास्थान विवेचन किया गया है।

'नाथ' और 'संत' शब्द

इस प्रबंध में 'नाथ साहित्य' और 'संत साहित्य' शब्द शास्त्रीय और पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त किये गये हैं। 'नाथ साहित्य' से तात्पर्य उन रचनाओं के समूह से है जिनकी रचना मत्स्येन्द्र, गोरक्ष तथा उनके अनुयायियों द्वारा हिन्दी या उसकी संबद्ध लोकभाषाओं अथवा बोलियों में की गई है। उसी प्रकार 'संत साहित्य' से तात्पर्य उन रचनाओं के समूह से है जिनकी रचना निर्गुणी संत साधकों द्वारा हिंदी या उसकी संबद्ध लोकभाषाओं अथवा बोलियों में की गई है। इस सीमा में तुलसी, सूर, मीरा, जायसी जैसे भक्तों को नहीं ग्रहण किया गया है जो सगुणमार्गी अथवा प्रेममार्गी हैं। 'संत साहित्य' का यह सीमित अर्थ पं० रामचंद्र शुक्ल, डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य क्षितिमोहन सेन, पं० परशुराम चतुर्वेदी आदि ने स्वीकार किया है। श्री आर० डी० रानाडे जैसे विद्वानों और विवेचकों ने सूर, तुलसी, मीरा आदि को भी ग्रहण कर लिया है। पर इस प्रबन्ध में वह व्यापक अर्थ नहीं लिया गया है। 'नाथ' और 'संत' शब्द की परिभाषा और व्याख्या से इस सीमा-संकोच पर और भी प्रकाश पड़ेगा।

नाथपंथी ग्रंथों में नाथ शब्द

नाथ मत या नाथ संप्रदाय के मान्य ग्रंथों में 'नाथ' शब्द के शाब्दिक और दार्शनिक अर्थ मिलते हैं। डा० गोपीनाथ कविराज द्वारा संपादित गोरक्षसिद्धांतसंग्रह, वास्तव में, प्रमाण-संग्रह ग्रंथ है। इसमें राजगुह्य और शक्तिसंगमतंत्र के प्रमाणों को उद्धृत किया गया है। राजगुह्य के अनुसार 'ना' का अर्थ है 'अनादिरूप' और 'थ' का अर्थ है (भुवनत्रय का) स्थापित होना। नाथ वह तत्व है जो अनादिरूप है तथा भुवनत्रय की स्थिति का कारण है।[१] शक्तिसंगमतंत्र के अनुसार 'ना' का तात्पर्य उस नाथ ब्रह्म से है जो मोक्ष ज्ञान में दक्ष है, उसका ज्ञान कराता है। 'थ' का अर्थ है अज्ञान

---

[१] गोरक्षसिद्धांतसंग्रह, पृ० ११ पर उद्धृत राजगुह्य।

के सामर्थ्य को स्थगित करने वाला। नाथ वह तत्व है जो मोक्ष प्रदान करता है, नाथब्रह्म का अनुबोधन करता है तथा अज्ञान का स्थगन करता है।[१] इन दोनों ग्रंथों के अनुसार नाथ तत्व परमतत्व है। वह भुवनत्रय का कारण, परम ज्ञान का दाता तथा मोक्षदाता है। वह मोक्षदाता भी है, इसकी पुष्टि गोरक्षासिद्धांतसंग्रह ने भी की है। उसके अनुसार सृष्टि-स्थिति-लय की प्रक्रिया में शक्ति विश्व का सृजन करती है, शिव उसका परिपालन करते हैं, काल उसका संहार करते हैं तथा नाथ मुक्ति देते हैं।[२] इस नाथ के तीन रूप माने गए हैं। 'अद्वैतपरिवर्ती' नाथ प्राप्य देवता हैं। निराकार ज्योति-रूप नाथ ध्येय हैं तथा आदिगुरु के रूप में साकार नाथ उपास्य हैं।[3] यही अद्वैत-परवर्ती नाथ दो प्रकार (नादरूपा और बिंदुरूपा) की सृष्टि के मूल हैं।[४] एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि सांसारिकी रीति विपरीत है। उसमें अनुक्रम तो है ही नहीं, व्यतिक्रम है। उदाहरणार्थ सांसारिकी रीति से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के क्रम को स्वीकार किया जाता है। इस क्रम में मोक्ष को प्रथम स्थान न देकर चतुर्थ और अंतिम स्थान दिया गया है। नाथमतानुसार इनका क्रम होगा—मोक्ष, धर्म, अर्थ, काम। इस मत का सर्वोपरि पुरुषार्थ मोक्ष है अतः मोक्षदाता नाथ ही इस मत के सर्वेसर्वा हैं।[५]

नाथ शब्द की उपर्युक्त शाब्दिक और दार्शनिक व्याख्या में कोई अन्तर नहीं प्रतीत होता। दोनों में 'नाथ' शब्द 'परमतत्व' की ओर संकेत करता है। बौद्ध सहजिया सिद्धों के 'बौद्ध गान ओ दोहा' में संपादित शांतिपाद के चर्यापद में 'नाथ' शब्द का प्रयोग मिलता है। संस्कृत टीकाकार मुनिदत्त ने वहाँ 'नाथ' का अर्थ 'सदगुरु' किया है।[६] नाथों के उपर्युक्त सांप्रदायिक अर्थ से इसकी पूरी संगति नहीं बैठती।

---

[१] वही, पृ० ११ पर उद्धृत शक्तिसंगमतंत्र।

[२] वही, पृ० ४९, ५१–'शक्त्या······दीयते।' तथा–'शक्तिर्जगत्कर्त्री··· मुक्तिदायकः।'

[3] वही, पृ० ५१–'अस्मिन् मार्गे······च आदिगुरुः।'

[४] वही, पृ० ७२।

[५] वही, पृ० ५८।

[६] बौद्ध गान ओ दोहा, म० हरप्रसाद शास्त्री, चर्याचर्यविनिश्चय, चर्यापद संख्या १५, पृ० २७, टीका पृ० २८।

गोरखनाथ ने भी 'नाथ' शब्द का व्यवहार किया है। 'गोरखबानी' में संगृहीत-संपादित रचनाओं में 'नाथ' शब्द का व्यवहार दो अर्थों में हुआ है। जहाँ भणिति में 'नाथ' शब्द का प्रयोग हुआ है, वहाँ उसके रचयिता की ओर संकेत होता है। जैसे—'नाथ कहे तुम आपा राखौ।' 'नाथ कहे तुम सुनहु रे अवधू।[१] अन्य स्थानों पर इस शब्द का प्रयोग 'ब्रह्म' या परमतत्व के अर्थ में हुआ है। जैसे—'ते निश्चल सदा नाथ के संग।' 'नाथ कहंता सब जग नाथ्या।'[२] नाथ संप्रदाय से संबद्ध साहित्य में प्रयुक्त 'नाथ' शब्द के इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि नाथ शब्द के दो अर्थ हैं—परमतत्व या ब्रह्म, गुरु।

निर्गुणी संतों के साहित्य में भी इस शब्द का व्यवहार मिलता है। रामानंद के नाम से प्रसिद्ध 'रामरक्षा' रचना में 'नाथ' को निरंजन और प्राणपिंड की रक्षा करने वाला कहा गया है।[3] कबीर ने 'नाथ' शब्द का प्रयोग 'माया-जेता' के अर्थ में किया है। उसे त्रिभुवन का यती कहा गया है।[४] कबीर के इस अर्थ की पुष्टि गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह के वाक्यों से होती है। सामान्यतया अन्य शास्त्रों के द्वारा ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र का क्रम स्वीकार किया जाता है। किन्तु योगशास्त्र में गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह के अनुसार सृष्टि का जो क्रम स्वीकार किया जाता है, वह निम्नलिखित है—

शिव → भैरव → श्रीकण्ठ → सदाशिव → ईश्वर → रुद्र → विष्णु → ब्रह्मा → सृष्टि।

इस क्रम से स्पष्ट है कि 'नाथ' इस सृष्टिक्रम से पूर्णतया परे हैं।[५] अन्यत्र कहा गया है कि सिद्धों का इष्ट नाथ है। उन्होंने स्त्री को स्वीकार नहीं किया। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, देवता, शेषादि नाग, मनु आदि नर, अन्य पशु पक्षी आदि जीव, सभी स्त्रियों के द्वारा विजित होते हैं, केवल एक नाथ ही मायाजेता हैं।[६]

कबीर के उपर्युक्त अर्थ में यह शंका उपस्थित की जा सकती है कि वहाँ

---

[१] गोरखबानी, डा० बड़थ्वाल, पृ० ११, २६।

[२] वही, पृ० ४, ५, ४५, ६१ आदि।

[3] रामानंद की हिंदी रचनाएँ, डा० बड़थ्वाल, पृ० ३।

[४] कबीर ग्रंथावली, डा० श्यामसुन्दरदास, पृ० १९९।

[५] गो० सि० सं०, पृ० ५९।

[६] वही, पृ० ६६।

नाथ शब्द का प्रयोग नाथ संप्रदाय के सिद्ध लोगों के लिए किया गया है, कारण यह है कि 'नाथ' शब्द एक उपाधि भी है जो साधकों को नाथ संप्रदाय में दीक्षित होने के बाद प्रदान की जाती है और यह शब्द दीक्षा के बाद उनके नाम के अन्त में जोड़ दिया जाता है[१]। किन्तु कबीर ने, अपनी रचनाओं में (हमारा तात्पर्य कबीर ग्रन्थावली में सम्पादित रचनाओं से है) केवल एक बार इस शब्द का प्रयोग किया है और नाथ शब्द के पूर्व विष्णु, कृष्ण, गोविंद, राम, अल्ला, ख़ुदा, करीम, गोरख, महादेव, सिद्ध आदि का प्रयोग किया है। स्पष्टत: ये शब्द विभिन्न संप्रदायों के मान्य परम तत्व या पूज्य या उपास्य हैं। ऐसी स्थिति में यहाँ 'नाथ' को नाथपंथ का मान्य परम तत्व स्वीकार करना चाहिए।

'नाथ' शब्द के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि 'नाथ संप्रदाय' उन साधकों का संप्रदाय है जो 'नाथ' को परम तत्व स्वीकार कर उनकी प्राप्ति के लिये योगसाधन करते थे तथा दीक्षा के बाद नामांत में नाथ उपाधि जोड़ते थे। किन्तु डा० कल्याणी मल्लिक का कथन है कि यह 'नाथपंथ' या 'नाथ संप्रदाय' नाम पुराना नहीं है। यह नाम अति आधुनिक है। महामहोपाध्याय डा० हरप्रसाद शास्त्री ने सबसे पहले यह नामकरण किया था।[२] इस समय नाथ संप्रदाय के और भी कई नाम प्रचलित हैं। ये नामकरण कभी तो संप्रदायगत वैशिष्ट्य को ध्यान में रखकर किये गये हैं अथवा कभी उनकी साधना संबंधी विशिष्टता के आधार पर किये गये हैं। हठयोग की साधना करने के कारण इन्हें 'योगी' कहा जाता है। इस योगी शब्द का अर्थ बहुत विस्तृत है। इसका प्रयोग बहुत से ऐसे साधकों के लिये भी किया जाता है जो कनफटे नहीं हैं। बार्थ नाम के लेखक ने इस तथ्य की ओर संकेत किया है। उसके अनुसार इसका अर्थ 'सेंट' से लेकर 'चमत्कार' तक विस्तृत है।[3] संन्यासियों के लिये भी सामान्यत: इस शब्द का व्यवहार होता

---

[१] गोरखनाथ ऐंड कनफटा योगीज़-ब्रिग्स, पृ० ३३। नाथ संप्रदायेर इतिहास दर्शन ओ साधना प्रणाली, डा० कल्याणी मल्लिक, पृ० १।

[२] नाथ संप्रदायेर इतिहास, दर्शन ओ साधनाप्रणाली, डा० कल्याणी मल्लिक, पृ० १।

[3] दि रेलिजन्स आफ इंडिया, ए० बार्थ, पृ० २१५, दि ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स आफ दि सेंट्रल प्राविन्सेज आफ इंडिया, वा० ३, हिंदू कास्ट्स ऐंड सेक्ट्स, जोगेन्द्रनाथ भट्टाचार्य, पृ० ३१९ तथा आगे, पृ० ४०२, एसेज़ ऐंड लेक्चर्स चीफली आन दि रिलिजन्स आफ दि हिन्दूज, विल्सन, पृ० २१५।

है। इसी प्रकार 'कनफटा', 'दर्शनी' और 'गोरखनाथी' नाम से इन साधकों का परिचय दिया जाता है। कान की लौ चिरवाने के कारण ही इन्हें कनफटा कहा जाता है। दीक्षा के समय यह कान फाड़ने की क्रिया की जाती है। ये कनफटे भिक्षुक और संन्यासी रूपों में उत्तर, दक्षिण, मध्यप्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, पंजाब, गंगा के आसपास के प्रदेशों में और नेपाल में मिलते हैं।[१] बंगाल के रंगपुर के योगी लोग शैव हैं। वे गोरक्ष को अपना आदिगुरु मानते हैं तथा अपने को कनफटा संप्रदाय के अंतर्गत बतलाते हैं।[२] प्रायः कनफटा लोग गोरक्षनाथ को संप्रदाय का पुनर्गठनकर्ता मानते हैं।[३] 'दर्शनी' शब्द का मूल दर्शन है। इसी 'दर्शन' को कुंडल भी कहते हैं। कान फड़वा कर स्फटिक या अन्य किसी धातु या दाँत का कुंडल धारण करने के कारण ही इन्हें 'दर्शनी' कहते हैं। 'कनफटा' और 'दर्शनी' एक ही प्रकार के संस्कार की ओर संकेत करते हैं। किन्तु 'दर्शनी' और 'दर्शन' की आध्यात्मिक व्याख्याएँ नाथपंथी ग्रंथों में मिलती हैं। इस दर्शन को योगी लोग दीक्षा के समय धारण करते हैं। इसके धारण करने का अर्थ यह है कि साधक ने परमात्मा का दर्शन कर लिया है। इसे नाथपंथी लोग अत्यधिक पवित्र मानते हैं, इसीलिए इसे 'पवित्री' भी कहते हैं। कर्णभेद से जिस नाड़ी का भेदन होता है, कहा जाता है, उससे योगज सिद्धियाँ मिलती हैं।[४] विभिन्न प्रदेशों में नाथपंथी लोग विभिन्न नामों से भी पुकारे जाते हैं। ब्रिग्स का कथन है कि ये लोग पंजाब, हिमालय प्रदेश और बंबई आदि प्रदेशों में प्रायः 'नाथ' नाम से, पश्चिमी भारत में प्रायः 'धर्मनाथी' नाम से तथा भारत के अन्य भागों में प्रायः 'गोरखनाथी' और 'कनफटा' नाम से संबोधित किये जाते हैं।[५] यह निस्संदिग्ध है कि 'गोरखनाथी' नामकरण संप्रदाय के प्रवर्तक या संगठनकर्ता के कारण ही हुआ है। पंजाब प्रान्त में मुसलमान वर्ग में भी योगी मिलते हैं। उन्हें रावल नाम से पुकारा जाता है।[६]

---

[१] गो० क० यो०, ब्रिग्स, पृ० १–२।

[२] ना० सं० इ० द० प्र०, मल्लिक, पृ० ४।

[३] इं० रे० ए०, टेस्सिटरी का लेख, वा० १२, पृ० ८३४।

[४] ना० सं० इ० द० प्र०, मल्लिक, पृ० ९।

[५] गो० का० यो०, पृ० १।

[६] ना० सं० इ० द० प्र०, मल्लिक, पृ० ९।

नाथपंथी साहित्य में इन नामों का प्रयोग प्रायः नहीं मिलता। सिद्धांत प्रतिपादन के समय सामान्यतः नाथ संप्रदाय, सिद्ध मार्ग, योग मार्ग, योग संप्रदाय, अवधूत मत, अवधूत संप्रदाय आदि नामों का प्रयोग मिलता है। सिद्धांतों के प्रतिपादन की दृष्टि से गोरक्षसिद्धांतसंग्रह नाथ सिद्धों का प्रामाणिक ग्रंथ है। म० पं० गोपीनाथ कविराज तथा डा० कल्याणी मल्लिक के अनुसार इसमें प्रतिपादित सिद्धांत गोरक्ष तथा अन्य सिद्धों के अनुसार है।[1] नाथ संप्रदाय के लिये 'सिद्धमत' शब्द का प्रयोग 'गोरक्षसिद्धांतसंग्रह' में ही मिलता है। वहाँ अन्य मतों तथा प्रपंचनिरत संप्रदायों को छोड़कर सिद्धमत का आश्रयण करने के लिए कहा गया है।[2] संग्रहकार ने इसी प्रकार प्रतिपाद्य सिद्धांत और संप्रदाय को बताने के लिये क्रमशः योगमार्ग, योगसंप्रदाय, अवधूतमत, अवधूतसंप्रदाय इत्यादि नामों का भी प्रयोग किया है।[3] इससे यह प्रतीत होता है कि संग्रहकार की दृष्टि में ये सभी नाम एक ही संप्रदाय के लिये व्यवहृत हुए हैं। साधारणतया वादी-प्रतिवादी द्वारा निर्णीत विचार को ही सिद्धांत कहा जाता है। किन्तु 'संग्रहकार' को यह अर्थ मान्य नहीं है। उसके अनुसार सिद्धांत वे ही हैं जो सिद्धों द्वारा निर्णीत वा व्याख्यात हों।[4] इस प्रकार का अर्थ देकर संग्रहकार ने सिद्धमत नामकरण की पुष्टि की है।

उपर्युक्त नामों पर विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि ये नामकरण कई दृष्टियों से किए गए हैं। नाथपंथ या नाथसंप्रदाय, अवधूतमत, योगमत, योग संप्रदाय इत्यादि नामकरण सिद्धांत, दर्शन और साधना आदि को ध्यानमें रखकर किए कए हैं। कनफटा, दर्शनी, योगीमत, योगीसंप्रदाय, गोरखनाथी आदि नाम दीक्षा, संप्रदाय, योगी जाति तथा संप्रदाय के प्रवर्तक की ओर संकेत करते हैं। साहित्य में वर्णित और प्रयुक्त नाम ही इस मत के प्राचीन नाम हैं। अतिरिक्त नाम सामाजिक, धार्मिक, सांप्रदायिक जीवन के अध्येताओं और खोजियों ने ढूंढ़ निकाला है। इसमें योगी, सिद्ध और नाथ शब्द ऐसे हैं जो अन्य जीवित वा मृत संप्रदायों वा मतों के लिये भी प्रयुक्त होते रहे हैं। गोरखनाथ

---

[1] सिद्धसिद्धांतपद्धति ऐंड अदर वर्क्स आव नाथ योगीज़, डा० मल्लिक, इंट्रो०, पृ० ३५, मूल, पृ० १, श्लोक ३–'सा पिण्डोत्पत्यादिः·········'।

[2] गो० सि० सं०, पृ० १२–'तस्मात् सिद्धमतं स्वभावसमयं·········'।

[3] वही, पृ० ५, ११-१२, ५८, १८, ५६।

[4] वही, पृ० १८–'सिद्धांतः सिद्धस्यैव तात्पर्यम्'।

द्वारा संगठित और प्रचारित संप्रदाय के लिए हिंदी में नाथमत वा संप्रदाय शब्द ही अधिक प्रचलित है। इस प्रबंध में 'नाथ' शब्द का प्रयोग नाथयोगियों के परमतत्व के लिए तथा नाथपंथी अनुयायी दोनों के लिए किया गया है।

संत शब्द और उसकी व्याख्या

"नाथ" शब्द के ही समान "संत" शब्द का प्रयोग भी अत्यधिक पारिभाषिक और व्यापक दोनों अर्थों में आलोचकों और व्याख्याताओं द्वारा होता रहा है। इस शब्द का प्रयोग भारतीय साहित्य में अत्यन्त प्राचीनकाल से किसी न किसी रूप में अवश्य मिलता है। ऋग्वेद, छांदोग्य उपनिषद्, तैत्तिरीय उपनिषद्, रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत, श्रीमद्भगवद्गीता, कालिदास का साहित्य, भर्तृहरिशतक तथा आधुनिक भारतीय आर्यभाषा की रचनाओं में इस शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न रूपों तथा अर्थों में मिलता है। इस ऐतिहासिक क्रम से विचार करने से यह स्पष्ट हो जायगा कि भारतीय साहित्य में प्रयुक्त संत शब्द के अर्थ में तथा आधुनिक विद्वानों द्वारा प्रयुक्त संत शब्द के अर्थ में कितना अंतर है। आज विद्वानों ने निर्गुणमार्गी संत कवियों के लिए इस शब्द का प्रयोग आरम्भ किया है। प्राचीन साहित्य में ऋग्वेद, छांदोग्य उपनिषद् तथा तैत्तिरीय उपनिषद् में 'सत्' शब्द का एक वचन में एक एवम् अद्वितीय परमतत्व के लिए किया गया है।[१] वैदिक संस्कृत साहित्य से लौकिक संस्कृत साहित्य में आने पर 'सत्' शब्द के अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। महाभारत लौकिक संस्कृत का काव्य है। उसकी सामाजिक दृष्टि और धार्मिक मूल्यांकन की दृष्टि सभी विद्वानों द्वारा स्वीकार की गई है। इसीलिए महाभारतकार ने संतों का लक्षण आचार माना है।[२] मानव जीवन में तथा मनुष्य में भी संतत्व का दर्शन महाभारत ने किया। भागवतकार ने भक्ति भावना और मनुष्य की आत्मिक शक्ति पर अधिक विश्वास करते हुए संत को पवित्रात्मा और तीर्थों को भी पवित्र करनेवाला कहा है।[3] मध्ययुगीन साधनात्मक साहित्य के मूलाधार श्रीमद्भगवद्गीता में 'सत्' शब्द को 'सद्भाव' और 'साधुभाव'

---

[१] ऋग्वेद—१०.११४.५—'सुपर्णं कल्पयंति'। छांदोग्य उपनिषद्—द्वि० खं० १—'सदेव सौम्येदेमग्र, आसीदेकमेवाद्वितीयम्'। तैंत्तिरीय उपनिषद्—२.६.१—'असन्नेव···विदुरिति'॥

[२] महाभारत से सामान्यतया उद्धृत—'आचार लक्षणो धर्मः सन्तश्चाचार-लक्षणः'।

[3] भागवत—१.१९.८—'प्रायेण···पुनंति सन्त'।

दोनों अर्थों में माना गया है ।[१] कालिदास ने संतों के सदसद् विवेक की ओर संकेत किया है ।[२] शतककार भर्तृहरि ने परहितरतत्व को संत का लक्षण माना है ।[३]

ये सभी प्रमाण वैदिक और लौकिक संस्कृत साहित्य से ग्रहण किये गये हैं। इनसे यह स्पष्ट होता है कि भारतीय साहित्य के प्राचीनकाल (लगभग १०वीं शताब्दी तक) में 'सत्' शब्द के दो अर्थ मिलते हैं। प्रथम तो परमतत्व के लिए तथा दूसरे उस विशिष्ट व्यक्ति के लिए जिसमें अनेक अनुकरणीय और ग्राह्य गुण हों। ये गुण भिन्न-भिन्न परंपराओं के अनुसार भिन्न-भिन्न हैं।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के साहित्य में इस शब्द का बहुत प्रयोग मिलता है। लौकिक संस्कृत साहित्य के महाभारतादि ग्रंथों में प्राप्त 'सत्' शब्द का अर्थ ही, ऐसा प्रतीत होता है, परवर्ती मध्ययुगीन साहित्य में विकसित हुआ। संत शब्द के महात्मा, सज्जन या विशिष्ट आध्यात्मिक व्यक्ति के अर्थ में प्रयोग का विस्तार प्रायः संपूर्ण मध्ययुगीन साहित्य में, विस्तृत क्षेत्र में दिखाई पड़ता है। भक्ति आंदोलन के उदय के साथ इस शब्द का संबंध मानव महापुरुषों, साधकों से हो गया और बाद में इसकी महत्ता में अनवरत वृद्धि होती गई। ज्ञानदेव के समकालीन प्रसिद्ध संत नामदेव ने संत शब्द को भक्त के लिये व्यवहृत किया था। उनके हिंदी के पदों में प्रयुक्त 'संत' शब्द को साधु, भक्त आदि का पर्याय माना जा सकता है ।[४]

जहाँ तक आधुनिक भारतीय आर्यभाषा में हिंन्दी 'संत' शब्द के प्रयोग का प्रश्न है, नामदेव सर्वप्रथम संत कवि हैं। इनके बाद के सभी संतों ने इनकी परंपरा का अनुसरण करते हुए इस शब्द का प्रयोग साधु, भक्त आदि के लिये ही किया है। परमतत्व के लिए इस शब्द का प्रयोग प्रायः नहीं मिलता। संतों के संस्कृत में लिखे गोरक्षसिद्धांतसंग्रह जैसे शास्त्रीय ग्रंथ नहीं हैं। इसलिए

---

[१] श्रीमद्भगवद्गीता–१७.२६–'सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते'।

[२] कालिदास के नाम से प्रसिद्ध श्लोक–पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्। संतः परीक्ष्यान्वतरद्भजन्ते मूढः पर प्रत्ययनेयबुद्धिः। (संत अनुभवसाक्षिक ज्ञान द्वारा सदसद् की परख करते हैं।)

[३] भर्तृहरि का श्लोक–सन्तः स्वयं परहिते विहिताभियोगाः। (संत लोग परहित में लगे रहते हैं।)

[४] पंजाबांतील नामदेव, ८६. ७, १४५.५० तथा इनकी मराठी टीका।

इन लोगों ने अपने विचारकथन, उपदेशकथन आदि के प्रसंग में जहाँ इस शब्द का प्रयोग किया है, उसके आधार पर एक निश्चित और पारिभाषिक अर्थ पर पहुँचने का प्रयत्न करेंगे और देखेंगे कि आधुनिक विद्वानों द्वारा संत शब्द का जो सीमित अर्थ ग्रहण किया जाता है उसके लिये संत साहित्य में कितने प्रमाण उपलब्ध हैं।

नामदेव के परवर्ती रामानंद, बेनी, कबीर, नानक, दादू, सुन्दरदास (छोटे), दरिया साहब (बिहारवाले), शिवनारायण, भीखा, पलटू आदि संतों ने संत शब्द का प्रयोग दो प्रकार से किया है। प्रथम तो संबोधन के रूप में, दूसरे संत की साधनागत, जीवनगत विशेषताओं को उपलक्षित करने के प्रसंग में। बेनी, कबीर आदि संत कवियों ने जहाँ अपनी साधना संबंधी बातें कही हैं, जहाँ अपने भक्ति संबंधी विचार और जनुभूतियाँ व्यक्त की हैं, वहाँ उन्होंने प्रमाण के लिए या इसकी पुष्टि के लिए संतों को संबोधित किया है। इससे यह प्रतीत होता है कि इन संतों की दृष्टि में संत, आध्यात्मिक पक्ष से एक पूर्ण और आदर्श व्यक्ति है।[१]

इस शब्द के दूसरे प्रकार के प्रयोग से उसके पारिभाषिक अर्थ का निश्चय करने में विशेष सहायता मिलती है। रामानंद ने उसको संत माना है जो विभिन्न सांसारिक विपत्तियों के बीच रहते हुए भी उनसे संघर्ष कर विजयी होता है।[२] कबीर की दृष्टि में संत माया का जेता है। माया उसकी दासी है। केवल संत ही ऐसा है जो माया को जीत सका है, अन्य सभी माया के दास हैं। वह पंचेंद्रियों को वश में रखता है। विषयों से पूर्णतया अलिप्त रहता है। संत अपनी साधना के पूर्ण होने पर विषयों से अलिप्त रहकर हरिभजन में लीन रहते हुए, मृत्यु होने पर भगवान के साथ एकाकारता को प्राप्त कर लेता है।[३] संत मत के अनुसार (कबीर की दृष्टि में) संत नामजप की ओर संसार को प्रेरित करता है, हरि-भजन में लगाता है। राम मुक्ति प्रदान करते हैं। कबीरदास राम और संत को एक मानते हैं। संत इस जगत् में रामनाम का व्यापार करता है। वह नरक और स्वर्ग का विचार नहीं

---

[१] संत काव्य, पं० परशुराम चतुर्वेदी, १३९. १। कबीर ग्रंथावली-७. २७, १४. २४, १८. २, ३१. ५, ९३. १६, ९८.२३, ११०. ७१ आदि। रामानंद की हिंदी रचनाएँ-९. ७।

[२] रा० हिं० र० १६. ५५।

[३] क० ग्रं० ३३. १०, ८१. २, २६०. १४४।

करता। माया के प्रबल पार्षद कंचन और कामिनी से वह तनिक भी प्रभावित नहीं होता। वह उनसे मुक्त और अलिप्त रहता है। वह राग, द्वेष, असंतोष, अधैर्य आदि से सर्वथा परे तथा पक्षपातविनिर्मुक्त रहता है।[1]

कबीर ने साधु और संत शब्दों को प्रायः पर्याय के रूप में ग्रहण किया है। साधु निराकार परमतत्व का दर्पण होता है। सिद्ध और साधु का अन्तर बतलाते हुए कबीर ने समझाया है कि साधु आम्र की तरह दूसरों के लिए सरस फल है और सिद्ध बबूल की तरह अपनी स्वार्थसाधना में लीन रहकर दूसरों के लिए शूल भी फलता है। संत संसार के दुःखीजनों में सुख शीतलता और शांति विकीर्ण करता है।[2] संत को विवेकी, सारग्राही तथा निष्काम भक्त कहा गया है। उसे भुक्ति और मुक्ति नहीं चाहिये केवल भक्ति चाहिए। माया, कनक, कामिनी और मादक द्रव्यों से वह सर्वदा तथा सर्वथा मुक्त रहता है। सांसारिक लोगों की तरह वह मनमुरीद नहीं होता है, गुरुमुरीद होता है।[3] इस प्रकार कबीर की दृष्टि में संत वह साधक वा सज्जन है जो रामनाम या रामभक्ति में स्वयम् लीन रहते हुए दूसरों को भी उसी की ओर प्रेरित करता है। वह स्वयं संसार में रहते हुए माया, कंचन, कामिनी, विषयादि से सर्वथा परे होता है अर्थात् वह जीवन्मुक्त होता है। भक्ति ही उसकी सर्वोच्च आकांक्षा है। मृत्यु (भौतिक जीवन का नाश=दीक्षा) होने पर वह परम तत्व से मिलकर एकमेक हो जाता है। गुरु के प्रति तथा उसके वचनों के प्रति उसके हृदय में अपार श्रद्धा होती है।

परवर्ती संतों ने संत शब्द का प्रयोग अधिक स्पष्टता के साथ किया है। सुन्दरदास (छोटे) ने ब्रह्म, गुरु और संत को तत्वतः एक माना है। श्रुतियों की वाणी को भी संतों की साक्षी देकर पुष्ट किया है। उन्होंने ब्रह्म का विचार करते समय उसे निर्गुण और सगुण दो प्रकार का स्वीकार किया है। निर्गुण ब्रह्म का स्वरूप है और सगुण का अर्थ है ब्रह्म का संत रूप में अवतार। इसी प्रकार उन दोनों के लिए ग्राह्य भक्ति पद्धति में भी भेद माना है। सुन्दरदास की दृष्टि में निर्गुण की भक्ति मन से और संत (सगुण ब्रह्म) की

---

[1] क० ग्रं०-२७३. ३०, २७७. ४४,२९७. ११०, २४९.२, २५७. १११, १८७, ४६। बीजक. हंसदास शास्त्री-१०४. १३८।

[2] कबीर वचनावली, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय १२२. ३३४, १२३. ३४०, १२४. ३५६, ३५८ आदि।

[3] क० व०-१०१. ७८-८१, १०२. ९२, १२७. ३८७, १५०. ६६०। क० ग्रं०-५०. १।

भक्ति तन और मन दोनों से करनी चाहिए। संत सब जगह ब्रह्म का प्रत्य-भिज्ञान करता है। संत ही इस संसार में मुक्ति प्रदान करता है। संत मुक्ति प्रदाता हैं। संत और हरि में कोई अंतर नहीं। दोनों एक दूसरे में अंत-र्निविष्ट हैं।[१] सुन्दरदास के विचारों का निष्कर्ष यह है कि वास्तव में जो कार्य भगवान् के अवतार, सगुण विश्वासों के अनुसार किया करते हैं, वही कार्य संत लोग इस संसार में करते हैं। एक प्रकार से यह श्रीमद्भगवद्गीता में विवेचित अवतारवाद की निर्गुण व्याख्या है। इस प्रकार सुन्दरदास की दृष्टि में संत सांसारिक जनों को हरि की ओर उन्मुख करता है तथा मुक्ति भी प्रदान करता है। वही मुक्ति का द्वार खोलता है। संतसंगति और संतभक्ति से जीव मुक्ति प्राप्त करता है।[२] वह रामनाम के गुण और महिमा के गायन में सदैव लीन रहता है। योग और भोग से परे, सबको जीतकर संत अपना मत स्थापित करता है। वही नाम का प्रत्यभिज्ञान करता है। वह कर्ममद नहीं प्रेममद से सदैव मतवाला रहता है।[३] संत की ब्रह्मदृष्टि उद्घाटित रहती है। वह नामोपासना करता है। वह प्रेमपथ का पथिक है। उसका मन सदैव निर्गुणपद में निविष्ट रहता है। वह जोग की युक्ति, सुरति-निरति तथा नाद-बिंदु के साम्य से स्थिर आसन भी प्राप्त करता है। वही सकल घट में एकात्म का दर्शन करता है।[४] पलटू ने संत शब्द की व्याख्या अपेक्षाकृत अधिक स्पष्टता से की है। उनकी दृष्टि में संत के लिए भक्ति और प्रेम ही सब कुछ है। उसे न चार पदार्थ चाहिए न मुक्ति। ऋद्धि-सिद्धि, स्वर्ग-नरक, तीर्थ, व्रत, उपवास, पुण्य, तेज, प्रताप आदि किसी की इच्छा उसे नहीं है। वह ज्ञान का खड्ग धारण कर संसार की विपत्तियों का नाश कर सांसारिक दीन दुःखी जनों को सुख और शांति प्रदान करता है। संपूर्ण जीवों का तारण कार्य वही करता है। राम और संत में कोई भेद नहीं।[५]

हिंदी के मध्ययुगीन सगुण भक्ति साहित्य में भी संत शब्द का प्रयोग प्रायः इन्हीं अर्थों में मिलता है। तुलसीदास ने संत शब्द का प्रयोग साधु, सज्जन

---

[१] सुन्दरसार—२. ३, ११. ११–१२, २६४. १७, २६४. ४८।

[२] वही—२६४. १०, २६४. १७।

[३] संत काव्य—दरिया, ४६९. १। वही—शिवनारायण, ४८५. १। वही, ४८६. ४–५।

[४] वही—भीखा, ४९४. २, ४९९. ८।

[५] वही, पलटू, ५२६. १३, ५३२. १२।

के अर्थ में किया है। रामभक्ति करने वाले, रामभक्ति की गंगा में स्नान करनेवाले ही संत हैं। इस आधार पर संत और भक्त पर्याय हैं।[१] उनकी दृष्टि में गुरु नर के रूप में हरि हैं। उन्होंने संत और संत समाज का जो निरूपण किया है, उससे संत और गुरु में भेद नहीं होता। शब्दान्तर से कहा जा सकता है कि संत, गुरु और हरि तत्वतः एक हैं।[२] तुलसी ने संत के परहितरतत्व और परदुःखकातरता की ओर भी संकेत किया है।[3]

संत और राम संबंधी विचारों की परीक्षा करने से यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन लौकिक और वैदिक साहित्य में 'सत्' शब्द ही एकवचन और बहुवचन में प्रयुक्त मिलता है। दो अर्थों में से प्रथम अर्थ में 'सत्' शब्द परमतत्व का निर्देशक है तथा दूसरे अर्थ में 'सत्' शब्द अच्छा वा साधु अर्थ को व्यक्त करता है। मध्ययुगीन संत साहित्य में संत वह साधक है जो पक्षपातविनिर्मुक्त, हरिप्रेमी, ब्रह्मस्वरूप, ब्रह्म का सगुण रूप, परमार्थसेवी, गुरुभक्त तथा अंतस्साधना का समर्थक होता है।

मध्यकालीन भक्ति साहित्य के दो प्रमुख ग्रंथ हैं—गुरुग्रंथ साहिब और भक्तमाल। प्रथम तो भक्तों की रचनाओं का संग्रह ग्रंथ है तथा दूसरा ग्रंथ भक्तों का चरित्रकोष है। यह निश्चित है कि लगभग १७ वीं शताब्दी तक इन ग्रन्थों का निर्माण, समाकलन, संपादन आदि हो गया था। गुरु-ग्रंथ साहिब में सिख गुरुओं की रचनाओं के अतिरिक्त 'भगतां' की रचनाएँ भी संगृहीत हैं।[४] जितनी सामग्री अभी तक प्राप्त है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि सिख गुरुओं के अतिरिक्त जितने भक्तों की रचनाएं इस ग्रंथ में संगृहीत हैं, वे सभी निर्गुणी संत हैं। सूर और मीरा जैसे भक्तों की भी जो रचनाएँ संगृहीत हैं, वे अन्य भक्तों की रचनाओं की प्रकृति के अनुकूल हैं। भक्तमाल नाम के दूसरे ग्रंथ में भक्त शब्द सगुणमार्गी और निर्गुणमार्गी दोनों के लिए प्रयुक्त है। भक्तमाल का भक्त शब्द संत शब्द का पर्याय माना जा सकता है। नाभादास के भक्तमाल के टीकाकार प्रियादास ने टीका के आरंभ में भक्ति का जो विवेचन किया है, उस पर ध्यान रखना आवश्यक है। भक्त,

---

[१] रामचरितमानस, १. २, ५।

[२] वही, सो० १. सोर० ४. दो० १-३।

[3] वही, सो० ७. १२५।

[४] श्रीगुरुग्रंथ साहिब जी—भाई सोहन सिंह, पृ०४९—'सिरी राग भगत बेणी जीउ की।, पृ० १७४—'राग गउड़ी भगतां की वाणी।'

हरि, गुरु और हरिदास के प्रति सच्चा होता है तथा एक टेकवाला होता है। भक्ति के श्रद्धा, कथाश्रवण, मनन, दया, प्रण, हरिनाम, साधुसेवा आदि तत्व होते हैं।[१] इस प्रकार के लक्षणों से निर्गुणमार्गी और सगुणमार्गी दोनों संत लक्षित किये जा सकते हैं। भक्तमाल का यह 'भक्त' गुरु ग्रंथ साहिब के 'भगतां' से भिन्न है। गुरु ग्रंथ साहिब का भक्त, निर्गुणी संत साधक है जब कि भक्तमाल का भक्त केवल संत है। पहले के विवेचन को ध्यान में रखने से ज्ञात होता है कि संत शब्द भक्त का पर्याय है, जैसा नाभादास मानते हैं।

आधुनिक विचारकों और इतिहासकारों में पं० रामचंद्र शुक्ल ने हिन्दी की विभिन्न विचारधाराओं और प्रवृत्तियों का विभाजन और विवेचन करते हुए भक्ति की चार शाखाओं में से कबीरादि की परंपरा को निर्गुणी ज्ञानमार्गी भक्तों की परंपरा माना। तुलसी आदि को संत शब्द से संबोधित नहीं किया। इस प्रकार उनकी दृष्टि में संत शब्द निर्गुणी भक्त का पर्याय है।[२] संत शब्द के इस प्रयोग के लिए उन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिया है। उन्होंने निर्गुणोपासकों और सगुणोपासकों का भेद ब्रह्म के अव्यक्त और नामरूपात्मक व्यक्त रूप में माना है।[3] निर्गुणमार्गियों में से कबीरादि ने स्वामी रामानंद के शिष्य होकर भारतीय अद्वैतवाद की कुछ स्थूल बातें ग्रहण कीं और दूसरी ओर योगियों और सूफी फकीरों के संस्कार प्राप्त किये। वैष्णवों से उन्होंने अहिंसावाद और प्रपत्तिवाद लिये।[४] यह सामंजस्य सगुणमार्गियों में नहीं मिलता। इस प्रकार शुक्ल जी का संत योग-प्रेम-प्रपत्ति-अहिंसा समन्वित भक्ति का साधन करने वाला ज्ञानमार्गी भक्त है। मध्ययुगीन संतों की रचनाओं में प्रयुक्त संत शब्द का जो विवेचन किया गया है उससे उपलब्ध अर्थ से यह शुक्ल जी का अर्थ सर्वथा भिन्न है। शुक्ल जी की दृष्टि में यह 'संत' शब्द का पारिभाषिक प्रयोग हो सकता है।

डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल ने 'संत' शब्द पर विस्तार से विचार कर यह निश्चित किया है कि पालि में प्रयुक्त 'संत' शब्द तथा श्रीमद्भगवद्गीता में प्रयुक्त 'संत' शब्द क्रमशः शांतिवादी तथा साधु एवं सज्जन अर्थों में अत्यधिक

---

१ भक्तमाल (सटीक), कवित्त ३, छप्पय १ की टीका।

२ हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल, भक्तिकाल का सामान्य परिचय।

3 वही, पृ० ६९-७०।

४ वही, पृ० ७०।

व्यापक हैं।[1] इसके दूसरे पर्याय 'निर्गुणमत' पर विचार कर उन्होंने उसे सूफी मत और निरंजन मत से सर्वथा अलग माना। निरंजनी मत अनेक देवताओं में विश्वास करता है, तथा श्रद्धा प्रकट करता है। सूफियों को भी निर्गुण मत से सर्वदा अलग माना क्योंकि ये लोग नबियों, रसूलों आदि के प्रति पूर्ण श्रद्धा व्यक्त करते हैं एवं प्रत्येक इस्लामी तत्व को सादर ग्रहण करते हैं।[2] भक्तिकाल की अन्य तीन शाखाओं से निर्गुणमत का भेद यह है कि यह मत परंपरानिरपेक्ष है तथा अन्य मत परंपरासापेक्ष। जिस संस्कृति और समाज में व्यक्ति पलता है उसमें अतीत से आने वाली विचारपरंपरा और आचारपरंपरा का एक अक्षरार्थ होता है। उसे लेकर समर्थन करने वाला व्यक्ति परंपरावादी कहलाता है। स्वानुभूति से अतीत और वर्तमान दोनों का परीक्षण करके चलने वाला व्यक्ति परंपरानिरपेक्ष माना जाता है। वह भले ही लोकचातुर्य की दृष्टि से किसी पुराने प्रचलित शास्त्र या विचार पर अपनी अनुभूति की मुहर भी लगा दे अथवा व्याख्या से अपना समर्थन दे दे। वस्तुतः यह मत सगुणवादियों की तरह मूर्तियों और अवतारों के प्रति श्रद्धा प्रदर्शित नहीं करता।[3] साधक, साधु, सज्जन, भक्त आदि शब्दों के पर्याय के रूप में 'संत' शब्द को स्वीकार करने वालों में डा० बड़थ्वाल भी हैं। किंतु उस शब्द को अपने विवेचन के लिए उपयुक्त न समझकर उन्होंने 'निर्गुण' शब्द का प्रयोग उसके एक निश्चित अर्थ में किया है।

डा० बड़थ्वाल द्वारा निरूपित परिभाषा की पुष्टि प्राचीन और आधुनिक दोनों साहित्यों से होती है। १७ वीं शताब्दी के भक्तचरित्रकोष "भक्तमाल" में नाभादास ने कबीर के विषय में कहा है—

'कबीर कानि राखी नहीं वर्णाश्रम षट दरसनी।'[4]

यहाँ 'कानि' का अर्थ महत्वपूर्ण है। कबीर ने छः दर्शन (सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा, न्याय, वैशेषिक।) की मर्यादा नहीं रखी। वर्णाश्रम व्यवस्था की मर्यादाओं का पालन नहीं किया।[5] आधुनिक विवेचकों में

---

[1] दि निर्गुण स्कूल आव हिंदी पोएट्री--डा० बड़थ्वाल, प्रीफेस, पृ० ११।

[2] वही प्रीफेस, पृ० १-२।

[3] हिंदी काव्य में निर्गुण संप्रदाय—डा० बड़थ्वाल, अनु०, प्रस्तावना, पृ० ग–ङ।

[4] दि नि० हिं० पो०, डा० बड़थ्वाल, प्रीफेस, पृ० २।

[5] श्री भक्तमाल (सटीक)–नाभादास, भक्तिसुधास्वाद तिलक सहित, पृ० ४८५, छ० सं० ६०। टीकाकार ने पादटिप्पणी में 'षट दरसनी'

पं० चंद्रबली पांडेय ने 'बेशरा' और 'बाशरा' के आधार पर इस तथ्य का स्पष्टीकरण किया है। उनका कहना है—

'...सूफी शब्द के भीतर उन सभी हिंदी कवियों को समेट लेना चाहिए जो वस्तुतः जन्म से मुसलमान और कर्म से सूफी हों।...सीधी सी बात तो यह थी कि जैसे हिंदू भक्त कवियों को निर्गुण और सगुण में बाँट दिया गया था वैसे ही सूफी कवियों को भी 'बेशरा' और 'बाशरा' के भेद से विभाजित कर दिया गया था। बेशरा का ही दूसरा नाम 'ज़िंद' अथवा आज़ाद बताया गया था...हमारी धारणा में 'ज्यंद' का 'जिन्दीक' है। जिन लोगों ने सूफी साहित्य का अध्ययन किया है, उन्होंने स्वतः देख लिया है कि इसी 'जिंदीक' की छाप से कितने सूफी शूली पर चढ़े हैं और कितने तलवार के घाट उतारे गये हैं। जिंदीक' इस्लाम के आततायी हैं, उनका वध विहित है। प्रकट है कि कबीर पर भी यही जिंदीक की छाप लगी है और उन्हें भी काजी इसी से प्राणदंड दे रहा है।'[1]

कबीर जन्म से मुसलमान थे, यह अभी तक की प्राप्त सामग्री के बल पर प्रायः सभी विद्वानों ने स्वीकार कर लिया है जिसका विस्तृत विवरण आगे दिया गया है किंतु कबीर कर्मणा बेशरा सूफी थे, यह अति विवादास्पद प्रश्न है जिसका विवेचन-आलोचन आगे किया गया है। इस मत से अभी इतना ही ग्राह्य है कि कबीर 'बेशरा', 'जिंद', 'आजाद' या 'स्वतंत्रचेता' थे। उन्होंने किसी प्रकार की इस्लामी परंपरा को स्वीकार नहीं किया। मुसलमान होने के कारण तथा उस कुल में जन्म लेने के कारण, जिसमें 'गोवध' विहित माना जाता था, हिंदू परंपरा को भी स्वीकार नहीं किया था।[2] इस प्रकार कबीर को संत-साधना और दर्शन का केंद्रबिंदु मान लेने पर नाभादास का मत अत्यधिक महत्वपूर्ण सिद्ध होता है।

इस समय डा० बड़थ्वाल के 'निर्गुणिया' शब्द के स्थान पर अब संत शब्द का प्रचलन ही अधिक है। 'संत', 'संतमत', 'संतपरंपरा', 'संतसाहित्य' जैसे

के कई अर्थ उद्धृत किए हैं। छ० सं० ५६ की पादटिप्पणी, पृ० ४७०—१—उपनिषद्, २—न्याय, ३—कर्मकांड, ४—तत्वविवेचन, ५—योग, ६—स्मृतियाँ। छ शास्त्र—'वेदांत तर्क मीमांसा सांख्य पातंजल तथा धर्म-शासनमित्येतत् प्राहुः शास्त्राणि षड्बुधाः।'

[1] विचार विमर्श—पं० चंद्रबली पांडेय, जिंद कबीर की संक्षिप्त चर्चा, पृ० १, ८।

[2] वही, पृ० ३—४।

शब्दों ने अब क्रमशः 'निर्गुनिया', 'निर्गुणमत', निर्गुणपंथ' वा निर्गुणसंप्रदाय एवम् निर्गुणधारा या साहित्य के स्थान ले लिये हैं। 'अतः अब 'संत' शब्द निर्गुणी के अर्थ को व्यक्त करने में पूर्ण समर्थ हो गया है।'[१] पहले ही बताया जा चुका है कि 'संत' शब्द का प्रयोग, जिस रूप में आजकल होता है, बहुत प्राचीन नहीं है। ऋग्वेदादि में तथा परवर्ती लौकिक संस्कृत साहित्य में 'सत्' शब्द ही विभिन्न रूपों में 'अस्तित्ववाला' (या सद्भाव) और 'साधु' अर्थों में व्यवहृत मिलता है। आज का संत शब्द इस 'सत्' शब्द का तद्भव रूप है। 'साधु' के अर्थ में प्रयुक्त होकर 'सत्' शब्द मध्ययुगीन हिंदी के भक्तिसाहित्य में 'भक्त' का पर्याय हो गया था। इससे वर्तमान काल में वह परंपरानिरपेक्ष भक्त या 'निर्गुणी' अर्थ को व्यक्त करने में पूर्ण समर्थ हो गया है। विवेचन की सुकरता और स्पष्टता के लिये हिन्दी के परंपरानिरपेक्ष भक्त कवियों के लिये 'संत' शब्द का प्रयोग इस प्रबंध में किया गया है।

नाभादास ने कबीर की साधना के वैलक्षण्य की ओर भी महत्वपूर्ण संकेत किया है। संत शब्द के इस व्यापक अर्थ की सीमा में नाथों को भी ग्रहण किया जा सकता है। किंतु १७ वीं ई० श० में भी नाभादास ने कबीर को तत्कालीन अन्य साधना पद्धतियों से अलग कर दिया था। उनका कथन है—

'भक्ति विमुख जो धर्म सो अधरम करि गायो।
जोग जग्य व्रत दान, भजन बिन तुच्छ दिखायो॥'[२]

ध्यान देने योग्य है कि इन अधर्मों में 'योग' की भी गणना कर ली गई है। प्रकारांतर से इसी बात की पुष्टि आधुनिक विद्वानों ने भी की है। शुक्ल जी ने कई बार इसे पुष्ट कर कहा है कि 'नाथपंथियों की अंतस्साधना हृदयपक्ष शून्य थी, उसमें प्रेमतत्व का अभाव था।' तथा 'इसमें कोई संदेह नहीं कि कबीर ने मौके पर जनता के उस बड़े भाग को सँभाला जो नाथपंथियों के प्रभाव से प्रेमभाव और भक्तिरस से शून्य और शुष्क पड़ता जा रहा था।'[3] नाथपंथ और दर्शन का अध्ययन करनेवाले विद्वानों ने भी यही कहा है कि 'संत कबीर के उपदेश में वैष्णवीय प्रेम और भक्ति के साथ वेदांत के तत्वमसि का अपूर्व मिश्रण है। इसके साथ नाथयोग का अनुरूप साधन भी है। नाथयोग में सूफी और

[१] हिं० का नि० सं०, अनु०, भूमिका, पं० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० २१।

[२] भक्तमाल (सटीक)—नाभादास, भक्तिसुधास्वाद तिलक सहित, पृ० ४८५, छ० सं० ६०, पृ० ४८६।

[3] हिंदी साहित्य का इतिहास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ६४।

संत साधना के अनुरूप प्रेम वा भक्ति की दृष्टिभंगी के न होने पर भी नाथ, निरंजनी और संतमत में ऐक्य है।[१] नाथों और संतों के इस स्थूल भेद की ओर संकेत कर यह कहा जा सकता है कि नाथ और संत, ये दोनों दो भिन्न भिन्न वर्गों और मतों के साधक तथा कवि हैं। आगे इनके भेदक लक्षणों पर विस्तार से विचार किया गया है।

इसी प्रकार नाथ सिद्ध बौद्ध सिद्धों से भी भिन्न हैं किन्तु बहुत से विद्वानों ने जो निष्कर्ष निकाले हैं, वे इससे भिन्न हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास का अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि जिस प्रकार की सामाजिक सांप्रदायिक दृष्टि ज्ञानाश्रयी निर्गुणमार्गी संतों तथा नाथ सिद्धों की थी प्रायः उसी प्रकार की दृष्टि बौद्ध सिद्धों या तांत्रिक बौद्ध सिद्धों की थी। भक्तिकाल की निर्गुणधारा का विवेचन करते समय प्रायः सभी साहित्येतिहासकारों ने बौद्ध सिद्ध साहित्य तथा नाथ सिद्ध साहित्य का विवेचन किया है और यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि बौद्ध सिद्धों के समाज, धर्म, साधना, दर्शन सम्बन्धी दृष्टिकोणों का विकास नाथ सिद्धों में हुआ तथा उनके माध्यम से वह संपत्ति निर्गुणमार्गी संतों को मिली। शब्दावली भी ग्रहण की गई। नाथ सिद्धों और बौद्ध सिद्धों के संबंध पर विद्वानों ने पर्याप्त विचार किया है और यहां तक कह दिया है कि नाथ मत बौद्ध सिद्ध मत का विकसित शैव रूप है। उनके अनुसार नाथ सिद्ध पहले बौद्ध थे तथा बाद में शैव हो गये। इसके अतिरिक्त एक मत यह है कि नाथ मत अंतिम तांत्रिक बौद्ध सहजयान का एक उपयान है।

तांत्रिक बौद्ध मत के विविध यानों और विकासों (पारमितायन, मंत्रनय, वज्रयान, सहजयान, कालचक्रयान) का विवेचन हम 'तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य' नामक ग्रंथ में कर चुके हैं। नाथों और बौद्ध सिद्धों के संबंध पर दार्शनिक, साहित्यिक, साधनात्मक आदि दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। सांप्रदायिक संबंध पर भी विचार हम उपर्युक्त ग्रंथ के "सिद्धियाँ और चौरासी सिद्ध" नामक परिच्छेद में कर चुके हैं। दार्शनिक और साधनात्मक सम्बन्ध की परीक्षा के लिये निम्नलिखित बातें आवश्यक प्रतीत होती हैं।

---

[१] नाथ संप्रदायेर इतिहास, दर्शन ओ साधना प्रणाली—डा० कल्याणी मल्लिक, पृ० १८१ तथा इसके अनुकूल डा० शशिभूषण दासगुप्त का मत आब्सक्योर रेलिजस कल्ट्स, पृ० २८४—'मध्ययुगीन हिंदी कवियों तथा नाथयोगियों के धार्मिक दृष्टिकोण में ध्यान देने योग्य भिन्नता है।'

बौद्ध सिद्धों ने शून्यता तत्त्व या प्रज्ञातत्त्व को शून्यवाद या माध्यमिक मत से तथा चित्त तत्त्व या विज्ञान तत्त्व को विज्ञानवाद या योगाचार मत से ग्रहण किया। बौद्ध सिद्धों ने अपने तांत्रिक दर्शन के आधार के लिये प्रज्ञा तत्त्व को शक्ति के रूप में ग्रहण किया। सहजयानियों ने इसे अवधूती या नैरात्मायोगिनी या नैरामणि दारिका या आध्यात्मिक शक्ति (जिसे प्रकारान्तर से हम कुंडलिनी शक्ति कह सकते हैं) कहा। तांत्रिक मत अपने पिण्डब्रह्माण्डवाद के अनुसार ब्रह्माण्ड के सभी तत्त्वों, पदार्थों को पिंडस्थ मानता है जिनका दर्शन साधक स्वयम् अपने शरीर के भीतर कर सकता है। इस विचार से जीव की अपनी शक्ति की महत्ता बढ़ गई। विज्ञानवाद के चित्त तत्त्व को स्वीकार करने के कारण उन्हें यह भी स्वीकार करना पड़ा कि यह विश्व इस चित्त की सृष्टि है। चित्त ही मोक्ष और बंधन का कारण है। उसी मत के अनुसार उन लोगों ने यह माना कि संसार और निर्वाण में कुछ भेद नहीं है। दृष्टिभेद से ही इन दोनों में भेद दिखाई पड़ता है। योग में चित्त की महत्ता स्वतः सिद्ध है। उस पातंजल योग का प्रभाव बौद्ध योग के उपर पड़ा था जिसमें चित्तवृत्तियों के निरोध को ही योग कहा गया है। तात्पर्य यह है कि दर्शन और साधना की दृष्टि से बौद्ध सिद्धों के मूलाधार भारतवर्ष की तांत्रिक धारा, शून्यवाद या माध्यमिक मत तथा विज्ञानवाद या योगाचार मत थे।[1]

इस दार्शनिक और साधनात्मक आधार को लेकर तांत्रिक बौद्धों का विकास हुआ। लेकिन हिन्दी के महापंडित राहुल सांकृत्यायन और आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने नाथों को बौद्ध सिद्धों की परंपरा में विकसित सिद्ध करने के लिये इन आधारों पर विचार नहीं किया। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'बौद्ध गान ओ दोहा' की रचनाओं तथा राहुल सांकृत्यायन के लेखों का अध्ययन कर उस नाथ संप्रदाय को वज्रयान की एक शाखा माना था जिसने कालक्रम में अपने को वज्रयानी साधना और संप्रदाय से पूर्णतया अलग कर लिया था। उन्होंने राहुल जी के आधार पर जालंधर पाद (नाथ) को आदिनाथ (शिव) माना और यह निश्चय किया कि जालंधर पहले बौद्ध थे, बाद में पश्चिमी प्रदेशों में आकर उन्होंने नाथ संप्रदाय का प्रचार किया।[2] शुक्लजी ने जालंधरपाद और

---

[1] तां० बौ० सा० सा०—'महायान दर्शन' 'वज्रयान और सहजयान' तथा 'सहजयान और लोकभाषा की रचनायें' शीर्षक परिच्छेद द्रष्टव्य। पृ० ६७-७०, ७८-८५, १६३-१७१, १७५, १८३, १९५-१९७ आदि।

[2] हिं० सा० इ०—शुक्ल, पृ० १४।

आदिनाथ के अभिन्नत्व तथा नाथ संप्रदाय के बौद्धत्व के लिए न तो कोई ऐतिहासिक प्रमाण दिया है और न बौद्ध मत और नाथ मत की दार्शनिक साधनात्मक समानताओं की ओर संकेत किया है। वज्रयानियों से विषमता की ओर उन्होंने कुछ संकेत अवश्य किये हैं।[१] शुक्ल जी ने मत्स्येन्द्र और लुई के अभिन्नत्व पर विचार नहीं किया है। शुक्ल जी के आधार वे ही हैं जो राहुल जी के हैं। उनकी दृष्टि में 'रत्नाकर जोपम कथा' नामक वज्रयानी ग्रंथ प्रामाणिक रचना है। इसमें लिखी बातें निराविल होंगी अथवा शुद्ध ऐतिहासिक प्रमाण दे सकेंगी, इसमें हमें संदेह है। यदि राहुल जी की दृष्टि में नाथपंथ बौद्ध उपधान है या वज्रयान का विकसित रूप है तो उसमें वज्रयान की कुछ विशेषतायें भी होनी चाहियें। राहुल जी ने वज्रयान की चार चीजें मुख्य मानी हैं—मद्य, मंत्र, हठयोग और स्त्री; किंतु उन्होंने इन तत्त्वों को नाथ पंथ में कहीं भी नहीं दिखलाया है।[२] उन्होंने यह भी नहीं लिखा कि नाथ मत ने कुछ अंशों में अपने को वज्रयान से अलग रखा। वे बौद्ध सिद्धों को निरीश्वरवादी तथा नाथ पंथ को ईश्वरवादी मानते हैं।[३] नाथ पंथ की साधना पद्धति अथवा दर्शन में कौन-कौन से ऐसे तत्त्व हैं जो उसे बौद्ध स्रोत से निःसृत सिद्ध करते हैं, इसका कहीं भी संकेत नहीं मिलता। नाथ पंथियों की साधना में मद्य और स्त्री निषिद्ध हैं, जैसा आगे के विवेचन से स्पष्ट हो जायगा। हठयोग और मंत्र विचारणीय हैं। राहुलजी ने वज्रयान और सहजयान में भेद नहीं किया है। बौद्ध सिद्धों की अपभ्रंश की रचनाओं की साधनाप्रणाली और दर्शन में तथा कुछ बौद्ध सिद्धों की संस्कृत रचनाओं में वर्णित साधनापद्धति और दर्शन में पर्याप्त अंतर है। वज्रयानियों के संस्कृत ग्रंथ 'गुह्यसमाजतंत्र' में अवश्य हठयोग का विधान है किन्तु 'बौद्ध गान, दोहाओं' की रचनाओं में हठयोग का विरोध मिलता है।[४] मंत्र तो तांत्रिक साधन का सामान्य तत्व है।

कृष्णपाद जालंधरदपाद के शिष्य हैं। कृष्णपाद सहजिया सिद्ध हैं जिनकी रचनाओं में तंत्र, मंत्र, हठयोग, कृच्छ्राचार का विरोध है। अर्थात्, यदि राहुल जी की दृष्टि से जालंधरपाद से ही नाथपंथ का उद्भव माना जाय, तब भी हठयोग उनकी साधनाप्रणाली में स्वीकार्य नहीं था। इससे यह निष्कर्ष

---

[१] वही—पृ० १३।

[२] पुरातत्त्व निबंधावली—राहुल सांकृत्यायन, पृ० १४३।

[३] वही—पृ० १६१।

[४] तां० बौ० सा० सा०—पृ० ११७, १२७, १५३, १९४।

निकलता है कि बौद्ध सहजिया सिद्ध जालंधरपाद हठयोगी नहीं थे। कृच्छ्राचार और काया-कष्ट-साधना के वे विरोधी थे। किन्तु अब तो यह भलीभाँति प्रमाणित हो चुका है कि गोरक्ष द्वारा प्रचारित नाथ मत में हठयोग की साधना का महत्त्वपूर्ण स्थान था यद्यपि उसका लक्ष्य राजयोग था। नाथों के साधन में मुद्रा शब्द बहुत प्रचलित है। तांत्रिकों में मुद्रा शब्द देवार्पण के लिए निर्मित पक्वान्न, उँगलियों से बनाये गये विभिन्न प्रकार के आकार, शरीर के हाथ-पैर आदि की विभिन्न स्थितियों को, बंधों को, इनसे युक्त श्वास-नियंत्रणादि क्रियाओं को मुद्रा कहा गया है।[1] राहुलजी के वज्रयान में इनमें से कौन-सा अर्थ गृहीत है? तांत्रिक बौद्ध ग्रंथों के अध्ययन से 'उँगलियों के आकार' तथा 'साधिका', 'शक्ति' या 'विद्या' का अर्थ, वज्रयानियों को ग्राह्य मालूम होता है। इन दोनों में कोई भी अर्थ नाथपंथियों को ग्राह्य नहीं है। नाथपंथियों में मुद्रा शब्द कान में पहने जाने वाले एक कुंडल के अर्थ में व्यवहृत होता है। यह कुंडल दीक्षा देते समय प्रायः पहनाया जाता है। साधना में विभिन्न शारीरिक स्थितियों का अर्थ भी उन्हें ग्राह्य है। इससे स्पष्ट है कि साधना की दृष्टि से भी नाथ लोग बौद्ध नहीं थे। उनमें जो तत्त्व, दूसरे विद्वानों के अनुसार, पाये जाते हैं, उनकी ओर राहुल जी ने कोई संकेत नहीं किया।

डाक्टर प्रबोधचन्द्र बागची ने बौद्ध वज्रयानी सहजयानी सिद्धों की रचनाओं में तथा कौलज्ञाननिर्णय की रचनाओं में विचार, सिद्धान्त और दर्शन के आधार पर कई समानतायें स्थिर की हैं और उनका यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि इनसे मत्स्येन्द्र और लुईपाद के अभिन्न होने की पुष्टि होती है। उनकी दृष्टि में (१) सहज पर जोर देना, (२) बाह्याचार का विरोध, (३) कुलक्षेत्रों और पीठों की चर्चा, (४) वज्रीकरण का प्रयोग, (५) पंचपवित्र आदि बौद्ध शब्द सूचित करते हैं कि इस साधना का संबंध बौद्ध साधना से अवश्य था। किन्तु डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इन बातों पर सतर्क विचार कर यह स्थिर किया है कि मत्स्येन्द्र ने जिस प्राचीन कौलमार्ग की चर्चा की है, वह निश्चय ही शाक्त-मत था, बौद्ध नहीं। उनके अनुसार अकुलवीरतंत्र तो बौद्धों को स्पष्ट रूप से मिथ्यावादी और मुक्ति का अपात्र मानता है।[2]

---

[1] ह० यो० प्र०—तृतीयोपदेश।

[2] डा० प्रबोधचन्द्र बागची की स्थापना के लिए द्रष्टव्य—कौ० ज्ञा० नि०, इंट्रो०—पृ० ५५–५७, ५७–५८, ५८–५९, ७६–७७, ८०; कौलज्ञाननिर्णय (मूल)—पटल ८ श्लो० २४ पृ० २५, ८·१० पृ० ५५;

डा० कल्याणी मल्लिक के अनुसार मत्स्येन्द्र द्वारा प्रचारित कौलमत का 'सहज' वास्तव में शिवशक्ति का सम्मिलन है जो बौद्ध सिद्धों के सहज से भिन्न है। इसी आधार पर हम नाथयोगियों को बौद्ध नहीं कह सकते। नाथपंथियों के अन्य ग्रन्थों का अवलोकन करने पर यह स्पष्ट होता है कि उनमें शिवशक्ति, सहस्रार, इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, नाद, बिंदु प्रभृति शब्दों का प्रभूत व्यवहार किया गया है। नाथ मत शिवशक्ति के सामरस्य के द्वारा तथा बौद्ध सहजिया मत में शून्यता-करुणा के मिलन द्वारा चित्त की समता की प्राप्ति को उद्देश्य के रूप में स्वीकार किया जाता है। मत्स्येन्द्र अपने को कौल कहते हैं। कौल लोग शिवोपासक होते हैं, बौद्ध नहीं। नाथ लोग अपने परमपद को द्वैताद्वैत-व्यतीत कहते हैं, नाथ-गुरु को 'नादविंदुकलात्मक' कहते हैं, जबकि बौद्ध लोग द्वैत से अद्वैतत्त्व की प्राप्ति की साधना करते हैं तथा सहजिया 'गुरु' को 'युगनद्ध रूप' कहते हैं। लुईपाद और मत्स्येन्द्र के धर्म-मत में वास्तव में कोई सामंजस्य नहीं है। गोरक्षसंहिता के कठोर नियमों से लुईपाद के सहजिया बौद्ध धर्म का कोई मेल नहीं बैठता।[1]

इसी प्रकार डा० शशिभूषण दासगुप्त ने भी विस्तार से बौद्ध सहजिया सिद्धों और नाथ सिद्धों की समताओं और विषमताओं पर विचार किया है। उनके अनुसार इन दोनों को अभिन्न मानना एक भ्रम है। यदि हम तांत्रिक मतों का विश्लेषण करें तो यह स्पष्ट होगा कि उनके निर्णायक तत्व दो हैं। प्रथम, विविध तांत्रिक क्रियाओं की सामग्री और विभिन्न प्रकार के मिश्रित प्रकृति के कर्मकांड, जो न मूलतः बौद्ध हैं न हिंदू। द्वितीय, विभिन्न रूपों में योग-ग्रहण। इनके आधार पर प्रायः लोग बौद्ध सिद्धों और नाथ सिद्धों को एक मान लेते हैं, जो भ्रम है। इनमें जो समानताएँ मिलती हैं, वे ध्यान देने योग्य हैं। शिव-शक्ति सिद्धान्त बौद्धों में उपाय और प्रज्ञा रूप में मिलता है। हिंदू योगमार्गियों में जिस प्रकार शिव योग के आदि उपदेष्टा हैं, उसी तरह बौद्धों में भगवान्

अकुलवीरतंत्र (ए)—आरंभश्लोक, बी—आरंभवाक्य, श्लोक १५, १४०, पृ० ९३, ९४, १०६, ८४; वही (बी) १२८–१३२ पृ० १०५, श्लो० ७ पृ० ८४; कौल ज्ञा० नि० ८·२७, १५·१० पृ० २५, ५५; नाथ संप्रदाय—डा० द्विवेदी पृ० ६१।

[1] सिद्ध० प० अ० ना० यो०—मल्लिक, इंट्रो० पृ० २६; ना० सं० इति० द० सा० प्र०—डा० मल्लिक—परिचायिका, पृ० १७, १८ तथा मूल पृ० ६७।

बुद्ध या वज्रसत्व (या हेरुक या हेवज्र) योग के आदि उपदेष्टा हैं। नाथों की परंपरा में जैसे सबसे पहले आदिनाथ को स्थान दिया जाता है और उन्हीं से सभी योग रहस्यों का निस्सरण माना जाता है उसी प्रकार बौद्धों में वज्रसत्व के रूप में बुद्ध भी माने जाते हैं। बौद्धों में नाथों के आदिनाथ के समान ही हेरुक या हेवज्र को आदिनाथ और भूतनाथ कहा जाता है। देवता और देवी के संवाद की शैली बौद्धों के तंत्रग्रंथों में मिलती है। बौद्धों का सूर्यचन्द्र सिद्धान्त भी नाथयोगियों के समान ही है। बौद्ध सहजिया की सहजावस्था या सहज-समाधि या शून्य समाधि भी नाथों के साहित्य में मिलती है। अकुलवीरतंत्र में सहजावस्था का वर्णन है। नाथों के भाषा साहित्य में विशेषकर गोरख के नाम से प्रचलित "गोरखबोध" में भी सहजावस्था का वर्णन है। हठयोग-प्रदीपिका में बौद्ध सहजिया लोगों के समान ही चार शून्यों की कल्पना है। नाथों के साहित्य में नास्तिकता की प्रवृत्ति तथा आलोचना की प्रवृत्ति बौद्ध सहजिया लोगों के समान ही मिलती है। पीठ, उपपीठ की कल्पनाएँ भी समान रूप से मिलती हैं। उनकी योग की शब्दावली का स्रोत भी प्रायः एक ही मालूम पड़ता है।[१] आध्यात्मिक जीवन की परमोच्च अवस्था प्राप्त करने के लिए दोनों ने कायासाधन को आवश्यक ठहराया है।[२]

किंतु नाथसिद्धों और बौद्ध सहजिया सिद्धों में भेद भी कम नहीं है। नाथों का चमत्कार, सिद्धि, गूढ़ता आदि पर विशेष आग्रह उन्हें अन्य सहजिया संप्रदायों से अलग कर देता है। ये सहजिया मत हैं—बौद्ध सहजिया, वैष्णव सहजिया, बाउल आदि। इन सहजिया संप्रदायों में गूढ़ क्रियाओं, जादूगरी, चमत्कार प्रदर्शन, कठोर कष्ट साधन बाह्य प्रदर्शन आदि के प्रति तीव्र विरोधभाव था। किंतु नाथमत का यह वैशिष्ट्य केवल बाह्य है, आंतरिक नहीं।[3] यद्यपि बौद्ध सहजिया लोगों ने नाथ सिद्धों के समान ही काया साधन को स्वीकार किया था तथापि उनका लक्ष्य था, आत्म-अनात्म का महासुखात्मक पूर्णज्ञान। इससे भिन्न नाथ सिद्धों की साधना का लक्ष्य था अमरताप्राप्ति तथा उससे शिवत्व या महेश्वरत्व की प्राप्ति।[४] इस प्रकार नाथों का लक्ष्य अमरता तथा उससे प्राप्त शिवत्व है और बौद्ध सहजिया लोगों का लक्ष्य था महासुख। नाथ सिद्ध लोग

---

[१] आ० रे० क०—डा० शशिभूषण दासगुप्त, पृ० २२३-२२८।

[२] वही, पृ० २५२।

[3] वही, पृ० २४८-२४९।

[४] वही, पृ० २६२-२६३।

जन्म और मृत्यु की सत्यता में विश्वास करते थे तथा परिवर्तनशील भौतिक शरीर को सूक्ष्म वायव्य शरीर में द्रव्यांतरित कर तथा उसे भी पुनः दिव्य देह में रूपांतरित कर उस जन्ममृत्युचक्र का निवारण करते थे। किंतु बौद्ध परंपरा के विचारवाद (या प्रत्ययवाद) के अनुसार जन्ममृत्युचक्र को आत्म और अनात्म के शून्यज्ञान का साक्षात्कार कर निवारित करना चाहते थे। इस आत्म-अनात्म के शून्यज्ञान के साक्षात्कार को केवल महासुख से साध्य माना। नाथों में जरामृत्युशील इस भौतिक शरीर के द्रव्यांतर की यौगिक प्रक्रिया का आग्रह विशेष है। किंतु बौद्ध सहजिया लोगों में उस यौन यौगिक साधना का आग्रह विशेष है जिससे सामान्य यौनसुख उच्चतर और गंभीरतर आनन्द में परिणत हो जाता है। निश्चय ही, नाथों का कायासाधन बौद्ध सहजिया लोगों में है तथा दोहों और पदों में अमृतक्षरण तथा उसके पान के संदर्भ मिलते हैं तथा इस पान से स्कंधों की दृढ़ता तथा अजरामरता की प्राप्ति भी स्वीकार की गई है किंतु उनके कायासाधन में भेद है।[१]

इस भेद के कारण ही नाथ सिद्धों ने किसी भी प्रकार, साधना में, नारी-संयोग का विरोध किया है और उसे बाघिन इत्यादि शब्दों से संबोधित किया है। इसके विरुद्ध बौद्ध सहजिया लोगों ने स्पष्ट रूप से, सभी प्रकार से, नारी को प्रज्ञा या शून्यता का अवतार घोषित कर साधना के क्षेत्र में उसे सर्वथा ग्राह्य माना और बिना उसके अपने प्राप्य महासुखात्मक शून्यज्ञान को असंभव माना। बिना उसके आध्यात्मिक जीवन में सिद्धि असंभव है। निश्चय ही, यह ध्यान रखने योग्य है कि प्रज्ञा या योगिनी या मुद्रा बौद्ध सहजिया लोगों में सदैव भौतिक शरीर की नारी के अर्थ में गृहीत नहीं रही है। वह नैरात्मा शून्यता या सहजसुंदरी भी है।[२] यह भी स्पष्ट है कि बौद्ध सहजयानियों का महासुख शुद्ध शारीरिक अनुभव नहीं है, उसमें एक मनोवैज्ञानिक तत्व भी संनिहित है। नाथसाधना में यह दृष्टिकोण (कामावेग और कामानंद) अभाव के कारण पूर्णतया स्पष्ट है।[३] ऐसी स्थिति में कुछ लोग वज्रौली, सहजौली, अमरौली आदि साधनाओं की ओर संकेत कर कहते हैं कि नाथ साधना में ये तत्व बौद्ध साधना के अवशिष्ट चिह्न हैं। इन साधनाओं में नारी संपर्क अनिवार्य है। किन्तु ये सब शुद्ध रूप से यौगिक क्रियाएँ ही हैं।

---

[१] वही, पृ० २८४-२८५।

[२] वही, पृ० २८६।

[३] वही, पृ० २८६-२८७।

इनमें नारी को दार्शनिक अर्थ नहीं दिया गया हैं और न उसे विचारात्मक तत्त्व ही माना गया है।[१] ये साधनाय यह सिद्ध करने के स्थान पर कि नाथ लोग पहले बौद्ध थे बाद में शैव हो गये, अपेक्षाकृत यह सरलता से संकेत करती हैं कि समकालीन साधना होने के कारण किसी प्रकार ये साधनायें नाथसाधन में प्रवेश कर गई हैं। इस प्रकार इन्हें प्रक्षिप्त भी कहा जा सकता है। यदि पारमार्थिक अर्थ में लिया जाय तो कोई बाधा भी नहीं और न नाथमत की मूल प्रकृति के विपरीत ही प्रतीत होता है। सिद्धसिद्धान्तसंग्रह में कहा गया है कि वज्रौली के केवल ज्ञानमात्र से सिद्धमार्ग प्रकाशित होता है।[२] अर्थात् यह साधना केवल पारमार्थिक रूप में ग्राह्य थी। स्त्री-निस्संगता को नाथसाधन का वैशिष्ट्य स्वीकार करते हुए भी यह अनुमान किया जा सकता है कि ये साधनाएँ यदि बाद में प्रक्षिप्त हुई तो भी ये केवल गृहस्थ नाथयोगियों द्वारा साध्य रही होंगी। ऐसा स्वीकार कर लेने पर नाथ मत के साधन ग्रंथों में उनकी उपस्थिति से विचिकित्सा करने की कोई आवश्यकता न होगी। इन सब विचारों के विवेचन से यही स्पष्ट होता है कि नाथ और बौद्ध दोनों साधनों में तांत्रिक तत्व मिलते हैं, फिर भी भेद यह है कि दोनों ने अपने मत की मूल प्रकृति के अनुसार ही उन तत्त्वों को ग्रहण किया है।

इस साधनात्मक भेद का मूल उनके मूलाधार दर्शनों में भी दिखाई पड़ता है। विद्वानों ने सांख्य मत की पुरुष प्रकृति की विचारधारा, बौद्धों की उपाय-प्रज्ञा की विचारधारा तथा शैव-शाक्तों की शिवशक्ति की विचारधारा में स्पष्ट अंतर कर लिया है। शैवों ने, नाथयोगियों ने भी, सांख्य मत के २६ तत्वों को तो स्वीकार कर लिया है किंतु उनकी व्याख्या अपने ढंग से दी है। यह तत्व-विज्ञान बौद्धों में इस रूप में नहीं मिलता। बौद्ध सहजिया लोगों की दार्शनिक परंपरा में ही प्रज्ञा, जो शून्यता, नारी, शक्ति, निष्क्रिय आदि विशेषणों से व्यक्त की गई है, सर्वथा ग्राह्य है। उनके वहाँ नर तत्व उपाय सक्रिय है। दूसरे, प्रज्ञा निर्वाण तत्व और पारमार्थिक सत्य का प्रतिनिधित्व करती है तथा उपाय संसार तत्व और सांवृतिक, सांसारिक सत्य का प्रतिनिधित्व करता है। नाथों में शैव परंपरा के अनुकूल शिव निष्क्रियता, स्थिरता, अचलता, अमरता और परमार्थ के प्रतीक हैं तथा शक्ति सक्रियता, चंचलता, परिवर्तन, संसार आदि का प्रतीक है। ऐसी अवस्था में नाथयोगियों ने अपनी प्रकृति के अनु-

---

१ वही।

२ नाथ संप्रदाय, पृ० ७१-७२, १२५-१२६।

कूल अमरता, विराग आदि के प्रतीक को ग्रहण किया तथा शक्ति को बलात् आक्रांत कर अपनी साधना के अनुकूल नियन्त्रित कर लिया है तथा उस पर विजय प्राप्त कर ली है। यह भेद नाथ सिद्धों और बौद्ध सिद्धों में महान् अंतर उपस्थित करता है।

कौलज्ञाननिर्णय आदि रचनाओं के आधार पर तो यह निष्कर्ष निकलता ही है कि मत्स्येन्द्र बौद्ध नहीं थे और न उनका योगिनी कौलमत ही बौद्ध था, साथ ही नाथ योगियों की यदि मत्स्येन्द्रेतर रचनाओं की मीमांसा कर उनकी साधना पद्धति और दर्शन को उपस्थित किया जाय तो यह सप्रमाण सिद्ध हो जायगा कि नाथमत न तो बौद्ध सिद्धप्रवर्तित है और न उसके मूल सिद्धांत ही बौद्ध हैं। इस प्रकार नाथ सिद्ध और बौद्ध सिद्ध भिन्न भिन्न हैं तथा उनके द्वारा प्रवर्तित प्रचारित संप्रदाय और धर्ममत समकालीन भिन्न-भिन्न धर्ममत हैं। जो समानताएँ मिलती हैं वे भारतीय तांत्रिक धर्म की विशेषताएँ हैं जो एक साथ ही जैनों, बौद्धों, शैवों, शाक्तों, वैष्णवों सब में समान रूप से मिलती हैं। मत्स्येन्द्र और गोरक्ष के प्रचारित मतों में जो अंतर है उसका भी यदि भली-भांति विचार किया जाय तो यही निष्कर्ष निकलता है कि गोरक्ष मत्स्येन्द्र की शुद्ध नाथ योगी साधना के शिष्य थे। मत्स्येन्द्र की योगिनी-कौल साधना अधिकांशत: शाक्त तथा वीराचारी प्रतीत होती हैं तथा वह बाद में मत्स्येन्द्र द्वारा प्रचारित की गई थी। शाक्तों और तांत्रिकों की वीराचार साधना से प्रभावित होने के कारण उसमें प्राय: वैसी कुछ विशेषताएँ प्रकट हुई हैं जैसी बौद्ध सिद्धों की विभिन्न रचनाओं में मिलती हैं। इस साम्य के कारण ही बौद्धों में मत्स्येन्द्र का संमान उपयुक्त प्रतीत होता हैं।[१] इस प्रकार बौद्ध सिद्धों, नाथ सिद्धों और संतों के मत को एक ही स्रोत का मान लेना अनुचित है। तांत्रिक साधना और दर्शन, किसी न किसी मात्रा और रूप में सभी में सामान्य हैं। इस भेद और परिभाषा को ध्यान में रख कर आगे अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

—०००—

[१] तां० बौ० सा० सा०, पृ० २२७-२३१।

द्वितीय परिच्छेद

नाथ और संत साहित्य

नाथों का साहित्य संस्कृत तथा हिन्दी दोनों में है। नाथों का संस्कृत-हिन्दी साहित्य बौद्ध सिद्धों के संस्कृत-अपभ्रंश साहित्य से भिन्न है। दोनों की भाषा मिश्र संस्कृत है। बौद्ध सिद्धों की संस्कृत तथा अपभ्रंश रचनाओं का परिचय हम 'तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य' में दे चुके हैं। नाथ सिद्धों का साहित्य अपभ्रंशोत्तर देशी भाषा हिन्दी के विभिन्न रूपों में है। इसकी भाषा का विचार हम आगे करेंगे। मीननाथ नाम के एक सिद्ध की एक रचना हमें "बौद्ध गान ओ दोहा" के चर्यापदों के संस्कृत टीकाकार मुनिदत्त द्वारा उद्धृत मिलती है।[१] गोरखनाथ के नाम से प्रसिद्ध, अभी तक उल्लिखित संस्कृत ग्रंथों की संख्या बहुत अधिक है भिन्न-भिन्न विद्वानों के अनुसार नाथपंथी रचनायें संक्षेप में निम्नलिखित हैं :—

मिश्रबन्धु—(गोरक्ष के ग्रंथ)—गोरखशतक (ज्ञानशतक), चतुरशीत्यासन, ज्ञानामृत, योगचिंतामणि, योगमहिमा, योगमार्तण्ड, योगसिद्धान्तपद्धति, विवेकमार्तण्ड, सिद्धसिद्धान्तपद्धति।

रामचंद्र शुक्ल—(नाथपंथी ग्रंथ)—उपर्युक्त के अतिरिक्त—शक्तिसंगम तंत्र, निरंजन पुराण, वैराट पुराण।

जी० डब्ल्यू ब्रिग्स—रुद्रयामलतंत्र, विष्णुसहस्रनाम, गोरक्षशतक (प्रामाणिकतम रचना) आदि अनेक ग्रंथ।

डा० प्रबोधचन्द्र बागची—(मत्स्येन्द्र के ग्रंथ)—कौलज्ञाननिर्णय, अकुलवीर तंत्र (ए), अकुलवीर तंत्र (बी), कुलानन्दतंत्रम्, ज्ञानकारिका।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—(गोरक्षलिखित तथाकथित ग्रंथ)—उपर्युक्त के अतिरिक्त—अमनस्क, अमरौघशासनम्, अवधूतगीता, गोरक्षकौमुदी, गोरक्षगीत, गोरक्षपंचम्, गोरक्षपद्धति, गोरक्षसंहिता, ज्ञानामृत योग, नाड़ीज्ञानप्रदीपिका, महार्थमंजरी, योगबीज, योगसिद्धासनपद्धति, श्री नाथसूत्र, हठयोग, हठसंहिता।

---

[१] तां० बौ० सा० सा०—पृ० २२३, २५८।

महा० डा० गोपीनाथ कविराज द्वारा संपादित ग्रंथ—गोरक्षसिद्धांतसंग्रह, सिद्धसिद्धान्तसंग्रह ।

डा० कल्याणी मल्लिक द्वारा संपादित—गोरक्षकृत सिद्धसिद्धांतपद्धति, मीननाथ-(मत्स्येन्द्रनाथ) कृत योगविषय, गोरक्षविरचित अमरौघप्रबोध और योगमार्त्तण्ड ।

इस प्रकार नाथपंथियों के लगभग ३७ ग्रंथों की तालिका एक ऐसी तालिका है जो नाथपंथियों में मान्य और उनमें प्रचलित कही जा सकती है। इन ग्रंथों की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता के संबंध में उपर्युक्त विद्वानों ने यथास्थान यथाशक्ति विचार किया है।[१] प्रायः इन सभी ग्रंथों के संबंध में प्राप्य प्रायः सभी प्रमाण सर्वथा स्वीकार्य नहीं हैं। इसलिए इन ग्रंथों को वैज्ञानिक रीत्या सर्वथा प्रमाणित स्वीकार करने में आपत्ति हो सकती है।

ब्रिग्स गोरक्षशतक को गोरक्ष की सर्वाधिक प्रामाणिक रचना मानते हैं। उनकी दृष्टि में यह सकारण है। ज्ञानशतक और ज्ञानप्रकाशशतक भी गोरक्षशतक के नामान्तर हैं। फर्कुहर के प्रमाण को उद्धृत कर उन्होंने बतलाया है कि गोरक्षकल्प नामक ग्रंथ का गोरक्षपद्धति के नाम से हिन्दी में अनुवाद किया गया है। गोरक्षपद्धति में कुल दो शतक हैं। प्रथम शतक को गोरक्षशतक, गोरक्ष ज्ञान, ज्ञानप्रकाशशतक और ज्ञानशतक भी कहते हैं। गोरक्षपद्धति की हिन्दी टीका में बहुत से ऐसे श्लोक भी हैं जो हठयोगप्रदीपिका में मिलते हैं। गोरक्षशतक टीका, गोरक्षशतक टिप्पण, गोरक्षकल्प, गोरक्षपद्धति, योगसिद्धान्तपद्धति और सिद्धान्तपद्धति नामक ग्रंथ 'गोरक्षशतक' नामक ग्रंथ के भाष्य, परिशिष्ट टिप्पणी आदि हैं। गोरक्षपद्धति में उसे गोरक्षसंहिता भी कहा गया है। इससे यही स्पष्ट होता है कि गोरक्षशतक इस संप्रदाय का मूलग्रंथ है। इसे प्रमाण और परम्पराएँ गोरक्षनाथकृत तथा १२ वीं शताब्दी की रचना स्वीकार करती हैं।[२]

---

[१] मिश्रबंधुविनोद, प्रथम भाग—पृ० २११; हिं० सा० इ०—शुक्ल जी, पृ० १९; गो० क० यो०—ब्रिग्स, पृ० २५२-२५७, २८४-३०४; कौ० ज्ञा० नि०—बागची, १-८३, ८४-९१, ९२-१०६, १०७-११३, ११४-१२२; नाथ संप्रदाय—द्विवेदी, पृ० ९८-१००; सरस्वती भवन ग्रंथमाला, सं० १३, १८; सिद्धसिद्धान्तपद्धति ऐंड अदर वर्क्स आव नाथ योगीज—डा० मल्लिक, प्रामाणिकता के विचार के लिये भूमिका द्रष्टव्य।

[२] गो० क० यो०—पृ० २२५; नाथ संप्रदाय—पृ० ९९-१००; गो० क० यो०—पृ० २५५-२५७।

किंतु गोरक्षशतक या गोरक्षपद्धति को इस प्रकार गोरक्षकृत और संप्रदाय का मूलभूत ग्रंथ मानने के विरुद्ध भी कई प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। प्रथम तथा द्वितीय शतकों की रचना पद्धति से प्रतीत होता है कि यह ग्रंथ गोरक्ष संहिता के बहुत बाद लिखा गया या संपादित किया गया है क्योंकि उस प्राचीन साधनात्मक परम्परा का निर्वाह इसमें नहीं दिखाई पड़ता। कई स्थानों पर गोरक्षसंहिता के उल्लेख आये हैं। इससे प्रतीत होता है कि किसी परवर्ती नाथयोगी ने इसे गोरक्षनाथ के नाम से प्रसिद्ध कर दिया है और वह भी गोरक्ष संहिता, आदि को आधार बनाकर। 'ग्रंथांतरे' शीर्षक देकर अनेक श्लोक हठयोगप्रदीपिका से उद्धृत किये गये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इसका संग्राहक 'गोरक्षसंहिता' और हठयोगप्रदीपिका को अपने आधार-ग्रंथ मानता है। इन ग्रंथों में 'गोरक्षसंहिता' को प्रधानता दी गई है। हठयोगप्रदीपिका के श्लोकों को 'ग्रंथान्तरे' करके 'शतक' के श्लोकों से उद्धृत किया गया है किंतु गोरक्षसंहिता के श्लोक 'शतक' के श्लोकों में सन्निविष्ट हैं। संभव है कि हठयोगप्रदीपिका के श्लोकों को ग्रहण करने का कार्य हिन्दी टीकाकार ने किया हो। निष्कर्ष यह है कि गोरक्षपद्धति के प्रथम शतक अथवा द्वितीय शतक गोरक्षनाथ की मूल रचना नहीं हैं। हठयोगप्रदीपिका तो १३ से लेकर १७ वीं शताब्दी तक के बीच की रचना है। लेकिन यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि गोरक्षशतक को परवर्ती नाथयोगियों ने इतना आवश्यक और महत्त्वपूर्ण ग्रंथ समझा कि वे लोग उस पर अनेक भाष्य टीका, व्याख्या आदि के ग्रंथ लिखते रहे।[1]

गोरक्षशतक के समान ही सिद्धसिद्धांतपद्धति भी एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इस ग्रंथ के आधार पर आगे चलकर सिद्धसिद्धांतसंग्रह और गोरक्षसिद्धांतसंग्रह जैसे ग्रंथ बने। इन ग्रंथों में सिद्धसिद्धांतपद्धति के उद्धरण भी मिलते हैं। इस प्रकार इन संस्कृत ग्रंथों में गोरक्षसंहिता और सिद्धसिद्धान्तपद्धति—ये दो महत्त्वपूर्ण हैं और गोरक्षकृत भी हैं। अमरौघशासनम् और महार्थमंजरी भी गोरक्षकृत ग्रंथ माने जाते हैं तथा विभिन्न दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं। शैवागमों से शैव नाथ मत का संबन्ध निरूपण करने के लिए अमरौघशासनम् महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रंथ की रचनातिथि अथवा लिपिकाल अज्ञात हैं। सांख्ययोग, काश्मीर शैवमत और तंत्रदर्शन के ३६ तत्त्वों के साथ संबन्ध-विचार के लिए

[1] उदाहरण के लिए—गोरक्षपद्धति—१·४, २·९९ गो० क० यो०—पृ० २५३।

महार्थमंजरी विचारणीय ग्रंथ हैं। इन आधारों पर दार्शनिक, साधनात्मक तथा सांप्रदायिक धारा के विवेचन की दृष्टि से गोरक्षनाथ के निम्नलिखित संस्कृत ग्रंथ महत्त्वपूर्ण हैं—

१—सिद्धसिद्धांतपद्धति, २—गोरक्षसंहिता,
३—अमरौघशासनम्, ४—महार्थमंजरी।

इनमें से दर्शन की दृष्टि से सिद्धसिद्धांतपद्धति तथा महार्थमंजरी महत्त्वपूर्ण हैं तथा साधना की दृष्टि से गोरक्षसंहिता और अमरौघशासनम्। उपर्युक्त ग्रंथों में से कुछ इन ग्रंथों के सहायक माने जा सकते हैं। नवनाथों में से चर्पट के एक शतक का प्रकाशन काशीस्थ गोरक्ष टिल्ला की योगप्रचारिणी सभा द्वारा किया गया है। इसे चर्पटमंजरी भी कहा जाता है। इसका कोई भी प्रामाणिक विवरण उपलब्ध नहीं है। अन्य नाथसिद्धों की ऐसी संस्कृत रचनायें अभी उपलब्ध नहीं हैं जो प्रकृत्या नाथपंथी हो। भर्तृहरि की संस्कृत रचनाएँ विवादास्पद हैं। विभिन्न प्रमाणों पर विचार कर लोगों ने यह स्थिर किया है कि वाक्यपदीयकार और शतककार भर्तृहरि नाथपंथी नहीं थे।[1] यह विवादास्पद विषय है जिसके लिए इस प्रबंध में अवसर नहीं है।

नाथपंथियों की हिन्दी रचनाओं को सबसे पहले मिश्रबंधुओं ने उद्धृत किया। उन्होंने केवल गोरक्ष की रचना उद्धृत की; किन्तु उनके द्वारा उद्धृत रचनाओं में से दो अवतरणों (१—"सो वह ....ब्रह्म के विचार बैठो"; २—"श्री गुरु परमानन्द........करिबा रोस") का शोध नहीं लग सका। शेष रचनाएँ बाद में विभिन्न ग्रंथों में प्रकाशित हो गईं।[2] द्वितीय उद्धरण का अन्तिम वाक्य 'गोरखबानी' के 'मच्छीन्द्र गोरख बोध' के आरम्भ वाक्य में मिल जाता है। किन्तु शेष वाक्य अभी तक अप्राप्य हैं। मिश्रबंधुओं ने खोज में प्राप्त एक ग्रंथ के आधार पर गोरख को ही हिन्दी का सर्वप्रथम गद्यलेखक माना है।[3] बाद में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और डा० रामकुमार वर्मा ने भी वे ही गद्यांश उद्धृत किये किन्तु उन लोगों ने भी मिश्रबंधुओं की तरह संदर्भ नहीं दिये। आचार्य शुक्ल द्वारा उद्धृत कुछ अंश इस समय उपलब्ध हैं।[4]

---

[1] नाथ संप्रदाय—पृ० १६६–१६७।

[2] मिश्रबंधु विनोद, प्रथम भाग—पृ० २११–२१२, १५०, १५७।

[3] गोरखबानी—पृ० १८६; मिश्रबंधु विनोद, प्रथम भाग पृ० २११।

[4] हिं० सा० इ०-शुक्ल, पृ० ४०३; हिं० सा० आ० इ०-वर्मा, पृ० १३९-१४०; मिश्रबन्धु विनोद—पृ० २१२; गोरखबानी, सिष्टपुरापुन-पृ०

नाथपंथियों की हिन्दी रचनाओं के व्यवस्थित संपादन का सर्वप्रथम महत्त्व-पूर्ण कार्य डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने अनेक हस्तलिखित पोथियों को शोध कर 'गोरखबानी' के द्वारा पूरा किया (प्रकाशन सन् १९४२)। डा० बड़थ्वाल ने गोरखबानी की भूमिका में लिखा था—"यह ग्रंथ दो भागों में विभक्त है। पहले भाग में गोरखनाथ की बानी संगृहीत है और दूसरे में अन्य योगियों की बानियाँ।" इससे यह प्रतीत होता है कि डा० बड़थ्वाल ने अन्य योगियों की बानियाँ भी संगृहीत कर ली थीं लेकिन इस द्वितीय भाग को संपादित कर प्रकाशित करने के पूर्व ही बड़थ्वाल जी ने इहलोक त्याग दिया। उन्होंने अन्य नाथयोगियों की हिन्दी रचनाओं का परिचय देने के लिए 'हिन्दी कविता में योग-प्रवाह' शीर्षक एक विस्तृत निबन्ध लिखा, जिसमें गोरखनाथ के अतिरिक्त अन्य नाथयोगियों की रचनाओं के पर्याप्त उद्धरण देकर उन पर टिप्पणियाँ भी लिखीं।[१] इसके बाद नाथयोगियों की रचनाओं का संपादन कार्य डा० कल्याणी मल्लिक ने 'सिद्धसिद्धांतपद्धति एण्ड अदर वर्क्स आव नाथयोगीज' नामक संग्रह-ग्रंथ में किया (प्रकाशन सन् १९५४)। इसमें उन्होंने गोरखनाथ की 'गोरख उपनिषद' नाम की रचना प्रकाशित की जो न तो गोरखबानी में ही प्रकाशित हुई थी और न उसका कोई संकेत ही उपलब्ध था। विशेषता यह है कि यह रचना गद्य में है। इस संग्रह से पहली बार मत्स्येन्द्र, भरथरी और गोपीचन्द्र की हिन्दी रचनाओं का परिचय मिला। इस प्रकार इन तीनों योगियों के क्रमशः दो पद, उन्चास तथा उन्नीस सबदियाँ प्रकाशित की गईं। बड़थ्वाल द्वारा उद्धृत चरपट तथा जालंधरपाद की सब रचनायें यद्यपि इस संग्रह में नहीं मिलतीं फिर भी उनका अधिकांश इस संग्रह में आ गया।[२]

नाथयोगियों की रचनाओं का तीसरा महत्त्वपूर्ण संग्रह डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित हुआ था (प्रकाशन सन् १९५७)। इसमें २५ नाथ सिद्धों की बानियाँ तीन हस्तलिखित ग्रंथों से संगृहीत हैं। कुछ नाथ सिद्धों

२३६-२३७; गोरखबानी, मच्छीन्द्र गोरख बोध-पृ० १८६; हिं० सा० इ०-शुक्ल, पृ० १९; गोरखबानी- पृ० १८६।

[१] गोरखबानी—भूमिका, पृ० ११; हिन्दी कविता में योगप्रवाह—पहले नागरीप्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित, बाद में योगप्रवाह में संगृहीत, योगप्रवाह—पृ० ५४-७८।

[२] सि० प० अ० ना० यो०—पृ० ७२-७५, ७६, ७७-८१, ८८-८९, ९०-९१, ८२-८७।

के नाम पौराणिक हैं। नाथ सिद्धों की सूची में कहीं उनका उल्लेख नहीं मिलता, जैसे—महादेव, पार्वती, रामचन्द्र आदि। सतवंती जी, सुकुल हंस जी और हणवंत जी का भी अनिश्चय ही है। इनकी रचनाओं के सम्बन्ध में भी यही बात है। इनकी रचनाओं को बड़थ्वाल जी ने अपने निबन्ध में उद्धृत नहीं किया है। काणेरीपाव, गोपीचन्द्र (गोविन्द), चरपट, चौरंगी, जलंध्रीपाव, नागार्जुन और मत्स्येन्द्र के नाम वर्णरत्नाकर की सूची में मिलते हैं। योगप्रवाह के उपर्युक्त निबंध में उल्लिखित प्रायः सभी सिद्धों की रचनायें इस संग्रह में आ गई हैं। इनके अतिरिक्त परबतसिद्ध, हणवंत जी, रामचन्द्र जी, लक्ष्मण जी, लालजी, सुकुलहंस जी, सतवंती जी, मीड़कीपाव जी, महादेव जी, दत्तात्रेय, भरथरी, गोपीचंद्र, अजैपाल आदि की भी रचनायें संगृहीत हैं। नागार्जुन के ऊपर डा० बड़थ्वाल ने योगप्रवाह में एक निबन्ध लिखा था तथा निबन्धांत में उनकी रचनाएँ भी उद्धृत की थीं। वे इस संग्रह में भी संपादित हैं। इस संग्रह की 'गोपीचन्द्र जी की सबदी' 'जलन्ध्रीपाव जी की सबदी' 'चरपटी जी की सबदी' तथा 'मच्छंदनाथ जी का पद' रचनाओं के पाठभेदादि के लिए डा० मल्लिक के संग्रह-ग्रंथ को देखा जा सकता है। योगप्रचारिणी सभा, गोरक्षटिल्ला, वाराणसी से प्रकाशित श्रीनाथशतकम् के अन्त में चन्द्रनाथ तथा गरीबनाथ जी की सबदियाँ प्रकाशित हैं। इनको भी पाठभेदादि के लिए देखा जा सकता है। चन्द्रनाथ जी की कोई भी सबदी 'नाथसिद्धों की बानियाँ' में संपादित नहीं है।[1]

श्री एस० पी० चंदोला ने अपने शोध प्रबंध के अंत में नाथयोगियों की कुछ अप्रकाशित रचनायें प्रकाशित की हैं। उनमें से कुछ तो शोध प्रबंध के लिखे जाने के पूर्व ही डा० कल्याणी मल्लिक ने अपने संग्रह ग्रंथ में प्रकाशित कर दी थीं तथा अधिकांश रचनायें डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के संग्रह ग्रंथ में बाद में प्रकाशित हुईं। ये रचनायें अभी तक केवल उस शोध प्रबंध में ही सुरक्षित हैं—१—सिद्ध हड़ताली जी की सबदियाँ, २—काफर बोध और ३—अवलि मीर का लवलि सिलूक ग्रंथ। ये रचनायें कहाँ से संगृहीत की गई हैं तथा उनके हस्तलेखों का क्या विवरण है, यह कहीं भी इस शोध प्रबंध में उपलब्ध नहीं होता।[2]

---

[1] नाथसिद्धों की बानियां—भूमिका, पृ० २०, २३, २५; तां० बौ० सा० सा०-पृ० २११-२१२; योगप्रवाह—पृ० ६६; ना० प्र० पत्रिका—भाग १४, अंक ४।

[2] हिन्दी के नाथ कवि—श्री एस० पी० चन्दोला का पी-एच० डी० शोध

हमने अपने शोध प्रबंध में नाथ सिद्धों का विवेचन करते समय निम्नलिखित नाथपंथियों की गणना की है—मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ, जालंधर, चर्पटि, भर्तृहरि, रेवण, चौरंगी, गोपीचंद, कान्हिप, गहिनी, निवृत्तिनाथ, ज्ञाननाथ। इनमें से रेवण, गहिनी और निवृत्ति की वाणियाँ अभी तक उपलब्ध नहीं हैं। ज्ञाननाथ या ज्ञानेश्वर या ज्ञानदेव वारकरी संत हैं तथा नाथ परंपरा में भी आते हैं। इस परंपरा को स्वयं उन्होंने स्वीकार किया है। महाराष्ट्र के संतों में, विशेषकर वारकरी संतों में, सर्वप्रथम ज्ञानदेव नाथपंथी थे। उनकी जो हिन्दी रचना उपलब्ध है, उसका परिचय आगे दिया गया है। इनके अतिरिक्त जिन नाथयोगियों की हिन्दी बानियाँ प्रकाशित हुई हैं तथा जिनका परिचय ऊपर दिया जा चुका है, वे निम्नलिखित हैं :—

अजैपाल, गरीबनाथ, धूधलीमल, घोड़ाचौली, चुणकरनाथ, देवलनाथ, नागार्जुन, परबतसिद्ध, पृथ्वीनाथ, बालनाथ या बालगुंदाई या लक्ष्मणनाथ, मीड़कीपाव, सुकुलहंसजी, सतवंतीजी, हणवंतजी, रामचन्द्रजी, लालजी, महादेवजी, चंद्रनाथ।

इनमें से कुछ पौराणिकों को छोड़कर शेष का शताब्दीगत परिचय निम्नलिखित है (लिखित समय अनुमित हैं तथा 'आस-पास' की ओर संकेत करते हैं)—

९वीं ई० शताब्दी—मत्स्येन्द्र, जालंधर, नागार्जुन।

१०वीं–११वीं ई० शताब्दी—भर्तृहरि, गोविंदचंद्र (गोपीचन्द्र), चर्पटीनाथ, गोरक्ष, काणेरी, चौरंगीनाथ, चुणकरनाथ, चंद्रनाथ।

१२वीं ई० शताब्दी—घोड़ाचौली।

१३वीं ई० शताब्दी—धूधलीमल, देवलनाथ, परबतसिद्ध, बालनाथ।

१४वीं ई० शताब्दी—गरीबनाथ।

१५वीं ई० शताब्दी—अजैपाल, हणवंत जी।

१६वीं ई० शताब्दी—पृथ्वीनाथ।

रामचंद्र जी, महादेव जी आदि वास्तव में पौराणिक व्यक्ति हैं जिनके नाम पर किसी योगी ने रचना की और उन्हीं के नाम से प्रचलित कर दी है। इनमें अधिकांश योगियों की जाति और देश का पता नहीं हैं। जिनका पता है,

---

प्रबंध, जनवरी सन् १९५८, लखनऊ विश्वविद्यालय, पृ० २९९-३१२, ३१३-३१५, ३१६-३१७ (अभी अप्रकाशित)।

उनमें से अधिकांश क्षत्रिय और ब्राह्मण थे तथा उत्तरी भारत के पूर्वी भाग तथा पश्चिमी क्षत्रिय प्रदेशों के थे। मत्स्येन्द्र को मछुआ और चर्पटी को चारण पुत्र, काणेरीपाव को जुलाहा भी कभी-कभी कहा जाता है। देश की दृष्टि से नागार्जुन को दाक्षिणात्य, अजैपाल को गढ़वाली, काणेरीपाव को कर्णाटकी अथवा उड़ीसा-निवासी, गोरक्ष को पंजाबी, मत्स्येन्द्र को बंगाली, जालंधर को भोगदेशीय या हस्तिनापुर को निवासी या पंजाबी, गोपीचंद्र को बंगाली, धूधली मल को धीणोद निवासी, चौरंगी को पूर्वदेशीय कहा गया है। यह परिचय अधिकांशतः अनुमित ही है, ऐतिहासिक तथ्य से पुष्ट नहीं। इन सभी नाथ-योगियों की जाति देश और काल विवादास्पद हैं फिर भी विद्वानों द्वारा दिया गया जो विवरण विभिन्न संग्रह-ग्रंथों तथा उल्लिखित ग्रंथों में प्राप्य है, उसका यहां उल्लेख मात्र कर दिया गया है। इस विवेचन के आधार पर जहाँ तक नाथ योगी रचनाकारों का संबंध है, इन लोगों का विस्तार काल ९ वीं ईस्वी शताब्दी तक है।

संत साहित्य—

महाराष्ट्र के हिन्दी कवि और उनका साहित्य

हिन्दी साहित्य के कुछ इतिहासकारों ने महाराष्ट्र के संत कवियों का वर्णन पृष्ठभूमि के रूप में किया है और स्पष्टतया, किसी न किसी रूप में उन लोगों का संबंध नाथ सिद्धों और परवर्ती हिन्दी संतों से जोड़ा है। उन लोगों के विवेचन का मूलाधार था गुरु ग्रंथ साहब। मिश्रबंधुओं ने कुछ हस्तलिखित ग्रंथों का भी सहारा लिया था। कुछ संतों की रचनायें गुरु ग्रंथ साहब में नहीं मिलती थीं। उन्होंने ज्ञानेश्वर और मुक्ता बाई को हिन्दी रचनाकार अवश्य माना था किंतु रचनायें उन्होंने उद्धृत नहीं कीं। यद्यपि दामोदर पंडित के मराठी हिन्दी मिश्रित ग्रंथ 'व्रत्सहरण' की ओर संकेत किया गया है तथापि उनकी कोई भी रचना उद्धृत नहीं की गई है। नामदेव जी की जो रचनायें उद्धृत की गई थीं उनमें से कुछ रचनायें गुरु ग्रंथ साहब को छोड़कर और कहीं भी मुद्रित रूप में उपलब्ध नहीं थी।[१] बाद में श्री भास्कर रामचन्द्र भालेराव ने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास के कुछ अप्रकाशित परिच्छेद' शीर्षक विस्तृत निबंध लिखकर महाराष्ट्र के अनेक अज्ञात हिन्दी संत कवियों का परिचय दिया। इस में उन्होंने सोमेश्वर, चक्रधर, ज्ञानेश्वर, मुक्ताबाई, नामदेव, दादू पिंजरा,

---

[१] मिश्रबंधुविनोद—पृ० ९५, ९४, १५८, २२२।

एकनाथ, तुकाराम आदि अनेक संत कवियों की रचनाओं का परिचय देकर उनके पुष्कल उद्धरण भी दिये।[१] आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा उद्धृत सभी रचनाएँ गुरु ग्रंथ साहब में तथा उनके बाद प्रकाशित-संपादित पं० विनयमोहन शर्मा के 'हिन्दी को मराठी संतो की देन' ग्रन्थ के नामदेव के अतिरिक्त पदों में मिल जाती हैं। तात्पर्य यह कि आचार्य शुक्ल के समय तक नामदेव के गुरु ग्रंथ साहब में संगृहीत ६१ पदों के अतिरिक्त अन्य पदों की उपलब्धि हो चुकी थी। मुंबई से श्री शंकर पुरुषोत्तम जोशी ने नामदेव के उपर्युक्त ६१ पदों का संपादन विस्तृत टीका टिप्पणी के साथ किया (प्रकाशन सन् १९४०)। बाद में आचार्य विनयमोहन शर्मा ने पूर्वोक्त ६१ पदों के अतिरिक्त ८ पदों का संपादन किया। नामदेव की इन रचनाओं के अतिरिक्त मिश्रबंधुओं ने हस्त-लिखित ग्रंथों की खोज में प्राप्त 'नामदेव की साखी' 'नामदेव जी का पद' और 'राग सोरठ का पद' नामक तीन रचनाओं की ओर संकेत किया है। नामदेव ने दोहे भी कहे थे जिनका पता अभी तक नहीं लगा है।[२]

पं० विनयमोहन शर्मा ने नामदेव के अतिरिक्त जिन मराठी हिन्दी संत कवियों की रचनायें संपादित की हैं, वे निम्नलिखित हैं—

दामोदर पंडित (पद संख्या ८), गोदा महाराज (५५), एकनाथ महाराज (३६), अनंत महाराज (९९), तुकाराम बुआ (३३+७), श्री समर्थ रामदास (५), बहिणाबाई (२२), केशवस्वामी (४३), मध्व मुनीश्वर (२७), शिवदिन केसरी (१३), अमृतराय (१७), माधव महाराज (२०), देवनाथ महाराज (४६), दयालनाथ महाराज (३०), गुलाबराय (५७), गुडा केशव (१७) और माणिक महाराज (७)।

शर्मा जी ने ज्ञानेश्वर (२) और मुक्ताबाई (१) के पद भी दिये हैं। इस प्रकार इस ग्रंथ में लगभग २० मराठी संतों की लगभग ६०० रचनायें प्रकाशित की गई हैं। अभी इन सभी रचनाओं के वैज्ञानिक ढंग से संपादित होकर प्रकाशित होने की प्रतीक्षा की जा रही है। इनके अतिरिक्त बहुत से संत कवि ऐसे हैं जिनकी रचनायें बहुत कम मिलती हैं तथा जिनका नाम इनमें

---

[१] कोशोत्सव स्मारक संग्रह–संपा० म० रायबहादुर गौरीशंकर हीराचंद ओझा, नागरी प्रचारिणी सभा पृ०८७-९७।

[२] हिन्दी को मराठी संतों की देन-विनयमोहन शर्मा, पृ० २६७–६७०; मिश्रबन्धुविनोद–पृ० २२३।

नहीं आ सका है। इनके विषय में शर्मा जी ने 'वाणी की विवेचना' शीर्षक परिच्छेद में विस्तार से लिखा है।

वस्तुतः महाराष्ट्र के हिन्दी संतों की दो परंपरायें हैं। प्रथम में वे संत हैं जिनकी परम्परा वारकरी संप्रदाय के संतों से चलती है अथवा उनके गुरु कोई न कोई वारकरी (वैष्णव) संत थे। दूसरी परंपरा में वे संत हैं जिनके गुरु कोई न कोई नाथपंथी थे। ये लोग स्पष्टतया अपने गुरु को नाथपंथी बतलाते हैं। इसकी पुष्टि भी कभी-कभी इनकी हिन्दी अथवा मराठी रचनाओं से हो जाती है। कभी-कभी इनकी रचनाओं में नाथपंथ का प्रभाव बिल्कुल लक्षित नहीं होता। यह पूर्णतया सत्य है कि महाराष्ट्र का कोई भी संत ऐसा नहीं है जिसने राम अथवा कृष्ण के प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित न की हो। दोनों धाराओं के संतों में भक्ति तत्त्व और कभी-कभी प्रेमासक्ति के बीज और विकास भी मिलते हैं। दूसरे इन संत कवियों ने कदाचित् ही मूर्तिपूजा का उग्र विरोध किया हो। ये सगुण-निर्गुण तथा भक्तिज्ञान दोनों को महत्त्व देनेवाले संत थे। विष्णु और शिव का विरोध इनमें नहीं है। ये अवतार वाद के समर्थक प्रतीत होते हैं। इन कवियों का विस्तारकाल लगभग १२ वीं ई० शताब्दी से लेकर लगभग १८ वीं ई० श० तक माना गया है।

महाराष्ट्र के इन हिन्दी संतों की रचनाओं पर विचार करने से निम्नलिखित तथ्य उपलब्ध होते हैं—

(१) शुद्ध नाथपंथी जो अपनी दीक्षा-परंपरा, साधनापद्धति, दार्शनिक विचारधारा आदि की दृष्टि से नाथपंथी स्वीकार किये जायँ, महाराष्ट्र के हिन्दी संतों में प्रायः नहीं मिलते। गैनीनाथ और निवृत्तिनाथ अवश्य शुद्ध नाथपंथी थे किंतु आज उनकी हिन्दी रचनायें उपलब्ध नहीं हैं। केवल दीक्षा–परंपरा की दृष्टि से अपने को नाथपंथी कहनेवाले सबसे पहले संत ज्ञानदेव हैं, किंतु पं० विनयमोहन शर्मा ने स्पष्टतया उन्हें वारकरी भक्त माना है।[1] ज्ञानदेव के समान ही अपने को दीक्षा–परंपरा में नाथपंथी घोषित करनेवाले कवि हैं— मुक्ताबाई, नामदेव, तुकोबा (?), मानसिंग, बहिणाबाई, शिवदिन केसरी, नरहरिनाथ, महीपति, देवनाथ महाराज, दयालनाथ महाराज, गंगाधर, गुडाकेशव। इनमें से प्रायः सभी ऐसे कवि हैं जिन्होंने अपनी दीक्षा-परंपरा नाथों से बताई है किंतु उनकी हिन्दी

[1] हिं० म० सं० दे०—पृ० ८८।

रचनाओं में रामभक्ति और कृष्णभक्ति की संपन्न अभिव्यक्ति हुई है।

(२) इसी प्रकार महाराष्ट्र के हिन्दी कवियों में कुछ ऐसे हैं जो नाथपंथ से प्रभावित हैं किंतु उनकी दीक्षा-परंपरा और आचारादि सभी वारकरियों, महाराष्ट्र के दत्त, समर्थ आदि विभिन्न संप्रदायों के हैं। वे कवि हैं—जयराम स्वामी, शिवराम, देवदास, मुकुंदानंद, नरहरि रामदासी, राम, मानपुरी, गोस्वावीनंदन, निपट निरंजन, जमाल शा, (अग्रदास, अमरदास, आत्मगोपाल, गुलाबदास, मुरारनाथ, सैद हुसैन, बालगोपाल, माधवदास, रामराम, विद्यादास, लतीफ, हावा जी, माधव राम, लछमन गिर फकीर, बुरहरू शा), चक्रधर, महदायिसा, दामोदर पंडित, गोंदा महाराज, सेनानाई,भानुदास महाराज, संत एकनाथ, अनंत महाराज, श्यामसुन्दर, संत जैन जसवंत, कान्होबा, समर्थ रामदास, रंगनाथ, बामन पंडित, समर्थ शिष्य कल्याण, बया बाई, हरिहर, केशव स्वामी, गोपालनाथ, मध्व मुनीश्वर, अमृत राय, सिद्धेश्वर महाराज, माधव, कृष्णदास, विष्णुदास, गुलाबराव महाराज, माणिक। कोष्ठक के कवियों के संप्रदाय और विचारधारा का पूर्ण निर्णय तत्संबंधी विवरण तथा पर्याप्त रचनाओं के न मिलने के कारण नहीं किया जा सका।

इन संत कवियों की जो रचनायें उपलब्ध हैं, उनकी हस्तलेख संबंधी प्रामाणिकता के विषय में कुछ नहीं कहा गया है। पं० विनयमोहन शर्मा ने बताया है कि ये रचनायें विभिन्न प्राचीन ग्रंथालयों से एकत्रित की गई हैं जिनमें उन्होंने श्री समर्थ वाग्देवता मंदिर, धूलिया तथा मराठावाड़ा साहित्य परिषद्, हैदराबाद की विशेष गणना की है।[1] इसी प्रकार अन्य संत कवियों की रचनायें श्री हरिभाऊ नेने, डा० देशमुख (अमरावती) तथा श्री भा० रा० तेलंग (औरंगाबाद) पुस्तकालय से प्राप्त की गई हैं। शर्मा जी ने केवल 'वामन पंडिताची चौपदी' का लिपिकाल, जो शाके १५७१ है, तथा जिसके लिपिकार श्री अनंत मुनि हैं, दिया है। इसकी प्राप्ति श्री नेने जी के माध्यम से हुई है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी हस्तलेख का विवरण शर्मा जी के इस बृहद् ग्रंथ में नहीं मिलता।[2]

---

[1] वही—भूमिका, पृ० 'क'।

[2] वही—प्रमुख सहायक ग्रंथसूची, पृ० ४७५।

निर्गुणधारा का हिन्दी संत साहित्य

हिन्दी की भक्तिकालीन निर्गुणधारा की ज्ञानमार्गी शाखा का व्यवस्थित विवेचन सबसे पहले पं० रामचंद्र शुक्ल ने अपने 'इतिहास' में किया। उन्होंने वस्तु की साहित्यिकता को मुख्य लक्षण मानकर ज्ञानाश्रयी शाखा के कवियों पर विचार किया। इस शाखा की परंपरा में उन्होंने कबीर, रैदास, धर्मदास, गुरु नानक, दादूदयाल, सुन्दरदास, मलूकदास तथा गुरु गोविन्दसिंह की गणना की है। केवल संदर्भ के रूप में उन्होंने जगजीवनदास, तुलसीसाहब, गोविंद साहब, भीखा साहब और पलटू का नाम लिया है। इन कवियों में, परंपरा की दृष्टि से, उन्होंने कबीर, नानक और दादू को प्रमुख माना। डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने निर्गुणपंथ का विवेचन करते हुए संतो की परंपरा में उन्हीं निर्गुनिया संतों को स्थान दिया जिन्होंने या तो प्रारंम्भिक संतमत के सिद्धान्तों की भूमिका उपस्थित की या सिद्धान्त स्थिर किये अथवा आगे जिन लोगों ने संतमतान्तर्गत किसी संप्रदाय या पंथविशेष का प्रवर्तन किया। उनकी दृष्टि, इस विवेचन में साधनात्मक, रहस्यवादी, दार्शनिक और सांप्रदायिक रही। कबीर को, निर्गुण मत का एक निश्चित रूप देनेवाला स्वीकार कर, उनके पूर्व के जयदेव, नामदेव, त्रिलोचन, रामानंद तथा इनके अतिरिक्त पीपा, सधना, धन्ना, सेन, रैदास आदि का परिचय देने के बाद कबीर, नानक, दादू, प्राणनाथ, बाबालाल, मलूकदास, दीन दरवेश, यारी और उनके अनुयायी, जगजीवनदास द्वितीय, पलटू, धरणीदास, दरियाद्वय, बुल्लेशाह, चरणदास, शिवदयाल और तुलसी साहब का विवेचन किया। इनमें से प्रारंभिक कवियों को उन्होंने प्रस्तावक या भूमिका उपस्थित करनेवालों के रूप में तथा शेष को संतमत का प्रकाशन करनेवाले अग्रदूतों के रूप में विचार्य समझा। इनमें बारह संत कवि ऐसे हैं जो अपने साधनात्मक वैशिष्ट्य और सांप्रदायिक महत्ता के बल पर ही स्थान पा सके हैं। इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि संतों की परंपरा में वे भक्त उपासक गृहीत होते हैं जो कबीर द्वारा उपदिष्ट निर्गुण पंथ की विचार-धाराओं को स्वीकार करते हुए भी निर्गुण पंथ के ही अंतर्गत किसी विशेष मत या संप्रदाय के प्रवर्तक हुए। ये सभी निर्गुणी और भक्त थे।[1]

पं० परशुराम चतुर्वेदी ने संत परंपरा में इन भक्त कवियों को ग्रहण करने के कारण बताते हुए कबीर को ही केन्द्रबिंदु मानकर संत परंपरा का विचार किया। उनकी दृष्टि में इस परंपरा के अंतर्गत प्रायः वे ही उपासक सम्मिलित

---

[1] दि नि० स्कू०हिं० पो०–पृ० २४।

किये जाते हैं जिन्होंने (१) संत कबीर साहब अथवा उनके किसी अनुयायी को अपना पथ-प्रदर्शक माना है। (२) उनमें ऐसे संतों की भी गणना कर ली जाती है जिन्होंने उनके द्वारा स्वीकृत सिद्धान्तों को किसी रूप में अपनाया है। (३) इसके सिवाय उसमें कभी कभी वैसे महात्माओं को भी स्थान दिया जाता है, जो सूफी, वेदान्ती, सगुणोपासक भक्त जैनी या नाथपंथी समझे जाते हुए भी अपने विचार-स्वातंत्र्य एवम् निरपेक्ष व्यवहार के कारण संतमत में माने जाते रहे हैं।'[1] चतुर्वेदी जी ने इन श्रेणियों के उदाहरण नहीं दिये हैं। केवल इतने विवरण से दूसरी और तीसरी श्रेणी में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं प्रतीत होता।

संत साहित्य का निर्माण करनेवाले संतों के छोटे-बड़े संप्रदाय लगभग २५ थे जिनमें से सर्वाधिक प्रतिभासपन्न और व्यवस्थित संप्रदाय थे--कबीर पंथ, नानकपंथ, दादूपंथ और बावरीपंथ। इन संप्रदायों के कुछ संत ऐसे हैं जिन्होंने दीक्षा तो अन्य संतमतेतर गुरुओं से ली थी किंतु उनकी रचनाओं में कबीरादि का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। उदाहरण के लिए शेख फरीद, भीषन जी (?) और बुल्लेशाह वस्तुतः सूफी संप्रदाय के थे किंतु उनके ऊपर निर्गुण पंथ का प्रभाव इतना प्रबल है कि पं० परशुराम चतुर्वेदी ने उन्हें निर्गुणपंथ के अन्तर्गत ही स्वीकार कर लिया।[2] चतुर्वेदी जी ने शेख फरीद, और बुल्लेशाह और यारी साहब को सूफी माना था।[3] इसी प्रकार नामदेव और दीन दरवेश ने यद्यपि दीक्षा तो नाथपंथ में ली थी किंतु उनके उपदेश निर्गुण पंथ के अनुकूल हैं। चतुर्वेदी जी ने दीन दरवेश को सूफी भी माना है।[4] हरिदास निरंजनी, जो निरंजनी संप्रदाय के प्रवर्तक थे, भी पहले नाथपंथ में दीक्षित थे तथा अन्य संप्रदायों का भी आश्रय लिया था।'[5]

प्रदेशभेद की दृष्टि से भी संत साहित्य का विचार किया गया है क्योंकि प्रत्येक प्रदेश की अपनी क्षेत्रीय संस्कृति, जलवायु, राजनीतिक-सामाजिक-आर्थिक स्थिति, समाज, भाषा, संस्कार आदि का भी प्रभाव संतों के ऊपर पड़ा है। नीचे,

---

[1] संतकाव्य--पं० परशुराम चतुर्वेदी, प्रस्तावना, पृ० ५।

[2] उ० भा० सं० प०—पृ० २५७, ३७८, ३८३-३८४, ६२४-६२६।

[3] सूफी काव्य संग्रह—पृ २१०, २१२, २१७।

[4] हिं० सा० इ०—पृ० ६७-६८; उ० भा० सं० प०—पृ० ६२२; सू० का० सं०-पृ० २१९-२२०।

[5] उ० भा० सं० प०—पृ० ४६४।

इस दृष्टि से, उसका विवरण दिया गया है (इन संतों के प्रदेश का निर्णय उनकी जन्मभूमि के आधार पर किया गया है तथा जन्मभूमि संबंधी कोई भी विवरण न मिलने पर, उनके निवासस्थान के आधार पर उनका प्रदेश-निर्णय किया गया है)—

१—पश्चिमी प्रदेश—(सिंध, पंजाब, राजपूताना, काबुल, कंधार, मारवाड़)–संत सधना, वेणी, पीपा जी, धन्ना भगत, जंभनाथ, नानक, फरीद, अंगद, अमरदास, रामदास, अर्जुनदेव, वषना जी, हरिदास निरंजनी, आनंदघन, तेजबहादुर, बाबालाल, रज्जब जी, सुन्दरदास (छोटे), गोविन्दसिंह, बुल्लेशाह, दरिया साहब, (मारवाड़ी), गरीबदास, चरणदास, रामचरण, निश्चलदास।

२—पूर्वी प्रदेश—(आसाम, बंगाल, बिहार, उड़ीसा)–जयदेव, धरनीदास' (बिहारी), रामरहसदास।

३—उत्तरी प्रदेश—(काश्मीर, नेपाल आदि)—संत लालदेद या लल्ला योगिनी (इनकी रचनाएँ हिन्दी में नहीं मिलती)।

४—दक्षिणी प्रदेश—महाराष्ट्र, बरार, हैदराबाद, मध्यप्रदेश, मध्यभारत) —नामदेव, त्रिलोचन, सेनानाई, सिंगा जी, तुलसी साहब (उपर्युक्त मराठी संत भी सम्मिलित)।

५–मध्य देश–(शौरसेन प्रदेश, उत्तर प्रदेश, विंध्यप्रदेश, के उत्तर का भाग) स्वामी रामानंद, कबीर, राघवानंद, रैदास, कमाल, भीषन जी, धर्मदास, दादूदयाल, बावरी साहिबा, बीरू साहिबा, मलूकदास, यारी साहब, बूला साहब, गुलाल साहब, सहजोबाई, दयाबाई, पलटू, शिवदयाल।

इस विवरण से स्पष्ट है कि उत्तरी भारत में पश्चिमी प्रदेश और मध्यदेश ही संतमत या निर्गुण पंथ के उद्भव और प्रचार के मुख्य क्षेत्र रहे हैं। इन संत कवियों और संतमतान्तर्गत विकसित संप्रदायों में भी प्रसार होता रहा है किंतु प्रमुखता की दृष्टि से इन पर ध्यान दिया जा सकता है।

संत मत के लगभग २५ प्रमुख संप्रदायों में से विश्नुई संप्रदाय, निरंजनी संप्रदाय, दादू संप्रदाय, रामावत या रामानंदी संप्रदाय विशेष रूप से अध्येय हैं। कारण यह है कि इन संप्रदायों के प्रवर्तकों का नाथ संप्रदाय से किसी न किसी प्रकार का संबंध अवश्य रहा है। यदि नामदेव, रामानंद, कबीर, रैदास, जंभनाथ, नानक, दादूदयाल, बावरी साहिबा, हरिदास निरंजनी, रज्जब जी, सुन्दरदास (छोटे), दरियादास (बिहारी), रामरहसदास, निश्चलदास और

शिवदयाल को विवेचन के लिए ग्रहण किया जाय तो सभी क्षेत्रों तथा प्रायः सभी मुख्य पंथों या संप्रदायों का प्रतिनिधित्व विवेच्य हो सकेगा। आगे हम इन चुने हुए संत कवियों की रचनाओं का एक संक्षिप्त परिचय उपस्थित करेंगे। इस परिचय में प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता पर भी यथाशक्ति ध्यान रखा गया है। ये कवि क्षेत्र, विभिन्न प्रकार की प्रतिभाओं, व्यक्तित्वों, युगों तथा संप्रदायों का भी प्रतिनिधित्व एक साथ करते हैं। इनके साथ अन्य कवि हैं—शेख फरीद, भीषन जी, दीन दरवेश, जिनकी दीक्षापरंपरा यद्यपि भिन्न है तथापि रचनाओं की विचारधारा की परंपरा निर्गुणी है।

इन विभिन्न संत कवियों की रचनायें प्रयाग, मुंबई, लखनऊ, अजमेर, कलकत्ता, पुणे, जयपुर, काशी आदि नगरों से प्रकाशित हुई हैं। इनमें से काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित कबीर ग्रंथावली, कबीर वचनावली, सुन्दरसार, दादूदयाल की वाणी, रामनारायणलाल प्रयाग द्वारा प्रकाशित तथा विचारदास द्वारा सम्पादित कबीर 'बीजक' कलकत्ता की राजस्थान रिसर्च सोसायटी द्वारा प्रकाशित 'सुन्दर ग्रंथावली' (दो भाग), बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना से प्रकाशित 'दरिया ग्रंथावली' आदि ग्रंथ अन्य की अपेक्षा अधिक सावधानी, व्यवस्था और विविध हस्तलेख सामग्री की सहायता से सम्पादित किये गये हैं।

सन्तों ने अपनी रचनायें तो लिखी ही हैं साथ ही प्राचीन गुरुओं की रचनाओं का संग्रह-सम्पादन भी किया है। संतों की रचनाओं का सर्वप्रथम संग्रह दादू के शिष्य रज्जब जी ने तैयार किया था जिसका नाम 'अंगबधू' है। इसमें केवल दादू की रचनाओं को 'अंगों' में विभाजित कर दिया गया है। इसके पूर्व हिन्दी में कोई भी संग्रह 'अंगों' में विभाजित नहीं मिलाता। यह संग्रह गुरु ग्रंथ साहब के दस वर्ष पूर्व (सं० १६५१) तैयार हुआ था। रज्जब जी का एक दूसरा संग्रह सर्वंगी है जिसमें दादूदयाल की वाणी के अतिरिक्त नामदेव, कबीर, पीपा, रैदास, नानक, अमरदास, अंगद भीषन, हरिदास और वषना की रचनायें संगृहीत हैं। इसी प्रकार दादूपंथी सन्तदास और जगन्नाथदास ने भी दादूदयाल की वाणियों का संग्रह 'हरडे वाणी' नाम से किया था। जगन्नाथदास का एक दूसरा ग्रंथ 'गुणगंजनामा' भी है। ये सभी ग्रंथ अप्रकाशित हैं।[1]

---

[1] उ० भा० सं० प०—पृ० ४२०, ४२६, ४६०।

एक दूसरा अधिक महत्त्वपूर्ण, प्रामाणिक और अपनी संपादन पद्धति के कारण विलक्षण ग्रंथ 'आदि गुरु ग्रंथ साहिब' है जिसे सिखों का वेद कहते हैं। यह प्रकाशित है। संवत् १६६१ (लगभग सन् १६०४ ई०) में गुरु अर्जुन ने सर्वप्रथम यह संग्रहकार्य किया था। गुरु अर्जुनदेव पांचवें सिख गुरु थे। उन्होंने अपने समय तक के सभी सिख गुरुओं की रचनाओं का संग्रह किया तथा स्वयं लिखवाया। इनके पूर्व के, क्रम से, चार गुरु थे—गुरु नानक, अंगद, अमरदास तथा रामदास। आजकल प्राप्त गुरु ग्रंथ साहिब में पांचवें गुरु तक की रचनायें तो हैं ही साथ ही नवें गुरु तेगबहादुर और दसवें गुरु गोविन्द सिंह की भी रचनायें संगृहीत हैं। पाँचवें गुरु तक की रचनायें तो गुरु अर्जुन ने ही संकलित की थीं किंतु नवें गुरु की रचनाओं के साथ अपना एक सलोक (साखी) दसवें गुरु गोविन्द सिंह ने सम्मिलित किया था। गुरु ग्रंथ साहिब की संपादन पद्धति विलक्षण है। आदि ग्रंथ में तीन भाग हैं। प्रथम भाग कर्मकांडीय है। दूसरे भाग में गुरुओं के स्तोत्र हैं और तीसरा भाग पूरक है। अन्तिम दो भागों में कबीर तथा अन्य भक्तों की रचनायें हैं।[१] प्रथम भाग की प्रथम रचना 'जपुजी' है। यह गुरु नानक की रचनाओं में सबसे अधिक प्रसिद्ध है।[२] दूसरी रचना 'रहिरास' है जिसमें गुरु नानक (महला १), गुरु रामदास (महला ४) तथा गुरु अर्जुन (महला ५) की रचनायें संगृहीत हैं। गुरु ग्रंथ साहिब में 'रहिरास' के अंतर्गत 'सोदरु महला १' 'सुणि बड़ा महला १' तथा 'सो पुरुख महला ४' शीर्षक रचनायें संगृहीत हैं। इसमें पाँचवें गुरु अर्जुन की भी रचनायें 'सोदर' तथा 'सो पुरखु' के अन्तर्गत हैं। 'सोदर' 'सुणि बड़ा' तथा 'सो पुरखु' नामकरण प्रथम स्तोत्र के आरम्भिक शब्दों को लेकर किये गये हैं।[3] तद-

---

[१] कबीर एण्ड हिज फालोअर्स–पृ० ५७-५८।

[२] उ० भा० सं० प०–पृ० २९६; दि सिख रेलिजन—मकालिफ, वा० १, पृ० १९५ तथा पादटिप्पणी। हिन्दुओं की श्रीमद्भगवद्गीता के समान ही सिखों के लिए महत्त्वपूर्ण ३८ छंदों की रचना प्रत्येक सिख द्वारा प्रतिदिन प्रातः पढ़ी जाती है।

[3] उ० भा० सं० प०–पृ० २९७; दि सि० रे०–वा० १, पृ० २५० तथा पादटिप्पणी। मकालिफ ने 'रहिरास' में तीसरे गुरु की भी रचना संकलित मानी है, जबकि केवल महला १, ४, ५ की ही रचनायें उसमें संकलित हैं तथा केवल उतने का ही मकालिफ ने अनुवाद भी किया है। सिख लोग 'रहिरास' का प्रति सायं पाठ करते हैं।

नन्तर गुरु ग्रंथ साहिब में 'सोहिला' है जिसमें गुरुनानक, रामदास तथा अर्जुन की एक एक रचनायें हैं।[1]

दूसरे भाग को कुल ३१ रागों में बाँटा गया है। प्रथम पाँच गुरुओं के क्रम के अनुसार रागों के लिए पाँच महला की कल्पना की गई है। पहले महला में गुरु नानक, दूसरे में गुरु अंगद, तीसरे में गुरु अमरदास, चौथे में गुरु रामदास तथा पाँचवें महला में गुरु अर्जुन के भजन संगृहीत हैं। छठें, सातवें, और आठवें गुरु (क्रमशः गुरु हरगोविंद, गुरु हरराय, गुरु हरकृष्ण) की रचनायें संगृहीत नहीं हैं अथवा उनकी रचनायें प्राप्य नहीं थीं। इसीलिए पूरे गुरु ग्रंथ साहिब में छठाँ, सातवाँ और आठवाँ महला नहीं है। नवें गुरु तेगबहादुर की रचनायें नवें महला में संगृहीत हैं। यह कोई आवश्यक नहीं कि प्रत्येक राग में प्रथम पांच महला तथा नवाँ महला हों। जिस गुरु की जिस राग में रचना मिली, उसी राग के उन्हीं गुरु के महला में उन रचनाओं का संग्रह कर दिया गया। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सिख गुरुओं में सभी ने, जिनकी रचनायें गुरु ग्रंथ साहब में संगृहीत हैं, अपनी रचना में भी, 'भणिति' में अपना-अपना नाम नहीं दिया है। सबने 'नानक' नाम का प्रयोग किया है। उनका अपना व्यक्तिगत नाम कहीं भी नहीं मिलता क्योंकि सभी गुरु अपने को प्रथम गुरु नानक से, परम्परा और आत्मा की दृष्टि से अभिन्न मानते हैं। प्रथम नौ गुरुओं ने 'नानक' उपाधि धारण की है। उनकी अचनाओं का विभेद करने के लिये 'महला' का ज्ञान रखना अत्यावश्यक है। गुरु ग्रंथ साहिब एक नगर है और गुरुओं की रचनायें क्षेत्र, उपनगर या विभाग या महल्ला हैं। दसवें गुरु गोविन्दसिंह की सभी रचनायें गुरु ग्रंथ साहिब में नहीं हैं। उनका केवल एक सलोक संकलित है। उनकी रचनाओं का एक अलग ग्रंथ है जिसे 'दसवाँ पातशाह का ग्रंथ' कहते हैं उनकी कुछ और रचनायें उपलब्ध हैं, जैसे विचित्र-नाटक। रागों में जब महला समाप्त हो जाते हैं, तब अलग-अलग रागों के अनुसार ही उनमें भक्तों के पद संगृहीत मिलते हैं। ये भक्त हैं—जयदेव, नामदेव, त्रिलोचन, परमानन्द, सधना, बेनी, रामानन्द, धन्ना, पीपा, सेन, कबीर, रैदास, मीराबाई, शेख फरीद, भीखन, सूरदास।[2]

---

[1] उ० भा० सं० प०—पृ० २९७; दि सि० रे०—वा० १, पृ० २५८। इसका पाठ सिख लोग सोने के समय (सोवन वेला) करते हैं।

[2] दि सि० रे०—वा० १, इंट्रो० पृ० ५१; वा० ६।

तीसरे भाग में सलोक हैं। डा० की ने तीसरे भाग को भोग बतलाया है। इसमें महला के क्रम से ही सलोकों का विभाजन है। कबीर और शेख फरीद के भी सलोक संगृहीत हैं। भक्तों की रचनाओं में कबीर की रचनायें संख्या में सबसे अधिक हैं। गुरु ग्रंथ साहिब की रचनाओं का मूल और एक सिद्धान्त ईश्वर की एकता है। यह सिद्धान्त इस ग्रंथ की प्रत्येक रचना से प्रकट होता है।[१]

इन भक्तों में केवल मीरा और सूरदास भक्तों के रूप में प्रसिद्ध हैं। सूरदास की सगुणवादिता के संबंध में कोई विवाद नहीं है किन्तु मीरा के विषय में विवाद है।* यद्यपि संतों की बहुत सी विशेषतायें उनमें मिलती हैं तथापि मूर्तिपूजा तथा अवतारवाद के प्रति अनास्था व्यक्त न करने के कारण उन्हें सगुणवादी ही मानना चाहिये। इन सगुणवादियों को गुरु ग्रंथ साहिब में क्यों स्थान दिया गया यहाँ यह विवेचन नहीं हैं। इन सभी भक्तों का समय १७ वीं ई० शताब्दी तक विस्तृत है। ट्रंप ने संपूर्ण गुरु ग्रंथ साहिब का अंग्रेजी में अनुवाद किया था तथा मैक्स आर्थर मकालिफ ने पाँच खंडों में सिख गरुओं का विस्तृत परिचय देकर उनकी रचनाओं का अनुवाद किया है। छठें खंड में भक्तों का परिचय तथा उनकी रचनाओं का अनुवाद है। संतों की रचनाओं का प्राप्त सबसे अधिक प्रामाणिक और संहिता ग्रंथ यही है जो प्रकाशित है। कुछ लोग इसकी प्रामाणिकता में संदेह करते हैं। संतों द्वारा और जो संग्रहकार्य अभी तक किये गये हैं, उनके प्रकाशन की अभी प्रतीक्षा की जा रही है।

आधुनिक विद्वानों द्वारा भी संतों की रचनाओं के संपादन का कार्य किया गया है। बहुत पहले रामानंद का केवल एक पद प्राप्त था जो गुरु ग्रंथ साहिब में संगृहीत है।[२] बाद में रामानंद का एक और पद डा० ग्रियर्सन के माध्यम से डा० श्यामसुन्दर दास को मिला था, जिसे उन्होंने 'रामावत संप्रदाय' नामक लेख में प्रकाशित कराया था।[३] इसके बाद रामानंद की कोई फुटकर रचना प्रकाशित नहीं हुई। नागरीप्रचारिणी सभा से अब 'रामानंद की हिन्दी रचनायें'

---

[१] वही—वा० १, इंट्रो० पृ० ५१।

* गुरु ग्रंथ साहब में किस सूरदास की रचना संगृहीत है, यह अनिश्चित है क्योंकि सूरदास भी कई हुए हैं। एक विल्वमंगल सूरदास थे, दूसरे सूरदास कृष्णभक्त थे, तीसरे सूरदास का संदर्भ आइने अकबरी में आया कहा जाता है, आदि।

[२] गु० ग्रं० स०—रागु बसंत, पद १।

[३] ना० प्र० प०—भाग ४, पृ० ३२७।

नामक ग्रंथ प्रकाशित हो गया है, जो एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। इससे उन दो पदों के अतिरिक्त रामानंद की अनेक रचनायें प्रकाशित हो गईं। (प्रकाशन संवत् २०१२)।

कबीर की रचनाओं का सर्वप्रथम संग्रह–प्रकाशन गुरु ग्रंथ साहिब में हुआ था किंतु अतिरिक्त रचनाओं का प्रकाशन नागरी प्रचारिणी सभा से डा० श्याम-सुन्दरदास ने विभिन्न हस्तलिखित पोथियों के आधार पर किया। पहले दावा किया गया था कि कबीर की इन रचनाओं का संपादन जिस हस्तलेख के आधार पर किया गया है, वह सं० १५६१ का है किंतु डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी और पं० परशुराम चतुर्वेदी आदि ने अनेक प्रमाणों के आधार पर इसे असिद्ध कर बताया कि वह हस्तलेख पर्याप्त परवर्ती है। डा० द्विवेदी ने उसका लेखनकाल अठारहवीं शताब्दी माना है।[1] इसी प्रकार डा० रामकुमार वर्मा ने 'संत कबीर' नामक संग्रह का संपादन किया है जिसका प्रकाशनकाल सं० २००० है। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने भ्रमण कर विभिन्न सांप्रदायिक और असांप्रदायिक स्रोतों से कबीर की वाणियों का संग्रह कर उसे चार भागों में प्रकाशित किया था जिसके चुने हुए सौ पदों का अनुवाद 'वन हंड्रेड पोएम्स आफ कबीर' नाम से रवीन्द्रनाथ ठाकुर और मिस अंडरहिल ने किया था। श्री सेन महोदय ने वाणियों का बँगला में अनुवाद भी किया है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने 'कबीर' नामक ग्रंथ के परिशिष्ट में आचार्य सेन के संग्रह से, अन्य संग्रहों से भी, रचनायें संगृहीत कर उन पर अति महत्त्वपूर्ण व्याख्यात्मक टिप्पणियाँ भी दी हैं। बेल्वेडियर प्रेस, वेंकटेश्वर प्रेस, नवलकिशोर प्रेस आदि से कबीर की अनेक रचनाएँ प्रका-शित हो चुकी हैं जिनका मुख्य आधार सांप्रदायिक क्षेत्रों में तथा जनसामान्य में प्रचलित कबीर की वाणियाँ हैं। इनके अतिरिक्त विचारदास, हंसदास, अहमद-शाह, प्रेमचंद, विश्वनाथसिंह आदि ने साम्प्रदायिक दृष्टि से सर्वाधिक मान्य और पूज्य रचना 'बीजक' का संपादन, व्याख्या, अनुवाद, भाष्य आदि किया है जिसके ऊपर विस्तार से विचार विद्वानों ने किया है।[2] इस प्रकार कबीर की रच-नाओं के तीन संग्रह इस समय अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक रूप में उपलब्ध हैं—गुरु ग्रंथ साहिब, बीजक और कबीर ग्रंथावली। इनमें से गुरु ग्रंथ साहिब में संगृहीत रचनाओं में तथा कबीर ग्रंथावली की रचनाओं में अधिक समानता

---

[1] उ० भा० सं० प०–पृ० १७८–१७९; कबीर–द्विवेदी, पृ० १९–२०।

[2] क० एण्ड हिज फा०–पृ० ५९–६०; कबीर साहित्य की परख---पं० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ७७–८०।

है। बीजक की रचनायें इन दोनों में से किसी से भी अधिकांशतः मेल नहीं खातीं। इन तीनों में भी सबसे अधिक प्रामाणिक संग्रह गुरु ग्रंथ साहिब का ही है। कबीर साहब की रचनाओं के संग्रहों के विस्तृत परिचय के लिये यहाँ उचित अवसर और अवकाश नहीं है यद्यपि उस पर शोधकार्य पर्याप्त हुआ है।

संत रैदास की रचनाओं के दो संग्रह इस समय उपलब्ध हैं। प्रथम संग्रह 'रैदास जी की वाणी' बेल्वेडियर प्रेस से प्रकाशित है तथा द्वितीय संग्रह का संपादन-प्रकाशन स्वामी रामानंद शास्त्री और श्री वीरेन्द्र पाण्डेय ने किया है। द्वितीय संग्रह 'रबिदास और उनका काव्य' के आरंभ में भूमिका में, रविदास, उनके संप्रदाय, तथा संत रविदास का विस्तार से विवेचन किया गया है। रवि-दास जी के लगभग ४० पद गुरु ग्रंथ साहिब में संगृहीत हैं। इन तीनों संग्रहों के पाठों में पूर्ण ऐक्य नहीं है। इसका तुलनात्मक अध्ययन, पाठभेद की दृष्टि से, अभी नहीं हुआ है। इनकी कुछ रचनायें कुछ संग्रहों में भी बिखरी मिलती हैं। नानक की रचनाओं का परिचय गुरु ग्रंथ साहिब के प्रकरण में दिया जा चुका है। दादू की रचनाओं के संग्रहों का भी कुछ परिचय पहले दिया जा चुका है। पं० सुधाकर द्विवेदी ने रज्जब के 'अंगबंधू' की पद्धति का अनुसरण कर दादू की रचनाओं का एक संग्रह नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से प्रका-शित किया था। डा० राय दलजंग सिंह ने भी एक संग्रह इसी प्रकार तैयार किया जो जयपुर से प्रकाशित हुआ। पं० चंद्रिका प्रसाद त्रिपाठी का अजमेर से प्रकाशित 'दादूदयाल की वाणी' (दो भाग) नामक संग्रह सर्वाधिक प्रामाणिक है। वेल्वेडियर प्रेस से दादू की रचनाओं का एक संग्रह प्रकाशित हुआ है जो त्रिपाठी जी के संग्रह से बहुत भिन्न नहीं है। बावरी साहिबा के केवल दो पद उपलब्ध हैं जो पं० परशुराम चतुर्वेदी के संतकाव्य में प्रकाशित हैं। निरंजनी संप्रदाय के प्रवर्तक हरिदास निरंजनी की प्रायः सभी रचनायें 'श्री हरिपुरुष जी की वाणी' में संगृहीत हैं जिसका संपादन श्री सेवाराम ने किया है। 'रज्जब जी की वाणी' का प्रकाशन बेल्वेडियर प्रेस से हो चुका है। सुंदरदास (छोटे) की रचनाओं का व्यवस्थित रूप से संपादित संग्रह पं० हरिनारायण शर्मा ने दो भागों में प्रकाशित किया। दरियादास (बिहारी) की 'दरियासागर' तथा 'ज्ञानदीपक' नामक रचनायें पहले ही प्रकाशित हो चुकी थीं। बाद में डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने उनकी कुछ रचनाओं का एक वृहत् संग्रह विधिवत् संपादित कर 'दरिया ग्रंथावली' (प्रथम ग्रंथ), 'संत कवि दरिया: एक अनुशीलन' नाम से बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना से प्रकाशित कराया। 'पलटू साहब की

कुंडलिया या बानी' का प्रकाशन बेल्वेडियर प्रेस से हुआ है। संत तुलसी साहब की तीन रचनायें उपलब्ध हैं। 'घटरामायण', 'शब्दावली' और 'रतनसागर' का प्रकाशन बेल्वेडियर प्रेस से हुआ है। 'शब्दावली' (भाग २) के अंत में 'पद्म-सागर' नाम का एक ग्रंथ भी छपा मिलता है। संत रामरहसदास का पंचग्रंथी नामक भाष्य भी प्रकाशित है। साधू निश्चलदास का 'विचारसागर' वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित है। इनका दूसरा ग्रंथ 'वृत्ति प्रभाकर' अति प्रसिद्ध है। स्वामी निश्चलदास की दो रचनायें 'सारवचन' (गद्य और पद्य) बेल्वेडियर प्रेस से प्रकाशित हो चुकी हैं।

इन चुने हुए संतों की रचनाओं का विस्तृत परिचय देना प्रसंगानुकूल न होगा। इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि संतों की रचनाओं में सर्वथा प्रामाणिक कही जाने योग्य सामग्री बहुत कम है। गुरु ग्रंथ साहिब, कबीर ग्रंथावली, दरिया ग्रंथावली, दादूदयाल जी की वाणी आदि संग्रह ग्रंथ प्राची-नता, संपादन आदि की दृष्टि से प्रामाणिक समझे जा सकते हैं। इन सबमें गुरु ग्रंथ साहिब सबसे अधिक प्रामाणिक है यद्यपि उसकी पाठ-संबंधी प्रामाणि-कता के संबंध में लोगों को संदेह है क्योंकि विद्वानों के मत से, उसका भी तीन बार संपादन, लिप्यंतर तथा प्रतिलिपि की गई थी। 'रामानंद की हिन्दी रचनायें' का संपादन डा० बडथ्वाल ने ही किया था किंतु अंतिम स्पर्श उसके प्रधान संपा-दक डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने देकर उसकी प्रामाणिकता में वृद्धि कर दी है। संपादन पद्धति वैज्ञानिक है तथा पाठभेदादि से सुसज्जित है। एक तीसरी कोटि कबीर के बीजक और बेल्वेडियर प्रेस जैसी संस्थाओं से प्रकाशित रचनाओं की है जिसमें आचार्य क्षितिमोहन सेन द्वारा संपादित 'कबीर' (४ भाग) भी अन्त-र्गणित है। शोध संबंधी मान्यता तथा सांप्रदायिक मान्यता के बल पर इन रचनाओं को विवेचन के लिये स्वीकार किया जा सकता है। संभव है भविष्य में 'गुणगंजनामा', 'सर्वंगी', 'हरडेबानी' जैसे संग्रहग्रंथों के सुव्यवस्थित संपादन–प्रकाशन से परिस्थिति कुछ बदल जाय। अभी तक जो रचनायें उपलब्ध हैं, उन्हीं को प्रामाणिक मानकर हम आगे विवेचन करेंगे।

तीसरा परिच्छेद

नाथों और संतों के जातीय तथा सामाजिक संबंध

भारतीय इतिहास के हर्षोत्तर युग (लगभग ७०० ई० से १२०० ई० तक) के भारतीय समाज का अध्ययन करने से पता लगता है कि इस काल में सामाजिक विघटन और विभाजन के फलस्वरूप जातियों और उपजातियों की संख्या बढ़ रही थी। जन्म, स्थान, व्यवसाय, संप्रदाय, प्रथा आदि के आधार पर नई-नई जातियाँ बनने लगी थीं तथा वर्णों में भी भेदोपभेद बढ़ने लगे थे। संकर वर्णों के सिद्धान्त ने नई जातियों के निर्माण में बहुत योग दिया। इसी प्रकार कृच्छ्राचार तथा भोजन, विवाह और संपर्क के निषेधों तथा संकीर्णताओं ने भी अंत्यजों, अस्पृश्यों और अदृश्यों की संख्या बढ़ाई। वर्ण-व्यवस्था की तरह ही आश्रम-व्यवस्था ने भी इस युग में, अपनी कठोरता के कारण, जातियों की संख्या बढ़ाई। वर्ण मूलतः आर्यों की सहज प्रवृत्तियों के ऊपर, उनके कर्मों के ऊपर तथा बाद में जन्म के ऊपर अवलंबित थे तथा आश्रमों के मूलाधार संस्कार थे। जैन और बौद्ध संस्कृतियों ने आश्रम-व्यवस्था पर प्रथम आघात किया था। इनमें व्यक्ति किसी भी अवस्था में, बिना किसी अवस्थागत विहित संस्कार के, श्रमण या परिव्राजक हो सकता था। अपरिपक्व शरीर और मन के भिक्षुओं और श्रमणों से देश भर गया। अतः मनु को, शुंगकाल में, 'आश्रमात् आश्रमं गच्छेत्' का सिद्धांत पुनः दृढ़ करना पड़ा। इस युग में शंकराचार्य द्वारा यद्यपि बौद्ध और जैन श्रमणों के इस सिद्धान्त तथा आचार का विरोध किया गया था तथापि उसी प्रकार की, उसके समान ही, श्रमण बनने की परंपरा को पुष्टि उनसे प्राप्त हुई। वैशिष्ट्य यह था कि इसे केवल ब्राह्मणों के लिये स्वीकार किया गया था। वैष्णव, शैव, शाक्त, पाशुपत, कापालिक आदिकों में साधु-संन्यासियों की संख्या बढ़ने लगी। बौद्ध और जैन श्रमणों का अभाव इनसे पूरा हुआ।[1] जहाँ तक शैव संन्यासियों का प्रश्न है पाशुपत और कापालिक नाम के दो शैव संप्रदायों का पता लगता है। दूसरी से ७वीं ई० श० तक शैव संन्यासियों का कोई विवरण नहीं मिलता। ह्वेन्त्सांग इन्हें अबौद्ध संन्यासी संप्रदाय कहता है। इसी प्रकार इस यात्री ने जालंधर (पंजाब),

---

[1] हिं० सा० वृ० इ०—भाग १, पृ० १०४-१०५, ११२।

अहिक्षेत्र, वाराणसी जैसे प्रदेशों के विभिन्न मंदिरों से संबद्ध शैव संन्यासियों की संख्यायें बतलाई हैं।[१] ११वीं ई० श० तक यही स्थिति बनी रही। शंकराचार्य ने बौद्ध दर्शन के प्रधान मल्ल नागार्जुन को परास्त कर बौद्ध दर्शन पर प्रबल प्रहार किया, यह सर्वविदित है। श्री घुरे के अनुसार गोरखनाथ ने उत्तरी भारत में, विशेषकर उत्तर-पूर्वी भारत में, अंतिम तथा सर्वाधिक बलवान प्रहार बौद्ध मत पर किया।[२]

लगभग १२वीं ई० श० तक जातियों और आश्रमों की यही स्थिति रही। मुसलमानों के आक्रमण का आरंभ ८वीं ई० श० से ही हो गया था। उनका व्यवस्थित प्रवेश पृथ्वीराज के समय में हुआ। १३वीं ई० श० में तुर्क-अफगान शासन की स्थापना हो गई। आक्रमणकारियों में तत्कालीन हिंदू समाज के ढंग की कोई जाति-वर्ण-व्यवस्था नहीं थी। अपने भारतीय और जातीय संस्कारों और विशेषताओं के सुरक्षित रखने के लिये पहले की रूढ़िवादिता, संकीर्णता और भी दृढ़ होने लगी। नए शासन और नई संस्कृति के संपर्क से जाति-च्युति और वर्ण-च्युति के अवसर बढ़ने लगे। यह कार्य लभभग औरंगजेब तक, तथा कुछ अंशों में इसके बाद तक, होता रहा। इस युग के पूर्व तक, आक्रामक जाति, भारतवर्ष में, सामूहिक रूप में आक्रांत के धर्म को किसी न किसी रूप में स्वीकार कर लेती थी, किन्तु इस सिद्धांत की कि 'विजेता जाति का धर्म विजित जाति का धर्म हो जाता है' चरितार्थता मुसलमानी आक्रमण के साथ भारत में कुछ अंशों में दिखाई पड़ी। अपनी पुरानी जाति और नवीन धर्म—इन दोनों के संसर्ग से नवीन जातियों का उद्‌भव होने लगा। आगे चलकर भारतीय मुसलमानों को मूल मुसलमानों से पृथक् समझा जाने लगा।

तत्कालीन भारतीय हिन्दू जनसमाज का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि वह दो वर्गों में बँटा हुआ था। पहला वर्ग वह था जिसका नियन्त्रण ब्राह्मण व्यवस्था तथा स्मृत्यादिक धर्मग्रंथों के अनुसार होता था। इस वर्ग के लोग अपने जीवन का नियमन और मापन धर्मशास्त्रों के अनुसार करते थे। दूसरा वर्ग इन ग्रन्थों और उनके विधानों की चिन्ता नहीं करता था तथा 'अकाल संन्यास' भी इनके यहाँ विहित था। यह वर्ग मोक्षसाधन के लिए मानव जीवन का नियमन करनेवाली वर्णाश्रम व्यवस्था को उपयुक्त नहीं समझता था, न स्वीकार ही करता था। उसे धर्मशास्त्रों का आश्रम-क्रम भी मान्य नहीं था।

[१] इंडियन साधुज—जी० एस० घुरे, पृ० ४८-४९।

[२] वही—पृ० ५२, ५७, ५९-६०।

मोक्षसिद्धि को, इस प्रकार, मुख्य लक्ष्य मानने वाले मत या संप्रदाय धर्मशास्त्रीय ग्रंथों को व्यवहाररक्षक मानते थे। योगादि शास्त्रों को इन लोगों ने मोक्ष-रक्षक माना। योगी मोक्षरक्षक शास्त्र का अनुयायी होता है। मनुस्मृत्यादि धर्मशास्त्रीय ग्रंथों के विधानों के कठोर व्यवहार से इस युग के भारतीय समाज में किस प्रकार विघटन हो रहा था, इसकी ओर संकेत किया जा चुका है। ये योगी, सिद्ध आदि अपने को 'अतिवर्णाश्रमी' कहते थे। उन लोगों ने इसकी व्याख्या सामाजिक या सांसारिक आधार पर न कर साधनात्मक और दार्शनिक आधार पर की है। इनके अनुसार ब्रह्म की प्राप्ति पक्षपातविनिर्मुक्त होने पर ही होती है। पक्षपात का अर्थ है देहाभिमान। अत: योगी को अतिवर्णा-श्रमी होना ही चाहिए।[1] बौद्ध मत के अभ्युदय के पूर्व ही संन्यासाश्रम विरो-धियों को, विशेषकर याज्ञिक क्रियाओं का विरोध करने वालों को, अन्तर्भूत करने वाले आश्रम के रूप में स्वीकृत हो चला था। श्वेताश्वतरोपनिषद् का ज्ञान 'अत्याश्रमी' लोगों के लिए स्वीकार किया गया है। शंकराचार्य ने स्मृति को प्रमाण मान कर यह व्याख्या दी है कि 'जभी मन में सभी वस्तुओं के प्रति वैराग्य उत्पन्न हो जाय, तभी विद्वान् को संन्यास ग्रहण करना चाहिये।[2]

इससे स्पष्ट है कि याज्ञिक क्रियाओं में अविश्वास तथा उनका विरोध और 'अकाल संन्यास' को स्वीकृति देनेवाला वर्ग बहुत समय से भारतीय समाज में जीवित था। इस प्रकार अत्याश्रमी शब्द के विकास को ध्यान में रखने से इस युग में नाथसिद्धों की स्थिति का अनुमान करने में सुविधा होगी। नाथमत या गोरक्षमत, जिसका प्रचार-प्रसार लगभग १० वीं ई० श० में हुआ, जाति, वर्ण, आश्रम सम्बन्धी अपने इस प्रकार के विचार का प्रचार कर रहा था। गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह में नाथमत की दृष्टि से इस शब्द का व्याख्यान मिलता है। इस ग्रंथ का समय निश्चित नहीं है, तथापि इतना निश्चित है कि इस ग्रंथ में गोरक्ष, मत्स्येन्द्र, भर्तृहरि आदि प्राचीन नाथसिद्धों के सिद्धान्तों का संग्रह किया गया है। नाथयोगी भी संन्यासी थे और प्राचीन शैव संन्यासियों, पाशुपतों आदि की परम्परा में थे, ऐसा ब्रिग्स जैसे विवेचकों ने सिद्ध करने की चेष्टा की है।[3]

---

[1] गो० सि० सं०—पृ० २०-२२, २३।

[2] श्वेताश्वतरोपनिषद्—६. २१।

[3] गो० सि० सं०—प्रीफेस, महा० डा० गोपीनाथ कविराज, पृ० १–२; गो० क० यो०—ब्रिग्स, पृ० २१८।

इन सामाजिक, जातीय परिस्थितियों में नाथपंथ तथा अन्य परवर्ती सम्प्रदायों का अभ्युदय हुआ। अत्यधिक व्यापक अर्थवाले योगी शब्द के अन्तर्गत कानफटे लोगों के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायों के योगी नाम से अभिहित होनेवाले अनुयायी भी गृहीत हैं। इनमें गोरखनाथी या कानफटे योगियों का प्राधान्य और महत्त्व है। १९०१ तथा आगे की जनगणना के विवरणों के अनुसार इस सम्प्रदाय में हिन्दू फकीर, हिन्दू जोगी, मुसलमान जोगी तथा हिंदू नाथ होते थे।[1] हिन्दू और मुसलमान दोनों ही समान रूप से इसमें प्रवेश ले सकते थे। मुसलमानों के लिये सुविधाजनक इसलिये था कि उनके समाज में जन्म अथवा कर्म के आधार पर कोई कठोर विभाजन नहीं था, वर्गविभाजन का मूल आधार अर्थ था। दूसरे, इस मत में, हिन्दू समाज की कठोर व्यवस्था से पीड़ित और तिरस्कृत भी स्थान पा सकते थे। एक प्रकार से यह 'नाथ-समाज' 'ना हिन्दू ना मुसलमान' का समाज था, यद्यपि उसकी जीवनपद्धति तथा दर्शन की परम्परायें सर्वथा आर्य थीं, जैसा आगे के विवेचन से स्पष्ट होगा।

इस युग के विभिन्न धार्मिक आन्दोलनों ने भी अनेक प्रकार के वर्गों और जातियों को उत्पन्न किया। पहले ये वर्ग एक सांप्रदायिक और धार्मिक समूह के रूप में ही थे किन्तु बाद में वे जाति के रूप में बदल गये। बिश्नोई, साधु, जोगी, गोसाईं, मानभाव आदि इसी प्रकार की साम्प्रदायिक जातियाँ हैं। ये जातियाँ भी विभिन्न प्रकार की अपूर्व निश्चित व्यवसायों या जीविकाओं को अपना लेने के कारण विभिन्न उपजातियों में बँट गईं। उदाहरण के लिए मनिहारी जोगी वे जोगी हैं जो मनकों (माला के दानों) को बेचा करते थे।[2]

इस प्रकार का विस्तृत विचार यह व्यक्त करने के लिये किया गया है कि कबीर का अभ्युदय एक ऐसे काल में हुआ था जब दो विरोधी संस्कृतियाँ परस्पर सम्पर्क में आ चुकी थीं तथा जिससे भारतीय जाति-व्यवस्था में बहुत से दूरगामी और जटिल परिवर्तन हुए। इस युग के मुस्लिम आक्रमण और शासन में हिन्दुओं को, जिनकी जातीय और सामाजिक स्थिति का थोड़ा परिचय ऊपर दिया जा चुका है, बलप्रयोग से, भय से, या पद-सम्पत्ति के प्रलोभन देकर इस्लाम धर्म स्वीकार कराया गया। यह परिवर्तन सामूहिक रूप में भी होता था।

---

[1] गो० क० यो०—पृ० १–२, ५।

[2] कास्ट एण्ड क्लास आव इण्डिया—जी० एस० घुरे, पृ० ३३–३६।

इस प्रकार के धर्मपरिवर्तन से भी जातिनिर्माण होता था। अन्य धर्म स्वीकार कर लेने पर, विभिन्न प्रकार की जीविकाओं को स्वीकार कर लेने पर, आगे चलकर उनकी एक जाति बन जाती थी। इस्लाम धर्म स्वीकार कर लेने पर, मुसलमान समाज में केवल पद और सम्मान का प्रश्न रहता था, जातिभेद और अपमान का नहीं। हिन्दुओं के जातिपरिवर्तन और धर्मपरिवर्तन का प्रश्न इस्लामी धर्मशास्त्रों से संबद्ध है। इस संपूर्ण मुस्लिम शासनकाल में शासकों की नीति को निश्चित करनेवाले इस्लाम के धर्मशास्त्र थे जिनके अनुसार सुलतान खुदा का प्रतिनिधि था और उसका कर्त्तव्य था ईश्वरीय नियमों का पालन करना, एकमात्र सच्चे धर्म इस्लाम को चारो ओर फैलाना और उसका पालन कराना। इस्लाम धर्म में अविश्वास राजद्रोह समझा जाता था। 'बहुदेववाद अर्थात् एक परमेश्वर के साथ अनेक अन्य देवताओं पर भी विश्वास रखना, इस्लाम के अनुसार पाप समझा जाता है। अतएव इस्लामी धर्मशास्त्र में उसके सच्चे अनुयायी का ईश्वरीय मार्ग में 'जिहाद' (कोशिश) ही उसका सबसे प्रधान और महत्वपूर्ण कार्य बताया गया है। काफिरों के देश (दार-उल-हर्ब) में युद्ध करके इसको उस समय तक चलाये जाना चाहिये, जब तक कि वह इस्लामी राज्य के दायरे (दार–उल् इस्लाम) में पूर्ण रूप से शामिल न हो जाये। धार्मिक और राजनीतिक सिद्धान्तों के अनुसार ऐसी विजय के बाद उस देश के काफिरों की सारी आबादी जीतनेवालों की गुलाम बन जाती है। 'संपूर्ण जन-समाज को इस्लाम धर्म में दीक्षित कर उसका धर्मपरिवर्तन करना और हर प्रकार के धार्मिक मतभेदों को मिटा देना ही मुसलमानी राज्य का आदर्श है। ···विधर्मी को राजनीतिक तथा सामाजिक अधिकारों से वंचित किया जाना चाहिये कि शीघ्र ही उस व्यक्ति को वह अनोखी आध्यात्मिक ज्योति प्राप्त हो और उसका नाम भी सच्चे मुसलमान धर्मावलंबियों में लिखा जा सके।'[1] इसी प्रकार हिंदुओं से जजिया, खिराज इत्यादि वसूल करने का ईश्वरीय अधिकार भी ऐसे शासकों को दिया गया। वेश-भूषा, संमान, पूजन आदि का भी अधिकार विधर्मियों को नहीं दिया जाना चाहिये। अन्य धर्मों के प्रति सहनशीलता दिखाना पहले के और बाद के प्रायः सारे अरब विजेताओं की दृष्टि में पाप था। बाद के विजेताओं के काल में जजिया कर देने और रहन-सहन तथा वेश-भूषा की

[1] औरंगजेब—डा० जदुनाथ सरकार, पृ० १७९–१८०, पृ० १८०–१८१ तथा पादटिप्पणियाँ;—इंसाइक्लोपीडिया आव इस्लाम, भाग १ पृ० १०४१, भाग ९–पृ० ५–६, भाग ८–पृ० ३९–४२, भाग १–पृ० ९१७।

रोक-टोक के साथ ही इन अन्य धर्मावलंबियों को कई दूसरी आशायें बँधाई जाती थीं, डराया जाता था। हिन्दू धर्म छोड़ देनेवालों को धन का प्रलोभन दिया जाता था तथा समाज के नेताओं पर दबाव डाला जाता था जिससे कि वे किसी भी प्रकार की धार्मिक शिक्षा न देने पावें। 'काफिर कुशी' मुसलमान की एक बड़ी विशेषता मानी जाती थी।[१]

संपूर्ण मुस्लिम शासनकाल में प्रायः सभी मुसलमान शासकों ने इन धर्म-शास्त्रीय नियमों का पालन किया। परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे धर्मान्तरित मुसलमानों की संख्या बढ़ती गई। प्रलोभन और उत्पीड़न से शासकों के प्रसार का कार्य संपन्न हुआ। कुतुबुद्दीन ऐबक (सन् ११९४–१२१० ई०) ने अलीगढ़ विजय के बाद वहाँ के निवासियों को या तो इस्लाम धर्म स्वीकार कराया या कट्टर हिन्दुओं को तलवार के घाट उतार दिया। अलाउद्दीन खिलजी (सन् १२९५–१३१६ ई०) ने खंभात पर विजय प्राप्त कर बीस सहस्र स्त्रियों को अपनी दासी बनाया।[२] इस अलाउद्दीन खिलजी को उसके विद्वान् काजी मुधिसुद्दीन ने काफिरों के साथ इस प्रकार व्यवहार करने का उपदेश दिया था—'इस प्रकार के दुर्व्यवहारों से जिम्मी (विधर्मी) की पूरी-पूरी ताबेदारी सच्चे इस्लाम धर्म के गौरव की स्थापना और झूठे विधर्मियों का दमन स्पष्ट रूप से हो जाता है। उनको मार डालने, लूटने और कैद करने की भी आज्ञा पैगंबर ने हमें दी है। यहाँ हनीफ़ा द्वारा प्रतिपादित धर्म-व्यवस्था ही मानी जाती है। इस बड़े इमाम के अतिरिक्त अन्य किसी धार्मिक विद्वान् के ग्रंथों में हिंदुओं से जजिया कर वसूल करने की आज्ञा नहीं दी गई है। अन्य सारे मुसलमानी धर्मवेत्ताओं के अनुसार हिन्दुओं के लिए एक ही नियम है—इस्लाम धर्म स्वीकार करना या मृत्यु।[3] इसी प्रकार का कार्य लगभग १७०७ ई० तक तथा उसके कुछ समय बाद तक भी चलता रहा। केवल अकबर का चरित्र इससे अछूता-सा दिखाई पड़ता है। तत्कालीन हिंदू समाज अपनी सामाजिक व्यवस्था में, इस परिवर्तन से, अपने ही सजातीय बंधुओं के लिए, उदार न हुआ और उसमें सुरक्षा की भावना से संकोच, रूढ़िवादिता और सजातीयों के प्रति कठोरता बढ़ती गई। डा० यदुनाथ सरकार ने उस समय के हिन्दू समाज की स्थिति का विस्तार से वर्णन किया है।[४] इसी काल में

[१] औरंगजेब—पृ० १८१–१८६।

[२] दि सि० रे०—भाग १, इंट्रो०, पृ० ४२–४८।

[3] औरंगजेब—पृ० १८३।

[४] वही–पृ० १८९।

जजिया या खिराज़ या इसी प्रकार के अन्य करों का, जिनकी वसूली गैरमुस्लिम जनता से की जाती थी, कुप्रभाव सबसे अधिक गरीब जनता पर ही पड़ता था। समकालीन मनूची ने लिखा है—'ऐसे अनेक हिन्दू जो यह कर नहीं दे सकते थे, इस कर के वसूल करने वालों के द्वारा किये जाने वाले अपमानों से छुटकारा पाने के लिए मुसलमान हो गये और यह सब देखकर औरगंजेब आनन्दित होता है।[1]

आरम्भ में जिन योगियों का वर्णन किया गया है, उनका इस प्रकार के नवधर्मान्तरित या मूल मुसलमानों से कहीं-कहीं घनिष्ठ संबंध था। आजकल भी भारतीय मुसलमानों में एक सम्प्रदाय है जिसे ज़फर योगी कहते हैं तथा जिसके अनुयायी योगसाधन भी करते हैं। कुछ परम्पराओं से ज्ञात होता है कि गोरखनाथ ने यात्राएँ भी बहुत की थीं। यह भी ध्यान देने योग्य है कि गोरखनाथियों के केन्द्रों के प्रधान को कहीं-कहीं 'पीर' कहा जाता है जिसका सामान्यतया प्रयोग मुस्लिम संतों के लिये किया जाता है। इन विवरणों से यह पता लगता है कि महाराष्ट्र के मानभावों की तरह गोरखनाथ और उनके कानफटा जोगियों ने उत्तरी भारत में किसी रूप में मुसलमानों से संधि कर ली थी। इसकी व्याख्या इस प्रकार की जाती है कि 'पीर' शब्द का ग्रहण नाथपंथियों ने, अपने उग्र उन्मूलन से बचने के लिये कर लिया था। श्री घुरे को यह व्याख्या सुन्दर लगती है और उसकी पुष्टि के लिये उन्होंने तीन कारण भी दिये हैं। प्रथम, नाथपंथियों के मुख्य केंद्र मुस्लिम-बहुल प्रदेशों में हैं। अफगानिस्तान, पश्चिमी पंजाब, कच्छ आदि प्रदेशों में मुसलमानों की संख्या अधिक है तथा इन प्रदेशों में क्रमशः कन्दहार, टिल्ला, धिनोधर आदि स्थानों में नाथपंथियों के मुख्य केन्द्र हैं। दूसरे, हिंगलाज की देवी के प्रति श्रद्धाभाव रखने के कारण मुसलमान जनता से उन लोगों का सम्पर्क अधिक बढ़ा। तीसरे, इतिहास से पता लगता है कि नाथपंथियों को मुसलमानों द्वारा उत्पन्न की गई विपत्तियाँ नहीं सहनी पड़ी थीं। गोरखपुर के गोरक्षनाथ मंदिर का मुसलमानों ने दो बार ध्वंस किया था जिसे नाथपंथियों ने बाद में बनवाया। नाथपंथी केन्द्रों में जोगी लोग जो जीवन व्यतीत करते हैं, वह मुसलमान पीरों के दैनिक जीवन के प्रायः समान है।[2] श्री घुरे ने जिन तर्कों और तथ्यों को उपस्थित किया है, उससे एक अन्य तथा सर्वथा भिन्न विचार भासित होता है

[1] वही–पृ० १९७-१९८।
[2] इंडियन साधुज–पृ० ६०, १५७।

कि सम्भव है कि नाथपंथी जोगियों के समुदाय में जब मुसलमान लोग भी दीक्षित होने लगे तो उनके आधिक्य अथवा प्रभाव से तत्तत् स्थानों में उन मठों के प्रधानों को 'पीर' कहा जाने लगा हो। गोरखपुर के मठ के प्रधान को 'महंत' ही कहा जाता है, 'पीर' नहीं। इसी सम्बन्ध में एक तथ्य और ध्यान में रखने योग्य है कि गोरखनाथ और परवर्ती नाथकवियों की रचनाओं में उनका मुसलमानों के प्रति वह खण्डनात्मक आवेश व्यक्त नहीं हुआ है जैसा कबीर की रचनाओं में, बाद में, हुआ।

प्राचीन भारतीय साहित्य (उपनिषद्, पुराण, स्मृतिग्रंथ आदि) में योगी जाति का वर्णन नहीं मिलता। इसलिये कुछ लोगों का विचार है कि इस जाति का स्थान संकर या हीन जातियों में भी नहीं है। इसी आधार पर श्री सुरेश चन्द्रनाथ मजुमदार ने अनुमान किया है कि 'ब्राह्मण जाति आर्यभाषी भारतीय जनसमाज में एक श्रेष्ठ विभाग है तथा योगि जाति चिरकाल से उक्त ब्राह्मण जाति के आदर्श में स्थान पाती थी। इसलिए प्राचीनतम पुराण स्मृत्यादि शास्त्रों में इस जाति का कोई स्वतंत्र उल्लेख नहीं है। योग-चर्चा करते हुए ये लोग जोगी नाम से ख्यात थे। 'बहवो रुद्रजाः सर्व्वे योगधर्मपरायणाः।' प्राचीन भारत में ब्राह्मण जाति से भिन्न कोई और जाति योगसाधना नहीं करती थी।[1] ' बल्लालचरित में बंगाल की योगी जाति के पुरोहितों को रुद्रज ब्राह्मण कहा गया है और तथ्यतः बंगाल के योगी आजकल भी अपने को शिवगोत्रीय कहते हैं। इसके अतिरिक्त बंगाल की योगी जाति किसी न किसी प्रकार अपने को नाथसम्प्रदाय से सम्बद्ध करती है। १० वीं से १२ वीं ई० श० के बीच नाथ सम्प्रदाय से संबद्ध यह जाति सम्पूर्ण भारत में फैल गई थी। तथ्यतः यद्यपि बंगाल के योगी लोग हिन्दू समाज में अन्तर्भूत होते गये हैं तथापि वे कुछ अपनी पुरानी रीतियों-रूढ़ियों को, अपनी जाति की विशेषता के रूप में, सुरक्षित रखे हुए हैं। ये लोग अपने नाम के साथ 'नाथ' शब्द जोड़ते हैं और अधिकांशतः कपड़ा बीनने, पान बेचने तथा चूने का व्यवसाय करते हैं। ये सामान्यतया अपने शवों को गाड़ते हैं यद्यपि आजकल वे दाह-संस्कार की पूर्णतया हिन्दू क्रिया को अपना रहे हैं। कुछ स्थानों में सवर्ण हिन्दुओं के लिए ये अस्पृश्य हैं। श्री मजुमदार ने विभिन्न आधारों पर यह निष्कर्ष निकाला है कि

[1] राजगुरुयोगिवंश—श्री सुरेशचन्द्र मजुमदार, पृ०२–३ तथा उसमें उद्धृत ब्रह्मवैवर्तपुराण और रामायण।

योगिवंश शैव है और उसके आदि पुरुष एकादश रुद्रों में से एक विन्दुनाथ थे।[1] हिन्दी विश्वकोष ने भी इन्हीं स्रोतों की ओर संकेत कर तथा सांप्रदायिक मान्यताओं का व्याख्यान कर कहा है कि शैव उपासक सम्प्रदायों में साधारणतः दो श्रेणियाँ मिलती हैं—संन्यासी और योगी। विन्दुनाथ को योगनाथ भी कहते हैं। योगनाथ से उत्पन्न होने के कारण ये लोग योगी कहलाए। श्री हैमिल्टन ने 'शब्दकल्पद्रुम' में प्रयुक्त 'युगी' को बंगाल के नाथयोगियों से भिन्न बताया है। वे लोग वास्तव में शैव संन्यासी थे जो बाद में संसारी (गृहस्थ) बन गये थे। उन्होंने बड़े विस्तार से उनकी जीविका सामाजिक स्थिति आदि का विवेचन किया है। उन्होंने बताया है कि सेन राजाओं के आदेश से हिन्दू समाज में ये नाथयोगी हीन समझे जाने के बाद अधिकांश योगी कपड़ा बुनने लगे। राजा बल्लाल सेन के समय से बंगाल का योगिसम्प्रदाय समाज में हीन समझा जाने लगा।[2]

आज जोगी जाति (गृहस्थ योगियों) की जो जातीय स्थिति है उससे यह प्रतीत होता है कि हिन्दुओं और मुसलमानों के समाज में बहुत से लोग, मुस्लिम शासन के प्रारम्भिक काल में, नाथमत को मानने वाले थे। उनमें अन्य घरबारी योगियों की संख्या भी पर्याप्त थी। संभव है कि इन वर्गों ने जिस समय नाथमत अपनाया हो, दोनों समाजों ने इन्हें विगर्हणीय माना हो। सम्भव है मुसलमानों की दृष्टि में ये लोग इस्लामेतर धर्म मानने के कारण तथा हिंदुओं की दृष्टि में वर्णाश्रम व्यवस्था का घोर विरोधी होने के कारण हेय घोषित किये गये हों। कुछ राजनैतिक कारणों से भी नाथयोगी संन्यासियों और गृहस्थों को, सेनकाल में शासकों की ओर से अपमान सहना पड़ा था तथा राजकोप का भाजन बनना पड़ा था। इन सब तथ्यों की और चाहे जो भी व्याख्या की जाय, इतना निश्चित है कि इन गृहस्थ योगियों की मुसलमानी शासनकाल के आरंभ में सामाजिक-आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। इस समय इन योगियों की शिमला, हिमालय के ऊपर के भाग में, अल्मोड़ा, पंजाब अंबाला, गढ़वाल, पूर्वी उत्तर प्रदेश, बुन्देलखण्ड, बंगाल, हैदराबाद, बम्बई,

---

[1] मयनामतिर गान—डा० एन० के० भट्टशाली, भूमिका, पृ० ४। आब्सक्योर रेलिजस कल्ट्स—डा० शशिभूषण दासगुप्त, पृ० २२७, पृ० ४२७ तथा पादटिप्पणी; राजगुरुयोगिवंश—पृ० ५–३१।

[2] रा० यो०—पृ० ३२–३३, ३४–३५—बल्लाल चरितम्—उ० खं०, श्लो० ११–३२१, हिन्दी विश्वकोष, भा० १८, पृ० ७४५।

कोंकण, गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक, आदि में विभिन्न जाति-उपजातियाँ, विभिन्न प्रकार के व्यवसायों, जीविकाओं को स्वीकार करती हुई फैली हुई हैं। बंगाल और पूर्वी उत्तरप्रदेश में अधिकांश गृहस्थ योगी जातियाँ वयनजीवी हैं। इसी प्रकार ये योगी, भिक्षुक, तांती, जुलाहे, गडेरिये दरजी आदि की वृत्ति को धारण करते हैं। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने १९०१ की जन-गणना का विवरण देकर २८ वयनजीवी जातियों की एक सूची दी है जिसमें कोरी, जुलाहा तथा जुगी भी है। इनमें से प्रथम दो तो उत्तर भारत में तथा जुगी बंगाल में मिलते हैं।[1]

इस प्रकार नाथयोगी पाशुपतों की परंपरा में थे। ये अतिवर्णाश्रमी थे। इनकी अनुयायिनी जातियाँ हिंदू और मुसलमान दोनों थीं। ये जातियाँ पहले समाज में, कुछ प्रदेशों में प्रतिष्ठा को भी प्राप्त कर चुकी थी किन्तु बाद में कुछ कारणों से उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा को ठेस पहुँची और फिर वे अनेक प्रकार की परिश्रमसाध्य जीविकाओं को ग्रहण करने को बाध्य हुईं। इन नाथयोगियों का मुसलमानों से, विशेषकर पश्चिमी प्रदेशों में, घनिष्ठ संबंध था। कट्टर हिंदुओं की दृष्टि में हेय माने जानेवाले विभिन्न अदृश्य, अस्पृश्य वर्गों को अनेक प्रकार से मुसलमान धर्म स्वीकार कराया जा रहा था, फिर भी जातीय संस्कारों में हिंदू विचारों के प्रति स्वाभाविक आकर्षण था। इस युग में सांप्रदायिक जातियों का उद्‌भव एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है।

संत साहित्य तथा संत परंपरा का जो परिचय उपस्थित किया गया है उससे यह पता लगता है कि संपूर्ण संत साधना और दर्शन के केन्द्रबिंदु कबीर थे। संत साधना और दर्शन की एक व्यवस्थित रूपरेखा का विकास कबीर से ही होता है। अतः कबीर का व्यक्तित्त्व सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। उधर नाथ-पंथ में भी यद्यपि नाथ रचनाकारों की परंपरा लगभग १७वीं ई० श० तक चलती रही है तथापि गोरखनाथ की साधनापद्धित, विचारधारा तथा स्वयम् गोरखनाथ का व्यक्तित्व ही आंद्यत मुखरित रहा है। विद्वानों का विचार है कि यद्यपि नाथमत गोरखनाथ के पूर्व भी था, तथापि उसको एक व्यवस्थित और संगठित रूप देने का कार्य गोरखनाथ ने ही सर्वप्रथम किया और बाद का विकास प्रायः उन्हीं की खींची हुई रेखाओं पर होता रहा। तात्पर्य यह कि यदि कबीर के व्यक्तित्व का विश्लेषण कर लिया जाय तो प्रायः संपूर्ण संतपरंपरा के मूल उत्स का उद्‌घाटन संभव हो सकेगा। विद्वानों ने कबीर के जीवन, जाति,

[1] नाथ संप्रदाय—पृ० २०–२३।

जीविका आदि का जो विस्तार से विचार किया है, वह हमारे इस कार्य में सहायक हो सकता है। कबीर तथा अन्य मुख्य संतों के जीवन, जाति, जीविका आदि का विचार करते समय विचारकों के संमुख संत मत की विचारधाराओं, साधनापद्धतियों के मूल उत्स को ढूढ़ने का प्रश्न भी रहा है और उसका कारण यह है कि इस काल की सांप्रदायिक जातियाँ क्रियाशील सामाजिक जीवन में परिवर्तन, संस्कार, सुधार, क्रांति आदि करने में सफल हुई थीं। तत्कालीन हिंदू समाज की विचारधारा और जीवनपद्धति इन जातियों के महापुरुषों से पर्याप्त रूप से प्रभावित हुई थी।

कबीर की जाति, जन्म और जीवन के बारे में बहुत से विद्वानों ने बड़े विस्तार से विचार किया है। श्री क्षितिमोहन सेन ने निर्विवाद रूप से कबीर को मुसलमान जुलाहा माना है। प्रमाण के लिए उन्होंने 'दबिस्तां' के लेखक अबुल फज़ल को उद्धृत किया है। डा० एफ० ई० की ने कबीर को वयनजीवी जाति का माना है तथा मुसलमान जुलाहे का पोष्य पुत्र स्वीकार किया है लेकिन उन्होने वंशपरंपरा और हिंदू-मुसलमान दोनों को उतना महत्त्व नहीं दिया है जितना हिंदू या मुसलमान प्रभाव को। उनकी दृष्टि में कबीर पर हिंदू प्रभाव अधिक है। कुल मिलाकर कबीर मुसलमान जुलाहे के हिंदू प्रभावसंपन्न पोष्य पुत्र थे। आचार्य शुक्ल ने भी इन्हीं बातों को स्वीकार किया है। डा० बड़थ्वाल ने सर्वप्रथम कबीर के वंश या कुल को गोरखनाथ के संप्रदाय या उनके अनुयायियों से संबद्ध किया। उनके अनुसार कबीर मुसलमान जुलाहे माता-पिता से उत्पन्न थे। उनके माता-पिता तत्कालीन सामान्यजनों में प्रचलित उस धर्ममत से परिवर्तित किये गये थे जिसमें गोरखनाथ का बहुत ही संमान था। उनके धर्मान्तिरित हुए अधिक समय नहीं बीता था। काशी और गोरक्षपुर के गोरक्ष प्रभावापन्न होने के कारण काशी और मगहर में रहनेवाले कबीर के ऊपर नाथमत का प्रभाव पड़ा। मगहर गोरखपुर के अति समीप है। 'कबीर का कुलनिर्णय' निबंध में उन्होंनें बताया कि 'स्वयम् कबीर ने अपने मुसलमान होने का कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है फिर भी वे अपने को जुलाहा कहते थकते नहीं हैं।' मुसलमान होने का यही प्रमाण पर्याप्त है। वे जुलाहा कुल में पैदा भी हुए थे। कोरी हिंदू होते हैं और जुलाहे मुसलमान होते हैं। डा० बड़थ्वाल के अनुसार भी इन कोरियों को जुलाहा हुए अभी अधिक दिन नहीं हुए थे। कबीर का जुलाहापन योग और निर्गुण संप्रदाय (संत मत) के बीच की सूक्ष्म कड़ी है। बहुत से प्रमाणों के आधार पर डा० बड़थ्वाल ने यह स्थापना की है कि कबीर किसी प्राचीनतया कोरी किंतु तत्कालीन जुलाहा कुल

के थे जो मुसलमान होने के पहले जोगियों का अनुयायी था। उनके कुल में यद्यपि बाहर से मुसलमान धर्म स्वीकार कर लिया गया था फिर भी परंपरागत धर्म से उसका मानसिक संबंध छूटा नहीं।[१] इस प्रकार जहाँ तक जातीय-सामाजिक संबंध का प्रश्न है, कबीर उस मुसलमान जुलाहा कुल में उत्पन्न हुए थे जिसे मुसलमान हुए अधिक समय नहीं बीता था। दूसरे, उनमें हिंदू संस्कारों की प्रबलता थी। तीसरे, कबीर जिस कुल में उत्पन्न हुए थे, वह धर्मान्तरित होने के पूर्व वयनजीवी हिंदुओं की एक जाति थी जिसे जोगी, ताँती आदि कहते थे। मुसलमानों के बल प्रयोग से कबीर के पूर्वज मुसलमान हो गये थे।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी इसी प्रकार कबीर को जोगी जाति और नाथ योगियों से संबद्ध माना है। इसके लिये उन्होंने रिजली और बेन्स को प्रमाण रूप में उद्धृत किया है। द्विवेदी जी कोरी के मुसलमानी रूप को जुलाहा नहीं मानते। उन्हों ने यह भी अस्वीकार किया है कि सामाजिक प्रतिष्ठा की उन्नति के लिये ही यह धर्मान्तर हुआ था। उनका अनुमान है कि मुसलमानों के आने के पहले इस देश में एक ऐसी श्रेणी वर्तमान थी जो ब्राह्मणों से असंतुष्ट थी और वर्णाश्रम के नियमों की कायल नहीं थी। नाथ-पंथी ऐसे योगी थे। उन दिनों नाथमतावलंबी गृहस्थ योगियों की एक बहुत बड़ी जाति थी जो न हिंदू थी न मुसलमान। वस्तुतः ये जातियाँ एक जमाने में आश्रमभ्रष्ट होने के कारण वर्णाश्रम व्यवस्था के बाहर पड़ती थीं। जोगी नामक आश्रमभ्रष्ट घरबारियों की यह जाति सारे उत्तर और पूर्व में फैली थी। ये नाथपंथी थे तथा कपड़ा बुन कर, सूत कात कर या गोरखनाथ और भरथरी के नाम पर भीख माँग कर जीविका चलाया करते थे। जाति-भेद और ब्राह्मण की श्रेष्ठता के प्रति इनकी कोई सहानुभूति नहीं थी। आसपास के वृहत्तर समाज में ये नीच और अस्पृश्य थे। मुसलमानों के आने के बाद ये धीरे-धीरे मुसलमान होते रहे। पंजाब से लेकर बंगाल तक के प्रदेशों में

[१] मेडीएवेल मिस्टसिज्म आव इंडिया—सेन, पृ० ८८-९०, प्रकाशनकाल सन् १९२९। कबीर ऐण्ड हिज फालोअर्स—डा० की, पृ० २८, २९, ३५-३६, प्र० का० १९३१। हिं० सा० इ०-शुक्ल, पृ० ७५–७८, प्र० का० १९२९। दि० नि० स्कू० हिं० पो०—पृ० २५०-२५३, प्र० का० १९३६। हिं० का० नि० सं०—पृ० ४५-४७, प्र० का० सन् १९५०। वीणा-माघ, सं० १९९४, सन् १९३८, वर्ष ११, अंक ४, पृ० २४७-२५७—कबीर के कुल का निर्णय। योग प्रवाह-'वीणा' का उपर्युक्त लेख उद्धृत, पृ० १२३-१२६।

इनकी बस्तियों ने सामूहिक रूप से इस्लाम धर्म ग्रहण किया था। कबीर दास इन्हीं नवधर्मान्तिरित लोगों में पालित हुए थे। पं० परशुराम चतुर्वेदी ने इन स्थापनाओं को 'संभावना' माना है। यद्यपि उन्होंने प्रकारान्तर से उपर्युक्त बातें स्वीकार की हैं तथापि उनके अनुसार काशी और मगहर के साथ विशेष संबंध रखने वाले कबीर साहब का कुल यदि क्रमशः सारनाथ और कुशीनगर जैसे बौद्ध तीर्थों के आस पास निवास करने वाले बौद्धों या उनके द्वारा प्रभावित हिन्दुओं में से ही किसी का मुसलमानी रूप रहा हो, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं हो सकती। उपलब्ध सामग्रियों के आधार पर कबीर को हम केवल जुलाहा और संभवतः इस्लाम धर्म के अनुयायी जुलाहे कुल का ही बालक मान सकते हैं।[१] चतुर्वेदी जी के द्वारा बताये गये इस बौद्ध प्रभाव के संबंध में एक बात यह कही जा सकती है कि लगभग तेरहवीं ई० श० से लगभग १७ वीं ई० श० तक कुशी नगर, सारनाथ जैसे स्थान बौद्ध प्रभाव से पूर्णतया मुक्त थे। इन बौद्ध स्थानों की महत्ता का उद्घाटन हुए अभी ७०–८० वर्ष भी नहीं बीते हैं। यदि १३ वीं ई० श० के पूर्व ही कबीर के कुल के लोग मुसलमान हो चुके थे तो उनमें बौद्ध प्रभावों के अवशिष्ट रहने की कोई संभावना है। नाथों का शैव प्रभाव अवश्य ही बहुत विस्तृत था। भक्तिकाल में भक्ति या वैष्णवों का प्रबल प्रतिद्वंद्वी वर्ग यही था।

चतुर्वेदी जी ने डा० बड़थ्वाल और डा० द्विवेदी के उक्त मतों पर यह आपत्ति की है कि कबीर साहब की रचनाओं में पाये जानेवाले भिन्न-भिन्न मतों व संस्कारों का सामंजस्य इनके धर्मान्तिरित कुल मात्र के आधार पर न करके उनकी परिस्थिति, पर्यटन, सत्संग, प्रतिभा अथवा अन्य ऐसे कारणों के बल पर भी विवेचित किया जा सकता है और ऐसा करना ही अधिक न्याय-संगत होगा; क्योंकि कबीर साहब के आदर्शों पर निष्ठा रखनेवाले दादूदयाल, रज्जब जी, दरिया साहब (मारवाड़ी), यारी साहब जैसे और भी अनेक संत हुए हैं जो निश्चित रूप से मुसलमान कुलों में ही उत्पन्न हुए थे किंतु उनके भी पूर्वपुरुषों का मूलतः हिन्दू या अन्य धर्म का होना अभी तक सिद्ध नहीं है। इसके समाधान में डा० द्विवेदी का एक मत उपस्थित किया जा सकता है। अली राजा के 'ज्ञानसागर', सैयद सुलतान के 'ज्ञानप्रदीप' तथा 'ज्ञानचौंतीसा',

---

[१] कबीर—डा० द्विवेदी, पृ० ३-४, प्र० का० सन् १९४१, वि० सं० १९९८; वही—पृ० ५, ६, ९-१०, १३-१४। उ० भा० सं० पं०—पृ० १५०।

मुहम्मद शफ़ी के 'सुरकंदिल', मुरशित के 'बारामास्या', 'योगकलंदर' और 'रसज्ञान प्रदीप' आदि के आधार पर डा० द्विवेदी ने निष्कर्ष निकाला है कि योगियों और नाथपंथियों के मध्ययुगीन आचार-विचार पर प्रकाश डालनेवाली जितनी भी पोथियाँ अब तक आविष्कृत हुई हैं उनमें से अधिकांशतः मुसलमान कवियों की लिखी हुई हैं। उनका अनुमान है कि 'ये कविगण कबीरदास की भाँति ही इसी प्रकार की किसी जाति के धर्मान्तिरित वंश में उत्पन्न हुए थे। हम और भी आगे बढ़ कर यह कहना चाहते हैं कि कबीर, दादू, रज्जब, कुतबन, जायसी, नूरमुहम्मद, फाजिलशाह आदि हिंदी के कवियों की रचनायें इसी रोशनी में विवेचित होनी चाहिये।[१] यहाँ हमारे विवेच्य हैं—दादू, रज्जब, दरिया (मारवाड़ी) और यारी।

पिछले विवेचनों से स्पष्ट है कि मुसलमानों के आक्रमण और निवास से भारत की जातीय समस्या और भी जटिल हो गई। धर्मान्तर से हिन्दू और मुसलमान समाजों में समानांतर रूप से एक ही प्रकार की जीविकावाली जातियाँ जीवित रहीं और अब भी उनके चिह्न मिलते हैं। यह तथ्य उपर्युक्त संतों के कुल, जाति संबंधी विचारणाओं को समझने में सहायक हो सकता है। कबीर के समान ही दादू का भी कुल विवादास्पद है। अभी तक उनके जीवन पर ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध नहीं है और न उनके जीवन, जन्म, जाति आदि के विषय में अभी तक लिखा ही गया है। किंतु इतना प्रायः अब सर्वमान्य हो गया है कि दादू मुसलमान धुनिया थे। दादू के समय में हिंदू धुनिया भी होते थे और मुसलमान धुनिया उनके धर्मान्तिरित भाई-बंधु थे। उनके धर्मान्तर के बाद भी वे लोग शिक्षा के अभाव में अन्धविश्वासी बने रहे। यह विशेषता उन्हें आनुवंशिक रूप में ही प्राप्त हुई थी। किंतु अपनी प्रतिभा, साधना तथा संत-समागम से दादू ने अंधविश्वासादि पर विजय पाई और अपनी असाधारण दृष्टि का विकास किया। प्राचीनता का भार उन्हें किसी प्रकार बाधित नहीं कर सका।[२] इन लोगों में कुरान, हदीस प्रभृति धर्मशास्त्र, मुस्लिम दर्शन और साधन-शास्त्रादि प्रचलित नहीं थे। ये नाम के मुसलमान थे। ये हिन्दू-मुसलमान दोनों धर्मों से बाहर अति हीनवंशीय लोग थे। इन लोगों में न हिंदू शास्त्र थे, न मुसलमान शास्त्र, न शिक्षा-दीक्षा थी और न उच्च भाव ही थे। बहुत से

---

[१] उ० भा० सं० प०—पृ० १४९-१५१। कबीर—डा० द्विवेदी, पृ० १३।

[२] मे० मि० इं०—पृ० १०८–१०९।

पिंजरा दादू के भक्त हैं। पंजाब के भी पिंजरा लोग दादू के भक्त हैं।[१] तात्पर्य यह कि दादू का भी कुल, अनुमानतः, पहले हिंदू था बाद में मुसलमानों के प्रभाव से उसने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया। किंतु दादू का नाथ मत से जातितः कोई संबन्ध नहीं था। कारण यह है कि अभी तक जुग्गी जाति का जितना विवरण उपलब्ध है उसमें संभवतः धुनिया या उसी प्रकार की जीविका अपनाने वाली कोई उपजाति नहीं है जिससे उसके मुसलमानी रूप का अनुमान किया जा सके। दादू का नाथ मत से अन्य प्रकार का संबंध था। उनकी रचनाओं में नाथयोगियों की बहुत सी पंक्तियाँ मिलती हैं। गोरखनाथादि के प्रति दादू श्रद्धा व्यक्त करते हैं। इसी प्रकार के अन्य स्रोतों का वर्णन आगे किया गया है।

रज्जब का भी कुल मूल रूप से हिन्दू ही था। यद्यपि जब इनकी उत्पत्ति हुई थी तब इनका वंश एक प्रतिष्ठित पठान वंश कहा जाता था तथापि इनके पितृकुल के विषय में प्रसिद्ध है कि वह पहले हिन्दू कलाल था तथा जो मद्य-विक्रय करता था। मुसलमान होने पर भी ये लोग सुराविक्रेता ही बने रहे।[२] नाथयोगियों के साथ इनके योगायोग के संबंध में वे ही तर्क दिये जा सकते हैं जो दादू के विषय में दिये जा चुके हैं। दादू के समान ही दरिया साहब (मारवाड़ी) भी मुसलमान ही थे, उन्हीं के समान मुसलमान धुनिया भी थे।[३] दरिया साहब (बिहारी) का वंश मूलतः हिन्दू था और संभवतः क्षत्रिय था किन्तु कुछ कारणवश बाद में उसने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया।[४] इसी प्रकार मुसलमान संतों की सूची बनाई जाय तो उनमें से अधिकांश हिंदू जाति की नीची श्रेणी की उपजातियों से मुसलमान बने हुए मिलेंगे। दादू, रज्जब, दरिया आदि इसी कोटि के लोग थे। दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि जुगी जाति में या नाथयोगियों का अनुसरण करनेवाली जातियों में दर्जीगिरी का भी व्यवसाय चलता है। तथापि अभी तक यह नहीं बताया गया है कि बिहारी दरिया का जन्म एक ऐसी नवधर्मान्तरित मुस्लिम जाति के कुल में हुआ था जिसमें दर्जीगिरी का व्यवसाय होता था तथा जिसका संबंध नाथों से था। यह भी एक संभावना है कि बिहारी दरिया के कुल का संबंध

---

[१] दादू—क्षितिमोहन सेन, पृ० १९-२०।

[२] उ० भा० सं० प०, पृ० ४२२।

[३] वही, पृ० ५७८।

[४] वही, पृ० ५६८, ५७८, मे० मि० इं०, पृ० १३३-१३५।

नाथजोगियों की उस गृहस्थ जाति से था जिसमें दर्जी का व्यवसाय होता था। दरिया ने अपने 'ज्ञानदीपक' में अपने जीवन-चरित्र संबंधी कुछ तथ्य संकेतित किये हैं जिसमें पं० सुधाकर द्विवेदी द्वारा बताई गई कथा नहीं मिलती। पं० सुधाकर द्विवेदी के अनुसार उज्जैन से क्षत्रिय राजकुमारों की एक शाखा बक्सर के पास जगदीशपुर आई और एक छोटे से राज्य पर शासन करने लगी। इस परंपरा में पीरनशाह का जन्म हुआ जिन्होंने अपने भाइयों की रक्षा के लिए इस्लाम स्वीकार कर लिया था। दरिया पीरनशाह के पुत्र थे। किन्तु दरिया साहब ने इस घटना की ओर संकेत नहीं किया है। दरिया अपने मामा के यहाँ आरा जिला के डुमराँव से ७ मील दूर धरकंधा में उत्पन्न हुए थे। इनकी माता का जन्म एक दर्जी के परिवार में हुआ था।[१] पं० परशुराम चतुर्वेदी ने पं० सुधाकर द्विवेदी को उद्धृत कर उपर्युक्त कथा के विषय में बतलाया है कि अपने भाइयों की प्राणरक्षा के लिये पृथुशाह को, जो उज्जैन से आकर जगदीशपुर (जिला शाहाबाद) में बसनेवाले क्षत्रिय राजवंश में उत्पन्न हुए थे, बादशाह औरंगजेब की प्रिय बेगम की दर्जिन की लड़की से बाध्य होकर विवाह करना पड़ा था, जिससे उनका नाम पृथुशाह से पीरनशाह हो गया।[२] इन दोनों प्रमाणों में 'ज्ञानदीपक' के तथ्य अधिक विश्वसनीय प्रतीत होते हैं।

डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने विस्तार से दरिया (बिहारी) के पितृकुल का विचारकर यह निष्कर्ष निकाला है जहाँ तक दरिया के पितृकुल तथा जाति का संबंध है, स्वयम् दरिया ने ही प्रत्यक्ष रूप से जाति और संप्रदाय का खंडन किया है और इस दृष्टि से उन्हें हिन्दू या मुसलमान न मानकर इन दोनों से परे मानना ही ठीक होगा।[3] बाह्य प्रमाणों के आधार पर 'दरिया साहब का जन्म एक दर्जी के कुल में हुआ जो पूर्णतया इस्लाम में परिवर्तित न हो पाया था और जिस पर हिन्दुत्व की छाप सदा बनी रही।'[४] इसके बहुत से प्रमाण उपलब्ध हैं कि भारत में बहुत सी ऐसी जातियाँ हैं जो इस्लाम धर्म में पूर्णतया घुलमिल नहीं सकी हैं। दरिया ने गोरख और उनके गुरु महा-मच्छीन्द्र की बहुत प्रशंसा की है।[५] ब्रिग्स ने नाथयोगियों से संबद्ध विभिन्न जातियों की जीविकाओं तथा उनके जातीय कर्मों का वर्णन करते समय उत्तर-

---

[१] मे० मि० इं०, पृ० १३३।

[२] उ० भा० सं० प०, पृ० ५६८।

[3] संत कवि दरिया : एक अनुशीलन, प्रथम खंड, पृ० ८।

[४] वही, पृ० १२।

[५] वही, पृ० ५-६।

पिंजरा दादू के भक्त हैं । पंजाब के भी पिंजरा लोग दादू के भक्त हैं।[1] तात्पर्य यह कि दादू का भी कुल, अनुमानतः, पहले हिंदू था बाद में मुसलमानों के प्रभाव से उसने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया। किन्तु दादू का नाथ मत से जातितः कोई संबन्ध नहीं था । कारण यह है कि अभी तक जुगी जाति का जितना विवरण उपलब्ध है उसमें संभवतः धुनिया या उसी प्रकार की जीविका अपनाने वाली कोई उपजाति नहीं है जिससे उसके मुसलमानी रूप का अनुमान किया जा सके । दादू का नाथ मत से अन्य प्रकार का संबंध था। उनकी रचनाओं में नाथयोगियों की बहुत सी पंक्तियाँ मिलती हैं। गोरखनाथादि के प्रति दादू श्रद्धा व्यक्त करते हैं। इसी प्रकार के अन्य स्रोतों का वर्णन आगे किया गया है ।

रज्जब का भी कुल मूल रूप से हिन्दू ही था। यद्यपि जब इनकी उत्पत्ति हुई थी तब इनका वंश एक प्रतिष्ठित पठान वंश कहा जाता था तथापि इनके पितृकुल के विषय में प्रसिद्ध है कि वह पहले हिन्दू कलाल था तथा जो मद्य-विक्रय करता था। मुसलमान होने पर भी ये लोग सुराविक्रेता ही बने रहे।[2] नाथयोगियों के साथ इनके योगायोग के संबंध में वे ही तर्क दिये जा सकते हैं जो दादू के विषय में दिये जा चुके हैं। दादू के समान ही दरिया साहब (मारवाड़ी) भी मुसलमान ही थे, उन्हीं के समान मुसलमान धुनिया भी थे।[3] दरिया साहब (बिहारी) का वंश मूलतः हिन्दू था और संभवतः क्षत्रिय था किन्तु कुछ कारणवश बाद में उसने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया।[4] इसी प्रकार मुसलमान संतों की सूची बनाई जाय तो उनमें से अधिकांश हिंदू जाति की नीची श्रेणी की उपजातियों से मुसलमान बने हुए मिलेंगे। दादू, रज्जब, दरिया आदि इसी कोटि के लोग थे। दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि जुगी जाति में या नाथयोगियों का अनुसरण करनेवाली जातियों में दर्जीगिरी का भी व्यवसाय चलता है। तथापि अभी तक यह नहीं बताया गया है कि बिहारी दरिया का जन्म एक ऐसी नवधर्मान्तरित मुस्लिम जाति के कुल में हुआ था जिसमें दर्जीगिरी का व्यवसाय होता था तथा जिसका संबंध नाथों से था। यह भी एक संभावना है कि बिहारी दरिया के कुल का संबंध

---

[1] दादू—क्षितिमोहन सेन, पृ० १९-२०।

[2] उ० भा० सं० प०, पृ० ४२२।

[3] वही, पृ० ५७८।

[4] वही, पृ० ५६८, ५७८, मे० मि० इं०, पृ० १३३-१३५।

नाथजोगियों की उस गृहस्थ जाति से था जिसमें दर्जी का व्यवसाय होता था। दरिया ने अपने 'ज्ञानदीपक' में अपने जीवन-चरित्र संबंधी कुछ तथ्य संकेतित किये हैं जिसमें पं० सुधाकर द्विवेदी द्वारा बताई गई कथा नहीं मिलती। पं० सुधाकर द्विवेदी के अनुसार उज्जैन से क्षत्रिय राजकुमारों की एक शाखा बक्सर के पास जगदीशपुर आई और एक छोटे से राज्य पर शासन करने लगी। इस परंपरा में पीरनशाह का जन्म हुआ जिन्होंने अपने भाइयों की रक्षा के लिए इस्लाम स्वीकार कर लिया था। दरिया पीरनशाह के पुत्र थे। किन्तु दरिया साहब ने इस घटना की ओर संकेत नहीं किया है। दरिया अपने मामा के यहाँ आरा जिला के डुमराँव से ७ मील दूर धरकंधा में उत्पन्न हुए थे। इनकी माता का जन्म एक दर्जी के परिवार में हुआ था।[१] पं० परशुराम चतुर्वेदी ने पं० सुधाकर द्विवेदी को उद्धृत कर उपर्युक्त कथा के विषय में बतलाया है कि अपने भाइयों की प्राणरक्षा के लिये पृथुशाह को, जो उज्जैन से आकर जगदीशपुर (जिला शाहाबाद) में बसनेवाले क्षत्रिय राजवंश में उत्पन्न हुए थे, बादशाह औरंगजेब की प्रिय बेगम की दर्जिन की लड़की से बाध्य होकर विवाह करना पड़ा था, जिससे उनका नाम पृथुशाह से पीरनशाह हो गया।[२] इन दोनों प्रमाणों में 'ज्ञानदीपक' के तथ्य अधिक विश्वसनीय प्रतीत होते हैं।

डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने विस्तार से दरिया (बिहारी) के पितृकुल का विचारकर यह निष्कर्ष निकाला है जहाँ तक दरिया के पितृकुल तथा जाति का संबंध है, स्वयम् दरिया ने ही प्रत्यक्ष रूप से जाति और संप्रदाय का खंडन किया है और इस दृष्टि से उन्हें हिन्दू या मुसलमान न मानकर इन दोनों से परे मानना ही ठीक होगा।[3] बाह्य प्रमाणों के आधार पर 'दरिया साहब का जन्म एक दर्जी के कुल में हुआ जो पूर्णतया इस्लाम में परिवर्तित न हो पाया था और जिस पर हिन्दुत्व की छाप सदा बनी रही।'[४] इसके बहुत से प्रमाण उपलब्ध हैं कि भारत में बहुत सी ऐसी जातियाँ हैं जो इस्लाम धर्म में पूर्णतया घुलमिल नहीं सकी हैं। दरिया ने गोरख और उनके गुरु महा-मच्छीन्द्र की बहुत प्रशंसा की है।[५] ब्रिग्स ने नाथयोगियों से संबद्ध विभिन्न जातियों की जीविकाओं तथा उनके जातीय कर्मों का वर्णन करते समय उत्तर-

---

[१] मे० मि० इं०, पृ० १३३।

[२] उ० भा० सं० प०, पृ० ५६८।

[3] संत कवि दरिया : एक अनुशीलन, प्रथम खंड, पृ० ८।

[४] वही, पृ० १२।

[५] वही, पृ० ५-६।

प्रदेश, निजाम-राज्य, अल्मोड़ा आदि प्रदेशों की कुछ ऐसी जातियों का भी वर्णन किया है जो नाथपंथ से संबद्ध थीं तथा साथ ही दर्जी का काम करती थीं। ये सभी जातियाँ मत्स्येन्द्र और गोरक्ष को बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखती हैं। उत्तरप्रदेश के योगी क्षत्रियों के गोत्र को धारण करते हैं जैसे चौहान, कुशवाहा, गहलौत आदि।[1] डा० ब्रह्मचारी ने उत्तरप्रदेश की 'मलकाना' जाति का उदाहरण देकर ब्लंट साहब के प्रमाण पर बतलाया है कि यह जाति हिन्दुओं की विभिन्न जातियों से धर्म-परिवर्तन द्वारा मुसलमान बनी है। यह आगरा और उसके आसपास के जिलों में, मुख्यतः मथुरा एटा और मैनपुरी में बसती है। ये लोग राजपूत, जाट और बनियों के वंशज हैं।[2] इन आधारों पर यह अनुमान किया जा सकता है कि दरिया साहब (बिहारी) किसी दर्जी का व्यवसाय करने वाली जुगी जाति या उससे प्रभावित किसी ऐसी ही जाति में उत्पन्न हुए थे जो बाद में इस्लाम में धर्मान्तिरित हो गई थी। यह जाति बहुत पहले क्षत्रिय थी या अन्य कोई जाति थी, यह निश्चित नही कहा जा सकता।

पहले जो कुछ भी कहा जा चुका है, उससे एक बात स्पष्ट है कि मुसलमानों की धार्मिक दृष्टि में वर्णाश्रमी हिंदू और अतिवर्णाश्रमी नाथयोगी (संन्यासी और गृहस्थ) दोनों ही समान थे। यद्यपि हिन्दुओं की दृष्टि में नाथयोगी अतिवर्णाश्रमी थे किंतु मुसलमानों की दृष्टि में ये योगी भी हिंदू और काफिर थे। इसीलिए इनके भी धर्मान्तर के लिए बलप्रयोग किया गया। अतः यह जाति आरंभ में वर्णाश्रम मर्यादा की दृष्टि से, कर्मकाण्ड आदि की दृष्टि से हिंदू नहीं थी तथा मुसलमान होने पर भी इसमें कुछ हिंदू संस्कार और विचार जीवित रहे। इसीलिए पूर्णतः मुसलमान भी न हो सकी। इस प्रकार इस्लाम में नवधर्मान्तिरित योगी जाति 'ना हिंदू ना मुसलमान' थी। संत परंपरा के केन्द्रविन्दु कबीर इसी प्राचीनतया योगी या जुगी तथा धर्मान्तिरित मुसलमान जुलाहे कुल में उत्पन्न हुए थे। अधिक संभावना है कि बिहार के दरिया ने भी ऐसी ही नाथमत का अनुसरण करने वाली तथा बाद में इस्लाम में धर्मान्तिरित जाति के दर्जी कुल में जन्म लिया हो। इस प्रकार संतों की परंपरा में कबीर, दरिया, आदि तथा इन लोगों के अनुयायी सभी अतिवर्णाश्रमी वेदबाह्य, ज्ञानमार्गी, आचारविहीन आदि माने जाते थे।

---

[1] गो० क० यो०—पृ० ४७,५३-५५,५८।
[2] सं० द० अ०—प्र० खं,० पृ० ११।

चतुर्थ परिच्छेद

आलोच्य युग में शैव और वैष्णव संप्रदाय

लगभग ९ वीं ई० श० से लेकर लगभग १७ वीं ई० श० तक का युग ज्ञान, योग और भक्ति की विचारधाराओं, जीवनदर्शनों के विभिन्न आदर्शों से संपर्कित विभिन्न साधना-पद्धतियों का युग है। भारतीय साधना के ये तीन तत्त्व कहीं तो अत्यधिक गूढ़ और सघनभाव से प्रतिष्ठित हैं और कहीं इनका स्पर्शात्मक संपर्क मात्र ही लक्षित होता है। इस परिच्छेद में इस युग के योग, ज्ञान, भक्ति आदि विचारधाराओं के आश्रित संप्रदायों और धर्मों की स्थिति का संक्षेप में परिचय देकर उनके परिपार्श्व में नाथों और संतों के योगायोग का विचार कर देखा गया है कि इस धार्मिक-सांप्रदायिक परिस्थिति और परंपरा में नाथों और संतों के क्या संबंध थे।

नाथों और संतों की परंपरा पर अभी तक विद्वानों ने जितना विचार किया है, उससे यही प्रतीत होता है कि सांप्रदायिक दृष्टि से नाथ लोग शैव थे तथा संत लोग वैष्णव। इस युग को दो भागों में बाँटा जा सकता है। प्रथमार्द्ध युग में बौद्ध और जैन जैसे संप्रदायों का जनसमाज में विशेष समादर था। इन दोनों को राज्याश्रय तथा राजधर्मत्व भी मिलता था। यद्यपि कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य के काल तक ये निर्बाध रूप से फलते फूलते रहे, तथापि इसके भी पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं कि इस समय तक शैवों और वैष्णवों को भी पर्याप्त संमान मिलने लगा था किंतु आस्तिक षड्दर्शनों का अभ्युदय, वैदिक धर्म का पुनर्जागरण, षड्दर्शनों का संगठित होकर एक साथ इन नास्तिक संप्रदायों का खंडन करना, कुमारिल और शंकर का युगपत् दार्शनिक-सामाजिक आक्रमण, शैवों का विरोध, वैष्णवों का उत्तरी भारत में प्रसार, मुसलमानों के आक्रमण—इन सबने मिलकर प्राचीन बौद्ध-जैन धर्मों तथा उसके विभिन्न परिवर्ती रूपों को खंडित तथा बहिष्कृत कर दिया। लगभग ८ वीं ई० श० से लेकर ११ वीं ई० श० के अंत तक या रामानुज के अभ्युदय तक प्रबुद्ध प्रभावशाली संप्रदाय के रूप में शैवमत ही शेष रहा यद्यपि क्षेत्रीय धर्मों और संप्रदायों के रूप में बौद्ध, जैन, वैष्णव आदि की भी प्रतिष्ठा थी।

शैव मत पर्याप्त प्राचीन है, इसे प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं है। इसके लिय डा० भंडारकर, डा० फर्कुहर आदि विद्वानों के कार्यों को ध्यान में

रखा जा सकता है। तांत्रिक बौद्ध मत के विभिन्न रूप भी किसी न किसी रूप में लगभग १३-१४ वीं ई० श० तक जीर्ण और गुप्त रूप में जीवित रहे। लेकिन मध्यदेश से इस काल में उनका कोई संबंध नहीं रहा। इस प्रकार रामानुज के पूर्व का काल, शैवों, जैनों और बौद्धों का काल है तथा रामानुज के समय से शैवों और वैष्णवों के युग का आरम्भ होता है। प्रथमार्द्ध में जिस प्रकार बौद्धों और शैवों का सांप्रदायिक, दार्शनिक, साधनात्मक मिश्रण और संपर्क होता रहा, उसी प्रकार द्वितीयार्द्ध में शवों और वैष्णवों में हुआ। वास्तव में भारत में, विशेष कर साधना के क्षेत्र में, धार्मिक सहिष्णुता और औदार्य का ही फल है जो शैव-बौद्ध, शैव-वैष्णव धर्मसाधनायें साथ-साथ, परस्पर आदान-प्रदान करती हुई विकसित होती रहीं। इसके विरुद्ध कुछ ऐसे तथ्य भी उपलब्ध हैं जिनसे विदित होता है कि विभिन्न कालों में शैव-बौद्ध तथा शैव-वैष्णव अनुयायी परस्पर विद्वेषी के रूप में भी प्रकट हुए।[१]

शिव और विष्णु नाम के दो प्रधान मध्ययुगीन उपास्यों का इतिहास पर्याप्त पुराना है। इन दोनों देवताओं के इतिहास पर पर्याप्त लिखा जा चुका है। इस संबंध में डा० भंडारकर का ग्रंथ देखा जा सकता है। इसकी आवृत्ति की आवश्यकता नहीं है। उन्होंने तत्संबंधी विभिन्न संप्रदायों और उप-संप्रदायों का भी विचार किया है। रामानुज और केशव काश्मीरी के काल तक शैव संप्रदायों के कारुणिक सिद्धान्ती, कापालिक, पाशुपत, माहेश्वर, लकुलीश आदि नाम प्रसिद्ध थे। लगभग ९वीं ई० श० में काश्मीर में काश्मीर शैव मत का प्रादुर्भाव हुआ जिसमें दार्शनिक दृष्टि से स्पंद और प्रत्यभिज्ञा मत नाम की दो शाखाओं का भी विकास हुआ। यदि परम्परा का विचार किया जाय तो काश्मीर शैव मत का उदय लगभग ५वीं ई० श० से ही माना जा सकता है।[२] लगभग ६ठीं ई० श० के पूर्व ही पाशुपत तथा उसकी शाखा लकुलीश का अभ्युदय हो चुका था। १०वीं ई० श० तक इस मत की लगभग सभी शाखाओं के स्पष्ट रूप सामने आ गये। इन शैवों के स्पष्टतः दो स्थूल

---

[१] शैवों, हिंदू तांत्रिकों और बौद्ध तांत्रिकों के संबंध, संपर्क, मिश्रण आदि के लिए तां० बौ० सा० सा० की अनुक्रमणिका की सहायता से शैव, शैव दर्शन, शैव साधना, शैवागम, तंत्र तथा उससे संबद्ध अन्य शब्द-हिंदू, हिंदू तंत्र आदि शब्दों को देखिये।

[२] वैष्णविज्म शैविज्म०—भंडारकर, पृ० १४६-१६९, १७०-१७३, १८३-१८४। तां० बौ० सा० सा०—पृ० १७०।

वर्ग दिखाई पड़ते हैं—पाशुपत शैव और आगम शैव। पाशुपतों में पाशुपत लकुलीश, कापालिक, नाथ, गोरखनाथी और रसेश्वर थे। दूसरे वर्ग में शैव सिद्धांती, तमिल शैव, काश्मीरी शैव और वीर शैवों की गणना की जाती है।[1] डा० फर्कुहर के इस विभाजन से स्पष्ट होता है कि नाथपंथी, गोरखनाथी और रसेश्वर संप्रदायानुयायी, संप्रदाय की परंपरा की दृटि से पाशुपत हैं अथवा प्राचीन पाशुपतों की परंपरा में हैं। गोरखनाथियों के संबंध में डा० फर्कुहर का विश्वास है कि गोरखनाथ के पूर्व भी नाथसंप्रदाय था जिसका परवर्ती विशिष्ट रूप गोरखनाथ का संप्रदाय है परन्तु उन्होंने प्राचीन नाथमत का कोई विवरण नहीं दिया है।[2]

१० वीं ई० श० के बाद मूल नाथों में से केवल नाथपंथियों का ही विवरण मिलता है। यदि प्राचीनकाल में शैव नाथों का कोई मत रहा हो तो १०वीं श० के बाद केवल गोरखनाथी ही उनके प्रतिनिधि रह जाते हैं। लगभग ९वीं ई० श० से लेकर लगभग १४वीं ई० श० के पूर्वार्द्ध तक पाशुपतों में सर्वाधिक क्रियाशील नाथपंथी और कापालिक ही रहते हैं। डा० फर्कुहर की दृष्टि में नाथ और कापालिक परस्पर घनिष्ठरूपेण सबद्ध हैं। अनुमान है कि गोरखनाथ के समय में नाथ लोग सुसंगठित नहीं थे। माधवाचार्य ने रसेश्वर नामक संप्रदाय के दर्शन पक्ष का विवेचन अपने 'सर्वदर्शनसंग्रह' ग्रंथ में किया है।[3] इससे यह प्रतीत होता है कि यह मत सांप्रदायिक परंपरा की दृष्टि से पर्याप्त प्राचीन है और लगभग १४वीं ई० श० के पूर्वार्द्ध तक नाथों के समान ही रसेश्वर, कापालिक जैसे पाशुपत मतों का अस्तित्व था। डा० फर्कुहर ने नाथों और कापालिकों की समता और संबंध की ओर संकेत अवश्य किया है किंतु रसेश्वरवादियों से भी नाथों का संबंध था, इस संबंध में उन्होंने कुछ नहीं कहा। रसेश्वर संप्रदाय की पारद-अभ्रक की साधनापद्धति तथा सिद्ध देह की प्राप्ति का लक्ष्य नाथों को भी स्वीकार्य है। कहा गया है, नाथ लोग आगमवादी नहीं है तथा शिवावतार को माननेवाले हैं। काश्मीरी शैव आगमवादी हैं। यह एक प्रसिद्ध तथ्य है कि काश्मीरी शैव आचार्य अभिनवगुप्त ने मच्छंदविभु का स्तवन किया है। दूसरे, स्वयं गौरखनाथ (जिनका दूसरा नाम

[1] ऐन आउटलाइन आव दि रेलिजस लिटरेचर आव इंडिया- डा० जे० एन० फर्कुहर, पृ० १९०-१९१।

[2] वही—पृ० १९१-१९२।

[3] वही—पृ० २५१-२५४।

महेश्वरानंद था) की काशमीरी अपभ्रंश में एक 'महार्थमजरी' नाम की रचना मिलती है। ये महेश्वरानंद, महाप्रकाश (जिन्हें मत्स्येन्द्रनाथ भी कहते हैं) के शिष्य थे। स्वयं महेश्वरानंद ने अपने गुरु महाप्रकाश का स्मरण अपनी रचना के प्रथम छंद में किया है। इसी प्रकार काश्मीर संस्कृत ग्रंथावली में प्रकाशित अमरौघशासनम् ग्रंथ भी गोरक्षनाथकृत माना गया है। महामहोपाध्याय पं० मुकुन्दराम शास्त्री का कथन है कि इस ग्रंथ में स्वच्छंदतंत्र आदि मुख्य शैवागमों में वर्णित योगपद्धति का अनुसरण किया गया है।[1] तात्पर्य यह है कि मत्स्येन्द्र-गोरक्षादि का संबंध आगमों से या काश्मीर शैवों से भी किसी अंश तक अवश्य प्रतीत होता है। १४वीं ई० श० के उत्तरार्द्ध के बाद क्रमशः विभिन्न पाशुपत शैव संप्रदायों का ह्रास दिखाई पड़ता है। प्राचीन कापालिकों का अवशिष्ट रूपांतरित मत औघड़ लोगों के रूप में दिखाई पड़ता है। डा० फर्कुहर के अनुसार कुछ कापालिक, जो कबीर के प्रभाव से संशुद्ध किये गये थे, औघड़ के रूप में अब भी मिलते हैं। पाशुपतों में सर्वाधिक प्रभावशाली गोरखनाथी ही हैं। ये लोग शैव के साथ-साथ शाक्त मंदिरों में भी दर्शन करने जाते हैं तथा इनका मंत्र 'शिव गोरख' बताया जाता है। गोरखनाथियों के अपने मंदिर शैव मंदिर हैं।[2]

संन्यासियों की दृष्टि से लगभग ८ वीं ई० श० तक भारत में बौद्ध, जैन, पाशुपत और कापालिक संन्यासी थे। लगभग ११ वीं ई० श० तक संन्यासी वर्गों का पूर्ण-संगठन नहीं हो पाया था। गोरखनाथ भी संन्यासी थे। शंकराचार्य की तरह ज्ञानेश्वर भी संन्यासी थे। बौद्धों के लोप के बाद, जैन संन्यासियों के अतिरिक्त दो वर्गों के संन्यासी और थे जिनका संबंध शिव और विष्णु नाम के देवताओं से था। शैव साधु प्रायः संन्यासी ही कहलाते थे तथा वैष्णव साधु बैरागी कहलाते थे। योगी या जोगी शैव संन्यासी थे। संन्यास प्रारंभिक काल में शैव मत से संबद्ध था। नाथपंथी साधुओं के लिए भी संन्यासी शब्द व्यवहृत होता था। दशनामी तथा नाथपंथी, दोनों ही, शैवसंन्यासी हैं किन्तु अन्तर यह है कि दशनामियों के दार्शनिक दृष्टिकोण को नाथपंथी योगी या संन्यासी स्वीकार नहीं करते।

---

[1] महार्थमंजरी—गोरक्षटिल्ला, वारणसी से प्रकाशित छं० १. पृ० ३। अमरौघशासनम्-म० म० पं० मुकुन्दराम शास्त्री, प्रकाशकीय वक्तव्य पृ० १।

[2] आ० रे० लि० इं०—पृ० ३४७-३४८।

दशनामी शंकराचार्य के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हैं तथा नाथपंथी गोरखनाथ के प्रति। दशनामियों को वेदांतिक संन्यासी और नाथपंथियों को तांत्रिक संन्यासी कहा जा सकता है। आज के जोगी तत्वतः प्राचीन संन्यासी वर्ग का अंशतः प्रतिनिधित्व करते हैं। प्राचीन शैव संन्यासियों में पाशुपतों और कापालिकों को ध्यान में रखा जा सकता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि नाथ लोग प्राचीन कापालिक-पाशुपत संन्यासियों के विकसित रूप हैं।[1]

नाथयोगियों का कापालिकों, पाशुपतों और अघोरियों से घनिष्ठ संबंध था, इसके पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं। नाथपंथियों में 'घेरंड संहिता' हठयोग का एक मान्य ग्रंथ है। इस ग्रंथ से स्पष्ट है कि इसमें वर्णित योग की शिक्षा चंडकापालिक नाम के व्यक्ति को दी गई थी। घेरंड स्वयं बंगाल के वैष्णव थे।[2] इससे ये निष्कर्ष निकल सकते हैं कि बंगाल के वैष्णवों में योगसाधना प्रचलित थी, कापालिक लोग योगसाधन करते थे तथा नाथों के समान ही कापालिक लोग भी हठयोग की शिक्षा लेते थे। जहाँ तक हठयोग का संबंध है, भारत के कुछ प्रदेशों में, वैष्णव और शैव समान थे। नाथों में शाक्तों की दक्षिणाचार और वामाचार नाम की दोनों प्रकार की पद्धतियाँ किसी न किसी परिमार्जित रूप में अवश्य मिलती हैं। इससे इस अनुमान की पुष्टि होती है कि पाशुपत, कालामुख और कापालिक वामाचारी थे तथा ये ही नाथयोगियों के मूल मत थे।[3] पाशुपत मत के ही कालामुख संन्यासियों का लकुलीश लोगों से घनिष्ठ संबंध था। इसी प्रकार कापालिक लोगों का घनिष्ठ संबंध कनफटा लोगों से था। विल्सन के अनुसार कापालिक लोग अन्य संप्रदायों में, विशेषकर कनफटा लोगों में अंतर्भुक्त हो गये हैं।[4] औघड़ लोगों को प्रायः अघोरी लोगों से संबद्ध किया जाता है। नाथपंथी योगिथों के दो वर्गों में एक कनफटा है और दूसरा औघड़। औघड़ लोग नाथ संप्रदाय की संपूर्ण दीक्षा-प्रक्रिया में संमिलित नहीं होते। कहा जाता है कि दीक्षा की अंतिम प्रक्रिया उनकी नहीं होती। वे नाथों की जीवनपद्धति को भी पूर्णतया स्वीकार नहीं करते। अपने नाम के अंत में 'नाथ' के स्थान पर 'दास' शब्द का प्रयोग

---

[1] दि इं० सा०—श्री घुरे, पृ० ५२, ५९, ६३, ७८, ८७, १२८-१३२, १४५।

[2] वही—पृ० १५०।

[3] गो० क० यो०—पृ० १७१, २१८।

[4] वही—पृ० २२२, २२३, २२७।

करते हैं।[१] फिर भी वे अपने को नाथपंथी कहते हैं तथा गोरखनाथ के प्रति श्रद्धा प्रदर्शित करते हैं।

विभिन्न शैव संप्रदायों के विवरण से यह स्पष्ट होता है कि नाथ मत पाशुपत शैव मत है। इस नाथ मत में गोरखनाथ का मत प्रधान है तथा उसमें भी कनफटा मत मुख्य है। कापालिक, लकुलीश, अघोरी जैसे पाशुपत शैव मतों का अधिकांश अब नाथ मत में अन्तर्भुक्त हो गया है। इन तीन मतों में तांत्रिक तत्त्व अधिक थे तथा इनकी अधिकांश साधनपद्धति शाक्तों से मिलती-जुलती थी। अतः इनके नाथ मत में अन्तर्भुक्त होनें से नाथों में इस समय भी कुछ तांत्रिक शाक्त तत्त्व लक्षित होते हैं। कुछ लोगों ने इन तांत्रिक तत्त्वों को देखकर नाथों को तांत्रिक शैव कहा है। शंकराचार्य भी शैव थे। उनमें तांत्रिक और शाक्त तत्त्व मिलते हैं। यह भी कहा जाता है कि उन्होंने शाक्तों के दक्षिणाचार का प्रवर्तन किया था। दशनामी शैव संन्यासी हैं जिनका संगठन शंकराचार्य ने किया था। इनमें वैदिक तत्त्व और विश्वास अपेक्षाकृत अधिक थे इसीलिए विद्वानों ने इन्हें वैदिक शैव संन्यासी कहा है। शैव संन्यासियों के इस इतिहास को देखने से प्रतीत होता है कि शैव संन्यासियों का सर्वप्रथम संगठन शंकराचार्य ने किया था। ये वैदिक ज्ञानकांड के विश्वासी तथा वेद की ज्ञानपरक व्याख्या को स्वीकार करते थे। कुछ समय बाद लगभग १०वीं ई० श० में गोरखनाथ ने उन शेष शैव संन्यासियों को संशुद्ध कर संगठित किया जो वैदिक व्यवस्था तथा जीवनपद्धति का विरोध करते थे। रुद्र और शिव वैदिक देवता हैं तथा उपनिषदों में उनका परम-तत्त्वीय रूप मिलता है। अतः दशनामी और नाथपंथी दोनों ही शैव हैं तथा साथ ही उपास्य की दृष्टि से दोनों ही वैदिक हैं। साधनापद्धति और जीवन-दर्शन की दृष्टियों से उनमें भिन्नता है। अतः एक सम्प्रदाय दूसरे की आलो-चना करता है। कर्मकाण्डीय जीवनदर्शन के अनुयायी तथा इसी प्रकार के अन्य विरोधी नाथपंथियों को अवैदिक कहते हैं किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि नाथपंथियों का साधन, दर्शन परवर्ती उपनिषदों से सम्बद्ध है तथा वे वेद का उस प्रकार विरोध नहीं करते, जैसा समझा जाता है। केवल वैदिक कर्म-काण्ड को न स्वीकार करना अवैदिकता है तो ऐसी स्थिति में भारत के अनेक दर्शन और धर्म अवैदिक और वेदबाह्य हो जायेंगे। जहाँ तक तांत्रिकता का प्रश्न है, पाशुपतों में तान्त्रिक तत्त्व मिलते हैं। इसी प्रकार नाथों ओर दश-

[१] इं० सा०—पृ० १५१-१५३। गो० क० यो०—पृ० २७।

नामियों में भी मिलते हैं। वास्तविक बात यह है कि वेद और तंत्र बहुत भिन्न नहीं हैं। तांत्रिकों की साधनापद्धति तथा दर्शन के अधिकांश तत्त्व वेदों से सम्बद्ध किये जा सकते हैं। लगभग ४थी--५वीं ई० श० तक, अधिक संभावना है, वैदिक और तान्त्रिक श्रुतियाँ और पद्धतियाँ अलग-अलग रही हों किन्तु आगे चलकर, इतना निश्चित है, ये दोनों इस प्रकार घुल-मिल गईं कि इनके मिश्रित तत्त्वों के आधार पर प्रवर्तित होनेवाले मतों, धर्मों, सम्प्रदायों को वैदिक और अवैदिक आधारों पर या वैदिक और तान्त्रिक आधारों पर दो वर्गों में बाँटना कठिन हो जाता है। दशनामियों, नाथपंथियों तथा परवर्ती काल में प्रवर्तित अन्य शैव-वैष्णव सम्प्रदायों के लिए भी ये ही बातें कही जा सकती हैं। तंत्र भी केवल शैवों या शाक्तों का नहीं है, अपितु अति प्राचीनकाल से प्रवाहित रहने वाली एक धारा है जिसका प्रभाव देश, काल और धर्म-दर्शन भेद से बौद्ध, जैन, शैव, शाक्त, वैष्णव आदि विभिन्न धर्ममतों पर पड़ा। आगे के विवेचन में इस बात को भूला नहीं जा सकता।

नाथमार्ग में विभिन्न उपमत हैं। उसकी १२ शाखायें मानी जाती हैं। नाथमत में मत्स्येन्द्रनाथ का महत्त्व अत्यधिक है। एक ओर जहाँ ये ब्रह्मचर्य-परायण नाथमत के प्रचारक गोरखनाथ के गुरु हैं वहीं दूसरी ओर ये सिद्धामृत योगिनी कौलमत के प्रचारक और व्यवस्थापक भी हैं। कौलमत में वीराचार साधन की अधिकता है तथा उसमें 'शक्ति' अत्यावश्यक साधनोपकरण के रूप में स्वीकार की गई है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा अवतरित कौलज्ञान का विवेचन करते समय बताया है कि गोरक्ष संप्रदाय के योग-मार्ग और कौलमार्ग के चरम लक्ष्य में कोई भेद नहीं है, सिर्फ इतना ही विशेष है कि योगी पहले से ही अंतरंग उपासना करने लगता है परंतु तांत्रिक पहिले बहिरंग उपासना करने के बाद क्रमशः अंतरंग (कुंडली) साधना की ओर जाता है। कौलमार्ग में भी यह विश्वास किया जाता है कि योगी और कौल का लक्ष्य एक ही है।[1] मत्स्येन्द्र ने इस कौल ज्ञान का प्रचार कब और कैसे किया, इसका विचार बौद्धों और नाथों के संबंध का विचार करते समय किया जा चुका है। इसी प्रकार जालंधरपाद का भी मत कापालिक था, ऐसा अनुमान किया जाता है। जालंधरपाद बौद्ध थे, इसका पुष्ट ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है। बतलाया जा चुका है कि कापालिक मत में तांत्रिक तत्व अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में थे। शाक्तों के वाममार्ग से उनकी समता अधिक उचित

---

[1] नाथ संप्रदाय, पृ० ६९। गो० सि० सं०, पृ० २०।

प्रतीत होती है। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि कृष्णाचार्यपाद, जो बौद्ध सिद्ध थे, जिनकी रचनाएँ 'बौद्ध गान ओ दोहा' में पर्याप्त मात्रा में मिलती हैं, अपने को एक कापालिक बतलाकर जालंधरपाद की गुरुता स्वीकार करते हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने निश्चयपूर्वक यह बतलाया है कि परवर्ती शैव सिद्धों ने जालंधर और कानपा दोनों को अपनाया है।[1] सत्य बात यह है कि अभी तक बौद्ध कापालिकों का कोई विवरण उपलब्ध नहीं हुआ है। जो उपलब्ध है वह शैव कापालिकों का है। डा० द्विवेदी ने कापालिकों का जो विवरण दिया है वह शैव कापालिकों का ही है। इतने पर भी उन्होंने जालंधरपाद को मूलतः बौद्ध कापालिक ही माना है। उनका यह भी कहना है कि जालंधरपाद ने सरहपाद के 'हेवज्रसाधन' नामक प्रसिद्ध तंत्र ग्रंथ पर 'शुद्धिवज्रप्रदीप' नामक टिप्पणी ग्रंथ लिखा था। संभव है, सरहपाद के विचारों का प्रभाव जालंधर पर पड़ा हो। इस प्रभाव का प्रमाण, उनकी दृष्टि में, राहुल सांकृत्यायन द्वारा उद्धृत गीत है।[2] इस संबंध में एक कठिनाई है कि शुद्धिवज्रप्रदीप आज हमें हस्तलेख या मुद्रित रूप में उपलब्ध नही है, न जालंधरपाद के उक्त पद का पाठ ही ठीक है और न यहीं कहा जा सकता है कि वह पद कितना पुराना ह। इन स्थितियों में जालंधरपाद बौद्ध थे या नहीं, यह निश्चयपूर्वक कह सकना अभी भी कठिन है। यह भी संभव है कि जालंधरपाद प्रारंभिक अवस्था में शैव कापालिक (ऐसी अवस्था में जब बौद्ध कापालिक का कोई विवरण उपलब्ध नहीं है) रहे हों तथा बाद में बौद्ध हो गए हों और तभी कृष्णपाद उनके शिष्य बने हों। कुछ भी हो, इतना निश्चित है कि नाथमत का कापालिकों से संबंध अवश्य था तथा बाद में नाथों के प्रबल होने पर ये लोग नाथमत में अंतर्भुक्त हो गये। द्विवेदी जी ने बताया है कि कानिपा के 'बामारग' संप्रदाय को आज भी नाथों में माना जाता है, यद्यपि वह पूर्णरूप से गोरखनाथी नहीं है।[3] द्विवेदी जी ने मत्स्येन्द्र संबंधी विभिन्न किंवदंतियों से जो निष्कर्ष निकाले हैं, उनमें से एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह है कि शुरू से ही जालंधरनाथ और कानिपा की साधनापद्धति मत्स्येन्द्रनाथ और गोरक्षनाथ की साधनापद्धति से भिन्न थी।[4]

यह भेद-साम्य, खंडन-मंडन नाथमत के ग्रंथों से भी व्यक्त होता है। गोरक्ष-सिद्धान्तसंग्रह में स्पष्टतः यह कहा गया है कि हम लोगों का मत कापालिक

---

[1] वही, पृ० ८२, ९०।
[2] वही, पृ० ७७, ८८, ८९, पुरातत्व निबंधावली, पृ० १८४-१८५।
[3] नाथ संप्रदाय, पृ० ८२। [4] वही, पृ० ५२।

नहीं है तथापि कापालिक मत भी नाथ के द्वारा प्रकटीकृत है। इसी प्रकार तंत्रों के रचयिता भी नाथ ही हैं। शाक्त, तंत्रों का अनुसरण करने वाले हैं। अद्वैत वेदांती शंकराचार्य को कापालिक के द्वारा पराजित कराकर उनसे अवधूत मत ग्रहण कराया गया है और इस प्रकार उनके मत का खंडन किया गया है।[१] कौल मत की निंदा करनेवाले को शाकिनीमुख में जाने का अभिशाप दिया गया है।[२] गोरखनाथ की हिंदी में लिखी रचनाओं में भी शैव संप्रदायों का खंडन मिलता है। स्पष्टतः कहा गया है कि लिंगोपासक तथा जटाधारी, कालामुख भी, बाह्याडंबर में पड़े रहते हैं, राख पोत–पोत कर सारा जीवन समाप्त कर देते हैं फिर भी महादेव (परमतत्व) का पार नहीं पाते। रसायनी (रसेश्वर-वादी ?) भी यद्यपि रसायन की सिद्धि का दावा करते हैं, फिर भी सांसारिक बुभुक्षा को शांत करने के लिए भीख माँगते हैं।[3] अतः ये अपूर्ण और असमर्थ हैं। फिर भी सांप्रदायिक इतिहास से प्रकट है कि अनेक शैव संप्रदाय नाथ मत में लीन हो गये जिनकी विभिन्न साधनापद्धतियाँ किसी न किसी रूप में नाथ मत में बहुत दिनों तक जीवित रहीं।

इस युग के दूसरे उपास्य विष्णु या उनके विभिन्न रूप थे। विष्णु भी वैदिक देवता हैं। प्रारम्भिक काल में अनेक देवताओं की कल्पना प्रमुख थी किन्तु आगे चलकर ऐसा विश्वास बद्धमूल हो गया कि एक ही परमतत्व विभिन्न देवताओं और रूपों में अभिव्यक्त होता है। शिव और विष्णु इसी भावना के विकास में धीरे-धीरे जनसामान्य के उपास्य हो गए। विष्णु की परमतत्व और व्यक्ति, दोनों रूपों में कल्पना महाभाष्यकार पतंजलि के पूर्व ही हो चुकी थी। ई० पू० दूसरी श० में वासुदेवोपासना प्रचलित थी तथा उपासक भागवत कहलाते थे। महाभारत के शांति पर्व का नारायणीयोपाख्यान, इतना निश्चित है, शंकराचार्य से पूर्व का है।[४] ऐकान्तिक धर्म के साथ नारद के व्यक्तित्व को संबद्ध करने से इसका महत्व अधिक है। इस उपाख्यान में नारायण को हरि भी कहा गया है। डा० भंडारकर का अनुमान है कि श्रीमद्भगवद्गीता का निर्माण पांचरात्र मत के व्यूहों की कल्पना के पूर्व ही हो चुका था। सम्भवतः गीता पतंजलि और पालि निद्देश के पूर्व, लगभग ई०

[१] गो० सि० सं०, पृ० १७-१९।
[२] वही, पृ० ४७।
[3] गोरखबानी, पृ० १३२,६९।
[४] वै० शै०, पृ० २,४,६,१०।

पू० ४थी श० के भी पूर्व की रचना है। महाभारत के ही, जिसका एक अंश भगवद्गीता है, नारायणीयोपाख्यान में नारायण ने ऐकांतिक भक्ति का उपदेश दिया है। इस प्रकार (वैष्णव) भागवत मत का आरम्भकाल तथा जैन-बौद्ध धर्मों के आरम्भकाल प्रायः एक ही सिद्ध होते हैं।[१] गीता के अधिकांश सिद्धान्त औपनिषदिक हैं। ईश, छांदोग्य, बृहदारण्यक, मैत्रेय, केन, मुण्डक आदि उपनिषद् इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। निष्काम कर्मयोग का सिद्धांत भी मूलतः औपनिषदिक है।[२] इस प्रकार भवद्गीता भक्तिमत या ऐकान्तिक धर्म का प्राचीनतम व्यवस्थित ग्रंथ है। ऐकान्तिक या एकेश्वरवादी भक्तिमत, इस दृष्टि से अत्यधिक प्राचीन सिद्ध होता है।[३] भक्ति शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग श्वेताश्वतर उपनिषद् में मिलता है। प्रायः इस शब्द का प्रयोग, प्राचीन धार्मिक साहित्य में, उपासना, ध्यान आदि अर्थों में ही मिलता है। औपनिषदिक काल में 'प्रिय' या 'प्रेयस्' शब्द से इस भावना की ओर संकेत मिलता है।[४] गीता का कर्मकाण्ड के प्रति वही दृष्किोण था, जो उपनिषदों का था। शूद्रों और स्त्रियों के लिए भी इस धर्म में स्थान था।[५] पांचरात्र मत में वासुदेवोपासना प्रचलित थी। भक्ति तत्व, इस मत में, ऐकान्तिक धर्म और भगवद्गीता के समान ही था। सम्भवतः इस मत का अभ्युदय ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में हुआ था। इस मत के मूलाधार ग्रंथ पांचरात्र संहिताएँ थी। रामानुज ने अपने ब्रह्मसूत्रों के भाष्य में इन्हें उद्धृत किया है। नारद पचरात्र में संगृहीत 'ज्ञानामृतसार' ४थी ई० श० के बाद का है।[६] इस समय के बाद से विष्णु के अवतारों की कल्पना मिलती है। लगभग ४थी ई० श० से लगभग ११वीं ई० श० तक वैष्णव विचारों और उपासनापद्धतियों का प्रचार होता रहा। बाद में बुद्ध और प्रथम तीन जैन तीर्थंकर भी विष्णु के अवतार मान लिये गये।[७]

---

[१] वही, पृ० १०, १७, १८।

[२] वही, पृ० ३७-४०।

[३] वही, पृ० ३७।

[४] वही, पृ० ४०-४१।

[५] वही, पृ० ४२।

[६] वही, पृ० ५४-५७।

[७] वही, पृ० ५८-६४।

इसके पूर्व की जितनी भी पुरातत्वीय सामग्री मिलती है, उससे पता चलता है कि इस समय विष्णु के राम, कृष्ण आदि अवतारों के नाम से कोई संगठित संप्रदाय नहीं था। डा० भंडारकर ने वाल्मीकि रामायण के राम को अवतार के रूप में चित्रित करनेवाले अंशों को प्रक्षिप्त माना है। रघुवंश के दशम सर्ग में राम शेषशायी विष्णु के अवतार के रूप में चित्रित हैं। अमितगति (१०१४ ई०) ने भी राम को जगत् के सर्वव्यापी, सर्वज्ञ तथा सर्वरक्षक के रूप में देखा है।[१] १६ वीं ई० श० के एकनाथ के पूर्व का लिखा हुआ 'अध्यात्म रामायण', जो प्राचीन रामाश्रयी ग्रंथों के आधार पर लिखा गया है, परब्रह्म राम का गायन करता है। इसके पंचम अध्याय का नाम रामगीता है जो वासुदेव उपदिष्ट भगवद्गीता के समान है। इसमें राम ने लक्ष्मण को उपदेश दिया है। मद्रास से प्रकाशित 'रामगीता' नाम के ग्रंथ में भगवद्गीता की तरह ही १८ अध्याय हैं।[२]

वैष्णव मत का व्यवस्थित प्रतिपादन और सांप्रदायिक प्रचार रामानुज के काल से आरम्भ होता है। रामानुज आचार्य थे। इनके पूर्व वैष्णव आल्वार भक्त हो चुके थे। इन भक्तों में से कुलशेखर नाम के आल्वार दाशरथी राम के भक्त थे।[3] रामानुज के पूर्व ही शंकराचार्य ब्रह्मसूत्रों और उपनिषदों पर भाष्य लिख चुके थे। शवरस्वामी और कुमारिल भट्ट ने केवल बौद्धमत का ही खंडन नहीं किया था अपितु वैदिक ज्ञानकांड या उपनिषदों की भी आलोचना की थी और वैदिक कर्मकांड या उपनिषदों, ब्रह्मसूत्रों तथा भगवद्गीता की पूर्णाद्वैत से भिन्न व्याख्या के आधार पर विशिष्टाद्वैत मत को रामानुज ने प्रतिष्ठित किया। उपनिषदों का कुछ इसी प्रकार से उपयोग शैव संप्रदायों ने भी किया था।[४] रामानुज मत के अधिक अनुयायी उत्तरी भारत में नहीं है। उनके संपूर्ण विवेचन को ध्यान में रखने पर स्पष्ट होता है कि उनके आधार थे—उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, भगवद्गीता, पुराण, पांचरात्र संहिताएँ और सांख्य मत। उनका वैष्णव मत या वासुदेव मत प्राचीन पांचरात्र मत, नारायण तथा विष्णु तत्व का मिश्रित रूप हैं। उनकी रचनाओं में विष्णु शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। अधिक प्रयोग उन्होंने 'नारायण' शब्द का किया है। परमात्मा

---

[१] वही पृ० ६५-६७।
[२] वही, पृ० ६७-३९।
[3] वही, पृ० ७०-७१।
[४] वही, पृ० ७१-७२।

तथा व्यूहों का वर्णन करते समय उन्होंने वासुदेव शब्द का प्रयोग किया है। 'राम' शब्द भी उनका अधिक प्रिय शब्द प्रतीत नहीं होता।[१]

वैष्णव मत का अध्ययन करने के लिए पुराणों का अध्ययन आवश्यक है जिसमें भागवत पुराण अति महत्वपूर्ण बताया गया है। यद्यपि इसकी तिथि अभी भी अनिश्चित है तथापि डा० फर्कुहर ने इसे ९ वीं ई० श० के पूर्व ही निर्मित माना है। यह ग्रंथ १७ पुराणों का सार है। कहा जाता है कि व्यास ने सबसे अंत में इसकी रचना की थी। भावावेग प्रधान भक्ति तत्व की स्थापना इसकी सबसे बड़ी विशेषता है। इसमें प्रतिपादित भक्ति तत्व भगवद्गीता तथा रामानुज के भक्ति तत्व से भिन्न है। इसकी दार्शनिक विचारणा शांकर अद्वैत के अधिक समीप है। इसके विपरीत, अन्य पुराण, दर्शन की दृष्टि से, सांख्य से प्रभावित हैं। भागवत पुराण के परिशिष्ट के रूप में लिखित 'भागवत माहात्म्य, से स्पष्ट होता है कि भक्ति की उत्पत्ति द्रविड़ देश में हुई। इस आधार पर यह कहना कि श्वेताश्वतर उपनिषद्, भगवद्गीता और प्राचीन पुराणों की भक्ति का उदय दक्षिण में हुआ तो सर्वथा असंगत होगा। सामान्य भक्ति और भागवत की भावावेग प्रधान भक्ति का अलग अलग विचार कर यह कहा जा सकता है कि भागवत की भक्ति अवश्य दक्षिण में उदित हुई होगी। ऐसी अवस्था में कोई असंगति भी न होगी। अतः भागवत महात्म्य के उस वाक्य का यह अर्थ ग्रहण किया जा सकता है कि भावावेग प्रधान भक्ति की उत्पत्ति दक्षिण में हुई। आल्वारों के अतिरिक्त प्राचीन भक्तों का कोई भी वर्ग ऐसा नहीं दिखाई पड़ता जो उनकी तरह प्रेमोन्मत्त होकर विष्णु या उनके अवतारों की मूर्तियों के आगे विह्वल गुणगायन करता हो। इस प्रकार रामानुज के पूर्व ही लगभग ९वीं ई० श० के पूर्व ही भागवत का निर्माण तमिल देश के उन संन्यासियों में हुआ था जिसका संबंध भागवत सम्प्रदाय से था।[२] भागवत के निर्माणकाल के सम्बन्ध में डा० फर्कुहर का मत सर्वथा मान्य नहीं है। कभी-कभी उसे ४थी ई० श० से ६ठीं ई० श० की रचना भी माना जाता है। इन्हीं महत्वपूर्ण पुराणों के आधार पर नारद और शांडिल्य के भक्तिसूत्रों की रचना हुई। नारद सूत्रों में व्यावहारिक जीवन तत्त्व और शांडिल्य सूत्रों में दर्शन तत्व का आधिक्य है। शांडिल्य का दर्शन भेदाभेदी प्रतीत होता है। दक्षिण के भागवत नारद का तथा उत्तर के

---

[१] वही, पृ० ७८-७९।

[२] आ० रे० लि० इं०, पृ० २२९-२३३।

भागवत शांडिल्य का अधिक प्रयोग करते हैं। शांडिल्य के सूत्र निम्बार्क मत से अधिक मिलते हैं।[१] इन सूत्रों पर विस्तार से आगे कहा गया है।

अति प्राचीन पांचरात्र मत के ही अंतर्गत १० वीं ई० श० के पूर्वार्द्ध के बाद रामानुज का उद्‌भव हुआ। सम्प्रदाय की दृष्टि से रामानन्द का सम्बन्ध पांचरात्र मत के व्यवस्थापक रामानुज के श्री वैष्णव सम्प्रदाय से था। श्री वैष्णवों में विष्णु के राम और नृसिंह अवतारों का भी समादर है किन्तु रामानन्द ने केवल रामसीता तथा उनके सभासदों को ही मान्यता दी। इनका मन्त्र 'ओं रामाय नमः' है जो श्री वैष्णवों से भिन्न है। इन लोगों का तिलक भी वही नहीं है। रामानन्द यदि श्री वैष्णव होते तो उन्हें त्रिदंडी संन्यासी होना चाहिए था। श्री वैष्णव की तरह वे खान-पान में भी अति कठोर नहीं थे। अतः उनके सम्प्रदाय की शुद्ध श्री वैष्णवों से कुछ भिन्न परम्परा होनी चाहिए। पहले बताया गया है कि दक्षिण में पहले रामोपासक भी थे। यदि यह मान लिया जाय कि यह रामोपासकों का सम्प्रदाय श्री सम्प्रदाय के अंतर्गत था तथा रामानन्द उस अन्तर्भूत सम्प्रदाय से सम्बद्ध थे तो सारी कठिनाइयाँ हल हो जाती हैं। रामानन्द अपने साथ अध्यात्म रामायण और अगस्त्य-सुतीक्ष्ण संवाद भी लाये थे अथवा उनके अनुयायियों द्वारा इनका उपयोग होता था।[२] इस आधार पर यह स्वीकार किया जाता है कि रामानन्द दक्षिण से आये थे। यह भी सम्भव है कि वे रामानुज के श्री भाष्य का उपयोग करते रहे हों। इस तथ्य की इससे पुष्टि भी होती है कि रामानन्द के अपने रामावत संप्रदाय का कोई भाष्य नहीं है। यह भी प्रायः मान लिया जाता है कि रामानन्द ने रामानुज के विशिष्टाद्वैत दर्शन का उपदेश किया। किन्तु इसके लिए कोई प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध नहीं क्योंकि रामानन्द से प्रेरणा प्राप्त करनेवाले भक्तों की रचनाओं में अद्वैतवादी वाक्यों का बहुल प्रयोग मिलता है तथा संतों के उपदेशों से प्रतीत होता है कि रामानन्द के विचार शुद्ध अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद के मध्यवर्ती हैं या दोनों के अनुकूल दिखाई पड़ते हैं।[3]

जहाँ तक संन्यासी वर्ग का प्रश्न है, शंकराचार्य के बाद दूसरे महान संन्यासी रामानुज थे किन्तु अन्तर यह है कि रामानुज ने कुछ दिन विवाहित जीवन व्यतीत करने के बाद संन्यास ग्रहण किया था। शंकराचार्य के समान ही वृत्ति

---

[१] वही, पृ० २३३-२३४।

[२] वही, पृ० ३२३-३२४।

[3] वही, पृ० ३२५-३२६।

और दर्शन को ग्रहण करने वाले ज्ञानेश्वर के पिता विट्ठल पंत, कहा जाता है, रामानन्द के शिष्य थे। ये रामानन्द राघवानन्द के शिष्य थे। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि ये रामानन्द उस प्रसिद्ध रामानन्द से भिन्न थे जिन्होंने रामावत सम्प्रदाय प्रवर्तित किया था। अधिक सम्भावना यह है कि विट्ठल पंत को चैतन्याश्रम नाम देनेवाले गुरु रामानन्द कोई दशनामी संन्यासी थे। राघवानन्द रामानुज मत के थे। 'आनन्द' उपाधिधारी संन्यासियों का वर्ग बाद में एक उपसम्प्रदाय के रूप में विकसित हुआ। रामानन्द वैष्णव वैरागी थे। गोरखनाथ के बाद उत्तरी भारत में उदित होनेवाले सबसे महत्वपूर्ण संन्यासी रामानन्द ही थे।[१] चार प्रकार के अवधूतों में शिवावधूत, ब्रह्मावधूत, भक्तावधूत और हंसावधूतों की गणना की जाती है। श्री घुरे की दृष्टि में वैष्णवों का भी अपने को अवधूत कहना योगियों का प्रभाव है। कनफटा योगी, शैव संन्यासी और वैष्णव लोगों में रामानन्दी संन्यासी लोग अपने को अवधूत कहते हैं।[२]

नाभादासकृत भक्तमाल के अनुसार रामानंद रामानुज की चौथी पीढ़ी में, संप्रदाय में दीक्षित हुए थे। उन्होंने रामानुज की ही पद्धति का अनुसरण किया था। अनंतानंद, कबीर, सुरसुरा पद्मावती, नरहरि, पीपा, भवानन्द, रैदास, धना, सेन आदि तथा अन्य एक से एक बढ़कर शिष्य-प्रशिष्य रामानंद के हुए।[३] छप्पय में आया हुआ 'शिष्य-प्रशिष्य' शब्द ध्यान देने योग्य है। विद्वानों ने रामानंद का कालनिर्णय करते समय पर्याप्त तर्क-वितर्क किया है और उससे भी अधिक 'कबीर के गुरु रामानंद थे' इस पर विवाद हुआ है। उन सब विवादों को पुनः यहाँ उपस्थित करने की आवश्यकता नहीं। इतना मान लेने में कोई कठिनाई नहीं है कि कबीर रामानंद की शिष्य परंपरा में थे। नाभादास ने स्पष्टतः यह नहीं बताया कि कबीर रामानंद के शिष्य ही थे। रामानंद और कबीर के काल का विचार करने पर उनके समकालीन होने की कठिनाई सामने आती है। रामानंद ने अपना संप्रदाय, श्री वैष्णव संप्रदाय से पृथक् प्रवर्तित किया। लोगों ने उनके संप्रदाय को रामावत संप्रदाय कहा है। इस संबंध में राघवानंद से दीक्षित होने, दिग्विजय यात्रा करने तथा राघवा-

---

[१] इं० सा०, पृ० ६०, ६३-६५।

[२] वही, पृ० ८७; इं० रे० ए०, वा० १०, पृ० ५७०, डा० ग्रियर्सन का 'रामावत या रामामन्दी' शीर्षक लेख।

[३] भक्तमाल, नाभादास, प्रियादास की टीका सहित, छप्पय ३५-३६।

नंदी शिष्यों द्वारा आचारगत विरोध किये जाने की कथा पर ध्यान दिया जा सकता है। रामानंद दक्षिण से आये थे—यह मत अब पूर्णतया अस्वीकार किया जा चुका है। स्वयम् डा० फर्कुहर ने बाद में इस मत का त्याग कर दिया था। उन्होंने यह भी बाद में प्रतिपादित किया कि रामानंद के उपदेशों का मूल श्री वैष्णव मत में नहीं है अपितु अध्यात्म रामायण में है। उनकी दृष्टि में कबीर की तुलना में तुलसीदास ही रामानंद के सच्चे प्रतिनिधि हैं।[1] यह भी कहा गया है कि रामानंदी संप्रदाय का अपना कोई भाष्य नहीं है। इधर उनके संप्रदाय के लोगों ने ब्रह्मसूत्रों पर एक 'आनंद' नामक भाष्य भी प्रकाशित किया है, जिस पर पूर्ण विश्वास करने के लिये अभी कोई ठोस प्रमाण नहीं मिला है। भाष्य का अनुसरण करनेवाली राघुबराचार्य की एक 'वेदांत वृत्ति' भी प्रकाशित हो गई है। कहा जाता है कि स्वयम् रामानंद ने 'वैष्णवमताब्जभास्कर' नामक ग्रंथ लिखा था जिसका प्रकाशन हो चुका है। सब कुछ देखने पर इतना निश्चय होता है कि रामानंद का श्री वैष्णव मत से दीक्षागत संबंध अवश्य था।

रामानुज के बाद अन्य 'सुधारवादी' संन्यासियों में उनके अतिरिक्त तीन और वैष्णव संप्रदायों का नाम लिया जाता है। रामानंदी बैरागियों में भी आगे चलकर कुछ सुधारवादी बैरागियों का उदय हुआ। इनमें कबीरादि की गणना कुछ लोगों ने की है। कहा जाता है कि रामानंद के १२ शिष्यों ने १२ संप्रदाय प्रवर्तित किये।[2] रामानंद ने उत्तर भारत में अपने शिष्य-शिष्याओं के माध्यम से वैष्णव भक्ति का प्रचार किया। बताया गया है कि रामानंद रामानुजाचार्य की ४ थी पीढ़ी में थे (रामानुज-देवाचार्य-हरियानंद-राघवानंद-रामानंद)। राघवानंद के पूर्व किसी अन्य श्रीवैष्णव आचार्य के काशी या उत्तरी भारत में बसने का कोई विवरण उपलब्ध नहीं है। रामानुज ने अपनी दिग्विजय यात्रा के बाद दक्षिण भारत को ही अपना कार्यक्षेत्र बनाया। इसीलिए उत्तर भारत के उनके शिष्यगण धीरे-धीरे मत का प्रचार करते रहे। विद्वानों ने राघवानंद को उस समय काशी में स्थित बताया है जिस समय रामानन्द से उनकी भेंट हुई थी। ऐसी स्थिति में रामानन्द को भक्ति काशी में ही मिली थी, वे कहीं से लाए नहीं थे। अधिक सम्भव यह है कि अध्यात्म रामायण आदि से रामानन्द का जो सम्बन्ध जोड़ा जाता है, वह उन्हें राघवा-

[1] ज० रा० ए० सो०, १९२२, 'दि हिस्टारिकल पोजीसन आव रामानंद,' जे० एन० फर्कुहर, पृ० ३७३-३७५।

[2] इं० सा०, पृ० २१२-२१५।

नन्द से ही मिला हो। राघवानन्द स्वयम् अवधूत थे, अवधूत का बाना धारण करते थे और उनके शिष्य रामानन्द तथा अन्य रामानन्दी अपने को अवधूत कहते थे। इसकी ओर पहले भी संकेत किया जा चुका है। स्वयम् रामानन्दी अनुयायियों में से मिहीलाल ने राघवानन्द को अवधूत कहा है तथा रामानन्द को उनका शिष्य बताया है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि रामानन्दी संन्यासी अपने को बैरागी और अवधूत दोनों कहते थे।[१] पहले ही बताया जा चुका है कि श्री वैष्णवों में रामभक्ति को प्रधानता देनेवाला एक वर्ग था। राघवानन्द के मूलाधार ग्रंथ अध्यात्म रामायण, वाल्मीकि रामायण तथा अगस्त्य संहिता थे।[२] अधिक संभावना यह है कि श्रीसम्प्रदायानुयायी राघवानंद इसी रामभक्ति के सम्प्रदाय से सम्बद्ध थे तथा उन्होंने उसी का उपदेश रामानन्द को दिया होगा। स्वयम् राघवानन्द का कोई ग्रंथ इस समय उपलब्ध नहीं है, अतः उनके मूल उपदेशों का पता लगाना कठिन है। 'सिद्धांत पंचमात्रा' की प्रामाणिकता भी संदिग्ध है, ऐसा स्वयम् उसके उद्धारक डा० बड़थ्वाल ने ही स्पष्टतः कह दिया है।[३]

रामानन्द अपना भक्ति मत दक्षिण से लाये थे, इसकी पुष्टि में कुछ लोग कबीर सम्प्रदाय में प्रचलित एक साखी को उद्धृत करते हैं जिसमें स्पष्टतः कहा गया है कि 'भक्ति द्रविड़ देश में उत्पन्न हुई उसे रामानन्द लाए। कबीर ने उसे सात द्वीपों और नव खंडों में प्रकट कर दिया। 'विद्वानों ने दक्षिण से उत्तर में भक्ति को लाने का श्रेय रामानन्द को दिया है।'[४] रामानन्द उत्तर के थे, दक्षिण के नहीं इसे पहले ही दिखाया जा चुका है। राघवानन्द के काशी में स्थायी निवास की पुष्टि नाभादास ने भी की है।[५] ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार की उक्ति का मूलाधार भागवत के 'भागवतमाहात्म्य' की वे पंक्तियाँ हैं जिनका विवेचन ऊपर हो चुका है। भागवतमाहात्म्य की

---

[१] योग प्रवाह, डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, पृ० २-४, १६-१७।

[२] ज० रा० ए० सो०, १९२२, फर्कुहर का लेख, पृ० ३८०।

[३] योग प्रवाह, पृ० ४-६।

[४] कबीर, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १४२, 'भक्ति द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानंद। परगट किया कबीर न सप्तद्वीप नवखंड।' सत्य कबीर की साखी १५.१।

[५] भक्तमाल, नाभादास, छप्पय सं० ३५ 'पत्रावलंब पृथ्वी करि काशी स्थायी।'

वे पंक्तियाँ प्रक्षिप्त या बाद की लिखी प्रतीत होती हैं। अतः यह माना जा सकता है कि दक्षिण में उत्पन्न भक्ति को राघवानन्द लाये थे। कबीर को यह भक्ति रामानन्द या उनके शिष्यों से मिली थी, राघवानन्द से नहीं। बाद में साम्प्रदायिकों ने रामानन्द और कबीर के प्रति अपने श्रद्धापुष्प चढ़ाने के लिए इन पंक्तियों का निर्माण किया—ऐसा अनुमान होता है। वे पंक्तियाँ कबीर की तो नहीं है—यह निस्संदिग्ध है। जो विवरण उपलब्ध है, उससे यह स्पष्ट है कि राघवानन्द ने नहीं, रामानन्द ने दिग्विजय किया था, या दूसरे शब्दों में, रामानन्द ने सम्पूर्ण उत्तराचल की यात्रा कर अपनी वैष्णवी भक्ति का प्रचार किया था। उन्हीं के उदार शिष्यों की परम्परा ने भक्ति का जनसामान्य में प्रचार कर दिया। इसीलिए उत्तरी भारत में भक्ति आंदोलन के स्रोत रामानन्द ही माने गये।[१]

जहाँ तक रामानन्द के शिष्य-प्रशिष्यों की परम्परा का प्रश्न है, सर्वाधिक जटिल प्रश्न यह है कि रामानन्द की ही परम्परा में कबीर और तुलसी दोनों ही कैसे माने गये। अभी तक विद्वानों ने तुलसी को सगुणवादी और कबीर को निर्गुणवादी माना है। तुलसी के मानस के विषय में कहा जाता है कि वह अध्यात्म रामायण से अधिक प्रभावित है। अध्यात्मरामायण अद्वैतवादी है, यह बतलाया जा चुका है। दर्शन की दृष्टि से विचार करने पर डा० बड़थ्वाल ने कबीर को अद्वैतवादी माना है, यद्यपि अन्य विद्वानों में अंडरहिल ने विशिष्टाद्वैतवादी तथा फर्कुहर ने भेदाभेदवादी माना है।[२] ऐसी स्थिति में, तब यह जटिलता और अधिक सघन हो जाती है जब रामानन्द को विशिष्टाद्वैतवादी श्रीसम्प्रदाय का अनुयायी कहा जाता है। रामानंद की जो जीवन-कथा विद्वानों ने उपस्थित की है, उससे यह स्पष्ट होता है कि अपने प्रारंभिक अध्ययनकाल में रामानंद ने किसी शांकराद्वैतवादी आचार्य से वेदांत का अध्ययन किया था। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने निष्कर्ष के रूप में कहा है कि रामानंद स्वयम् यद्यपि विशिष्टाद्वैतवादी थे, पर अद्वैतवादी भक्ति ग्रंथों को बड़े सम्मान की दृष्टि से देखते थे। उनके लिए भक्ति द्वैत-अद्वैत से भी बड़ी और महत्वपूर्ण वस्तु थी।[3] द्विवेदी जी का निष्कर्ष कबीर पर अधिक उत्तमता से

[१] दि फिलासफी आव विशिष्टाद्वैत—श्री पी० एन० श्रीनिवासाचारी, पृ० ५४३।

[२] दि नि० स्कू० हिं० पो०, पृ० ३२, ३५।

[3] कबीर, पृ० १०९।

आरोपित हो सकता है। नाभादास ने भक्तमाल में स्पष्टतः कहा है कि कबीर ने षड्दर्शन की मर्यादा नहीं रखी अर्थात् स्वयं इनमें से किसी एक की मर्यादा में बँध कर नहीं रहे। दूसरे उन्होंने केवल उसी को धर्म माना जो भक्ति के अनुकूल हो। भक्तिभाव के सहायक-साधक रूप में जो कुछ भी है वह ग्राह्य है। भक्तिविमुख सब धर्म अधर्म हैं।[१] कबीर अद्वैतवादी थे या विशिष्टाद्वैतवादी, इसका निर्णय अभी तक नहीं हो सका है। इतना निश्चित है कि कबीरदास भक्त थे तथा रामानंद की शिष्य परम्परा में थे।

नाथों और संतों से सम्बद्ध जिस तीसरे धर्म का नाम लिया जाता है, वह बौद्ध है। इस युग में लगभग १२वीं ई० श० तक बौद्ध लोग किसी न किसी प्रकार जीवित रहे। कुमारिल, शंकर, गोरक्ष, रामानुज आदि के आक्रमण और विविध प्रकार के खंडन से वे संकुचित होकर एक क्षेत्रीय धर्म के रूप में जीवित रहे। मुसलमानों के आक्रमण से वे और भी जीर्ण-शीर्ण एवम् अंततः नष्ट हो गये। बंगाल में लगभग १६वीं ई० श० में तांत्रिक बौद्ध भिक्षुओं और भिक्षुणियों का अन्तिम समूह भी चैतन्य मत में विलीन हो गया। नेपाल में बौद्धों के प्राचीन ऐश्वरिक मत का विकास १२-१३वीं ई० श० में हो रहा था। मुख्य मध्यदेश से बौद्ध धर्म का प्रायः १३वीं ई० श० तक लोप हो चुका था।[२] १४वीं ई० श० के मध्य के बाद भारत में बौद्ध धर्म का कोई इतिहास नहीं मिलता। गोरखपुर, कुशीनगर, सारनाथ जैसे पूर्वी उत्तरप्रदेश के भागों में भी बौद्ध धर्म का लोप हो चुका था। महमूद गजनी के समय में १०१७ ई० में बनारस की लूट के साथ संभवतः सारनाथ पर भी धावा हुआ था। उसके नौ वर्ष बाद १०२६ ई० में सम्राट् महीपाल के राज्यकाल में स्थिरपाल और बसन्तपाल नाम के दो भाइयों ने सम्राट् की प्रेरणा से काशी के देवालयों के साथ-साथ धर्मराजिका स्तूप (सारनाथ) और धर्मचक्र (सारनाथ) का उद्धार किया था। ११वीं ई० श० के अन्त में सारनाथ कलचुरि कर्णदेव के प्रभाव में आ गया था। उस समय एक महायानी भिक्षु ने अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता पुस्तक की प्रतिलिपि कराई थी। गाहड़वाल वंश के महाराज गोविंदचन्द्रदेव का राज्य कन्नौज, अयोध्या और काशी पर हो गया था। उनकी रानी कुमारदेवी बौद्ध धर्म की भक्त थीं। उन्होंने सारनाथ में एक विहार बनवाया था जिसके अवशेष खुदाई में पाये गये हैं। इसके बाद सारनाथ का वैभव

---

[१] भक्तमाल, नाभादास, छप्पय सं० ६०।

[२] आ० रे० लि० इं०, पृ० २७४-२७५।

अन्त हो गया।[१] इसके बाद पुरातत्त्वज्ञों की दृष्टि में लगभग १८वीं ई० श० में सारनाथ आया। इससे स्पष्ट है कि गोविंदचन्द्रदेव (राज्यकाल ११५४ ई०)[२] के काल तक काशी के आसपास बौद्धों का प्रभाव था। फिर उसके बाद उनके वैभव का अन्त हो गया। तात्पर्य यह कि कबीर आदि के समय में काशी या आसपास में बौद्धों का प्रसार-प्रभाव नहीं रह गया था।

गोरक्ष के नाम से प्रसिद्ध रचनाओं में बौद्धों का नाम नहीं है। उनकी आलोचना भी नहीं मिलती। उसमें कुछ शैव सम्प्रदायों और धर्मानुयायियों की आलोचना अवश्य है जिसकी ओर पहले ही संकेत किया जा चुका है। अनुमान है, इस काल में संन्यासियों के भी कई वर्ग थे, जो प्रायः एकदंडी, त्रिदंडी, द्विदंडी, कालामुख, कार्पटिक, जैन, जटाधारी, लिंगोपासक, संन्यासी आदि नामों से ख्यात थे।[3] प्रायः इन सबका खंडन गोरख ने किया है। शाक्तों की आलोचना या खंडन नहीं है। इन अनुयायियों में से 'दंडी' लोग वैष्णव तथा कालामुख, जटाधारी और लिंगोपासक शैव संन्यासी प्रतीत होते हैं। गोरक्ष ने ही चौरासी सिद्धों और नव नाथों के विषय में संदेह कर कहा है कि इन लोगों ने योग का पार नहीं पाया।[४] ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ 'चौरासी सिद्ध नव नाथ' पद से गोरक्ष का अभिप्राय बौद्ध सिद्धों और तांत्रिक नव नाथों से है। इस युग के मुख्य उपास्य विष्णु या उनके विभिन्न रूप, शिव, शक्ति, ब्रह्मा आदि थे। विष्णु, ब्रह्मा, शिव, शक्ति, पार्वती आदि अपूर्ण हैं। ब्रह्मा, विष्णु, हरि, राम, महादेव, नरहरि, उमापति आदि शब्दों से जिन देवताओं का बोध कराया जाता है तथा जिनकी पूजा की जाती है, वे परमतत्व की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं, स्वयम् परमतत्व नहीं। ये स्वयम् किसी परमतत्व की उपासना करते हैं, ये भी माया, निद्रा आदि से छले जाते हैं।[५] गोरक्ष साहित्य में 'राम' शब्द का अधिकांश प्रयोग 'परब्रह्म' का बोध कराने वाले अर्थ में है।[६] दो एक स्थानों पर अवतारी राम का स्मरण कर उन्हें अपूर्ण और मायाग्रस्त देवता माना गया है।[७] इसी प्रकार शिव को परब्रह्म, सहस्रारस्थ शिव और

---

[१] सारनाथ (हिन्दी), डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० २-३।

[२] हिन्दी साहित्य का आदिकाल, डा० ह० प्र० द्विवेदी, पृ० ८।

[3] गो० बा०, पृ० ३३, १३२। [४] वही, पृ० १३२।

[५] वही, पृ० ९९, ३५, ५९, ९३, १३२, १३९।

[६] वही, पृ० १००, १०२, १२७, १४८, १५४, १५५।

[७] वही, पृ० २५, १२३।

षोडश कलाधर चन्द्र में स्थित शिव माना गया है ।[१] हरि ब्रह्म का बोधक शब्द है । शक्ति कुंडलिनी शक्ति है जो मूलाधार में निवास करती है ।[२] इस विवरण से यह स्पष्ट होता है कि शिव परमोपास्य हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि महादेव, विष्णु, ब्रह्म आदि मायाशबलित हैं । पहले यह कहा गया है कि नाथपंथियों के नाथ परमोपास्य हैं । इस विवरण से मिलाने पर यह कहा जा सकता है नाथों के नाथ काश्मीर शैव मत के परमशिवस्थानीय हैं । इस शिव का क्या स्वरूप है, इसका विवेचन आगे किया गया है ।

कबीर की रचनाओं से पता लगता है कि उनके समय में जोगी, जंगम, बैरागी, जटाधारी, जैन, चार्वाक, कार्पटिक, जती, औघड़, शाक्त, संन्यासी आदि वर्तमान थे । जोगी और जंगम झूठी आशा हैं । जटाधारी भी मरता है । बैरागी प्रपंचग्रस्त, संचित तथा कामी मिलते हैं ।[३] जैन और बौद्ध अहिंसावादी हैं, पर फिर भी वे किसी न किसी प्रकार हिंसा करते हैं । जती तीर्थयात्री, स्वांगी, मठधारी, देवालयगामी दिखाई पड़ते हैं । कार्पटिक केदार की यात्रा करते हैं ।[४] कबीर ने अपने समकालीन साधकों में सबसे अधिक निन्दा शाक्तों की ही की है । वे पाषंड वेष धारण करते हैं, सुप्त जीव जैसा जीवन व्यतीत करते हैं । रामभक्ति से विमुख रहते हैं, बुरे कर्म करते हैं । जन्म से भी यदि वे उत्तम हों तब भी उनकी संगति त्याज्य है । अभक्त शाक्त त्याज्य हैं । कपटी दुराचारी वैष्णव की तुलना में निष्कपट शाक्त भला है ।[५] इसी प्रकार विभिन्न समकालीन उपास्यों को भी परब्रह्म नहीं माना गया है । सांप्रदायिक उपास्य शिव परब्रह्म नहीं हैं । शिव भी उस ब्रह्म की शरण को ग्रहण करते हैं । निष्कल निरंजन शिव परब्रह्म हैं ।[६] इसी प्रकार ब्रह्मा, महादेव, शंकर आदि राम की भक्ति करते हैं, उनके आश्रित हैं ।[७] केशव, कृष्ण, गोविन्द, नारायण, पुरुषोत्तम, मुकुंद, विट्ठल, सारंगपाणि आदि उसी परमोपास्य का बोध कराने वाले विभिन्न शब्द हैं । कबीर साहित्य में परब्रह्म

[१] वही, पृ० ५७, ९८, ७३, ३०, ४५, १५० ११० आदि ।
[२] वही, पृ० १२०, १६५, ७१, ८२, १८, ३० आदि ।
[३] कबीर ग्रंथावली, पृ० ९९, १७२, ४१, ५७, ९१, १३५, १७९, १८९ ।
[४] वही, पृ० २४०, ३, १७२, १८६, १९५ ।
[५] वही, पृ० ४७, ५३, ५५, ६६, १०२, १६३, २४० ।
[६] वही, पृ० १६२, ९८, ९९, २३०, २४१ ।
[७] वही, पृ० ६, २३८, १०२, ५ ।

का बोध कराने के लिये सबसे अधिक प्रयोग क्रमशः राम, हरि और गोविन्द शब्द का किया गया है। इनमें सबसे अधिक प्रिय शब्द राम है। कबीर की रचनाओं में 'राम नाम' और राम की महिमा अति विस्तृत है। 'ररां' और 'ममां' से निर्मित 'राम' नाम का जप करने के लिये बार-बार उपदेश दिया गया है।[१] उसके गुणगान और प्रयोग से उसकी मंत्रवत् महिमा प्रकट होती है। 'वैष्णवमताब्जभास्कर' में राममंत्र की कुछ इसी प्रकार की सान्वय दार्शनिक व्याख्या की गई है।[२] वस्तुतः रामावत या रामानन्दी सम्प्रदाय का मंत्र है—'रां रामाय नमः।' 'इसमें सामान्य मंत्रों के आद्यक्षर के रूप में जैसे ओं का प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार यहाँ उसके स्थान पर बीजाक्षर 'रां' का प्रयोग किया गया है।[3] रामानुज के श्रीवैष्णव सम्प्रदाय में लक्ष्मी और नारायण उपास्य हैं किन्तु रामानन्द के श्री सम्प्रदाय या रामावत सम्प्रदाय में परब्रह्म राम की उपासना विहित है।[४] मंगलाचरण में राम के साथ सीता की वंदना है, उनकी कृपा की याचना की गई है। वहाँ उन्हें रामप्रिया कहा गया है।[५] किन्तु कबीर साहित्य में निर्गुण परब्रह्म राम उपास्य अवश्य हैं, तथा 'राम' शब्द को मंत्रवत् ग्रहण करने का उपदेश भी है किन्तु कहीं भी सीता, जानकी, वैदेही या राम की शक्ति का नाम या संकेत नहीं है। वैष्णव-मताब्जभास्कर के राम को उपास्य के रूप में तथा राम नाम को मंत्र रूप में स्वीकार करने की बात को कबीर ने किसी न किसी रूप में अवश्य स्वीकार कर लिया है। वैष्णवों के स्वीकृत लक्षण हैं—ऊर्ध्वपुंड्र, तुलसी की कंठी और माला आदि धारण करना, निर्मल हृदय से भगवान् के दिव्य जन्म, दिव्य कर्म और दिव्य नाम का स्मरण, भगवान की कथा का श्रवण, कथा कीर्तन, चर-अचर में भगवद्रूप की भावना करना, आयुध धारण तथा तद्रूप वैष्णवों का पूजन आदि। कबीर के भगवान् का जन्म तो होता ही नहीं। उन्होंने मालाधारण, तिलक आदि को भक्त के लिये आवश्यक नहीं माना है। इन सबसे सज्जित होकर 'भेष' धारण करने का उन्होंने कठोर खंडन किया है।[६]

---

[१] वही, पृ० १८३।

[२] वैष्णवमताब्जभास्कर, पृ० २८ ३०, श्लो० १०-३२।

[3] वही, पृ० ९४-९५।

[४] वही, श्लोक ७-९।

[५] वही, श्लो० १-२।

[६] कबीर ग्रंथावली, पृ० १३१, २४५।

कबीर को किसी न किसी संप्रदाय से संबद्ध करने की वृत्ति का कई विद्वानों ने विरोध किया है। कबीर साहित्य में नाथ योग, वैष्णवों की प्रपत्ति और अहिंसा, सूफियों का आवेगमय प्रेम, बौद्धों का शून्य-सहज, वैष्णवों के राम, हरि, मुकुंद आदि शब्दों का अपने इष्टदेव के लिये प्रयोग, शांकर अद्वैत का मायावाद —जैसी विभिन्न विशेषताएँ एक साथ ही मिलती हैं। अतः स्पष्ट है कि वे किसी विशेष संप्रदाय या मतवाद से संबद्ध होकर नहीं चले। इन उलझनों को दूर करने के लिये कुछ लोग कबीर को तथा उनके अनुयायियों को 'सारग्राही' मात्र मानते हैं तथा किसी सम्प्रदाय विशेष का अनुगामी नहीं मानते। वास्तव में कबीर साहब की रचनाओं में हमें इतने विभिन्न मतों की चर्चा दीख पड़ती है और उनमें से कई की ओर वे इस प्रकार आकृष्ट समझ पड़ते हैं कि उन्हें किसी एक मत विशेष का अनुयायी मान लेना उचित नहीं ठहरता।[१] किन्तु ऐसी स्थिति में कबीर साहित्य से किसी दृष्टि से, किसी भी क्षेत्र में, किसी एक निश्चित विचार या सिद्धान्त पर नहीं पहुँचा जा सकता। अतः ऐतिहासिक और वैज्ञानिक विवेचन की सुकरता के लिए संदिग्ध अथवा असंदिग्ध प्रमाणों को सामने रखकर हम कबीर को रामानंदी संप्रदाय से संबद्ध कर सकते हैं। इस पर भी हमें यह विचार करने का पूरा पूरा अवसर है कि कबीर उस संप्रदाय से संबद्ध होते हुए भी अपने विचारों, साधनों, सांप्रदायिक मान्यताओं आदि के विषय में उस संप्रदाय से कितने भिन्न हैं। सत्य बात यह है कि साधन के क्षेत्र में, जहाँ दीक्षा का प्रश्न आता है, प्रवेश करने के लिये, गुरु की आवश्यकता होती ही है। प्रवेश हो जाने पर अपनी शक्ति की विशिष्टता के अनुकूल साधक गुरु के उपदेशों को ग्रहण कर, उसकी सहायता से अग्रसर होता है। गुरु शिष्य की प्रकृति के अनुकूल उपदेश देता है तथा शिष्य भी अपनी शक्ति और प्रकृति के अनुकूल उसे ग्रहण करता है। ऐसी अवस्था में गुरु का जो सर्वमान्य मत है उससे तथा विकसित शिष्य के मत में अंतर का अवसर रहता ही है। राघवानंद और रामानंद के मत के अंतर का उदाहरण प्रत्यक्ष है। आज जो कबीर की रचनाओं में शुद्ध रूप से किसी मत विशेष का अनुसरण नहीं मिलता उसके कारण स्वरूप इस तथ्य को ध्यान में रखना चाहियें।

---

[१] कबीर साहित्य की परख, पं० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ८६-८७।

पाँचवाँ परिच्छेद

शैवों और वैष्णवों, नाथों और संतों के सांप्रदायिक संबन्ध

गोरख आदि ने जो विभिन्न संप्रदायों का खंडन किया है उसमें उनकी दृष्टि योग और कायसिद्धि पर है। साधनपद्धति (योग) साध्य, और उपास्य (नाथ) के स्वरूप की भिन्नता से यह खंडन की वृत्ति उभरती दिखाई पड़ती है। इसी प्रकार कबीर तथा उन्हीं का अनुसरण करनेवाले दादू, पलटू[1] आदि ने जो विभिन्न संप्रदायों का खंडन और आलोचन किया है, उसमें उनकी दृष्टि नामसाधन, भक्ति और भावमय भगवान् पर ही रही है। शैव, शाक्त आदि अभक्त हैं। वैष्णव भी, जो आडंबरी हैं या केवल 'भेष' की चिन्ता करने वाले हैं, वे सन्त साहित्य में आलोच्य हो गये हैं। जैसा आगे के विवेचन से स्पष्ट होगा, शैव नाथपंथियों का चरम साधन योग है और वैष्णवों का चरम साधन भक्ति है। यह भी यथास्थान आगे कहा गया है कि वैष्णव तंत्रों में, कुछ अवस्थाओं में, योगोपाय को भी ग्रहण किया गया है किन्तु उनका मुख्य साधन भक्ति ही है। इस युग में, बताया जा चुका है कि शैव और वैष्णव संप्रदाय ही प्रभावकर स्थिति में जीवित रहे। जैसे बौद्धों और शैवों का परस्पर आदान-प्रदान प्राचीन युग में संभव हुआ था, उसी प्रकार इस युग में शैवों और वैष्णवों में भी हुआ। इसमें विभिन्न राजनीतिक, सांप्रदायिक, सांस्कृतिक परिस्थितियाँ सहायक हुईं। विभिन्न क्षेत्रों में दोनों प्रमुख संप्रदाय सहयोग करते हुए जीवित रहे। इसका एक संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जायगा। शैवों में, विशेषकर उत्तरी शैवों में ज्ञान और योग मुख्य साधनोपाय हैं किंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि तंत्रों की साधनपद्धति में मंत्र, यंत्र, मकार, योग (कुंडलिनी, लय, हठ, मंत्र आदि) आदि साधनोपाय के रूप में स्वीकृत हैं। तांत्रिक परंपरा इन संप्रदायों से पर्याप्त पुरानी है। इससे इन सभी संप्रदायों में योग का कोई न कोई रूप अवश्य मिलता है। परवर्ती उपनिषद् ज्ञान, योग और भक्ति की समन्वित साधनाप्रणाली का उपदेश करते हैं। इन शैवों और वैष्णवों के योगायोग की परिस्थितियों तथा परिणामों पर नीचे विचार किया जायगा।

---

[1] स्वामी दादू दयाल की वाणी, पं० चन्द्रिका प्रसाद त्रिपाठी, भाग १, पृ० २१४. ३२-३४, संत काव्य, पं० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ५२१-५२२।

बंगाल में शैव धर्म के बढ़ते प्रभाव ने बौद्ध धर्म को त्रस्त कर दिया। बुद्ध का विष्णु के अवतार के रूप में तथा विशेष रूप से धर्मठाकुर के रूप में परिवर्तन हो गया। बंगाल में शिव का गार्हस्थ रूप विशेष प्रिय हुआ जिससे सन्यस्त बुद्ध पर विजय पाने में सरलता हुई।[१] ९वीं ई० श० के उत्तरार्द्ध से लेकर १३वीं ई० श० के उत्तरार्द्ध तक के काल में, दक्षिण में, विशेषकर चोल शासित क्षेत्र में, धार्मिक सहिष्णुता उच्च कोटि की थी। राजराज (९८४-१०१४ ई०) ने तंजोर के शैव मन्दिर के अलंकरण के लिये वैष्णव कथाओं को ग्रहण किया था। उसकी बहिन कुंडवइ ने शैव और वैष्णव दोनों देवताओं के मन्दिर बनवाये थे। कुछ मन्दिर ऐसे भी थे जिनमें एक साथ ही विष्णु और शिव की प्रतिमाएँ स्थापित थीं। ऐसे मन्दिरों में चिदंबरम् का मन्दिर विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। इस मन्दिर के नटराज और गोविन्दराज की प्रतिमाओं की अभिव्यक्ति, अपने याथार्थ रूप में तिरुक्कोवियर की कविता में हुई है जिसमें विष्णु को नटराज के समक्ष उनके उसी रूप का ध्यान करते दिखाया गया है।[२] रामानुज के निष्कासन या दण्डित किये जाने की घटना को लेकर उठे जनविरोध से यह स्पष्ट होता है कि उस समय की जनता संकुचित धार्मिक मनोवृत्ति के विरुद्ध थी। इस प्रकार की वृत्तिवाले अधिराजेंद्र जैसे राजाओं का पतन, ऐसी स्थिति में, स्वाभाविक था। इसके बाद दक्षिण में शैवों और वैष्णवों की घनिष्ठता बढ़ गई तथा उन लोगों ने संगठित रूप से बौद्धों और जैनों के उन्मूलन में संघर्ष किया।[3] उड़ीसा में रणभंज प्रथम (लगभग १०वीं ई० श०) स्तंभेश्वरी और शिव के उपासक थे। भंज राजाओं में अधिकांश शैव ही थे।[४] १२वीं शताब्दी में बंगाल में बल्लाल राज्य कर रहा था। पहले वह बौद्ध था किन्तु बाद में गढ़वाल के जोशी मठ के सिंहगिरि नाम के एक शैव संन्यासी ने उसे शैव धर्म में दीक्षित किया।[५]

---

[१] हिस्ट्री आव बेंगाली लैंग्वेज एण्ड लिटरेचर, दिनेशचन्द्र सेन, पृ० ७५-७८।

[२] दि चोल्स, के० ए० नीलकंठ शास्त्री, पृ० ६४३।

[3] वही, पृ० ६४४।

[४] हिस्ट्री आव ओड़ीसा, आर० बनर्जी, वा० १, पृ० १५३, १६३, १६७, १७३।

[५] दि माडर्न बुद्धिज्म एण्ड इट्स फालोअर्स इन ओडीसा, नगेन्द्रनाथ वसु, पृ० २१।

उड़ीसा में तारानाथ के पूर्व शैवों और बौद्धों, दोनों पर, अनुत्तर योग या हठयोग का समानरूपेण प्रभाव था। लगभग १६वीं ई० श० के वैष्णव कवि बलराम-दास आदि के ग्रंथों से इसकी पुष्टि होती है। अच्युतानन्द और बलराम यद्यपि वैष्णव कवि थे तथापि उनकी रचनाओं में मीननाथ, गोरक्षनाथ, मल्लिकानाथ, वीरसिंह आदि के प्रति पर्याप्त आदर की भावना व्यक्त है।[1] अच्युतानन्द श्री चैतन्य के शिष्य थे।[2] नेपाल के ७वीं ई० श० के एक शिलालेख से पता चलता है कि उस समय वहाँ शैव, वैष्णव और बौद्ध मन्दिर वर्तमान थे।[3] हरिवंश पुराण के एक श्लोक से विष्णु और शिव के एक समन्वित रूप की कल्पना होती है जिसकी पुष्टि दक्षिण की पर्याप्त प्राचीन प्रस्तर कलाकृतियों से, विशेषकर बदामी जैसे स्थानों की कलाकृतियों से, होती है। यह भी स्पष्ट होता है कि हरिहर कभी कम्बुज के प्रधान उपास्य थे। उपास्य का यह रूप दक्षिण में आज भी प्रिय है। एक ग्रामदेवता के रूप में अयेनार (हरिहर का विकसित रूप) आज भी शिव-विष्णु के पुत्र मानकर पूजे जाते हैं। इसी प्रकार ब्रह्मा, विष्णु और शिव की त्रिमूर्ति की भी कल्पना मिलती है।[4]

महाराष्ट्र के वारकरी मत के उपास्य विट्ठल, बिठोवा या पांडुरंग आदि नामों से अभिहित किये जाते हैं। इनमें से प्रथम दो नाम तो निश्चय ही विष्णु शब्द के ही विकास हैं किंतु पांडुरंग शब्द शिव का विशेषण है। पंढरपुर में प्रत्येक वारकरी प्रथमतः वहाँ के एक शिव मंदिर में दर्शन करता है और तत्प-श्चात् बिट्ठल का दर्शन करता है। श्री इलियट की स्थापना है कि बिट्ठल का मंदिर पुरी के जगन्नाथ मंदिर की तरह ही बौद्ध है।[5] इलियट के समान ही स्टीवेंसन ने वारकरी मत पर बौद्ध मत का प्रभाव सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।[6] डा० आर० डी० रानाडे ने बताया है कि ज्ञानेश्वरी के बारहवें अध्याय

[1] वही, पृ० १४४, दि आर्क्योलाजिकल सर्वे आव मयूरभंज, नगेन्द्रनाथ वसु, वा० १, इंट्रो० पृ० २, दि हिस्ट्री आव ओड़ीसा, श्री हरेकृष्ण महताब, पृ० १७२-१७३।

[2] दि हिस्ट्री आव ओड़ीसा—महताब, पृ० १७३।

[3] हिंदुइज्म एण्ड बुद्धिज्म—सर चार्ल्स इलियट, वा० २, पृ० ११६-११७।

[4] वही, पृ० १६४। [5] वही, पृ० २५७।

[6] ज० रा०ए० सो०, सं० १३, लेख 'आन दि इंटरमिक्स्चर आव बुद्धिज्म विथ ब्राह्मणिज्म इन दि रेलिजन आव दि हिंदूज आव डकन' तथा 'एन एकाउण्ट आव दि बुद्धो-वैष्णवज़ ऑर भक्तज़ आव दि डकन।' ले० स्टीवेंसन।

में बिट्ठल की उस मूर्ति का वर्णन है जिसमें उन्होंने शिव को मस्तक पर धारण कर लिया है। तथ्य यह है कि पंढरपुर के बिट्ठल के सिर पर लिंग है जिसका प्रमाण निवृत्तिनाथ तथा उनके परवर्ती रामदास की रचनाओं में मिलता है।[1] ज्ञानेश्वर ने स्पष्टतः कहा है कि विष्णु ने अपने बिट्ठल रूप में अपने सबसे बड़े भक्त शंकर को अपने सिर पर धारण किया है। अभी तक विष्णु की कोई भी ऐसी मूर्ति नहीं मिली है जिसमें शीर्षभाग पर शिवलिंग स्थित हो। अतः पंढरपुर के ही बिट्ठल का वर्णन ज्ञानदेव ने किया है, ऐसा प्रतीत होता है। डा० रानाडे की दृष्टि में ज्ञानदेव अति उदारचेता संत थे जिनके लिए शिव तथा विष्णु अभिन्न थे। उनकी रचना में लिंगोपासना का विरोध या खंडन न होकर उसका विधान मिलता है। लिंग भी उपास्य हो सकता है। शिव या विष्णु के किसी भी नाम का जप वाग्भव तप कहा गया है।[2] इसी प्रकार के विभिन्न प्रमाणों से यह पुष्ट होता है कि ज्ञानेश्वर शैव मत और वैष्णव मत दोनों को समान सम्मान देते थे। लिंगोपासना का विधान उनकी ज्ञानेश्वरी तथा अभंगों, दोनों में, मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि ज्ञानेश्वर की दृष्टि में शिव या विष्णु, किसी की भी उपासना की जा सकती है, किन्तु वह निश्चय ही शुचिता तथा निष्कपट भाव से की जानी चाहिए।[3] डा० रानाडे ने ज्ञानेश्वर के अमृतानुभव का परिचय देते समय उसके ऊपर पड़े शैव प्रभाव का परिचय दिया है। उन्होंने बताया है कि अमृतानुभव पर शिवसूत्रों का प्रभाव स्पष्ट है। उसकी साधनपद्धति या रहस्यवाद कुछ विलक्षण है।[4] इसी प्रकार शैव-वैष्णव प्रभावों का मिश्रण महाराष्ट्र के प्रायः सभी संत कवियों में मिलता है। हिन्दी के मराठी संतों के साहित्य का परिचय देते समय बताया जा चुका है कि महाराष्ट्र के अधिकांश संतकवि जिन्होंने हिन्दी में रचना की है, या तो नाथपंथ में दीक्षित हैं और वैष्णव काव्य रचना करते हैं अथवा दीक्षित न होते हुए भी वे योगोपाय तथा उसकी शब्दावलियों

---

[1] मिस्टीसिज्म इन महाराष्ट्र, डा० आर० डी० रानाडे, पृ० ४०-४१, ज्ञानेश्वरी (हिन्दी अनुवाद) पं० रघुनाथ माधव भगाड़े, अ० १२, श्लोक १९ की टीका, ओबी सं० २१४-२१८, पृ० ३००।

[2] मि० म०, पृ० ४१-४२, ज्ञानेश्वरी (हिं० अ०), अ० १७, श्लो० १४-१५ की टीका, ओबी सं० २०४,२२३, पृ० ४७७-४७८।

[3] मि० म०, पृ० ४२।

[4] वही, पृ० १४२ तथा आगे, पृ० १७८।

का प्रयोग करते हैं एवम् गोरक्षनाथादि के प्रति किसी न किसी प्रकार श्रद्धा व्यक्त करते हैं। विद्वानों ने नाथों और महाराष्ट्र के संतों के साम्प्रदायिक सम्बन्ध पर बड़े विस्तार से विचार किया है जिसका उपस्थित करना यहाँ आवश्यक नहीं है।[1] हिन्दी में रचना करने वाले मराठी संतों में नामदेव का प्रमुख स्थान है। कबीर के पूर्ववर्ती होने के कारण वे और भी महत्वपूर्ण हैं। वे विसोबा खेचर के शिष्य थे तथा विसोबा खेचर स्वयम् नाथपंथी थे। मकालिफ ने ज्ञानदेव या ज्ञानेश्वर को भी नाथपंथी विसोबा खेचर का शिष्य माना है, किन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं दिया है।[2]

इसी प्रकार उत्तरी भारत के भी विभिन्न प्रदेशों में भी वैष्णव कवियों और साधकों ने नाथपंथ का प्रभाव स्वीकार किया है। विद्यापति के विषय में प्रसिद्धि है कि उन्होंने शैव और वैष्णव दोनों प्रकार की रचनाएँ की हैं तथा वे प्राप्य भी हैं। उन्होंने मैथिली में अनेक गानों की रचना की थी जिनमें से कुछ को उन्होंने सर्वप्रथम गोरक्षोपाख्यान (या गोरक्षविजय) नाम के संस्कृत नाटक में संमिलित किया था।[3] वस्तुतः जितने प्रमाण दिये गये हैं उनसे विदित होता है कि विद्यापतिकाल तक भारत के विभिन्न प्रदेशों में शैवों और वैष्णवों में, केवल कुछ अवसरों और स्थानों को छोड़कर परस्पर सहयोग और सम्बन्ध था। खजुराहो के एक शिलालेख (१००० ई० श०) में शिव को एकमात्र ईश्वर तथा विष्णु, बुद्ध जिन आदि को उनका अवतार कहा है। वायु पुराण, विष्णु पुराण आदि में भी शिव-विष्णु की एकता की बात कही गई है।[4] हरि और हर का यह समन्वय आज भी दिखाई पड़ता है। श्री घुरे ने बताया है कि नागा लोगों के सभी अखाड़ों में भोजन के आवाहन के समय 'हरिहर' शब्द का घोष किया जाता है।[5]

---

[1] हिन्दी को मराठी संतों की देन, पृ० ८१-२२४, मि० म०-पृ० २९-३०, ४८ तथा आगे।

[2] दि सिख रेलिजन—मकालिफ, वा० ६, पृ० २७।

[3] ए हिस्ट्री आव मैथिली लिटरेचर, श्री जयकांत मिश्र, वा० १, पृ० १४०, २९२।

[4] शैव मत, डा० यदुवंशी, पृ० १४१, हिन्दी साहित्य—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ३९।

[5] इं० सा०, पृ० २०९।

उत्तरी भारत इस काल (विशेषकर ७५० ई०–१००० ई०) में शैव धर्म से अधिकांशतः आप्लावित था। शक्तिशाली राज्य स्थापित करनेवाले सभी राजपूत राजा शिवोपासक थे। गहलौत, चौहान, राष्ट्रकूट—ये सभी शिवोपासक थे। परमार, चंदेल आदि भी शैव थे। बंगाल के पाल यद्यपि बौद्ध ही प्रसिद्ध थे किन्तु उन लोगों ने शैव मंदिरों का निर्माण कराया था। प्रतिहार लोगों को कभी परमशैव और कभी परमवैष्णव कहा जाता है। वे भगवती के भी भक्त थे।[१] राजपूत राजाओं के इस प्रकार शैव होने के कारण ही नाथ सम्प्रदाय को उन क्षेत्रों में, परवर्ती काल में फैलने का सर्वाधिक अवसर मिला। किन्तु शैव या बौद्ध होते हुए भी धार्मिक सहिष्णुता इन राजाओं में पर्याप्त थी। दक्षिण की तरह असहिष्णुता की कोई भी घटना कभी यहाँ नहीं घटी। तुलनात्मक दृष्टि से, धार्मिक विषयों में, उत्तरी भारत अधिक उदार था। गोविन्दचन्द्र यद्यपि परम शैव थे, फिर भी उन्होंने बौद्धों को दान दिये। बौद्ध मदनपाल ने महाभारत के पाठ के लिए एक ब्राह्मण को दान दिया। शैव, वैष्णव, बौद्ध राजवंशों का भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बी राजवंशों से विवाह सम्बन्ध होता था। गाहड़वाल राजा धार्मिक दृष्टि से अति उदार थे। वे लोग भूमिदानोत्सव के समय परम माहेश्वर होते हुए भी, शिव और विष्णु दोनों की पूजा करते थे।[२]

हिंदी साहित्य के आलोचकों ने जायसी आदि प्रेममार्गी सूफी कवियों की रचनाओं की आलोचना करते समय यह बताया है कि इनकी रचनाओं में हठयोग, योग, रसायन आदि का प्रभाव स्पष्टतः दिखाई पड़ता है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने जायसी पर हठयोग, रसायन आदि का प्रभाव स्वीकार कर कहा है कि यह सब उन्हें सत्संग से मिला था। उस समय साधनात्मक रहस्यवाद अर्थात् हठयोग, तंत्र और रसायन से समन्वित रहस्यवाद भारतवर्ष में प्रचलित था। हठयोग की अधिकांश बातों का समावेश उन लोगों ने अपनी साधनापद्धति में कर लिया।[3] किंतु सूफीमत का ऐतिहासिक अध्ययन करनेवाले विद्वानों का स्पष्ट मत है कि भारत में आने के पूर्व ही सूफी मत पर भारतीय हठयोग, कुंडलिनी साधन, प्राणायाम आदि का प्रभाव पड़ा था।[४] इसी प्रकार शैव योगियों—

---

[१] हिस्ट्री आव मेडिएवेल इंडिया, श्री सी० वी० वैद्य, वा० २, पृ० २०३-२०४।

[२] वही, वा० ३, पृ० ४२९।

[३] जायसी ग्रंथावली, पं० रामचंद्र शुक्ल, भूमिका, पृ० १६३, १७६।

[४] सूफीमतः साधना और साहित्य, श्री रामपूजन तिवारी, पृ० १८३।

योगिनियों पर भी वैष्णव प्रभाव पड़ा था। इस मिश्रण के कारण ही काश्मीर की १४ वीं ई० श० की लल्ला योगिनी की रचनाओं की प्रकृति १५ वीं ई० श० के हिंदी के संत कवि कबीर से समानता रखती है। लल्ला योगिनी या लाल देद या लाल दीदी शैव योगिनी थी। उसके धार्मिक मत का मूल आधार शैव दर्शन था। रामानुज ने इस शैव दर्शन को पराजित करने के लिये काश्मीर की यात्रा की थी और वैष्णव विचारों का प्रचार किया था। वैष्णव विचारों का स्पष्ट प्रभाव लल्ला की रचनाओं में मिलता है। उसके समय में पाशुपत, कापालिक, शाक्त, नाथ आदि का पर्याप्त प्रचार था।[१] डा० ग्रियर्सन ने कबीर और लाल देद के विचारों की तुलना करते समय योगपद्धति, परब्रह्म के शैव-वैष्णव नामों का स्वतंत्र प्रयोग, इनकी अभिन्नता आदि की समता को स्पष्टत: स्वीकार किया है।[२]

इस युग में बहुत से बौद्धों ने वैष्णव धर्म ग्रहण किया था, इसकी ओर पहले ही संकेत किया जा चुका है। उन्हीं के समान ही बहुत से नाथों ने भी वैष्णव धर्म स्वीकार कर लिया था। यह परिवर्तन स्पष्ट रूप से पूर्वी प्रदेशों में विशेषकर बंगाल आदि प्रदेशों में हुआ। इनमें से बाउलों का नाथपंथ से आश्चर्यजनक संबंध मिलता है। बंगला भाषा के आदिम युग से ही बाउलों का अस्तित्व मिलता है। श्री क्षितिमोहन सेन ने बाउलों के घरानों का इतिहास प्रस्तुत करते हुए यह बताया है कि मदन बाउल की सांप्रदायिक परंपरा नित्यनाथ, मूलनाथ और आदिनाथ से संबद्ध हैं। सेन महोदय का अनुमान है कि इन तीन 'नाथ' उपाधिधारी बाउलों के नाम से यह स्पष्ट होता है कि बाउल लोगों का नाथपंथ से पुराना संबन्ध है।[3] इस संबन्ध की पुष्टि एक दूसरे प्रकार से डा० सुकुमार सेन ने की है। उनका कहना है कि बंगाल में नाथमत व्यावहारिक रूप में, इस समय मृतप्राय है। इस मत के अनुयायियों ने अपने को अन्य योगसंबद्ध संप्रदायों में रूपांतरित कर लिया और बाद में वे बाह्य रूप से वैष्णव हो गये। बंगाल का बाउल मत नाथमत का रूपांतरित

---

[१] दि वर्ड आव लल्ला—सर रिचर्ड सी० टेंपल, प्रीफेस और भूमिका, पृ० ११, मूल—८५, ११२, ११०।

[२] ज० रा० ऐ० सो० ग्रे० ब्रि०—१९१८, 'दि बीजक आव कबीर' की जार्ज ए० ग्रियर्सन द्वारा लिखित समीक्षा, पृ० १५७-१५९।

[3] दि विश्वभारती क्वार्टरली, वा० १९, १९५३-१९५४, दि बाउल्स आव बेंगाल—४, ले० क्षितिमोहन सेन, पृ० ६८।

मत है। बाउल लोगों ने नाथों की योगप्रक्रिया अवश्य ग्रहण कर ली है तथा साथ ही उलटबाँसी संपृक्त नाथवाणी की परंपरा को भी ग्रहण कर लिया फिर भी वे बाह्य रूप से अपने उपास्य को कृष्ण, चैतन्य आदि वैष्णव नामों से ही अन्य वैष्णवों की तरह अभिहित करते हैं।[1]

हिंदी साहित्य के विभिन्न कवियों का संबंध नाथपंथ से किसी न किसी प्रकार अवश्य रहा है। उनमें विशेष घनिष्ठ संबंध उनका है, जिनकी विचारधारा की प्रवृत्ति संतों से समता रखती है। मीराबाई को बहुत से विवेचकों ने संतपरंपरा के अंतर्गत ग्रहण नहीं किया है। किन्तु फिर भी मीरा के बहुत से विचार और उक्तियाँ संतों की उक्तियों से समता रखती हैं। पहले ही बताया जा चुका है कि इस युग में शैवों और वैष्णवों में परस्पर विवाह संबंध भी होते थे। राजस्थान के जिस वंश में मीरा का विवाह हुआ, वह उपासना की दृष्टि से शैव था। मीरा अपने साथ कृष्ण भक्ति लाई थीं। मीरा की रचनाओं में योगी के भाव और रूप दोनों के प्रति विशेष अनुराग दीख पड़ता है। राणा परिवार को कुछ लोग वैष्णव, शैव दोनों से प्रभावित मानते हैं। उसमें एकलिंग और भवानी की पूजा सदैव होती रही है।[2] एकलिंग के पुजारी लोग 'गोसाईं' कहलाते थे तथा इन लोगों का संबंध कनफेरा (कनफटा) जोगियों से भी था।[3] इस प्रकार नाथपंथ का प्रभाव राजपरिवार पर पड़ा होगा। योगियों के प्रभाव के द्योतक मीरा के कई पद हैं।[4]

रामानंद का परिचय पहले ही दिया जा चुका है। उनकी शिष्यपरंपरा के अनेक संतों और भक्तों का संबंध-संपर्क नाथसंप्रदाय से हुआ था। रामानंद के १२ शिष्यों ने अलग अलग शाखाएँ चलाईं। इन शाखाओं को 'द्वारा' भी कहते हैं। इनके अतिरिक्त २५ द्वारे और हैं। ये द्वारे उनके स्थापकों के नाम से चलते हैं तथा कभी कभी 'गद्दी' भी कहे जाते हैं। मुख्य गद्दियाँ पंजाब राजस्थान और उत्तर प्रदेश में हैं। रामानंद की ही परंपरा में श्रीकृष्ण-

---

[1] दि कल्चरल हेरिटेज आव इंडिया, वा० ४, 'दि नाथ कल्ट', ले० डा० सुकुमार सेन, पृ० २८०।

[2] मीरां: वृहत् पद संग्रह, पद्मावती 'शबनम', प्राक्कथन, पृ० १८-१९।

[3] एनल्स ऐंड ऐंटिक्विटीज़ आव राजस्थान, कर्नल टाड, पृ० ४११।

[4] मीरां: वृहत् पद संग्रह, प्राक्कथन, पृ० १८-१९, वही, नाथपंथ प्रभावित पद, पृ० २९५-३०४।

दास पयहारी की विशेष प्रसिद्धि है। ये अनंतानंद के शिष्य थे। ये अनंता-नंद रामानंद के शिष्य थे। पयहारी ने जयपुर में निवास करते हुए गलता में १५०४ ई० में गद्दी स्थापित की। कहा जाता है कि जयपुर में शैवों का एक महत्वपूर्ण मठ था। वहाँ के राजा ने उस मठ के तारानाथ का शिष्यत्व स्वीकार किया था। तारानाथ कापालिक योगी थे। श्री घुरे ने यहाँ कापालिक का अर्थ कनफटा लगाया है। श्रीकृष्णदास पयहारी योगक्रियाओं में निष्णात थे।[१] नाभादास ने कृष्णदास की योगनिपुणता का स्पष्ट उल्लेख किया है। स्वयम् पयहारीजी ऊर्ध्वरेता थे तथा उनके शिष्य भी योगवृद्ध साधक थे।[२] कृष्णदास ने तत्कालीन जयपुर की महारानी को, कनफटा योगियों को यौगिक प्रतियोगिता में पराजित कर प्रभावित किया था। बाद में तारानाथ तथा उनके शिष्य चतुरनाथ ने वह स्थान छोड़ दिया और वहाँ कृष्णदास पयहारी का पूर्ण अधिकार हो गया। रामानंदी संप्रदाय में हठयोगसाधन विशेषकर नागा लोगों में स्वीकृत है। संभव है कि कृष्णदास का संबंध नागा लोगों से रहा हो। इस घटना से यह विदित होता है कि धीरे-धीरे किन्तु दृढ़ता के साथ वैष्णव संप्रदाय, शैव संप्रदायों को, विशेषकर नाथपंथियों को अंतर्लीन करते जा रहे थे।[3] भक्तमाल के विभिन्न छप्पयों से यह विदित होता है कि कृष्णदास पयहारी की परंपरा में आनेवाले सभी शिष्यों ने योग और भक्ति का समशील साधन किया था। राजस्थान जैसे नाथपंथियों के गढ़ में अग्रदास को उत्तरा-धिकारी न बनाकर कील्ह को उत्तराधिकारी बनाने में ऐसा प्रतीत होता है कि पयहारी जी की दृष्टि में गलता की गद्दी की सुरक्षा ही थी। कील्ह योग में पर्याप्त निपुण थे। ऐसा अनुमान होता है कि कृष्णदास पयहारी को योग-साधना किसी प्रकार नाथपंथियों से मिली होगी क्योंकि उनके गुरु अनंतानंद केवल भक्त ही थे। भक्तमाल में उनकी योगसिद्धियों की ओर कोई संकेत नहीं है। पयहारी जी द्वारा प्रवर्तित यह तपसी शाखा रामानंदी बैरागियों में योगसाधना के लिए विशिष्ट स्थान रखती है। कील्ह के शिष्य द्वारकादास ने अष्टांग योग का विशेष साधन किया था, जिसका भक्तमाल में उल्लेख है।[४]

संतमत के सर्वप्रथम संप्रदाय सिख मत के ऊपर भी नाथ मत का प्रभाव बताया गया है। ये प्रभाव अधिकांशतः आध्यात्मिक और साधनात्मक हैं।

---

[१] दि इंडियन साधुज़, १८८-१९०।

[२] भक्तमाल, नाभादास, छप्पय सं० ३८–४०।

[3] इं० सा०, पृ० १८९–१९०।

[४] वही, प० १९९, हिं० सा० इ०–शुक्ल जी, पृ० १२१–१२२।

फिर भी सिख धर्म-दर्शन के विवेचकों का कहना है कि सिख मत के ऊपर सबसे अधिक प्रभाव सिद्ध मत या गोरक्षमत का ही है। गुरु ग्रंथ साहब में योगी को गुरु कहा गया है।[१] संत मत में दादू का ब्रह्म संप्रदाय तथा हरिदास निरंजनी का निरंजनी मत नाथ मत से विशेष रूप से संबद्ध माना गया है। संतों में अनेकों का दीक्षागत या अन्य प्रकार का संबंध नाथमत से रहा है। दादूपंथियों की उत्तराढ़ी शाखा दादूपंथ की विशेषता है। बनारसीदास ने इस शाखा की स्थापना की थी। खाकी शाखा के अनुयायी अपने काले वस्त्रों के कारण स्पष्टतः अन्य अनुयायियों से पृथक् किये जा सकते हैं। हठयोगाभ्यास के प्रति विशेष आग्रह होने के कारण दादूपंथियों की इस शाखा पर नाथपंथियों का प्रभाव लक्षित किया गया है।[२] यह हम पहले ही कह चुके हैं कि बाउल संप्रदाय पर नाथपंथियों का सघन प्रभाव है। श्री क्षितिमोहन सेन ने अपने 'दादू' ग्रंथ में तथा मध्ययुगीन भारतीय रहस्यवाद पर लिखे ग्रंथ के परिशिष्ट में दादू और बाउलों की साधनापद्धति तथा विचारधारा का तुलनात्मक अध्ययन कर उनकी समता प्रदर्शित की है। इस संबंध में पहले भी कहा जा चुका है कि दादू से नाथपंथी योगियों की भेंट हुई थी। उनकी रचनाओं में गोरखबानी की कतिपय पंक्तियाँ आवृत्त प्रतीत होती हैं। दादूमत के नाथमत से प्रभावित राजस्थान में विशेष रूप से क्रियाशील रहने के कारण यह प्रभाव अनुमित किया जा सकता है।[३] जंभनाथ कदाचित् नाथपंथ से संबद्ध रह चुके थे। उनके शिष्यों में भी कुछ नाथपंथी जैसे ही जान पड़ते हैं।[४] इसी प्रकार संत वेणी, कीनाराम, दीनदरवेश आदि का भी नाथपंथ से दीक्षागत या प्रभावगत संबंध स्वीकार किया गया है।[५]

संतमत के निरंजनी संप्रदाय का थोड़ा सा परिचय पहले दिया जा चुका है। इस निरंजनी संप्रदाय का सर्वप्रथम उद्घाटन करते हुए डा० बड़थ्वाल ने इसे शुद्ध संत मत से भिन्न माना था। निरंजनी संप्रदाय सर्वथा हिंदू संप्रदाय है। निरंजनी लोग हिंदू देवताओं के प्रति संमान का भाव रखते हैं तथा विभिन्न धार्मिक संप्रदायों के रहते हुए भी विश्वबंधुत्व की कामना करते हैं। विभिन्न देवताओं या अवतारों को निरंजन की ही अभिव्यक्ति मानते हैं

---

[१] फिलासफी आव सिखिज्म—शेरसिंह, पृ० १००–१०४।
[२] इं० सा०, पृ० २२५।
[३] उ० भा० सं० प०, पृ० ४१५।   [४] वही, पृ० २५७, ३७१।
[५] वही, पृ० १०४, ६३०–६३१, ६२२; प्रबंध का 'मराठी संतों का साहित्य' तथा 'संत साहित्य' का परिचय देखिए।

तथा उन देवताओं की पूजा से ऊपर उठने का उपदेश देते हैं। ये पारंपरिक सामाजिक अनुशासन का विरोध नहीं करते। निरंजनी लोगों का दर्शन कबीर के वेदांत से समता रखता है। यह संप्रदाय नाथमत का विकसित रूप है। योग के वेदांत प्रभावित रूप का विकास इसमें हुआ है। यह नाथमत तथा निर्गुण मत का मध्यममार्गी है तथा कबीर, कमाल, दादू जैसे प्रारंम्भिक संतों से, दर्शन के क्षेत्र में, बहुत कम भिन्नता रखता है। रामानंद के वर्ग में इन्हें अच्छी तरह से रखा जा सकता है। उन परवर्ती कबीरपंथियों से इनकी स्पष्ट भिन्नता है जो निरंजन को कालपुरुष मानते हैं।[1] इन निरंजनी लोगों में सर्वप्रथम हरिदास प्रतीत होते हैं जो पहले संभवतः प्रागदास के शिष्य थे। सुन्दरदास ने हरिदास की गणना गोरखनाथ, कंथडनाथ और कबीर आदि की भाँति बड़े पुरुषों में की है। ये गोरख तथा कबीर की वाणियों से विशेष प्रभावित हुए थे। इन्होंने उन दोनों की वंदना भी की है। गोरख को तो ये अपना गुरु मानते थे। निरंजनियों में प्रेमतत्त्व का महत्व योगतत्व से किसी मात्रा में कम नहीं है। नाभादास के भक्तमाल के ढंग पर लिखे गये परवर्ती भक्तमाल के रचयिता राघोदास ने निरंजनियों को कबीरादि से पृथक् माना है। डा० बड़थ्वाल ने विस्तार से भेदों को बतलाया है।[2] इन विवेचनों की सारवत्ता, प्रामाणिकता तथा डा० बड़थ्वाल की स्थापना के विषय में विद्वानों को शंका है। पं० परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार 'निरंजनी संप्रदाय की अबतक उपलब्ध रचनाओं के अध्ययन से ऐसी कोई भी विशेष बात लक्षित नहीं होती जिसके आधार पर हम इसे, डा० बड़थ्वाल के शब्दों में नाथपंथ एवं संत संप्रदाय के बीच की एक महत्वपूर्ण कड़ी मान लें। इस संप्रदाय के प्रमुख प्रवर्तक हरिदास अपनी रचनाओं में कबीर को कहीं कहीं अपना आदर्श मानते हुए भी दीख पड़ते हैं और इन दोनों संतों के सिद्धान्तों व बहुत कुछ साधनाओं में वैसी भिन्नता न होने के कारण भी उक्त कथन को अधिक महत्व देना उचित नहीं जान पड़ता।'[3] इन विवादों के होते हुए भी इतना निश्चित है कि निरंजनी मत का नाथ मत से घनिष्ठ संबन्ध था। कहा जाता है कि हरिदास निरंजनी पहले दादू के शिष्य थे, पर बाद में वे कबीर पंथ और नाथपंथ से

---

[1] दि नि० स्कू० हिं० पो०—प्रीफेस, पृ० २—३।

[2] मकरंद—डा० बड़थ्वाल, पृ० १६५-१६७, १७१, १७३—१७४।

[3] हिं० का० नि० सं०, भूमिका, पं० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ३१—३२।

प्रभावित हुए।[१] श्री क्षितिमोहन सेन ने बताया है कि उड़ीसा में अब भी निरंजन मत का प्रभाव है तथा इस धर्ममत ने उड़ीसा से मध्यदेश तथा भारत के पूर्वी भागों में संक्रमण किया। इन प्रदेशों में वह अब शक्तिहीन हो गया है। कबीर की रचनाओं से उन्होंने अनुमान लगाया है कि एक समय यह धर्ममत राजपूताना, उत्तर पश्चिमी पंजाब आदि में बहुत प्रचलित था।[२] सेन महोदय ने इसके लिये कोई ऐतिहासिक या पुस्तकीय प्रमाण नहीं दिया है कि यह संप्रदाय उड़ीसा में उदित हुआ तथा वहाँ से ही यह मध्यदेश में आया। यह भी ठीक ठीक कहना कठिन है कि उड़ीसा के निरंजन मत तथा इस निरंजनी मत में क्या समता-विषमता है। यह मत नाथों और संतों के बीच की कड़ी है, ऐसी संभावना भी हो सकती है।[३] निरंजनी संप्रदाय में निपट निरंजन का नाम आता है।[४] महाराष्ट्र में, हिन्दी की रचना करनेवाले संतों में एक निपट निरंजन का नाम आता है। वहीं के हिंदी संत कवि मध्व मनीश्वर की भेंट निपट निरंजन नामक संत से औरंगाबाद में हुई थी। कवि काव्य सूचीकार ने मध्व मुनीश्वर का जन्म शक संवत् १६११ (लगभग १६९० ई०) में बतलाया है।[५] मराठी संतों में निरंजन नाम के कई व्यक्ति उपलब्ध हैं—निरंजन, निरंजन रघुनाथ, निरंजनदास, निरंजन बुआ, निरंजन माधव और निरंजन स्वामी। सातवें निरंजन अपनी हिन्दी रचनाओं में सदा निपट निरंजन की छाप लगाते हैं।[६] इस निपट निरंजन का समय और स्थान ज्ञात नहीं है। अतः इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि लगभग १८वीं ई० श० के प्रारम्भ में एक निपट निरंजन नाम के व्यक्ति वर्तमान थे जिनका दक्षिण के औरंगाबाद से कुछ संबन्ध था। हिंदी के निरंजनी मत के निपट निरंजन तुलसी के समकालीन थे तथा उनका जन्म संवत् १६५० (लगभग १५४० ई०) भी बताया गया है।[७] यदि निपट निरंजन तुलसी के समकालीन थे तथा दौलताबाद के निवासी थे तो संभावना हो सकती है कि ये निपट निरंजन

---

[१] उ० भा० सं० प०, पृ० ४३२, सुन्दर ग्रंथावली—पुरोहित हरिनारायण शर्मा, प्र० खं०, जीवन चरित, पृ० ९२।

[२] मे० मि० इं०, पृ० ६९–७०।

[३] उ० भा० सं० प०, पृ० ४६१।

[४] वही, पृ० ४६७।

[५] हिं० म० सं० दे०, पृ० १९७।

[६] वही, भूमिका, पृ० ञ–ट।

[७] उ० भा० सं० प०, पृ० ४६७–४६८।

मराठी निपट निरंजन से अभिन्न हों। पूरी सामग्री के अभाव में कुछ निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। भगवानदास निरंजनी का भी निरंजनी संप्रदाय में महत्वपूर्ण स्थान है इन्हें नागाअर्जुन अथवा अर्जुनदास का शिष्य बताया गया है।[१] नागा अर्जुन नाम के एक नाथसिद्ध की कुछ वाणियाँ भी मिलती हैं। द्विवेदी जी ने नागा अर्जुन को गोरक्षनाथ का ईषत् परवर्ती अनुमित किया है।[२]

इस संपूर्ण विवेचन का निष्कर्ष यह है कि नाथ शैव हैं तथा रामानंदादि और उनकी शिष्य परंपरा के लोग वैष्णव। शैवों में नाथों का संबंध पाशुपतों से है। परवर्ती काल में, लगभग १०-११ वीं ई० श० में, कापालिक, लकुलीश, कालामुख आदि धीरे धीरे अपनी स्वतंत्र सत्ता खो रहे थे तथा इनमें से कापालिक अघोरी आदि किसी न किसी प्रकार नाथपंथियों में रूपांतरित होकर नाथपंथियों की १२ शाखाओं में बाद में संगठित हो गये। इन शैवों में तांत्रिक तत्व अधिक थे। दूसरी परंपरा आगमी शैवों की थी जिनमें वीर शैव, काश्मीर शैव आदि प्रमुख थे। काश्मीर शैवों का दर्शनपक्ष अधिक प्रबल था। तंत्रों का प्रभाव इनपर भी था। एक तीसरी परंपरा जो शैवों की थी, उनमें दशनामी थे। इनका संगठन शंकराचार्य ने किया था। कहा जाता है कि इनमें वैदिक तत्व अधिक थे, इसीलिये कभी कभी लोग इन्हें वैदिक शैव संन्यासी कहते हैं तथा इनसे भिन्न नाथपंथी आदि को तांत्रिक शैव संन्यासी कहा जाता है। नाथपंथियों में कनफटा शैव संन्यासी प्रबल और संगठित थे। तंत्र और पाशुपत मत की मिश्रित परंपरा इनमें मिलती है। पाशुपत मत का भी अपना दर्शन था जिसका पहले शंकराचार्य ने खंडन किया था तथा बाद में माधवाचार्य ने पाशुपत दर्शन पर, सर्वदर्शनसंग्रह में लिखा था। साधन की दृष्टि से तंत्रों के योगादि साधन महत्वपूर्ण हैं। इस प्रकार नाथों की परंपरा और संप्रदाय को ध्यान में रखते हुए पाशुपत दर्शन, तंत्र साधन तथा नाथपंथियोंके अपने दार्शनिक-साधनात्मक ग्रंथों का विचार किया जा सकता है।

इस युग का दूसरा प्रधान धर्म वैष्णव था। रामानुज के पूर्व भागवत धर्म था। सात्वत धर्म, पांचरात्र मत, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, भगवद्गीता—इन सबका समन्वित संबल तथा आल्वारों की भावनामयी भक्ति का आधार लेकर रामानुज ने वैष्णव मत का शास्त्रीय रूप उपस्थित किया। रामानुज का मत

---

[१] वही, पृ० ४६८।

[२] नाथ सिद्धों की बानियाँ, पृ० ६७, भूमिका, पृ० २१।

इस दृष्टि से तांत्रिक हैं। स्वयम् पांचरात्र मत को, पांचरात्र संहिताओं को तंत्रप्रभावापन्न कहा गया है। पांचरात्र पद्धति को प्रतिष्ठित करने का कार्य रामानुज ने किया था। इस पांचरात्र मत से नारद का विशेष संबन्ध है। महाभारत के शांतिपर्व के नारायणीयोपाख्यान में वर्णित ऐकांतिक धर्म में नारद महत्वपूर्ण व्यक्ति प्रतीत होते हैं। नारद पांचरात्र और नारद भक्तिसूत्र भक्ति मत के अति महत्वपूर्ण ग्रंथ माने जाते हैं। इस प्रकार रामानुज का श्री वैष्णव संप्रदाय, जिसमें लक्ष्मी नारायण उपास्य थे, दक्षिण में सामान्य रूप से तथा उत्तर में केवल पंडित समाज में प्रचारित हुआ। दक्षिण में रामानुज मत में रामोपासना भी प्रचलित थी। आल्वार भक्तों में भी रामोपासक थे। अध्यात्म रामायण, अगस्त-सुतीक्ष्ण-संवाद आदि का निर्माण हो चुका था। राघवानंद रामानुज की परंपरा में थे। वे उत्तर में काशी में आकर बसे और रामानंद को रामभक्ति का उपदेश दिया—श्रीवैष्णव सम्प्रदाय में दीक्षित किया। आचारगत विचारों की भिन्नता से रामानन्द को भिन्न सम्प्रदाय प्रवर्तित करना पड़ा। इस नवीन प्रवर्तित सम्प्रदाय में, जिसे रामानुज के श्रीवैष्णव सम्प्रदाय की ही एक शाखा कह सकते हैं, कबीरादि का उदय हुआ। रामानन्द के सम्प्रदाय में रामभक्ति के साथ नारद के ऐकांतिक धर्म या नारदीया भक्ति का विकास हुआ जिसका दार्शनिक आधार रामानुज दर्शन था।

शैवों और वैष्णवों के पृथक् पृथक् विकास तो होते ही रहे किन्तु इन शैव-वैष्णव सम्प्रदायों में परस्पर सम्पर्क और मिश्रण भी होता रहा। इन दोनों मतों को एक साथ राज्याश्रय मिलता, इनके उपास्य एक साथ ही पूजित होते। सामान्य जनता समान रूप से इनके प्रति एक साथ श्रद्धा पुष्प चढ़ाती। इसी के परिणामस्वरूप महाराष्ट्र के संतों का वर्ग विकसित हुआ। विलक्षण विट्ठलदेव की कल्पना हुई। नाथपंथियों का रूपान्तर वैष्णव बाउलों में हुआ। हिन्दी के निरंजनी सम्प्रदाय में भक्ति और योग का समन्वय हुआ। शिव और विष्णु के प्रति समान रूप से सम्मान की भावना व्यक्त हुई। सांप्रदायिक और सामाजिक क्षेत्रों में हरिहर की समन्वित मूर्ति के आदर्श की प्रतिष्ठा हुई। विभिन्न वैष्णव नाथपंथी बने। वैष्णवों और शैव कापालिकों में भी सम्पर्क हुआ। विभिन्न सूफी वैष्णव, शैव या नाथपंथी बने। यह सब युगीन धार्मिक सहिष्णुता का सुफल था। इस प्रकार के धार्मिक-साम्प्रदायिक वातावरण में कबीर का अभ्युदय हुआ। उस समय के प्रायः सभी सम्प्रदायों पर किसी न किसी प्रकार योग का प्रभाव पड़ा था। तांत्रिक योग, हठयोग

आदि का शैवों से पुराना संबन्ध था। भागवत मत का भक्ति से पुराना सम्बन्ध था। श्वेताश्वतर उपनिषद् में शिवभक्ति के संकेत मिलते हैं। महाभारत में नारायणभक्ति का निर्वचन है। कबीर तथा उनके कुछ अनुयायियों का जातिगत सम्बन्ध नाथपंथियों से था। पर बाद में उनका दीक्षागत सम्बन्ध वैष्णवों से हुआ। इस प्रकार योग, भक्ति, उनका समन्वय, सांप्रदायिक परंपरा, इन सबका विकास हुआ। इनका समन्वय सम्पर्क ही कबीर के विविध रूपात्मक व्यक्तित्व का, जिसकी अभिव्यक्ति उनके साहित्य में हुई है, प्रकाशन करता है।

—०००—

छठाँ परिच्छेद

भक्ति का विकास

अँगरेज विद्वानों ने आधुनिक काल में अँगरेजी भाषा में 'भक्ति' के ऊपर पर्याप्त परिमाण में लिखा है। विभिन्न भारतीय विद्वानों ने भी भक्ति का विवेचन करते समय अधिकांशतः उन्हीं का अनुसरण किया है। भक्ति मार्ग पर लिखते समय डा० ग्रियर्सन ने जो अपने विचार व्यक्त किये उसी का बाद में अनेक प्रकार से खंडन-मंडन-संशोधन-परिवर्द्धन होता रहा। उनके अनुसार भक्तिमार्ग नाम हिंदू मत के उन संप्रदायों के लिए प्रयुक्त होता है जो मुक्ति के साधन के रूप में केवल भक्ति को ही स्वीकार करते हैं। इस भक्ति को उन्होंने 'डिवोशनल फेथ' कहा है।[1] यह मार्ग ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग से विपरीत है। आधुनिक वैष्णव हिंदू धर्म के मूलाधार के रूप में उन्होंने इस मार्ग को ग्रहण किया है। भक्ति के मूल भज् धातु से निष्पन्न शब्द 'भगवत्' और 'भागवत्' हैं। परमोपास्य के लिए 'भगवत्' और परमोपास्य के प्रति भक्ति करनेवाले व्यक्ति के लिए 'भागवत' शब्द का प्रयोग किया गया है। अँगरेजी में इसे क्रमशः 'एडोरेबुल' और 'वर्शिपर आव दि एडोरेबुल' कहा गया है। शांडिल्य को उद्धृत कर बताया गया है कि परमोपास्य के गुणों के ज्ञान से, एक विशेष प्रकार की शक्ति के रूप में 'अनुरक्ति' का उदय होता है। इस 'भक्ति' शब्द की परिभाषा करनी अति कठिन है। प्रायः इसे 'फेथ' (डिवोशनल फेथ—भक्ति प्रपूरित प्रतीति) शब्द से व्यक्त किया जाता है। अकेला 'फेथ' शब्द तथा अकेला ही 'डिवोशन' शब्द 'भक्ति' के पूरे अर्थ को व्यक्त करने में असमर्थ है। डा० ग्रियर्सन के इस पद को हम अपने शब्दों में यों कह सकते हैं—भक्ति प्रतीति के उत्पन्न हो जाने पर उदित होती है। 'डिवोशन' (उपासना) यद्यपि भक्ति का एक आवश्यक तत्त्व है तथापि यहाँ सांप्रदायिकों द्वारा निर्दिष्ट किया जानेवाला भाव गृहीत है। डा० ग्रियर्सन के 'डिवोशन' शब्द का 'उपासना' तथा 'फेथ' शब्द का 'प्रतीति' पर्याय स्वीकार किया जाय तो 'भक्ति वह भाव है जिसकी निष्पत्ति उपासना और पूर्ण प्रतीति की निष्पत्ति हो जाने पर होती है।

---

[1] 'डिवोशनल फेथ' शब्द से भाव, श्रद्धा, उपासना और प्रतीति इन सबकी ओर एक साथ संकेत प्रतीत होता है।

भक्ति की उत्पत्ति के विषय में डा० ग्रियर्सन ने बताया है कि 'प्रतीति' के आलंबन के रूप में एक सगुण उपास्य (पर्सनल डिटी) की आवश्यकता होती है। प्रारंभिक उपनिषदों में बहुदेववादी ब्राह्मणवाद का प्रकाशन हुआ है। इससे इस भाव की कोई तुलना नहीं की जा सकती। बाद में ई० पू० चतुर्थ शताब्दी में बौद्ध ग्रंथों में 'ईश्वरोन्मुख प्रेम' के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग मिलता है। पाणिनि और श्री मद्भगवद्गीता (ई० पू० की प्रथम दो शताब्दी) में इस शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग मिलता है। 'भक्तिप्रपूरित प्रतीति' से केवल 'सगुण या उपास्य' का ही बोध नहीं होता अपितु 'एक ईश्वर' का भी बोध होता है। यह वस्तुतः भक्ति के धार्मिक अर्थ का ही एकेश्वरवादी दृष्टि-कोण है। इस धार्मिक अर्थ में प्रयुक्त भक्ति शब्द ई० पू० चतुर्थ शताब्दी के पूर्व का नहीं है। इस भारतीय एकेश्वरवाद का उदय आर्यों के मध्यदेश से बाहर के प्रदेश में हुआ था। इस बाह्यदेश में मध्यदेश की तरह ही आर्य रहते थे। आर्यों के समाज में ब्राह्मणों की तरह दूसरा महत्त्वपूर्ण वर्ग क्षत्रियों का था। बाह्यदेश में ही अनीश्वरवादी सांख्य दर्शन का उदय हुआ। इसके पुरस्कर्ता क्षत्रिय थे। इसी बाह्य देश में महावीर और शाक्यसिंह नाम के दो क्षत्रिय महापुरुषों ने जन्म लिया। इन दोनों व्यक्तियों ने क्रमशः जैन और बौद्ध धर्मों का प्रवर्तन किया। ईस्वी युग के पूर्व के हजार वर्षों में जब मध्यदेश के ब्राह्मणों द्वारा बहुदेववादी ब्राह्मणवाद का विकास किया जा रहा था तब क्षत्रियों के नेतृवर्ग (जैसे जनक) ने एकेश्वरवाद का विचारप्रवर्तन किया। ग्रियर्सन साहब को यह अधिक संभव प्रतीत होता है कि यह एकेश्वरवादी पूजा और उपासना सूर्यपूजा का ही विकास थी। यह सूर्यपूजा भी ईरानी और भारतीय आर्यों को समानरूपेण वंशानुक्रम से प्राप्त थी।[१]

इस सूर्यपूजा के संबन्ध में कुछ तथ्य भी उपस्थित किये गये हैं। कहा गया है कि इस एकेश्वरवादी भागवत धर्म के संस्थापक कृष्ण वासुदेव क्षत्रिय थे। इनका संबन्ध बाह्यदेशीय यादव जाति के सात्वत कुल से था। महाभारत में इनका द्विपक्षीय व्यक्तित्व दिखलाई पड़ता है एक सुधारक का तथा दूसरा योद्धा का। इन्होंने उपास्य को भगवत् तथा उपासक को भागवत कहा। इस धर्म का सर्वप्रथम अनुसरण सात्वतों ने ही किया और फिर धीरे धीरे यह देश के बड़े भूभाग में फैल गया। चतुर्थ ई० श० के पूर्व ही अन्य धर्मप्रवर्तकों की

---

[१] इं० रे० ए०, वा० २, पृ० ५३९–५४०, जार्ज ए० ग्रियर्सन लिखित 'भक्तिमार्ग' लेख।

तरह ही वासुदेव कृष्ण को दिव्यता प्रदान की गई। उनके वंशगत नाम वासुदेव के साथ उपास्य का नाम भी संबद्ध हो गया। अपने मूल रूप में यह धर्म शुद्ध रूप से एकेश्वरवादी था। वासुदेव ने अपने उपदेश में परमेश्वर को असीम, नित्य और कृपालु बतलाया था। उनके समीप में ही आनन्दमय जीवनयापन को मुक्ति बतलाया था।[1]

इस भागवतधर्म के विकास की, ग्रियर्सन साहब ने, अवस्थाएँ बतलाई हैं। प्रथम अवस्था में अनीश्वरवादी सांख्यमत ने इस धर्म को उसी प्रकार प्रभावित किया जिस प्रकार उसने जैन धर्म और बौद्ध धर्म को प्रभावित किया था। ये सभी क्षत्रियों द्वारा संस्थापित थे। अन्तर यह था कि भागवत धर्म ईश्वरवादी था। अनीश्वरवादी सांख्य और ईश्वरवादी भागवत धर्म के बीच योगदर्शन ने सेतु के रूप में कार्य किया। योग दर्शन नैतिकता और सदाचार का उपदेश देता है। भागवत धर्म को नैतिक प्रवृत्ति ने सांख्य के इस योगपरक रूप के साथ संधि की, उसके प्राचीन रूप के साथ नहीं। द्वितीय अवस्था में इस भागवत धर्म का मध्यदेशीय ब्राह्मण धर्म में लय हो गया। इस लयक्रिया में दो प्रक्रियाएँ हुईं—(१) प्राचीन वैदिक सूर्य देवता विष्णु से वासुदेव कृष्ण की अभिन्नता निष्पन्न हुई तथा (२) क्षत्रियों के धार्मिक एकेश्वरवाद की आस्तिकता को स्वीकृति प्रदान की गई। इस प्रकार भागवत धर्म ब्राह्मण विरोधियों का ब्राह्मणीकृत संप्रदाय हो गया। इस ब्राह्मणीकृत संप्रदाय की इस दूसरी अवस्था में ग्रियर्सन महोदय ने अवतारोपासना, शक्ति की उपासना तथा बहुदेवोपासना से संबद्ध एकेश्वरवादी भागवत धर्म का परिचय दिया है।[2]

ब्राह्मणवाद से संधित होने से प्रथम प्रभाव तो यह पड़ा कि इसमें उपास्य और उपासक के बीच का व्यवधान अधिक हो गया। उपास्य अपेक्षाकृत कम स्पष्ट हो गया। ग्रियर्सन साहब को ऐसा विश्वास होता है कि उस काल में 'अलक्ष्य को लक्षित' करने का एक स्वर उठा था। इसका परिणाम यह हुआ कि भागवत धर्म, उपासकों के हृदय में उठनेवाली 'सगुण उपास्य' की इच्छा को पूर्ण करने में असफल होने लगा। इस आवश्यकता की पूर्ति अवतारवाद के विकास से हुई। उपास्य को विभिन्न रूपों में अवतार लेनेवाला बतलाया गया। यह अवतार विभिन्न अवसरों पर विभिन्न उद्देश्यों को लेकर होता है। उपासक की भक्ति भावना भगवान् के स्थान पर उसके अवतार की

[1] वही, वा० २, पृ० ५४०–५४१।
[2] वही, वा० २, पृ० ५४१–५४२।

ओर निर्दिष्ट कर दी गई। इस प्रकार का अवतार संबंधी विचार भारत में बहुत पुराने काल से मिलता है। वैदिक संहिता में बहुत सी ऐसी कथाएँ मिलती हैं जिनके अनुसार कभी ब्रह्मा, कभी विष्णु या कभी इन्द्र विश्वविजय के लिये या देवताओं की रक्षा के लिये अवतार लेते थे। जब भागवत धर्म ब्राह्मण धर्म में गृहीत हुआ तब से विभिन्न देवताओं से संबद्ध ये विभिन्न अवतार संबंधी कथाएँ हटा दी गईं और सब सौर देवता विष्णु में ही केंद्रित कर दिये गये। विष्णु के अवतार मत्स्य, कच्छप, शूकर, नरसिंह, वामन आदि के रूप में हुए। फिर बाद में वीर नायकों को भी इस सूची में जोड़ दिया गया। ये नायक या वीर पहले तो अर्द्धदेवता के रूप में कल्पित हुए थे फिर बाद में पूर्ण मानव के रूप में स्वीकार किये गये। इन वीरों या नायकों में ही राम, कृष्ण और बुद्ध की गणना की गई थी। ब्राह्मण आस्तिकवाद से गृहीत अवतारों की संख्या दस थी जिसमें राम और कृष्ण क्षत्रिय थे। ये दोनों नाम बाद में जोड़े गये। वासुदेव कृष्ण की तरह ही राम भी बाह्यदेश के प्रसिद्ध क्षत्रिय नेता थे। सूर्यवंशी राम जनक के दामाद थे। भागवतों के लिये राम और कृष्ण स्वभावतया प्रिय अवतार थे। किंतु बाद में परवर्ती ग्रंथों में यह सूची पर्याप्त विस्तृत हो गई। कहा गया है कि परमोपास्य ने कम-से-कम चौबीस बार अवतरण किया है। ये अवतार, इस प्रकार, प्रत्यक्ष उपासना के विषय बन गये।[१]

इसके साथ ही चित् शक्ति का भी विचार उदित हुआ। जैसे विष्णु को परमोपास्य से अभिन्न मान लिया गया उसी प्रकार उनकी देवी भी उनकी चित् शक्ति के रूप में स्वीकार कर ली गई। इन दोनों को अभिन्न मानते हुए भी उनकी चित् शक्ति को भिन्न स्वीकार कर लिया गया। विभिन्न शास्त्रीय ग्रंथ लक्ष्मी के संबंध में मौन इसलिये हैं कि वे स्वीकार करते हैं कि जो कुछ भी विष्णु ने किया है, वस्तुतः वह उनकी चित् शक्ति ने किया है। अतः जब हम विष्णु का वर्णन करते हैं तो हम प्रकारान्तर से उनकी चित् शक्ति का ही वर्णन करते हैं। इस प्रकार भागवत धर्म के एकेश्वरवादी उपास्य के 'एकत्व' में ही त्रयत्व है—स्वयम् ब्रह्म रूप, अवतार और उसकी चित् शक्ति। इस त्रय में ईसाई त्रय से समता दिखाई पड़ती है। इस भागवत त्रय का विकास ईसाई मतवाद के त्रय के प्रभाव के अंतर्गत हुआ।[२]

---

[१] वही, वा० २, पृ० ५४२।

[२] वही, वा० २, पृ० ५४२।

इस दूसरी विकास की अवस्था में जो तीसरी विशेषता परिलक्षित हुई उसका संबंध बहुदेववाद से था। इस भागवत एकेश्वरवाद के साथ ही ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि महत् देवताओं को उपास्यों के रूप में स्वीकार करनेवाले इतर संप्रदाय भी लगे हुए थे। भागवत धर्म ने इन संप्रदायों के धर्मान्तरितों को इनके उपास्यों से विच्छिन्न करने के लिये कोई प्रयत्न नहीं किया। विष्णु भागवतों के परमोपास्य से अभिन्न मान लिये गये थे। ब्रह्मा को कुछ निम्न-स्थान देकर उनको अनित्य जीव के रूप में स्वीकार कर लिया गया। कहा गया कि विष्णु ने ब्रह्मा को विश्वसृष्टि के परिवर्द्धन के लिये उत्पन्न किया है। भयंकर देवता शिव या रुद्र को रक्तमय यज्ञों से संतुष्ट किया गया। इस देवता के उपासक बाह्यदेश में बहुत अधिक संख्या में पाशुपतों के रूप में थे। ये भी वहाँ, प्राचीनकाल में, भागवतों की तरह ही सांख्ययोग से प्रभावित हुए थे। महाभारत में रुद्र और परमोपास्य वासुदेव के बीच होनेवाले घोर युद्ध का वर्णन है जिसमें ब्रह्मा के बीच में पड़ने से रुद्र किसी प्रकार शांत हुए थे तथा परमोपास्य वासुदेव की श्रेष्ठता को स्वीकार किया था। वहाँ उपास्य कृष्ण ने रुद्र से कहा था—'जो मुझे जानता है तुम्हें जानता है, जो तुम्हारा अनुसरण करता है वह हमारा अनुसरण करता है। हम दोनों में कोई भेद नहीं है।' तात्पर्य यह कि भागवतों ने शिव को भी अपने परमोपास्य का एक रूप माना। हिंदू बहुदेववाद के अन्य देवता भी इसी प्रकार सरलतापूर्वक रूपांतरित कर दिये गये। वे परमोपास्य के लघु जीवों के वर्ग में गिन लिये गये, उनको विशिष्ट शक्तियाँ एवं अधिकार परमोपास्य की इच्छा को कार्यान्वित करने के लिये प्रदान किये गये।[1]

इस प्रकार भागवत धर्म ने स्वयम् यद्यपि ब्राह्मण सर्ववाद को स्वीकार कर लिया तथापि वे तब भी नामतः सांख्ययोग के व्याख्याता थे। परिणामतः इन दो विरोधी विचारधाराओं के समन्वय के प्रयत्न होते रहे। एक ओर तो यह माना गया कि प्रत्येक वस्तु उस एक परमतत्व का एक अंश है। इसी के आधार पर एक अव्यवस्थित सर्ववाद की स्थापना हुई। दूसरी ओर अचित् और चित् में तात्विक भेद स्वीकार किया गया। इन दोनों के आधार पर एक व्यवस्थित द्वैतवाद की स्थापना हुई। प्रथम प्रकार का प्रयत्न भगवद्गीता में स्पष्ट हुआ। बाद में सांख्योपदेशक पंचशिख, राजा जनक, संन्यासिन् सुलभा के नाम से भी अनेक प्रयत्न होते रहे। इन सबका समाहार भागवत पुराण के

[1] वही, वा० २, पृ० ५४२–५४३।

तीसरे स्कन्ध में हुआ। यद्यपि ये दोनों विचारधाराएँ एक दूसरे से सर्वथा भिन्न थीं तथापि इनके समन्वय में पौराणिक सांख्य का दर्शन हुआ। इसका सबसे अधिक परिवर्तनकारी परिणाम था भक्ति के अर्थ में परिवर्तन। भक्ति का अर्थ विचारेकाग्रता था जो बाद में 'डिवोशन' के रूप में परिणत हो गया। भगवद्गीता में ही यह पारिभाषिक शब्द कर्मयोग (कर्त्तव्य का निष्काम संपादन) और ज्ञानयोग (धर्म का केवल सैद्धांतिक पक्ष) में विभाजित हो गया। बाद में पौराणिक सांख्ययोग के प्रभाव से तीन प्रकार के योगों का परिचय मिला—कर्मयोग नैतिक कर्मों का निष्काम अभ्यास न होकर धार्मिक विधिपरक व्रतों का सेवन हो गया। इनसे चित्त-शुद्धि की प्राप्ति तथा ज्ञान-योग की उपलब्धि स्वीकार की गई। यह ज्ञानयोग परमोपास्य में चित्त की एकाग्रता माना गया। इसी ज्ञानयोग से उस भक्तियोग की अंततः उपलब्धि मानी गई जिसमें भक्त केवल प्रतीति से पूर्णतया आपूर हो जाता है एवं केवल 'भगवत्' का ही दर्शन करता है।[१]

ईस्वी युग के एक हजार वर्ष के अन्त तक का विकास इस प्रकार हुआ। ९ वीं ईस्वी शताब्दी के प्रारंभिक भाग में प्रसिद्ध सर्ववादी दार्शनिक शंकर ने मध्यदेशीय ब्राह्मण धर्म को एक व्यवस्थित रूप प्रदान कर अपेक्षाकृत अधिक कठोरता ग्रहण की और वेदान्त दर्शन की प्रतिष्ठा की। उन्होंने उस भागवत एकेश्वरवाद पर भी सोत्साह आक्रमण किया जिसे ब्राह्मण धर्म ने आस्तिक मत के रूप में स्वीकार कर लिया था। इस प्रकार की स्वीकृति से, एक ओर तो, शांकरवादियों की ईर्ष्या का उद्दीपन हो रहा था, दूसरी ओर शंकर द्वारा अपमानित होने के कारण भागवत लोग रक्षात्मक स्थिति ग्रहण कर रहे थे। इसके साथ ही उनकी यह क्रिया दो भिन्न धाराओं के प्रत्याक्रमण के रूप में भी व्यक्त हुई। एक ओर वे ब्राह्मण धर्म के साथ प्राचीनकाल में की गई संधिके प्रति सचेष्ट रहे और शंकर के तर्कों के साथ केवल वहीं तक संघर्ष करते रहे जहाँ तक प्राचीन ब्राह्मण उपदेशों के अर्थनिरूपण में वैषम्य रहा। दूसरी ओर अन्ततोगत्वा ब्राह्मण धर्म के साथ की गई संधि विच्छिन्न कर दी गई और उस प्राचीन सांख्ययोग की ओर पुनः उन्मुख हुए जिसका परित्याग या आंशिक परित्याग उन लोगों ने ब्राह्मण धर्म के पक्षपात के कारण कर दिया था। यह विवाद १२ वीं ई० श० में दो प्रत्याक्रमणों की दो धाराओं के प्रतिनिधियों-रामानुज और मध्व के रूप में पूर्णता को पहुँचा। ये दोनों ही दक्षिण भारतीय थे।[२]

---

[१] वही, वा० २, पृ० ५४३।   [२] वही, वा० २, पृ० ५४३।

विकास की तृतीय अवस्था में सिद्धान्तों का निरूपण हुआ। प्रथमतः यह एकेश्वरवादी है। इनका उपास्य अति कृपालु है। इस ईश्वर को ही नारायण, पुरुष, वासुदेव आदि नामों से पुकारा जाता है। उस ईश्वर को वे अनन्त, अच्युत और अविनाशी कहते हैं। उसी को प्रकृति में से, जिसे सांख्ययोग में प्रधान और अव्यक्त कहा जाता है, सबकी सृष्टि करने वाला मानते हैं। यह प्रकृति अनन्त काल से स्वतन्त्र भाव से सत्तावान है। यद्यपि वह परमेश्वर विश्व की सृष्टि, पालन, संहार का त्याग कर उन्हें अपने उत्पन्न किये हुए ब्रह्मा, विष्णु, महेशादि से संपादित करवाता है तथापि अवसर पड़ने पर, जब विश्व उनके अनन्त प्रसाद की प्रार्थना करता है, वे स्वयम् विश्व को पाप से मुक्त करने के लिए या अपने अनुयायियों को विपत्ति से मुक्त करने के लिए अवतार लेते हैं। इन अवतारों में से महान् और पूर्ण अवतारों के रूप में राम और कृष्ण माने गये। इन सबकी संख्या यद्यपि २३ मानी गई तथापि उनके अतिरिक्त एक भविष्यत् अवतार की भी कल्पना की गई। इस प्रकार भारत-वर्ष कृपालु भगवान या पिता के रुप में भगवान की कल्पना के लिए भागवतों का ऋणी है।[1]

भागवत धर्म ने जिस सृष्टिप्रक्रिया को स्वीकार किया था उसका मूलाधार सांख्य योग था। सांख्य योग के सिद्धान्तों का उपयोग जब वासुदेव को इस भौतिक जगत् से संबद्ध कर देने के लिए किया गया तो उनमें अपेक्षाकृत अधिक जटिलता आ गई। उनका तीन व्यूहों के रूप में उत्तरोत्तर विकास स्वीकार किया गया। इन तीन व्यूहों की अलग-अलग शक्तियाँ थीं। क्रमशः संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध के विकास परस्पर कारण-कार्य रूप में हुए। अनिरुद्ध से ही महाभूत, उनके गुण तथा ब्रह्मा उत्पन्न हुए। ब्रह्मा ने महाभूतों से पृथ्वी तथा तदन्तर्गत अन्य पदार्थों का निर्माण किया। भक्ति और मुक्ति (ईश्वर साक्षा-त्कार) के संबंध में भागवत धर्म ने परमोपास्य की ओर प्रेरित भक्ति को ही मुक्ति का परमोपाय माना। इस भक्ति को या तो परमोपास्य में या उसके किसी अवतार में नियोजित करना चाहिये। इस दृष्टि से यह धर्म पूर्णतया एकेश्वरवादी था। यह भाव अंशतः 'देव' शब्द का 'गाड' में रूपान्तर करने में छिप गया है। 'देव' शब्द का प्रयोग केवल 'उपास्य' शब्द का ही अर्थ नहीं देता अपितु उसकी शासनात्मक शक्तियों का भाव भी उसमें निहित है। ये शक्तियाँ ब्रह्मा आदि हैं। भागवत ग्रंथ बार बार इस पर जोर देते हैं कि

[1] वही, वा० २, पृ० ५४३।

सच्चे श्रद्धालु को एकान्त एकेश्वरवादी या 'एकान्तिन्' होना चाहिये। कर्म और मुक्ति का संबंधनिर्णय करते हुए भागवत ग्रंथ यह निर्णय करते हैं कि कर्म चाहे पुण्यमय हो या पापमय, उसका फल अवश्य होता है। पुण्यकर्म जीवात्मा को फलरूप में किसी परलोक का सुखमय जीवन प्रदान कर सकते हैं किंतु यह सुख अस्थायी, अनित्य होता है। फल के निष्क्रिय होते ही आत्मा पुनः इस चिन्तामय संसार एवम् जन्म-मृत्यु-चक्र में लौट आती है। किंतु यदि कर्म निष्काम हों या किसी फल विशेष की कामना से न किये जायँ, तथा परमोपास्य को समर्पित कर दिये जायँ एवम् फल को भी परमा प्रकृति के ऊपर छोड़ दिया जाय तो स्वयम् परमात्मा कर्ता के हृदय में प्रवेश कर भक्ति का उदय करता है। इस भक्ति से परा मुक्ति की प्राप्ति अंततः होती है। इस प्रकार भक्ति तत्व के लिये भारत भागवतों का ऋणी है।[१]

यह आत्मा अमर मानी गई है। कहा गया है कि आत्मा परमोपास्य का अंश है। इसकी एक स्वतन्त्र चेतन सत्ता है। पुनर्जन्म के सिद्धान्त के अनुसार यह जीवात्मा तब तक जन्म-पुनर्जन्म के बंधनों में बँधी रहती है जब तक भक्ति से इसका उद्धार नहीं होता। कुछ दिव्यात्माओं की जो मुक्ति होती है, वे 'नित्यमुक्त' कहलाती हैं। सामान्य जीवात्माएँ इस प्रकृति की नहीं होतीं। उन्हें बद्ध (मुक्ति मार्ग से पृथक्, जीवन और संसार की वस्तुओं से बँधे), मुमुक्षु (मुक्ति की चेतना जिसमें जगाई जा चुकी है, जो उसके इच्छुक भी हैं किन्तु उसके योग्य नहीं हैं—अवेकेन्ड सिनर्स), केवल या भक्त (शुद्धचित्त, भक्तिप्रपूरित, मुक्तिमार्गाविरूढ़, एकान्तिन्) और मुक्त (भगत्पाद के चरणों में स्वतंत्र सत्तावान् होकर आनन्दित होनेवाले, केवल सेवा में ही आनंदानुभव करनेवाले कैंकर्यभावी, तथा तत्समान होते हैं, नित्यानंद में लीन रहते हैं) नाम के चार वर्गों में विवेचित किया जाता है। इस प्रकार भारत आत्मा की अमरता के विश्वास के लिए भागवतों का ऋणी है।[२]

परलोकगमन के संबंध में भागवतों ने माना है कि जब जीवात्मा की मुक्ति होती है तथा अपने स्थूल शरीर का त्याग करता है, तब सर्वप्रथम वह सूर्यद्वार में प्रवेश करता है। वहाँ उसका लिंग शरीर परमाणुभूत हो जाता है। वहाँ से वह क्रमशः अनिरुद्ध, प्रद्युम्न और संकर्षण से होता हुआ अंततः परमोपास्य में प्रवेश करता है। यह परमोपास्य परमात्मा भी कहा गया है। पाप एक अन्य तत्व है जिसका विचार किया गया है। वस्तुतः इस पाप का भक्ति

---

[१] वही, वा० २, पृ० ५४३-५४४।   [२] वही, वा० २, पृ० ५४४

के साथ संबंध असंगत लगता है। प्रत्येक पाप एक कर्म है जिसका कोई न कोई फल उसी प्रकार उतना ही होता है, जैसा और जितना पुण्य का या पुण्य कर्म का। पाप अज्ञात और ज्ञात दोनों प्रकार के होते हैं। अज्ञात पाप यागादिकों से पवित्र किये जा सकते हैं। निष्काम भाव से किये जानेवाले ये पवित्र करने वाले कर्म परमोपास्य की सेवा में पहुँचते हैं और नित्य फल प्रदान करते हैं। निष्काम कर्ता या भक्त कभी ज्ञात पाप नहीं करता। यदि संयोग से वह पाप कर बैठता है तो परमोपास्य पापकर्मों के पाप को क्षमा कर देते हैं। ये सिद्धान्त १५ वीं ई० श० तक के विकास को बतलाते हैं।[1] डा० ग्रियर्सन ने जिन सिद्धान्तों के लिए भारत को भागवत् धर्म का ऋणी बताया है, उनका मूल वे ईसाई धर्म में मानते हैं। और इस प्रकार भक्ति को वे ईसाई धर्म से प्रभावित और अंशतः विकसित मानते हैं। उनकी इन स्थापनाओं का पर्याप्त प्रमाणों के आधार पर खंडन विभिन्न विद्वानों द्वारा किया जा चुका है, अतः उनकी आवृत्ति की आवश्यकता नहीं है।

डा० भंडारकर ने भक्ति पर विचार करते हुए बताया है कि वैष्णव मत पहले बौद्ध मत और जैन मत की तरह ही एक धार्मिक सुधार के रूप में प्रकट हुआ था। इस धर्म के मूलाधार ईश्वरवादी सिद्धान्त थे। इस प्राचीन धर्म का नाम एकांतिक धर्म है जिसमें एकान्त मन से केवल एक परम तत्व के प्रति प्रेम को भक्ति (डिवोशन) माना गया है। इस धर्म की पृष्ठभूमि में श्रीमद्भगवद्गीता थी जिसमें वासुदेव कृष्ण ने उपदेश दिया है। आगे चल कर शीघ्र ही इसने एक सांप्रदायिक रूप धारण कर लिया। इसे पाचरात्र या भागवत धर्म कहा गया। सर्वप्रथम यह सात्वत नाम की क्षत्रिय जाति द्वारा स्वीकार किया गया। ईसा की लगभग चतुर्थ ईस्वी शताब्दी में इस धर्म को एक वर्गविशेष के धर्म के रूप में देखा गया था। इसका संबंध उस समय नारायण नाम के एक ऋषि से जोड़ दिया गया। ये नारायण नर के स्रोत हैं। इस धर्म को विष्णु से भी संबंधित कर दिया गया। इनका स्वरूप रहस्य-मय था। जिस भगवद्गीता की बात ऊपर कही गई है, उसमें उपनिषदों के भी उपदेश हैं। साथ ही उसमें दो दर्शनों—सांख्य और योग—के सिद्धान्त भी उपदिष्ट हैं। ये सांख्य और योग उस समय तक दो स्वतंत्र मतवादों के रूप को प्राप्त नहीं कर सके थे। ईस्वी शताब्दी के आरम्भ के बाद ही आभीरों द्वारा एक नया गोपाल कृष्ण तत्व इस धार्मिक मतवाद में संनिविष्ट किया गया।

[1] वही, वा० २, पृ० ५४४।

इन आभीरों का एक विदेशी जाति से संबंध था। ये गोपाल कृष्ण एक देवता के रूप में स्वीकार किये गये। इस प्रकार निर्मित वैष्णव मत ८वीं ई० श० तक चलता रहा। उसी समय शंकराचार्य एवम् उनके अनुयायियों ने आध्यात्मिक अद्वैतवाद और मायावाद का प्रवर्तन एवं प्रसार किया। इन तत्वों को भक्ति अथवा प्रेमतत्व का विरोधी एवम् बाधक माना गया। वैष्णव मत के लिये ये सर्वथा प्रतिकूल थे।[1]

११ वीं० ई० श० में इस आध्यात्मिक अद्वैतवाद के विरोध में विचार और भावनाएँ एकत्रित होने लगीं। रामानुज ने इस मतवाद को खंडित करने के लिए उद्योग किया तथा भक्ति-धर्म को पुनः पुष्ट रूप में प्रचारित किया। उत्तर में निंबार्क ने वैष्णव धर्म का अनुकरण कर गोपाल कृष्ण तत्व को प्रमुखता दी। उन्होंने राधा की उपासना का भी सुख प्राप्त किया। रामानुज इन विषयों पर मौन रहे। आध्यात्मिक अद्वैतवाद और मायावाद पर व्यवस्थित और सबल आक्रमण १३ वीं शताब्दी में मध्वाचार्य या आनंदतीर्थ ने किया। इन्होंने द्वैतवाद का प्रचार किया और विष्णु को परमेश्वर के रूप में स्वीकार किया। उत्तर में रामानन्द ने रामानुज के दार्शनिक सिद्धान्तों को स्वीकार करते हुए भी रामनाम का प्रचार किया। रामानुज ने 'नारायण' नाम को महत्ता दी थी। १६वीं ई० श० में वल्लभ ने गोपाल कृष्ण और उनकी देवी राधा की उपासना का उपदेश दिया। चैतन्य ने भी प्रायः उसी समय नित्य रूप में राधा के संग में निवास करनेवाले युवक श्रीकृष्ण की उपासना का प्रवर्तन किया। गोपालकृष्ण को उन्होंने प्रेममूर्ति के रूप में कल्पित किया। इन विभिन्न वैष्णव मतों की एकता के अनेक विंदु हैं। उनके आध्यात्मिक सिद्धान्त तत्वतः भगवद्गीता से लिये गये हैं। परमेश्वर के नाम का जहाँ तक प्रश्न है 'वासुदेव' नाम सभी मतवादों की भूमिका में काम कर रहा है। अध्यात्मिक अद्वैतवाद और मायावाद को सभी ने समान रूप से अस्वीकृत कर दिया है। भेद के कारण भी कई हैं। भिन्न-भिन्न तत्वों को, आध्यात्मिक सिद्धान्तों को, पृथक्-पृथक् महत्ता प्रदान करने के कारण वे विभिन्न मतवाद के रूप में प्रतिष्ठित हो गये। वे अपने अनुयायियों के लिए विभिन्न एवम् पृथक्-पृथक् कर्मकांडीय विधान भी स्वीकार करते हैं। परवर्ती काल में पांचरात्र संहिताओं और पुराणों की रचना श्रीमद्भगमद्गीता के पूरक ग्रंथों के रूप में की गई।

---

[1] कलेक्टेड वर्क्स आव आर० जी० भंडारकर, वा० ४. वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड माइनर रेलिजस सिस्टम्स, पृ० १४२-१४३।

इन ग्रंथों में प्रसंगतः कुछ तात्विक सिद्धान्तों को समझाया गया, कुछ कर्मकांडीय नियम बताये गये तथा साथ ही सिद्धान्तों और उपदेशों की महिमा बढ़ाने के लिए विशाल कथासम्पत्ति भी प्रस्तुत की गई। इस क्रिया से वे सिद्धान्त, विचार और उपदेश रोचक हो गये।[1]

सांप्रदायिक सामाजिक विचारदृष्टियों के अनुसार उपर्युक्त विकास विद्वानों ने उपस्थित किये हैं। इनमें भक्ति भाव का ऐतिहासिक विकास निरूपित नहीं है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने ग्रियर्सन और भंडारकर द्वारा उपस्थित किये गये विकास के अनेक तथ्यों को स्वीकार करते हुए भी उनकी कुछ स्थापनाओं का खंडन किया है। मुख्य रूप से भक्ति भाव एवम् रस का विवेचन किया है। उपर्युक्त विकास की व्याख्या भी उनकी अपनी है। भक्ति सम्बन्धी व्याख्या में शुक्ल जी ने मानव जीवन के धर्म पक्ष का मुख्य रूप से विवेचन किया है। उनके अनुसार भक्तिमार्ग धर्म का हृदय है। भक्त श्रेष्ठ धार्मिक है। उसकी विशेषता यह है कि वह धर्म के रसात्मक स्वरूप का साक्षात्कार करता है। धर्म के इस अन्तिम रसात्मक पक्ष तक मनुष्य का हृदय उपास्य की उन्नत भावना के उपरान्त पहुँचा है। असभ्य दशा में भय और लोभ की प्रेरणा से देवताओं की पूजा शासक के रूप में की जाती थी। सभ्यता के आगमन के बाद उस देवता के द्वारा किये गये उपकारों के कारण उसके प्रति कृतज्ञता का भी भाव रहने लगा। ऐसे देवताओं की उपासना में धर्म के स्वरूप का आभास मिलता है। उपास्य के इस उपकारी स्वरूप के भीतर अखिल विश्व के पालक और रक्षक भगवान् के व्यापक स्वरूप की भावना का भी विकास हो गया। असभ्य जातियों में देवता, कुलदेवता वनदेवता आदि तक ही सीमित रहे। जिन जातियों में कुलदेवता में ही पूर्ण ईश्वर का आरोप करके पीछे एकेश्वरवाद चला, उनमें उसका स्वरूप कुछ संकुचित रहा।[2]

अति प्राचीन काल में मनुष्यों में देवता के प्रति तीन प्रकार के भाव हो सकते थे—भय, लोभ और कृतज्ञता। इन तीनो भावों में मन सुख की ओर ही उन्मुख रहता है, देवता की ओर नहीं। कृतज्ञ 'कृत' के स्वरूप में ही अनुराग रखता है, कर्ता के स्वरूप में नहीं। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में ईश्वर की भावना पुरुष के रूप में की गई है। नराकार भावना (एन्थ्रापमार्फिक कांशेप्शन) का यह सूक्त उदयगीत माना जाता है। शतपथ ब्राह्मण में सहृदयता

[1] वही, पृ० १४३-१४४।

[2] सूरदास—पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ३-५।

यता और भावुकता का कुछ विशेष आभास उपास्य के स्वरूप के साथ-साथ धर्म के स्वरूप में भी पाया जाता है। 'सगुण परमेश्वर' का 'नारायण' (नर समष्टि का आश्रय) नाम ब्राह्मण काल में ही प्रसिद्ध हो गया था। नारायण सगुण ब्रह्म का रूप है जिसकी अभिव्यक्ति जगत् में नर के रूप में हुई।[१] उपनिषदों में ब्रह्म की उपासना अन्न, प्राण, मन, ज्ञान और आनन्द के रूप में करने का उपदेश दिया गया है। शुक्ल जी की दृष्टि में यह अन्नोपासना ब्रह्म को अपनी अन्तस्सत्ता के बाहर बाह्य जगत् में देखने का विधान है। मन, ज्ञान आदि के रूप में उपासना अपनी अन्तस्सत्ता के भीतर देखने का विधान है। बाहर और भीतर दोनों ओर ब्रह्म को देखने पर ही पूर्णोपासना हो सकती है। भारतीय भक्ति मार्ग में यही पूर्णोपासना की पद्धति गृहीत हुई है। उपर्युक्त अन्नोपासना की पद्धति से ब्रह्म की भावना विष्णु रूप में प्रतिष्ठित हुई। इसमें 'पालक' पक्ष ही प्रमुख रहा। इसके उपरान्त उपास्य के सान्निध्य की उत्कंठा से उसे अधिक हृदयाकर्षक रूप में पास में लाने की लालसा से विष्णु की नराकार भावना नारायण के रूप में हुई। शुक्ल जी मानते हैं कि इस विकास में पालक का स्वरूप ही सत्स्वरूप है। नाशक रूप असत् अनित्य और क्षणिक है। इस प्रकार भारतवर्ष में ईसा से हजारों वर्ष पूर्व, ब्राह्मणकाल से ही भाव-समन्वित ज्ञानमार्ग का सूत्रपात हुआ जो उपनिषदों के समय तक पूर्णता को पहुँचा।[२]

ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग से भक्तिमार्ग का सम्बन्धनिरूपण करते हुए कहा गया है कि उपनिषत्काल में ज्ञानकांड में दो मार्ग दिखाई पड़ते हैं—निवृत्तिपरक ज्ञान मार्ग (यज्ञादि कर्मों से विरक्तिपरक ज्ञान) और कर्मपरक ज्ञान मार्ग (ज्ञान के साथ ही साथ कर्म का भी, निष्काम कर्म का भी)। इसी कर्मपरक ज्ञानमार्ग से, जिसमें कर्म के साथ बुद्धि और हृदय दोनों का योग आवश्यक ठहराया गया था, आगे चलकर भक्ति का विकास हुआ। इसी के अनुसार ब्रह्म को कहीं सद्भावात्मक विशेषणों से युक्त कर सगुण और व्यक्त कहा गया है और कहीं उसको निषेधात्मक या अभावात्मक विशेषणों से युक्त कर उसे निर्गुण और अव्यक्त कहा गया है। इसके अतिरिक्त बहुत जगह ब्रह्म उभयात्मक अर्थात् विरुद्ध धर्मयुक्त कहा गया है। इसी उभयात्मक भावना में ब्रह्म मूर्त-अमूर्त, व्यक्त-अव्यक्त, चल-अचल, छोटा-बड़ा सब कुछ है, अर्थात्

---

[१] वही, पृ० ८-९।

[२] वही, पृ० ९-१२।

सर्वरूप है। भारतीय भक्तिमार्ग ब्रह्म के इस उभयात्मक स्वरूप को ग्रहण करके चला। दोनों रूप इसके अनुसार नित्य और सत् हैं। जहाँ तक ब्रह्म हमारे मन और इन्द्रियों के अनुभव में आ सकता है, वहाँ तक हम उसे सगुण और व्यक्त कहते हैं। पर वहीं तक उसकी इयत्ता नहीं, उसके आगे भी उसकी सत्ता है जिसके लिए हम कोई शब्द न पाकर निर्गुण, अव्यक्त आदि निषेधवाचक शब्दों का आश्रय लेते हैं। अनुराग के लिये व्यक्त रूप और सम्यग्दर्शन के लिये अव्यक्त रूप को स्वीकार किया गया। भक्ति का यही सिद्धान्त पक्ष है। 'इस प्रकार उभयवादियों ने केवल सगुण अथवा केवल निर्गुण के समझने को अधूरा माना है। पूर्ण ब्रह्म न केवल सगुण है, न केवल निर्गुण। स्पष्ट है कि यद्यपि विशुद्ध तत्वज्ञान के लिये ब्रह्म निर्गुण और अव्यक्त कहा गया पर उपासना के लिये उसका सगुण और व्यक्त रूप ही सामने रखा गया। विभूति, ऐश्वर्य आदि की अभिव्यक्ति के बिना मनुष्य का हृदय जम नहीं सकता।[1]

'उपनिषदों द्वारा उपदिष्ट ज्ञानकांड पूजा से आगे बढ़कर ब्रह्म के स्वरूप के बोध या दर्शन का प्रयास है। इससे मनुष्य का हृदय उपास्य के और समीप पहुँचाया गया। इस प्रकार आंतरिक वृत्तियों के साथ उपर्युक्त क्रिया में समायोजित व्यक्ति के जीवन को छांदोग्य में ज्ञान-यज्ञ कहा गया। ज्ञान-यज्ञ का अभिप्राय, शुक्ल जी की दृष्टि में बुद्धि और हृदय, बोधवृत्ति और रागात्मिका वृत्ति, दोनों को ब्रह्म या परमात्मा में लगाना है। गीता में भी इस ज्ञानयज्ञ की द्रव्ययज्ञ से श्रेष्ठता बतलाई गई है। इस ज्ञानयज्ञ में ज्ञान और कर्म दोनों का समन्वय है जहाँ से कर्म में हृदय तत्त्व की ओर कुछ अधिक प्रवृत्ति हुई, वहीं से भक्तिमार्ग का आरम्भ मानना चाहिये। यहीं से परोपकार, पूर्त यज्ञ, लोकमंगल की भावना का आरम्भ होता है।[2] इस प्रकार की भक्ति की परंपरा का उल्लेख नारायणीयोपाख्यान में मिलता है। इसमें अनन्य भक्त को 'एकान्ती' कहा गया है। वसु उपरिचर के यज्ञ से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस भागवत धर्म में हृदय तत्त्व को उपनिषदों की उपासना की अपेक्षा अधिक स्थान मिला। इसी प्रकार इसका महत्वपूर्ण लक्षण अहिंसा या दया को माना गया। गीता के उपदेशों का विचार कर शुक्ल जी ने जो विशेषताएँ मानीं, वे निम्नलिखित हैं—

[1] वही, पृ० १२-१६।
[2] वही, पृ० १७-१९।

(१) भागवत धर्म लोक कल्याण को लेकर चलनेवाला प्रवृत्ति मार्ग है।

(२) इसमें ब्रह्म का केवल वह सगुण रूप उपासना के लिये स्वीकार किया गया जिसकी अभिव्यक्ति रक्षा, पालन और रंजन करने वाले के रूप में होती है।

(३) श्रद्धा या आस्था के प्रभाव से उपास्य भगवान् के तदाकार बनने की प्रवृत्ति उपासक में होनी चाहिए। अतः अहिंसा भागवतधर्म का प्रधान लक्षण हुआ।

(४) जिस सर्ववाद को लेकर ब्रह्म के उक्त सगुण स्वरूप की उपासना प्रवर्तित की गई उसमें सगुण-निर्गुण, व्यक्त-अव्यक्त, मूर्त-अमूर्त सब अन्तर्भूत थे। अव्यक्त अज्ञेय आदि की ओर संकेत केवल उपासक के सर्वज्ञत्व या ब्रह्म के पूर्ण ज्ञान के अभिमान को रोकने के लिये किया गया।

(५) फल से आस्था हटा कर सर्वकर्मस्वरूप भगवान् की ओर लाई गई।

(६) गीता के विभूतियोग में भगवान् की अनन्त दीप्ति, शक्ति, सौंदर्य, ऐश्वर्य, माधुर्य इत्यादि को सामने करके मनुष्य का हृदय उनकी ओर आकर्षित किया गया।

(७) ईश्वर के स्वरूप पर मन का आकर्षित होना या लुभाना ही भगवत्प्रेम है, जिसे भक्ति कहते हैं, सच्चे प्रेम का कोई हेतु नहीं होता।

(८) वासुदेव भगवान् की एकान्त उपासना में तत्पर व्यक्ति को एकान्ती कहा गया है। इस एकान्त उपासना का भाव एकेश्वरवाद से मिलता-जुलता है।

(९) भागवत धर्म का एकान्तवाद या अनन्यतावाद सिद्धान्त रूप में सर्ववाद को लेकर चला था जिसमें अनेक सगुण रूप एक ही ब्रह्म के नाना रूप कहे गये थे। उपासना के व्यवहार के लिए अनेक सगुण रूपों में से किसी एक रूप को चुन लेने के लिये उपदेश उपनिषदों में मिलता है।[१]

आचार्य शुक्ल ने श्रीमद्भगवद्गीता और भागवतपुराण को वैष्णव भक्ति के प्रधान ग्रंथों के रूप में स्वीकार किया है। गीता में कर्मज्ञान-समन्वित भक्ति के व्यापक रूप का उपदेश किया गया है। भागवत में कर्म और ज्ञान से पृथक् एक स्वतन्त्र क्षेत्र तैयार किया गया है। उसके बाद भक्ति के सिद्धान्त-

---

[१] वही, पृ० १९-२४।

पक्ष के प्रतिपादन के लिये कुछ छोटे-छोटे ग्रंथ भी बने जैसे—शांडिल्य सूत्र, नारद सूत्र, नारद पांचरात्र। प्रथम दो ग्रंथों में ईश्वर में परानुरक्ति ही भक्ति मानी गई है। शुक्ल जी के अनुसार परानुरक्ति का अर्थ है—निर्हेतुक या निष्काम अनुरक्ति। सच्चे प्रेम का कोई बाहरी हेतु नहीं होता। यदि प्रेम का कोई हेतु हो सकता है तो बस यही अच्छा लगना। पर 'नारद पांचरात्र' में भक्ति के स्वरूप का पूरा ध्यान न रखकर मंत्र-तंत्र का भी कुछ समावेश कर दिया गया है जिनमें ऐहिक लाभ प्रधान हो गया है। वैसे तंत्र-मंत्र की बातें भक्ति-क्षेत्र के बाहर की हैं। उपर्युक्त भक्ति के लिये ही ज्ञान की सार्थकता भारतीय भक्तिमार्ग में स्वीकार की गई है। भागवत धर्म या वैष्णव धर्म में ज्ञान और भक्ति का स्थान अलग-अलग है। ज्ञानपक्ष या सिद्धान्त-पक्ष का प्रतिपादन आचार्य लोग करते थे तथा प्रेम और भक्तिभाव का जनता में प्रचार आलवार लोग भजन-कीर्तन द्वारा करते थे। आचार्य ज्ञानी और भक्त दोनों होते थे। केवल हृदयपक्ष को लेकर चलनेवाले अनुयायी भक्त ज्ञानी होने का दावा कभी नहीं करते थे। ये किसी ऐसी बात को जानने का दावा नहीं करते जो किसी को भी मालूम न हो। भक्ति मार्ग में जहाँ रहस्य का अवयव अधिक रहा वहीं भक्तों में एक प्रकार की लोकोत्तर चेतना मानने की चाल चली और वे परोक्ष ज्ञान से संपन्न कहे जाने लगे। अतः यह मानना भी आवश्यक हुआ कि दर्शन के क्षेत्र की बड़ी से बड़ी बात की तह तक सीधे, बुद्धि और क्रिया का मार्ग छोड़कर पहुँचा देनेवाली कोई अलौकिक प्रज्ञा अवश्य होती है। इसी प्रकार शुक्ल जी कोरे ज्ञानी और भक्त के अन्तर को भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'कोरा ज्ञानी भगवन् के स्वरूप का जो ज्ञान प्राप्त करता है, उससे तटस्थ रहता है, पर भक्त ज्ञानी उस स्वरूप में हृदय से लीन हो जाता है, उस स्वरूप से निष्पन्न करनेवाली एक-एक बात पर मुग्ध होता चलता है, जिससे उसका ज्ञान पुष्ट होता हुआ 'आस्था' की दशा को पहुँचता है।····भक्ति का आरंभ ज्ञान-पूर्वक ही होता है। जब हम उपास्य के स्वरूप को, उसके गुणों को थोड़ा बहुत जान लेते हैं, तब उसके प्रति श्रद्धा और प्रेम का स्फुरण होता है। प्रेमी प्रिय के स्वरूप को जितना जाने रहता है उतने में मग्न होकर भी उसको और जानने के लिए बीच-बीच में उत्कंठित होता रहता है। पूर्ण दर्शन की यह उत्कंठा श्रेष्ठ भक्ति का लक्षण है।[1]

इस प्रकार शुक्ल जी ने स्पष्ट कर दिया कि भक्तिमार्ग में उपासना के

[1] वही, पृ० २५-२६, २८-३०।

लिये केवल सगुण रूप को स्वीकार किया गया और निर्हेतुक भक्ति को साधन माना गया। ब्रह्म का व्यक्त सगुण रूप स्वीकार करने के कारण, निर्हेतुक निष्काम कर्ममयी भक्ति को स्वीकार करने के कारण, स्वाभाविक प्रेम मार्ग को शुद्ध ज्ञानमार्ग को छोड़कर स्वीकार करने के कारण इस मार्ग में रहस्य के लिये कोई अवकाश नहीं रह गया। इसका मुख्य कारण यह है कि भक्त, जैसा शुक्ल जी बतलाते हैं, नराकार व्यक्त रूप में ब्रह्म का प्रत्यक्ष जगत् में ही करता है। किंतु पाश्चात्य लेखक जब रहस्यवाद की दृष्टि से विचार करते हैं तब भक्तिमार्ग में भी 'रहस्य' का दर्शन करते हैं। शंकराचार्य ने संराधन काल में भक्त को होनेवाले ब्रह्म के स्वरूपदर्शन को 'ज्ञानप्रसाद' कहा है। पाश्चात्य लेखक इस 'ज्ञानप्रसाद' को रहस्यानुभव (मिस्टिकल इक्सपीरिएंस) कहेंगे। शुक्ल जी के मतानुसार, रहस्यानुभव के संबंध में प्रायः यही समझा जाता है कि वह किसी अज्ञात तथ्य का आनायास उपलब्ध ज्ञान होता है। इसे योग की एक अलौकिक सिद्धि या दिव्य दृष्टि के रूप में माना जाता है जिसके बिना किसी प्रकार के ऊहापोह के त्रिकाल की बातें प्रत्यक्ष हो जाती हैं। पर भक्तों का ज्ञानप्रसाद इस प्रकार के 'योगज प्रत्यक्ष' से भिन्न वस्तु है। भक्तिमार्ग शुद्ध भावमार्ग या प्रेममार्ग है। यह योगमार्ग से अलग है। भक्त अपने ध्यान या भाव की मग्नता में भगवान् के संबंध में किसी नई बात का, उसके किसी ऐसे स्वरूप का जिसका निरूपण कहीं न हुआ हो, उद्घाटन नहीं करता।[१] स्पष्ट है कि शुक्ल जी के मत से 'भक्ति' और 'रहस्यवाद' तथा 'ज्ञानप्रसाद 'और' रहस्यानुभव' का परस्पर कोई संबंध नहीं है।

इस विवेचन का उपयोग शुक्ल जी ने भक्ति को रस रूप में प्रतिष्ठित करने के लिये अपने ढंग से किया है। उनके विवेचन से यही प्रतीत होता है कि रसानुभूति केवल भक्त को होती है, ज्ञानी को नहीं। 'कोरे ज्ञानी को भगवान् के स्वरूप की—व्यक्त और सगुण स्वरूपकी--कुछ जानकारी भर रहती है। पर भक्त को उसी कुछ जाने हुए या विज्ञान स्वरूप का साक्षात्कार और रसात्मक अनुभूति होती है। साक्षात्कार भावना या कल्पना (इमैजिनेशन) द्वारा होता है और रसात्मक अनुभूति भाव (इमोशन) द्वारा। साक्षात्कार होने पर ही, कल्पना में पूर्ण बिंबन होने पर ही, रसानुभूति हो सकती है। भक्त की अनुभूति वही है जिसे काव्य की लीनता या रसप्रतीति कहते हैं। प्रक्रिया भी वही स्वाभाविक और सीधी सादी है। कल्पना या भावना जिससे विज्ञात का

---

[१] वही, पृ० ३१।

भीतरी साक्षात्कार होता है और भाव या रागात्मिका वृत्ति, जिससे आनन्दानुभूति होती है, दोनों मनुष्य की स्वाभाविक वृत्तियाँ हैं। बस इन्हीं दो स्वाभाविक वृत्तियों के सहारे भक्ति रस की निष्पत्ति हो जाती है। इसके सीधे-सादे विधान में न इला-पिंगला नाड़ियाँ हैं, न सहस्रार चक्र, न ब्रह्मरंध्र, न आसन, न प्राणायाम। 'भक्त की संपत्ति केवल उसके प्रेम की गंभीरता है। वैष्णव भक्ति का मार्ग सीधा सादा प्रेममार्ग है। भागवत पुराण में भक्ति के नौ प्रकार के विधान बताये गये हैं—श्रवण, कीर्तन, विष्णुस्मरण, पाद सेवन, अर्चन, वंदन दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन। यही प्रेम पुष्टि का सीधा सादा और स्वाभाविक विधान है। सभी भारतीय परंपरा के भक्तों ने भक्तिमार्ग की सरलता और सुगमता पर बहुत अधिक जोर दिया है। इस भक्ति की पद्धति शुद्ध प्रेमपद्धति है जिसके लिये कोई पेचीली शारीरिक या मानसिक क्रिया आवश्यक नहीं, कोई अलौकिक सिद्धि अपेक्षित नहीं। जिस साधन में इस प्रकार की वस्तुओं की अपेक्षा होती है, उसे हम साधनात्मक रहस्यवाद कह सकते हैं।[1]

पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा उपस्थित भक्ति भाव संबंधी ऐतिहासिक विवेचन विभिन्न प्रसंगों एवम् पक्षों में उनका अपना मत उपस्थित करता है। उनके इन मतों एवम् दृष्टियों का महत्त्व इसलिये है कि इन्हीं के आधार पर, शुक्लजी ने अपने इतिहास में तथा अन्य स्थानों पर निर्गुण मार्ग, सगुण मार्ग, ज्ञानमार्गी शाखा और प्रेममार्गी शाखा के कवियों का आलोचन किया। दूसरी बात यह है कि तुलसीदास की इतनी महत्ता और गरिमा शुक्ल जी ने जो स्थापित की, उसके मूलाधार भी यहीं मिलते हैं। उपर्युक्त विवेचन में भक्ति की निर्हेतुकता की व्याख्या, निर्गुण और सगुण की व्याख्या, भक्ति में रहस्य का स्थान, ज्ञान-कर्म-भक्ति का परस्पर संबंध, भक्ति धर्म का रसात्मक पक्ष, उपास्य के 'पालक' रूप की ही प्रमुख रूप से उपासना भक्ति में आवश्यक, अन्नादि कोषों के अधार पर भक्ति और ज्ञान का संबंध, उपास्य के उभयात्मक रूप के ग्रहण से भक्ति की पूर्णता, उपासना के लिये केवल व्यक्त रूप ही ग्राह्य, भक्ति में लोकमंगल की भावना की अत्यावश्यकता, अच्छा लगना ही प्रेम का हेतु, भक्ति रस की व्याख्या आदि सभी विषयों में उनके अपने विचार हैं। इन विषयों में उनके विचारों का विश्लेषण और परीक्षा संतों की भक्ति का विचार करते समय की गई है। आगे का विवेचन पूर्णता के साथ किया जा सके इसलिए शुक्ल जी के मत को यहाँ उपस्थित कर दिया गया जिसमें अधिकांशतः उन्हीं के

[1] वही, पृ० ३१-३४।

शब्दों को ज्यों का त्यों रखने का प्रयत्न किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि शुक्ल जी का विवेचन ग्रियर्सन, भंडारकर जैसे विवेचक तथा साथ ही 'डिवोशन', 'मिस्टिसिज्म' जैसी विचार-भाव सरणियों के प्रभावों से अछूता नहीं रह सका है।

शुक्ल जी के उपर्युक्त विवेचन में सामाजिक, धार्मिक और भावगत स्थापनाएँ मिश्रित हैं। डा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त ने केवल प्राचीन भारतीय ग्रंथों के आधार पर ही भक्ति तत्व का विवेचन किया है। ग्रियर्सन और भंडारकर दोनों ने 'डिवोशन' शब्द का प्रयोग भक्ति के लिये किया है। डा० दासगुप्त ने भी इसी शब्द का प्रयोग किया है किन्तु उसके प्रमाण उन्होंने प्राचीन भारतीय ग्रंथों से देकर उसका स्वरूपनिरूपण किया है। भारतीय आचार्यों द्वारा निरूपित भक्ति का स्वरूप भी आगे उपस्थित किया जा रहा है जिससे पाश्चात्य एवम् अन्य विवेचकों का विवेचन भी उसके प्रकाश में देखा जा सके। आगे हम जिस प्रकार के साहित्य का भक्ति के विवेचन और विकास के लिये विचार करने जा रहे हैं उसका कबीरादि से सम्बन्ध है। हम पहले ही यह कह चुके हैं कि कबीर का सम्बन्ध रामानन्दी सम्प्रदाय से स्वीकार किया जाता है। रामानन्द का संबन्ध रामानुज की परम्परा से है। श्री सम्प्रदाय के मूलाधार ग्रंन्थ श्रीभाष्य तथा रामानुज के अन्य ग्रंथ हैं। आलवारों की भक्तिपद्धति का रामानुज ने दार्शनिक निरूपण किया था। सांप्रदायिक दृष्टि से, जहाँ तक पूजा और उपासना का प्रश्न है, रामानुज ने पांचरात्र संहिताओं की पद्धति का प्रचार किया था। रामानुज ने अपने भाष्य में पांचरात्र संहिताओं को उद्धृत किया था। पांचरात्र मत का सम्बन्ध नारायण द्वारा उपदिष्ट मत से है। महाभारत के शांतिपर्व के नारायणीयोपाख्यान में नारायण ने एकांतिक धर्म का उपदेश नारद को दिया था। जिस श्वेत द्वीप की बात वहाँ बताई गई है, उसका विस्तृत वर्णन नारद पंचरात्र में मिलता है। इसमें नारद को ही एकांतिक धर्म का उपदेश महादेव से कराया गया है। इस प्रकार रामानन्द, रामानुज, पांचरात्र मत तथा एकांतिक धर्म का घनिष्ठ संबन्ध स्थिर होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि भारतीय भक्तिवाद से नारद का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिस प्रकार भारतीय दर्शनों को व्यवस्थित रूप प्रदान करनेवाले विभिन्न दार्शनिक सूत्र ग्रंथ हैं, उसी प्रकार भक्ति दर्शन को भी व्यवस्थित रूप प्रदान करनेवाले शांडिल्य और नारद के सूत्र ग्रंथ हैं। किन्तु प्राचीन भारतीय आचार्यों ने इन दोनों सूत्र ग्रंथों को मूलाधार मानकर न तो

इन पर भाष्य लिखे और न इनके आधार पर अपने भक्ति संबंधी सिद्धांत ही निरूपित किये। भक्ति संबंधी जो चार संप्रदाय बाद में विकसित हुए, उन्होंने ब्रह्मसूत्रों, उपनिषदों तथा गीता का भाष्य कर अपना कार्य सिद्ध किया। किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि इन दोनों सूत्र ग्रंथों का उपनिषदों एवम् श्री मद्भगवद्गीता से घनिष्ठ संबन्ध है। रामोपासना का सांप्रदायिक प्रवर्तन करनेवाले रामानंद को भी रामानुज मत के भक्तिसिद्धान्त और दर्शन मान्य हैं। इसका प्रमाण आगे के विवेचन में दिया गया है। नाभादास ने कबीर को रामानंद की परंपरा में माना है तथा कबीर ने कई बार नारदी भगति का गुणगान किया है। उनकी रचनाओं में अन्य किसी ऐसे व्यक्ति का, मतवाद का नाम नहीं मिलता, जिससे यह कल्पना की जा सके कि उनकी भक्तिपद्धति किसी अन्य मतवाद का अनुसरण करती है। भगवद्गीता, भागवत, शांडिल्य आदि का वहाँ कोई संकेत नहीं है। अतः कबीर की भक्तिपद्धति का निरूपण करने के लिये नारदीया भक्ति, पांचरात्र भक्ति तथा रामानंद तक की रामानुजी भक्ति की परंपरा का विचार किया जा सकता है।

भारतीय साहित्य में सर्वप्रथम भक्ति का निरूपण श्वेताश्वतर उपनिषद् में मिलता है। हमारे विवेच्य विषय के लिये इसका महत्व इसलिये है कि शिव भक्ति का सर्वाधिक पुरातन विवरण यहाँ मिलता है। श्री संप्रदायाचार्य अपने प्रपत्ति सिद्धान्त का मूलस्रोत इसी उपनिषद् में देखते हैं।[१] अपने भक्ति सिद्धान्त के ही कारण यह अन्य उपनिषदों से भिन्न है। प्रपत्ति और भक्ति दोनों सिद्धान्तों का संकेत इसमें मिलता है। वस्तुतः यह उपनिषद् उपनिषत्कालीन ईश्वरवाद की रचना है। इसमें वैयक्तिक गुणों से युक्त (पर्सनल) ईश्वर की कल्पना मिलती है। उपास्य को प्रायः देव तथा कहीं कहीं ईशान, महेश्वर आदि कहा गया है। फिर भी यह कोई सांप्रदायिक रचना नहीं है, क्योंकि शंकर, रामानुज आदि सभी ने इसे प्रामाणिक मानकर उद्धृत किया है।[२] श्वेताश्वतर उपनिषद् से पता चलता है कि इसमें ज्ञान, योग और भक्ति इन तीनों का विवेचन किया गया है। उपनिषद् विद्या के इन तीनों से समन्वित साधन का ज्ञान करने के लिये यह उपनिषद् महत्वपूर्ण है। कारण ब्रह्म के स्वरूपज्ञान के लिये ध्यानयोग का आश्रय लिया गया है। ब्रह्म को परम

---

[१] ए हिस्ट्री आव इंडियन फिलासफी—सुरेंद्रनाथ दासगुप्त, वा० ३, पृ० ३७९।

[२] क० व० भं०—वा० ४, पृ० १५२-१५७।

व्योम माना गया है तथा उसी में सभी देवताओं और तीनों वेदों की स्थिति मानी गई है। कहा गया है कि जो उसको नहीं जानता, वह ऋचाओं से क्या कर सकता है। सत्वादि से युक्त कर्मों को तथा अत्यन्त विशिष्ट भावों को ईश्वर में विनियुक्त या समर्पित कर देने से पूर्वकृत कर्मों का नाश हो जाता है तथा कर्मनाश होने पर वह परमात्मा को प्राप्त करता है। वह परमात्मा विश्वात्म है, ज्योतिर्मय है, अमरणधर्मा है, ज्ञाता, सर्वज्ञ तथा भुवनों का पालक है, नियामक है। अतः संसार के मोक्ष, स्थिति और बन्धन का हेतु होने के कारण मुमुक्षु पुरुष को सर्वात्मना उसी की शरण जाना चाहिए। इस प्रकार स्वचित्तस्थ विश्वरूप, आदि कारण की उपासना करने को कहा गया है। वह आत्मस्थ तथा विश्वधाम दोनों है। उससे प्रार्थना की गई है कि जिस प्रकार मकड़ी अपने से उत्पन्न तंतुओं से अपने को ही समावृत कर लेती है उसी प्रकार जिसने प्रधान या अव्यक्त से उत्पन्न नामरूपकर्मों से आवृत कर लिया है, वह हमें ब्रह्म से एकीभाव प्रदान करे। यह देव एक है, सभी प्राणियों में संवृत है या छिपा हुआ है। वह सर्वव्यापी, सर्वभूतान्तरात्मा, सर्वभूताधिवासी, सभी प्राणियों के किये हुए कर्मों का अधिष्ठाता, साक्षी या द्रष्टा, चेतनत्व प्रदान करनेवाला, केवल और निर्गुण है। जिस व्यक्ति की इस प्रकार के देव में परा भक्ति है तथा जिस प्रकार देव में है, उसी प्रकार गुरु में भी है, उसी को ये अर्थ प्रकाशित होते हैं, स्वानुभूत होते हैं।[१] इस प्रकार श्वेताश्वतर उपनिषद् में भक्ति, ब्रह्मज्ञान, ध्यान, योग, प्रपत्ति या शरणागति के स्पष्ट संकेत मिलते हैं। साथ ही कर्मों का समर्पण, जो निष्काम कर्मवाद का मूलाधार है, भी संकेतित है। आगे चलकर भगवद्गीता, नारद भक्तिसूत्र, रामानुज-रामानन्द के भक्ति दर्शन तथा कबीरादि, मध्ययुगीन संतों में भी ये विचारधाराएँ दिखाई पड़ती हैं।

बताया गया है कि श्वेताश्वतर की रचना भगवद्गीता के पूर्व, अनुमानतः महाभारत के भी पूर्व हो चुकी थी। यद्यपि नारद वैदिक ऋषि थे तथा त्रेता-युग में प्रेमाभक्ति के उपदेशक थे (दासगुप्त वा० ३, पृ० ३९, ४०१) किन्तु श्वेताश्वतर उपनिषद् के विचारों से उनका कोई सम्बन्ध था या नहीं, यह निश्चित नहीं है। भक्ति और नारद के सम्बन्ध का प्रथम संकेत महाभारत

---

[१] श्वेताश्वतर उपनिषद्—१.३, ४.८, ६.४, ६.१७-१८, ६.५-६, ६.१०-११, ६.२३। यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः। प्रकाशन्ते महात्मनः ॥६.२३॥

में ही मिलता है। इस प्रकार महाभारत के शांतिपर्व का नारायणीयोपाख्यान नारदीया भक्ति के लिये अति महत्वपूर्ण है। डा० भंडारकर ने इस उपाख्यान का समय शंकर के पूर्व माना है। इसमें निरूपित धर्म वैदिक धर्म से कुछ लक्षणों में भिन्न है। वसु उपरिचर ने ऐसा याग किया था जिसमें हिंसा नहीं हुई थी। आहुतियाँ उन आरण्यकों के अनुकूल दी गई थीं जिनमें उपनिषद् भी अन्तर्भूत हैं। प्रधान देवता देवाधिदेव हरि थे। कहा गया है कि हरि का साक्षात्कार वृहस्पति के समान याग करनेवाले, एकत, द्वित और त्रित के समान तप करनेवाले लोग नहीं कर सकते। उसका दर्शन केवल भक्ति से संभव है, जैसा वसु उपरिचर ने किया था।[1] इस प्रकार नारायणीयोपाख्यान में वैदिक जीवन का आरण्यक आदर्श और विचार स्वीकार कर अहिंसा और भक्ति तत्व को प्रमुखता दी गई तथा हरिभक्ति के लिये, साक्षात्कार के लिये तप और कर्मकांड की अनावश्यकता बतलाई गई। श्री मद्भगवद्गीता भक्तिमत पर एकांतिक धर्म की सर्वप्रथम व्यवस्थित व्याख्या है। यह एकांतिक धर्म या एकेश्वरवादी धर्म ही है जो वासुदेव कृष्ण द्वारा अर्जुन को दिया गया था।[2] महाभारत के शांतिपर्व में बताया गया है कि तप, कर्मकांड आदि से हरिदर्शन में असफल होने पर ऋषियों ने हरिनाम का मानसिक जप कर सफलता पाई।[3] इस प्रकार स्पष्ट है कि हरि दर्शन के लिये भक्ति, अहिंसा, मानसिक जप आवश्यक हैं तथा कर्मकांड और तप अनावश्यक।

श्रीमद्भगवद्गीता महाभारत का ही एक अंश है। गीता उपनिषदों का सार है। इसका मुख्य सिद्धान्त निष्काम कर्मयोग है। मोक्ष की प्राप्ति के लिये कर्म संपादन करना चाहिए किंतु कर्मफल की इच्छा नहीं करनी चाहिए। कर्मों का ब्रह्म के प्रति समर्पण होना चाहिए अर्थात् कर्मसंपादन केवल विश्व-नियम के आग्रह से करना चाहिए। अर्थात् कर्तव्य के लिए कर्मसंपादन होना चाहिए। दूसरे शब्दों में हम कर्म ईश्वरेच्छा की प्रेरणा से करते हैं। इस प्रकार के संपादन से परा भक्ति प्राप्त हो सकती है। किंतु इस प्रकार अनवरत निष्काम कर्मसंपादन अति कठिन कार्य है क्योंकि सभी प्राणी त्रिगुण से प्रभावित हैं। अतः इस कठिनाई को दूर करने के लिए ही शरणागति का उपदेश दिया गया है। इस प्रकार गीता में प्रतिपादित भक्ति का मूल तत्त्व निष्काम कर्मयोग है। यह सिद्धान्त सर्वथा मौलिक नहीं, विभिन्न पूर्ववर्ती उपनिषदों में

[1] क० व० भं०, वा० ४, पृ० ६, १०।

[2] वही, पृ० १०, १२, १८-१९, ३७; भगवद्गीता—४.१-२।

[3] ए हि० इं० फि०—वा० ३, पृ० १३।

उपलब्ध है। इसी प्रकार ब्रह्म के गुणों की कल्पना भी औपनिषदिक है। भगवद्गीता में स्पष्टत: अक्षर या ब्रह्म का व्यक्ति के रूप में निरूपण मिलता है। इस दृष्टि से गीता का निष्काम कर्मसिद्धांत तथा सगुण ब्रह्म की कल्पना प्राचीन उपनिषदों के विकास का परिणाम है। मुंडक, केन आदि उपनिषदों में ही बताया गया है कि तप, शिक्षक के व्याख्यान, शास्त्राध्ययन से परमात्मा की प्राप्ति नहीं होती, अपितु भगवत्प्रसाद से होती है। परमात्मा का अनुग्रह जिस पर होता है, उसी को उसके रूप का दर्शन होता है। केन, वृहदारण्यक आदि में कहा गया है कि उसी की प्रेरणा से प्राणी सत्कर्म करता है। वह अन्तर्यामी है। अत: यह सिद्धान्त कि जीवात्मा परमात्मा पर निर्भर है, औपनिषदिक है तथा इसकी अभिव्यक्ति भगवद्गीता में भी है। इससे यह सिद्ध होता है कि भगवद्गीता के एकांतिक धर्म के सभी तत्त्व प्राचीन धार्मिक साहित्य में मिलते हैं। प्रेम या राग के अर्थ में भक्ति शब्द के प्रयोग श्वेताश्वतर के अतिरिक्त अन्य किसी प्राचीन साहित्य में नहीं मिलते। किंतु यह भी सत्य है कि रामानुज ने भी सदैव इस शब्द का प्रयोग प्रेम के अर्थ में नहीं किया है। उनके मत से भक्ति का अर्थ सतत ध्यान है तथा यह अर्थ औपनिषदिक उपासना से समता रखता है। भगवद्गीता का प्राचीन कर्मकाण्डप्रधान धर्म के प्रति वही दृष्टिकोण है, जो उपनिषदों का था। कहा गया है कि कर्मकांड इच्छाओं-एषणाओं का पालन-पोषण करता है। यह हानिकर है। उनके द्वारा प्राप्त फल नश्वर हैं। किन्तु इतने पर भी एकांतिक धर्म कर्मकांड के उन्मूलन में सफल न हो सका। गीता ने शूद्रों, स्त्रियों और सभी वर्णों के लिए द्वार खोल दिया।[1] श्री मद्भगवद्गीता में आत्मा की अमरता तथा नित्यता, समत्वबुद्धि-युक्त निष्काम कर्मयोग, भगवद्शरण से स्त्री वैश्य शूद्र नीचजन्मा पापी सभी के कल्याण की भावना, सगुण निर्गुण रूप की उपासना, ज्ञान की अपेक्षा भक्ति की महत्ता, भक्ति सहित निष्काम कर्मयोग का उपदेश, ज्ञान योग से पराभक्ति की प्राप्ति, भगवान् की अनंत शक्तिमत्ता, अन्तर्यामित्व आदि भक्ति तत्वों का स्पष्ट विवेचन है।[2]

भगवद्गीता द्वारा प्रतिपादित इस प्रकार का एकांतिक धर्म प्राचीन एकांतिक धर्म के समान ही था। किंतु पांचरात्र मत का, जिसमें वासुदेव एकमात्र परमोपास्य थे तथा जिसमें उनके विभिन्न व्यूहों की भी कल्पना की गई थी,

---

[1] क० व० भं०, वा० ४, पृ० ३७-४०।

[2] मि० म०—रानाडे, पृ० २; भगवद्गीता—अध्याय २, ५, ९, १२, १८।

गीता से कोई संबंध नहीं था यद्यपि भक्ति तत्व दोनों में समान रूप से मिलता है। इस पांचरात्र मत का अभ्युदय ईसा पूर्व लगभग तीसरी शती में हुआ था। आगे चलकर जिस भागवत मत का विकास हुआ, उसका मूलाधार पांचरात्र संहिताएँ थीं। रामानुज ने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य (२२. ३९-४२) में इन संहिताओं को उद्धृत किया है। शंकराचार्य ने भी भागवत की उपासना पद्धति को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि इनकी उपासना के पाँच अंग थे—(१) अभिगमन—मन, वचन और कर्म को उपास्य में केंद्रित कर मंदिर में जाना, (२) उपादान—पूजा उपासना की सामग्रियों का संग्रह, (३) इज्या या पूजा, (४) स्वाध्याय—मंत्र जप तथा (५) योग या ध्यान। इस प्रकार की सतत उपासना सभी पापों को नष्ट करनेवाली है तथा अंत में भगवत्प्राप्ति कराती है। नारद पंचरात्र में हरि पूजा के छ अंग बताये गये हैं—(१) उपास्य का स्मरण, (२) नाम गुण का जप और कथन, (३) प्रणति, (४) उनके चरणों में आश्रयग्रहण (५) भक्ति सहित उनकी उपासना, (६) पूर्णतया आत्मसमर्पण। भागवत पुराण में इनके अतिरिक्त तीन अंग और माने गये हैं।[१]

पांचरात्र मत के संबंध में कुछ और बातें जान लेना आवश्यक है। जिस प्रकार शैवों और पाशुपतों को वेदबाह्य आदि कह कर उनका खंडन किया जाता था तथा उन्हें विगर्हित सिद्ध किया जाता था, उसी प्रकार पांचरात्रों के साथ भी किया गया। आगे चल कर पांचरात्रों से प्रभावित मतों में शूद्र, नीचजन्मा और स्त्रियों को भी प्रवेश का अबाध अधिकार दिया गया। इसका मूल प्राचीन साहित्य में मिलता है। सात्वत और पांचरात्रिन् दोनों ही पर्याय हैं। दूसरे सात्वत शब्द से निम्नवर्ण का संकेत मिलता है। वे पंचमवर्ण भी माने गये थे। ये सात्वत मूर्तिपूजा करते थे, वैदिक कर्मों को नहीं करते थे। ब्राह्मणों से इनका कोई सम्बन्ध नहीं था। अतः वे ब्राह्मण भी नहीं थे। बादरायण ने ब्रह्मसूत्रों में पांचरात्रों का खंडन किया था।[२] यामुन मुनि ने विभिन्न प्रमाणों के आधार पर नारायण तथा वासुदेव को वैदिक देवता तथा उनके द्वारा प्रवर्तित पांचरात्र मत को वैदिक मत या वेदसंमत मत सिद्ध किया है। मनु यदि सात्वतों को पंचम कहते हैं तो उसका यह अर्थ नहीं कि सभी सात्वत पंचम हैं। पांचरात्र ग्रंथ वेदों के उपदेशों को साररूप में, विशेष

[१] क० व० भं०, वा० ४, पृ० ५४, ५५-५८।
[२] ए हि० इं० फि०—वा० ३, पृ० १४-१५।

कर उन जनों के लिये उपस्थित करते हैं जो विशाल वैदिक साहित्य का अध्ययन करने में असमर्थ हैं। महाभारत से पता लगता है कि सात्वत क्रियाओं से विष्णु की पूजा होती थी। पुराण साहित्य में कुछ तो ऐसे हैं जो पांचरात्रों का घोर खंडन करते हैं, जैसे कूर्म, पराशर, वशिष्ठ, शाम्ब आदि पुराण, सूत संहिता आदि। इस खंडन के मूल आधार दो थे—(१) वे अवैदिक थे, (२) वे स्त्रियों, शूद्रों को अपने में संमिलित और दीक्षित करते थे। इसके विपरीत महाभारत, विष्णु और भागवत पुराण बड़ी ही दृढ़ता से पांचरात्रों का समर्थन करते हैं। नारदीय, गरुड़, पद्म, वराह आदि पुराण सात्विक पुराण कहलाते हैं।[1] इन सबने पांचरात्रों का समर्थन किया है।

पांचरात्रों के एक हस्तलेख ईश्वर संहिता के अनुसार एकायन वेद ही मूल वेद है और इसी से अन्य वेदों की उत्पत्ति हुई। इस एकायन वेद का उपदेश सर्वप्रथम वासुदेव ने किया था। इसकी स्थिति प्राचीनतम काल में थी। अन्य वेदों का प्रचार परवर्ती काल में हुआ, इसलिये ये विकार वेद कहलाये। जब ये विकार वेद प्रकाशित हुए तथा प्राणी अधिक से अधिक सांसारिक चित्तवाले होते गये तब वासुदेव ने एकायन वेद लुप्त कर दिया तथा उस का उपदेश केवल चुने हुए सनत्सुजाति, सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, कपिल सनातन आदि को दिया जो एकान्तिन् कहलाये। मरीचि, अत्रि, आंगिरस, पुलस्त्य, पुलह, ऋतु, वशिष्ठ और स्वयंभुव जैसे ऋषियों ने इसकी नारायण से शिक्षा ली। इसी के आधार पर पंचरात्र साहित्य की रचना हुई। बाद में एकायन वेद लुप्त हो गया। शांडिल्य ने इस एकायन को संकर्षण से पढ़ा था। इस एकायन वेद की शिक्षाओं को सात्विक शास्त्र कहा गया है। जिन शास्त्रों का निर्माण अंशतः एकायन वेद के आधार पर किया गया तथा अंशतः ऋषियों द्वारा किया गया वे राजस शास्त्र कहलाये। जो केवल मानवों द्वारा निर्मित हैं, वे तामस शास्त्र कहलाये। राजस शास्त्र भी दो प्रकार के हैं—पांचरात्र और वैखानस।[2]

पांचरात्र साहित्य में अहिर्बुध्न्य संहिता बहुत महत्वपूर्ण है। उसमें जीवात्म और परमात्म का संबन्धनिरूपण करते हुए बतलाया गया है कि परमात्मा सर्वोपरि और सर्वोच्च है। जीवात्मा उसका आश्रित है। जीवात्मा की स्थिति परमात्मा के लिये है। इन दोनों का सम्बन्ध शेष-शेषी का है। उनमें नन्तृ-नन्तव्यभाव है। जीवात्मा की ओर से इस प्रकार की हुई उपासना से केवल

[1] वही, पृ० १६-२०।
[2] वही, पृ० २१-२२।

उपासक ही उपास्य के पास नहीं पहुँचता, अपितु स्वयम् उपास्य उपासक के पास उपासक के लिये ही आते हैं। इस प्रकार नमन प्रपत्ति का प्रथम सोपान माना गया। प्रपत्ति भगवान में आश्रय प्राप्त करने का प्रयत्न है। इस प्रपत्ति के आगे के अन्य सोपान हैं—(२) कार्पण्य, (३) महाविश्वास, (४) प्रातिकूल्यविवर्जन, (५) मन, वचन, कर्म आदि का पूर्ण समर्पण आदि। भगवान् के कृपा-कटाक्ष को अर्जित करने के लिये प्रपत्ति, न्यास या शरणागति का यह सिद्धान्त उपर्युक्त संहिता में विस्तार से विवेचित है। इस प्रकार के प्रपत्तिमार्ग का अनुसरण करनेवाला व्यक्ति तप, यज्ञ, तीर्थयात्रा, दान आदि का फल स्वयमेव प्राप्त कर लेता है तथा अन्त में बिना किसी अन्य मार्ग का आश्रयण किये ही वह मुक्ति प्राप्त करता है। इस प्रपत्ति मार्ग के लिये सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व है—भक्त की भगवान् पर दृढ़ निर्भरता, दीनता और पूर्ण कार्पण्य-भावना। उसे केवल प्रार्थना ही करनी चाहिए, शेष सब भगवान् के ऊपर छोड़ देना चाहिए। ऐसे भगवान् के छः गुण बताये गये हैं—(१) ज्ञान, (२) शक्ति, (३) बल, (४) ऐश्वर्य, (५) वीर्य, (६) तेजस्। ये भगवान् से पृथक् रहते हुए भी भगवान् के स्वभाव हैं। जब वे क्रियाशील होते हैं तभी उनकी शक्तियों का प्रकाश होता है। भगवान् के ये गुण प्रकृति के गुणों से भिन्न और परे हैं।[1]

इस प्रकार की साधनापद्धति और सिद्धान्तों से संपन्न पांचरात्र साहित्य अंशतः वेद और तंत्र पर आधारित है। इनमें मंत्रों की बड़ी महत्ता है। मंत्र चिद्रूप विष्णु की शक्ति है जिसकी परवर्ती अभिव्यक्तियाँ हैं—नाद, विंदु, नाभ्युदय या शब्द ब्रह्म। अहिर्बुध्न्य संहिता में शब्द के परवर्ती विकास में कुंडली शक्ति विष्णु की शक्ति मानी गई है तथा मूलाधारादि चक्र, सुषुम्ना नाड़ी आदि का विवेचन किया गया है। यह तांत्रिक साधना बाह्य पदार्थगत शक्तियों (आब्जेक्टिव पावर्स) को अधिकृत करने के लिये व्यवहृत प्रतीत होती है। इड़ा, पिंगला, आदि नाड़ियों, चक्रों, वायुओं, प्राणायाम, समाधि, आसन आदि का वर्णन मिलता है। किंतु, कहा गया है कि ये सभी शारीरिक अभ्यास तब

[1] वही, पृ० ५३-५६। 'फलेप्सा तद्विरोधिनी'—अ० सं०; 'षोढा हि वेदविदुषो वदन्त्येनम् महामुने। आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्। रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणम् तथा। आत्मनिक्षेप-कार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः॥ 'ए० हि० इं० फि०—वा० ३, पृ० ५५; अ० सं० ३७. २७, २८।

तक निरर्थक हैं जब तक इनको आध्यात्मिक योग की ओर उन्मुख नहीं किया जाता। योग का अर्थ है—जीवात्मा परमात्मा का संयोग। परमात्मा की प्राप्ति के दो उपाय बताये गये हैं—(१) आत्मसमर्पण या हृद्योग, (२) योग। हृद्योग अहिर्बुध्न्य का मुख्योपाय है तथा द्वितीय गौणोपाय है।[1] इस संहिता में दो प्रकार की आत्माएँ बताई गई हैं—(१) प्रकृति प्रभावान्तर्गत आत्मा, (२) प्रकृतिमुक्त आत्मा। कर्म भी प्रवर्तक और निर्वर्तक दो प्रकार के बताये गये हैं। प्रथम कर्म इच्छा प्रेरित होते हैं, तथा द्वितीय प्रकार के कर्म इच्छा से निवृत्त करनेवाले होते हैं। द्वितीय कोटि की आत्मा और कर्म, दोनों ही मुक्तिमार्गी हैं। जीवात्मा और परमात्मा के एकात्म में अष्टांग योग (यम, नियम आदि) सहायक होता है।[2] इसी प्रकार अन्य पांचरात्र ग्रन्थों की भी अहिर्बुध्न्य के समान ही आंशिक वैदिकता तथा आंशिक तांत्रिकता सिद्ध हो सकती है।

नारद पंचरात्र ज्ञान रूपी अमृत का सार है। ज्ञान, योग और भक्ति का समन्वय इस ग्रंथ में मिलता है। आध्यात्मिक ज्ञान वेद का सार है। इसी प्रकार हरिभक्तिप्रद ज्ञान, मुक्तिप्रद ज्ञान, योगयुक्त ज्ञान तथा सिद्धिद ज्ञानों की गणना की गई है। इस तरह ज्ञान के पाँच प्रकार बताये गये हैं।[3] माता और पिता पुत्र के कर्ममूल का निकृन्तन करने में समर्थ नहीं हैं। गुरु शिष्य के कर्ममूलों का निकृन्तन करता है। ज्ञान का उद्गिरण करने के कारण ही व्यक्ति गुरु कहा जाता है। वह ज्ञान तंत्र और मंत्र का है। किंतु वे ही तंत्र और मंत्र (वास्तविक) हैं जिनसे कृष्णभक्ति उत्पन्न हो।[4] पाँच संवादों के कारण ही इसे पंचरात्र कहते हैं। इसमें पंचविध ज्ञान की व्याख्या है। इस पंचरात्र को कृष्ण ने ब्रह्मा को, ब्रह्मा ने महादेव को, महादेव ने नारद को,

---

[1] वही, पृ० ५७-६१। 'संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः।' अ० सं० ३१, १५। नाड़ियों और चक्रों का स्थान निरूपण तथा विवरण आयुर्वेद तथा शाक्त तंत्रों में उपलब्ध निवारण से भिन्न है।

[2] एहि० इं० फि०—वा० ३, पृ० ६१।

[3] नारद पंचरात्र—सं० के० एम० बनर्जी, रात्र १, अध्याय ९, श्लोक ६-७, पृ० ६२-६३।

[4] वही, १. १०. ९-१०, पृ० ६७—'गुरुश्च ज्ञानोदिगृरणात् ज्ञानं स्यान्मन्त्रतन्त्रयोः। तत्तन्त्रं स च मन्त्रश्च कृष्णभक्तिर्यतो भवेत्।'

नारद ने व्यास को, व्यास ने अपने पुत्र शुकदेव को दिया।[१] केवल एक ईश्वर को स्वीकार करते हुए कहा गया है कि निखिल विश्व में एक ही ईश्वर है। सभी उसके कर्म से सिद्ध तथा उसकी माया से मोहित हैं। भक्ति की सिद्धि के लिए भी विधि-निषेध मिलते हैं। भक्तालाप से भक्तिवृक्ष-नवांकुर उत्पन्न होता है। अभक्त के साथ आलाप तथा संग से यह अंकुर सूख जाता है। इसीलिये संत लोग सत्संगति की कामना करते हैं। इसी लिये वैष्णव की संगति करनी चाहिए। इस भक्तिसिद्धि के लिये भक्त को छः प्रकार से भजन करना चाहिए––(१) स्मरण, (२) कीर्तन, (३) वंदन, (४) पादसेवन, (५) पूजन, (६) सतत भक्ति के साथ परा कोटि का स्वात्म-निवेदन। उस वैष्णव की महापवित्रता का गायन किया गया है जिसको गुरुमंत्र से कृष्णमंत्र की प्राप्ति हुई है।[२] अहिंसा को परम धर्म कहकर उसे परमनिर्वाणकारण कहा गया है। साथ ही तीर्थस्नान तथा वेदोक्ताचरण को भी निर्वाणकारण कहा गया है।[३] अहिबुध्न्य संहिता की तरह ही इसमें भी योग का उपदेश मिलता है, जिसे महादेव ने नारद को दिया है। इसमें नाड़ियों और चक्रों की विवेचना है। सहस्रदलपद्म में सूक्ष्मरूपेण गुरु को स्थित माना गया है। नर रूप में जो गुरु दिखाई पड़ते हैं, वे वास्तव में, उस सूक्ष्म गुरु के प्रतिबिम्ब हैं। शिष्य की हितकामना के लिये गुरु रूप में स्वयम् कृष्ण ही प्रत्यक्ष होते हैं। गुरुतुष्टि से ही हरि तुष्ट होते हैं हरितुष्टि से जगत् तुष्ट रहता है। गुरु ही ब्रह्मा है, विष्णु, देव, महेश्वर है, परब्रह्म है। सबसे तुष्ट रहने पर भी यदि गुरु असंतुष्ट रहे तो कोई भी रक्षा नहीं कर सकता। हरि के रुष्ट होने पर गुरु रक्षा करने में समर्थ है। भक्तिज्ञान के संबन्ध में कहा गया है कि भक्तों का जो ज्ञान है उसे ही भक्तिज्ञान कहते हैं तथा इसी प्रकार निर्गुण ज्योति का ज्ञान करनेवाले योगियों के ज्ञान को योगज्ञान कहा जाता है। नाड़ियों और चक्रों के योग से वह उसे परम ज्योति मानकर दर्शन करता है। समय पाकर, सुपक्व योगी भक्तिपूर्वक ध्यान करते हुए वैष्णव हो जाता है। देह की दृढ़ता दास के लिये आवश्यक है। बिना दृढ़ देह के दास्य कैसा? वैष्णवों का ही मत श्रेष्ठ है। सभी ब्रह्माण्डों में वैष्णव सा श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी नहीं है।[४]

---

[१] वही, २. १. १२-१५, पृ० ११०।

[२] वही, २.१.२२, पृ० १११; २.२.४—११, १५, पृ० ११४-११५।

[३] वही, २.७.३८, ४०, ४२, पृ० १५४।

[४] वही, २.८, पृ० १५६-१५९। श्लो० १९, २०, ३५, ३६, ३७।

नारद पंचरात्र में अर्चाविधि भी बड़े विस्तार से बताई गई है जिसमें आवाहन, पाद्य, आचमन, मधुपर्क, पुनराचमन, स्नान, वस्त्र, उत्तरीय, यज्ञोपवीत, आभूषण, जल, गन्ध, पुष्प, दीप, नैवेद्य को क्रमशः मान्यता दी गई है। पूजा भी पाँच प्रकार की बताई गई है—अभिगमन, आदान, योग, स्वाध्याय और इज्या। (शंकराचार्य द्वारा वर्णित प्रकारों से यह अभिन्न प्रतीत होती है)। देवस्थान में जाकर वहाँ का मार्जन, उपलेपन, निर्मालकदूरीकरण आदि की क्रिया अभिगमन में संमिलित है। गन्धपुष्पादिचयन उपादान है। स्वदेह की आत्मत्वेन भावना योग है। स्वाध्याय में मंत्रार्थसंधानपूर्वक जप, सूक्तस्तोत्रादि का पाठ, हरिसंकीर्तन, तत्वादिशास्त्राभ्यास की गणना की गई है। स्वदेव का पूजन ही इज्या है। इन्हीं के क्रम से सार्ष्णि (?), सामीप्य, सालोक्य सायुज्य और सारूप्य नाम की पाँच स्थितियाँ भी मानी गई हैं।[१] भक्त के लिये बताया गया है कि कलि में विष्णु का स्मरण, कीर्तन, मंत्रजप तथा दान का आचरण उपास्य की प्रीति के लिये, उसकी प्रसन्नता के लिये करना चाहिए।[२] ज्ञानों में हरिभक्तिप्रद ज्ञान ही ज्ञान है।[3] इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि अहिर्बध्न्य संहिता और नारद पंचरात्र में बहुत सी समानताएँ लक्षित होती हैं। मध्ययुगीन भक्तिवाद और विशेषकर संतों के भक्तिवाद की दृष्टि से नारद पंचरात्र के उपदेश अति महत्वपूर्ण हैं। आधुनिक दृष्टि से विचार करने पर डा० रानाडे के अनुसार पांचरात्रों में 'कृपा' तत्व स्वीकार कर लेने के कारण उनका ईश्वरवादी महत्व स्थिर होता है। कृपा उस करुणा के रूप में प्रतीत होती है जो दिव्य लोक से पृथ्वी पर अवतरित होती है। पंचरात्र अद्वैत वादी भाषा का भी प्रयोग प्रायः नहीं करते तथा अन्तर्यामिन् तत्व को भी स्वीकार नहीं करते जिसके आधार पर श्रेडर ने इसे 'विश्वदेववाद' (पैन्थीज्म) से संबद्ध माना है। अद्वैत मत से इसका कोई सादृश्य नहीं दिखाई पड़ता और न यह अद्वैतमत के मायावाद का समर्थन ही करता है।[४]

नारद से संबद्ध दूसरी महत्वपूर्ण रचना भक्तिसूत्र है। एक दूसरा महत्वपूर्ण भक्तिसूत्र शांडिल्यकृत है। इन दोनों सूत्र ग्रंथों का समय निश्चित करना बहुत

---

[१] वही, ४.१०.३–१९, पृ० २९६–२९८; ४.१०.२०–२५, पृ० २९८–२९९।

[२] वही, ४.११.२५, पृ० ३०२।

[3] वही, २.२.१, पृ० ११४—'हरिभक्तिप्रदं ज्ञानं ज्ञानं पंचविघेषु च।'

[४] मि० म०, पृ० ५।

कठिन है। फिर भी दोनों के तुलनात्मक अध्ययन से प्रतीत होता है कि शांडिल्यकृत भक्तिसूत्र नारद के सूत्र की अपेक्षा प्राचीन है, कारण कि नारद भक्तिसूत्र में शांडिल्य के भक्ति सम्बन्धी मत की ओर संकेत किया गया है।[१] शांडिल्य की सूत्रपद्धति अन्य दार्शनिक सूत्रों की सूत्रपद्धति का अनुसरण करती दिखाई पड़ती है। किंतु शांडिल्य ने कहीं भी नारद की ओर संकेत नहीं किया है। अतः निश्चय ही शांडिल्यसूत्र प्राचीनतर, डा० रानाडे के मत से, है। शांडिल्य के सूत्र अधिक सैद्धांतिक हैं जिनमें ब्रह्म, जीव, उनके संबंध, विश्वोत्पत्ति आदि का विचार किया गया है जब कि नारद भक्तिसूत्र में अचानक भक्ति का विवेचन आरम्भ कर विश्लेषण तथा विभिन्न पक्षों का निरूपण किया गया है और साथ ही केवल दार्शनिक विचार का निषेध किया गया है। दोनों ही भगवद्गीता को उद्धृत करते हैं तथा इस प्रकार परवर्ती भक्ति साहित्य को भगवद्गीता से संबद्ध कर देते हैं। जहाँ तक भक्तिवाद का संबन्ध है दोनों में अधिक अंतर नहीं प्रतीत होता। डा० रानाडे मानते हैं कि दोनों ने भक्ति दो भिन्न प्रकार की मानी है।[२]

शांडिल्य के भक्तिसूत्र में सैद्धान्तिकता अपेक्षाकृत अधिक है। इसमें ईश्वर में परानुरक्ति को ही भक्ति कहा गया है। इस प्रसिद्ध परिभाषा के सूत्र का लोगों ने भिन्न-भिन्न अर्थ किया है। पहले पं० राचन्द्र शुक्ल के मत के परिचय में बताया गया है कि परानुरक्ति का अर्थ है निर्हेतुक या निष्काम अनुरक्ति। डा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त ने शांडिल्य के भक्तिसूत्र की स्वप्नेश्वर कृत टीका को उद्धृत कर बतलाया है कि अनुरक्ति राग है और 'परानुरक्तिरीश्वरे' सूत्र का अर्थ है—आराध्यविषयक परा कोटि का राग।[3] शांडिल्य ने अमृतत्व को भक्ति से संबद्ध कर दिया है। उन्होंने भक्ति को ज्ञान से श्रेष्ठ माना है। भक्त, कर्मी और योगी, दोनों से श्रेष्ठ है। भक्ति ईश्वर के ऐश्वर्य और साथ ही आत्म तत्व से भी संबद्ध है। पुरुष प्रकृति के अंतराल से जगत् की सृष्टि करता है किंतु जगत् ईश्वर में ही स्थित है। प्रकृति या माया मिथ्या नहीं है क्योंकि यह ईश्वर की शक्ति है।[४] सम्मान, बहुमान, प्रीति, विरह, भगवद्-

---

[१] वही, पृ० १२; ना० भ० सू०, त्यागीशानंद, सू० १८, पृ० ६।

[२] मि० म०, पृ० १२।

[3] शांडिल्यभक्तिसूत्र, अध्याय १, आह्निक १, सूत्र२; ए हि० इं० फि०, वा० ४, पृ० ३४९।

[४] शां० भ० सू०—१. १. ३; १. २. १०, २२; २. १. २९-३१; २. १. ३७, ४२।

भिन्न के प्रति अरुचि, महिमा का वर्णन, भगवान् के लिये ही जीवन धारण, सर्वतद्भाव, अप्रातिकूल्य, स्मरण आदि भक्तिसूचक चिह्न माने गये हैं। भगवान् कारुण्य के कारण ही दिव्य जन्मकर्म धारण करते हैं। गौणी भक्ति, परा भक्ति की प्राप्ति में हेतु है। यह गौणी भक्ति भी तीन प्रकार की बताई गई है। स्मृति, कीर्तन, कथादि श्रवण, प्रायश्चित्तस्वरूप कहे गये हैं। उच्च जाति से लेकर निम्न योनि तक के लोगों का समान अधिकार भक्ति में स्वीकार किया कया है। जीव और ईश्वर में एकता है। उपाधियोग से उनमें नानात्व की प्रतीति होती है। अनन्य भक्ति से साक्षात्कार संभव बताया गया है।[१] संपूर्ण शांडिल्य भक्तिसूत्र को पढ़ने से शांडिल्य का परंपरावादी एवम् मर्यादावादी दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है जिसे अन्य विद्वानों ने भी स्वीकार किया है।

अपने भक्तिसूत्र में नारद ने भक्तिस्वरूप, भक्तिप्राप्ति, निरोध, कार्य, लक्षण, भक्तिश्रेष्ठता, भक्तिसाधन, त्याज्य, प्रेमस्वरूप, भेद, प्रमाण, लोकवेद, विधि-निषेध, भक्त, वाद, शास्त्र आदि का विचार किया है। नारद द्वारा निरूपित भक्ति का अर्थ ईश्वर में परम प्रेम है। परम प्रेम ही इस भक्ति का रूप है। यह भक्ति अमृतस्वरूपा है जिसका लाभ कर पुरुष सिद्ध, अमृत और तृप्त हो जाता है। इसे प्राप्त कर वह न किसी वस्तु की इच्छा करता है, न किसी से दुःखी होता है, न किसी से द्वेष करता है, न किसी में रमता है, न किसी वस्तु (के भोग) में उसे उत्साह ही होता है। इस भक्ति (के स्वरूप) के ज्ञान से वह (मस्त) मत्त हो जाता है, स्तब्ध हो जाता है, वह अपने में ही रमण करने लगता है।[२] उस भक्ति के लाभ, प्राप्ति एवम् ज्ञान से किसी अन्य की कामना नहीं रह जाती। यह भक्ति ही (अपने प्रभाव से) कामना नहीं रहने देती (या कामना नहीं करने देती), क्योंकि यह सभी का निरोध करनेवाली है। लौकिक (अहोरात्र चर्या) और वैदिक व्यापारों (नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्मों) का न्यास (समर्पण/शुद्धिकरण) ही निरोध है।[3] ईश्वर के प्रति अनन्यता होनी चाहिए। इस अनन्यता का विरोध करनेवाले तत्वों के प्रति उदासीनता होनी चाहिए। भगवान् के अतिरिक्त जो अन्य आश्रय कहे जाते हैं, उनका त्याग

---

[१] वही, २. १. ४४; २. २. ५६; २. २. ७२; २. २. ७४; २. २. ७८; ३. २. ९३।

[२] नारद भक्तिसूत्र—स्वामी त्यागीशानंद का संस्करण—सूत्र २-६।

[3] वही, सूत्र ७-८।

ही अनन्यता है। उस भगवान् के अनुकूल जो लौकिक और वैदिक आचार हैं, केवल उन्हीं को करना चाहिए। भगवान् के विरुद्ध जो आचार हैं उनके प्रति उदासीनता होनी चाहिए। जब तक भगवान् के प्रति भाव में निश्चय की दृढ़ता न आ जाय तब तक ही शास्त्ररक्षण होना चाहिए अन्यथा पतन की आशंका रहती है। जैसे शरीरधारण तक के लिए भोजनादि व्यापार हैं, उसी प्रकार लोकरक्षण या लौकिक कर्मरक्षण भी होना चाहिए। (कुछ लोग यहाँ शास्त्र की तरह ही लोकरक्षण भी मानते हैं तथा लौकिक कर्मो में शरीर-धारण तक के लिये भोजनादि व्यापारों को आवश्यक बतलाते हैं। नारद के सूत्र का कुछ लोगों ने इसी प्रकार अर्थ एक भिन्न मत के अनुसार किया है। निश्चय की दृढ़ता तक लोककर्मरक्षण लेकिन शरीरधारण तक भोजनादि व्यापारों का रक्षण होना चाहिए)।[१]

नारद के अनुसार भगवान् में अखिल आचारों का अर्पण तथा उस भगवान् के विस्मरण में परम व्याकुलता भक्ति के लक्षण हैं। नारद की दृष्टि में यही मत ठीक है क्योंकि ऐसा ही व्रजगोपिकाओं में भी दिखाई पड़ता है। किंतु व्रजगोपिकाओं में भगवान् के माहात्म्यज्ञान की विस्मृति नहीं थी क्योंकि माहात्म्य-ज्ञान के विस्मरण से जारों की तरह प्रेम हो जाता है। जैसा जारों के साथ प्रेम किया जाता है, वैसा प्रेम व्रजगोपिकाओं में नहीं था क्योंकि वे भगवान् के सुख में ही सुखी होती थीं।[२]

व्रजगोपिकाओं जैसी यह भक्ति कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग एवम् योगमार्ग से भी श्रेष्ठ है क्योंकि भक्ति स्वयम् फलरूप है। (कर्म ज्ञान और योग में अभिमान रहता है और) ईश्वर को अभिमान से द्वेष है तथा दैन्य उन्हें प्रिय है। इसीलिये केवल वही फलरूपा भक्ति मुमुक्षुओं द्वारा ग्राह्य होनी चाहिए।[3]

आचार्य लोग ऐसी फलरूपा, ज्ञान एवम् कर्म से श्रेष्ठ भक्ति के साधनों का निर्वचन करते हैं। इस भक्ति का साधन विषयत्याग, संगत्याग, अखंड भजन, लोगों के बीच भगवद्गुणश्रवण और कीर्तन से होता है। मुख्यतया इसका साधन महज्जनों की कृपा से या भगवत्कृपा के लेशमात्र से ही हो जाता है। किंतु महज्जनों का संग दुर्लभ, अगम्य एवम् अमोघ है। इसका भी लाभ ईश्वरकृपा से हो जाता है क्योंकि भगवान् में और उनके प्रिय महज्जनों में अभेद है।

[१] वही, सूत्र ९-१४।
[२] वही, सूत्र १५-२४।
[3] वही, सूत्र २५-३३।

इसलिये उस (भगवत्) कृपा का ही साधन करना चाहिए। दुस्संग का सर्वथा त्याग करना चाहिए क्योंकि यह काम, क्रोध, मोह, स्मृतिभ्रंश, बुद्धिनाश, सर्वनाश का कारण है। ये कामक्रोधादि तरंगवत् रहते हुए दुस्संग से समुद्र रूप धारण करते हैं। उनसे वे ही पार उतरते हैं जो दुस्संग का त्याग कर देते हैं, महानुभावों का सेवन करते हैं या उनका संग करते हैं, ममतारहित हो जाते हैं। जो लोग एकान्त स्थान का सेवन करते हैं, लौकिक बंधनों का उन्मूलन करते हैं, सत्व, रजस्, तमस् के विकारों से रहित हो जाते हैं, योगक्षेम का त्याग (भगवान् में समर्पण) करते हैं वे ही पार होते हैं। जो कर्मफलों का त्याग (समर्पण) करता है, कर्मों को समर्पित करता है और निर्द्वन्द्व हो जाता है, वेदों (वेदविहित कर्मों) से संन्यास करता है, वेदविहित भगवदनुकूल कर्मों का भी भगवान में समर्पण कर देता है, केवल अविच्छिन्न अनुराग का लाभ करता है, वही इन समुद्रों से पार उतरता है। वह स्वयम् भी पार होता है और दूसरों को भी पार उतारता है।[१]

जिस प्रेम का संकेत नारद ने द्वितीय सूत्र में किया है, उसका स्वरूप-निर्वचन भी आगे किया है। इस प्रेम का स्वरूप अनिर्वचनीय है। मूक आस्वादन करके जिस प्रकार स्वाद का निर्वचन करने में असमर्थ होता है, उसी प्रकार भक्त भी इस प्रेम का आस्वादन कर उसका निर्वचन नहीं कर पाते। इस प्रेम का प्रकाशन किसी किसी में ही होता है। यह प्रेम गुणरहित (त्रिगुणरहित) एवम् कामनारहित है। इस अवस्था में कोई कामना नहीं होती। एक बार प्रकाशित हो जाने पर इसकी प्रतिक्षण वृद्धि होती रहती है। आलंबन से इसका कभी भी वियोग नहीं होता। यह सूक्ष्मतर है तथा केवल अनुभवगम्य है। इसकी प्राप्ति हो जाने पर भक्त केवल इसी को सर्वत्र देखता है, केवल प्रेम की ही बात सुनता है, केवल प्रेम का वर्णन करता है, उसी का चिंतन करता है। भक्त के गुण के अनुसार ही कही जानेवाली गौणी भक्ति तीन प्रकार की होती है—सत्व, रजस्, और तमस के आधार पर या आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी के आधार पर। बादवाले से पूर्व की (अर्थात् जिज्ञासु से आर्त, राजस से सात्विक) भक्ति श्रेष्ठ है। अन्य (ज्ञान, कर्म, योग) की अपेक्षा भक्ति में अधिक सुलभता है। इस भक्ति के लिए अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है क्योंकि यह स्वयम् प्रमाण है। इसका कारण यह है कि यह शांतिरूप है, परमानंदरूप है।[२]

---

[१] वही, सूत्र ३४-५०। [२] वही, सूत्र ५१-६०।

भगवान् में अपने को, लोक (लौकिक कर्म), वेद (वैदिक कर्म) और शील को निवेदित कर देने के कारण लौकिक कर्म की हानि की चिंता नहीं करनी चाहिए। भक्ति की सिद्धि न होने तक लोकव्यवहार हेय नहीं है। किंतु भक्ति साधन के रूप में फल त्याग करना चाहिए। स्त्री, धन, नास्तिक, बैरी (भगवद्भक्ति के शत्रु) के चरित्रों का श्रवण नहीं करना चाहिए। अभिमान दंभ आदि का भी त्याग करना चाहिए। उस भगवान् में अखिल आचारों को समर्पित करते हुए काम, क्रोध, अभिमान आदि का भी भाव उसी भगवान् के प्रति रखना चाहिए। त्रिरूप (ईश्वर, भक्त और भक्ति) का भंग करके नित्य दास या कान्ता भाव से भजनात्मक प्रेम करना चाहिए।[1] एकान्तिन् भक्त ही मुख्य होते हैं। ये भक्त अनन्य होते हैं। ऐसे भक्त कंठावरोध रोमांच, अश्रु आदि के साथ परस्पर भगवदालाप करते हुए अपने कुल को तथा पृथिवी को पवित्र करते हैं। इस प्रकार के भक्त तीर्थों को तीर्थ करते हैं (वस्तुतः तीर्थत्व प्रदान करते हैं), कर्मों को सुकर्म बनाते हैं, शास्त्रों को सत् शास्त्र बनाते हैं। वे इस प्रकार सदैव भगवन्मय रहते हैं। ऐसे भक्तों को देखकर पितृगण प्रसन्न होते हैं, देवता प्रसन्नता से नृत्य कर उठते हैं। यह पृथ्वी भी इन्हीं से सनाथ हो जाती है (पृथ्वी के लोगों को इनमें आश्रय मिलता है)। इन लोगों में जाति, विद्या, रूप, कुल, धन, क्रिया आदि के आधार पर कोई भेद नहीं होता क्योंकि ये सभी भगवान् के ही हैं। ऐसे प्रेमियों को वाद-विवाद का अवलंबन नहीं करना चाहिए क्योंकि इससे वाद (मत) में बाहुल्य का अवकाश रहता है तथा वह भी अनियत रहता है। इनका त्याग कर (उतने समय में) भक्तिशास्त्रों का मनन करना चाहिए तथा भक्ति के उद्बोधक कर्मों को करना चाहिए। सुख, दुःख, इच्छा, लाभ आदि का पूर्ण त्याग होने तक क्षण भर भी व्यर्थ नहीं जाने देना चाहिए। अहिंसा, सत्य, शौच, दान, आस्तिक्य आदि सदाचारों का परिपालन करना चाहिए। सर्वथा, सर्वदा एवम् सर्वभाव से निश्चित होकर भगवान् का भजन करना चाहिए। इस प्रकार कीर्तित होकर भगवान् आविर्भूत होते हैं तथा भक्तों को अपना अनुभव कराते हैं। यह भक्ति तीनों कालों में ही सत्य है, श्रेष्ठ है। यद्यपि यह स्वरूपतः एक ही है किंतु इसके एकादश प्रकार हैं—गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, वात्सल्यासक्ति, कान्तासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयासक्ति, परमविरहासक्ति। सामान्य जनों की कल्पना

---

[1] वही, सूत्र ६१-६६।

की परवाह न करनेवाले, भक्ति के सम्बन्ध में एकमत कुमार, व्यास, शुक, शांडिल्य, गर्ग, विष्णु कौंडिन्य, शेष, उद्धव आरुणि, बलि, हनुमान, विभीषण आदि भक्ति के आचार्य भक्ति के संबंध में ऐसा ही कहते हैं।[1]

नारद के उपर्युक्त भक्ति संबंधी मत को इतने विस्तार से इसलिये उपस्थित किया गया है कि हम इसी आधार पर आगे संतों की भक्ति का विवेचन करना चाहते हैं। नारद को या इनके नाम से प्रसिद्ध भक्ति संबंधी विचारों को इतना महत्व क्यों दिया गया है इसकी ओर संक्षिप्त संकेत हम पहले ही कर चुके हैं और आगे भी करेंगे। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि कबीर का रामानंद से, रामानंद का राघवानंद से तथा राघवानंद का रामानुज की परंपरा से संबंध था। अतः कबीर के भक्ति संबंधी विचारों को एक ऐतिहासिक परंपरा में रख कर देखने के लिये नारद, पांचरात्र आदि मतों के साथ ही रामानुज तथा उनके मत से संबद्ध विचारों को भी संक्षेप में देख लेना चाहिए। दूसरी बात यह है कि अभी तक जो भी परिचय दिया गया है, उसमें भक्ति के बहुत से पक्ष और तत्व अव्याख्यात रह गये हैं। इसमें कबीर की तथा अन्य संतों की भक्ति का भी शास्त्रीय निरूपण हो सकेगा। रामानुज का भक्ति संबंधी मत सर्वथा मौलिक नहीं है और न प्राचीन मत का सर्वथा उल्था ही है। अभी साधारणतया, लोग यह भी मानते हैं कि रामानुज तथा उनकी परंपरा के आचार्यों ने आल्वारों की भक्ति का शास्त्रीय व्यवस्थापन किया किंतु ध्यान देने योग्य है कि आल्वारों के तथा रामानुज के भक्तिमत में विषमता के कई विंदु हैं।[2]

अष्टादशरहस्यार्थविवरण के अनुसार भगवान् के पास पहुँचने का प्रमुख साधन आत्मसमर्पण या प्रपत्ति है। प्रपत्ति वह अवस्था है जिसमें चित्त भगवान के प्रति प्रार्थनामय रहता है। उसमें उस समय यह विश्वास रहता है कि केवल भगवान् ही रक्षक हैं तथा उसी की कृपा को प्राप्त करने का एकमात्र मार्ग आत्मसमर्पण है। भक्त केवल भगवान् के प्रति सच्चा होता है और तदनुसार प्रार्थना भी करता है। उसकी सभी प्रार्थनाएँ गंभीर प्रेम से पूर्ण रहती हैं। इस दशा में भक्त में विश्वव्यापक करुणा, सहानुभूति तथा अपने भयंकर शत्रु के प्रति भी मित्र की भावना रहती है। ऐसी अवस्था में वह समझता है कि आत्मा और परमात्मा की प्रकृति एक है तथा प्रत्येक दशा में

---

[1] वही, सूत्र ६७-८४।

[2] ए हि० इं० फि० वा०, ३, पृ० ८५-९३।

भक्त केवल परमात्मा पर ही निर्भर होने योग्य है। भक्त की इस भावना को कि शास्त्रविहित सभी कर्म इस परम लक्ष्य को प्राप्त करने में सदैव सहायक नहीं हो सकते, पारिभाषिक शब्दों में, 'उपाय शून्यता' कहते हैं। यह ऐसी भावावस्था है जिसमें सभी अन्य उपायों की निरर्थकता का साक्षात्कार होता है। भक्त सभी आई हुई विपत्तियों में मुसकराता रहता है, अपने को परमात्मा का दास समझता हुआ वह उनके पार्षदों द्वारा आरोपित विपदाओं को सहता रहता है। इसी को पारतन्त्र्य कहते हैं। भक्त अपनी इस आत्मा को चित् तत्व का सार समझता है, जिसकी अपने आपमें कोई स्वतंत्रता नहीं है। उस आत्मा को वह सभी प्रकार से भगवान् पर निर्भर मानता है तथा उसी के लिये उसकी सत्ता भी स्वीकार करता है।[1]

वैष्णव लोग प्रायः एकान्तिन् कहे जाते हैं तथा कभी कभी उन्हें एकेश्वर-वादी भी कह दिया जाता है। किंतु एकांतिन् का मुख्य गुण प्रपत्ति है जिसका अर्थ है अचंचल और दृढ़ भाव से भगवान् से चिपके रहना, उनके प्रति पूर्ण सचाई का भाव रखना। सभी प्रकार की विरुद्ध परिस्थितियों में भी भक्त का मन सदैव भगवान् की दिव्य उपस्थिति से प्रमुदित रहता है। वह भक्त की सभी इन्द्रियों, उसकी प्रवृत्तियों, संवेगों, भावों और अनुभावों को उज्जीवित करता रहता है। भक्त अपनी संपूर्ण क्रियाओं, कर्मों, विचारों में, विश्व में जो कुछ भी है, सबमें उस परमात्मा का साक्षात्कार करता है। इस प्रकार की साधना से वह एक ऐसे लोक में प्रवेश करता है जहाँ लौकिक वासनाएँ, लोभ, ईर्ष्या, घृणा आदि असम्भव होते हैं। उस परम तत्व की प्रत्यक्ष विश्व में उपस्थिति से वह पृथ्वी के सभी जीवों के प्रति करुणा, मित्रता आदि की भावना से पूर्ण हो जाता है।[2]

भक्त को गुरु से उचित दीक्षा लेनी चाहिये। उससे, जो कुछ भी मन में है, सब मुक्त भाव से कह देना चाहिए। इस प्रकार सरलतया वह विष्णु का सेवक हो जाता है। उसे भगवान् के प्रति विश्व तथा आत्मा के पूर्ण निर्भर भाव की दार्शनिक धारणा भी रखनी चाहिए। इस प्रकार की धारणा, भक्त को, उसकी सभी इंद्रियों की क्रियाओं के साथ ही, परमात्मा का साक्षात्कार करने में लीन कर देगी। इससे इंद्रियसंयम भी सरलतापूर्वक हो

---

[1] वही, पृ० ८६-८७, पृ० ३, ए हि० इं० फि०, वा० ३, पृ० ८६, पादटिप्पणी।

[2] वही, पृ० ८७।

सकेगा। इस साक्षात्कार से भक्त उन सदाचारी वीरों जैसा व्यवहार करता है जिनके ऊपर वासनाओं का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। उसी को नित्य-सूरत्व कहते हैं। सामान्य धार्मिक कर्तव्य, जैसा वेदों और स्मृतियों में निहित है साधकों के केवल अनतिउच्च वर्गों के लिये है। भक्ति की उचित प्रवृत्ति से अपने को भगवान् के चरणों में सर्वथा समर्पित कर देनेवाले व्यक्तियों के लिये सामान्य लोगों के कर्म करना आवश्यक नहीं है। ऐसा पूर्णतया समर्पित भक्त भगवान् की नैसर्गिक कृपा से मुक्त होता है और बिना शास्त्रविहित कर्मों को किये ही उनका फल भोगता है। वह सदैव अपने दोषों के प्रति जागरूक रहता है किंतु दूसरों के दोषों पर कभी भी ध्यान नहीं देता। उन लोगों के प्रति वह अंधवत् व्यवहार करता है। वह सदैव यह अनुभव करता है कि उसके सभी कर्म भगवान् के पूर्ण शासन में हैं। वह भक्त अपने लिये किसी भी वस्तु का भोग नहीं करता क्योंकि वह सदैव यह अनुभव करता है कि वह भगवान् ही हमारी सभी इंद्रियों के माध्यम से स्वयं भोग करता है।[1]

रामानुज तथा उनके अनुयायियों की दृष्टि से कर्मयोग और ज्ञानयोग, भक्तियोग के लिये, चित्त को शुद्ध करने में सहायक होते हैं। यह चित्तशुद्धि भक्तियोग के लिये पूर्वप्रयत्न है। गुरु भक्ति भी प्रपत्ति का एक प्रकार है। इस प्रकार भगवत् प्राप्ति के लिये केवल दो मार्ग हैं—भक्तियोग और प्रपत्ति।[2] प्रपत्ति को ही न्यास भी कहते हैं। कुछ लोग मानते हैं कि प्रपत्ति में पाँच तत्व हैं—(१) भगवान् एक मात्र रक्षक है, (२) वही एकमात्र प्राप्य है, (३) वही हमारा प्रेय है—इच्छाओं का एकमात्र आलंबन है, (४) हम अपने को पूर्णतया उसके प्रति समर्पित करते हैं और उसी पर अपने को छोड़ देते हैं, (५) परा कोटि की प्रार्थना। ये सभी उसके प्रति सच्ची भावना से किये जाने चाहिए।[3] इसी प्रकार प्रपन्न की व्याख्या करते हुए कहा जाता है कि प्रपन्न वह साधक है जिसने आल्वार प्रबंधों को पढ़ लिया है। कुछ लोग इसके अतिरिक्त प्रपत्ति के अभ्यास को भी आवश्यक मानते हैं। कुछ के अनुसार वही व्यक्ति प्रपत्ति मार्ग का अधिकारी है जो कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग में सक्षम न हो और इनकी चिंता भी अधिक न करता हो। प्राचीन मत मानता

---

[1] वही, पृ० ८७-८८। अष्टादशरहस्यार्थविवरण, पृ० १५, ए हि० इं० फि०, वा० ३, पृ० ८७।

[2] वही, पृ० ८९।

[3] वही, पृ० ९०-९१।

है कि प्रपन्न को सभी शास्त्रोक्त कर्म तथा आश्रमविहित कर्म त्याग देने चाहिए। गीता में भी कहा गया है कि सब कुछ छोड़कर प्रपन्न होना चाहिए। कुछ लोग इन कर्मों को आवश्यक मानते हैं। एक भिन्न मत से ये कर्म केवल लोकसंग्रह के लिये हैं। कुछ के अनुसार इन कर्मों को भगवदाज्ञा मानकर भगवत्प्रीत्यर्थ करना चाहिए।[1]

इसी प्रकार प्रपत्ति के अंग बताये गये हैं—(१) भगवान् के अनुकूल रहने का संकल्प, (२) प्रतिकूल का वर्जन, (३) परा प्रतीति कि वह भक्त की रक्षा अवश्य करेगा, (३) रक्षक के रूप में उसकी प्रार्थना, (५) पूर्ण आत्म-समर्पण, (६) पूर्ण दीन तथा असहाय होने की भावना। प्राचीन लोग प्रपन्न होने के लिये इनमें से किसी का भी पालन आवश्यक मानते हैं तथा यह पालन भी अपनी परिस्थिति, मानसिक प्रकृति के अनुसार ही मानते हैं। दूसरे लोगों का मत है कि प्रपन्न के लिये इन सभी छः अंगों का होना आवश्यक है।[2]

रामानुज और वेंकट के अनुसार परमतत्व अन्तर्यामी के रूप में हम सबमें वर्तमान है। सभी आत्माएँ ईश्वर में निवास करती हैं। आत्माएँ ईश्वर का शरीर हैं। जीवात्मा यद्यपि अपने शुद्ध रूप में चित् है तथापि अचित् के संपर्क में आने पर यह अज्ञान और वासना से ग्रस्त हो जाती है। अविद्या का अर्थ है—ज्ञान का अभाव, मिथ्या ज्ञान, विशेषताओं का मिथ्या आरोप। जब चित्-अचित् का यह संबंध नष्ट हो जाता है तब जीवात्मा अविद्या से मुक्त हो जाती है तथा परिणामतः मुक्ति की उपलब्धि होती है।[3] रामानुज ने वेदार्थ संग्रह में बताया है कि ईश्वर तब उस व्यक्ति को मुक्ति प्रदान करता है जब वह सद्गुरु के उपदेश के अनुसार शास्त्रों से सत्य ज्ञान प्राप्त करने के बाद प्रतिदिन आत्मसंयम, तप, शुचिता में अपने को लगाये रहता है, क्षमा, निष्क-पटता, दान, अहिंसा का अभ्यास करता है, लौकिक-वैदिक कर्मों का संपादन करता हुआ निषिद्ध कर्मों से अपने को निवृत्त कर लेता है तथा निरंतर भाव से भगवान् में पूर्णतया अपने को समर्पित कर देता है, गुणकीर्तन करता है, सतत स्मरण करता है, उपासना करता है, उसका नामजप करता है, माहात्म्य का श्रवण-कथन करता है तथा उसकी कृपा से जीवात्मा के अंधकार को दूर कर

---

[1] वही, पृ० ९१-९२।

[2] वही, पृ० ९२। 'आनुकूल्यस्य संकल्पः, प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्, रक्षिष्य-तीति विश्वासः, गोप्तृत्ववरणम्, आत्मनिक्षेपः, कार्पण्यम्।'

[3] वही, पृ० १६०।

देता है। उसे शास्त्रों से सत्यज्ञान प्राप्त करना चाहिए। तभी भक्त, भक्ति प्रपत्ति या आत्मसमर्पण से मुक्ति प्राप्त करता है।[1] रामानुज की दृष्टि में भक्ति भगवान् का सतत स्मरण है। बिना इसके शुद्ध ज्ञान मुक्ति नहीं प्रदान कर सकता। भक्ति की विशेषता यह है कि इससे मनुष्य में सभी इतर वस्तुओं के प्रति अरुचि उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार रामानुज के अनुसार 'भक्ति' भाव नहीं है अपितु ज्ञान विशेष है जो प्रियतम के लिये प्रत्येक वस्तु तथा कार्य के अतिरिक्त शेष सबको नगण्य कर देता है।[2]

वेंकटनाथ के अनुसार कर्मसंपादन से मनुष्य ज्ञान का अधिकारी बनता है। ज्ञानप्राप्ति से भक्ति का अधिकारी बनता है। जब मनुष्य ज्ञान का अधिकारी हो जाता है तब वह कर्मों को छोड़ सकता है। भक्ति, वेंकट के अनुसार, प्रीति (आनन्द भाव) है, केवल ज्ञानविशेष नहीं। मुक्ति का अर्थ सायुज्य (गुणों की समता) है। ईश्वर के साथ सायुज्य ही इस भक्ति का फल है। इस अवस्था में जीवात्मा परमात्मा की सर्वज्ञता आनन्दमयता का भागी होती है किंतु आत्मा परमात्मा के पूर्ण रूप का भागी नहीं हो सकती। विश्वोत्पत्ति, विश्वपालन, नियमन, मुक्तिप्रदान आदि के गुण या शक्तियाँ केवल ईश्वरगत ही हैं। केवल ज्ञान और आनंद का ही वह भागी हो सकती है। जब मनुष्य अपने सभी अहंकारों को त्याग देता है, अपनी संपूर्ण वैयक्तिकता को उसकी सेवा में लीन कर देता है तथा अपने को केवल एक ऐसा सेवक समझता है जिसका एकमात्र कार्य सेवा करना ही है, तभी वास्तविक आनन्द की स्थिति आती है।[3] वेंकट के अनुसार ईश्वर ही परम तत्व माना जाता है तथा उसमें अनंत आनंद की प्राप्ति होती है, जब कि दूसरे प्रकार के कैवल्य में मनुष्य अपने को ही ब्रह्म समझता है तथा कैवल्य की प्राप्ति करता है। वहाँ भी अविद्या का संसर्ग रहता है, यथार्थ संसार का नाश हो जाता है तथा मनुष्य एकातम की प्राप्ति कर लेता है। किंतु यह इच्छित अवस्था नहीं है क्योंकि यहाँ वह असीम आनन्द नहीं है जिसकी प्राप्ति वैष्णव कैवल्य से होती है।[4]

रामानुज के अनुसार भक्ति को मनुष्य तब प्राप्त करता है, जब वह अविद्या से अनावृत हो जाता है तथा आत्मा-परमात्मा के संबंधों का प्रातिभ साक्षात्कार

---

[1] वही, पृ० १६०-१६१।

[2] वही, पृ० १६१।

[3] वही, पृ० १६१।

[4] वही, पृ० १६१-१६२।

कर लेता है। यह मुक्ति उस मुक्ति से भिन्न है जिसमें वह कर्मावरण से मुक्त हो जाता है तथा अपने को अपने में ही साक्षात्कृत कर के भी ईश्वर के गुणों का साक्षात्कार नहीं कर पाता, अपितु बाधित कर देता है। इस प्रकार का कैवल्य, निश्चय ही, अपेक्षाकृत निम्नकोटि का है। अतः स्पष्ट है कि वेंकटनाथ ने भक्ति की परिभाषा कर उसे आनंदभावना की ओर तथा मुक्ति की परिभाषा कर उसे ईश्वर के दासत्व की ओर अभिमुख कर दिया।[१] भक्ति ध्रुवानुस्मृति है। इस प्रकार की भक्ति की ओर व्यक्ति दुःखानुभव से बढ़ता है। वह ऐसी मुक्ति चाहता है जिसमें वह अनंत तथा दुःखहीन सुख को प्राप्त कर सके। इस प्रकार की मुक्ति केवल भक्ति से ही प्राप्य है। यहाँ स्नेहपूर्वक अनुध्यान ही भक्ति है। इस प्रकार की भक्ति ज्ञान को उत्पन्न करती है तथा इस प्रकार का ज्ञान भी भक्ति में ही अन्तर्निविष्ट है।[२]

शास्त्रोक्त कर्मों का संपादन ज्ञानार्जन में सहायक होता है। ये कर्म, भक्ति के लिये नियोजित ज्ञान की प्राप्ति में बाधक और विरोधी कर्मों के प्रभाव का प्रतिरोध करते हैं। अतः ये शास्त्रोक्त कर्म मुक्ति के हेतु नहीं माने जा सकते। किंतु भक्ति के उत्पादन में इनकी उपयोगिता अवश्य है। यज्ञ-यागादि से समन्वित स्मार्त क्रियाएँ, भक्ति के साथ असंगत नहीं हैं क्योंकि वे उस एकमात्र उपास्य की ओर नियोजित होती हैं जो वैष्णवों का भी ईश्वर है। भक्त को नित्य और नैमित्तिक कर्म नहीं छोड़ना चाहिए क्योंकि केवल कर्मों का त्याग निरर्थक है। इस त्याग का वास्तविक अर्थ है—बिना किसी फल या लाभ की इच्छा किये कर्मसंपादन। यह कहना असंगत है कि मुक्ति केवल संन्यासी लोग ही प्राप्त कर सकते हैं क्योंकि किसी भी वर्ग या आश्रम का व्यक्ति यदि अपने धर्मानुकुल (वर्णाश्रमानुकूल) कर्म करता है तथा सतत ध्रुवाभक्ति से अनुप्राणित है तो उसे मुक्ति प्राप्त हो सकती है।[3] वेंकट और रामानुज यह मानते हैं कि भगवत्कृपा से अधिकांश प्रारब्ध कर्म नष्ट हो जाते हैं।[४]

---

[१] वही, पृ० १६२।

[२] वही, पृ० २९२-२९३। 'महनीय विषये प्रीतिर्भक्तिः प्रीत्याद्यश्च ज्ञानविशेषा इति वक्ष्यते स्नेहपूर्वम् अनुध्यानम् भक्तिः।'—सर्वार्थसिद्धि, पृ० १९०–ए हि० इं० फि०, बा० ३, पृ० २९३।

[3] वही, पृ० २९३।

[४] वही, पृ० ३८०।

राघवानंद रामानुज के ही संप्रदाय के थे तथा भक्तमाल के आधार पर रामानंद भी राघवानंद के ही शिष्य थे, यह हम पहले कह चुके हैं। राघवानंद की एकमात्र अव्यवस्थित एवम् अधूरी रचना 'सिद्धान्तपंचमात्रा' में प्रेम और योग के संबंध में कुछ विचार अवश्य मिलते हैं किंतु वे स्पष्ट नहीं हैं। इसमें भक्ति और योग से समन्वित साधना की परंपरा की ओर संकेत करते हुए कहा गया है कि 'सनक सनंदन सनतकुमार ने योग चलाया तथा सनकादिक गुरु भाइयों ने प्रेम सुन कर डंड कमंडल योग चलाया।' इस पर कोई निश्चित बात नहीं कही जा सकती। केवल इतना कहा जा सकता है कि 'पंचमात्रा' में संकेतित साधना से ब्रह्म कुमारों का कुछ संबंध था। इस रचना में योग तत्व की ही प्रधानता दिखाई पड़ती है। इसमें 'सतगुरु' की महत्ता को भी स्वीकार किया गया है।[१]

रामानंद के वैष्णवमताब्जभास्कर के अनुसार परमतत्व एक है किंतु उसके भी तीन रूप हैं—चित्, अचित् और ईश्वर। चित् जीव है, अचित् प्रकृति या माया है तथा ईश्वर परब्रह्म है। ये तीनों ही नित्य, अनादि और अजन्मा हैं। जीव और प्रकृति का ईश्वर में निवास है। अतः अपने शुद्ध रूप में जब ये ईश्वर में निवास करते हैं तब ये उससे भिन्न प्रतीत नहीं होते। चित् अल्पज्ञ, चेतन, सतत परवश, सूक्ष्मातिसूक्ष्म कर्तृत्वभोक्तृत्वादि अभिमानवाला है। प्रकृति अचित्, अज्ञ, विश्वयोनि, नानावर्णात्मिका, निर्व्यापारा, परार्था, महत्-अहंकार आदि को उत्पन्न करनेवाली है। ईश्वर समस्त विश्व का आधार, सर्वकारण, सर्वशक्तिसंपन्न, सर्वकल्याणगुणनिलय, जगत् का कर्ता, धर्ता, हर्ता, कूटस्थ, सर्वज्ञ, चेतन है। वह अजर, अमर एवं अगोचर है।[२] राम ही ईश्वर हैं। जीव या चित् के बद्ध-मुक्तादि कई भेद हैं। बद्धजीव दो प्रकार के होते हैं—बुभुक्षु और मुमुक्षु। कर्मों के अनुसार देहाभिमानी जीव बद्ध होता है तथा जीव जब भगवत्कृपा से अविद्या से विमुक्त होकर दुष्टकर्मवासना से छूट जाता है तब मुमुक्षु कहा जाता है। जब तक सांसारिक भोग की इच्छा उसे रहती है तब तक उसे बुभुक्षु कहा जाता है। इसी प्रकार बुभुक्षुओं और मुमुक्षुओं के कई भेद बताये गये हैं।[३]

साधन दो प्रकार के बताये गये हैं—ध्यान और भक्ति। ध्येय का सतत

---

[१] योगप्रवाह, डा० बड़थ्वाल, पृ० ४-६, ८, १८।

[२] वैष्णवमताब्जभास्कर, श्लोक ६-९।

[३] वही, श्लोक १२५-१२९ तथा आगे।

चिंतन ही ध्यान है। यह ध्यानसाधन आत्मरत, प्राणजित, जितेन्द्रिय जीवों द्वारा नित्यरूप से किया जाता है। यह ध्यान सीतासहित सभी आयुधों से सज्जित, परम सुन्दर द्विभुज राम का किया जाता है। बड़े विस्तार से उनके सौंदर्य, आभूषण, आयुध आदि का वर्णन किया गया है।[1] शर, चाप, ऊर्ध्व-पुण्ड्र, श्रुतिश्रुत नाम, मंत्र, माला आदि को मोक्ष का साधन बताया गया है। इस साधन में प्रवेश करने के लिये गुरु की महत्ता, संस्कार, दीक्षा तथा उनकी क्रियाएँ बताई गई हैं।[2] भक्ति उपाधिनिर्मुक्त परमात्म सेवा है। इसमें अनन्य भाव से मानसनियमन होना चाहिए। भगवत्परत्व या भगवान् के ही पारतन्त्र्य में रहना आवश्यक है। यह भक्ति तैलधारावत् अनष्ट संस्मृतिस्वरूपा है। इस भक्ति में विवेक आदि की सप्त भूमियाँ हैं तथा यमादि उसके आठ अवयव हैं। यह भक्ति नौ प्रकार की मानी गई है—(१) उदारकीर्ति का श्रवण, (२) कीर्तन, (३) हरिस्मरण, (४) चरणकमल में संश्रिति, (५) समर्चन, (६) वंदन, (७) दास्य, (८) सख्य, (९) आत्मसमर्पण।[3] भक्ति को पुष्ट करने वाले आचारों में व्रत, उपवास, तीर्थगमन, तीर्थनिवास आदि का विधान किया गया है। व्रतों में एकादशी, रामनवमी, जानकीनवमी, हनुमज्जन्म, नृसिंहजयंती, कृष्णाष्टमी, वामन द्वादशी आदि का व्रत तथा उत्सवों में रथोत्सव आदि का विधान किया गया है।[4] ये मुक्ति के गौण साधन हैं। मुक्ति के प्रधान साधनों में भगवान् की निर्हेतुकी कृपा की गणना की गई है। भगवत्प्रपन्न हो जाने के बाद जीव चाहे निष्कर्म कर्मयोग का, चाहे ज्ञानयोग या भक्तियोग का अनुष्ठान करे', किसी एक के अनुष्ठान से वह अवश्य मुक्त हो जाता है।[5] भगवत्स्वरूपा, श्री पद से अभिहित होनेवाली भगवती सीता जी दयालु होकर जिस जीव को भगवान् की गोद में रख देती हैं, भगवान् उस महापामर को स्वीकार कर लेते हैं। स्वजनों के अपराध की ओर दृष्टिपात न करना ही वात्सल्य है। भगवान् का यही वात्सल्य जीव के मोक्ष का हेतु है। किसी के दुःख को न सहन करना ही 'दया' कही जाती है। भगवान् की इसी दया से जीव का मोक्ष हो जाता है।[6]

---

[1] वही, श्लो० ५४-५९।

[2] वही, श्लो० ६०-६४।

[3] वही श्लो० ६५-६७।

[4] वही, श्लो० ६८-९२।

[5] वही, श्लो० ९३-९५।

[6] वही, श्लो० ९६-९९।

न्यास और प्रपत्ति में अभेद है। अपने को भगवत्परतंत्र मान कर, 'मैं स्वतंत्र स्वकल्याणसंपादन कर सकता हूँ' ऐसा न मानना ही न्यास है। इस न्यास या प्रपत्ति के 'शक्त' या 'अशक्त' सभी अधिकारी माने गये हैं। उसके लिये कुल, बल, काल और बाह्य पवित्रता की अपेक्षा नहीं है। प्रपत्ति में धर्मत्याग आवश्यक है। धर्मत्याग का अर्थ है प्रपत्ति के द्वारा किसी भी कर्म में अपनी स्वतंत्रता को न समझना, अर्थात् 'मैं स्वतंत्रतया कुछ नहीं कर सकता हूँ', ऐसा मानना ही धर्मत्याग कहा जाता है। धर्म, ज्ञान, जप, तप, यम, नियम आदि उपायांतर प्रपत्ति के विरोधी हैं। किसी अन्य उपाय के अभिमान से प्रपत्ति निवृत्त हो जाती है। प्रपन्न पुरुष को भी वेदविहित सत्कर्म तो करना ही चाहिए किंतु उसमें दो भावनाएँ अपेक्षित हैं। एक तो यह कि इन कर्मों का अनुष्ठान भगवान् की आज्ञा के पालन के लिये ही है और दूसरी यह कि अन्य अधिकारी जन प्रपन्न के कर्मत्याग को देखकर स्वयम् भी कर्मत्यागी न बन जायँ। अतः लोकसंग्रहार्थ कर्म कर्तव्य हैं। प्रपत्ति के छ अंगों में से, किसी प्रपन्न से यदि कोई अंग संपन्न न हुआ हो तो भी प्रपत्ति की हानि नहीं होती। यह प्रपत्ति भगवान् की प्रसन्नता का हेतु है। यद्यपि शास्त्रों में भिन्न भिन्न पापकर्मों के लिये भिन्न भिन्न प्रायश्चित्त बताये गये हैं तथापि भगवन्मार्ग में उन प्रायश्चितों की आवश्यकता ही नहीं है। भगवज्जन द्वारा की हुई प्रपत्ति या सर्वतोभावेन भगवदाश्रयस्वीकार का स्मरण ही प्रायश्चित्त है। प्रपत्तिस्मरण से ही सभी पापों का मार्जन हो जाता है। शास्त्रों ने भगत्सेवा की जो विधि बतलाई है, उसका जिस प्रकार अपेक्षाकृत निकृष्ट वर्ण के भागवत पालन करते हैं, उसी प्रकार अपेक्षाकृत उत्कृष्ट वर्णवालों को भी पालन करना चहिए।[1]

मोक्ष कैवल्य को माना गया है। इस अवस्था में चित् या जीव अपने सूक्ष्म शरीर का त्याग कर देता है। चन्द्रलोकादि से परे विरजा नदी है और उससे भी परे कैवल्य धाम है।[2] सभी धर्मों से श्रेष्ठ और महान् धर्म अहिंसा है। दान, जप, तप तीर्थ निवासादि उसकी तुलना में नहीं आ सकते। अतः मांसभक्षण भी त्याग देना चाहिए। इस प्रकार समस्त शुभ कर्मों का भगवदर्पण करनेवाला, भगवदर्पित प्रसाद का सेवन करनेवाला जीव संसारभय से मुक्त हो जाता है।[3] धर्मों में अर्चा को भी स्थान दिया गया है। अर्चावतार के चार

[1] वही, श्लो० १००-१०८।

[2] वही, श्लो० ११०-१११।

[3] वही, श्लो० ११३-११६।

भेद—स्वयं व्यक्त, दैव, सैद्ध और मानुष—बताये गये हैं और उनकी पूजा के लिये षोडशोपचार का विधान किया गया है। देश काल की उत्कृष्टता से रहित आश्रिताभिमत, अर्चक के समस्त अपराधों को क्षमा करनेवाली दिव्य देहयुक्त सहनशील, अपने सभी कर्मों में अर्चक की अधीनता स्वीकार करनेवाली मूर्ति विशेष को अर्चावतार कहते हैं।[1] इस प्रकार के संपूर्ण साधन के लक्ष्य सीता सहित, अनेक विशेषणों से विशिष्ट भगवान् राम हैं। भगवान् के स्वरूपज्ञान के लिये वीतराग होकर सदाचारी गुरु के पास जाना चाहिए। सत्संग के प्रभाव से संसार से विरक्तिलाभ कर, गुरु से श्रीराम की प्रपत्ति स्वीकार कर, प्रारब्ध कर्मों को नष्ट कर, प्रपत्ति द्वारा भगवत्कृपा से अपनी अविद्या का नाश करके सुषुम्ना नाड़ी द्वारा जीव शरीर से निकल कर अर्चिमार्ग को, फिर उससे अहर्मार्ग को, उससे पक्ष फिर क्रमशः उत्तरायण, संवत्सर, सूर्य, चक्र, विद्युल्लोक को प्राप्त होता है और पुनः वहाँ सर्व देवों से पूजित होकर, मानवशरीर से रहित वह सनातन साकेत लोक को प्राप्त होकर सायुज्य मुक्तिलाभ करता हुआ भगवदानंदलाभ करता है। इस प्रकार भगवद्धाम को प्राप्त कर वह फिर वहाँ से कभी नहीं लौटता।[2]

वैष्णवमताब्जभास्कर के अनुसार रामानंद परब्रह्म को श्रुतिवेद्य मानते हैं। वे राक्षसों और दैत्यों के संहारक हैं।[3] श्रीवैष्णव मत के अनुसार भगवान् की शरणागति ही मुक्ति का उत्तम साधन है। गौण और मुख्य भेद से साधन के दो प्रकार हैं। गौण साधन के द्वारा मुख्य साधन की प्राप्ति होती है। पंचसंस्कार, एकादश्यादि व्रत आदि गौण साधन हैं। इनके द्वारा शरणागति रूप मुख्य साधन की योग्यता प्राप्त होती है। गौण धर्मों का अनुष्ठान सर्वदा होता है किंतु राममंत्र सर्वदा ग्रहण नहीं किया जाता। द्वादश तिलकादि सर्वदा ग्राह्य होते हैं। अतः मुख्य धर्म या प्रपत्ति धर्म एक ही बार स्वीकार किया जाता है किंतु गौण धर्मों की स्वीकृति अनेक बार होती है। श्री वैष्णवों के मुख्य धर्म दो हैं—अहिंसा और भगवदर्चन।[4] संस्कारों के हो जाने पर साधक भक्ति का अधिकारी होता है। यह भक्ति परानुरक्ति है जिसमें निश्छलभाव, अनन्यता, भगवत्सेवा, विवेक, निष्काम वृत्ति, आलंबन का पुनः

---

[1] वही, श्लो० ११७-१२०।
[2] वही, श्लो०, १६३–१७२।
[3] वही, श्लो० १–२।
[4] वही, हिन्दी टीका, श्रीभगवदाचार्य, पृ० ८०–८६।

पुनः चिंतन, पंचमहायज्ञादि का नित्य अनुष्ठान, भगवत्कैंकर्यादि का नित्य अभ्यास, सत्य, ऋजुता, दया, कल्याणसाधन, अहिंसादि का संग्रह, दीनता का परित्याग, संतोष भाव आदि का साधन आवश्यक है। इसी प्रकार यमादि अष्टांग योग, तैलधारावत् अविच्छिन्न स्मृति रूप भगवत्प्रेम आदि भक्ति के आवश्यक तत्व हैं। मुख्य उपाय में प्रपत्ति या न्यास का ही वर्णन किया गया है। यह समर्पण नवधा भक्ति का अंतिम चरण है।[1] प्रपन्न पुरुष को भी वेदविहित सत्कर्म लोकसंग्रह के लिये अवश्य करना चाहिए। शास्त्र-प्रतिपादित भगवत्सेवा निकृष्ट-उत्कृष्ट सभी वर्णों के लिये समान रूप से आवश्यक है। सभी धर्मों में अहिंसा को प्रधान बताया गया है। उन्हीं कर्मों में रामार्चा है जिसके पूजन के लिये षोडशोपचार का विधान है।[2] मुमुक्षुओं के लिये सर्वोत्तम साधन प्रपत्ति या शरणागति ही है। इसमें कोई जातिबंधन नहीं है। मुमुक्षुजनों में कुछ तो ऐसे होते हैं जो निष्काम भाव से सतत स्मरण रूप भक्ति में तल्लीन रहते हैं तथा दूसरे वे हैं जो वर्णाश्रम मर्यादा के अनुसार विहित कर्मों को ही मोक्षोपाय मानकर उपासना करते हैं। कालक्षेप के लिये भक्त को भक्तिशास्त्रों का अध्ययन और श्रवण करना चाहिए। इन ग्रंथों में गीता, भक्तिभाष्य, रामायण, महाभारत आदि की गणना की गई है। साथ ही रामनाम कीर्तन, राममन्त्र-जप, सत्संग, तीर्थयात्रा आदि का भी विधान किया गया है। गुरु की आज्ञा का पालन भी भगवत्प्राप्ति का एक उपाय माना गया है।[3] भगवान् के स्वरूपज्ञान के लिये गुरु के पास जाना चाहिए। तीर्थस्थानों में वैष्णव को निवास करना चाहिए—ऐसा विधान है, किन्तु यह भी कहा गया है कि जिसको जहाँ सुविधा हो, वह वहीं वैष्णव रीति-नीति के अनुसार जीवन व्यतीत करते हुए निवास करे। महाभागवत ही सर्वतीर्थस्वरूप है, उसी का सत्संग करना चाहिए, सेवा करनी चाहिए। अन्य किसी भी देवता से द्वेष नहीं करना चाहिए। गुरुद्रोही को इस मत का उपदेश नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार गुरुभक्त को इस मत का उपदेश करना विहित है।[4] ये उपदेश प्रसंगानुसार गृहस्थ और विरक्त दोनों के लिये अलग अलग निर्दिष्ट किये जा सकते हैं।

'भास्कर' में 'मुक्ति' पूर्णतया व्याख्यात नहीं है। वहाँ, कैवल्य और

---

[1] वही, श्लो० ६५-६७, ९३ तथा आगे।

[2] वही, श्लो० १०४, १०८, ११३-११६, ११७-१२४।

[3] वही, श्लो० १२६, १३०-१३१, १५४-१५९।

[4] वही, श्लो० १६६, १७८, १५१, १८३, १८८-१८९।

सायुज्य, दोनों का परिचय मिलता है। कहा गया है कि विरजा नदी के बाद कैवल्य धाम है। प्रपन्न जीव क्रमशः पक्ष, मास आदि के मार्गों को अतिक्रांत कर सूर्य, चन्द्र, विद्युत् आदि लोकों में देवताओं से पूजित होकर अमानव परमपद प्राप्त कर ब्रह्मपथ से अधीश्वर के सायुज्य को प्राप्त कर उनके साथ सानंद रहता है।[१] हिंदी टीकाकार का कथन है कि यद्यपि विशिष्टाद्वैत ग्रंथों में कैवल्य और सायुज्य में कहीं कहीं भेद किया गया है तथापि रामानंद ने उन दोनों को एक दूसरे का पर्याय ही माना है।[२] टीकाकार के मत की पुष्टि श्रीसंप्रदाय के आचार्यों के मत से हो जाती है। बताया जा चुका है कि १४वीं ई० श० के रामानुजी आचार्य वेंकट के अनुसार भक्ति प्रीति ही है। केवल ज्ञान भक्ति नहीं है। ईश्वर के सायुज्य के रूप में मुक्ति इस प्रकार की प्रीति का फल है। सायुज्य की इस दशा में जीवात्मा ईश्वर के सर्वज्ञत्व, आनंदमयत्व गुणों का अधिकारी हो जाता है। जीवात्मा तब भी, ईश्वर के सभी गुणों का अधिकारी नहीं होता। इस अवस्था में जीवात्माएँ ईश्वर के केवल ज्ञान तथा आनंद को ही आयत्त कर पाती हैं और तब वे उसी के समान सर्वज्ञ और आनंदमय हो जाती हैं। मुक्ति की इस अवस्था में भी जीव ईश्वर के नित्य और आनंदमय दासत्व में रहता है। वेंकट ने कैवल्य से सायुज्य का भेद बतलाते हुए कहा है कि कैवल्यावस्था में मनुष्य अपने को स्वयम् ईश्वर समझता है किंतु वहाँ भी अविद्या रहती है। यद्यपि वहाँ विश्वप्रपंच का नाश रहता है तथापि मनुष्य केवलत्व या एकत्व की प्राप्ति कर लेता है। किंतु यह वैष्णवों का प्रेम नहीं है क्योंकि वहाँ इस अनंत आनंद की सत्ता नहीं है जिसकी स्थिति वैष्णव मुक्ति में रहती है। इस प्रकार अंशभूत होना सायुज्य मुक्ति है। यह एक प्रकार का विलय है किंतु इसका अर्थ भगवान् से एकत्व प्राप्त कर लेना नहीं है। यह विलय उसी प्रकार का है जिस प्रकार मृग का अरण्य में विचरण। यद्यपि मुक्त जीव ईश्वर से भिन्न होता है तथापि उसकी सत्ता उसी ईश्वर में रहती है। वे मुक्त जीव ईश्वर से बाहर भी विचरण कर सकते हैं और ऐसा भी हो सकता है कि वे अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, संकर्षण, वासुदेव आदि की परंपरा में प्रवेश करें। ये मुक्त जीव लोकों की उत्पत्ति और संहार से संबद्ध नहीं होते। सभी वैश्व परिवर्तनों के होते हुए भी वे उसी रूप में सत्तावान् रहते हैं। वे लोग

---

[१] वही, श्लो० ११०, १६९-१७०।

[२] वही, हिं० टी०, पृ० १३८।

महाभारत के नारायणीयोपाख्यान में वर्णित मुक्त जीवों के समान होते हैं, फिर भी वे सदैव ईश्वर की आज्ञा में रहते हैं, किंतु इस नियमन से उन्हें किसी प्रकार का दु:ख नहीं होता।[१] रामानंद ने यद्यपि 'भास्कर' में 'सायुज्य' और 'कैवल्य' अवस्थाओं की व्याख्या नहीं की है, जैसी उनके पूर्वाचार्यों ने की थी किंतु इन दोनों शब्दों के लिये जिन विशेषणों का प्रयोग किया है, उससे प्रतीत होता है कि रामानंद के अनुसार दोनों ही शब्द एक ही दशा को व्यक्त करनेवाले शब्द हैं तथा सायुज्य स्थिति आनंदमयी स्थिति है।[२]

रामानुज के पूर्ववर्ती साहित्य में उपलब्ध विचारों के साथ रामानंद के "भास्कर" में विवेचित विचारों की तुलना करने से बहुत सी समानताएँ मिलती हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् में वर्णित परा भक्ति, कर्मसमर्पण या निष्काम कर्मयोग, ध्यानयोग, शरणागति, गुरुभक्ति सिद्धान्तों को 'भास्कर' में समान रूप से पाया जा सकता है। नारायणीयोपाख्यान के अहिंसा, भक्ति तथा उसकी कर्मकाण्ड-तप आदि से श्रेष्ठता, एकांतिकता की विशेषताएँ भी भास्कर में उपलब्ध हैं किंतु कर्म की निस्सारता नहीं बतलाई गई है और न तप की आवश्यकता का स्पष्ट संकेत ही है। भास्कर में कर्म को, शास्त्रविहित कर्मों के संपादन को लोकसंग्रह और लोकरक्षण के लिये आवश्यक बतलाया गया है। गीता का निष्काम कर्मयोग, शरणागति, एकांतिक धर्म, भक्ति और उपासना का स्त्री, शूद्र सब को अधिकार-प्रदान, इन सभी तत्वों को भास्कर में स्वीकार किया गया है। गीता में ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को महत्ता दी गई है किंतु भास्कर में ऐसा कोई स्पष्ट तुलनात्मक मत नहीं मिलता। कुछ संकेतों के आधार पर किसी प्रकार यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भास्कर में भक्ति कर्म से श्रेष्ठ है। शंकराचार्य ने पांचरात्र मत की पूजा-उपासना पद्धति के जो पाँच अंग बताये थे, वे प्राय: सभी शब्दान्तर से 'भास्कर' में मिलते हैं। नारद पंचरात्र में हरिपूजा के जो छ अंग बताये गये हैं, वे भी भास्कर में किसी न किसी रूप में अवश्य मिलते हैं। पांचरात्र मत भक्ति और उपासना के क्षेत्र में प्रवेश करने का अधिकार सबको समान रूप से प्रदान करता है। 'भास्कर' भी 'प्रपत्ति' साधन में किसी प्रकार भी, जातिगत या योनिगत बंधन नहीं स्वीकार करता। अहिर्बुध्न्य संहिता में जीवात्मा को सर्वप्रकारेण परमात्मा का आश्रित माना गया है। उसी प्रकार 'भास्कर' भी मानता है। कहा

---

[१] ए हि० इं० फि०, दासगुप्त, वा० ३, पृ० १६१-१६२।

[२] वै० म० भा०, श्लो० ११०, १६९-१७०।

गया है कि प्रपत्ति मात्र से सभी प्रकार के सत्कर्मों के फल प्राप्त होते हैं। 'भास्कर' में भी 'प्रपत्ति' की इसी प्रकार की श्रेष्ठता निरूपित है। भास्कर में अहिर्बुध्न्य की तरह ही सुषुम्ना का महत्व स्वीकृत है। जिस प्रकार भास्कर में प्रपत्ति को मुक्ति का मुख्योपाय माना गया है, उसी प्रकार अहिर्बुध्न्य में भी माना गया था। अहिर्बुध्न्य की तरह ही भास्कर में भी भक्ति के लिए यम, नियम आदि की आवश्यकता स्वीकृत है यद्यपि दोनों स्थानों पर ये गौण उपाय बताये गये हैं।

'भास्कर' अहिर्बुध्न्य की अपेक्षा 'नारद पंचरात्र' के अधिक समीप है। कुछ अंतर भी है। नारद पंचरात्र में गुरु की जितनी महत्ता और महिमा गाई गई है, उतनी 'भास्कर' में नहीं। 'भास्कर' में गुरु को संस्कार करनेवाले तथा भगवत्स्वरूप का ज्ञान देनेवाले के रूप में मुख्य रूप से स्मरण किया गया है। अवांतर रूप से यह भी बताया गया है कि उसकी कृपा भगवत्प्राप्ति भी करा सकती है। फिर भी नारद पंचरात्र के गुरु का आसन और उसकी शक्ति 'भास्कर' के गुरु में नहीं है, यहाँ तक कि पांचरात्र आगमों का अनुसरण करनेवाले रामानुज के मत में भी नहीं है। तत्वतः गुरु को, नारद पंचरात्र में, हरि से अभिन्न कहा गया है। किंतु भास्कर में ऐसी कोई भी उक्ति नहीं मिलती। नारद पंचरात्र में जितने प्रकार की भक्ति बताई गई है, उनमें से अधिकांश 'भास्कर' में प्राप्य है। अहिंसा के परमधर्म होने की घोषणा नारद और भास्कर दोनों ने की है।[1] भक्तिशास्त्रीय ग्रंथों के पाठ-श्रवण को दोनों ने स्वीकार किया है। पांचरात्रों का कृपा तत्व स्पष्टतया भास्कर में मिलता है। नारद भक्तिसूत्र से भास्कर में अपेक्षाकृत अधिक समानता है। भक्ति को परानुरक्ति मानना, भक्ति की आनंदमयता, मोक्षस्वरूपत्व, अनन्यता, समर्पण आदि तत्व स्पष्ट रूप से दोनों में मिलते हैं। नारद के कई सूत्रों पर एक साथ विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि शास्त्ररक्षण की आवश्यकता या शास्त्रोक्त कर्मों और कर्तव्यों का पालन तब तक ही आवश्यक है जब तक भक्ति उत्पन्न न हो जाय। पतन की आशंका से तब तक उनका पालन आवश्यक बतलाया गया है। कुछ लोगों ने नारद के शास्त्ररक्षण का भिन्न अर्थ किया है। भक्ति के विरोधी कर्मों के प्रति उदासीनता के भाव का उपदेश नारद ने दिया है किंतु 'भास्कर' ने इस विषय में कुछ नहीं कहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'भास्कर' के अनुसार वैदिक कर्मों का संपादन आवश्यक है। ज्ञान को दोनों

---

[1] वही श्लो० १५५-१६२।

ने आवश्यक माना है। नारद भक्तिसूत्र में स्पष्टतया कर्म, ज्ञान, योग से भक्ति को श्रेष्ठ कहा गया है किंतु 'भास्कर' में श्रेष्ठता और नेष्ठता का विचार व्यक्त न कर गुरुप्रदत्त ज्ञान को भक्ति का सहायक माना गया है। भक्ति-साधन में निर्बाध भजन, श्रवण-कीर्तन, महत्कृपा की प्राप्ति, महत्संग, कर्म-संन्यास, वैदिक कर्मों से संन्यास या समर्पण आदि समान रूप से स्वीकार किये गये हैं।

नारद तथा भास्कर के कर्म संबंधी मतों की समीक्षा करने से स्पष्ट होता है कि 'भास्कर' नारद की अपेक्षा लौकिक-वैदिक कर्मों के संपादन के लिये अधिक चिंतित है। यह भी प्रतीत होता है कि भास्कर नारद पंचरात्र और भक्तिसूत्र की अपेक्षा सामाजिक मर्यादारक्षण, लोकरक्षण, लोकसंग्रह को अधिक महत्व देता है। वह भक्ति में सामाजिक पक्ष पर विशेष ध्यान रखने का समर्थक मालूम होता है। नारद भक्तिसूत्र में भक्त की वैयक्तिक हार्दिक प्रेम-वृत्ति जहाँ अधिक महत्वपूर्ण है वहीं भास्कर के भक्त की भक्ति में सामाजिक मर्यादा और व्यवस्था को पर्याप्त स्थान दिया गया है। भक्तिसूत्र में भक्त के हृदयपक्ष का उद्घाटन है और "भास्कर" में सांप्रदायिक स्वर अधिक स्पष्ट है। नारद ने एकादशभेदाभक्ति का जो वर्णन किया है उसमें से अधिकांश "भास्कर" में मिल जाता है। "भास्कर" में मुख्य रूप से भार्यभर्तृत्व संबंध तथा सेवक-सेव्य-संबंध विवृत है। नारद की एकादशधाभक्ति में दासासक्ति तथा कांतासक्ति नाम की भी भक्तियाँ हैं। भास्कर में जो नवधा भक्ति बताई गई है, उसमें से स्मरण, सख्य, दास्य, आत्मनिवेदन आदि स्पष्टतया नारद में मिलती हैं। दोनों ही भक्तिसाधन के लिये रूप, कुल, धन, क्रिया आदि का कोई भी बंधन स्वीकार नहीं करते। अहिंसा का आचार तथा साथ ही सत्य, शौच आदि का आचार, दोनों ही, भक्ति के लिये उपकारक मानते हैं। इस प्रकार इस विवेचन से स्पष्ट है कि जहाँ तक भक्ति-भेद, आचार, प्रपत्ति, पूजा आदि का संबंध है, विभिन्न दृष्टियों से नारद पंचरात्र, नारद भक्तिसूत्र और भास्कर में पर्याप्त समानताएँ हैं। यदि नारदीया भक्ति के स्वरूप की कोई रूप-रेखा प्रस्तुत करनी हो तो नारायणीयोपाख्यान, नारद पंचरात्र और नारद भक्ति-सूत्र के विवेचनों को ध्यान में रखा जा सकता है। इनमें से परंपराविनिर्मुक्त आनंदमय प्रेममार्ग का निरूपण नारद भक्तिसूत्र में मिलता है।

जिस भक्ति का अभी तक विकास बतलाया गया है तथा जिसके तत्वों का परिचय दिया गया है, उसे कभी-कभी "रस" भी कहा गया है। रस शब्द के

कई अर्थ हैं। भक्ति के प्रसंग में प्राय: जिन अर्थों को ग्रहण किया जाता है, वे हैं— स्वाद, प्रीति या प्रेम, आनन्द, सौन्दर्य। इनमें से द्वितीय और तृतीय अर्थ विशेष रूप से ग्रहण किये गये हैं। साहित्य में निष्पन्न आनन्दात्मक अनुभव के रूप में इस शब्द को ग्रहण किया गया है। रस का अर्थ मदिरा, आसव भी लिया जाता है। कहीं-कहीं 'रस' शब्द का इस प्रकार का भी प्रयोग मिलता है जिसमें प्रीति या प्रेम, आनंद और मदिरा की मादकता के साथ ही उज्जीवक या अजरत्वप्रदायक तत्व के अर्थ भी समन्वित रहते हैं। जहाँ तक 'भक्तिरस' का संबंध है, हम पहले इसके संबंध में पं० रामचंद्र शुक्ल का मत संक्षेप में उपस्थित कर चुके हैं जिसके अनुसार साक्षात्कार (भगवत्साक्षात्कार) होने पर, कल्पना में पूर्ण चिंतन होने पर भक्त को रसानुभूति होती है। भक्त की अनुभूति वही है जिसे काव्य में लीनता या रसप्रतीति कहते हैं। इस रसप्रतीति की प्रक्रिया वही है जो काव्यात्मक रसप्रतीति की है। मनुष्य में दो प्रकार की अन्तर्वृतियाँ स्वभावतया रहती हैं—कल्पना या भावना और भाव या रागात्मिका वृत्ति। प्रथम से विज्ञात का भीतरी साक्षात्कार होता है तथा दूसरी से आनंदानुभूति होती है। इन्हीं दोनों की सहायता से भक्ति रस की निष्पत्ति होती है। शुक्ल जी के अनुसार भक्तिमार्ग अपने विशुद्ध रूप में धर्मभावना का भावात्मक या रसात्मक विकास है। (व्यक्ति में) इसका विकास उपास्य ईश्वर के स्वरूप की प्रतिष्ठा के उपरान्त होता है। स्वरूप की यह प्रतिष्ठा तत्वचिंतन या ज्ञान की प्रकृत पद्धति के द्वारा ही होती है। इस मत में, इस प्रकार, दो स्पष्ट बातें दिखाई देती हैं। प्रथम यह कि आलंबन की स्वरूप-प्रतिष्ठा सामाजिक और धार्मिक आधार पर तत्वचिंतन की सहज प्रक्रिया द्वारा होती है। दूसरी बात यह है कि भक्तिरसानुभव की प्रक्रिया काव्यात्मक रसनिष्पत्तिप्रक्रिया जैसी होती है।[1]

काव्यशास्त्रीय दृष्टि से ही पंडितराज जगन्नाथ द्वारा उपस्थित किया हुआ विवेचन संकेतित किया जा सकता है। नाट्याचार्य भरत के मत की प्रतिष्ठा को सुरक्षित रखते हुए पंडितराज ने अपने उत्तरपक्ष में, भक्ति को 'रस' की अभिधा नहीं दी। उन्होंने उसे केवल भाव माना। रस नौ ही क्यों हैं? इस पर विचार करते हुए उन्होंने मत के पूर्वपक्ष में 'भक्तिरस' का पूरा स्वरूप खड़ा किया है। 'जब भगवद्भक्त लोग भागवत आदि पुराणों का श्रवण करते हैं उस समय वे जिस 'भक्तिरस' का अनुभव करते हैं, उसे आप किसी तरह नहीं छिपा सकते। उस रस के भगवान् आलंबन हैं, भागवतश्रवण आदि उद्दीपन

[1] सूरदास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ३३, ४१।

हैं, रोमांच, अश्रुपात आदि अनुभाव हैं और हर्ष आदि संचारी भाव हैं तथा इसका स्थायी भाव है भगवान् से प्रेमरूप 'भक्ति'। इसका शान्तरस में भी अन्तर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि अनुराग (प्रेम) वैराग्य से विरुद्ध है और शान्तरस का स्थायी भाव है वैराग्य।[1] देवादि के विषय में रति होने के कारण पंडितराज 'भक्ति' को रस न मानकर उसकी गणना केवल भावों में करते हैं। संस्कृत के काव्यशास्त्र के अन्य आचार्यों ने भी भक्ति को रसरूप में प्रतिष्ठित नहीं किया।

भक्तिरस के संबंध में दूसरा मत प्राचीन भारतीय भक्तिशास्त्र एवम् भक्ति के आचार्यों का है। इस भक्ति रस का वर्णन भागवत, आल्वारों में तथा गौड़ीय वैष्णवों में क्रमशः मिलता है। शांडिल्य भक्तिसूत्र में भक्ति संबंधी जिज्ञासा का समाधान करते हुए भक्ति को द्वेष का प्रतिपक्षी होने तथा रस शब्द का प्रतिपादक होने के कारण राग कहा गया है।[2] स्पष्ट ही शांडिल्य भक्ति को रसात्मक मानते हैं। भागवत में राग द्वारा उपलब्ध भक्तिपरक मादकता का वर्णन मिलता है। किन्तु भागवत में श्रीकृष्ण के जीवन से संबंधित विभिन्न व्यक्तियों से अपने को अभिन्न अनुभव कर प्रेमभाव के विकास की प्रवृत्ति नहीं मिलती। कोई व्यक्ति वहाँ किसी गोपी से अपने को अभिन्न मानकर अपनी विरह वेदना को व्यक्त करता नहीं दिखाई पड़ता। विष्णु, भागवत, हरिवंश आदि पुराणों में ऐसी कोई बात नहीं मिलती। अभिन्नानुभव की प्रक्रिया का प्रथम दर्शन आल्वारों में होता है। इस प्रकार की अभिन्नतास्थापन की प्रक्रिया की चरम परिणति बंगाल के गौड़ीय वैष्णव भक्तों में दिखाई पड़ती है। जब इस प्रकार की प्रवृत्ति को गौड़ीय मत में महत्व दिया गया तो १०वीं ई० श० से लेकर १५वीं ई० श० के बीच के संस्कृत काव्य शास्त्रियों द्वारा विवेचित रतिभाव को भी स्वीकृति मिल गई। गौड़ीय वैष्णवों ने इस प्रकार प्रेम के विकास के विभिन्न उत्तरवर्ती सोपानों के भावपरक विश्लेषण को स्वीकार कर उन सोपानों को भक्तिभाव के विकास की विभिन्न अवस्थाओं को बतलानेवाला मान लिया। रूपगोस्वामी के 'उज्ज्वलनीलमणि' में इसकी सोदाहरण व्याख्या मिलती है। बताया गया है कि गोपियों तथा राधा के जिस पौराणिक जीवन की चर्चा की जाती है, उसमें सामान्य भक्ति की चरम परिणति गंभीर श्रृंगार-

[1] हिन्दी रसगंगाधर, अनु० पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी, १ ला भाग, पृ० ११०-१११। सं० २०१२।

[2] शांडिल्य भक्तिसूत्र, अध्याय १, अह्निक १, सूत्र ६, 'द्वेषप्रतिपक्षभावाद्रस-शब्दाच्चरागः।'

परक भक्ति में हुई थी। उनके मत के अनुसार नाटक के अभिनयों में जिस प्रकार की सहानुभूतिपूर्ण रुचि क्रियाशील होती है, उसी प्रकार की समसहानुभूतिपूर्ण अनुकम्पा वृत्ति रखने से व्यक्ति को उसी प्रकार के प्रेमानंद की अनुभूति हो सकती है जैसी राधा या गोपिकाओं को हुई थी। काव्यशास्त्र के विचारकों की स्थापना है कि नाट्याभिनय के प्रेक्षक के हृदय के भाव, प्रेक्षण के समय इस प्रकार उद्दीप्त हो जाते हैं कि भावातिरेक की स्थिति में व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण करनेवाली काल और देश की व्यक्तिगत सीमाएँ तथा व्यक्तिगत अनुभवों के इतिहास, सभी उस समय के लिये तिरोहित हो जाते हैं। इस प्रकार व्यक्तित्व का तिरोधान तथा एक ही दिशा में भावों के प्रवाह प्रेक्षक को काल्पनिक ढंग से अभिनेता से ही अभिन्न नहीं कर देते अपितु उन अभिनीत मूल पात्रों से भी अभिन्न कर देते हैं जिनके भावों का अभिनय अभिनेता रंगमंच पर प्रस्तुत करते रहते हैं। इसी प्रकार एक भक्त भी, ध्यान में अति लीन होकर, अपनी आंतरिक मादकता के माध्यम से अपने को एक ऐसी भावातिरेकावस्था में उत्थित कर देता है कि क्षीणतम निर्देश मात्र से ही वह अपने को किसी गोपी या राधा के काल्पनिक पद तक प्रेषित कर सकता है और फिर उसी प्रकार वह अनवरत रूप से उन सभी गंभीर और सच्चे प्रेम के अनुभवों को प्राप्त कर सकता है जिन्हें कोई अति उद्दीप्त और संवेगात्मक प्रेमी कभी अनुभव कर सका है। इस प्रकार के भावगत परिवर्तन की ओर सर्वप्रथम अग्रसर होनेवाले आल्वार ही थे।[१]

नारद ने भक्ति को फलरूपा माना है। नारद के विवेचन से स्पष्ट है कि भक्ति साधनरूपा और साध्यरूपा दोनों है। इसे कर्म, ज्ञान और योग से श्रेष्ठ भी मानते हैं और यह भक्ति स्वयम् न कर्म के फलस्वरूप, न ज्ञान के फलस्वरूप और न योग के फलस्वरूप प्राप्त होती है। भक्ति के अन्य आचार्यों ने साधनरूपा भक्ति, साध्यरूपा या फलरूपा या भावभक्ति का विवेचन किया है। वल्लभाचार्य ने भक्तिस्वरूप का विचार करते हुए बतलाया है कि भक्ति में दृढ़ एवम् व्याकुलता से पूर्ण राग तो रहता ही है साथ ही भगवान् की महानता का ज्ञान भी रहता है। केवल इसी से वे मुक्ति को प्राप्य मानते हैं। उनकी दृष्टि में यद्यपि भक्ति साधन है तथा मोक्ष साध्य है तथापि यह साधनावस्था ही सर्वोत्तम है। ब्रह्मानंद में प्रवेश करनेवाले भक्त अपनी आत्मा में ही उस आनंद का अनुभव करते हैं किंतु जो भक्त इस

[१] ए हि० इं० फि०, दासगुप्त, वा० ३, पृ० ८१-८२।

अवस्था में प्रवेश नहीं करते और न जीवन्मुक्ति की अवस्था में ही प्रवेश करते हैं केवल अपनी सभी इंद्रियों से तथा अन्तःकरण से भागवत आनंद प्राप्त करते हैं, वे जीवन्मुक्त से श्रेष्ठ हैं यद्यपि वे सामान्य गृहस्थ ही होते हैं।[१] गौड़ीय वैष्णव मत कबीर का परवर्ती है। हमारे विवेच्य की दृष्टि से गौड़ीय वैष्णवों का मत अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण केवल इसलिये प्रतीत होता है कि उनके विचार नारद की परम प्रेमरूपा भक्ति के अधिक अनुकूल और समीप प्रतीत होते हैं। गौड़ीय वैष्णव आचार्यों ने उत्तम भक्ति की जो छ विशेषताएँ बताई हैं, उनमें से एक यह भी है कि भक्त भक्ति में उपलब्ध आनन्द से इतना संतुष्ट हो जाता है कि उसके लिये मुक्ति में कोई आकर्षण नहीं रह जाता। दूसरी विशेषता यह है कि मुक्ति में प्राप्त होनेवाले आनन्द की अपेक्षा भक्ति में अनुभूत आनंद अत्यधिक श्रेष्ठ होता है। वस्तुतः ब्रह्मज्ञान से उपलब्ध भक्ति का आनंद केवल भक्ति में उपलब्ध आनंद की तुलना में आ नहीं सकता।[२]

रूपगोस्वामी ने तीन प्रकार की भक्ति बताई है—साधन, भाव और प्रेमा। साधन भक्ति उन साधनों के लिये व्यवहृत की जाती है जिनके प्रयोग मानस संवेगों को या भावों (मेंटल इमोशंस) को भावभक्ति (जिसे साध्य भक्ति भी कहते हैं) के रूप में उदित होने के योग्य बनाते हैं। यह साधन भक्ति दो प्रकार की है—वैधी और रागानुगा। शास्त्र द्वारा निर्दिष्ट विधियों से परिचालित होने के कारण ही प्रथम प्रकार की भक्ति वैधी कही जाती है। इसके भी अनेक भेद बताये गये हैं। रागानुगा भक्ति का परिचालन या प्रेरण भक्त के राग या संवेग या भावों से होता है। इसका मूलाधार भाव या राग है। इसकी विभिन्न अवस्थाओं की परिभाषा कठिन है। भक्त तब तक वैधी भक्ति के क्षेत्र में रहता है जब तक भगवान् के प्रति स्वाभाविक या सहज (नेचुरल) प्रीति उसके हृदय में प्रकाशित नहीं होती। शास्त्रीय विधियों का पालन भक्त को तब तक करना चाहिए जब तक भक्त में भगवान् की नाम-कीर्तन, माहात्म्यश्रवण, आनन्दपूर्वक माहात्म्य कथन में सच्ची प्रवृत्ति न हो जाय। जैसे ही इस अवस्था को भक्त पहुँचता है, ऐसा समझना चाहिए कि भक्त वैसी भक्ति के पथ पर अग्रसर हो रहा है और उस समय उसे उस भक्ति के विशिष्ट कर्तव्यों को संपादित करना चाहिए जिससे वह भक्ति अनवरत भाव से वस्तुतः सहज एवम् अप्रतिहत संवेग या भाव में विकसित हो सके।

---

[१] वही, वा० ४, पृ० ३४७ तथा पादटिप्पणी।

[२] वही, वा० ४, पृ० ४३३।

यहीं से भावयुक्त साध्यभक्ति का आरम्भ होता है। इसके पूर्व भी साधन भक्ति की एक और अवस्था है, जिसे रागानुगा कहते हैं। जब भक्त इस अवस्था को उत्तीर्ण कर लेता है तभी वह इससे भी साध्य भक्ति की अवस्था तथा उसके क्रमोत्तर विकास की अवस्थाओं को पहुँचता है। रागानुगा भक्ति रागात्मिका भक्ति का अनुकरण कही जाती है। सहज प्रवृत्ति के रूप में जो भक्ति होती है उसे रागात्मिका भक्ति कहते हैं। इस प्रकार साधन भक्ति की द्वितीय अवस्था रागानुगा भक्ति से क्रमोत्तर विकास कर भक्त भावभक्ति को प्राप्त करता है। इस भावभक्ति का भी अपेक्षाकृत और अधिक सघन रूप में विकास तब होता है जब यह महाभाव की अवस्था को प्राप्त करती है। यह महाभाव वस्तुतः पूर्ण शुद्ध तत्व का प्रकाशन है। यद्यपि वैधी और रागानुगा में भी भाव रहता है किंतु वह अपेक्षाकृत कुछ निम्नकोटि का होता है। बिना साधनभक्ति का आश्रय लिये ही भावभक्ति का उदय सामान्यतया भगवत्कृपा से ही होता है।[१] इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि भक्ति ही साधन भी है तथा साध्य भी। यह स्वयम् फल है। भक्तों की वांछा की दृष्टि से भक्ति स्वयम् फल है। उसका अन्य कोई फल नहीं है। भक्त केवल भक्ति चाहते हैं, मुक्ति नहीं।

एक अन्य प्रश्न निर्गुण और सगुण का है। हिंदी के कुछ इतिहासकार संतों को निर्गुणवादी कहते हैं तथा साथ ही वे यह भी कहते हैं कि कबीर ज्ञानमार्गी थे। नारद भक्तिसूत्र के प्रसंग में भक्ति और ज्ञान-कर्म-योग के परस्पर उत्कर्षापकर्ष का विचार कर चुके हैं। अभी तक निर्गुण-सगुण संबंध के प्रश्न पर हमने विचार नहीं किया है। इस सगुण-निर्गुण विचार से अवतारवाद संबंधी सिद्धान्त भी संबंधित है। अतः उस पर संक्षेप में हम विचार कर लेना चाहते हैं। शुक्ल जी ब्रह्म के व्यक्त रूप को सगुण कहते हैं। नारायण (नर समष्टि का आश्रय) ब्रह्म का सगुण रूप है। ब्रह्म को सद्भावात्मक विशेषणों से युक्त कर उसे सगुण और व्यक्त कहा गया है और उसको निषेधात्मक या अभावात्मक विशेषणों से युक्त कर निर्गुण और अव्यक्त कहा गया है। जहाँ तक ब्रह्म हमारे मन और इंद्रियों के अनुभव में आ सकता है वहाँ तक हम उसे सगुण और व्यक्त कह सकते हैं। पर वहीं तक उसकी इयत्ता नहीं, उसके आगे भी उसकी सत्ता है जिसके लिये हम कोई शब्द न पाकर निर्गुण, अव्यक्त आदि निषेधवाचक शब्दों का आश्रय लेते हैं। पूर्ण ब्रह्म न

---

[१] वही, वा० ४, पृ० ४२४-४२५, ४३३-४३७।

केवल निर्गुण है न केवल सगुण। धर्म और भक्ति दोनों में वे 'लोकमंगल' को प्रमुख स्थान देते हैं। नारायण ब्रह्म का वह सगुण रूप है जिसकी अभिव्यक्ति जगत् में नर या मनुष्य के रूप में हुई है। इस अभिव्यक्ति में भी उस ब्रह्म का पालक और रक्षक रूप ही प्रधान रहा। यही ब्रह्म का सत्स्वरूप है। ब्रह्म के इस सगुण रूप में तथा उसके निर्गुण प्रकार में भेद कोई पारमार्थिक या वास्तविक भेद नहीं है। सगुण ब्रह्म में विभूति ऐश्वर्य आदि की अभिव्यक्ति मानी गई, क्योंकि उपास्य में बिना इनकी अभिव्यक्ति के, उस पर मनुष्य का हृदय जम नहीं सकता। यह सगुण ब्रह्म की उपासना का मार्ग प्रवृत्तिमार्ग है और लोककल्याण तथा लोकमंगल के भाव को लेकर अग्रसर होता है। महाभारत के आसपास भगवान् का जो उपास्य स्वरूप सामने रहा, वह बहुत व्यापक था। वह लोकरक्षा और लोकमंगल का प्रत्यक्ष साधन करनेवाली धर्मशक्ति का स्वरूप था जिसमें शक्ति, शील, सौंदर्य, ऐश्वर्य सबका समन्वय था। उसका आकर्षण लोकधर्म में आनंदपूर्वक प्रवृत्त करनेवाला आकर्षण था। गीता में अवतार का उद्देश्य लोक में धर्मस्थापना ही बतलाया गया है। इस प्रकार के मार्ग का अनुसरण करनेवाले तुलसी, सूर आदि भक्तों को शुक्ल जी भारतीय परंपरा का भक्त मानते हैं। उनके अनुसार 'निर्गुण' और 'अव्यक्त' को लेकर कभी कोई भक्तिमार्ग भारतीय आर्यधर्म के भीतर नहीं चला। ब्रह्म के उभयात्मक स्वरूप को लेकर चलनेवाले भारतीय भक्तिमार्ग को सगुण भक्तिमार्ग कहने का शुक्ल जी का अभिप्राय यह है कि वह प्रेम का वास्तविक संचार, हृदय का सचमुच रमण, ब्रह्म के उतने ही स्वरूप के भीतर मानता है, जितना व्यक्त अतः सगुण है। सगुण विशेषण जो उसके साथ लगने लगा, वह पीछे, जब कबीर द्वारा प्रवर्तित भक्तिमार्ग निर्गुण नाम से प्रसिद्ध हुआ। ऐसा कोई निर्गुण भक्तिमार्ग आर्यधर्म के भीतर कभी नहीं चला।[१] इस विवेचन से 'गुण' शब्द का कोई निश्चित अर्थ स्पष्ट नहीं होता। व्यक्त जगत् में ब्रह्म का सगुण रूप वह रूप है जो नर रूप धारण करता है, शक्ति, शील, सौंदर्य, ऐश्वर्य आदि विशेषणों से विशिष्ट रहता है तथा लोक में धर्मस्थापन, लोकरक्षण और पालन के लिये अवतीर्ण होता है। वह ब्रह्म जिनकी इयत्ता केवल व्यक्त जगत् तक ही नहीं है और इससे अतिरिक्त भी है तथा जो हमारे अन्तःकरण और इंद्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होता, उसे उचित शब्दों के अभाव में निषेधात्मक, अभावात्मक शब्दों में निर्गुण आदि कह दिया जाता है। यहाँ

[१] सूरदास, 'भक्ति का विकास' निबंध।

'गुण' शब्द का यदि कोई अर्थ ग्रहण किया जा सकता है तो केवल उस गुण, विशेषण या भाव या वैशिष्ट्य के रूप में ही जिसकी अभिव्यक्ति लौकिक और भौतिक प्रत्यक्ष जगत् में होती है।

भक्ति के विभिन्न आचार्यों ने भी निर्गुण-सगुण शब्द का विवेचन किया है। संक्षेप में संकेत कर हम यह बताना चाहते हैं कि शुक्ल जी के अर्थ परंपरानुकूल और शास्त्रानुकूल हैं या नहीं ? शंकर जैसे अद्वैतवादियों के मत से, जिनका कठोर खंडन परवर्ती भक्ति के आचार्यों ने किया था, ब्रह्म का निर्वचन नहीं किया जा सकता, 'नेति-नेति' से ही वह निर्वचित हो सकता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि ब्रह्म शून्य है। प्रत्येक निषेधवाचक शब्द निषेध व्यापार के द्वारा ही उसके सद्भाव की पुष्टि करता है। यह सत्य है कि ब्रह्म निर्गुण और निर्विशेष है किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि ब्रह्म निःस्वरूप है। उपनिषद् ब्रह्म के स्वरूप के विषय में बतलाते हुए उसे सत्, चित् और आनंद कहते हैं। उसको 'तत्वमसि' पद से भी संबोधित करते हैं। निर्गुण ब्रह्म के उपदेश के साथ ही उपनिषदों ने सगुण ब्रह्म का भी उपदेश दिया है। इसके अनुसार ब्रह्म विश्वाधार है। उसी से सभी जीव सत्तावान् होते हैं। उसी में निवास करते हैं और अन्ततः उसी में प्रलयीभूत होते हैं। इस प्रकार संसार से संबद्ध होकर ब्रह्म ईश्वर भी कहा जाता है। चेतन प्राणियों और अचेतन पदार्थों का संसार ब्रह्म का गुण है। ब्रह्म इस संसार का निमित्त और उपादान कारण दोनों है।[1]

जयाख्य संहिता में परतत्व (अल्टिमेट रियल्टी) को सर्वव्यापक, नित्य, आत्मसाक्षात्कृत (सेल्फ रियलाइज्ड), शुद्ध चित् बताया गया है। यह परतत्व हृदयवासी है और निर्गुण है यद्यपि यह गुणगुह्य है तथा अनामक है।[2] मध्वाचार्य ने अनन्त गुणों से युक्त ब्रह्म के विरुद्ध दिये गये तर्कों का खंडन किया है। उनके अनुसार विश्व कार्य रूप है अतः उसका एक चेतन कारण भी अवश्य होना चाहिए। यह कारण ही कर्ता है और वह कर्ता ब्रह्म है। इस विश्व के कर्ता को आवश्यक रूप से सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् (अथवा अनन्त ज्ञानसंपन्न और अनन्त शक्तिसंपन्न) होना चाहिए। मध्व ने सगुण ब्रह्म के पक्षसमर्थन के लिये भागवत पुराण का पक्ष प्रस्तुत किया है। मध्व के अनुसार शास्त्रीय

---

[1] आउटलाइंस आव हिन्दूइज्म—टी० एम० पी० महादेवन, पृ० १४७-१४८ (चेतन लिमिटेड, बाम्बे, १९५६)।

[2] ए हि० इं० फि०, वा० ३, पृ० २४-२५।

ग्रथ जब निर्गुण की ओर संकेत करते हैं तो वहाँ उसका अर्थ है कि ब्रह्म किसी दुर्गुण से रहित है। ब्रह्म निर्विशेष भी नहीं हो सकता क्योंकि गुणनिषेध स्वयम् ही गुणविधान है।[1] गौड़ीय वैष्णव आचार्य ब्रह्म को निर्गुण मानते हैं तथा साथ ही मुख्यतया निर्गुण तथा गौणतया सगुण भक्ति की कल्पना करते हैं। निर्गुण वे इसलिये कहते हैं कि ब्रह्म स्वयम् निर्गुण या गुणों से परे है।[2] निर्गुण और सगुण संबंधी इन विवेचनों से स्पष्ट है कि ब्रह्म का वह पक्ष जो अति अनिर्वचनीय है, केवल 'नेति नेति' से जिसकी ओर संकेत किया जा सकता है, निर्गुण कहा गया है, पर विश्व सृष्टि-पालन-संहार आदि क्रियाओं से संबंधित नहीं है। इसमें विश्व-सृष्टि-पालन-संहार, सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्व, सर्वव्यापकत्व आदि का आरोप सिद्ध और निर्वचनीय नहीं हो सकता। ब्रह्म का एक दूसरा रूप है जो निर्वचनीय है, सत्-चित्-आनंद रूप है, सृष्टिकर्ता, पालक, संहारक है—विश्व से उसका संबंध है। अद्वैत वेदान्ती इसे ईश्वर कहते हैं और वैष्णव आचार्य इसे ही पूर्ण ब्रह्म कहते हैं यद्यपि इसके जो गुण हैं वे अनन्त हैं, अनिर्वचनीय हैं। इस प्रकार गुण का अर्थ है—सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमयत्व, सर्वकर्तृत्व आदि या अनन्त ज्ञानमयत्व, अनन्त शक्तिमयत्व, अनन्त कर्तृत्व आदि। चैतन्यवादियों के अनुसार अनन्त शक्तिमान् एवम् गुणयुक्त रहते हुए भी गुणातीत इस ब्रह्म की भक्ति, जिसे निर्गुण भक्ति कहा जा सकता है, संभव है।

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने नारायण को सगुण ब्रह्म बतलाया है। नारायण को नर रूप धारण करनेवाला सगुण ब्रह्म कहते हैं। लोक के रक्षण और मंगल-विधान के लिये इसकी ही उपासना को वे भारतीय परंपरा की उपासना या भक्तिमार्ग कहते हैं यद्यपि इसमें ब्रह्म का अव्यक्त रूप भी स्वीकार किया जाता है। तात्पर्य यह कि उपासना के लिये अवतार को आलंबन के रूप में ग्रहण करना ही पड़ता है। बिना उसके मुक्ति हो नहीं सकती। ऐसा प्रतीत होता है कि शुक्ल जी के मत से जब तक ब्रह्म नराकार न हो तब तक उसकी उपासना असंभव है। यदि वह हो भी, तो वह न तो पूर्ण ब्रह्म की पूर्ण उपासना है और न भारतीय ही है। संभवतः उनकी दृष्टि में सगुण ब्रह्म का उपासनात्मक अर्थ 'अवतार' है किन्तु सगुण का यह अर्थ ऊपर के किन्हीं भी प्राचीन शास्त्रों के विवेचन में नहीं मिलता। अहिर्बुध्न्य संहिता में यह कहा गया है कि केवल ब्रह्म के अंश से उत्पन्न सर्वातिरिक्त एवम् अलौकिक साक्षात् अवतारों

---

[1] वही, वा० ४, पृ० ७१-७२।

[2] वही, वा० ४, पृ० ४१८-४१९।

की ही उपासना मुक्तिप्राप्ति के लिये करनी चाहिए। किंतु वहाँ कोई ऐसा संकेत नहीं है कि अनावतरित सगुण ब्रह्म की भक्ति नहीं हो सकती। अथवा वह भारतीय नहीं है। अनेक अवतारों में से किसी को साक्षात् अवतार, किसी को अंशावतार, किसी को आवेशावतार आदि कहा गया है। भिन्न-भिन्न ग्रंथों में भिन्न-भिन्न रूपों में, इनकी उपासना के विधि-निषेध मिलते हैं।[१] यदि सूक्ष्म एवम् स्थूल अभिव्यक्तियों की दृष्टि से विचार किया जाय और केवल 'भक्ति' के क्षेत्र में ही सीमित रहा जाय तो कहा जा सकता है कि भक्ति साधन में पूर्णतया निर्गुण ब्रह्म है ही नहीं, उसके अनिर्वचनीय और निर्वचनीय पक्ष अवश्य हैं। यह कथन ठीक है कि इन दोनों पक्षों से युक्त होने पर ही पूर्ण ब्रह्म का ग्रहण संभव है और भक्ति में उभय की समन्वित उपासना ग्राह्य है। इसकी अपेक्षा एक स्थूलतर रूप है नराकार में रक्षक सगुण ब्रह्म, जिसे अवतार कहा जाता है। स्थूलतम अवतरित सगुण ब्रह्म अर्चावतार है। इस दृष्टि से विचार करने पर शुक्ल जी मध्यम रूप को उपासना के लिये भारतीय, लोकोपकारक और सुकर मानते हैं जबकि इनमें से वस्तुतः किसी भी सगुण ब्रह्म की उपासना अभारतीय नहीं। पढ़ने से ऐसा ज्ञात होता है कि रामानुज ने केवल अवतार या किसी विशेष अवतार की भक्ति का आग्रह नहीं किया है।

ग्रियर्सन साहब ने इस अवतारवाद के लिये सबसे पहले तो भारत को भागवतों का ऋणी ठहराया है और बाद में निष्कर्ष रूप में भागवतों को ईसाइयों का ऋणी सिद्ध किया है। उन्होंने भी प्रत्यक्ष उपासना के सौकर्य के लिये इन अवतारों की ओर संकेत किया है। कुछ लोग इसमें, ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करते हुए, व्यक्तिपूजा के चिह्न देखते हैं। अवतार के सम्बन्ध में पाश्चात्यों ने बताया है कि जब कोई दिव्य या अलौकिक व्यक्ति नर या पशु के आकार को धारण करता है तथा उसी रूप में अस्थायी रूप में इस पृथ्वी पर रहने लगता है तब हम उसे अवतार (इनकार्नेशन) कहते हैं। आगे और बताया गया है कि यह अवतरण किसी गन्धर्व, अप्सरा, ऋषि या अन्य किसी अलौकिक व्यक्ति का भी हो सकता है।[२] वस्तुतः पाश्चात्यों की यह परिभाषा अत्यधिक विस्तृत है। ऐसे विचार बहुत पहले विद्वानों द्वारा असिद्ध किये जा चुके हैं।

---

[१] ए हि० इं० फि०, वा० ३, पृ० ३८-३९।
[२] इं० रे० ए०, वा० ७, पृ० १८३, १९३, १९७।

इस प्रकार यहाँ भक्ति का ऐतिहासिक विकास, भक्तिभाव का विकास और नारदीया भक्ति का एक परिचय विभिन्न स्रोतों के आधार पर उपस्थित किया गया है। संतों और नाथों की भक्ति का विवेचन करने के लिये जिन स्रोतों का प्रयोग अभी तक किया गया है उनमें प्रमुख हैं—नारद, शांडिल्य, शंकराचार्य, रामानुज, रामानंद, अहिर्बुध्न्य संहिता, नारद पंचरात्र आदि। यद्यपि रामानंद का अभ्युदय हिन्दी के नामदेव के अभ्युदय के बाद हुआ तथापि कबीरादि के विवेचन के लिये उनके मत को उपस्थित कर दिया गया है।

इस विवेचन के अनुसार नारद पंचरात्र में हरि पूजा के छ अंग बताये गये हैं—उपास्यस्मरण, नामगुणजप-कथन, प्रणति, भगवच्चरणों में आश्रयग्रहण, भक्तिसहित हरि की उपासना, पूर्णतया आत्मसमर्पण। अहिर्बुध्न्य संहिता में परमात्मा को सर्वोच्च मानकर उसे जीवात्मा का आश्रय स्वीकार किया गया है। उन दोनों का संबंध शेष और शेषी का है। उसमें प्रपत्ति के पाँच सोपान माने गये हैं—नमन, कार्पण्य, महाविश्वास, प्रातिकूल्यविवर्जन, मन-वचन-कर्म आदि का पूर्ण समर्पण। भगवान् के छ गुण माने गये हैं—ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेजस्। केवल दो उपायों को स्वीकार किया गया है—हृद्योग और योग। प्रथम मुख्योपाय है तथा द्वितीय गौणोपाय। नारद पंचरात्र में गुरु की महत्ता पर बहुत अधिक जोर दिया गया है। साधन और साधक की दृष्टि से गुरु विष्णु से भी श्रेष्ठ है। तंत्र, मंत्र आदि की सार्थकता केवल भक्ति उत्पन्न करने में है। भक्तिसिद्धि के लिये छ प्रकार के भजन बतलाये गये हैं—स्मरण, कीर्तन, वंदन, पादसेवन, पूजन, सतत भक्ति के साथ परा कोटि का स्वात्मनिवेदन। बतलाया गया है कि गुरु रूप में हरि ही प्रत्यक्ष होते हैं। अर्चाविधि के अतिरिक्त पाँच प्रकार की पूजा बताई गई है—अभिगमन, उपादान, योग, स्वाध्याय और इज्या। आचरणों में विष्णु का स्मरण, कीर्तन, मंत्रजप तथा दान मुख्य माने गये हैं। भगवत्कृपा और करुणा की भी महत्ता बताई गई है। शांडिल्य ने कर्म, ज्ञान और योग से भक्ति को श्रेष्ठ बताया है। ईश्वर में परानुरक्ति को ही वे भक्ति कहते हैं। उनकी दृष्टि में संमान-बहुमान-प्रीति-विरह, भगवद्भिन्न के प्रति अरुचि, महिमावर्णन, भगवान् के लिये ही जीवनधारण, सर्वतद्भाव, अप्रातिकूल्य, स्मरण आदि भक्ति के सूचक चिह्न हैं। ये स्मृति, कीर्तन, कथादि श्रवण को प्रायश्चित्तस्वरूप मानते हैं। पांचरात्र ग्रन्थों की तरह ही वे सबको भक्ति का समान अधिकार देते हैं। नारद ने भक्तिसूत्र में भक्ति को परम प्रेमरूपा, अमृतस्वरूपा, तृप्तिप्रदायिका, निष्कामताप्रदायिका कहा है।

भगवान् में लौकिक वैदिक कर्मों का न्यास, अनन्यता के विरोधियों के प्रति उदासीनता, भगवदनुकूल लौकिक-वैदिक आचारों का संपादन, भगवद्भावनिश्चय तक शास्त्ररक्षण, भगवान् में अखिल आचारों का अर्पण, भगवान् के विस्मरण में परम व्याकुलता का अनुभव, भगवान् के सुख में सुख के अनुभव को वे अत्यावश्यक मानते हैं। शांडिल्य की तरह ही भक्ति को ज्ञान, कर्म, योग से श्रेष्ठ मानते हैं। विषय-त्याग, दुस्संगत्याग, अखंड भजन, भगवद्गुणश्रवण-कीर्तन करना चाहिए। महज्जनकृपा और मुख्यतः भगवत्कृपा की चेष्टा करनी चाहिए। विभिन्न दोषों के कारण रूप दुस्संग का त्याग, महानुभावसेवन, गुण-विकारों से मुक्ति, योगक्षेमत्याग, कर्मफल एवम् कर्म का समर्पण, अविच्छिन्न अनुरागलाभ से भक्ति पुष्ट होती है। प्रेम को नारद अनिर्वचनीय और मूकास्वादनवत् मानते हैं। यह अनुभवगम्य, स्वयम् प्रमाण एवम् परमानंद-रूप है। समर्पण कर भक्त को लौकिक-वैदिक-कर्म की हानियों की चिंता से मुक्त होने को कहा गया है। स्त्री, धन, नास्तिक एवम् भगवद्भक्ति के शत्रुओं के चरित्रों का अश्रवण, अभिमान, दंभादि का त्याग, अखिल आचारों का समर्पण, नित्य दास्य एवम् कान्ता भाव से भजनात्मक प्रेम सर्वथा एवम् सर्वदा करणीय है। कंठावरोध, रोमांच, अश्रु आदि से युक्त प्रेममयी भक्ति होनी चाहिए। भक्तों में रूप, कुल, विद्या, धन, क्रिया आदि का कोई भेद नहीं होता। वाद का अनावलंबन, भक्तिशास्त्रों का मनन, भक्त्योद्बोधक कर्मों का संपादन, सत्य, शौच, दया, आस्तिक्य आदि का परिपालन भक्त के लिये आवश्यक है।

रामानुज आदि श्री वैष्णव आचार्यों ने एवम् रामानंदादि परवर्ती आचार्यों ने भी इसी प्रकार विवेचन किया है। रामानुज के अनुसार आत्मसमर्पण या प्रपत्ति ही मुख्य साधन है। भक्त के लिये गंभीर प्रेम, विश्वव्यापक करुणा, सहानुभूति, भयंकर शत्रु के प्रति भी मित्रभावना, आत्मा-परमात्मा की प्रकृति की एकता की भावना, उपायशून्यता, पारतन्त्र्य, एकान्तिकता, भगवान् के प्रति सच्चाई, नित्यशूरत्व, परदोषों के प्रति औदासीन्य आदि आवश्यक हैं। गुरु से उचित दीक्षा आवश्यक है तथा साथ ही गुरुभक्ति प्रपत्ति का एक प्रकार भी है। भगवत्प्राप्ति के दो मार्ग हैं––प्रपत्ति और भक्ति योग। प्रपत्ति के पाँच तत्व हैं–भगवान् के एकमात्र रक्षक होने की भावना, एकमात्र प्राप्य की भावना, एकमात्र प्रेय की भावना, पूर्ण समर्पण तथा पूर्ण निर्भरता, परा कोटि की प्रार्थना। प्रपत्ति के अंग हैं––भगवान् के अनुकूल रहने का संकल्प, प्रतिकूल का वर्जन, रक्षण की परा प्रतीति, रक्षक के रूप में उसकी प्रार्थना, पूर्ण आत्मसमर्पण, पूर्ण

दीन तथा असहाय होने की भावना । सद्गुरु के उपदेशों के अनुसार शास्त्रों से सत्यज्ञान की प्राप्ति, आत्मसंयम, तप, शुचिता, क्षमा, निष्कपटता, दान, अहिंसा, पूर्ण समर्पण, गुणकीर्तन, सतत स्मरण, उपासना, नामजप, माहात्म्यश्रवणकथन, कृपाप्राप्ति का प्रयत्न आदि के अभ्यास एवम् आचरण भक्त के लिए विधेय हैं। अन्य आचार्यों ने बतलाया है कि कर्मसंपादन से ज्ञानप्राप्ति एवम् ज्ञानप्राप्ति से भक्ति का अधिकार मिलता है। भक्ति आनन्दमयी नित्यसेवा है जिसमें कर्म-समर्पण आवश्यक है। रामानन्द ने ध्यान और भक्ति नाम के दो साधन बताये हैं। ध्यान में सभी आयुधों से सज्जित सीतासहित राम का ध्यान विहित है। भगवद्भक्ति में भगवत्परत्व और पारतंत्र्य आवश्यक है। यह भक्ति तैलधारावत् अनष्ट संस्मृतिस्वरूपा है। इसके नौ प्रकार हैं—श्रवण, कीर्तन, हरिस्मरण, चरणकमल में संश्रिति, समर्चा, वंदन, दास्य, सख्य, आत्मसमर्पण। पोषक आचारों में व्रत, उपवास, तीर्थगमन, तीर्थनिवास, उत्सव आदि गौण साधन हैं। मुख्य साधन भगवान् की निर्हेतुकी कृपा है। भगवान् वत्सल एवम् दयावान् हैं। इनके अनुसार लोक संग्रहार्थ कर्मसंपादन करना चहिए। साकेत-लोक में सायुज्य मुक्ति को लक्ष्य मानते हैं। उपर्युक्त गौण साधनों से मुख्य साधन की प्राप्ति होती है। दो मुख्य धर्म अहिंसा और भगवदर्चन हैं तथा मुख्योपाय प्रपत्ति है जैसा रामानुज मानते हैं। महाभागवत को सर्वतीर्थस्वरूप कहा गया है। इस प्रकार भक्ति, प्रपत्ति, गुरु और भगवान् ये चार तत्व, भक्ति-मार्गियों के प्रधान हैं। इन्हीं तत्वों का विस्तार मिलता है।

इस संपूर्ण विकास को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि भक्त के भावसाधन के लिये भक्ति, प्रपत्ति, गुरु, भगवत्कृपा, महज्जनसंग मुख्यतः आवश्यक हैं और कुछ नहीं। इन्हीं के साधन-पोषण के लिये विस्तार से कायिक-मानसिक क्रियाओं-अभ्यासों, आचरणों के विधान किये गये हैं। कुछ आचार्यों का मत बाह्य कायिक क्रियाओं और पारंपरिक मर्यादाओं को महत्व देता है और कुछ आचार्यों का मत केवल मानस भावसाधन को सब कुछ मान कर शेष को मानस साधन पर अवलंबित मानता है। इन्हीं से भक्ति मार्ग के अंतर्गत विभिन्न मतमतान्तरों का विकास हुआ, किंतु सभी भक्ति करना चाहते हैं इसमें कोई संदेह नहीं। भारतीय आचार्यों के कुछ स्वविषयानुकूल मतों का परिचय ऊपर दिया गया है। उनमें से नारद का मत अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

ऊपर बताई गई दूसरी दृष्टि में भावगत विकास प्रधान है। भक्ति के ऊपर लिखनेवाले आधुनिक लेखकों ने, विशेषकर पाश्चात्य दृष्टिवालों ने अधि-

कांशत: भक्ति को 'डिवोशन' शब्द से अभिहित किया है और उन दोनों में प्राय: अभेद माना है। कुछ लोग 'भक्ति' का पूर्ण अँगरेजी पर्याय 'डिवोशन' को न मानकर 'डिवोशनल फेथ' मानते हैं। फिर भी भक्ति पर विचार करते समय उनकी दृष्टि में 'डिवोशन' तथा उसकी अर्थ-परंपरा ही आती है। पाश्चात्यों की दृष्टि से भक्ति का धर्म से घनिष्ठ संबंध है। कभी-कभी भक्ति को धर्म का पर्याय मान लिया गया है और कभी धर्म के लिये की गई किसी पूजा-उपासना को भी भक्ति का पर्याय मान लिया गया है। किंतु भक्तिभाव की सच्ची अभिव्यक्ति भक्त ही करता है। वह किसी अद्वितीय उद्देश्य या लक्ष्य को ध्यान में रखकर उसका उपयोग करता है या वह उसे किसी देवता की सेवा में समर्पित करता है। पारिभाषिक रूप में कहा जा सकता है कि भक्ति पूजा का आन्तरिक, घनिष्ठ और तात्विक पक्ष है। यह परमात्मा की पूजा करनेवाली आत्मा की एक प्रवृत्ति है। विस्तृत दृष्टि से देखने पर इसे हम किसी देवता के प्रति आत्मसमर्पण कह सकते हैं या किसी देवता के गुणों के चिंतन में थोड़े समय तक लीन होना कह सकते हैं। इसकी उच्च भूमिका तब आती है जब मनुष्य के व्यक्तित्व की सारी शक्तियाँ और स्रोत इसमें क्रीड़ाशील होते हैं। इस प्रकार भक्ति मनुष्य की संपूर्ण क्रियाशीलताओं को किसी उपास्य में सुनियोजित कर देती है। भक्ति ईश्वर में पूर्णतया समर्पित जीवन की ओर संकेत करती है। भक्ति में भक्त न अपनी इच्छाओं के लिये जीवित रहता है, न संसार की आधिभौतिकता के लिये, वह केवल भगवान् की इच्छा को ध्यान में रखकर जीवन धारण करता है। संसार की प्रत्येक वस्तु में उसी ईश्वर का विचार करता है, प्रत्येक क्रिया में भगवान् की सेवा करता है तथा अपने जीवन के प्रत्येक अंश को भगवान् का समझता है। वह सब कुछ भगवान् के नाम से करता है। इस प्रकार की भक्ति को पाश्चात्य लोग 'डिवोशन' कहते हैं, जिसमें निम्नलिखित तत्त्व माने गये हैं—प्रार्थना (प्रेयर), स्तुति (प्रेज़), पूजा (एडोरेशन), ध्यान (दि मेडिटेटिव मूड), आध्यात्मिक अभ्यास या विचार (दि स्पिरिचुअल एक्सरसाइजेज़), आध्यात्मिक आनन्द तथा सामाधिक अनुभव (स्पिरिचुअल रैप्चर्स एण्ड इस्टेटिक एक्सपीरियेंसेज़), तथा ईश्वर सामीप्य (कम्यूनियन विथ गाड)। भारतीय भक्ति का वैलक्षण्य यह है कि वह फलरूपा है तथा सांसारिक कार्यकारणभाव की सीमाओं से अतीत होकर अहेतुकी है और भगवान् की अहेतुकी कृपा पर अवलंबित है। भारतीय परम्परा और मर्यादावाद का प्रभाव तो है ही।

—०—

सातवाँ परिच्छेद

नारदीया भक्ति तथा संतों की भक्ति, नाथ साहित्य में भक्ति

यहाँ हम नारदीया भक्ति और रामानन्द एवं उनकी पूर्वपरम्परा में विकसित भक्ति के विचारों के प्रकाश में नाथों और संतों की भक्ति सम्बन्धी विचारणाओं की परीक्षा करेंगे। इसके पूर्व हम 'भास्कर' के विचारों की तुलना रामानन्द के नाम से प्रसिद्ध तथा प्रकाशित हिंदी की रचनाओं में भक्ति संबंधी विचारों से करके देखेंगे कि उनमें कितनी विषमता एवं समता है।

डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल ने रामानंद की संस्कृत रचनाओं के विचारों तथा सिद्धांतों की तुलना रामानंद के नाम से प्रकाशित हिंदी की रचनाओं से करते हुए उनके साम्य-वैषम्य को प्रकाशित किया है। उनका कथन है कि दार्शनिक सिद्धांतों की असमानता दोनों में स्पष्ट है। 'भास्कर' के अनुसार ब्रह्म का त्रिक स्वरूप है जबकि हिंदी रचनाओं में अद्वैत स्वरूप है। भास्कर सांप्रदायिक ग्रंथ है किन्तु हिंदी रचनाओं में उन सब सांप्रदायिक लक्षणों का, जिनका वर्णन किया जा चुका है, सर्वथा अभाव ही नहीं, उनका स्पष्ट निराकरण भी किया गया है। मोक्षप्राप्ति के बाहरी सभी उपाय व्यर्थ बताये गये हैं। भास्कर में तीर्थयात्रा और तीर्थस्नान को महत्त्वपूर्ण कहा गया है। हिंदी की रचनाओं में तीर्थों को 'पानी' कहा गया है। भास्कर में अर्चावतार की पूजा का विधान किया गया है। हिंदी की रचनाओं में मूर्तियों को पत्थर कहा गया है। भास्कर में श्रुति-स्मृतियों के द्वारा बताये गये कर्मों को करने का विधान किया गया है तथा उन्हीं को भगवान् के जानने का साधन बताया गया है। हिंदी रचनाओं में श्रुति-स्मृतियों का अनुसंधान कर उन्हें छोड़ देने की बात कही गई है। इनके अतिरिक्त कुछ साम्य भी है। हिंदी रचनाओं में जो स्थान श्रुति को दिया गया है, वही स्थान 'भास्कर' में स्मृति को दिया गया है। प्रेमतत्त्व को भास्कर तथा हिंदी रचनाओं में, दोनों में, महत्व दिया गया है। श्रुति-स्मृतियों को दोनों में प्रमुखता नहीं दी गई है। हिंदी रचनाओं में वे देखकर छोड़ दी गई हैं तथा संस्कृत रचना में केवल लोकसंग्रह के लिये उनके अनुकूल चलने का उपदेश दिया गया है। यों उनका कोई विशेष महत्त्व

नहीं है ।[१] समता-विषमता दोनों के पीछे एक बात यह दिखाई पड़ती है कि एक तो साम्प्रदायिक आचार्य की रचना है तथा दूसरी एक संत की रचना है। संत होने के कारण साम्प्रदायिक और शास्त्रोक्त कर्म उतने महत्त्वपूर्ण नहीं रह गये जितनी महत्त्वपूर्ण भक्ति । फिर भी जहाँ तक आचार्यत्व का प्रश्न है, रामानन्द रामानुज की तरह आचार्य प्रतीत नहीं होते । उनके विचारों की अधिक समता अधिकांशतः रामानुज के पूर्ववर्ती आल्वारों से मिलती हैं तथा रामानुज के परवर्ती वेंकट जैसे आचार्यों से भी उनकी समता दिखाई पड़ती है । पहले के विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है ।

रामानंद की हिन्दी रचनाओं में मुक्ति की कल्पना इतनी स्पष्ट नहीं है कि उसकी 'भास्कर' के सायुज्य से तुलना की जा सके । जहाँ दो एक संकेत मिलते हैं, उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि रामानंद परमानंद परमात्मा के संग 'मिलकर' सानंद रहना चाहते हैं ।[२] 'मिलना' और 'रहना', दोनों जीव की व्यक्तिगत सत्ता की ओर संकेत करते हैं । 'साथ रहने' में स्पष्ट है कि दोनों मिलकर इस प्रकार अद्वैत स्थिति को प्राप्त नहीं कर सके हैं कि जीव की व्यक्तिगत सत्ता का कोई परिचय ही न मिले । पूर्णानन्द का अनुभव करने के लिये इस प्रकार मिलकर अभिन्न भाव से साथ रहते हुए भी जीव की वैयक्तिक सत्ता का आभास दिया गया है । अतः पूर्णाद्वैत की बात यहाँ स्पष्ट नहीं है । इस प्रकार भास्कर की तरह ही हिंदी रचनाओं में सायुज्य स्थिति का संकेत मिलता है जिसमें जीवात्मा अभिन्न भाव से मिलकर भी परमात्मा के 'साथ' रहती है तथा आनंदानुभव करती है । इस स्थिति को प्राप्त कर लेने पर वह आवागमन-चक्र से छूट जाती है अर्थात् वह फिर वहाँ से नहीं लौटती ।[३]

ऊपर बताया गया है कि हिंदी रचनाओं में तीर्थ, व्रत, उपवास आदि का खंडन हिंदी रचनाओं में मिलता है । इस संबंध में ज्ञातव्य है कि स्वयम् 'भास्कर' में ही ऐसे संकेत दिये गये हैं जिससे इस प्रकार के खंडन की भावना के विकास को पर्याप्त अवसर मिल जाता है । 'भास्कर' में इन सबको गौण साधन माना गया है तथा इन सबको प्रपत्ति और भक्ति का उपकारक माना गया है । प्रपत्ति में इन गौण साधनों का महत्व प्रपत्ति से ऊपर नहीं है । इन धर्मों से ऊपर अहिंसा धर्म को बताया गया है । तीसरे, यहाँ भी कहा गया है कि साधक जहाँ भी इच्छा हो वहाँ अपनी सुविधा के अनुसार वैष्णव रीति-नीति का पालन करते हुए

---

[१] रामानन्द की हिंदी रचनायें—भूमिका, डा० बड़थ्वाल, पृ० २३-२५ ।
[२–३] वही, मूल, पृ० ८, ९, ११ ।

रहे। श्रीराम की उपासना प्रधान है, तीर्थनिवास आदि प्रधान नहीं हैं। कुछ लोगों की यह भी कल्पना है कि रामानंद ने हिंदी रचनाएँ पर्याप्त यात्रा, भ्रमणादि के बाद लिखी होंगी। उस समय तक उनमें पर्याप्त उदारता का अभ्युदय हो चुका था जिसका परिचय उनकी हिन्दी की रचनाओं में मिलता है। अतः उन लोगों का निष्कर्ष यह है कि हिंदी रचनाएँ 'भास्कर' के बाद लिखी गई हैं।

'भास्कर' में भक्ति, प्रपत्ति, भगवान्, योग, आचार संबंधी जो विचार मिलते हैं, वे ही किसी न किसी रूप में हिंदी रचनाओं में भी मिलते हैं। रामानंद की 'रामरक्षा' नाम की हिंदी रचना में राम के सर्वरक्षक रूप का साक्षात्कार करने के लिये योग और ज्ञान का आश्रय लेने का उपदेश दिया गया है। इसमें गुरु की सर्वोच्च महत्ता स्वीकृत है। गुरु परमात्मा से अभिन्न प्रतीत होता है। प्रपत्ति में भक्त भगवान् को एकमात्र रक्षक स्वीकार करता है। यह 'निर्भरत्व' उसका आवश्यक तत्व है। दैहिक, दैविक, भौतिक सभी प्रकार के तापों से रक्षा वही भगवान् राम कर सकते हैं। जीवात्मा की सभी स्थितियों में रक्षा का एकमात्र अवलंब वही है।[१] 'ज्ञानलीला' में सतत रामभक्ति का उपदेश दिया गया है। हरिस्मरण, हरिगुणगानश्रवण, सत्संग, हरिकथाश्रवण आदि, जो मुख्या भक्ति के उपकारक तत्व माने गये हैं, का भी निर्वचन मिलता है। हरिस्मरण की महत्ता बताई गई है तथा उद्धार के उपाय के रूप में उसका बार-बार स्मरण किया गया है। भगवान् के स्रष्टा और रक्षक रूप का स्मरण कई बार किया गया है।[२] हरिभक्ति के लिये सतत हरिस्मरण, साधुसंगति, निर्मल चित्त, चरणकमलाश्रय आवश्यक हैं। बिना हरि के जन्म, धन, मान, बड़ाई आदि सब वृथा हैं।[3] इस प्रकार गुणयुक्त ब्रह्म एवम् मुक्ति का वर्णन उन्हें विशिष्टाद्वैतवादी ही सिद्ध करता है।

'भास्कर' में बताया गया है कि सीतासहित राम की ही भक्ति करनी चाहिए। ये राम परिच्छद और परिजनों से सेवित हैं। परिजनों में हनुमदादि की गणना की गई है। इनकी गणना नित्य जीव में की गई है। नित्य जीव, बद्ध एवम् मुमुक्षु जनों से श्रेष्ठ होते हैं। अतः भगवान् राम की सेवा में पहुँचने के लिये इनकी स्तुति या आरती आदि प्रेय है। रामानंद की एक

---

[१] वही, मूल पृ० ३-६, छं० सं० १,२-५,२०,२२-२४।

[२] वही, पृ० ६-७, छं०सं० १-३, ५,७-९,१२।

[3] वही, प० ७, पद १।

हिंदी रचना 'आरती' है जिसमें हनुमान की स्तुति की गई है।[1] पदों में रामानंद की भावनामूलक भक्ति की अभिव्यक्ति हुई है। उनमें कहा गया है कि यदि कोई आधार है तो केवल राम। भक्त की स्थिरता भगवान् में ही है। सेवक-स्वामिभाव की भक्ति के विषय में कहा गया है कि वे दोनों एक साथ रहते हैं और इस साथ से, संग से, भक्त को अमृत सुधानिधि का आनंद मिलता है। सेवक स्वामी के साथ अभिन्न भाव से रहता है और आनंद की प्राप्ति करता है।[2] मुक्ति की दृष्टि से विचार करने पर यही रामानंद की सायुज्य मुक्ति की कल्पना प्रतीत होती है। भगवान् राम सर्वत्र समान रूप से व्याप्त हैं। वेद और स्मृतियाँ सभी मिलकर उसी को जोहती हैं, देखती हैं, उसी की आश्रित होती हैं। ब्रह्म को बतानेवाला गुरु है और उसके अनुसार वह ब्रह्म अपने में ही है। वह ब्रह्म एक है (यद्यपि वह सर्वत्र समान रूप से व्याप्त है)। इस गुरुप्रदत्त ज्ञान से, स्थान-स्थान जाकर उसके पूजन-दर्शन का भ्रम दूर हो गया।[3] भास्कर में अर्चावतार और अर्चन का विधान है। षोडशोपचार का भी उपदेश है। मुख्य धर्म तो अहिंसा है, जो सर्वश्रेष्ठ है किंतु मुख्य धर्म में दूसरा स्थान अर्चन को ही दिया गया है। किंतु हिंदी रचनाओं में बाह्य को अस्वीकार कर मानसी उपासना का उपदेश दिया गया है। षोडशोपचार की सामग्रियों और क्रियाओं का मानसिक रूपांतर या मानसिक षोडशोपचार का भी विधान हिंदी रचनाओं में मिलता है।[4] इसके अतिरिक्त 'भास्कर' में सेवक और पतिव्रता के भाव की जैसी अभिव्यक्ति हुई है, उसी प्रकार रामानंद ने अपनी हिंदी रचनाओं में भी उसे व्यक्त किया है। सेवक और पतिव्रता के समन्वित भाव, क्रिया, रूप का आदर्श रामानंद को स्वीकार है। समर्पण और अनन्यता के तत्व भी भली भाँति स्फुट हैं।[5]

---

[1] वही, पृ० ७।

[2] वही, पृ० ८...'सहजें सहजें......रस तब लग पीवैला ॥'

[3] वही, पृ० ८, पद ५—'पूजन चाली ठांइ ठांइ......भ्रम जारे मोर ॥' शेष मूल रचनाएँ योग से संबद्ध हैं जिनमें सुरति (भक्ति) की पुष्टि और सबलता के लिये योग का आश्रय लिया गया है। योग का विचार आगे किया गया है।

[4] वही, पृ० ८, पद ५, पृ० ५३ भी।

[5] वही, पृ० ५३-५४—'आनदेव की करे न सेवा, पूजै एक निरंजन देवा ......पतिबरता पति लै निरवावो ॥'

रामानंद और कबीर के भक्ति संबंधी विचारों के तुलनात्मक अध्ययन के लिये आवश्यक यह है कि पहले के विवेचित सिद्धान्तों और विचारों के प्रकाश में कबीर के भक्ति संबंधी विचारों को संक्षेप में देख लिया जाय जिससे परवर्ती संतों के तथा नाथों के साहित्य से, उस दृष्टि से तुलना करने में सरलता हो। कबीर के भक्ति संबंधी विचारों को जानने के दो मार्ग हो सकते हैं—प्रथम तो कबीर से भिन्न व्यक्तियों द्वारा संकेतित विचार तथा दूसरे, कबीर की रचनाओं में विवेचित भक्तिवाद। इन्हें हम क्रमशः बाह्य और आंतरिक स्रोत कह सकते हैं।

बाह्य स्रोत के रूप में यहाँ नाभादास के भक्तमाल का विचार कर रहे हैं। प्रधान द्वादश भक्तों में नारद और शंकर की गणना करते हुए नाभादास ने आदर्श भक्तों की एक सूची उपस्थित कर दी है। उन लोगों की ही परंपरा में उन्होंने कबीर, तुलसी आदि का विचार किया है। टीकाकार प्रियादास ने इन सभी भक्तों की भक्ति में उपलब्ध सामान्य तत्वों को संक्षेप में कह दिया है। 'भक्ति स्वरूपवर्णन' में बताया है कि श्रद्धा, कथाश्रवण, निरभिमानता, मनन, दया, प्रण, हरिनाम, साधुसेवा, मानसी उपासना, सत्संग आदि भक्ति के महत्वपूर्ण अंग हैं। पूर्व विवेचित विचारों के प्रकाश में देखने से इनमें कोई नवीनता नहीं दिखाई देती। शांति, दास्य, सख्य, वात्सल्य और श्रृंगार, ये भक्ति के पाँच रस हैं।[1] नाभादास की दृष्टि में भक्ति के केवल दो ही आलंबन हैं—भगवान् और भक्त। भक्तमाल में भक्त की भक्ति है, उनका यशगायन है। नाभादास की यह प्रतिज्ञा कि भक्त, भक्ति, भगवान् और गुरु में कोई अंतर नहीं है, इनका स्वरूप एक है किन्तु नाम भिन्न-भिन्न हैं, अति महत्वपूर्ण है। इस दृष्टि से भक्तोपासना भगवदुपासना है। गुरु की उपासना भी भगवदुपासना है। गुरु संबंधी यह दृष्टि नारद पंचरात्र से अधिक समता रखती है। 'भास्कर' में यह बात नहीं मिलती। 'भास्कर' में राम के आयुधों का माहात्म्य विस्तार से वर्णित है किंतु नाभादास ने भगवान् के चरणकमल के सल्लक्षणों का निरूपण कर अपना महत्कार्य आरंभ किया है। इनके भी उपास्य रघुवीर हैं। नाभादास ने चौबीस अवतारों का स्मरण लीलाकारी हरि के रूप में किया है।[2] द्वादश भक्तों में नारद का महत्व नाभादास की

---

[1] भक्तमाल—नाभादास, प्रियादास की टीका सहित, कवित्त सं० ३-४।

[2] वही, मूल दो० १,३। छ० सं० ६, ५, ७ 'भक्ति भक्त···वपु एक ॥'
'भजबे को दोई सुघर, कै हरि कै हरिदास ॥३॥

दृष्टि में अत्यधिक है। उन्होंने उनका महान् भक्त के रूप में कई बार स्मरण किया है। इन्हीं की परंपरा में नामदेव, रामानंद, रैदास, कबीर आदि का अभ्युदय हुआ।[१] प्राचीन पौराणिक भक्तों में नारद का इस प्रकार अति महत्वपूर्ण स्थान है। रैदास रामानंद के शिष्य थे। उनकी भक्ति में सदाचार की प्रधानता है। उनकी भक्ति श्रुति और शास्त्र के अविरुद्ध है। जाति में प्रतीति रखते हुए भी वर्णाश्रम के अभिमान का त्याग, उन्होंने, भक्त के लिये आवश्यक माना है।[२] नाभादास ने रैदास को इसी रूप में देखा है।

कबीर की भक्ति के संबंध में नाभादास की उक्ति ध्यान देने योग्य है। कबीर ने उन सभी धर्मों को अधर्म कहा है, जो भक्ति के विरुद्ध हैं। अर्थात् उनकी दृष्टि में वे भक्तिविरोधी धर्म आचरणीय नहीं हैं। भक्ति के बिना योगसाधन, व्रत, दान आदि सभी तुच्छ और निरर्थक हैं। उनके भक्ति के वाक्यों या वचनों में पक्षपात नहीं है। वे एक ऐसी भक्तिपद्धति के समर्थक थे जो सबका हित करनेवाली थी। हिंदू, तुर्क, सभी के लिये प्रमाण यदि कहीं है तो रमैनी, सबदी और साखियों में है। अर्थात् रामगुणगान करनेवाली रमैनियाँ, गुरूपदेश का गायन करनेवाली सबदियाँ तथा प्रातिभज्ञान या अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से साक्षीकृत वचन ही उनकी दृष्टि में प्रामाणिक हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कबीर ने शास्त्रों और श्रुतियों को, बिना अनुभव द्वारा प्रमाणित हुए, प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं किया। कबीर ने वर्ण, आश्रम और षड्दर्शनों की मर्यादा नहीं रखी अर्थात् उनकी दृष्टि में वर्ण, आश्रम, षड्दर्शन आदि यदि भक्त के उपकारक, सहायक नहीं हैं, बाधक हैं, तो उनकी मर्यादा का पालन करने की कोई आवश्यकता नहीं है।[३] नाभादास के रैदास और कबीर संबंधी कथनों से दोनों के भेदक तत्व स्पष्ट हो जाते हैं। रैदास ने

---

[१] वही, छ० सं० ७,१५,२५,२६।

[२] वही—छ० सं० ५९। "सदाचार श्रुति शास्त्रवचन अविरुद्ध उचार्‌यो। ...राजसिंहासन बैठि ज्ञातिपरतीति दिखाई॥ वर्णाश्रम अभिमान तजि पदरज बंदहिं जासु की। संदेहग्रंथिखंडननिपुण, वाणी विमल रैदास की॥"

[३] वही, छ० सं० ६०। "भक्तिविमुख जो धर्म सुसब अधरम करि गायो। योग यज्ञ व्रत दान, भजन बिन तुच्छ दिखायो। हिंदू तुरक प्रमाण रमेनी सबदी साखी। पक्षपात नहिं बचन सबन के हित की भाखी। कबीर कानि राखी नहीं, वर्णाश्रम षट दर्शनी॥६०॥"

श्रुति और शास्त्र के अविरुद्ध कहा। अर्थात् वे अपनी भक्ति को इनकी विरोधिनी नहीं बनाना चाहते थे। इस कथन से उनके प्रति रैदास की उदासीनता का भाव व्यक्त होता है। नारद के भक्तिसूत्रों में उदासीनता के भाव की जो विवृति मिलती है, उसकी एक झलक, यहाँ मिल जाती है। किंतु कबीर ने इन सबको प्रमाण न मानकर रमैनी, सबदी और साखी को प्रमाण माना। दूसरा भेदक तत्व वर्णाश्रम संबंधी है। रैदास की जाति में प्रतीति है, वर्णाश्रम मर्यादा वे मानते हैं किंतु उन्हें स्वीकार करते हुए भी वे तत्संबंधी अभिमान के त्याग को आवश्यक मानते हैं। कबीर की दृष्टि में वर्णाश्रम की मर्यादा रक्षणीय नहीं है, यदि वह भक्ति का बाधक है। इन दोनों उक्तियों से स्पष्ट है कि भक्ति के क्षेत्र में वर्णाश्रम का गौण स्थान है। वर्णाश्रम की गौणता संबंधी यह विचार नारद भक्तिसूत्र, नारद पंचरात्र तथा भास्कर, तीनों में मिलता है।

नारद की महिमा तथा उनके भक्ति संबंधी विचारों और पद्धतियों को कबीर ने भी स्वीकार किया है। कबीर भक्ति का विवेचन करते समय जिन आदर्श भक्तों का नाम लेते हैं उनमें शिव, सनकादिक, नारद, व्यास आदि की गणना की जा सकती है। वे भक्त नाभादास के भक्तमाल में भी अन्तर्गणित हैं। नारद ने भक्ति का आश्रयण कर भ्रमनिशा का निवारण किया था। रामजप से रामप्रेम उत्पन्न होता है—इसकी पुष्टि नारद, व्यास, शुकदेव आदि सभी करते हैं। इसी प्रकार कबीर ने स्पष्ट रूप में "नारदीया भक्ति" का आश्रयण करने के लिये प्रेरित किया है।[1] उन्होंने कहा है कि हरिदास बनने के लिये 'भेष' को छोड़कर 'नारदी भक्ति' का आश्रय लेना चाहिए। कबीर ने इसी का आश्रयण कर आनंद पूर्वक भवाब्धि का संतरण करने को कहा है। इस भक्ति के लिये शुद्ध बुद्धि से स्वामी की भक्ति, निष्कपट भाव अर्थात् हरि के प्रति निष्कपटता और सचाई आवश्यक है।[2] वेद और पुराणों द्वारा निश्चित कर्मों से मुक्ति की आशा नहीं की जा सकती थी। ऐसी आशा करनेवाले सभी सयाने लोग कालग्रस्त हैं। वे मुक्ति के लिये पंडित के पास जाते हैं, परन्तु निराश होते हैं। पंडित भी वेदपुराणप्रतिपादित कर्मों को बतलायेंगे। इन सबसे नहीं, रघुपति (जीवों के पति) राम की भक्ति से ही ऐसी मुक्ति

---

[1] कबीर ग्रंथावली, पृ० ९८, १००-१०१।

[2] वही, पृ० ४६, ६६, ६८। पृ०१८२–१८३ 'भगति नारदी मगन सरीरा, इहि विधि भव तिरि कहै कबीरा ॥'

मिल सकती है। नादानुसंधान, वैदिक यज्ञयाग, शब्द ब्रह्मोपासन, मौनव्रत आदि से मृत्युमुख से छुटकारा नहीं मिल सकता। ये सब तन को क्षीण करनेवाले हैं, निरर्थक हैं। नारदीया भक्ति से मुक्ति संभव है। काल के पाश से मुक्त होने के लिये 'प्रेम भगति' को हृदय में स्थान देना चाहिए।[1] इससे स्पष्ट है कि कबीर नारदीया भक्ति का आश्रयण सर्वोत्तम मानते हैं। स्पष्ट ही उन्होंने यह भी कह दिया है कि यह भक्ति 'प्रेम भगति' है।

नारद भक्तिसूत्र का जो विवेचन उपस्थित किया जा चुका है उससे स्पष्ट है कि नारद की दृष्टि में भक्ति परमप्रेमरूपा तथा अमृतस्वरूपा है। वह आनंदमयी तथा मोक्षस्वरूपा है। जैसा कहा जा चुका है, कबीर नारदीया भक्ति का आश्रयण कर आनंदानुभव करते हैं, भवमुक्तिलाभ करते हैं। इसी प्रकार उन्होंने भक्ति, मुक्ति की प्राप्ति भी स्वीकार ली है। 'प्रेमभक्ति' करने से मुख में अमृतवर्षा तथा आनंदलाभ दोनों होते हैं।[2] कबीर ने इस भक्ति का विस्तार से विवेचन किया है। यहाँ संक्षेप में कबीर द्वारा उपस्थित प्रेम-भक्ति के लक्षणों को उपस्थित कर हम उसकी आगे नारदीया भक्ति साहित्य से तुलना करेंगे।

कबीर के अनुसार आत्माराम का आनन्द एकमात्र प्रेमभक्ति में है। वह प्रेमभक्ति के हिंडोले में झूलता है। वह भक्ति सभी संतों का विश्रामस्थल है। रूपक का आश्रय लेकर कबीर ने इस हिंडोले का योगपरक वर्णन किया है।[3] कबीर ने राम, गोविंद, हरि आदि शब्दों से उस परमतत्व का ही बोध कराया है। उपर्युक्त से यह स्पष्ट है कि इस तत्व के प्रति जो प्रेमरूपा अमृत-रूपा भक्ति की जाती है, वही कबीर को काम्य है। कबीर की इस भक्ति में विरह का सुदीर्घ विस्तार है। विरह के भी दो प्रकार स्पष्ट हैं—ज्ञानजन्य विरह और अज्ञानजन्य विरह। प्रथम प्रकार का विरह गुरु द्वारा चेता दिये जाने पर, प्रत्यभिज्ञान कर दिये जाने पर होता है। इसे 'पिछांण' कहा जाता है। यह मिलन-दर्शन की व्याकुलता से पूर्ण होता है। द्वितीय प्रकार का विरह परिचय के पूर्व का है। कबीर ने इन दोनों प्रकार के विरहों का सविस्तर वर्णन 'विरह को अंग' में किया है। परिचयजन्य विरह में दो

---

[1] संत कबीर—डा० वर्मा, रागु सोरठि, पद ३, पृ० १३२। 'भगति नारदी रिदै न आई, काछि कूछि तनु दीना। — —'

[2] क० ग्रं०, पृ० ८९।

[3] वही, पृ० ९४।

प्रकार की स्थितियाँ दिखाई पड़ती हैं। प्रथम स्थिति ज्ञान विरह की है। गुरु जब उस परम प्रियतम का ज्ञान करा देता है तब उसे प्राप्त करने एवम् उसका दर्शन करने के प्रयत्न से युक्त जो विरहावस्था है, वही प्रथम स्थिति कही जा सकती है। इसमें भी पीड़ा है, वेदना है, विरहाग्नि का अनुभव है तथा साथ ही उस अग्नि की उपस्थिति का प्रमाण भी प्रपंचों और वासनाओं के जल जाने से मिलता है। दूसरी स्थिति शुद्ध परचा की स्थिति है जिसे साक्षात्कार की स्थिति भी कह सकते हैं। इसमें साधक कभी-कभी अपने हृदयेश की ज्योति की झलक अपने हृद्देश में पा जाता है, जिससे क्षणिक विरह होने पर भी, उसकी व्याकुलता परा कोटि को पहुँच जाती है। ये सभी स्थितियाँ सुमिरण, विरह, ज्ञान-विरह तथा परचा के अंगों में बड़ी सूक्ष्मता से, किंतु मिश्रित रूप में निरूपित मिलती हैं।[१] यदि भक्ति के साधनक्रम से तथा भावनाक्रम से विचार किया जाय तो गुरु की प्रेरणा से गोविंद का ज्ञान होता है, स्मरण से उस ज्ञान में आर्द्रता और तीव्रता आती है, सुषुप्ति से जागरण होता है। जागरण और स्मरण के वेग से प्रिय की प्राप्ति की व्याकुलता उत्पन्न होती है और उसके लिए सभी प्रकार के महत्तम त्याग, महत्तम प्रयत्न और कर्म करने पड़ते हैं। विलक्षण वेदना की अनुभूति होती है। ज्ञान विरह में प्रियतम का अन्तरात्मा में ज्ञान होता है। प्रेमवेदना की विकलता और बढ़ती है तथा गुरुप्रदत्त ज्ञान उस प्रेम को पुष्ट करने, सुरक्षित करने में सहायक होता है। परिचय में प्रियतम की झलक मिलती है, अनंत ज्योति का दर्शन होता है, बेहद्दी मैदान में प्रवेश होता है। इसी समय एकांत विलीनता का प्रयत्न होता है। तत्पश्चात् रसरूप हरि का साक्षात्कार होता है। इस रस का वर्णन कबीर ने अति विलक्षण ढंग से किया है। अनन्त मत्तता प्रदान करनेवाले इस रस का वर्णन करने के लिये जैसे कबीर का शब्दकोश चुक गया है। वे उसकी व्याख्या केवल अधिक शब्द से ही कर सकते हैं। वह भी असीम और अनन्त है। इस रस का पान कर लेने पर संपूर्ण आध्यात्मिक यात्रा की क्लांति मिट जाती है, उसका अस्तित्व नहीं रहता। जैसेजैसे उसका पान किया जाता है, उसकी रसालता बढ़ती ही जाती है। इसकी महत्ता कभी

---

[१] वही, पृ० ४—१६। विशेषकर द्रष्टव्य—सुमिरण कौ अंग, साखी—४, ७, २८, ३२; विरह कौ अंग, सा० १, ३, ८, १२, २३, २९, ४५, ४०; ज्ञान विरह कौ अंग, सा० २, ७; परचा कौ अंग, १, ६, २२, २९, ३६, ४२, ४८।

नहीं जाती और अमल खाने की इच्छा नहीं रहती। उस मत्तता में शरीर की सुध-बुध नहीं रहती। इस रस का तिलमात्र प्रयोग शरीर को (सूक्ष्म और स्थूल शरीर को) कंचन कर देता है।[१] इस प्रकार की सूक्ष्म अनुभूत्यात्मक प्रेमभक्ति का निरूपण नारद भक्तिसूत्र में दुर्लभ है। किंतु फिर भी नारद ने इसे स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है और कहा है कि इस प्रेमदशा तथा अमृत-स्वरूपा भक्ति का लाभ कर मनुष्य सिद्ध, अमृत, तृप्त, अनाकांक्षी, निश्चिन्त, द्वेषरहित, अनुत्साही होजा ता है। वह उसे जान कर मत्त, स्तब्ध और आत्मा-राम हो जाता है।[२]

इस प्रेम तत्व के स्वरूप को नारद मूकास्वादन के समान अनिर्वचनीय मानते हैं। इसका प्रकाश भी विरल पात्रों में ही होता है। वह प्रेम कामना-वर्जित, प्रतिक्षण वर्धमान, अविच्छिन्न और सूक्ष्मतर होता है। कबीर ने इन सभी विशेषताओं को बड़े विस्तार से विवृत किया है। उनके अनुसार प्रेमरस ही रामरस है। इस रामरस के पान से और रस विस्मृत हो जाते हैं। इस रस के पान से लोग गूंगे हो जाते हैं। इससे उत्पन्न खुमारी कभी नहीं जाती। यह सूक्ष्मातिसूक्ष्म है किंतु फिर भी प्रेमी भक्त उसी में आपादमस्तक अवगाहन करता है। इसके तिलमात्र के संचरण से शरीर कंचन हो जाता है इसी से सभी आशाएँ विजित हो जाती हैं।[३] यह प्रेम सती का प्रेम है जो अनन्य होता है। इस अनन्य प्रेम में ही सुख है। दो या अधिक विषयों में प्रेम होने से ताड़ना, पीड़ा या दुःख ही मिलता है। प्रेमी भक्त को केवल एक पर ही विश्वास है। उसे केवल एक प्रियतम से ही आशा है। पतिव्रता स्त्री सर्वतोभावेन, अनन्य भाव से अपने पति पर निर्भर रहती है। वह दुःख, सुख, संपत्ति-विपत्ति, सभी स्थितियों में केवल उसी पर आश्रित रहती है। यहाँ तक कि पतिव्रता किसी अन्य को देखना भी नहीं चाहती।[४] इस प्रेम के लिये पतिव्रता सभी विपरीत तत्वों का, चाहे वे कितने ही प्रिय हों, तिरस्कार करती है। कबीर ने उदासभाव को भी अपनाया है। अनन्यता की रक्षा के लिये मायात्मक प्रपंचों में रहते हुए भी प्रेमी उनसे उदास रहता है। उनके प्रति

---

[१] वही, पृ० १६-१७, अंग ६।

[२] ना० भ० सू०, सू० २-६।

[३] वही, सू० ५१-५४। क० ग्रं०, पृ० १११, ११०, १६–१७ तथा 'रस कौ अंग' द्रष्टव्य।

[४] क० ग्रं०, पृ० १९-२०, ५९।

उसका राग कभी भी क्रियाशील नहीं होता। वह केवल हरिपद का चिंतन करता है, भक्ति करता है तथा माया, काम, क्रोध, स्तुति, निंदा आदि सभी अन्य तत्वों के प्रति उदास रहता है। विषयों से उदास रहने पर ही मन को जीत कर जगद्विजय संभव है।[1] यह प्रेम की रीति लोक, वेद, पुराण, कुरान, स्मृति आदि में वर्णित रीति-नीति से विलक्षण है। वेदपाठ और ज्ञान से यदि हरिप्रेम उत्पन्न नहीं हुआ तो वे सब निरर्थक हैं। लोक, वेद तथा कुल की मर्यादा—ये सब बंधन हैं, प्रेम के अनुकूल नहीं हैं। अतः इनका ग्रहण उचित नहीं है। वेद की सार्थकता इसमें नहीं है कि लोग उसी को पढ़-पढ़ कर उसी में भूले रहें। राम की प्राप्ति के बिना वे निरर्थक हैं।[2] पोथियों को पढ़कर लोग 'पोथियों' के पंडित हो जाते हैं किंतु यदि वे पोथियों के सार प्रिय को या प्रिय के अक्षर या प्रेम को पढ़ लें तो पंडित हो जायँ क्योंकि उस एक ही तत्व का ज्ञान आवश्यक है जिसके ज्ञान से सबका ज्ञान हो जाता है।[3]

इस प्रेमाभक्ति का मूल तत्व समर्पण है। जीव की सर्वाधिक प्रिय वस्तु अहंकार है। उस प्रिय वस्तु को भगवान् के चरणों में समर्पित कर देने से भगवत्प्रेम की प्राप्ति संभव है। अहंकारत्याग या इसी प्रकार के अन्य महत्कर्मों का संपादन सरल नहीं है। जीव जब अपनी सामर्थ्य से प्रेम प्राप्त करने में असमर्थ हो जाता है, तब वह सांसारिक बाधाओं, दुःखों, प्रपंचों से हताश होकर भगवान् के चरणों में अपने को समर्पित कर देता है। ऐसी पूर्ण समर्पण की दशा में भक्त जो कुछ भी करता है, वह भी हरि ही करता है। इसी समर्पण की वृत्ति, असमर्थताभिव्यक्ति और उसी की अनुभूति से ही साधक भक्त पद प्राप्त करता है। वस्तुतः कर्ता तो कोई और ही है। जीव तो पूर्णतया उसी पर निर्भर है।[4] ऐसी अवस्था में 'पुरुष' या प्रिय से तनिक भी विरहित होने पर या बीच में किसी व्यवधान के आ जाने पर, चाहे वह क्षणिक ही हो, सती पतिव्रता प्रेयसी में पराकोटि की व्याकुलता उत्पन्न होती है। लय के पूर्व और ज्ञान के बाद, अनेक बार ऐसी ही स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। बीच-बीच में उसकी झलक मिलती रहती है जिससे विरहावस्था में गंभीरता और व्याकुलता बढ़ जाती है। अतः यह विरहावस्था विलक्षण है। कबीर ने बड़े विस्तार से

---

[1] वही, पृ० १२०, १५०, १६८, १९०।

[2] वही, पृ० ३६, १२९, १५९।

[3] वही, पृ० ३८, ३९, १९।

[4] वही, पृ० १६, ६१-६२ तथा 'निहकर्मी पतिव्रता कौ अंग' द्रष्टव्य।

इस विरह और व्याकुलता का वर्णन किया है ।[1] यह व्याकुलता किसी और अतीत वस्तु की प्राप्ति के लिए. केवल मिलनसुख, साक्षात्कार, सेवा, दर्शन के लिये है। इस व्याकुलता और समर्पण में निष्कामता की वृत्ति प्रधान है। व्याकुलता भी हरि के लिये ही है। अतः जो कुछ भी कर्म पतिव्रता करती है, सब उसी के लिये करती है। सकाम भक्ति विगर्हणीय है। उससे प्रियतम का साक्षात्कार संभव नहीं। इससे उसका प्रेम मिलना कठिन है। कबीर को निष्काम भक्ति ही प्रेय है। पति प्रसन्न रहे, इसीलिए पतिव्रता उसकी सेवा करती है। यही कबीर का आदर्श है। प्रियतम को छोड़कर उसे स्वर्गादि की भी इच्छा नहीं है। जब भक्त भगवान् के चरणों में अपने को सर्मापित कर देता है तब उसके कर्म भी भगवत्प्रेरित ही होते हैं। वह कर्म निष्काम भाव से करता है, भगवदिच्छा समझ कर करता है। जो कुछ भी वह सर्मापित करता है, वह उसका अपना कुछ भी नहीं था। सब उसी का था।[2]

इस प्रेमाभक्ति में कर्म के समान ही ज्ञान और योग भी सहायक होते हैं। इन दोनों का अपना स्वतंत्र महत्व नहीं है। प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त करते हुए कबीर ने कहा है कि गुरु की उपदेशाग्नि से साधक का ज्ञान दीप प्रज्वलित किया गया तथा स्नेह हृदय में प्रवाहित किया गया। इन तीनों के संयोग से ही वह ज्योति निकली जिसमें सभी कुसंस्कार जलने लगे। 'ज्ञान-विरह को अंग' की इसी प्रकार की एक साखी से स्पष्ट है कि बिना प्रेम के साधनदीप निर्वापित है। विरह गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान से तथा प्रेम से उद्दीप्त होता है।[3] वस्तुतः कबीर की प्रेमाभक्ति में ज्ञान का उपयोग उदासीनता की उत्पत्ति के लिये है। कनक और कामिनी इन दोनों के प्रति विरक्तिभाव को उत्पन्न करने के लिये अनन्यता, निष्कामता और असमर्थता के भाव को पुष्ट करने के लिये इस ज्ञान की आवश्यकता समझी गई है। कबीर के अनुसार ज्ञान की प्राप्ति से ही कनक-कामिनी का न्याय संभव है। ज्ञान तत्व भक्ति

---

[1] वही, पृ० ७-१२, 'सुंदरि कौ अंग ।'

[2] वही, पृ० १९, ६१। 'जब लगि भगति सकामता, तब लगि निर्फल सेव। कहै कबीर वै क्यूं मिलैं, निहकांमी निज देव।' 'कबीर किया न कछू होत है, अनकीया सब होइ। जे किया कुछ होत है, तौ करता औरै कोइ ॥'

[3] वही, पृ० ११-१२।

का सहायक है, रक्षक है। खड्गवत् वह साधन है, साध्य नहीं। ज्ञान की आँधी से जब सारे भ्रमों का ध्वंस हो जाता है, तब प्रेम की वर्षा होती है। जब तक ज्ञानादि प्रेम के उत्पादन में, राम रसायन के पान में सहायक नहीं, तब तक वे नाना रोगों को उत्पन्न करनेवाले जागतिक व्यवहार हैं। बिना राम को या रामभक्ति को लक्ष्य रूप में स्वीकार किये ज्ञान झूठा है। ज्ञान की क्षुरिका से ही पाँचों पुरियों का नाश होता है+। प्रेम की चोट लगने पर ज्ञानादि भी विस्मृत हो जाते हैं। तब केवल प्रेम ही प्रेम रह जाता है।[1]

प्रेमाभक्ति में वही स्थिति योग की भी है। योगयुक्ति से विषयत्याग या उन पर नियंत्रण संभव है। शरीर की अशुचिता का निराकरण योगयुक्ति से संभव है। बिना इसके हरिभक्ति की निष्पत्ति असंभव है। वह योग, जो माया उत्पन्न करने में सहायक है, स्वयम् माया है। रामरसायन या प्रेम रस के प्रेम में उसे भी सहायक होना चाहिए, अन्यथा वह भी नाना रोगों को उत्पन्न करनेवाला ही सिद्ध होगा। उसे राम का ज्ञान कराने में सहायक होना चाहिए। राम नाम कह लेने पर, उनकी भक्ति कर लेने पर, संसार में फिर कुछ कहने और करने को नहीं रह जाता। प्रेमोत्पत्ति के ये सब साधक हैं। उसकी प्राप्ति हो जाने पर इसका महत्व नहीं रह जाता।[2] यही स्थिति जप, तप आदि की भी है।

ज्ञान, योग, कर्म, भक्ति—इन सबका संपादन करते हुए भी प्रेमी को प्रेम-साधना करने में पदे-पदे कृपा की आवश्यकता पड़ती है। साधन का आरम्भ ही गुरु से होता है किंतु उस गुरु की प्राप्ति भी बिना गोविन्द की कृपा के संभव नहीं। गुरु की कृपा से ज्ञान मिलता है, जिससे माया से रक्षा होती है। गुरु की कृपा से हृदयकमल विकसित होता है, भ्रमनाश होता है तथा परिणाम-स्वरूप परम ज्योति का प्रकाश होता है। प्रपंच और माया के भय से राम में मन लगता है। भक्त राम से कृपा की याचना करता है जिससे रामस्मरण

+ शैव ग्रंथों में त्रिपुरदाह का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है किंतु कबीर के 'पंचपुरदाह' का कोई विस्तृत विवरण उनकी रचनाओं में उपलब्ध नहीं है। अनुमानतः ज्ञानेन्द्रियों के विषयगत पदार्थों की सृष्टि के क्षेत्र को ही पुर कहा गया है।

[1] वही, पृ० ११-१२, ६०, ७०, ९३, १३०, १७४, १७५, १९१। ज्ञान विरह कौ अंग।

[2] वही, पृ० ९७, ११५, १३०, १७८।

या स्मरणासक्ति सदैव बनी रहे। भगवत्कृपा से ही गुरु ज्ञान प्रदान करता है और परिणामस्वरूप हरि का हृदय में साक्षात्कार होता है।[१] भय और माया के प्रपंचों से पार उतरने के लिये 'साध संगति' दूसरा अमोघ उपाय है। वैष्णव ही साधु है, वही नामस्मरण के लिये सदैव प्रेरित करता रहता है। 'साध-संगति' ही वैकुंठ है।[२] अभावात्मक साधन में अहंकार त्याग, दंभत्याग आवश्यक हैं क्योंकि इनके त्याग के बिना समर्पण और शरणागति संभव नहीं है। ब्रह्म की ज्ञानाग्नि के उत्पन्न होने पर पाषंड और अभिमान उसमें जल मरते हैं। इस अभिमानत्याग पर ही प्रिय का मिलन होता है, अन्यथा नहीं।[३] अभि-मान का त्याग कर भगवान् की सेवा में अपने को अर्पित कर देना आवश्यक है। बताया जा चुका है कि यह समर्पणभाव 'निहकर्मी पतिव्रता' का भाव है। दास या सेवक में निष्कामता तथा साथ ही दीन भावना, दोनों का होना आवश्यक है। जहाँ हरि की सेवा तथा साधु की पूजा नहीं होती, वह स्थान श्मशान है। जगत् की सभी प्रकार की आशाओं को त्याग कर जब उपासक जीवन्मृत हो जाता है तब हरि की सेवा स्वयम् ही होने लगती है। इस सेवा में दास कभी दुःखी नहीं होता। वह सदा सुखी रहता है। दास स्वयम् अपने शरीर की तनिक भी चिंता नहीं करता। उसका स्वार्थ केवल राम ही होता है। राम का भजन करनेवाले दास की अधम गति कभी होती ही नहीं। सेवा की भावना सेवक की ऐसी होनी चाहिए कि वह बिना उसके रह ही न सके और उस सेवा में दुःख को भी सुख समान ही स्वीकार करे। सेवा ही उसके लिये भली होती है और सब बुरा होता है।[४] कांताभाव रहते हुए भी यह सेवक-सेव्य भाव जीवित रहता है, निष्कामता बनी रहती है। इन दोनों आदर्शों के समन्वय की कल्पना कबीर ने 'निहकर्मी पतिव्रता' के रूप में की है तथा जिसका बड़े विस्तार से निरूपण उन्होंने अपनी रचनाओं में किया है। यह प्रेमाप्लुता पतिव्रता निष्कामा तथा अतीव सुंदरी है। उसमें सौन्दर्य का कारण सौभाग्य है। उसे पति का प्रेम, उसकी कृपा, प्रसाद मिला है। उसके इस सौंदर्य से सास ननद जलती हैं। पूरे पारिवारिक जीवन का रूपकबद्ध वर्णन कर कांताभक्ति का बहुत ही सरस रूप कबीर ने उपस्थित किया है। उस

---

[१] वही, पृ० २, ३३, ८९, १६३, १९०।

[२] वही, पृ० १६५, २२८, ४९, ९६।

[३] वही, पृ० १८३, १९५।

[४] वही, पृ० ५३, ६४, ७१, १३५, २४१।

दुहागिन की भी कल्पना कबीर से नहीं छूटी है जिसे प्रिय का प्रसाद और प्रेम नहीं मिले हैं। इसी प्रकार कबीर ने सौभाग्य सुन्दरी की भी कल्पना की है।[१] अपने प्रिय पति के प्रति व्याकुलता से संपर्कित अनन्य प्रेम भावना कबीर में कितनी गंभीर है, इसकी विवेचना की जा चुकी है। इसी को एकांतिकता भी कहते हैं। पातिव्रत में एकांतिकता का भाव निहित है।

बताया जा चुका है कि कबीर के बाह्य व्यवहार भी भक्ति की ओर उन्मुख हैं। कबीर के प्रेमाभक्ति के मानस पक्ष में इतनी प्रबलता और तीव्रता है कि बाह्य आचार का स्थान गौण हो गया है। जो आचार वर्णित भी हैं, वे भी हृदय की शुचिता से अधिक संबद्ध हैं। तीर्थों की यात्रा की अपेक्षा उन्होंने भक्त के पास जाना अधिक श्रेयस्कर माना है। भक्त तीर्थों से बड़ा है। मथुरा, द्वारिका आदि जाना तब तक निरर्थक है, जब तक 'साध संगति' और हरिभक्ति नहीं है।[२] आचारों की तत्कालीन सामाजिक तथा शास्त्रीय मान्यता जाति, वर्ण, आश्रम, कुल आदि के भेद के आधार पर थी। ऊँचा कुल होने से कुछ नहीं होता, जब तक कि 'करनी' न ऊँची हो। भक्ति में कुल की नहीं, 'करनी' की महत्ता है। कुल वही अच्छा है जिसमें भक्त उत्पन्न हो। कुल तो पाश है। भक्ति के क्षेत्र में प्रवेश करने के लिये इसे छिन्न कर देना चाहिए।[३] प्रेमाभक्ति के साधक को वाद-विवाद में भी नहीं पड़ना चाहिए। उसे इसमें पड़ने का अवसर ही नहीं मिलता। ये सब उसके लिये तुच्छ हैं। वह हरिगुण-कथन-श्रवण में ही सदैव मस्त रहता है।[४] कबीर ने भक्तिशास्त्रों को पढ़ने का कोई विधान नहीं किया है और संभवतः उसका कारण यह है कि गुरु ही उसे सब कुछ देता है, वह स्वयम् शास्त्र है। उसके 'सबद' ही प्रमाण हैं। जीवन में दया, सत्य, शौच, अहिंसा, संतोष आदि का अभ्यास भक्ति का उपकारक है। कबीर में इन्हें स्वीकार किया गया है। कबीरदास वाणी की नहीं हृदय की सत्यता को महत्व देते हैं। शाक्त लोग मांसभक्षण करते हैं। हिंदू लोग झटका मारते हैं तथा मुसलमान हलाल करते हैं। यह हिंसा भक्ति के अनुकूल नहीं है।[५] इसीलिये कबीर ने इनकी कई स्थानों पर निन्दा की है।

---

[१] वही, पृ० ९, १६४-१६५, १६६, १३२-१३३, ८०-८१, १२५ आदि।

[२] वही, पृ० ९७, ४९; संत कबीर, पृ० ४५, राग गउड़ी, पद ४२।

[३] क० ग्रं०, पृ० ४८, ५३, १२८, १२९। कबीर, द्विवेदी, पृ० ३००, 'उलटि जात कुल दोउ बिसारी।'

[४] संत कबीर, पृ० १५३, रागु बिलावलु, पद २। कबीर, द्विवेदी, पृ० ३२०।

[५] क० ग्रं०, पृ० ४२; कबीर, द्विवेदी, पृ० ३२७। क० ग्रं०, पृ० ६३, ४६।

कबीर के प्रेमभक्ति संबंधी ये विचार और भाव नारद के भक्तिसूत्रों से स्पष्ट रूप से मिलते हैं। उन्होंने, जैसा पहले कहा जा चुका है, प्रेमभक्ति में अनन्यता, उदासीनता, न्यास या समर्पण, क्षणिक विरह में परम व्याकुलता, कर्म, ज्ञान, योग से भक्ति की श्रेष्ठता, भगवद्गुण-श्रवण-कीर्तन, भगवत्कृपा, सत्संग महिमा, भगवत्कृपा से महत्संगलाभ, विषय-त्याग, कुसंग-त्याग, अभिमानादि का त्याग, नित्यदासत्व, नित्यकांताभाव, एकांतिकता, भक्तों से ही तीर्थों की पवित्रता, भक्ति के क्षेत्र में जाति-विद्या-रूप-कुल-धन आदि की निर्बंधता, वादावलंबन का त्याग, अहिंसा-सत्य-शौच-दया आस्तिक्य आदि का अभ्यास, कांतासक्ति आदि तत्त्वों का विवेचन किया है।[१]

जैसे नारदीया भक्ति कामना नहीं रहने देती उसी प्रकार कबीर भी प्रेम प्राप्त कर किसी अन्य वस्तु की कामना नहीं कर पाते; पूर्णतया तृप्त एवम् संतुष्ट हो जाते हैं। लौकिक (अहोरात्र चर्या) व्यापार भी भगवान् के ही लिये होते हैं, समर्पित हैं। वैदिक व्यापारों (नित्य, नैमित्तिक, काम्य कर्मों) को कबीर करना नहीं चाहते, भक्ति के अनुकूल स्वीकार ही नहीं करते क्योंकि ये भेद उत्पन्न करते हैं। अतः वैदिक कर्मों के समर्पण का कोई भी प्रश्न कबीर के सामने नहीं उठता। इसी प्रकार भगवान् के प्रति भाव में निश्चय की दृढ़ता आने तक के लिये शास्त्ररक्षण का कोई प्रश्न कबीर के सामने नहीं है। इसके कुछ कारण हैं। कबीर गुरु और उसके शब्दों को सबसे बड़ा प्रमाण मानते हैं। प्रेमभाव के निश्चय की दृढ़ता तक गुरु ही मुख्य सहायक है। वह गुरु सदैव शिष्य का कल्याणकामी होता है, इसीलिये पतन की आशंका से, शास्त्ररक्षण की कोई चिन्ता न करने का उपदेश दिया गया है। शास्त्र की इस महत्ता का निर्वचन नारद भक्तिसूत्र में संभवतः इसलिये मिलता है कि गुरु का कोई भी वर्णन भक्तिसूत्र में नहीं है। इसके विपरीत नारद पंचरात्र में गुरु का विपुल माहात्म्य वर्णित है किन्तु शास्त्ररक्षण की महत्ता वर्णित नहीं मिलती। नारद ने भक्ति के जो दो प्रधान लक्षण भक्तिसूत्र में माने हैं, वे हैं—भगवान् में अखिल आचारों का समर्पण तथा उस भगवान् के विस्मरण में परम व्याकुलता। ये दोनों ही लक्षण कबीर की भक्ति पर पर्याप्त रूप में घटित होते हैं। नारद ने उन व्रजगोपिकाओं का उदाहरण दिया है जो अपने प्रियतम श्रीकृष्ण के सुख

---

[१] नारदभक्तिसूत्र के निम्न सूत्र द्रष्टव्य—८-१२, १९, २५, २७, ३७, ३८-४०, ३५, ३६, ४३, ४९, ६०, ६१-६४, ६६, ६७, ६९, ७२, ७४, ७६, ७८, ८२ आदि।

से सुखी रहती थीं। कबीर भी अपने सुख में नहीं अपितु अनेक कष्टों को सह कर प्रियतम के सुख में सुखी होते हैं। भगवान् को स्थूल मानव शरीर में न देखने के कारण कबीर को माहात्म्यज्ञान के विस्मरण की कोई आशंका नहीं है।

बताया जा चुका है कि कबीरदास भक्तिमार्ग को ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग और योगमार्ग से श्रेष्ठ मानते हैं। कबीर के लिये भक्ति फलरूप तो अवश्य है किन्तु नारद से कुछ अन्तर है। नारद ने तीन मतों की ओर जो संकेत किया है, उनमें से कर्ममार्ग (लौकिक-वैदिक कर्ममार्ग)के भक्ति के सहायकत्व के मत को वे स्वीकार नहीं करते। उन्होंने कर्ममार्ग का तिरस्कार किया है। दूसरा मत ज्ञान को भक्ति का साधन मानता है। कबीर ने केवल उसी ज्ञान को भक्ति का सहायक माना है जो उसके अनुकूल हो। वस्तुतः कबीर के लिये भक्ति ही सब कुछ है। ज्ञान तो असाधु व्यक्ति को भी रहता है जो हृदय से दूषित रहता है किन्तु भक्ति के लिये हृदय की सचाई एवम् पवित्रता आवश्यक है। यदि हृदय शुद्ध और निर्मल न हो तो ज्ञान भी व्यक्ति को ले डूबता है। शांडिल्य ने भी अपने भक्तिसूत्र (सं० ४) के 'ज्ञानमिति चेन्न द्विषतोऽपि ज्ञानस्य तदसंस्थितेः' में यही बतलाया है कि ज्ञान तो द्वेषी व्यक्ति में भी हो सकता है किन्तु भक्ति के सद्भाव में द्वेष रह नहीं सकता। अतः शांडिल्य की दृष्टि से वह ज्ञान भी भक्ति का अंश है जो उसका सहायक होता है। 'असाध को अंग' में इस तथ्य की ओर कबीर ने संकेत किया है। इस दृष्टि से तो साधु जन के हृदय में उत्पन्न होनेवाला भक्ति के अनुकूल ज्ञान भक्ति का अंग प्रतीत होता है। कबीर जब केवल ज्ञान की बात करते हैं तब उनका मतलब शास्त्रज्ञान या ग्रन्थज्ञान या पंडितों के ज्ञान से होता है। भक्ति के प्रसंग में जब वे ज्ञान का विचार करते हैं, तब गुरु द्वारा बताये गये भक्तिस्वरूप या भागवत स्वरूप के ज्ञान के अर्थ को ही ग्रहण करते हैं क्योंकि उन्होंने शास्त्रज्ञान का कई बार खंडन किया है। कबीर की भक्तिपद्धति में ज्ञान का केवल द्वितीय अर्थ ही गृहीत है। उनके यहाँ तर्कप्रतिपादित शास्त्राभ्यासोद्भूत ज्ञान का कोई स्थान नहीं जिसे शंकराचार्य आदि स्वीकार करते हैं। यह ज्ञान निश्चय ही भक्ति का अंग है। तात्पर्य यह है कि कबीरदास भक्ति को साधन और साध्य दोनों रूपों में स्वीकार करते हैं। नित्य दास्य भाव और नित्य कांताभाव में ये दोनों रूप निहित हैं। कुछ लोग भुक्ति और मुक्ति के लिये भक्ति करते हैं, किन्तु कबीरदास भक्तिसाधन केवल इसलिये करते हैं कि जिससे भगवान् उन्हें भक्ति दे। उन्हें मुक्ति भुक्ति दोनों नहीं चाहिए। इस प्रकार कबीर के अनुसार

भक्ति साधनरूपा और साध्यरूपा दोनों है। ('भुक्ति मुक्ति माँगौं नहीं भक्ति दान दे मोहिं। —कबीर वचनावली, पृ० १२७।) कबीर ने भगवान् और भक्त को प्रायः एक माना है। उनकी दृष्टि में राम और उनके जन समान ही हैं। यदि साकार और प्रत्यक्ष देव का दर्शन करना है तो संत का दर्शन करना चाहिए। भगवान् का निज रूप निराकार है (क० ग्रं० पृ० ५० 'राम सरीखे जन मिले।' क० वच०, पृ० १२३)। कबीर ने भी भक्ति को रस माना है किंतु उन्होंने भक्तिरस अथवा प्रेमरस के जो लक्षण बतलाए हैं उनसे प्रतीत होता है कि इस रस में प्रीति या प्रेम, आनन्द और मदिरा तो है ही साथ ही उसमें उज्जीवनप्रदायकता एवम् अजरत्वप्रदायकता के गुण भी समन्वित हैं।

इस प्रकार कबीर की भक्ति का जो परिचय दिया गया है उसमें विभिन्न तत्वों का विचार करने से भी भक्ति-प्रपत्ति के लक्षण मिल जाते हैं। वस्तुतः श्रीवैष्णवों ने भक्ति और प्रपत्ति को अलग-अलग माना है। प्रपत्तिवादी अपनी ओर से कोई चेष्टा नहीं करता। भक्ति के उत्पादक-पोषक तत्वों एवम् भावों में अपने को असमर्थ पाकर भगवान् के चरणों में स्वयं को समर्पित कर देता है। सभी कर्मों-कर्तव्यों के लिये वह भगवान् पर ही अवलंबित रहता है। श्रीवैष्णवों के अनुसार प्रपत्ति के जो अंग और तत्व पहले से बतलाये गये हैं, उनमें दो भाव मुख्य दिखाई देते हैं, और वे हैं—अनन्यता और समर्पण। यद्यपि समर्पण भी एक प्रकार की क्रिया ही है, चेष्टा ही है, तथापि भक्ति के श्रवण-कीर्तन-नामस्मरण, रूपस्मरण, दया, दान, आस्तिक्य, अहिंसा आदि के आचारों एवम् कर्मों-कर्तव्यों की तुलना में उसको नहीं रखा जा सकता। भक्ति के लिये अनन्यता आवश्यक है और निष्कामता की व्यावहारिकता के लिये वहाँ समर्पण आवश्यक है। मुख्यतया वहाँ कर्मों का समर्पण है। कबीरदास दया, आस्तिक्य, अहिंसा, नामजप-श्रवण-कीर्तन आदि को आवश्यक मानते हैं अतएव उनकी भक्ति पद्धति में प्रपत्ति या समर्पण भक्ति का एक अंगमात्र है, प्रपत्ति ही मुख्य साधनोपाय नहीं है। वस्तुतः कबीर की भक्तिपद्धति में भक्त के भाव पक्ष के साथ ही उसका सेवक, शूर और पतिव्रता से संबंधित कर्तव्य पक्ष भी पर्याप्त प्रबल है।

शंकराचार्य ने पांचरात्रों की पूजा के जो उपास्यस्मरण, नामगुणजपकथन, प्रणति, भगवच्चरणों में आश्रयग्रहण, भक्तिसहित हरि की उपासना, पूर्णतया आत्मसमर्पण नाम के छ अंग बताये थे वे प्रायः सभी कबीर में मिलते हैं, ऐसा

उपयुक्त विवरण के आधार पर निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है। अहिर्बुध्न्य संहिता में बताये गये प्रपत्ति के पाँच सोपानों में नमन, दीनता, असहायता की भावना, महाविश्वास, प्रातिकूल्यविवर्जन, मनवचनकर्मादि का पूर्ण समर्पण सभी कबीर में मिलते हैं। अहिर्बुध्न्य संहिता में जिस प्रकार हृद्योग को मुख्योपाय और योग (यम-नियमादि) को गौणोपाय कहा गया है, उसी प्रकार कबीर में भी। जैसा ऊपर कहा गया है कबीरदास उस योग को प्रपंचकारक मानते हैं जो भक्ति उत्पन्न करने में सहायक न हो। तात्पर्य यह कि योग कबीर के यहाँ भी गौणोपाय है। नारद पंचरात्र में जो छ प्रकार के भजन बताये गये हैं उसमें से कुछ तो कबीर की भक्तिपद्धति में स्वीकार्य हैं। स्मरण को, जो मानसिक साधन है, तो कबीर ने भक्ति के लिये अत्यावश्यक माना है किंतु कीर्तन (सामूहिक नामोच्चारण--जैसा सामान्यतः प्रचलित है) को वे स्वीकार नहीं करते, कारण कि उसमें कभी-कभी बार-बार ऐसा करने पर मन की शुद्धि नहीं होती। इसी कीर्तन का एक वैयक्तिक रूप नामजप है जिसका साधन बाह्य उपकरणों की सहायता से किया जाता है। प्रसिद्ध है कि कबीरदास कर में फिरनेवाली माला का तिरस्कार करते थे, वे मन के मनके को फिराने का उपदेश करते थे। इसके विपरीत महाराष्ट्र के हिन्दी संतों में कीर्तन भक्ति का एक मुख्य अंग था जिसका प्रसार बाद में अन्य संप्रदायों में भी हो गया। इस प्रकार के कीर्तन की पद्धति प्रायः किसी मूर्ति या प्रतिमा के बंधन से बँधी हुई थी। इसलिये भी संभव है कबीर ने इसे अस्वीकार किया हो। इसी प्रकार वंदन को भी कबीरदास वहीं तक स्वीकार करते हैं जहाँ तक उसका किसी मूर्ति विशेष से संबंध नहीं हैं। पादसेवन और पूजन का संबंध भी इसी प्रकार मूर्ति विशेष की पूजा-अर्चा से है। सतत भक्ति के साथ परा कोटि के स्वात्मनिवेदन की अभिव्यक्ति कबीर में प्रभूत मात्रा में हुई है, क्योंकि उसका सीधा संबंध मानस से है।

नारद पंचरात्र में अर्चाविधि के अतिरिक्त अभिगमन, उपादान, योग, स्वाध्याय और इज्या नाम की पाँच प्रकार की पूजा बताई गई है। यहीं पर कबीर की अवतारवाद संबंधी मान्यताओं पर भी विचार कर लेना चाहिए। जो शास्त्रों तथा भक्तिग्रंथों के आधार पर अवतार संबंधी विचार पहले व्यक्त किये गये हैं उनसे प्रकट है कि अवतरणक्रिया धर्मोद्धार के लिये, भक्तजनों के परित्राण के लिये, विशेष देश, काल, परिस्थिति एवम् उद्देश्य से कुछ समय के लिये इस पृथ्वी पर होता है। यह अवतार नर रूप में अथवा अन्य किसी प्राणी के रूप में होता है। अवतार का अन्य रूप अर्चावतार अर्थात् मूर्तिरूप में अवतार

माना गया है। कबीरदास ब्रह्म को नर शरीर में जन्म लेने वाला नहीं मानते, न उसे किसी देशकाल के बन्धन में डालना चाहते हैं। सामान्यतया प्रसिद्ध है कि कबीरदास दाशरथी राम को ब्रह्म रूप में स्वीकार नहीं करते। उनकी दृष्टि में वह सर्वव्यापक है। वह रूप अवतरण नहीं करता अपितु भक्त ही स्वयं उसका साकार रूप है। भक्त जब भक्ति की चरम परिणति में तदाकार हो जाता है तो भगवान् और भक्त में कोई भेद नहीं रहता। अतः अर्चावतार का भी कोई प्रश्न कबीर के यहाँ नहीं उठता। सर्वव्यापक भगवान् का दर्शन वे सर्वत्र सभी प्राणियों और वस्तुओं में करते हैं, पत्थर में भी करते हैं, किंतु उसी को भगवान् मानकर उसका पूजन नहीं करते। अतः नारद पंचरात्र में बताई गई अर्चाविधि और पूजा में से अभिगमन, उपादान आदि का कबीर की भक्ति-पद्धति में स्थान नहीं है। संत जन की सेवा भगवत्पूजा है। बड़े विस्तार से कबीर ने 'साध को अंग', 'असाध को अंग' में इसका विचार किया है। स्वदेह की आत्मत्वेन भावना को योग बताया गया है। कबीरदास नर शरीर की महत्ता स्वीकार करते हैं, उसे भगवान् का मंदिर मानते हैं और किसी प्रकार के भी कृच्छ्राचार का विरोध करते हैं। कष्टसाधना उन्हें सर्वथा अस्वीकार है। योग का कबीर की बानी में क्या रूप और स्थान है, इसका विचार आगे किया गया है। स्वाध्याय में मंत्रार्थसाधनपूर्वक जप, सूत्रस्तोत्रादि का पाठ, हरिसंकीर्तन, तत्वादिशास्त्राभ्यास की गणना की गई है। ये सभी कबीर की भक्तिपद्धति में अन्तर्गणित नहीं मिलते। इनमें बाह्याचार अधिक है। मन की शुद्धि इनसे नहीं भी हो सकती। ये भक्तों में भेददृष्टि रखते हैं। इज्या स्वदेवपूजन है जिसे कबीर उपर्युक्त कारणों से स्वीकार नहीं करते। नारद ने भक्तिसूत्रों में मूर्तिपूजा या अर्चा का कोई वर्णन नहीं किया है।

नारद पंचरात्र से कबीर की दो महत्वपूर्ण समानताएँ हैं—(१) भक्ति साधन में गुरु की अलौकिक और असामान्य महत्ता। (२) भक्ति में भी योग (चक्र-नाड़ी-समन्वित योग) का प्रयोग। गुरु संबंधी विचारों का संक्षिप्त विवेचन पहले हो चुका है। योग संबंधी विचार आगे के परिच्छेदों में किया गया है। योगसाधन और गुरु परस्पर अति घनिष्ठ भाव से संबद्ध हैं। अतः आगे गुरु तत्व पर भी विस्तार से विचार किया गया है। नारद पंचरात्र में षोडशोपचार का विधान है। वह कबीर में कहीं नहीं हैं। कहीं कहीं उसके अंगों का बाह्याचार कह कर विरोध किया गया है। इसके अतिरिक्त षोडशोपचार की सामग्रियों की सूक्ष्म मानसी कल्पना भी मिलती है। तांत्रिकों के दिव्याचार

में जिस प्रकार मकारों का सूक्ष्म मानसिक तथा प्रतीकात्मक अर्थनिरूपण मिलता है प्राय: उसी प्रकार कबीर तथा अन्य संतों के विचार षोडशोपचार की विभिन्न सामग्रियों के विषय में मिलते हैं। लोकसंग्रह, शास्त्ररक्षण, अर्चापूजा आदि को छोड़कर इस प्रकार कबीर में प्राय: सभी समान रूप में मिलती हैं। कबीर की प्रेमप्रधान भक्तिपद्धति का विस्तृत विचार इसलिये यहाँ प्राचीन भक्ति साहित्य के प्रकाश में किया गया है कि जिससे उनके स्थान का निरूपण हो सके। दूसरे, इस विस्तृत विचार की महत्ता इसलिये भी है कि कबीर परवर्ती संतपरंपरा के प्रेरणास्रोत थे। आगे नानक, दादू, सुंदर, पलटू आदि की भक्ति पद्धति का विचार, इसी प्रेमप्रधान नारदीया भक्ति के प्रकाश में किया गया है तथा बाद में नाथों में भक्ति तत्व का विचार किया गया है।

अभी तक जितना विचार किया गया है उसमें दर्शन नाम के किसी विशेष तर्कप्रतिष्ठित मतवाद को कोई स्थान नहीं दिया गया है। वास्तविक बात यह है कि संतों की या सिख गुरुओं की वाणियों में जो दार्शनिक विचार मिलते हैं, वे आंतरिक प्रेरणा और साक्षात्कार के परिणाम हैं, वे तर्कप्रतिष्ठित दर्शन अथवा मतवाद नहीं हैं। उन लोगों ने इस प्रकार के मतवादों वा विचारों को महत्व नहीं दिया, अपितु सदाचार को उनसे श्रेष्ठ माना। सिख गुरुओं ने यद्यपि भक्ति संप्रदाय में प्रतिपादित अधिकांश विचारों को स्वीकार किया था तथापि सामान्य भक्तिमार्ग से उनकी कुछ विषमताएँ वैसी ही हैं, जैसी कबीर की। सिख गुरु विभिन्न भक्तों द्वारा प्रतिपादित द्वैतवाद को स्वीकार नहीं करते और न अवतारों तथा मूर्तियों की पूजा में ही उन्हें विश्वास है। वैष्णव-मत और भक्ति आन्दोलन से सिख मत का घनिष्ठ संबंध है। वर्ण, आश्रम, ब्राह्मणों और वेदों के संबंध में गुरुओं के विचार वे ही हैं जो कबीर के हैं। भक्तिसाधन की दृष्टि से वे भी उनका महत्व स्वीकार नहीं करते। ब्रह्म के अवतारों को भी गुरु लोग स्वीकार नहीं करते और न उनकी पूजा का विधान ही करते हैं। इसी प्रकार वैष्णव कर्मकांड तथा बाह्याचार का भी विरोध, कबीर की तरह, सिख गुरुओं ने किया है। इसके विपरीत वैष्णवमताब्ज-भास्कर में इनका सविस्तर वर्णन मिलता है। गुरुओं की दृष्टि में इनसे पाषंड उत्पन्न होता है तथा उपासना सारहीन हो जाती है। कबीर ने अहिंसा का सबल समर्थन किया था। उसी प्रकार मांसभक्षण का भी निषेध किया था। यह वृत्ति 'भास्कर' 'नारद पंचरात्र' तथा भक्तिसूत्र तीनों में मिलती है। किंतु गुरुओं ने अहिंसा का अतिवादी रूप स्वीकार नहीं किया और न मांस-

भक्षण का ही निषेध किया। रामानुज के षोडश साधनों में से, गुरु साहित्य में, अधिकांश गृहीत हैं, जैसे—नामगुणश्रवणकीर्तन, भक्तिसहित सतत उपासना, समर्पण, सख्य, प्रसादग्रहण, संतसेवा, दास्य तथा विनम्रता या दीनता। गुरुओं ने शंख, चक्र तथा अन्य आयुधों के अंकन को अस्वीकार कर दिया था। ये सांप्रदायिक लक्षण थे। साथ ही ऊर्ध्वपुंड्र-धारण, एकादशी व्रत, तुलसीदल-अर्पण आदि को भी अस्वीकार कर दिया था। कबीर ने भी इन्हें अस्वीकार कर दिया था जबकि रामानुज तथा 'भास्कर' ने इन्हें आवश्यक माना था।[1] गुरुओं ने केवल मौखिक क्रिया के रूप में नामजप को अस्वीकार कर दिया। वे उसे निरर्थक मानते थे। कुछ लोगों का मत है कि बुद्ध की तरह ही कबीर भी इस संसार और जीवन को दुःखमय मानते थे। किंतु सच बात यह है कि जब तक व्यक्ति रामभक्ति नहीं करता, समर्पण नहीं करता, तभी तक यह संसार और जीवन दुःखमय प्रतीत होते हैं। अतः कबीर आदि तथा गुरुओं के मत में, इस संबंध में, कोई अंतर नहीं है।[2] हम पहले ही कह चुके हैं कि नारद की प्रेमाभक्ति का आश्रयण कर भक्त अमृत, आनंदयुक्त और मत्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में जीवन और जगत् के दुःखमय होने की, विशेषतया भक्त के लिये, कोई संभावना नहीं है। कबीर की भक्ति में न केवल भावुकता और न केवल निष्क्रियता है। ज्ञान का पाषंड और अहंकार उत्पन्न करनेवाला रूप उन लोगों को अस्वीकार है। गुरुओं की भक्ति न केवल कर्म है, न केवल ज्ञान है, न केवल भक्ति है। ये दोनों ही भक्ति के अंग हैं। उनके साधन में भक्ति तत्व प्रधान अवश्य है किंतु उसमें निष्काम कर्मवाद और विवेक ज्ञान भी है। उनके साधन में तीनों का समन्वित रूप मिलता है।

---

[1] फिलासफी आव सिखिज्म—डा० शेरसिंह, पृ० २२३, ७५, ८८-९१, ९७; गु० ग्रं० सा०, पृ० ५५-५६, सिरी रागु, महला १। वही, पृ० ७४७, रागु सूही, महला ५, घरु ७, पद ५०, सिख रेलिजन वा० ५, पृ० १५८। गु० ग्रं० सा०, पृ० ५३, सिरी रागु, महला १, घरु १। वही, पृ० ११३६, भैरउ महला ५, घरु १। वही, भैरउ महला, पृ० ११६१। वही, सूही, महला ५, घरु ३, पृ० ७३८-७३९। वही, विहागड़े की वार, म० १, पृ० ५५६। सि० रे०, वा० ६, पृ० १४१। मांस-विचार के लिये द्रष्टव्य—असा की वार, मलर की वार, गु० ग्रं० सा०, पृ० ४७२, १२८८।

[2] फिलासफी आव सिखिज्म, शेरसिंह, पृ० ९७।

कुछ लोगों के अनुसार गुरुओं का मार्ग नाममार्ग है। उनके इस मार्ग में विस्मय, सौन्दर्य और आनन्द, ये तीनों भाव मिश्रित हैं। इसी प्रकार साधन के तीन तत्व हैं—सत्य (सच), संतोष और विचार या ज्ञान। गुरुओं के दर्शन और साधन में जैसी व्यावहारिकता एवम् कर्मठता है, उसी प्रकार की कर्मठता और गंभीरता अन्य संतों के आदर्श में है। इसके प्रमाण के लिये उनके सती और शूर के आदर्श उपस्थित किये जा सकते हैं। वस्तुत: कबीर ही नहीं आगे के अन्य संतों ने भी मनुष्य जीवन की दुर्लभता, बहुमूल्यता, गंभीरता और सेवक, शूर और पतिव्रता की कर्मठता को स्पष्टत: स्वीकार किया है। यदि दर्शन की दृष्टि से विचार किया जाय तो सिख गुरु कट्टर एकेश्वरवादी थे। उन लोगों ने उस एक ईश्वर को, 'इक ओंकार' शब्द से अभिहितकिया है। उन लोगों ने बतलाया है कि उसकी उपलब्धि गुरुवाणी से ही हो सकती है। उसने प्रकृति, माया, मोह, गुण, देवता असुर आदि की सृष्टि की है। ये उस ईश्वर से स्वतंत्र नहीं हैं किंतु वह ईश्वर स्वतंत्र है, सत् स्वयंस्थित है। उसका गुणविस्तार अनन्त और अनिर्वचनीय है। वह परब्रह्म है, अनिर्वचनीय है। वह विश्व की सृष्टि करता है और इस प्रकार अपने को प्रकाशित करता है। वह अतुलनीय सुन्दर, सर्वथा निर्मल, सर्वज्ञ, उदार, कृपालु, अनन्त सुन्दर, सर्वोत्तम सहायक, सर्वव्यापक है तथा अपनी ही सृष्टि को देखकर प्रसन्न होने वाला है। सिख गुरुओं ने उसे एकमात्र सत्व मानकर 'अकाल पुरुष' कहा है। वह सर्वातीत भी है और सर्वव्यापक भी। उसकी उपलब्धि न तो तर्क से हो सकती है, न उसका प्रत्यक्ष इंद्रियों से ही हो सकता है। वह अन्तर्यामी एवम् बहिर्यामी दोनों है। सृष्टि उसकी इच्छा (हुकुम) से होती है, चलती है एवम् तिरोहित होती है। यद्यपि यह सृष्टि सतत परिवर्तनशील है फिर भी सत्य है क्योंकि इसकी सृष्टि करनेवाला पुरुष सत्य है। अत: उसने जिनकी सृष्टि की है, वे भी सत्य हैं। यह संसार उस परम सत्य ईश्वर का निवास है, मंदिर है। सिख गुरुओं की दृष्टि में मनुष्य, ज्योति की मूर्ति है। भगवान् की इच्छा (हुकुम) से ही चैतन्य सागर में अनन्त बुलबुले उठते हैं। ये ही भिन्न भिन्न जीव हैं। वस्तुत: यही वियोग है। सिख गुरु ईश्वर के अवतार में विश्वास नहीं करते। उनका मत है कि भगवान् स्वयम् नहीं आते अपितु सेवकों को समय समय पर, मनुष्यों को सन्मार्ग पर ले जाने के लिये भेजते हैं। गुरुवाद के संबंध में गुरु को एक ही मानना वस्तुत: ईश्वर के देवत्व का अपहरण करना है। गुरु गोविन्दसिंह गुरु को उसका सेवक ही मानते हैं। पूर्णता को प्राप्त करनेवाले, भगवान् से तादात्म्य प्राप्त कर लेने-

वाले तथा कुछ विशिष्ट गुणों को आयत्त कर लेनेवाले व्यक्ति को ही गुरु माना गया है। आध्यात्मिक जीवन भी एक अनुभव है जिसे व्यक्ति अपने को परमात्मा के हाथों में समर्पित कर देने के उपरान्त ही प्राप्त कर पाता है। इस प्रकार का समर्पण और आध्यात्मिक जीवन की प्राप्ति वास्तव में एक नया जीवन प्राप्त करना है। किंतु इन सबके लिये संसार-त्याग और गृह-त्याग की आवश्यकता नहीं है। शिष्य का जीवन तो निष्काम सेवा का जीवन है। व्यक्ति का शरीर गुरु नहीं होता, अपितु उसके शब्द ही गुरु होते हैं। प्रत्येक गुरुद्वारे में संकीर्तन सिख की दैनिक पूजा का एक अंग माना गया है। सत्संग, कीर्तन श्रवण, पर सेवा आदि भी उसी के अंग हैं। 'नाम' के दो अर्थ हैं—(१) उपाधि (२) विश्व को स्थिर रखनेवाले सर्वव्यापक तत्व का वाचक प्रतीक। इस प्रकार केवल सत्संग से प्राप्त सेवा की सहायता से शिष्य कीर्तन और नाम में प्रवृत्त होता है और तत्पश्चात् पूर्ण संयोग को प्राप्त करता है। इस संयोग का आनंद अनिर्वचनीय है।[१]

इस प्रकार ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि गुरुओं की रचनाओं में गुरु के शिष्य को अत्यधिक महत्व दिया गया है। तात्पर्य यह है कि सिखों में गुरु का वर्णमय विग्रह सेव्य है, धातुमय विग्रह नहीं। नानक के परवर्ती मत में गुरु शब्द की महत्ता बढ़ती गई और अंततः उस वर्णमय विग्रह की ही पूजा होने लगी और व्यक्ति के रूप में गुरु का स्थान अपेक्षाकृत कम महत्व का हो गया। ज्ञान, कर्म, भक्ति में गुरु के शब्द ही अत्यधिक महत्वपूर्ण हुए। अतः जहाँ भी गुरु का वर्णन गुरुओं की रचनाओं में उपलब्ध हो, वहाँ इस अर्थ को लेकर संगति बिठानी चाहिए। इस प्रकार विचार करने पर गुरु के शब्द ही सर्वोत्तम एवम् अतुलनीय तीर्थ हैं। वही गुरुशब्द ही संतोष का सरोवर है। गुरु शब्दजल सदैव निर्मल रहता है किन्तु फिर भी जो व्यक्ति उसके संपर्क में आता है, मिलते ही वह उसकी दुर्मति के मल का हरण कर लेता है। यही पशुत्व और प्रेतत्व से देवत्व प्रदान करना है। इसी शब्द की ओर उन्मुख होने से शिवगृह की प्राप्ति होती है। इसी से निजपद की प्राप्ति होती है। सिख मत में संपूर्ण साधन में शिष्य के लिये गुरु ही सब कुछ है। यही बात दादू की रचनाओं में भी दिखाई पड़ती है। नानक का प्रिय स्वामी सर्वत्र व्याप्त है। सोहागिन की कल्पना

[१] वही, पृ० ५१-५५; क० ग्रं०, सूरातन कौ अंग, पृ० ६८-७१। हिस्ट्री आव फिलासफी, ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न, डा० राधाकृष्णन, वा० १, पृ० ५१३-५२५।

नानक में भी कबीर के समान ही, मिलती है। वह प्रियतम सर्वकर्तृत्वशक्ति से पूर्ण है, समर्थ है। नानक की भी दृष्टि में अहंकार (हउ मैं) का नाश अति आवश्यक है। तीर्थादि को उन्होंने भी निस्सार बतलाया है और आत्म सत्य के साक्षात्कार के लिये प्रेरित किया है। यह आत्मगत सत्य केवल अनुभवगम्य है। समर्पण की भावना इतनी तीव्र और गम्भीर है कि प्रार्थना के समय केवल 'तू' (प्रियतम) ही दिखाई पड़ता है तथा रहस्यानुभूति के समय केवल 'वह' रहता है। अहंकार या 'हउ मइ' का अस्तित्व उस समय नहीं रहता। सेवकसेव्य भाव की उपासना नानक को भी स्वीकार है। भक्ति के अनुकूल आचार में परधन, परस्त्री, 'हउ मैं' (अहंकार, दंभ), विषयविकार, दुष्टभाव, परनिन्दा, काम, क्रोध आदि का सर्वथा त्याग आवश्यक माना है। दुःख-सुख के प्रति समभाव, सत्संगति, गुरुकृपा, हरिनामप्राप्ति, हरिकृपा आदि की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील होना आवश्यक है। नमस्मरण, सुरति, अकथकथाविस्तार आदि भक्ति को पुष्ट करनेवाले हैं। उसके विराट् रूप की आरती अलौकिक और दिव्य तत्त्वों से सदैव होती रहती है। नानक ऐसे विराट् सौंदर्य से पूर्ण व्यक्तित्व पर आश्चर्यमिश्रित भाव से लुब्ध हैं तथा पपीहे की तरह कृपाजल की प्रार्थना करते हैं। प्रिय के परिवार की कल्पना में अपने को पतिव्रता पत्नी के रूप में स्वीकार कर अपरिमित वेदना और व्याकुलता का अनुभव करते हैं। उनकी रचनाओं में पूर्ण प्रपन्न की स्थिति का निदर्शन मिलता है।[१]

नाम और राम के अभेद का सिद्धान्त गुरुओं में पाया जाता है। उनके अनुसार नाम ही परब्रह्म है। ईश्वर के सेवकत्व में नियोजित कर देनेवाला ज्ञान ही नानक को ग्राह्य है। योग भी वस्तुतः वही है जो एकदृष्टि को उत्पन्न करने में सहायक हो तथा जिससे समत्व ज्ञान हो सके। योगयुक्ति भी वही है जिससे 'अंजन' रहते हुए भी व्यक्ति निरंजन हो जाय। इस प्रकार ये दोनों ही भक्तिभाव के उद्बोधन में सहायक हैं। कबीरादि की तरह ही नानक भक्ति को, प्रेम को 'रस' कहते हैं।[२] इससे स्पष्ट है कि गुरु की जो महत्ता नारद पंचरात्र में उपलब्ध है, उसकी भिन्नार्थ में विवृति नानक में मिलती है किंतु मूर्तिपूजा तथा षोडशोपचार के संबंध में इन दोनों के विचार नारदपंचरात्र से भिन्न ही नहीं अपितु उसके विरोधी भी हैं। वेदादि की तत्कालीन प्रचलित

---

[१] संत काव्य, पृ० २३९, २४०-२४२, २४६-२४८, २५०-२५२।

[२] फि० सि०, पृ० २३२-२४१, गु० ग्रं० सा०, पृ० ९४६। संत काव्य, चतुर्वेदी, पृ० २४४, २४६, २५१।

प्रामाणिकता को इन लोगों ने स्वीकार नहीं किया। शास्त्ररक्षण भी इनकी दृष्टि में अनावश्यक है।

दादू के भक्तिसाधनांग प्रायः वे ही हैं जो कबीर के हैं। शूर, 'निहकर्मी पतिव्रता' आदि को आदर्श रूप में स्वीकार करते हुए दादू ने तद्नुकूल समस्त साधनांगों का विस्तृत परिचय दिया है। साधन के जितने भी अंग तथा स्थितियाँ हैं, सभी में आदि से अन्त तक गुरु अनुस्यूत हैं। इसी प्रकार शूर और सती इन दोनों की वृत्तियों का परिचय देते हुए, निर्वैरता, निष्कामता सेवाभाव आदि का आचरणीय तथा अभ्यासयोग्य विवेचन किया है। गुरु के प्रति शरणागति में अधिक आस्था व्यक्त की गई है।[1] परवर्ती विकास में पलटू ने कांताभाव को तो सुरक्षित रखा किन्तु भावावेग की तीव्रता में परिवार-कल्पना का वह रूप नहीं रह गया। पलटू ने प्रियतम को जोगी और अपने को जोगिनी के रूप में कल्पित किया। किसी न किसी रूप में पुराने संत कवियों में भी यह कल्पना मिल सकती है। पलटू में परकीया भाव की या स्वच्छंद प्रेम की व्याकुलता की सुगंधि है। साधन के रूप में एकमात्र भक्ति को स्वीकार किया गया है, शेष को झूठा माना गया है। निष्कामता, क्षणिक विरह में भी परा कोटि की व्याकुलता, महानतम तथा प्रियतम स्वार्थों का प्रिय के लिये त्याग, सतत स्मृति, प्रेमतत्व आदि प्रेमाभक्ति के तत्व स्पष्टतः मिलते हैं।[2]

इसके अतिरिक्त संतों ने भक्ति का कुछ शास्त्रीय विवेचन भी किया है। नाभादास ने भक्तमाल में भक्ति के तत्वों का भी कहीं-कहीं संकेत कर दिया है। उन्होंने 'दशधाभक्ति', 'दशधारस', 'दशधा संपत्ति', 'नवधा दशधा प्रीति' आदि शब्दों का प्रयोग किया है। टीकाकार श्री सियारामशरण ने 'नवधा-प्रीति' को श्रवण, कीर्तन आदि माना है तथा १०वीं प्रकार की भक्ति प्रेमा भक्ति मानी है। 'दशधासंपत्ति' में प्रियादास द्वारा विवृत भक्ति स्वरूप के दस अंगों की गणना की जा सकती है। दशधा भक्ति का विवेचन सुस्पष्ट रूप में नाभादास ने नहीं किया है।[3]

---

[1] स्वामी दादू दयाल की वाणी, पृ० २-३, ९-११, २३, ४२-४४ तथा आगे; निहकर्मी पतिब्रता कौ अंग, पृ० १२७-१३७; सूरातन कौ अंग, पृ० २८७-२९७।

[2] संतकाव्य, पृ० ५१८, ५२१, ५२३, ५२६, ५३०, ५३४-५३५।

[3] भक्तमाल—नाभादास, छ० ७२, ११८, १३४-१३५, १५५ तथा श्री सियारामशरण की इन छप्पयों की टीका द्रष्टव्य।

सुन्दरदास (छोटे) ने 'मलीन मन' की निःसंशय शुद्धि के तीन उपाय बताये हैं—भक्तियोग, हठयोग और सांख्ययोग। इनसे शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति होती है। प्रथमतः भक्ति नौ प्रकार की कही गई है। दशवीं प्रकार की भक्ति प्रेमा भक्ति है। इन दोनों के परे तीसरी परा भक्ति है जिसमें सेवक-सेव्य में कभी भी विच्छेद नहीं होता। इनमें से नवधा भक्ति को कनिष्ठा, दसवीं प्रकार की प्रेमा भक्ति को मध्यमा तथा परा भक्ति को उत्तमा भक्ति कहा गया है। नवधा भक्ति में श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वंदन, दासभाव, सख्य, समर्पण की गणना की गई है।[१] इनमें से स्मरण, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन (समर्पण) की भक्ति नारदभक्तिसूत्र में मिलती है। सेवन, अर्चन और वंदन को नारद की पूजाभक्ति के अन्तर्गत गिना जा सकता है।[२] फिर भी सुन्दर और नारद के विवेचन के मूल में ही भेद है। सुन्दरदास ने ब्रह्म के दो स्वरूप बतलाये हैं–निर्गुण और सगुण। निर्गुण ब्रह्म का निज रूप है तथा सगुण संत के रूप में ब्रह्म का अवतरित रूप है। निर्गुण की भक्ति केवल सुमन से की जानी चाहिए तथा संतों की या सगुण ब्रह्म की मन और तन दोनों से। एकाग्र चित्त से भक्त हरिगुण सुन-सुनकर रसानंद प्राप्त करे तथा संतों के वचन सुने। इसी को श्रवण भक्ति कहा है। हरिगुणगान ही कीर्तन है। स्मरण भक्ति दो प्रकार की है—रसना से नामोच्चारण तथा नाम का हृदय में स्थापन या नाम का हृदय से स्मरण। इसी को स्मरण भक्ति कहते हैं। चरणकमल में मनसा पुनरावर्तन ही पादसेवन है। अर्चा का अर्थ मूर्ति है। सुन्दर दास के अनुसार यहाँ मंदिर, मूर्ति तथा अर्चना की सामग्री, सब कुछ मानसिक है। स्तुति में भगवान् के दिव्य कर्म, गुण आदि का गायन है। इसी प्रकार वंदन भी मानसिक क्रिया है। दास्य में भक्त नित्य भयभीत रहता है, उनकी आज्ञा की प्रतीक्षा करता रहता है। जैसे पतिव्रता पति के वचन को खंडित नहीं करती, उसी प्रकार दास भी नहीं करता। सख्य में आत्मा नित्य ही हरि के पास रहती है। कभी भी साथ नहीं छूटता। उनमें सुमित्र का दृढ़ हितभाव रहता है। आत्मनिवेदन से क्रमशः मन, तन, धन तथा गेह का समर्पण समझना चाहिए। यही आत्मार्पण है।[3]

---

[१] सुन्दर ग्रंथावली, पु० हरिनारायण शर्मा, प्रथम खंड, मूल, पृ० १६-१८।

[२] ना० भ० सू०, सू० ८२।

[3] सुं० ग्रं०, प्र० खं०, पृ० १९-२४।

मध्यमा भक्ति, जिसे दशधा भक्ति भी कहते हैं, प्रेमलक्षणा है। परमेश्वर से प्रेम लगने पर तन-घर-द्वार का विस्मरण हो जाता है। भक्त उन्मत्त हो जाता है। रोमांच, अश्रुपात, दीर्घ निःश्वास के लक्षण प्रकट होते हैं। ऐसी रसमत्तता की अवस्था में नवधा भक्ति का संपादन नहीं होता। लोकवेद की मर्यादा का पालन नहीं हो पाता। भक्ति के अतिरिक्त और कोई बात मुख से निकलती ही नहीं। आठो पहर हरि में चित्त आसक्त रहता है। वह सर्वथा प्रेम के अधीन रहता है। जैसे गोपियों को शरीर का विस्मरण हो गया था, उसी प्रकार की स्थिति रहती है। केवल प्रिय की ही चिंता रहती है। प्रमत्त जैसी अवस्था रहती है। इस प्रेम के क्षेत्र में 'नेम' (नियम, लौकिक-वैदिक ?) नहीं रहता। इसमें प्रमत्त जैसी अवस्था रहती है। उस समय निष्कलुषता रहती है।[१] परा भक्ति में कभी भी हरि से विक्षेप नहीं होता। यह अभिन्न रहते हुए भी भिन्न रहने की अवस्था है। आँख की पुतली और आँख में एकत्व है फिर भी भिन्नत्व दिखाई पड़ता है। इसी प्रकार इस स्थिति में आत्मा परमात्मा में मिली रहती है। एक में मिल जाने पर भी सेवक भाव छूटता नहीं है। हरिदास हरि में ही विलास करता है। उससे वह कभी विछोह को नहीं प्राप्त करता। वह भी हरि के समान ही सदा अक्षय रहता है। केवल रसपान के लिये यह भिन्न भाव है। स्वामी के समान ही सेवक भी तब तेजोमय रहता है। यही परा भक्ति की अवस्था है।[२] मध्यमा और उत्तमा भक्ति में भेद केवल भावना की विकसित अवस्था का है। पराभक्ति एकत्व की स्थिति है। इसे ही विशिष्ट अद्वैत की स्थिति कह सकते हैं। भक्त इसे जीवन में ही प्राप्त कर लेता है। वैष्णव आचार्यों में इस विषय पर मतभेद रहा है कि यह स्थिति जीवन काल में ही प्राप्त हो जाती है या नहीं ? वेंकट ने इसे जीवन में ही प्राप्त कर लेने की ओर संकेत किया है। आलवार भी यही मानते थे। यहाँ प्रेमा भक्ति के उदाहरणस्वरूप व्रजगोपिकाओं को उपस्थित किया गया है। नारद ने अपने भक्तिसूत्र में अखिल आचारों के अर्पण तथा प्रिय के विस्मरण में परम व्याकुलता के अनुभव के उदाहरणस्वरूप व्रजगोपियों को उपस्थित किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि सुन्दरदास की परा भक्ति नारद की तन्मयतासक्ति से अभिन्न है।[३] बताया जा चुका है कि कबीर की भक्तिपद्धति, सेवाभक्ति,

---

[१] वही, पृ० २४-२७।

[२] वही, पृ २७-३०।

[३] ना० भ० सू०-सूत्र १९, २१, ८२।

दासभक्ति का विलक्षण समन्वय है। सुन्दरदास ने परा भक्ति का जो विवेचन किया है, उसमें कांतासक्ति की व्याकुलता है, सेवक की समर्पण भावना, सेवा और तन्मयता है।

सुंदरदास (छोटे) ने 'सर्वांगयोग प्रदीपिका' में भक्तियोग का विवेचन करते हुए बतलाया है कि इस योग के लिये सर्वप्रथम वैराग्य की आवश्यकता है। (भगवान् में) विश्वासपूर्वक सब का त्याग इसमें करना चाहिए। इसमें जितेन्द्रिय तो होना ही चाहिए तथा साथ ही उदासीनता भी आवश्यक है। नारद ने भक्तिसूत्र में भी 'उदासीनता' की आवश्यकता बतलाई है। इस उदासीनता, वैराग्य आदि के लिये आवश्यक नहीं कि वह गृहवासी रहे अथवा वनवासी। किसी से भी माया-मोह न रखे और सबसे बेपरवाह रहे। न तो वह भक्त कनक-कामिनी का संग ही करे और न आशा-तृष्णा को अंगीकार करे। शील, संतोष, क्षमा, धैर्य, दया, दीनता, गरीबी का सदैव परिपालन करे तथा (इस जगत् को) तमाशा समझ कर निष्पक्ष (निरपेक्ष) भाव से उसे देखता रहे। राव-रंक के प्रति निःशंकभाव, कीरी-कुंजर के प्रति समता की भावना, मान-माहात्म्य की अनिच्छा, एक ही दशा का निर्वाह, सकल संसार का आत्मदृष्टि से दर्शन, संतों का अधिकाररक्षण भक्त को करना चाहिए। किसी के प्रति वैरभाव न रखे और सतगुरु के शब्द को हृदय में धारण करे। उनकी वृत्ति सारग्राहिणी होनी चाहिए। किसी अन्य देवता की सेवा न करे, केवल एक निरंजन देवता की पूजा को, केवल सर्वत्र रमणशील राम को सिर पर धारण करे। उन्हीं को इष्ट समझे। पूजन की संपूर्ण सामग्रियों का स्थापन वह अपने में ही करे। बाहर के सभी बंधनों का निकृन्तन कर दे। अत्यधिक अनुपम शून्य मंदिर में रहना चाहिए। संयम के जल से स्वामी को स्नान करावे, प्रेम-प्रीति के पुष्पों का अर्पण करे। इस पूजा में चित्त चन्दन है, ध्यान धूप है, भाव ही भोजन है। सेवक को ऐसी सेवा करते हुए भी मनसा-वाचा किसी भी वस्तु की याचना नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार निष्काम भाव से ज्ञानदीप की आरती से अनाहद शब्द का घंटा बजाकर सेवा करे। तदुपरांत तन-मन सबका समर्पण कर सेवक चरण में पड़े। भगवान् को प्रसन्न करने के लिये मग्न होकर नृत्य और गायन करे। इस प्रकार गद्‌गद और रोमांचित हो जाय। इस सेवक भाव का इस प्रकार परिपालन करे कि इसमें किसी प्रकार की न्यूनता न आने पावे अपितु उसमें दिन-प्रतिदिन वृद्धि ही होती रहे। जिस प्रकार पतिव्रता अपने पति के पास रहती है, सेवा करती है, उसी प्रकार दास को स्वामी के पास रहना चाहिए। यदि वह किसी

दिशा में भूल जाय तो फिर पातिव्रत सुरक्षित नहीं रह पाता। इसलिये थोड़े समय के लिये या तनिक भी किसी अन्य दिशा में न जाय और पति की ही आज्ञा का पालन करे। इस प्रकार की अखंड सेवा ही अनन्य भक्ति कही जाती है।[१]

सुन्दरदास के भक्तियोग संबंधी इन विचारों की नारद भक्तिसूत्र से कोई विषमता नहीं दिखाई देती। पूजादि के उपकरणों की जो मानसिक व्याख्या यहाँ की गई है, वह निश्चय ही भक्तिसूत्र में उपलब्ध नहीं है। भक्तियोग के जिन आचार्यों वा उपदेशकों का नाम सुन्दरदास ने लिया है तथा जिनका अनुसरण करने की बात कही है, वे हैं—नारद, शुक, ध्रुव और प्रह्लाद। इनमें से नारद के विभिन्न विचारों के साथ संक्षेप में तुलना हम पहले ही कर चुके हैं। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह बताई गई है कि सुन्दरदास द्वारा निरूपित भक्ति के चार अंग हैं—भक्तियोग, मंत्रयोग, लययोग और चर्चायोग। भक्तियोग का हम वर्णन कर चुके हैं। मंत्रयोग के अन्तर्गत सुन्दरदास ने बड़े विस्तार से नाम मंत्र के ज्ञान का विचार किया है। इसे उन्होंने 'राम मंत्र' कहा है। लय-योग के अन्तर्गत बताया गया है कि जिस प्रकार कुंजी (कुंज पक्षी की मादिन) ध्यान से अण्डे को सेती है, कूर्म भी अपनी दृष्टि को नहीं हटाता, उसी प्रकार यदि कोई लय लगावे तो जरामृत्यु की सत्ता उसके लिये नहीं रहती। पनि-हारिन कुंभ को सिर पर धारण करते हुए हँसती हैं, ताली बजाती हैं, फिर भी उसकी सुरति कुंभ में ही रहती है। तो इस प्रकार यदि ध्यान और लय लगी रहे, सभी प्रकार से हरि से ही लौ लगी रहे तो उसी से भक्त ब्रह्म समान हो जाता है। भगवान् के अलौकिकत्व, अनिर्वचनीयत्व, सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व आदि की चर्चा ही चर्चायोग के अन्तर्गत बताई गई है। इस प्रकार के चार अंगों से संपन्न भक्ति के अन्तर्गत ही नवधा भक्ति आ जाती है। किन्तु इन सबका साधन घट के अन्तर्गत ही करना चाहिए, बाहर नहीं।[२] इस प्रकार चार अंगों में से अनेक का वर्णन किसी न किसी रूप में नारदोक्त भक्तिसूत्र में भी मिल जाता है।

कहा जा चुका है कि कबीर, नानक आदि ने भक्तिसाधन के क्षेत्र में वर्णा-श्रम व्यवस्था, कुल, जाति, लोक, वेद आदि द्वारा प्रचारित बंधनों को स्वीकार

[१] सुन्दर ग्रंथावली, प्रथम खंड, सर्वांगयोगप्रदीपिका, द्वि० उपदेश, पृ० ९५–९६।

[२] वही, प्रथम खंड, प्रथम एवम् द्वि० उपदेश, पृ० ८७, ९६–१०१।

नहीं किया। उसी प्रकार उन लोगों ने स्थूल पूजाविधानों, जैसे षोडशोपचार, मूर्तिपूजा आदि को भी स्वीकार नहीं किया। वैदिक कर्मकांड, यज्ञ-यागादि, जो वर्णव्यवस्था पर ही आधारित थे, को भी उन लोगों ने अनावश्यक माना। शास्त्रपाठ और अध्ययन को भी अनावश्यक तथा हानिकर बतलाया क्योंकि ये सभी अहंकार, अभिमान, पाषंड, आडंबर आदि उत्पन्न करनेवाले तथा शरणागति एवम् भक्ति में बाधक थे। डा० बड़थ्वाल ने निरंजनी संतों को इन संतों से कुछ भिन्न माना है और इसीलिये उन्होंने निर्गुणियों की साधनापद्धति तथा विचारधारा से कुछ भिन्न होने के कारण ही, इनकी गणना एक स्वतन्त्र निरंजन मत में की। पं० परशुराम चतुर्वेदी ने इन लोगों को कबीर से अनुप्राणित प्रेरित तथा संतों से अभिन्न माना और इसीलिये उन्होंने इन्हें संतमत के अन्तर्गत ही माना। डा० बड़थ्वाल का कहना है कि निगुणियों की सारी साधनापद्धति निरंजनियों में वर्तमान है। नामस्मरण, प्रेमतत्व, प्रेमातिरेकता, विह्वलता, आत्मा का पत्नीभाव, विरह, व्याकुलता आदि भक्ति के तत्व मिलते हैं। हरिदास के अनुसार प्रेम आध्यात्मिक साधना का प्राण है। तुरसीदास आदि निरंजनियों का कथन है कि वर्णाश्रमादि का संबन्ध शरीर से है। ये शारीरिक धर्म हैं। यह काया भी कर्म का ही रूप है। कर्म को करते हुए, अर्थात् वर्णाश्रम व्यवस्था का पालन करते हुए ही जो हरिदास हो जाते हैं, वे परम कोटि के अनुपम साधक हैं। कर्म उत्तम होना चाहिए। जन्म से नीच होने पर नीच नहीं कहा जाता। नीच कर्म से नीच कहा जाता है। जन्मना ब्राह्मण होते हुए भी यदि कोई चांडाल का कर्म करे तो निश्चय ही पिंडपात होने पर उसका जन्म शूद्र के यहाँ होता है। डा० बड़थ्वाल ने इन कथनों पर यह निष्कर्ष निकाला है कि 'यद्यपि निरंजनी, वर्णाश्रम धर्म को, तुरसी के शब्दों में शरीर का ही धर्म मानते हैं, आत्मा का नहीं, फिर भी ऐसा भी नहीं जान पड़ता कि परंपरा से चली आती हुई वर्णाश्रम धर्म की इस व्यवस्था से उन्हें बैर है। वे अवश्य चाहते हैं कि संसार एक परिवार की भाँति रहे और वर्णभेद को ऊंच-नीच के भेदभाव का आधार न बनाया जाय।[१] यदि डा० बड़थ्वाल का यह मत मान लिया जाय तो ब्राह्मण, चांडाल, वर्णाश्रम आदि की भक्ति के क्षेत्र में तत्संबंधी मान्यता के संबंध में निरंजनियों का मत नारद, रामानुज आदि के समान ही प्रतीत होने लगता है। निरंजनी लोगों ने कबीर की तरह खंडनात्मक एवम् विध्वंसात्मक रुख नहीं अपनाया। उन लोगों में

[१] योगप्रवाह, डा० बड़थ्वाल, पृ० ४३-४५, पृ० ४७-४८।

प्रेमतत्व योगतत्व से कम महत्व नहीं रखता।[1] ऐसी स्थिति में नारद पंचरात्र में विवेचित योग ध्यान देने योग्य है।

निरंजनी संतों के संबंध में दूसरा महत्वपूर्ण संकेत डा० बड़थ्वाल ने उनके भक्तिविवेचन के संबंध में किया है। 'नाभादास जी ने रामानंद के बारहो शिष्यों को 'दशधा भक्ति' का आगर कहा है किंतु यदि तुरसीदास ने अपनी वाणी में स्पष्ट रीति से इसकी व्याख्या-सी न की होती तो 'दशधा भक्ति' से क्या अभिप्राय है, हम यह न समझ पाते। तुरसी को डा० वड़थ्वाल ने प्रसिद्ध महात्मा तुलसीदास से छोटा और समकालीन माना है।[2] सुन्दरदास (छोटे) भी गोस्वामी तुलसीदास से छोटे थे किंतु वे भी समकालीन थे। सुन्दरदास ने दशधा भक्ति की व्याख्या किस प्रकार की है, इसका विवेचन हम कर चुके हैं। लगभग उनके समकालीन तुरसी ने भी संभवतः नाभादास की दशधा भक्ति की निर्गुणपरक व्याख्या की है। अतः हम उसे संक्षेप में नीचे दे रहे हैं जिससे संतों की भक्ति का, जो दशधा थी, एक स्पष्ट रूप उपस्थित हो सके।

संत तुरसीदास के अनुसार 'सारमत श्रवण' ही भक्ति है। कीर्तन और स्मरण का भेद और स्पष्टीकरण तुरसी ने नहीं किया है। तेजपुंज के चरण अस्थिचर्म के नहीं हैं। उनका निवास हृदयकमल में है। उसका सेवन ही पादसेवन है। उसी प्रकार त्रिलोक में व्याप्त ओंकार ही प्रतिमा है। वह निर्गुण ब्रह्म का वाचक है। इस प्रकार समस्त ब्रह्मांड में 'ओं' का प्रतिरूपक देखना ही अर्चन है। गुरु, गोविन्द और संत के प्रति अभिन्न भाव उत्पन्न करना चाहिए। उनका वंदन करना चाहिए। हरि, गुरु और साधु की सतत सेवा ही दास्य है। इस दास्य में निष्कामता आवश्यक है। इसमें फलवासना नहीं होनी चाहिए। सख्य में बराबरी का भाव नहीं होना चाहिए और न मित्र के गुण-अवगुण का ही विचार करना चाहिए। राम को अपना मित्र समझे तथा उसको अपना धाम समर्पित कर दे। राम को तन, मन, आत्मा का समर्पण आत्मनिवेदन है क्योंकि यह तो जो कुछ जिसका है, उसको उसी को देकर उऋण होना है। इसमें सब कुछ का निष्काम त्याग होना चाहिए। यह नवधा भक्ति दो प्रकार की होती है, एक निवृत्तिपरक तथा दूसरी प्रवृत्तिपरक। इनमें जो निवृत्तिपरक है, वही उत्तम है। 'इस नवधा

[1] वही, पृ० ४४।

[2] वही, पृ० ५०, ३९।

भक्ति की संसिद्धि होने पर, उसके उपरान्त सर्वश्रेष्ठ प्रेमा भक्ति की संसिद्धि होती है।'[१] सुन्दरदास की व्याख्या से मिलान करने पर स्पष्ट होता है कि इसमें परा भक्ति नाम की कोई भक्ति नहीं है। दूसरे उसमें गुरु को भी संमिलित कर नाभादास के भक्तमाल के 'भक्ति भक्त भगवंत गुरु' की उक्ति की जैसे पुष्टि की गई है। गुरु भी नवधा भक्ति का आलंबन हो गया है। यदि दोनों व्याख्याओं को मिला दिया जाय तो एक सर्वांगपूर्ण निर्गुणपरक दशधा भक्ति की रूपरेखा उपस्थित की जा सकती है।

संत मत के एक विशेष पंथ के प्रवर्तक दरियादास (बिहारवाले) का भी हिंदी में अब विस्तृत अध्ययन किया जा चुका है। केवल परिचय और तुलना के लिये उनके भक्ति संबंधी विचारों का संक्षेप में परिचय देना अनुचित न होगा। डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने बताया है कि 'दरिया साहब की भक्ति 'दास्य' भक्ति है जिसमें भक्त विनम्र होकर अपने आराध्य देव के चरणों में आत्मसमर्पण कर देता है।' वह सेवक है और स्वामी 'गरीबनिवाज' और 'बंदी छोड़' है। स्वामी अपने सेवक के गुण-अवगुण की खोज नहीं करता। सेवक को यह दृढ़ विश्वास है कि स्वामी कभी भी अपने सेवक को नहीं भूलता। वे उसे सर्वशक्तिमान मानते हैं। दरिया साहब भक्ति की सचाई को आवश्यक मानते हैं। उनकी दृष्टि में अवतारों में मर्त्य प्राणियों का उद्धार करने की शक्ति नहीं है क्योंकि वे स्वयम् भव-दुःख से दुःखी हैं। उन्होंने ज्ञान को भी 'अन्तश्चैतन्यतत्वज्ञान' के विशेष अर्थ में प्रयुक्त किया है। उनकी दृष्टि में पोथीज्ञान, जप-तप, पूजा-पाठ, जाति-पाँति, देवी-देवता, भूत-प्रेत, मंत्र-तंत्र, तीर्थव्रत, आदि कुछ भी काम नहीं आ सकते। तात्विक ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। ज्ञान की ज्योति हृदय से शंका और दुविधा के अंधकार को दूर कर देती है। उन्होंने साधन में ज्ञान को उच्चतम स्थान दिया है। उनके अनुसार 'ज्ञानबुद्धि का मार्ग सुदूर और कठिन है, अतएव प्रारंभ भक्ति से करना चाहिए। 'पहले भक्ति पीछे ज्ञान' ऐसा दरिया साहब का मत है। दोनों में कोई द्वन्द्व नहीं, दोनों का एक दूसरे से सामंजस्य है—भक्ति 'नारी' है और 'ज्ञान' पुरुष। जिस प्रकार पत्नी अपने पति को मन और शरीर दोनों दे डालती है, उससे मिलकर एक हो जाती है, उसी प्रकार भक्ति और ज्ञान अन्त में मिलकर एक हो जाते हैं।' डा० ब्रह्मचारी के मत से दरिया साहब का ज्ञान अन्तःप्रेरणा से मिलता है, जो बुद्धि से उच्चतर एवम् महत्तर है।

---

[१] वही, पृ० ५०, ५२।

किंतु भक्ति भी बिना प्रेम के नहीं हो पाती। इस प्रेम के लिये साहस सबसे अधिक आवश्यक है। उपासक की प्रेमिका के रूप में कल्पना भी दरिया में मिलती है। किंतु यह प्रेमिका केवल प्रेमिका नहीं। उसके उज्वल रूप 'सुहागिन' और 'मलिन' रूप दुहागिन की कल्पना भी कबीर की तरह ही दरिया में मिलती है। इसी प्रकार 'विधवा' और 'सधवा' शब्दों का प्रयोग भी दरिया ने किया है। " 'विधवा' से दरिया साहब का अर्थ उस जीव से है, जो परमात्मा में विश्वास और भक्ति नहीं रखता और सधवा वह है जिसने अपना भक्तिभावपूर्ण हृदय एकमात्र प्रभु को समर्पित कर दिया है।"7 तदनुकूल ही नैहर और ससुराल की कल्पना भी दरिया में है। इस प्रसंग में दरिया की कल्पनाएँ कबीर से कुछ मिलती जुलती हैं। दरिया ने भी प्रेम के आलंबन के रूप में तीन को स्वीकार किया है—सत्पुरुष (ईश्वर), सर्वसद्गुरु (दरिया साहब), मंत्रदाता विशिष्ट सद्गुरु। श्वेताश्वतर उपनिषद्, नारद पंचरात्र, कबीर, नाभादास (भक्तमाल), सुन्दरदास, निरंजनी संत आदि से भेद यहाँ यह है कि दरिया साहब ने अन्य संतों के प्रेमालंबन 'संत' या 'साधु' के स्थान पर 'सर्वसद्गुरु' (दरिया साहब) को प्रमुखता दी है। उसी प्रकार सदाचार और आत्मानुशासन के अन्तर्गत सत्यवादिता और निष्कपटता, मद्यादि परिहार, अहिंसा, इंद्रियनिरोध, निरंहकारता और स्वयमारोपित निर्धनता की गणना की गई है। स्वयमारोपित निर्धनता की व्याख्या में कहा गया है कि यह स्वयम् स्वीकृत निर्धनता है। दरिया ने मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा, जातपाँत, सांप्रदायिकता, वेद और कुरान, भेष, कर्मकाण्ड, कृच्छ्राचारप्रधान हठयोग को पाषंड माना है। यद्यपि दरिया साहब सच्चे संत को इस मर्त्यलोक का अत्यन्त श्रेष्ठ स्थान देते हैं तथापि वे संत को निर्गुण निराकार ब्रह्म का साकार प्रत्यक्ष रूप मानते प्रतीत नहीं होते जैसा कबीर और सुन्दरदास ने माना है। किंतु सद्गुरु (मंत्रदाता) को वे सत्पुरुष का प्रत्यक्ष रूप अवश्य मानते हैं। इतने पर भी नारद पंचरात्र के गुरु जैसा अति महिमान्वित गुरुरूप वर्णित नहीं मिलता। कबीर और दरिया की भक्तिपद्धति की तुलना करते हुए डा० ब्रह्मचारी ने बतलाया है कि 'कबीर के निर्गुण राम की यही विचित्रता है कि वे वैष्णवों के सगुण राम की भाँति प्रेम और भक्ति के द्वारा आराध्य हैं। 'निर्गुण' शब्द से केवल निषेधात्मक भावना का बोध नहीं होना चाहिए। इसके निषेधात्मक अंश की उपयोगिता तो केवल अवतारवाद अर्थात् ईश्वर के शरीर धारण करने की विचारधारा के प्रतिवाद में ही है। अन्यथा, इसमें बहुत ही विध्यात्मक भावनाएँ हैं जिनसे ईश्वर भक्ति के द्वारा आराध्य और

योग द्वारा प्राप्य बन जाते हैं। कबीर के पदों में दाम्पत्य प्रेम की भाषा में प्रस्तुत ईश्वर-प्रेम के अनेकानेक वर्णन पाये जाते हैं। दरिया साहब भी भक्ति-पथ में प्रेम और विश्वास को महत्वपूर्ण स्थान देते हैं। उन्होंने भी रहस्यपूर्ण आध्यात्मिक प्रेम के वर्णन में दाम्पत्य प्रेम की भाषा का प्रयोग किया है। परंतु वह तीव्रता, मधुरता, उदारता और सरलता, जो कबीर की कविताओं में पाई जाती है, दरिया की कविताओं में उसका अभाव है।' जिन पाखंडों की ओर दरिया के प्रसंग में संकेत किया गया है, उनका खंडन कबीर भी पहले कर चुके थे। दरिया साहब की शिक्षाओं का उद्‌गम स्रोत कबीर साहित्य में मिलता है और वे अपने को कबीर का अवतार भी मानते हैं।[1] इतना होने पर भी भक्ति, प्रपत्ति आदि मुख्य विचारधाराओं में कोई भेद नहीं दिखाई देता।

अभी तक तो संक्षेप में भिन्न-भिन्न संतों की भक्ति संबंधी मान्यताओं को उपस्थित किया गया जिससे एक बात स्पष्ट होती है कि अधिकांश संत भक्ति को ही साधन मानते हैं और भक्ति को ही साध्य भी। इस भक्ति में प्रेमतत्व प्रधान है जिसके लक्षण नारद के भक्तिसूत्र में मिलते हैं। सेवापरायणा निष्कामा पतिव्रता का आदर्श सामने रखा गया है। इस निष्कर्ष पर पहुँचने के बाद अब यहाँ नाथ साहित्य में भक्ति तत्व के रूप का विचार किया जा रहा है। अभी तक के प्रकाशित नाथसाहित्य के आधार पर विद्वानों की यही धारणा रही है कि नाथ साहित्य में और नाथों के साधन में 'भक्ति' तत्व नहीं है। हम पुनः यहाँ भक्ति की उस परिभाषा को दुहरा देना चाहते हैं जिसके अनुसार भक्ति ईश्वर में परानुरक्ति है। ईश्वर में परानुरक्ति में श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, वंदन, अर्चन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन की गणना की गई है। दसवीं भक्ति प्रेमाभक्ति है जिसे कांतासक्ति से प्रायः अभिन्न माना जाता है। यदि इनमें से किसी भी प्रकार की भक्ति नाथों की रचना में मिले तो अनुमान किया जा सकता है कि उस रचना में या उसके रचनाकार में भक्ति के कुछ तत्व अवश्य हैं। यह प्रश्न दूसरा है कि वहाँ भक्ति का स्थान ज्ञान तथा योग से श्रेष्ठ है या नहीं। ऊपर की व्याख्या से स्पष्ट है कि भक्ति के कुछ तत्व तो शारीरिक एवम् बाह्य हैं तथा कुछ मानसिक। मानस पक्ष प्रधान है। शरीर पक्ष उसका अनुकरण करने वाला है या सहायक

---

[1] संत कवि दरिया : एक अनुशीलन—डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी, (दरिया ग्रंथावली प्रथम ग्रंथ), पृ० १२६-१२८, १२९, १३०-१३१, १३३-१३४, १२९, १३५, १४१, १४३, १४८, १५०, १५४, १७२-१७३।

है। समर्पण के अतिरिक्त निष्कामता, पूर्ण तृप्ति, व्याकुलता आदि मानसिक पक्ष हैं। यह भी बताया जा चुका है कि नारद पंचरात्र के समान ही कबीर, नानक, दादू तथा निरंजनी संतों में गुरु की महत्ता, साधनक्षेत्र में गोविन्द से कम नहीं है। भगवद्भक्ति और गुरुभक्ति जैसे एक दूसरे के पूरक हैं। कहीं कहीं गुरु और गुरु भक्ति को, साधक के लिये, भगवान् और भगवद्भक्ति से अधिक हितावह और महत्वपूर्ण बताया गया है। इन दृष्टियों को ध्यान में रखकर हम आगे नाथ साहित्य में भी भक्ति तत्व की परीक्षा का प्रयत्न करेंगे।

भक्ति का विकास बतलाते समय श्वेताश्वतर उपनिषद् के भी भक्ति संबंधी विचारों को उपस्थित किया गया है। डा० भंडारकर के अनुसार इस उपनिषद् का निर्माण श्रीमद्भगवद्गीता के पूर्व ही हो चुका था। इस उपनिषद् की प्रकृति धर्म-दार्शनिक है। यद्यपि तत्वतः औपनिषदिक विशेषताएँ उसमें मिलती हैं तथापि इसकी धर्म-दार्शनिक विचारणाएँ परवर्ती भक्तिमत के अपेक्षाकृत अधिक समीप हैं। इसमें उपास्य भगवान् का जो वर्णन है उसमें प्रेम और स्तुति की भावना मिलती है। उपनिषद् के अंत में उस ईश्वर में आत्मसमर्पण की अभिव्यक्ति है जो किसी की प्रज्ञा में ही प्रकाशित होती है। इस प्रकार श्वेताश्वतर उपनिषद् भक्ति को रुद्र-शिव के लिये सुरक्षित रखता है, जब कि अन्य विभिन्न ग्रंथों में वासुदेव कृष्ण के लिये उस भक्ति को सुरक्षित रखा गया है। भगवद्गीता में स्पष्टतया वासुदेव कृष्ण की भक्ति का उपदेश मिलता है। जिस समय श्वेताश्वतर उपनिषद् की रचना हुई थी, उस समय केवल रुद्र, शिव परम दैवत के रूप में वर्तमान थे और उस समय भक्ति और प्रेम के भाव रुद्र-शिव की ओर ही प्रेरित थे। किंतु वासुदेव कृष्ण ने जब भक्ति के क्षेत्र में प्रवेश किया तो उन्होंने उपासकों के मत को अपेक्षाकृत अधिक आकर्षित किया क्योंकि वे एक नर-रूप में लीला करनेवाले देवता थे। इस प्रकार भक्ति का प्रवाह अति तीव्र गति से वासुदेव कृष्ण की ओर उन्मुख हो गया।[१] हम पहले ही यह कह चुके हैं कि श्वेताश्वतर उपनिषद् में देव और गुरु के प्रति समान रूप से भक्ति करने के लिये कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि शिव के प्रति या शैव मत में गुरु के प्रति भक्तिभाव पहले से ही मिलता है यद्यपि कालप्रवाह से यह भक्ति तत्व प्रकृष्ट रूप में न रह गया। फिर भी आगे चलकर शैव दर्शन का जो विकास हुआ उसमें पशुपति में पाशविमोचन की शक्ति मानी गई,

---

[१] क० व० भं०, भंडारकर, वा० ४, पृ० १५७–१५८।

गुरु में शक्तिपात की करुणा मानी गई तथा गुरु के चरणों में शिष्य का पूर्ण समर्पण, साधन पद्धति में स्वीकार किया गया।

ऊपर वैष्णवों और संतों की भक्ति का जो विवेचन किया गया है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि नारद भक्ति सूत्र और संतों में भक्ति साधन और साध्य दोनों है। भगवद्दर्शन या साक्षात्कार साध्य है। साध्य में जब लीनता होने की अवस्था आती है, तब साधन भी उसमें लीन हो जाते हैं। फिर साधनों की पृथक् सत्ता नहीं रहती। इस स्थिति की ओर संकेत कबीर की रचनाओं में भी मिलता है, ऐसा बतलाया जा चुका है। गोरख शैव माने जाते रहे हैं। उनका संकेत हम पहले ही कर चुके हैं। गोरख के अनुसार भी परमावस्था में भावभक्ति, आशापाश, ध्यान, योग, पाप, पुण्य कुछ भी नहीं रहते। भक्ति और स्नेह हृदय की आर्द्रता की अपेक्षा रखते हैं। जो चेतन हैं उनमें ही इनका आविर्भाव संभव है। इसीलिये वे पत्थर के मंदिर, पत्थर के देवता, पत्थर की पूजा की निरर्थकता बतलाते हैं। इस पूजा पद्धति से स्नेह का प्रस्फोट कैसे हो सकता है? बहुत अधिक भ्रमण या तीर्थयात्रा भी साधन नहीं हैं क्योंकि इनसे शरीर क्षीण होता है। हरिस्नेह टूटने से समाधि भी टूट जाती है। इस प्रकार शरीर की रक्षा हरिस्नेह के लिये है तथा इसकी परिणति समाधि में होती है। नाथों के अनुसार ग्रंथियाँ तीन होती हैं। उनमें से ब्रह्मग्रंथि से मुक्ति प्राप्त करने के लिये गुरु की आराधना (ध्यान-प्रार्थना) का उपदेश दिया गया है।[१]

नाथों की वाणी में सुरति का अत्यधिक महत्व है। प्रायः सुरति को स्मृति से व्युत्पन्न माना जाता है। किंतु नाथवाणी में 'सुरति' शब्द 'श्रुति' और स्मृति दोनों से व्युत्पन्न प्रतीत होता है। जहाँ 'सुरति' का अर्थ श्रुति है, वहाँ उस स्थूल वेद का तिरस्कार है जिसका कानों से श्रवण किया जाता है। सूक्ष्मतः उसका अर्थ केवल प्रातिभज्ञानमात्र होता है। परमतत्व केवल अनुभवगम्य है। 'स्मृति' से उत्पन्न सुरति में स्पष्टतः स्मरण का अर्थ है। बिना व्युत्पत्ति का विचार किये ही सरलतापूर्वक 'सघन रति या प्रवृत्ति' का अर्थ लिया जा सकता है। बताया गया है कि सुरति के उन्मुख रहने से ही तुरीयावस्था की उपलब्धि होती है। गोरक्षमच्छिन्द्रबोध में 'सुरति-निरति' को ही साधनात्मक जीवन का सब कुछ कहा गया है। उसी सुरति में जीवन की सारी जागतिक क्रियाओं—बैठना, चलना, बोलना, मिलना को निविष्ट कर देने

---

[१] गोरखबानी, पृ० १२९-१३१, ५५, पृ० १५०।

का उपदेश दिया गया है ।[१] सुरति और निरति के अर्थ में विवाद है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने बाहरी प्रवृत्ति की निवृत्ति को 'निरति' तथा अंतर्मुखी वृत्ति को 'सुरति' कहा है। निरति वस्तुतः अभावात्मक है तथा सुरति भावात्मक। आचार्य क्षितिमोहन सेन के प्रमाण पर उन्होंने बतलाया है कि सुरति का अर्थ प्रेम है तथा निरति का अर्थ है वैराग्य। 'जब बाह्यमुखी वृत्ति अन्तर्मुखी वृत्ति में लीन होती है तो जीव और ब्रह्म के अभेद की प्रतीति होती है।' किंतु डा० बड़थ्वाल को ये दोनों अर्थ स्वीकार नहीं हैं। उन्होंने सुरति को तीन शब्दों का परिवर्तित रूप माना है—स्मृति, सुरत (रति क्रीड़ा), सु-रति। उन्होंने बताया है कि संतों ने इन शब्दों का प्रयोग स्मृति के अर्थ में किया है। 'स्मरण अगम से आती सृजन की धारा को—जहाँ तक व्यक्ति का संबंध है—उलटे अगम में पलटना है।' 'वहाँ की सुरति उसे अंतर्मुख बनाती है।' 'इस स्मरण की चरम सीमा अजपाजाप है जिसमें साधक का एक क्षण भी परमात्मा के प्रेम के बिना नहीं बीतता। उसका सारा अस्तित्व परमात्मा की स्मृति से पूर्ण सुरतिमय हो जाता है। जिह्वा से रामनाम कहने से लेकर, अजपाजाप तक सब स्मरण ही है और सुरति की उल्टी धार है।' निरति को उन्होंने 'निरतिशय रति' कहा है। इसमें जीवात्मा का परमात्मा से संबंध स्मृतिरूप से नहीं तदात्म रूप से हो जाता है। इसी अवस्था को निरति कहते हैं। इस अवस्था में जीव काल से छूट कर स्वयम् परमात्मा हो जाता है तथा आध्यात्मिक आनंद में निमग्न होकर नाचने लगता है। यह सुरति की निरति दशा है। यहाँ 'निरति' शब्द 'नृत्य' का परिवर्तित रूप है और ब्रह्मानन्द का द्योतक है।[२] स्पष्ट ही इन दोनों मतों में अंतर है। प्रथम मत यह मानता है कि निरति वैराग्य है जबकि दूसरा मत इसे सुरति की पूर्ण विकसित ब्रह्मानन्द की द्योतक अवस्था मानता है तथा नृत्य शब्द का परिवर्तित रूप मानता है। प्रथम के अनुसार निरति से सुरति की उत्पत्ति तथा विकास में सहायता मिलती है। दूसरे के अनुसार निरति सुरति की पूर्ण परिपक्वावस्था है। डा० बड़थ्वाल ने कबीर का उदाहरण देकर निरति को 'निरधार' कहा है। गोरख के नाम से प्रसिद्ध रचनाओं में 'निरति' को 'निरालंब' कहा गया है।[३] यहाँ डा० बड़थ्वाल का अर्थ अधिक उचित प्रतीत होता है।

---

[१] वही, पृ० १९४, १९६।

[२] कबीर, ह० प्र० द्विवेदी, पृ० २४३, २४४; योगप्रवाह, बड़थ्वाल, पृ० २४, २९, ३१-३३।

[३] वही, पृ० ३२। गो० बा०, पृ० १९६। क० ग्रं०, परचा कौ अंग, पृ० १४।

गोरखबानी में शब्द गुरु को तथा सुरति चेला को बताया गया है। अर्थात् गुरु का मुख्य तत्व शब्द है तथा शिष्य या साधक का मुख्य तत्व सुरति या स्मृति। सुरति के आश्रयण से साधकत्व तथा शब्द के आश्रयण से सिद्धि की प्राप्ति होती है। सुरति तथा सिद्धि, माया और ऋद्धि इन दोनों का अस्तित्व निरति में नहीं रहता।[1] इस प्रकार 'सुरतिसाधन' नाथपंथियों को मान्य है। भक्ति के एक प्रकार के रूप में स्मरण की महत्ता है। वैष्णवमताब्जभास्कर, नारद भक्तिसूत्र, भक्तमाल, सुंदरदास, निरंजनी संत—सबमें यह 'सुरति साधन' प्रकृष्ट रूप में मिलता है। यह सुरति गोरखबानी में समाधि का सहायक है। कबीर में सुरति ढींकुली है, लौ रस्सी है तथा नित्य ही डोलने वाला मन कमलकूप के प्रेमरस का पान करता है। यह सुरति भी दो प्रकार की है। सांसारिक स्मृतियाँ जलरूप हैं। इनका निवारण करना चाहिए। दूसरी स्मृति प्रेम की सहायिका है। इसी स्मृति में मन लीन हो जाता है। आनन्द पद काल से मुक्त होता है। सुरति उसी सुखमयी अवस्था में लीन हो जाती है।[2] सुरति का एक प्रयोग कबीर में ऐसा है जिससे स्मृति से उसकी भिन्नता प्रकट होती है। वहाँ सुष्ठु प्रवृत्ति का अर्थ उचित प्रतीत होता है। सुरति और स्मृति दोनों ही साधन में सहायक हैं।[3] अतः सुमिरण और सुरति में भिन्नता है। हरिनामस्मरण जप है। किन्तु सुरति ईश्वर के प्रति सुष्ठु प्रवृत्ति है। जप किसी नाम का सुरति के साथ बार-बार उच्चारण है। किन्तु संतों को केवल मुख से उच्चारण का जप प्रिय नहीं है और न उसका बाह्य प्रदर्शन ही प्रिय है। किसी विशेष नाम में भक्त की सुरति से गुण, क्रिया, रूप आदि का आरोप हो जाता है। इस प्रकार जप, स्मरण का माध्यम है, यद्यपि वह भी सूक्ष्म है, मानसिक है। बाह्य जप में सारा जग बौराया हुआ है। इस प्रकार का किया हुआ जप माया है। अजपाजाप ही उत्तम है। यह जप तो साधन है। साध्य की निर्गुण स्थिति में जप, तप कुछ भी नहीं रहते। यह जप भी उसी में लीन हो जाता है।[4] जपमाला आदि तो बाह्याडंबर हैं। उनके धारण से कुछ भी नहीं होता। उनके धारण से गोपाल का मर्म नहीं जाना जाता।[5]

---

[1] गो० बा०, पृ० १८७, २००।

[2] क० ग्रं०, पृ० १८, ३२, ५७, ९०।

[3] वही, पृ० १८६।

[4] वही, पृ० ९९, १२६, १६२, १९५।

[5] वही, पृ० १३१।

पहले देखा गया है कि सुरति के रूप में सुष्ठु प्रवृत्ति गोरखबानी में है। इसी प्रकार जप के संबंध में भी विचार मिलते हैं। संतों की तरह ही यहाँ भी अजपाजाप ही ग्राह्य है। ऐसे जपमाला का जप करना चाहिए जिससे जपने का फल मिल सके। यह जप अगम है। सभी संतों को जपमाला का प्रयोग प्रिय है। प्रत्येक साँस, पवन पुरुष में जपमाला का प्रयोग होना चाहिए। जप ऐसा होना चाहिए जिससे 'सोहं सोहं' का अजपा गान होने लगे। पशुवृत्ति के लोगों से यह जप संभव नहीं और न उन्हें उससे मुक्ति ही मिलती है। इस क्रिया में दृढ़ आसन से अहर्निश ब्रह्मज्ञान का स्मरण करना चाहिए। इसमें मनोयोग आवश्यक है।[1] इस प्रकार का अजपाजाप कबीर में भी मिलता है, जिसके विषय में पहले कहा जा चुका है। अभी तक जो कुछ कहा गया है, उससे स्पष्ट है कि मानसिक लगाव या प्रवृत्ति या सुष्ठु प्रवृत्ति दोनों को स्वीकार है। इस प्रवृत्ति की आवश्यकता सुमिरण में पड़ती है। गोरख में ब्रह्मज्ञान का स्मरण किया गया है जिसका वाचक शब्द 'सोहं' है। आगे योग के प्रसंग में इस 'सोहं' की विस्तार से व्याख्या की गई है। कबीर में यह प्रवृत्ति भगवान् के प्रति है, उनके ज्योतिरूप, अलौकिक गुण, क्रिया आदि के प्रति है। इन सबका समारोप उपास्य में ही, सघन प्रवृत्ति के कारण हो जाता है। अतः प्रत्येक साँस में नाम के जप के साथ रूप, गुण, क्रिया आदि का स्मरण होने लगता है। इस प्रकार सुरति, स्मरण, जप इन सबकी एक सूत्रबद्ध प्रक्रिया स्पष्ट हो जाती है। 'सोहं' का जप कबीर को भी मान्य है। वह भावात्मक अद्वैतानुभूति के रूप में है। अंतर यह है कि गोरख का सुमिरण, सुरति, जप योगपरक हैं तथा योगज समाधि के उपकारक हैं जबकि कबीर में ये सभी भक्ति के पोषक हैं। कबीर के अजपाजाप की प्रक्रिया के संबंध में आगे विचार किया गया है।

कबीर और गोरख दोनों ही 'परचा' को साधन के रूप में स्वीकार करते हैं। कबीर में 'परचा' साक्षात् की अवस्था है। इस अवस्था में अनन्त सूर्य-श्रेणियों का दिव्य दर्शन होता है। यह तेज शोभापूर्ण होता है। यह उदय या साक्षात्कार 'अंतरकँवल' में ही होता है। इसी अवस्था में हिम के जल में विलीन होने की तरह एकांत विलीनता का अनुभव होता है। यह नमक और जल की विलीनता है। इस परचा या साक्षात् की अवस्था में, जो विलीनता की अनुभूति की अवस्था है, वही उन्मनी की अवस्था है। यह मन की

[1] गो० बा०, पृ० ९५, १०१, १२४, १७७।

अचंचला अवस्था है। यही मन के अलौकिकत्व या दिव्यत्व की अवस्था है। यही परमा स्थिति है। इस अवस्था में देवालय, जल, पत्र, पूजक आदि में अभेद रहता है। सभी इस हृदय में ही निवास करते हैं। इस अवस्था में अलौकिक ध्वनियों का श्रवण, अलौकिक ज्योति का दर्शन, अलौकिक कमल का प्रकाश आदि विलक्षण अनुभव होते हैं। अमृतवत् रसानुभव इसके बाद की अवस्था है जिसमें केवल आनंद ही आनंद रहता है, अभेदता और अद्वैतता रहती है, केवल एक तत्व रहता है। बिना इस परचा के 'कन्या को कुँवारी' ही जानना चाहिए। यह परचा ही आध्यात्मिक विवाह है। सद्गुरु से मिलने पर ही परचा होता है। सद्गुरु ही इस प्रकार का आध्यात्मिक विवाह करानेवाला है। इसी अवस्था में सघन समाधि लग जाती है। अपनापन अपने आप में ही समा जाता है। इससे मानव शरीर दिव्य हो जाता है, काँच कंचन हो जाता है।[1] गोरखबानी में भी सदाशिव (शिव) तत्व के परचा (परिचय-साक्षात्) का माध्यम गुरु मुख को ही माना गया है और कहा गया है कि उस गुरुमुख से उस परचा को प्राप्त कर उसका अनुभव पिंड में ही करना चाहिए। गुरु के शब्द का आचरण करने से 'परचा' और 'परमानंद' (रस) की प्राप्ति बताई गई है। यह गुरुमुख के अभिज्ञान से प्राप्त किया हुआ आत्मपरिचय है। उसका अनुभव हृदय में होता है। वह तत्व एक है। अनंत उसी का विकास है। 'परचा' में अनंत एक में समाहित हो जाता है। इस आत्म-परिचय से काया को अमरता प्राप्त होती है। वह फिर कभी नष्ट नहीं होती।[2] स्पष्ट है कि कबीर का 'परिचय' हरि या प्रियतम का साक्षात्कार है और गोरख में आत्मसाक्षात्कार ही 'परचा' है। शुद्ध आत्मा और परमात्मा में वस्तुतः दार्शनिक दृष्टि से कोई अंतर नहीं है। इसी प्रकार दोनों के 'परचा' में समानता मिल सकती है। एकात्मावस्था में जब 'पूजणहार', पूजा, पाती और पूज्य में कोई अन्तर नहीं रह जाता, अभेद हो जाता है, तब 'पर-मात्मपरिचय' ही 'आत्मपरिचय' है।

'परचा' से मिलता जुलता एक दूसरा शब्द, जो संतों और नाथों, दोनों में समान रूप से प्रचलित है, 'पिछांण' है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से इसे 'प्रत्य-भिज्ञान' से व्युत्पन्न मान सकते हैं। प्रत्यभिज्ञा दर्शन की दृष्टि से पुनः पुनः

---

[1] क० ग्रं०, पृ० १२, १३, ४७, ८१, ९०, ९४। संपूर्ण 'परचा कौ अंग' द्रष्टव्य।

[2] गो० बा०, पृ० ६, ८, १५, ८७, १०३।

अनुसंधान से महेश्वर के स्वरूप का अभिमुख होना प्रत्यभिज्ञान है।[१] कबीर के अनुसार भ्रमनाश होने पर 'पिछांण' की संभावना रहती है। तीर्थ, पाहन-पूजा, जप-तप आदि भ्रम हैं। ये साधक तत्व नहीं हैं और न इनसे प्रिय का दर्शन ही संभव है। सबका निरास होने पर, केवल एक के शेष रहने पर ज्योति की पहचान दशम द्वार में होती है। प्रिय के परिचय के बाद ही 'पहचान' या 'पिछांण' का अवसर आता है।[२] ऐसा प्रतीत होता है कि परचा और रसानुभव या आनंदानुभव के बीच की स्थिति 'पिछांणि' है। यह क्रिया भी आलंबनभेद से दो प्रकार की है—'प्रीति पिछांणि' और 'हरि पिछांणि'। प्रथम प्रकार की 'पिछांणि' साधन का प्रत्यभिज्ञान है और द्वितीय प्रकार की 'पिछांणि' साध्य का प्रत्यभिज्ञान है। प्रथम प्रत्यभिज्ञान स्वार्थमयी प्रीति के भ्रम का नाश होने पर होता है। निःस्वार्थमयी प्रीति का प्रत्यभिज्ञान हो जाने पर ही प्रिय की पहचान होती है। पहचान की क्रिया कुछ तार्किक है। संसार में जितने भी भ्रम हैं, उन सबका क्रमशः निरास होने पर उनकी असत्ता सिद्ध होने पर, पहचान की क्रिया का आरंभ होता है। इसी दृष्टि से कबीर की भक्तिपद्धति में 'भ्रमविध्वंस' का बहुत अधिक महत्व है। पाषाण की मूर्ति में विश्वकर्तृत्व की भावना कर उसी का भरोसा करना भ्रम है। जह विभिन्न प्रकार की दुर्भावनाओं के अन्धकार से घिरी हुई कोठरी है तथा जहाँ अज्ञानांधकार से प्रेरित किये हुए कर्म के कपाट लगे हैं, जहाँ पृथ्वी पर स्थान-स्थान पर पाषाणमूर्तियाँ (भावना-मूर्तियाँ नहीं) स्थापित की हुई हैं, तथा जहाँ पंडितों (शास्त्रपाठी पंडितों) ने पोथी देखकर रास्ता बनाया है, वहाँ तो सब भ्रम ही भ्रम है। पाषाण की पूजा से कोई लाभ नहीं क्योंकि उससे कोई भी उत्तर जिन्दगी भर में नहीं मिलता। फिर अंधा (अज्ञान का अन्धा-प्रेम की पहिचान न करनेवाला) उससे भी आशा लगाये रहता है, कामना करता रहता है और इस प्रकार अपने संपूर्ण जीवन जल (या जीवन का मूल तत्व, आब, पानी, छाया, कांति-प्रेम) को नष्ट करता है। इन भ्रमों का नाश सत्गुरु ने किया। इस दिशा में कबीर का विध्यात्मक पक्ष भी है। मन और विवेक को मूर्तियों से, पाषाणपूजा से, मुक्त कर वे उसे निरालंब नहीं

---

[१] सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ७५, 'महेश्वरस्य प्रत्यभिज्ञा प्रतिमाभिमुख्येन ज्ञानम्। लोके ह्नि स एवायं चैत्र इति प्रतिसंधानेनाभिमुखीभूते वस्तुनि ज्ञानं प्रत्यभिज्ञेति व्यवह्नियते।'

[२] क० ग्रं० पृ० ४४, ४७।

रहने देना चाहते । अतः वे प्रत्येक आत्मा में शालिग्राम के दर्शन और साधु पुरुष में प्रत्यक्ष देवता की भावना का उपदेश देते हैं । शालिग्राम की पूजा में भ्रांति तो रहती है, उसके साथ असंतोष, अतृप्ति की आग दिन प्रतिदिन बढ़ती रहती है, माया से प्रेम होता है, अज्ञान आवृत कर लेता है । जप-तप, तीर्थ, व्रत, विश्वास थोथे हैं, सेम्हल की तरह ही निस्सार हैं । कबीर की दृष्टि में तो मन ही मथुरा है, दिल द्वारिका है, काया काशी है, दशम द्वार ही देवालय है जिसमें ज्योति का प्रत्यभिज्ञान होता है ।[1]

इस 'विध्वंसन' के बाद ही यह ज्ञान होता है कि यह सारी दुनिया ही उसका मंदिर है । उसका निवास तो हृदय में ही है । यही सत्य है । डिबिया में बंद रहनेवाला देवता 'साहिब' नहीं है । सकल ब्रह्माण्ड में एकरस रमण करनेवाला तत्व ही साहिब है । किंतु वह रमण करते हुए ब्रह्माण्ड से निराला अलग, उत्तीर्ण, अतीत रहता है । सकल ब्रह्माण्ड उसी में अन्तर्भूत है । इस पहचान में स्मृति भी कार्य करती है । यों वह आवृत भाव से जीवात्मा में रहता है किंतु विस्मृति और कुसंस्कार से जीवात्मा उसे पहचान नहीं पाती । इस तत्व को, प्रियतम को, बताने का कार्य गुरु करता है । प्रिय पति को भूल जाने पर पत्नी की प्रेमभावना सांसारिक तत्वों में व्यभिचरण करती है । इस 'पूरबिला भरतार' को बताने का, पुनः पहचान कराने का कार्य गुरु करता है । जीवात्मा इसके लिये प्रयत्नशील होती है । गुरु सभी भ्रमों को असिद्ध करता है और एक विश्वोत्तीर्ण और विश्वात्मक प्रिय की पहचान कराता है । यह प्रिय अभौतिक, अरूप, अनूप, पुष्पसुगंधि से भी सूक्ष्म है । दादू ने भी प्रिय का प्रत्यभिज्ञान कबीर की ही सरणि का अनुसरण कर किया है । उन्होंने कबीर के कंत का ही वरण करने का निश्चय किया है । यह मनसा, वाचा, कर्मणा वरण दादू की अनन्यता की ओर भी संकेत करता है । वह साहिब एक है । वह अप्रकट है किंतु उसका नाम तो प्रकट है । माया से उसे वे अलग कर देना चाहते हैं । माया का रूप उत्पन्न होता है, विनष्ट होता है, गुणों को धारण करता है, स्थिर नहीं रहता, क्षण-क्षण में परिवर्तित होता रहता है । किंतु वह तत्व तो परम तेजोमय है, परात्पर, परम ज्योति और परमेश्वर है, निरंजन, निराकार अविनाशी है । वही कर्ता है ।[2] इस प्रकार

---

[1] क० ग्रं०, पृ० ५२ । पृ० ४३-४४ । 'भ्रम विधौंसण कौ अंग' की सभी साखियाँ द्रष्टव्य ।

[2] क० ग्रं०, पृ० ४४, पृ० ६० । संपूर्ण 'पीव पिछांणन कौ अंग' तथा पृ० ८१, १०५, १७५ । तुलनीय—प्रत्यभिज्ञा हृदय, पृ० ८, १८—

साधन और साध्य दोनों के प्रति जो भ्रम फैला हुआ है, उनका क्रमशः विध्वंस हो जाने के बाद ही सच्चे साधन और सच्चे साध्य का प्रत्यभिज्ञान होता है। गोरख में योग या योगयुक्ति को पहचानने की बात मिलती है जिससे मनपवन की सहायता से उन्मनी अवस्था की प्राप्ति होती है।[१] गोरख तथा अन्य नाथपंथियों के साहित्य में 'पिछांणि' का इतना स्वल्प, अस्पष्ट और अनिश्चित प्रयोग है कि उसके आधार पर एक निर्णय कर संतों की 'पिछांणि' से उसकी तुलना नहीं की जा सकती। इस पिछांणि से, संभवतः, उन लोगों ने अपने से अपने को पहचानने का उपदेश दिया है।[२]

संतों ने 'निर्वैरता' दया, करुणा आदि गुणों के अभ्यास का भी विधान किया है, जिसका विवेचन पहले किया जा चुका है। कृपा, प्रसाद आदि के लिये साधक भगवान् पर निर्भर रहता है। इनको प्राप्त करने के लिये साधक समर्पण करता है। इस समर्पण का मुख्य तत्व पारतंत्र्य या निर्भरता है। नाथपंथियों के साहित्य में भगवत्तत्व के प्रति समर्पण और निर्भरता की भावना पूरी तरह से स्पष्ट नहीं है। भगवान् पर प्रतीति और निर्भरता के लिये हृदय की जो तरलता और व्याकुलता चाहिए, वह नाथों में नहीं है। निर्भरता के क्षीण संकेत मिलते हैं। गोरख अघट, अमूर्त, अविनाशी, देवता का ही भरोसा करते हैं क्यों कि सारा संसार उसी का गढ़ा हुआ है। उन्हें उस राम का आसरा नहीं है जो दस अवतारों में थे। वे पूर्ण ब्रह्म का ही आसरा करते हैं। वह ब्रह्म स्वयमुद्भूत है। ऐसे ही उपास्य का भरोसा गोरख को है। नाथ की कृपा योगसाधक के ऊपर अखंड रूप से रहती है। गुरु मत्स्येन्द्र के प्रसाद से गोरक्ष को योगानुभव हुए हैं। उन्हीं के प्रसाद से वह निरंजनसिद्धि को बतला सका है। गोरक्ष के उपास्यदेव 'अणघड़िया' हैं। वे उसी देवता पर बलिहारी जाते हैं।[३] बतलाया जा चुका है कि नाथपंथ के शास्त्रीय ग्रंथों के अनुसार नाथ मुक्तिदाता हैं, वे ही उपास्य हैं। अतः गोरखबानी में यदि उनकी कृपा का भरोसा किया गया है तो पूर्णतया संगत है। नाथपंथी साहित्य में गुरु शिष्य पर दयालु रहते हैं तथा उसी के प्रसाद से शिष्य माया और ब्रह्म

'श्रीमत्परमशिवस्य......' स्वामी दादूदयाल की वाणी, भाग १, पीव पिछांण कौ अंग', पृ० २६४-२६८।

[१] गो० बा०, पृ० १७१।

[२] ना० सि० बा०, पृ १२०।

[३] गो० बा०, पृ० १५४, ५५, १०८, १०९, १११।

को जानता है ।[१] इसी प्रकार अन्य नाथपंथी सिद्धों की रचनाओं में गुरु के 'प्रसाद' की महिमा गाई गई हैं । उसी के प्रसाद से उनकी आध्यात्मिक साधना अग्रसर होती है । अतः उनके प्रति वे स्पष्ट सम्मान का भाव व्यक्त करते हैं । इस गुरु के इतने महिमान्वित और महत्वपूर्ण व्यक्तित्व को स्वीकार करने के कारण ही गोरख को उस गुरु के क्षणिक अभाव में अत्यन्त वेदना होती है, नींद नहीं आती ।[२]

इनके अतिरिक्त भक्ति के आचार्यों ने भक्ति के लिये जो गुण और अभ्यास बतलाये हैं, उनके भी कुछ संकेत नाथ साहित्य में मिलते हैं । नाथ लोग भी दया, संतोष अहिंसा, दान, जीवदया आदि कर्म और गुणों का परिचय देते हैं । नाथों की दृष्टि में योग का मूल तत्व है दया और दान । एक पिण्डधारी पशु की तो हत्या करता है किन्तु वह पंचमृगों को नहीं मारता । जल-थल में जितने भी जीव-जंतु हैं, उन सब पर दया करनी चाहिए क्योंकि सभी घटों में वही व्यापक परब्रह्म है । इसलिये किसी को नहीं मारना चाहिए । नाथों की दयादृष्टि और अहिंसावृत्ति इतनी व्यापक है कि वे पूजन के लिये फूल-पत्ती तोड़ने का निषेध, ठीक कबीर की तरह ही करते हैं । वे कहते हैं कि न तो जीवहिंसा करनी चाहिए और न किसी जीव का मांसभक्षण ही करना चाहिए । मांस खानेवाला स्कंध से क्षीण होता है । इसी प्रकार मद्यपान या मादक द्रव्यों का सेवन भी गर्हित है । ये सभी साधना के बाधक तत्व हैं ।[३] मच्छिन्द्र ने गोरख को संतोष का अभ्यास करने का उपदेश दिया था ।[४]

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि नाथों को साधनमार्ग में अग्रसर होने के लिये गुरु-कृपा की, दया की, आवश्यकता पड़ती है । गुरु कृपालु हैं तथा दयालु हैं । नाथ मोक्षदाता हैं, इसलिये गोरख ने उनमें भी अखंड कृपातत्व की कल्पना की है । किंतु संपूर्ण विवेचन से दो बातें स्पष्ट होती हैं । प्रथम तो यह कि उपर्युक्त साधन का संपूर्ण संपादन योग की निर्बाध सफलता के लिये है । दूसरे, शिष्य के लिये गुरुकृपा जितनी महत्वपूर्ण है उतनी नाथ-कृपा नहीं । आगे के विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जायेगा कि नाथों ने उपास्य के स्वरूप की कैसी कल्पना की कि वे लोग पूर्ण शरणागति,

---

[१] वही, पृ० ३०, १११ ।

[२] ना० सि० बा०—पृ० २१, २२, ३५, ६७, ८५ । गो० बा०, पृ० १३६ ।

[३] गो० बा०, पृ० १२६, ५६ । ना० सि० बा०—पृ० ११२, ११३, २९ ।

[४] गो० बा०, पृ० १९७, २०१ ।

समर्पण तथा उपास्य की तरल कृपा, दया आदि के लिये आर्द्र होकर पुकार न कर सके ? यह भी स्पष्ट होगा कि गुरुकृपा तथा साधक का प्रयत्न-पक्ष इतना प्रबल है कि उस परात्पर दिव्य नाथ तत्व की कृपा को अभिव्यक्ति का अवसर नहीं मिला। गोरक्ष उस अनगढ़ देवता पर बलिहारी जाते हैं, जो सबका कर्ता है, आदि अविनाशी पूर्ण ब्रह्म पुरुष है। वही सारी मूर्ति और सूरत है। वह स्वयमुद्‌भूत है। वह जगत् का स्वामी है, रक्षक है। उसी का सतत ध्यान करना चाहिए। पवन ही उसकी काया है, मन प्राण है, इस आत्मा में उस परमात्मा का निवास है। वह ज्योतिरूप है। वह व्यापक तत्व है। जीव भी काया में सर्वत्र व्याप्त रहता है।[1] गोरक्ष के अतिरिक्त अन्य नाथ सिद्ध भी उस तत्व को सभी घटों में व्यापक मानते हैं। उनकी दृष्टि में वह तत्व सर्वव्यापक है।[2]

इसके अतिरिक्त नाथों ने अपने उपास्य नाथ के लिये जिन विशेषणों या बोधक शब्दों का प्रयोग किया है, वे निषेधात्मक या अभावात्मक हैं। उसे वे अगम, अगोचर, अरूप, अमूल, अतीत पुरुष, अक्षय, अचिन्त्य, अविगत, अतीत, अनादि, अनुपम, अलख, अविनाशी, अलेख पुरुष आदि अभावात्मक या निषेधात्मक शब्दों से अभिहित करते हैं। इस विशेषता के कारण नाथों के उपास्य संतों के प्रियतम से भिन्न हैं। संतों के प्रियतम अनुपम, अनादि, अतीत, अगति होते हुए भी आनंदमय, चेतन, सर्वशक्तिसंपन्न, दयामय, सर्वज्ञ, सर्वसुन्दर, सर्वरक्षक आदि हैं। इनमें कुछ विशेषण, जैसे आनंदमय, सर्वसुन्दर आदि, नाथों के उपास्य के लिये कहीं भी व्यवहृत नहीं हुए हैं। इस सौंदर्य पक्ष के अभाव के कारण नाथों के उपास्य और उपासना, दोनों में हृदय की आर्द्रता, अलौकिक रूप की पिपासा, व्याकुलता आदि के दर्शन नहीं होते। नाथों के उपास्य का साधक से उतना सघन और तरल संबंध नहीं है जितना संतों के उपास्य का संत से है। संतों के उपास्य प्रसन्न होते हैं, करुणा करते हैं, संत का मिलन प्राप्त होने पर स्वयम् उस आनंद का अनुभव करते हैं, प्रेमी पर कृपा कर उसे दर्शन देते हैं तथा आनंद देते हैं। किन्तु ये तत्व कहीं भी नाथों की हिन्दी रचनाओं में उपलब्ध नहीं हैं। गुरु तत्व की नाथों में प्रधानता है जब कि संतों में गुरु और गोविन्द दोनों की कृपा के भरोसे साधक साधना में अग्रसर होता है। साधन का आरम्भ करने के लिये भी संतों ने गोविंदकृपा

---

[1] वही, पृ० ४४, १५४, १७०, १९२, १९९, १२४, १९०।

[2] ना० सि० बा०, पृ० ७३-७४ ११२,।

सर्वप्रथम आवश्यक मानी है। गोविंद की ही कृपा से गुरु मिलते हैं और साधना फिर अग्रसर होती है। किंतु यह तत्व नाथों में नहीं है। वहाँ नाथ केवल मोक्षदाता है। उनकी अखंड कृपा इसलिये आवश्यक है कि साधक की साधना निर्बाध रूप से चलती रहे। नाथ सिद्धों में कृपाजल के लिये आर्त पुकार नहीं है और न उनके नाथ तक इस प्रकार की पुकार पहुँचती है। क्षणिक वियोग में भी जिस प्रकार की परा कोटि की व्याकुलता और वेदना की अनुभूति संत को होती है, आनन्दमयी विरहानुभूतियाँ होती हैं, वे नाथों में नहीं हैं। नाथों में नाथकृपा तथा गुरुकृपा मुक्ति, साधन की सफलता, मोक्ष की प्राप्ति, कायसिद्धि, दिव्य देहप्राप्ति, योगसाधन की निर्बाधता के लिये आवश्यक है। संतों में दोनों की कृपा भगदद्दर्शन, साक्षात्कार, उसके रस रूप की प्राप्ति के लिये है। ऊपर के विवेचन के आधार पर ये निष्कर्ष बड़ी सरलता से निकाले जा सकते हैं।

संतों ने भक्ति और प्रपत्ति के साधक तत्वों के ग्रहण और अभ्यास का जहाँ विस्तार से विचार किया है वहीं बाधक और विरोधी तत्वों के तिरस्कार का भी उपदेश दिया है। उसमें संयम के लिये सकामता, अहंकार, दंभ, पाषंड, कपटभाव आदि मुख्य हैं। मूर्तिपूजा तथा अवतारोपासना की निरर्थकता का भी प्रकाश किया गया है। वाद-विवाद का त्याग, मांस-मदिरा-त्याग का भी विधान है। इन सबका विचार पहले किया जा चुका है। नाथों में भी इन सबका निषेध किया गया है। उनके अनुसार तंत्र, मंत्र, गुटिका ये सब पाषंड हैं। मद्य और मांस का निषेध है ही। गुरु के उपदेश का विचार न कर अहंकार करनेवाले साधक के पिंडपात की संभावना बताई गई है। कहा गया है कि अहंकारनाश से निराकार स्फुट होता है। साधन के आरंभिक काल में ही काम, क्रोध, अहंकार, माया, विषयविकार आदि के त्याग का विधान किया गया है।[१] नाथों के उपास्य अनगढ़ हैं, अर्थात् मूर्तिरूप नहीं हैं। जो लोग गढ़े हुए देवता की पूजा करते हैं वे उस अनगढ़ देव के भेद को नहीं जानते। पाषाणपूजा से स्नेह परिस्फुट नहीं होता। दस अवतार भी ब्रह्म नहीं हैं। उनके यहाँ जो मूर्ति है, वह भी केवल ज्योतिरूप है।[२] ये सारे विचार संतों की भक्तिपद्धति के सर्वथा समान और अनुकूल है।

---

[१] गो० बा०, पृ० १७०, ३९, १६९।

[२] वही, पृ० १५४, २००, १३१।

जिन नाथपंथी रचनाओं के आधार पर यहाँ नाथों के भक्ति तत्व का परिचय उपस्थित किया गया है उनमें पृथ्वीनाथ की रचनाएँ अपेक्षाकृत अधिक भक्तिपरक हैं। 'प्रिथीनाथ' ने अपने 'साधु परीक्षा ग्रंथ' में साधन के लिये संतोष को वजीर और विचार को मंत्री के रूप में स्वीकार किया है। इतर साधनाओं के रूप में उन्होंने बतलाया है कि 'योगवशिष्ठ' ने रामावतार की कथा का कथन किया जिसका लक्ष्य था संसार-संतरण। कृष्ण ने भक्तिभेद को बताने के लिये गीता की रचना की। नारद के उपदेश से ही ध्रुव ध्रुव हो गया। भक्ति से भगवान् में निवास कर सभी पुरुष पार हो गये। भक्ति से हीन जिन लोगों ने राम को नहीं पाया उनका जन्म वृथा है। वे संसार में निरर्थक आये। जिन लोगों का मन बस में नहीं है, उन्हें भगवान् नहीं मिलते। जिनका मन बस में है उन्हें भगवान मिलते हैं, अन्यथा उनका जीवन वृथा है। मन और इच्छा को एक कर जो लोग जप करते हैं उन लोगों से भगवान् दूर नहीं रहते। संपूर्ण पृथ्वी काँटों से भरी है। हृदय में भी शूल होता है। जो लोग हरिभक्तिविरहित हैं वे बबूल के समान कंटकयुक्त हैं। वे शूल देनेवाले हैं। साधु सत्संग से मलिनता दूर हो जाती है। इन साधु पुरुषों की जाति कुजाति नहीं पूछी जाती। साधुदर्शन से उतना ही फल होता है जितना अश्वमेध यज्ञ तथा कोटि तीर्थों के स्नान से होता है।[१] 'भक्ति बैंकुंठ जोग' में उन्होंने अपेक्षाकृत अधिक स्पष्टता से भक्ति का विचार किया है। कहा गया है कि शास्त्रों का पांडित्य भक्तिभेद को नहीं बूझ सकता। वह मुख भी विलक्षण है जिससे नामोच्चारण मात्र से हरि का साक्षात्कार होता है। तिलक, एकादशी, मुद्रा आदि भी विलक्षण ही हैं जो हरिदर्शन कराते हैं। इस प्रकार भक्ति के सभी तत्व उन सभी उपकरणों से भिन्न विलक्षण और अलौकिक हैं जो सामान्यतया सांप्रदायिकों और पंडितों द्वारा बताये जाते हैं। सबदियों में उन्होंने अपने इन्हीं विचारों की और व्याख्या की है। स्पष्टतया कहा गया है कि विषय में मुग्ध रहनेवाले में ब्रह्म की भक्ति नहीं उत्पन्न हो सकती। भक्ति-साधन के लिये वाद-विवाद निरर्थक है। इनसे शरीर क्षीण होता है। जिन लोगों ने अपना मन बस में कर लिया है, उनसे बड़ा कोई नहीं है। ऐसे लोगों का दर्शन परम फल देनेवाला होता है।[२]

---

[१] ना० सि० बा०, पृ० ६९–८४। विशेषकर छं० सं० ४३७–४३८, ४४७–४५०, ४५३, ४५८, ४६७, ४६९, ४८७, ४९५, ५२० द्रष्टव्य।

[२] वही, पृ० ८५-९०। विशेषकर छं०सं० ५४६, ५५३, ५५४, ५५७, ५६० द्रष्टव्य।

'प्रिथीनाथ' की इन रचनाओं के उद्धृत विचारों के संक्षिप्त परिचय से स्पष्ट होता है कि अन्य नाथपंथी सिद्ध कवियों की तुलना में प्रिथीनाथ ने भक्ति के महत्व को ऊँचा स्थान दिया है। योगसाधना का उपदेश उन्होंने भी किया है, किन्तु योग उनकी रचना में उसी स्थान का अधिकारी प्रतीत होता है जिस स्थान का कबीर की रचनाओं में। इनकी रचनाओं की प्रवृत्ति भक्ति की दृष्टि से वारकरी संप्रदाय के उन संतों से अधिक मिलती है जो सांप्रदायिक दृष्टि से तो नाथपंथी थे किन्तु उनकी साधना भक्ति और योग का समन्वय करके चलती है। इनकी रचनाओं को देखने से ऐसा प्रमाणित होता है कि ये नामदेव और कबीर से पर्याप्त प्रभावित हैं। इन्होंने नारद की भक्ति, गीता भक्ति, भागवत आदि का भी कुछ ज्ञान संभवतः प्राप्त किया था। इन्होंने नारद, नामदेव और कबीर का स्पष्टतः नाम भी लिया है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इनका काल लगभग १६वीं शताब्दी अनुमित किया है।[१] महाराष्ट्र के हिंदी संतों तथा प्रिथीनाथ की रचनाओं को देखने से यह स्पष्ट होता है कि परवर्ती नाथपंथी भी भक्ति के प्रभाव से अछूते न रह सके।

संतों और नाथों के साहित्य में भक्ति तत्व का विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि संतों को प्रेमा भक्ति ही स्वीकार्य है। ज्ञान, कर्म, योग आदि उसके उपकारक तत्व हैं। दशधा भक्ति या प्रेमा भक्ति के जो लक्षण नारद और सुन्दरदास ने बताये हैं वे नाथों में नहीं मिलते और न दास्य, सेव्य-सेवक और कांताभाव की भक्ति ही इनमें मिलती है। ये मूल भेद हैं। इनके लक्षण उप-लक्षण भी इसी प्रकार नाथों में नहीं मिलते। योग के मुख्योपाय होने के कारण यह स्वाभाविक प्रतीत होता है। भक्ति संबंधी आचारों में से प्रायः समान आचार दोनों में मिलते हैं। नाथों का, भक्ति की दृष्टि से अनुभूति पक्ष, भाव पक्ष दुर्बल है जब कि संतों में वही सब कुछ है, प्राण है।

भक्ति संबंधी इस संपूर्ण विवेचन को यदि ध्यान से देखा जाय तो कहा जा सकता है कि संतों की भक्ति और नाथों की भक्ति में साम्य-वैषम्य दोनों हैं। शंकराचार्य द्वारा बताए हुए पांचरात्र मत के पूजा के छ अंगों में से संतों में बाह्याचार से संबंधित पूजा के अंगों को स्वीकार नहीं किया गया है। वे तो नाथों को भी स्वीकार नहीं। यद्यपि नाथ सिद्ध संतों के समान ही अवतारवाद को स्वीकार नहीं करते तथापि उपास्य में कुछ सूक्ष्म गुणों का आरोप वे भी

---

[१] वही, भूमिका, पृ० २५।

करते हैं। उनके उपास्य सर्वकर्तृत्वशक्ति युक्त अवश्य हैं किन्तु उसमें सर्वज्ञत्व और सर्वानंदमयत्व भी है, इसकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकी है। वे उसे घट-घटवासी और सर्वव्यापक अवश्य मानते हैं किन्तु संतों में भी इन सभी गुणों की कल्पना मिलती है। नाथ लोग उसके सर्वव्यापकत्व और सर्वकर्तृत्व का स्मरण भी करते हैं। किन्तु यह 'स्मरण' जिसे भक्ति का एक अंग अथवा प्रकार मानते हैं, नाथों में प्रत्यक्षत: वर्णित नहीं है अपितु उनकी रचनाओं से अनुमित है। वे उसके किसी नाम का भी संकेत नहीं देते और न किसी विशेष नाम पर आग्रह ही करते हैं। प्राय: वे निरंजन, हरि, नाथ, शिव, ब्रह्म आदि शब्दों का प्रयोग करते दिखाई पड़ते हैं। तत्वत: वे उसे नामरूपहीन मानते हैं। नाथों ने, अत:, नाम को, स्थूल गुणों को (उसके निर्गुण होने के कारण) और उन गुणों के कथन को महत्व नहीं दिया। वे केवल उसका साक्षात्कार करना, नाथ-पद पाना ही पसंद करते हैं। इसी प्रकार, उस उपास्य का कोई स्थूल रूप न होने के कारण, पारंपरिक प्रकार से प्रणति-निवेदन भी नहीं करते। प्रणति, भगवच्चरणों में आश्रयग्रहण, भक्तिसहित हरि की उपासना तथा पूर्णतया आत्म-समर्पण आदि में से कुछ क्रियाएँ उपास्य के प्रति न होकर गुरु के प्रति निवेदित मिलती हैं यद्यपि गुरु को प्रत्यक्ष देव मानने का कोई स्पष्ट संकेत हिंदी रचनाओं में नहीं मिलता। गोरक्ष के नाम से प्रचलित हिन्दी रचनाओं में गुरु की शरण में रहने का उपदेश मिलता है। उसी को नमन करने के लिये कहा गया है। उसी के 'प्रसाद' से आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने की सुविधा मिलती है। गुरुकृपा की मेघवर्षा से योगी का जागरण होता है। चूँकि वही आत्म ब्रह्म साक्षात्कार कराता है, इसलिये उसी को गोरख ने प्रणाम किया है। नाथ ही परम सद्गुरु हैं, जो सदैव जागृति रखते हैं इसलिये उसी का सारा सुप्त संसार चेला है। चूँकि गुरु ही ब्रह्मग्रंथि का उच्छेदन करता है, इसलिये गोरख उसकी आराधना करते हैं।[1] ऊपर के कुछ उद्धरणों से निर्गुण परमात्मा के प्रति नाथों की भावना की गतिशीलता का भी पता मिलता है।

अहिर्बुध्न्य संहिता में प्रपत्ति के जो पाँच सोपान बताये गये हैं, उनमें से प्रथम सोपान 'नमन' नाथपंथियों में गुरू के प्रति निवेदित मिलता है। कार्पण्य और दीनता के भाव की अभिव्यक्ति या उपास्य या गुरु से अपनी दीनता का निवेदन नाथ साहित्य में अति क्षीण रूप में मिलता है।[2] उसी प्रकार महाविश्वास की

[1] गो० बा०, पृ० ३७, ५८, १२५, १४९, १५० १६४,।

[2] गो० बा में अहंकार त्याग कर दीन या लघु भाव धारण कर गुरु के

भावना का भी अभाव प्रतीत होता है। गुरु के प्रति भी इस प्रकार के भाव का स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता। उपास्य या गुरु के प्रतिकूल वस्तुओं या भावों का विवर्जन नाथ साहित्य में केवल संकेत रूप में मिलता है कि गुरु के पास अहंकार-त्याग कर सच्चे भाव से जाना चाहिए। वे अहंकार आदि को साधन का महत्तम बाधक तत्व मानते हैं। यद्यपि गुरु की शरण में जाने की भावना अवश्य मिलती है तथापि मन-वचन-कर्म के पूर्ण समर्पण का कोई सकेत नहीं मिलता। नाथयोगी योग को मुख्योपाय मानते हैं तथा शिष्य के प्रयत्नपक्ष की महत्ता को स्वीकार करते हैं। भक्ति योग की सहायिका होकर ज्ञान प्राप्त करने में सहायता पहुँचाती है। वह साधन है, साध्य नहीं। नारद पंचरात्र के छ प्रकार के भजनों में से 'स्मरण' केवल उपर्युक्त रूप (दे० सुरति) में मिलता है। शेष को कोई स्थान नहीं दिया गया है क्योंकि बाह्य उपादानों से उनकी साधना का कोई संबंध नहीं है तथा साथ ही नाथ सिद्ध मूर्तिपूजा को भी स्वीकार नहीं करते। इसी प्रकार उनमें अर्चाविधि और नारद पंचरात्र की पाँच प्रकार की पूजा का भी कोई संकेत नहीं मिला। परवर्ती सांप्रदायिक रचनाओं में 'आरती' या इसी प्रकार की कुछ और चीजें अवश्य मिलती हैं जिनका 'साहित्यिक' प्रवृत्तियों से कोई सीधा संबंध नहीं प्रतीत होता। यदि स्वाध्याय का अर्थ मंत्र जप तथा योग का अर्थ ध्यान मान लिया जाय तो नाथ सिद्धों की रचनाओं में मंत्र जप अर्थात् अजपाजाप और प्रणव का विधान मिलता है। योग में वे ध्यान को अवश्य महत्व देते हैं। ये दोनों संतों को भी पूर्णतया मान्य हैं। इन दोनों का विस्तृत विचार योग के परिच्छेद में किया गया है।

श्रीवैष्णवों के अनुसार प्रपत्ति के जो पाँच तत्व तथा पाँच अंग बतलाये गये हैं, उनमें से नाथों की रचनाओं में नाथ या 'गुरु' के प्रति एकनिष्ठा तो अवश्य दिखाई पड़ती है तथा उनमें एकेश्वरवादिता के अंश भी मिलते हैं तथापि अन्य अंग अथवा तत्व उनमें नहीं मिलते। उनका संतों से भेद करनेवाले मुख्य तत्व भक्ति के भावपक्ष तथा प्रपत्ति के आवेगपक्ष हैं। निर्गुण-सगुण के विचार से वे उपास्य में सर्वकर्तृत्व, और सर्वव्यापकत्व के गुण अवश्य मानते हैं तथापि वे अपेक्षाकृत और भी स्थूलता की सीमा में उतर कर न तो वे संतों की तरह सर्वसुन्दर, सर्वगुणसंपन्न, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिशाली, अन्तर्यामी, पालक, रक्षक आदि के गुणों का आरोप करते हैं और न उससे भी नीचे

अन्वेषण की बात कही गई है। द्रष्टव्य गो० बा०, पृ० ६४, छं० २०६, 'नांन्हां होय जिनि सतगुर षोज्या तिन सिर की पोट उतारी।

उतर कर सगुणवादियों (जैसा शुक्ल जी ने माना है) की तरह अवतार या अर्चा में ही उपास्य की भावना करते दिखाई पड़ते हैं। वर्तमान स्थिति में नाथों में लिंग-योनि पूजा के साथ काली, गणेश, हनुमान आदि देवताओं की पूजा-अर्चा चलती है किंतु वे गोरक्ष अथवा मत्स्येन्द्र की मूर्तियों की स्थापना नहीं करते। ब्रिग्स ने बड़े विस्तार से पर्याप्त प्रमाण देकर इन लिंग-योनिपूजक नाथयोगियों का वर्णन किया है। गोरख ने तो लिंगधारी या लिंगोपासक का भी खंडन किया है।[१] लेकिन इनकी रचनाओं में इन देवताओं की अर्चा-पूजा का कोई संकेत उपलब्ध नहीं।

नाथों में 'रस' का वह रूप नहीं मिलता जिसकी व्याख्या शुक्ल जी ने की है अथवा 'रसगंगाधर' में जिस रस को पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थित किया गया है अथवा चैतन्यसंप्रदानुयायी आचार्यों ने जिसका शास्त्रीय निरूपण किया है। इसका एकमात्र कारण यह है कि नाथों में वह हृद्योग (हृदय का योग, हार्दिक वृत्तियों का योग) नहीं है जिसके बिना रसप्रतीति असंभव है। किंतु रस का वह रूप जो अजरता-अमरता प्रदान करनेवाला है, अवश्य मिलता है। इस रस की प्राप्ति योग से होती है, भक्ति से नहीं, हार्दिक वृत्तियों के जागरण और विकास से नहीं। नाथपंथियों का यह रस स्पष्टतया 'रसायन' मत से संबंध रखता है। संतों में भक्तिरस का जो अर्थ ग्रहण किया गया है तथा साथ ही उसके जो गुण बतलाये गये हैं, उनमें रसेश्वर मत के अर्थ तथा भक्ति से उपलब्ध 'आनन्द' अर्थ दोनों ही समन्वित हैं। इस 'रस' का विचार आगे किया गया है। नाथों के साधन में भक्ति का जो स्थान है, उससे स्पष्ट है कि भक्ति उनके यहाँ फलरूपा तो नहीं ही है, साथ ही मुख्योपाय या मुख्य साधन के रूप में भी नहीं है। आनंद भी योगज आनंद है, प्रेमानंद अथवा सौंदर्यानन्द या आत्मपरमात्मलीलागत आनंद नहीं है। इस योगज आनंद में ज्ञान की प्रधानता है। उसे हम शुद्ध ज्ञानगत ब्रह्मानंद भी कह सकते हैं जो संतों के आनंद से सर्वथा भिन्न है।[२]

इस प्रकार नाथ साहित्य में भक्ति प्रकृष्ट रूप में गुरु तक सीमित है। कृपा तत्व नाथ और गुरु दोनों में मिलता है। कर्मसमर्पण और निष्काम

---

[१] गो॰ बा॰, पृ॰ १३२, १३७।

[२] रस-विवेचन के लिये गोरखबानी के रस-महारस शब्दों पर विचार किया जा सकता है। इनकी व्याख्या आगे की गई है। देखिए गो॰ बा॰, पृ॰ ४५, ४९, ८७, १७२ ८९, ९०, ९१, १८८, ६२।

कर्मसंपादन का अभाव है। नाथकृपा से ही गुरु की प्राप्ति होती है, यह स्पष्ट नहीं है। संतों में य सभी मिलते हैं। अवतारवाद को दोनों अस्वीकार करते हैं। अर्चावतार का भी कोई स्थान दोनों में नहीं है। ब्रह्म या उपास्य में कुछ न कुछ गुणों का आरोप दोनों करते हैं। बाह्य पूजा, अर्चा, उपासना, विधानों, सामग्रियों का दोनों ही निषेध करते हैं। प्रपत्ति का नाथों में अभाव दिखाई पड़ता है। शरणागति नाथों में केवल गुरु के लिये ही मिलती है। सदाचार को दोनों आवश्यक मानते हैं किन्तु नाथ लोग उन्हें योगोपकारक मानते हैं तथा संत भक्ति-प्रपत्ति का उपकरण। ईश्वर या उपास्य को दोनों ही एक कहते हैं। संतों में यदि साधनपक्ष की दृष्टि से देखा जाय तो भावोपासना प्रधान है तथा नाथों में शारीरिक योगसाधन से आगे बढ़कर ज्ञानोपलब्धि को स्वीकार किया गया है। कनक और कामिनी के प्रति दोनों की समान दृष्टि है। दोनों ही अतिवादी नहीं हैं। नाथ लोगों ने यद्यपि योग-साधन के लिये ब्रह्मचर्य को प्रमुखता दी है तथापि संसार त्याग कर कानन-निवास का उपदेश वे भी नहीं देते। संत भी घर-वन दोनों को समन्वित साधन के रूप में स्वीकार करते हैं। इनमें से अनेक विचारों की विस्तृत व्याख्या आगे के योग संबंधी विवेचन में की गई है।

— ००० —

आठवाँ परिच्छेद

वैष्णव और शैव-शाक्त (तांत्रिक) योग

अभी तक विद्वानों ने कबीरादि संतों के योग सम्बन्धी विचारों की समीक्षा करते हुए जो निष्कर्ष निकाले हैं, उनसे यही प्रकट हुआ है कि संतों की योग-पद्धति अधिकांशतः नाथों की योगपद्धति का अनुसरण करती है तथा उन्हीं की शब्दावली का प्रयोग करती है। उन शब्दों का प्रयोग भी अधिकांशतः उन्हीं अर्थों और रूपों में करती है। अभी तक वैष्णव भक्ति की परंपरा में प्राप्त योगपद्धति के प्रकाश में संतों की योगपद्धति का विचार नहीं किया गया है। इस वैष्णव परंपरा में प्राप्त योग का व्यवस्थित विवरण भी अभी उपलब्ध नहीं है। अतः यहाँ संक्षेप में वैष्णव भक्ति के साथ प्राप्त होनेवाले योगतत्व का विवेचन कर आगे शैव और शाक्त (तांत्रिक) योग का परिचय दिया गया है जिससे इस नई पद्धति और नये प्रकाश में व्यवस्थित रूप से नाथों और संतों की योगपद्धति का तुलनात्मक अध्ययन उपस्थित किया जा सके।

भक्ति संबंधी विवेचन के प्रसंग में संत-साधना तथा विचारसरणि के स्पष्टीकरण के लिये पांचरात्र साहित्य का महत्व भली भांति उद्घाटित किया जा चुका है। पांचरात्रों का संहिता साहित्य योग की दृष्टि से भी विचारणीय है। विष्णु संहिता में षडङ्ग योग का विवेचन मिलता है और कहा गया है कि योगपद्धति का प्रयोग भक्तिप्राप्ति के लिये किया जा सकता है। भक्ति की उत्पत्ति के लिये प्रयुक्त योग को वहाँ भागवत योग कहा गया है। कहीं कहीं अष्टांग योग का भी विधान मिलता है। इसी प्रकार के संहिता साहित्य में जयाख्य आदि की भी गणना की जा सकती है। जयाख्य संहिता ने भक्त को योगी कहा है। इसने चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिये दो मार्ग बताये हैं—(१) लयात्मक समाधि, (२) मंत्रध्यानाभ्यास। योग प्रक्रिया के विवरण में कहा गया है कि योगी को पूर्ण इंद्रियसंयम करना चाहिए तथा सभी जीवों के प्रति घृणारहित होना चाहिए। चित्त-संयम के लिये, विनम्र होकर, एकांत स्थान में, प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। प्राणायाम की तीन क्रियाओं के साथ प्रत्याहार, ध्यान और धारणा का भी विवेचन किया गया है। योग को तीन प्रकार का बताया गया है—प्राकृत, पौरुष और ऐश्वर्य। इनका अर्थ

अधिक स्पष्ट नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि इनका प्रयोग क्रमशः, प्रकृति के चरम सिद्धान्तों का ध्यान, या पुरुष का ध्यान या विभूति की प्राप्ति के लिये योग के अर्थ में किया गया है। चार प्रकार के आसन बताये गये हैं—पर्यंक, कमल, भद्र और स्वस्तिक। चित्त-संयम ही योग का मुख्य लक्ष्य बताया गया है। संयम दो प्रकार का होता है—(१) परिस्थिति से उत्पन्न वृत्तियों का संयम, (२) चित्त की तात्विक वृत्तियों का संयम। चित्त के सत्वगुण की वृद्धि से ही वह किसी वस्तु पर स्थिर हो सकता है। दूसरे प्रकार के विभाजन में तीन प्रकार का योग बताया गया है—(१) सकल, (२) निष्कल और (३) विष्णु या शाब्द, व्योम और सविग्रह। सकल या सविग्रह योग में देवता की स्थूल मूर्ति का ध्यान किया जाता है। क्रमशः अभ्यस्त होने पर चमकती हुई वृत्ताकार तश्तरी पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए। इस प्रकार के ध्यान की परिपक्वता के परिणामस्वरूप ब्रह्मरन्ध्रपथ योगी के लिये खुल जाता है। निष्कल योग में योगी परम तत्व का ध्यान करता है, जिसके परिणामस्वरूप उसका ब्रह्मवत् स्वरूप उसे साक्षात्कृत होता है। इस प्रकार क्रमशः तश्तरी, मटर, अश्वकेश, नरशीर्षकेश, रोम आदि के ध्यान में स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर जाने की वृत्ति प्रकट होती है। तृतीय योग मंत्रध्यान है। इससे भी योगी को परम तत्व का साक्षात्कार होता है। योगक्रिया से योगी अंततः ब्रह्मरन्ध्रपथ से विचरण करता हुआ, उससे भी अतीत हो जाता है और शरीर का त्याग कर देता है। इसके बाद परमतत्व वासुदेव से एकात्म प्राप्त कर लेता है।[1]

इसी प्रकार विष्णु संहिता में जिस भागवत योग का विवेचन मिलता है उसमें शारीरिक और नैतिक संयम का वर्णन है तथा उसमें लोभ, क्रोध आदि का संयम, एकांत स्थान में ध्यानाभ्यास, भगवान् पर निर्भरता की भावना का विकास और आत्मालोचन का भी समावेश कर लिया गया है। जब इसके परिणामस्वरूप चित्त शुद्ध और सांसारिक पदार्थों से पराङ्मुख हो जाता है तब उसमें सत्-असत् के बौद्धिक और नैतिक विवेक का उदय होता है तथा इससे भक्ति की उत्पत्ति होती है। प्राणायाम को, जिसमें अनेक प्रकार के ध्यानों का विधान किया गया है, भगवान् से एकात्म प्राप्त करने के लिये स्वीकृति दी गई है। यह एकात्म मुक्ति की एक अवस्था है। यहाँ भक्ति का अर्थ है, उपासना की प्रवृत्ति। इस भक्तिफल के लिये साधन योग है। भागवतों का भक्तिमत योग से इस प्रकार प्रभावित था कि भक्त के लिये योगी होना आवश्यक

---

[1] ए हि० इं० फि०, दासगुप्त, वा० ३, पृ० २४, ३०-३१।

माना गया था क्योंकि केवल भक्ति मुक्ति के लिये पूर्ण समर्थ साधन नहीं समझी जाती थी। इसी प्रकार परम संहिता में भी ब्रह्म और परम के संवाद में योग-पद्धति का विवेचन किया गया है। वहाँ योगलब्ध ज्ञान को अन्य साधनों से प्राप्त ज्ञानों से श्रेष्ठ बताया गया है। जब बिना योग-ज्ञान के कोई कर्म किया जाता है तब इच्छित फल की प्राप्ति नहीं होती। योग का अर्थ है, किसी पदार्थ विशेष के साथ चित्त का शांतिमय एकात्म। इसी प्रकार कर्मयोग और ज्ञान-योग की भी व्याख्या की जाती है। समाधि उस ज्ञानमयी अवस्था को कहा गया है जिसमें चित्त धैर्यपूर्वक परमात्मा में स्थिर रहता है। जब इंद्रियाँ वैराग्य की सहायता से अपने विभिन्न विषयों से पराङ्मुख हो जाती हैं, तब उन्हें दृढ़तापूर्वक परमात्मा में स्थिर करना चाहिए। इसी को योग कहते हैं। इस साधन में उसे किसी ऐसी क्रिया में नहीं लगना चाहिए जो शरीर के लिये कष्ट-कर हो। इस प्रकार के अभ्यास के बाद भक्ति का अभ्युदय होता है।[1]

पहले बतलाया जा चुका है कि पांचरात्र का आधार अंशतः वैदिक है और अंशतः तांत्रिक। इसलिये पांचरात्र मंत्रों की आंतरिक शक्तियों में विश्वास रखता है। यह भी कहा गया है कि सभी प्रकार की शक्तियाँ सुदर्शन की अभिव्यक्तियाँ हैं। शुद्ध चिन्मय विष्णु की शक्ति के रूप में मंत्रों को भी माना गया है। इस शक्ति की प्रथम अभिव्यक्ति नाद है जो केवल महायोगियों द्वारा ही श्रव्य है। इसकी दूसरी स्थिति विंदु है जो नाम और उसके द्वारा बोधित वस्तुगत शक्ति का एकात्म है। इसके बाद की स्थिति नाभ्युदय की है जिसे शब्दब्रह्म भी कहते हैं। अहिर्बुध्न्य संहिता ने स्वरों और व्यंजनों का विकास इसी विंदुशक्ति से बतलाया है। चतुर्दश यत्नों से, विष्णु की कुंडली शक्ति के नृत्य के माध्यम से चतुर्दश स्वरों की उत्पत्ति होती है। अपनी द्विविध सूक्ष्म शक्तियों से यह सृष्टि और संहार का कारण है। यह शक्ति मूलाधार में उदित होती है। जब यह नाभि तक आती है, तब इसे पश्यंती कहते हैं और केवल योगियों द्वारा ही साक्षात्कृत होती है। तत्पश्चात् यह हृदयकमल से होकर कंठ तक श्रव्य नाद के रूप में पहुँचती है। यह शक्ति, स्वरों की शक्ति के रूप में सुषुम्ना नाड़ी के मध्य में प्रवेश करती है। इसी प्रकार विभिन्न व्यंजन विश्वशक्ति की विभिन्न अभिव्यक्तियों के मूल रूप माने गये। ये विभिन्न प्रकार के देवताओं या शक्ति के अधिष्ठाताओं के प्रतीक माने गये। विभिन्न क्रमों और वर्गों में इन वर्णों के समूहों को कमल या चक्र कहते हैं। ये विभिन्न प्रकार की शक्तियों के समूहों का भी बोध कराते हैं। इन चक्रों का ध्यान

---

[1] वही, पृ० ३२-३३ पर उद्धृत परम संहिता।

और पूजा विभिन्न प्रकार की पदार्थगत शक्तियों की प्राप्ति कराती हैं। इस प्रकार विभिन्न देवता विभिन्न मंत्रों और चक्रों से संवद्ध हैं। इन इतर देवताओं की पूजा, उपासना, मन्दिर-मूर्ति-निर्माणादि के विधानों से पांचरात्र साहित्य समृद्ध है।[1]

अहिर्बुध्न्य संहिता में तांत्रिक ग्रंथों की तरह ही शरीर की नाड़ी-व्यवस्था का विवरण मिलता है। सभी नाड़ियों का कांड नाभि के ऊपर है। यह अंडाकार है। नाभि के नीचे शरीर का मध्यदेश है। यह चतुष्कोणात्मक है जिसे आग्नेयमंडल भी कहते हैं। कांड को नाभिचक्र भी कहते हैं जिसके १२ दल हैं। इस नाभिचक्र को चारों ओर से आवृत किये हुए अष्टमुखी कुंडली है, जो अपने शरीर से सुषुम्ना के ब्रह्मरंध्र नामक छिद्र को बंद किये रहती है। तंत्रों के अनुसार कुंडलिनी शक्ति शरीर के मध्य के नीचे अवस्थित रहती है। संहिता के अनुसार नाभिचक्र के मध्य में अलंबुषा और सुषुम्ना नाम की दो नाड़ियाँ हैं। सुषुम्ना की विभिन्न दिशाओं में कुहू, वरुणा, यशस्विनी, पिंगला, पूषा, पयस्विनी, सरस्वती, शंखिनी, गांधारी, इड़ा, हस्तिजिह्वा, विश्वोदरा नाम की नाड़ियाँ हैं। किंतु शरीर में कुल मिलाकर ७२००० नाड़ियाँ हैं। इनमें इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना महत्वपूर्ण हैं। इनमें भी सुषुम्ना जो मस्तिष्क के मध्य में पहुँचती है अति महत्वपूर्ण है। जैसे एक मकड़ी अपने जाल में रहती है, उसी प्रकार आत्मा भी प्राणसमन्वित होकर इस नाभिचक्र में रहती है। सुषुम्ना के पाँच मुख हैं, जिनमें से चार से रक्त प्रवाहित होता है, जबकि मुख्य द्वार कुंडली के शरीर से बंद रहता है। अन्य नाड़ियाँ, जो तुलना में इससे छोटी हैं, शरीर के अन्य भागों से संबद्ध हैं। इड़ा और पिंगला शरीर के सूर्य और चन्द्र के समान मानी जाती हैं।[2]

प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कुकर, देवदत्त और धनंजय नाम के दस वायुओं का भी वर्णन है। प्राणवायु का अवस्थान नाभिचक्र में है किन्तु इसकी अभिव्यक्ति हृदयप्रदेश, मुख और नासिका में होती है। अपान वायु गुदा, 'शिश्न' (पेनिस), जंघा, पैर, उदर, अंडकोश, कटिप्रदेश (लिवर) में, अंतड़ी और वस्तुतः संपूर्ण नीचे के अंगों में क्रियाशील रहता है। व्यान आदि की भी इसी प्रकार स्थितियाँ तथा क्रियाएँ बताई गई हैं। इस वायु-साधन के विषय में बताया गया है कि १ से १६ तक की गणना करने के समय

---

[1] ए हि० इं० फि०, वा० ३, पृ० ५७-५८।

[2] वही, पृ० ५८-५९, अहिर्बुध्न्य संहिता, ३२.११।

में इड़ा नाड़ी से प्राण वायु को खींचने से नाड़ियों की शुद्धि होती है। १ से ३२ तक की गणना की अवधि में, वायु को स्थिर करने के समय में किसी प्रकार के ध्यान का अभ्यास किया जा सकता है। तब योगी को पुनः प्राण-वायु को, इसी प्रकार भीतर की ओर पिंगला से खींचना चाहिए और उसे भी उसी प्रकार कुंभित रखना चाहिए। तब उसे वायु को इड़ा से बाहर निकालना चाहिए। इसी प्रकार ३ मास तक दिन में तीन बार करना चाहिए। इस प्रकार के अभ्यास से उसकी नाड़ियाँ शुद्ध हो जाएँगी तथा योगी अपने संपूर्ण शरीर पर, सभी वायुओं पर, अपने चित्त को केंद्रित करने में समर्थ होगा। प्राणायामक्रिया में योगी को इड़ा से वायु को इतनी अवधि में आकर्षित करना चाहिए कि १ से १६ तक की गणना पूरी हो सके। तब श्वास को यथासंभव कुंभित रखे और फिर विशिष्ट मंत्र का ध्यान करे। तत्पश्चात् श्वास को पिंगला से उतनी ही अवधि में निकाले। पुनः वह पिंगला से श्वास खींचे तथा इड़ा से निकाले। धीरे-धीरे उस धारणा की अवधि को बढ़ाया जाय, जिसे कुंभक कहते हैं। दिन भर में वह इस प्राणायाम की क्रिया को १६ बार करे। इसी को प्राणायामक्रिया कहते हैं। इसके परिणामस्वरूप वह समाधि की दशा को प्राप्त कर सकता है जिससे सभी प्रकार की सिद्धियों की प्राप्ति होती है। इस वायुपरिचय में ध्यान देने योग्य है कि अहिर्बुध्न्य संहिता में विभिन्न वायुओं की जो स्थितियाँ तथा क्रियाएँ बताई गई हैं वे आयुर्वेद और शाक्त तंत्रों में प्राप्त विवरण से भिन्न हैं।[1]

किन्तु इस प्रकार की प्राणायाम (नाड़ी शोधन) की प्रक्रिया का आरंभ करने के पूर्व विभिन्न आसनों का अभ्यास करना चाहिए। ये आसन हैं-- चक्र, कूर्म, पद्म, मयूर, कुक्कुट, वीर, स्वस्तिक, भद्र, सिंह, मुक्त और गोमुख। अहिर्बुध्न्य संहिता में इनका वर्णन मिलता है। इन आसनों से योगी को उच्च स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है। किन्तु ये शारीरिक अभ्यास निरर्थक हैं जब तक वह योग के आध्यात्मिक पक्ष की ओर अभिमुख नहीं होता। जीवात्मा और परमात्मा का संयोग ही योग है। अहिर्बुध्न्य संहिता में परमोच्च सत्ता के साक्षात्कार के लिये दो मार्ग बताये गये हैं—(१) ध्यान के माध्यम से किया हुआ आत्मसमर्पण या हृद्योग। यह ध्यान परमोच्च सत्ता की कुछ शक्तियों का होता है और मंत्राभ्यास से विशिष्ट देवताओं का होता है। (२) योग। अहिर्बुध्न्य का प्रथम प्रकार के मार्ग पर विशेष आग्रह है। आत्मा दो प्रकार

---

[1] ए हि० इं० फि०, वा० ३, पृ० ५९-६०।

की मानी गई है—प्रकृति प्रभावान्तर्गत तथा प्रकृत्यातीत। कर्म और योग के माध्यम से परमोच्च सत्ता से एकात्म संभव है। परमात्मा को सूक्ष्म, सर्वग, सर्वभृत, ज्ञानरूप, अनादि-अनंत, अविकारिन्, नामरूपातीत, अवर्ण, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, स्वयंप्रकाश, सर्वरक्षक आदि कहा गया है। जिस योग से जीवात्मा और परमात्मा का एकात्म संभव है, उसके आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। यम में सत्य, दया, धृति, शौच, ब्रह्मचर्य, क्षमा, आर्जव, मिताहार, अस्तेय और अहिंसा की गणना की गई है। नियम में सिद्धान्तश्रवण (वेदादिकों का श्रवण), दान, मति, ईश्वर-पूजन (विष्णुपूजन), संतोष, तप आस्तिक्य, ह्री, जप, व्रत (गुरूपदिष्ट मार्ग का व्रत) का विधान है। यद्यपि यहाँ जीवात्मा-परमात्मा के एकात्म को ही योग कहा गया है, तथापि अहिर्बुध्न्य संहिता का रचयिता पतंजलि के योगा-नुशासन से परिचित है, जिसमें योग को चित्तवृत्तिनिरोध कहा गया है। यम-नियम का जो विवरण अहिर्बुध्न्य में मिलता है, वह पतंजलि के विवरण से भिन्न है।[१] दशांग यम-नियम का विधान इसका वैशिष्ट्य है।

वैष्णव पुराण साहित्य में पद्मपुराण और नारदीय पुराण हमारे विवेचन की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। पद्मपुराण में ब्रह्मभक्ति को तीन प्रकार का बतलाया गया है—कायिक, वाचिक और मानसिक अथवा लौकिकी, वैदिकी और आध्यात्मिकी। इस आध्यात्मिकी भक्ति को भी दो प्रकार का बताया गया है—सांख्य भक्ति और योगभक्ति। २४ तत्वों का ज्ञान तथा परमतत्व पुरुष से उनका भेदज्ञान, पुरुष-प्रकृति तथा जीव का परस्पर संबंधज्ञान—इसे ही सांख्य भक्ति कहा गया है। प्राणायाम का अभ्यास तथा परब्रह्म का ध्यान योगभक्ति है। यहाँ भक्ति का विशेष अर्थ में प्रयोग किया गया है। नारदीय पुराण में योग को ब्रह्मलय कहा गया है। मन ही बंधन और मोक्ष का कारण है। बंधन का अर्थ है—इंद्रियविषयों का संभोग तथा मुक्ति का अर्थ है—उनसे विमुक्ति। जब चुंबक की तरह आत्मा मन को भीतर की ओर आकर्षित करती है तथा उसकी क्रियाओं को आन्तरिक दिशा की ओर प्रेरित करती है तथा अन्ततः ब्रह्म से एकात्म को स्थापित करती है, तभी योग सिद्ध होता है। इसी को योग कहते हैं।[२]

---

[१] वही, पृ० ६०-६२, 'संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः।' 'यद्वा भगवते तस्मै······हविः स्वयम्॥'—अहिर्बुध्न्य संहिता।

[२] ए हि० इं० फि०, वा० ३, पृ० ५०७, ५०९। 'आत्मप्रयत्नसापेक्ष विशिष्टा या मनोगतिः। तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इयभिधीयते। 'नारदीय पुराण'।

पांचरात्र साहित्य में नारद पंचरात्र की क्या स्थिति और महत्व है, इसका थोड़ा सा परिचय, भक्ति की दृष्टि से दिया जा चुका है। वैष्णव योग की दृष्टि से भी नारद पंचरात्र का महत्व है। अहिर्बुध्न्य और जयाख्य संहिता की तरह ही इसमें भी वैष्णव योग का, वैष्णव भक्ति में योग के स्थान का विवेचन मिलता है। नारद पंचरात्र में विवेचित भक्ति का परिचय पहले दिया जा चुका है। इसमें नारद ने पाँच प्रकार का ज्ञान बताया है जिसमें योगज्ञान भी एक है। सभी प्रकार के ज्ञानों के विषय में कहा गया है कि वही ज्ञान ज्ञान है जिससे हरिभक्ति उत्पन्न हो। गुरु भी वही है जो ज्ञानोद्गिरण करे। वह ज्ञान मंत्र और तंत्र का होता है। वे ही मंत्र और तंत्र सफल हैं जो भक्ति के उपकारक हों।[1] व्यास ने पंचरात्र में ही नारद को वेद, वेदांग, सिद्धविद्या, शिल्पविद्या, पुराण आदि के अतिरिक्त योग शास्त्र में भी निष्णात कहा है। नारद ने गुरु की महिमा पहले ही बतलाई थी। योगज्ञान को भी उन्होंने सिद्धिदायक बतलाया है।[2] अन्यत्र इसकी व्याख्या में कहा गया है कि सिद्धियाँ १७ प्रकार की होती हैं—अणिमा, लघिमा, व्याप्ति, प्राकाम्य, महिमा, ईशित्व, वशित्व, कामावसायिता, दूरश्रवण, इष्टार्थसाधन, सृष्टिपत्तन, मनोयायित्व, परकायप्रवेश, प्राणदान, प्राणापहरण, कायव्यूह, वाक्सिद्धि। किंतु कृष्णभक्ति के बिना इनकी वांछा भक्त लोग नहीं करते। कृष्ण के बिना ये सब वासनाएँ हैं। इसके बाद विस्तार से चक्रों और नाड़ियों का परिचय दिया गया है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा—ये छ चक्र हैं। ये कुंडलिनी शक्ति से युक्त होकर अपने-अपने स्थान पर स्थिर रहते हैं। मेध्या, इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, चंचला, सुस्थिरा—ये छ नाड़ियाँ हैं। मन से युक्त होने पर ये क्रमशः सुनिद्राजननी, क्षुद्विवर्द्धिनी, तृष्णाजननी, निद्रा भंग करने वाली, संभोगेच्छा-विवर्द्धिनी, विचेतनी होती हैं। क्रम से मन इन छः नाड़ियों में भ्रमण करता है, किन्तु मन स्वेच्छाधीन और चंचल है। मूलाधार का स्थान योनि-शिश्न के ऊपर है। स्वाधिष्ठान नाभिदेश में तथा मणिपूर वक्ष में स्थित है। अनाहतचक्र उसके ऊपर है विशुद्ध का स्थान कंठदेश में है। दोनों चक्षुओं के मध्य में आज्ञा का स्थान है। मूलाधार में इड़ा, स्वाधिष्ठान में पिंगला, मणिपूर में सुषुम्ना, अनाहत में सुस्थिरा, विशुद्ध में चंचला और मेध्या नाड़ियों का स्थान

---

[1] नारद पंचरात्र, १.९.६-७, १४, पृ० ६२-६३। 'गुरोश्च ज्ञानोद्गिरणात् ज्ञानं स्यान्मन्त्रतन्त्रयोः······भक्तिरधोक्षजे' ॥१४॥

[2] वही, १.१०.३-४, ९-१०, पृ० ६७; १.९.६-७, पृ० ६३।

है। वायु नाड़ीयुक्त चक्रों में सदैव संचरण किया करता हैं। आज्ञा नामक चक्र में जब वायु बद्ध हो जाती है तब प्राणियों की मृत्यु हो जाती है। वायु को धारण करने से योगी बद्धनिश्वासवाला होता है। ऐसे योगी की मृत्यु नहीं होती, क्योंकि उसके लिये वायु साध्य हो जाती है। वायु उसके वश में रहती है। इस प्रकार का योगी वह्नि, जल, मृत्तिका, मन, वायु आदि को बहुत प्रकार से स्तंभित करना जानता है।[1]

इन सभी चक्रों के ऊपर सहस्रदलपद्म है। इसकी स्थिति सभी के मस्तक में है। उस मस्तकस्थ सहस्रार में ही सदैव सूक्ष्मरूपेण गुरु का निवास रहता है। संसार में नररूप में जो गुरु दिखाई पड़ते हैं, वे उस सहस्रारस्थ गुरु के ही प्रतिबिम्ब हैं। शिष्यों की हितकामना से स्वयम् श्रीकृष्ण ही गुरुरूप में अवतरित होते हैं। गुरु के संतुष्ट होने से हरि संतुष्ट होते हैं। हरि के संतुष्ट होने से तीनों जगत् संतुष्ट हो जाते हैं। वह गुरु ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर है। वही परात्पर, पूज्य, परब्रह्म है। यदि हरि रुष्ट हो जायँ और गुरु तुष्ट रहें तो गुरु ईश्वर से रक्षा करने में समर्थ होता है। किंतु गुरु के रुष्ट होने पर रक्षा करने में कोई समर्थ नहीं होता। ऐसा गुरु ज्ञान का उद्गिरण करने के कारण ही गुरु कहलाता है। वह ज्ञान तंत्र-मंत्र का है। वही तंत्र-मंत्र वास्तविक है जिससे कृष्णभक्ति उत्पन्न हो। वह गुरु ही माता-पिता, बंधु, भ्राता, पति, पुत्र आदि है। वह सभी संबंधों का समाहार है क्योंकि वही कृष्णवर्त्म का दर्शन कराता है। यह संपूर्ण सचराचर विश्व जल बुद्बुदवत् है। हृदयस्थ हरि सहस्रदलपद्म में स्वयम् रूप में निवास करते हैं।[2] इस प्रकार योगज्ञान का सविस्तर वर्णन नारदपंचरात्र में मिलता है।

यह योगज्ञान भक्तिज्ञान का उपकारक है। बताया गया है कि भक्तों के लिये भक्तिज्ञान है तथा योगियों के लिये योगज्ञान है। योगिजन ज्योतिरूप सनातन का ध्यान करते हैं। वे उस निर्गुण का शरीर नहीं मानते, क्योंकि जितने भी शरीर हैं, सभी प्राकृत हैं तथा निर्गुण तत्व प्रकृति से परे हैं। गुण से सज्जित देह निर्गुण कथमपि नहीं हो सकता। इस प्रकार का वर्णन योगशास्त्रों में मिलता है किंतु कुमारादि वैष्णव उसे नहीं मानते। वैष्णव लोग उस तत्व को तेजस्वियों का भी तेज मानते हैं। कृष्ण नित्य हैं और शरीरी हैं। उनका

---

[1] वही, २.८.२-१८, पृ० १५६-१५७।

[2] वही, २.८.१९-२७, पृ० १५७-१५८। 'सहस्रदलपद्मञ्च सर्व्वेषां··· सहस्रदलपद्मे च हृदयस्थो हरिः स्वयम्।'

तेज ही सदैव वर्तमान रहता है। सभी तेजों के अन्तर्गत वही सनातन कृष्णमूर्ति है। उस तेज का योगिजन भक्तिपूर्वक ध्यान करते हैं। यथासमय, उनकी भक्ति के भलीभाँति परिपक्व होने पर वे योगी ही वैष्णव हो जाते हैं। इस प्रकार सभी तेजों के अभ्यंतर में उस तत्व का ध्यान वैष्णव लोग करते हैं। बिना देह के (ईश्वर के तेजस् शरीर के) दास के दास्य की कोई सत्ता नहीं है।[१] पहले ही बताया जा चुका है कि तंत्र और मंत्र वे ही सफल हैं जो भक्ति उत्पन्न करने में सहायक हों। इन तंत्र-मंत्रों का ज्ञान गुरु देता है। आगे बताया गया है कि मंत्रसाधन का संबंध योग से है। इस प्रकार योगज्ञान भक्ति का उपकारक सिद्ध होता है।

व्यास ने कहा है कि दशार्ण मंत्र का जप रेचकादि प्राणप्रयोग के साथ करना चाहिए। दक्षिण नासिका से वायु का रेचन करना चाहिए तथा पुनः वाम नाड़ी से पूरक करना चाहिए। तत्पश्चात् मध्य नाड़ी से धारण करना चाहिए। इस प्रकार प्राणायाम का अपने शरीर में विधान कर योगपीठ की कल्पना करनी चाहिए।[२] व्यास द्वारा दिये गये उस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि नारद पंचरात्र के अनुसार प्राणायाम और मंत्रसाधन का अति घनिष्ठ संबंध है। इस ग्रंथ में अन्यत्र भी बड़े विस्तार से शरीर का, दूसरे शब्दों में पिंड का वर्णन मिलता है जिसका परवर्ती संतों के योग की दृष्टि से महत्व है। नारद पंचरात्र के अनुसार शरीर में १५ करोड़ नाड़ियाँ हैं। उनमें दश मुख्य हैं। उनमें भी तीन प्रधान हैं। ये नाड़ियाँ चन्द्र सूर्य और अग्निरूपिणी हैं। शक्तिरूपा नाड़ी साक्षादमृतविग्रहा है। दक्षिण भाग में सूर्यविग्रहा और पुंरूपा नाड़ी है, जिसे पिंगला कहते हैं। मेरुमध्य में मूलदा, ब्रह्मविग्रहा, सर्व्वतेजोमयी सुषुम्ना नाम की नाड़ी है। इसके भी बीच में शुभा एवम् अमृतप्लाविनी विचित्रा नाम की नाड़ी है। वह सर्व्वदेवमयी और योगियों की हृदयंगमा है। वह विंदु से विसर्ग तक तत्वतः व्याप्त होकर स्थित रहती है।[3] मूलाधार के इच्छाजालक्रियात्मक त्रिकोण के मध्य में कोटिसूर्यप्रभावाला स्वयम्भू लिंग है। उसके ऊपर काम-बीज है तथा उसके ऊपर शिखा के आकार की ब्रह्मविग्रहा कुंडली है। उसके

---

[१] वही, २.८.२९-३६, पृ० १५८-१५९। 'भक्तिज्ञानञ्च भक्तानां योगज्ञानञ्च योगिनां······कुतो दास्यं विना देहेन नारद।'

[२] वही, ३.२.२५-२७। अष्टाविंशतिसंख्य···धारयेदीरितं रेचकादित्रयं स्यात्।

[3] वही, ५.१०.३-८।

बाहर हेमवर्ण के चार दल हैं। इस प्रकार के पद्म की विभावना वहाँ करनी चाहिए। इसके भी ऊपर अग्निसम, षड्दल एवम् हीरे की प्रभावाले कमल की कल्पना करनी चाहिए। इसके छ दलों पर, क, ख, ग, घ, ङ, तथा च वर्ण अंकित हैं। षट्कोण मूल को धारण करने के कारण उसे मूलाधार कहते हैं तथा 'स्व' अर्थात् लिंग को धारण करने के कारण इसे स्वाधिष्ठान कहते हैं। उसके ऊपर नाभिदेश में महाप्रभापूर्ण मणिपूर पथ है। यह मेघाभ तथा अति तेजोमय है। मणिवत् आलौकिक रहने के कारण इसे मणिपूर कहते हैं। चंदन की सुगंधि से युक्त दश दलोंवाले इस कमल में 'ड' से 'फ' तक के वर्ण हैं। शिखा से अधिष्ठित यह कमल विश्वलोक का एकमात्र कारण है। उसके ऊपर उदित आदित्य के समान आदित्य की आभावाला एक पद्म है जिसके दलों पर क से लेकर ठ तक के १२ वर्ण हैं। उसके बीच सूर्य की आभावाला बाण लिंग है। यह शब्दब्रह्ममय होता है। इसी से इसे अनाहतपद्म कहते हैं। उसके ऊपर विशुद्ध नाम का पद्म है जो आनंदसदन है तथा पुरुष से आवेष्ठित है। इसमें १६ दल हैं। उसके ऊपर आज्ञा चक्र है। वहीं गुरु की आज्ञा का संक्रमण होता है। इसके ऊपर सहस्रारांबुज विंदुस्थान है।[१] पहले पूरक योग से आधार (मूलाधार) में मन को नियोजित करना चाहिए। गुदा और मेढ़ू के बीच की शक्ति को प्रबुद्ध करना चाहिए। लिंगभेद के क्रम से विंदुचक्र (सहस्रार) की प्राप्ति करनी चाहिए और शंभु तथा पराशक्ति का एकीभाव से चिंतन करना चाहिए। उससे उत्थित होनेवाले द्रुत लाक्षारस के समान अमृतरस को योग-सिद्धि देनेवाली कृष्णा नाम की शक्ति को पिला कर षट्चक्रस्थित देवताओं को समर्पित करना चाहिए।[२] धारणा-ध्यान के विषय में कहा गया है कि दिक्-काल से अनवच्छिन्न कृष्ण में चित्त का विधान कर साधक तन्मय हो जाता है। यदि समस्त चित्त से शीघ्र सिद्धि नहीं मिलती तब अवयवों के संयोग से योगी को अभ्यास करना चाहिए। ये अवयव श्रीकृष्ण के शरीर के हैं, यथा—उरुद्वय जंघाद्वय आदि।[3]

प्रकारान्तर में 'शारदा' (शारदातिलक या शारदातंत्र) को उद्धृत किया गया है। तीन नाड़ियाँ मुख्य बताई गई हैं। वाम भाग में इड़ा तथा दक्षिण

---

[१] वही, ५. १०. ९–२३।

[२] वही, ५. १०. २४–२७। 'इत्येतत् कथितं सर्व्वं योगमार्गमनुत्तमम्। आदौ पूरकयोगेन···षट्चक्रदेवतास्तत्र सन्तर्प्यामृतधारया।'

[3] वही, ५. १०. ३१–३७।

भाग में पिंगला की स्थिति मानी गई है। उन दोनों के बीच सुषुम्ना नाड़ी है। इड़ा में चन्द्र, पिंगला में दिवाकर तथा सुषुम्ना में योगनिद्रा की स्थिति रहती है।[१] आधारकन्द के बीच अतिसुन्दर त्रिकोण है। वहाँ विद्युल्लता के आकार की परदेवता कुंडली का निवास है। सुप्त सर्पाकृतिवाली वह सर्वात्मा को परिस्फुरित करती है। आत्माहंस को कुंडली धारण करती है। हंस प्राणाश्रित है। प्राण नाड़ीपथ के आश्रित हैं। आधार से ऊपर, सभी देही लोगों में, वायु नाड़ियों से प्रयाण करता है। द्वादश अंगुल के परिमाण का यह प्राण होता है।[२]

प्राणायाम की क्रिया के विषय में कहा गया है—करणों में समाहित कर अँगुलियों को दृढ़तापूर्वक बाँधकर, दोनों अँगूठों को दोनों कानों में, तर्जनियों को नेत्रों पर, मध्यमाओं को नासरन्ध्रों में तथा अन्य से वदन को दृढ़तापूर्वक बाँध लेना चाहिए। इस प्रकार आत्मा, प्राण और मन को एक में बाँधकर अनुस्मरण करते हुए सम्यक् प्रकार से वायु को धारण करना चाहिए। इसी को योग कहते हैं। इसका क्रम से अभ्यास करने से नाद उत्पन्न होते हैं। सबसे पहले भृंगी के गीत के समान, फिर क्रमशः वंशी, घंटा, घनमेघ की ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं। अव्यय हंस के क्षेपण से ज्ञान उत्पन्न होता है।[३]

इसी प्रकार अन्य वैष्णव भक्तिग्रंथों में भी योग का परिचय मिलता है। किंतु वहाँ योग का ज्ञान और भक्ति के साधन क्षेत्र में स्थाननिर्देश मात्र ही मिलता है। शांडिल्य के सूत्रों में कहा गया है कि योग, ज्ञान और भक्ति दोनों का अंग है। अर्थात् योग, ज्ञान और भक्ति दोनों का साधनांग है।[४] नारद ने परा भक्ति को कर्म, ज्ञान और योग से भी अधिक कहा है।[५] उनके इस सूत्र की विभिन्न प्रकार की व्याख्याओं में इन तीनों शब्दों का क्रमशः कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग का अर्थ लिया गया है। यहाँ राजयोग का कोई भी संदर्भ नहीं है क्योंकि मधुसूदन सरस्वती ने अपने भक्तिरसायन में

---

[१] वही, ५. ११. २–३, ७। इडा वामे स्थिता नाडी पिंगला दक्षिणे मता। तयोर्मध्यगता नाडी सुषुम्ना तत्समाश्रिता ॥···इडायां संचलेच्चन्द्रः पिंगलायां दिवाकरः। जातौ तु योगनिद्रायां सुषुम्नायाञ्च तावुभौ ॥

[२] वही, ५. ११. ८–१२।

[३] वही, ५. ११. १४–१९।

[४] शांडिल्य भक्तिसूत्र, सू० सं० १९।

[५] ना० भ० सू०, सू० सं० २५। 'सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा।'

बताया है कि राजयोग ज्ञानयोग का ही एक अंग है। अथवा यह भी संभव है कि शांडिल्य के अनुसार योग केवल ध्यानसाधन होने के कारण इन तीनों का अंग हो। भगवद्‌गीता के श्लोकों से भी इसकी पुष्टि होती है। कुछ भी हो, किंतु इतना निश्चित है कि राजयोग या अन्य ध्यानसाधन को भक्ति की तुलना में, भक्ति के इन आचार्यों ने गौण स्थान दिया है। किंतु इसकी आवश्यकता का अनुभव भी सभी ने किया।[१] इससे अधिक शांडिल्य और नारद में योग का परिचय नहीं मिलता।

इस प्रकार वैष्णव साहित्य एवं संप्रदाय में योग और उसके अभ्यास के अनेक संकेत, विवरण और तथ्य मिलते हैं। अडगिय वैष्णव आचार्यों में नाथमुनि योगी थे तथा उन्होंने योगरहस्य नामक एक ग्रंथ भी लिखा था। उन्होंने अष्टांग योग का साधन किया था। इनके विषय में कहा जाता है कि ये अपने आरंभिक काल में शैव थे तथा बाद में वैष्णव मत में दीक्षित हुए। वैष्णव होने पर इन्होंने अष्टांग योग की शिक्षा ली। इनके भक्तिसार ग्रंथ में अष्टांग योगसाधन का विधान है। कुलशेखर के विषय में इसी प्रकार कहा जाता है कि उन्होंने योगाभ्यास किया था।[२] नाथमुनि के द्वादश शिष्यों में से कुरुकानाथ के विषय में कहा जाता है कि उन्होंने नाथमुनि की तरह ही योग-साधन से शरीर का त्याग किया था। इसी प्रकार उन शिष्यों में पुंडरी-काक्ष भी कुरुकानाथ से प्रभावित थे।[३] राममित्र के शिष्य यामुनाचार्य ने अपने गुरु से आदेश पाया था कि वे कुरुकानाथ से अष्टांगयोग की शिक्षा लें।[४] रामानुज और उनके अनुयायियों ने तीन प्रकार के प्रमाण माने थे—प्रत्यक्ष, अनु-मान और शास्त्र। प्रत्यक्ष वह है जो बिना किसी माध्यम और साधन के ही ज्ञान प्रदान करे। इसका भेदक लक्षण यह है कि यह कोई ऐसा ज्ञान नहीं है जो अन्य ज्ञान से प्राप्त हो। यह प्रत्यक्ष तीन प्रकार का बताया गया है—(१) ईश्वरप्रत्यक्ष, (२) योगिप्रत्यक्ष, (३) लोकप्रत्यक्ष। योगिप्रत्यक्ष में ही मानसप्रत्यक्ष की गणना की गई है, या इसी में ऋषियों का भी प्रत्यक्ष अन्तर्गणित है। यह योगिप्रत्यक्ष योगाभ्यास के विशेष प्रकाश के कारण होता है।[५]

---

[१] ना० भ० सू०, (अँगरेजी अनुवाद सहित), स्वामी त्यागीशानंद, पृ० १२१–१२२।

[२] ए हि० इं० फि०, वा० ३, पृ० ९६।

[३] वही, पृ० ९६–९७।

[४] वही, पृ० ९८।

[५] वही, पृ० २२०।

इनके अतिरिक्त हम साधन की दृष्टि से वैष्णवमताब्जभास्कर की महत्ता की ओर पहले ही संकेत कर चुके हैं। 'भास्कर' के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि योग (राजयोग, हठयोग, तांत्रिक योगादि) भक्ति के साधन हैं, भक्ति ही साध्य है, फलरूप है। विवेक आदि को भक्ति की सात भूमियाँ बताकर यमादि अष्टांगों को उस भक्ति का अवयव कहा गया है।[1] ध्येय के अनवच्छिन्न चिन्तन को ही ध्यान कहा गया है। यह ध्यान नित्य आत्मरत रहने वाले जितप्राण तथा जितेंद्रिय लोगों द्वारा किया जाता है।[2] सायुज्य मुक्ति का निर्वचन करते समय कहा गया है कि न्यास या शरणागति से भगवान् की दया प्राप्त होती है। उस दया से माया या अविद्या का नाश होता है। फिर सुषुम्ना नाड़ी द्वारा जीव शरीर से निकल कर अर्चिमार्ग को प्राप्त होता है। इसके बाद की यात्रा का जो वर्णन है, वह कालातीत होने या अमर होने की क्रिया के समान प्रतीत होता है जिसमें वह सभी कालमार्गों का अतिक्रमण कर लेता है।[3] 'भास्कर' के इस सुषुम्ना मार्ग के परिचय से प्रतीत होता है कि 'भास्कर' यमनियमादि से युक्त ध्यानसाधन को स्वीकार करते हुए भी सुषुम्नासाधन के महत्व को जानता है, जिससे कालातीत अवस्था या अमरता की अवस्था की प्राप्ति होती है, यद्यपि इसका कोई स्पष्ट संकेत 'भास्कर' में नहीं मिलता। सुषुम्नासाधन का, निश्चय ही, तांत्रिक योग और हठयोग से संबन्ध है। रामानंद की हिंदी रचनाओं से इस पर अधिक प्रकाश पड़ेगा। इतना निश्चित है कि 'भास्कर' भी सुषुम्ना नाड़ी को मोक्षप्रदायिका मानता है (भास्कर के १६८ वें श्लोक में सन्नाड़ी शब्द आया है जिसका अर्थ भाषा टीकाकार और डा० बड़थ्वाल ने सुषुम्ना नाड़ी किया है)।[4]

ऊपर के परिचय से स्पष्ट है कि वैष्णवों के भी साहित्य में एक ऐसे साधन का विधान है जिसमें यमनियमादि चक्र-नाड़ी-कुंडलिनी आदि एवम् प्राणायाम-साधन का समन्वय मिलता है। इन्हें हम पातंजलयोग (राजयोग), तांत्रिक योग, हठयोग आदि कह सकते हैं। वैष्णव ग्रंथों में इनका सूक्ष्म एवं विस्तृत वर्णन बहुत कम मिलता है। आगे हम इनका पारिभाषिक ढंग से

---

[1] वैं० म० भा०, श्लो० ६६।

[2] वही, श्लो० ५४।

[3] वही, श्लो० १६८-१७१।

[4] वही, हिन्दी टीका सहित, पृ० १५५; रा० हिं० र०, भूमिका—डा० बड़थ्वाल, पृ० १३।

परिचय देना चाहते हैं जिससे हम शैवों और वैष्णवों, नाथों एवं संतों के योग का एक परंपरा के प्रकाश में स्पष्टतया विचार कर सकें। इन योगों का विश्लेषण आगे के विवेचन को अधिक स्पष्ट कर सकेगा।

इन योगों में सर्वाधिक प्राचीन राजयोग माना जाता है। पतंजलिकृत योगसूत्रों में अष्टांग योग और समाधियोग का विवेचन है। धीरे-धीरे, ऐसा माना जाता है, पातंजलयोग का विकास तांत्रिक योग, हठयोगादि में हुआ यद्यपि उसके इन विकसित रूपों ने पातंजल योग का त्याग नहीं किया। विभिन्न परवर्ती उपनिषदों की परीक्षा करने से स्पष्ट होता है कि योगसाधन ने विभिन्न मतों में विभिन्न रूपों को प्राप्त किया। शैवों और शाक्तों के संपर्क में आकर, उनकी प्रकृति के अनुकूल विशिष्ट प्रकार के मंत्रयोग, के रूप में यह विकसित हुआ। इसी योग का विकास हठयोग के रूप में हुआ जिससे विभिन्न प्रकार की रहस्यमयी सिद्धियों की तथा स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है। योगतत्व उपनिषद् के अनुसार योग के चार प्रकार हैं—मंत्रयोग, ज्ञानयोग, हठयोग और राजयोग। इन सबका तंत्र के विकास पर भी प्रभाव पड़ा है।[1]

पातंजल योग का अर्थ है चित्तवृत्तिनिरोध। यहाँ आत्मा और परमात्मा या किसी परमतत्व का मिलन अर्थ नहीं है। अर्थात् पतंजलि के अनुसार योग का लक्ष्य है आत्मा या पुरुष को चित्त की विभिन्न वृत्तियों की अभिन्नता से निरुद्ध करना। यह तब तक संभव नहीं जब तक चित्त की वृत्तियाँ चंचल हैं तथा आत्मा चित्त से विवेकज्ञान नहीं प्राप्त कर सका है।[2] ये वृत्तियाँ पाँच प्रकार की हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति। इनमें से प्रत्येक के क्लिष्ट और अक्लिष्ट भेद होते हैं। चित्त की सभी वृत्तियों का निरोध अभ्यास तथा वैराग्य से होता है।[3] इस प्रकार के निरोध से जिस समाधि की अवस्था की प्राप्ति होती है, उसे संप्रज्ञात समाधि कहते हैं। इसके भी विकासक्रम से चार अवांतर भेद हैं—वितर्क, विचार, आनंद और अस्मिता।[4] अभ्यास और वैराग्य के अतिरिक्त एक तीसरा उपाय 'ईश्वर प्रणिधान' या ईश्वरभक्ति या ईश्वर में शरणागति को बताया गया है। यह ईश्वर क्लेश

[1] ए हि० इं० फि०, वा० १, पृ० २२८-२२९।

[2] ऐन इंट्रोडक्शन टु इंडियन फिलासफी—दत्त और चटर्जी, पृ० ३०३-३०४, योगसूत्र, २-४।

[3] योगसूत्र, २-४।

[4] वही, सूत्र १७।

कर्मविपाक और आशय—इन सभी से असंबद्ध या इन सभी के सम्बन्धों से मुक्त है। यह समस्त पुरुषों से उत्तम है। वह सर्वज्ञता का कारण है, निरतिशय है। काल से अनवच्छिन्न है। इसका वाचक प्रणव है। ओंकार का जप ही उसके अर्थस्वरूप का भावन करना है। इस साधन से अंतराय (विघ्न) तथा उनके सहजन्मा विघ्नों का अभाव हो जाता है। चित्तविक्षेप या अंतराय ९ हैं—व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रांति-दर्शन, अलब्धभूमिकत्व, अवस्थितत्व। इनके साथ-साथ होनेवाले विक्षेप ५ हैं—दुःख, दौर्मनस्य, अंगमेजयत्व, श्वास, प्रश्वास। ये सभी असमाहित चित्त में होते हैं। इन्हें दूर करने के उपाय हैं—एकतत्वाभ्यास, मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा से चित्त का प्रसादन, प्राण-वायु का अभ्यास, वीतरागता, ध्यान आदि। इस संप्रज्ञात समाधि के बाद सवितर्क समापत्ति, निर्वितर्का, निर्विचारा, सबीज, निर्बीज, समाधि का वर्णन किया गया है।[1] पतंजलि ने पुनः साधनपाद में क्रियायोग के अन्तर्गत तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान की गणना की है। अष्टांगयोगसाधन से अशुद्धि का नाश होता है तथा विवेकख्याति से ज्ञानदीप्ति का प्रकाश होता है।[2] आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। नियम के अन्तर्गत शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान की गणना की गई है। स्पष्ट ही तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान को क्रियायोग कहा जा चुका है। प्रथमपाद में ही पतंजलि ने ईश्वरप्रणिधान को समाधि के उपाय के रूप में स्वीकार किया है। साधनपाद में स्पष्टतया कहा गया है कि ईश्वरप्रणिधान से समाधिसिद्धि होती है। वाचस्पति मिश्र के व्यासभाष्य में ईश्वरप्रणिधान को भक्ति विशेष कहा गया है। भोजवृत्ति के अनुसार यहाँ भक्ति का अर्थ है—मानसिक, वाचिक, कायिक पक्ष को अभिमुख करना।[3] साधनपाद में आये हुये 'प्रणिधान' की व्याख्या में वाचस्पतिमिश्र ने उसे परमगुरु में सभी कर्मों का अर्पण कहा है।[4] प्रथम पाद में ही श्वास-प्रश्वास को पंचविक्षेपों में गिना गया है तथा साथ ही प्राणवायु के अभ्यास को समाधि का एक उपाय बताया गया है। साधनपाद में प्राणायाम को योगांग कह कर उसकी विवृति की गई है।

---

[1] वही, सूत्र २३-३५, ३७, ३९, ४० तथा आगे।

[2] वही, पाद २, सूत्र १, २८ (आनन्दाश्रमसंस्करण)।

[3] वही, पाद १, सूत्र २३ (आ० सं०)।

[4] वही, पाद २, सूत्र ३२। 'ईश्वरप्रणिधानं तस्मिन्परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्।'

विभूतिपाद नाम के तीसरे पाद में पतंजलि ने अंतिम तीन अंगों का वर्णन किया है। वास्तव में प्रारंभिक पाँच अंग अंतिम तीन अंगों के लिये साधक में योग्यता उत्पन्न करते हैं। ये तीनों ही चैतसिक साधन है। किसी भी देश में चित्त को आबद्ध करना या ठहराना धारणा है। जहाँ किसी पदार्थ में चित्त स्थिर कर दिया गया है, वहाँ वृत्तियों की एकतानता ही ध्यान है। समाधि में केवल ध्येयमात्र की ही प्रतीति होती है, चित्त का निजस्वरूप शून्य-वत् हो जाता है। यही समाधि की अवस्था है। धारणा, ध्यान और समाधि का एकत्र ही संयम है। पतंजलि ने स्पष्ट ही इन तीनों को अंतरंग कहा है तथा निर्बीज समाधि के अन्य अंग बहिरंग साधन हैं। इसके बाद समाधि की प्रकृति का विवेचन कर पतंजलि ने विस्तार से विभूतियों या सिद्धियों का वर्णन किया है। सूर्य, चन्द्र, नाभिचक्र, कंठकूप, कूर्माकार नाड़ी, मूर्धा, हृदय आदि पर ध्यान करने से अनेक प्रकार की सिद्धियों की प्राप्ति बताई गई है। इसी प्रकार उदान और समान वायुओं के साधन से प्राप्त सिद्धियों का अलग वर्णन किया गया है। कैवल्यपाद में जन्म, औषधि, मंत्र, तप और समाधि से सिद्धियों की प्राप्ति कही गई है। ये पाँचों विभिन्न प्रकार की रुकावटों को दूर करती हैं। विभिन्न चित्तों में से एक चित्त प्रधान होता है। वह ध्यानज या समा-धिज होता है, अनाशय होता है। कहा गया है कि धर्ममेघसमाधि से क्लेशकर्म-निवृत्ति होती है, सर्वावरणविहीन अनंत ज्ञान होता है तथा गुणों के परिणामचक्र की समाप्ति हो जाती है। कर्तव्यों के अशेष हो जाने पर गुण अपने कारण में विलीन हो जाते हैं। यही कैवल्य या स्वरूपप्रतिष्ठा है।

इस प्रकार पातंजल योग का लक्ष्य कैवल्य या स्वरूपप्रतिष्ठा है। इसकी प्राप्ति के लिये मंत्र, तप, औषधि आदि जितने भी उपाय हैं उनमें से पातंजल मार्ग केवल समाधि या अष्टांगसाधन को ही श्रेयस्कर मानता है। इस कैवल्य के लिये बहिरंग और अंतरंग दो प्रकार के साधन बताये गये हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार के अंतर्गत या साथ ही वैराग्य, ईश्वरप्रणिधान आदि की गणना की गई है। जब इनसे चित्त के क्लेश, कर्म, विपाक आदि विक्षेप, सभी दूर हो जाते हैं, तब क्रमशः सवितर्क, निर्वितर्क, आनंद और अस्मिता सबीज समाधियाँ प्राप्त होती हैं। ध्यान, धारणा, समाधि से असंप्रज्ञात समाधि की प्राप्ति होती है जिसमें अंततः विवेकज्ञान, धर्ममेधा और कैवल्य की प्राप्ति होती है। यही निर्बीज या असंप्रज्ञात समाधि है। यही कैवल्य या स्वरूप-प्रतिष्ठा है। विशेषता यह है कि यहाँ पातंजल योग में ईश्वर की एक ऐसी विशिष्ट कल्पना है जिसमें प्रणिधान करने से समाधिप्राप्ति संभव बताई गई

है। यह प्रकृति-पुरुष दोनों से परे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पातंजल योग जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए भी सिद्ध की ऐसी मुक्ति स्वीकार नहीं करता जिसमें वह इच्छानुसार शरीर त्याग कर सके। उन्होंने जिन सिद्धियों का विवेचन किया है, उसमें कायसिद्धि का वर्णन नहीं है। कायसंपत् में भी रूपलावण्य, बल, वज्रसंहनन का ही वर्णन मिलता है। इसमें जो विभिन्न बहिरंग-अंतरंग साधनों का विवेचन किया गया है, उन्हीं का क्रमशः विकाश आगे दिखाई पड़ता है। अंतरंग साधनों को प्रायः सभी साधन-संप्रदाय किसी न किसी रूप में महत्व देते हैं किंतु बहिरंग साधनों को कुछ महत्व देते हैं कुछ नहीं। वस्तुतः परवर्ती योगपद्धति को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि संपूर्ण योग का विभाजन दो बृहत् समूहों में होता है—हठयोग और राजयोग। हठयोग शरीर साधन या बहिरंगसाधन पर विशेष जोर देता है, जबकि राजयोग मानसिक या अंतरंग साधन या चित्त के केंद्रीकरण या ध्यान और समाधि पर जोर देता है। पतंजलि के उपर्युक्त साधन में दोनों का समन्वय है।[१]

तंत्र और योग का अति घनिष्ठ संबंध है। वास्तव में जैसे पातंजलयोग-दर्शन का मूलाधार सांख्य दर्शन है, उसी प्रकार तांत्रिक दर्शन का मूलाधार उपनिषदों के पूर्णाद्वैत और पुराणों के द्वैतवाद या विशिष्टाद्वैत का समन्वित दर्शन है। तंत्रों में वैदिक कर्मकांड, एकेश्वरवादी दर्शन, पुराणों द्वारा उपदिष्ट भक्तितत्व, पतंजलि द्वारा उपदिष्ट योग, अथर्ववेद का मंत्र तत्व—ये सभी समन्वित साधन के रूप में मिलते हैं। तांत्रिक साधन में योग, भक्ति, मंत्र, ज्ञान, होम, कर्म—इन सबका समन्वय मिलता है।[२] संपूर्ण तांत्रिक साधन की प्रमुख विशेषता यह है कि यह भुक्ति-मुक्ति, अभ्युदय-निःश्रेयस्, दोनों प्रदान करता है। दूसरे भक्तिमत से यह इस बात में भिन्न है कि यह मुक्ति प्राप्त होने पर जीव और शिव में तनिक भी भेद नहीं मानता। कुंडलिनी शक्ति ही जीव और शिव वा जीवात्मा और परमात्मा की अद्वैतोपलब्धि कराती है। यह पूर्णत्व संभव करती है। इस पूर्णत्व का आगम कहीं अन्यत्र से नहीं होता, अपितु यह जीव के लिये स्वाभाविक और नैसर्गिक है। इस पूर्णत्व का शनैः शनैः साक्षात्कार होता है। साधक के यत्न तथा गरुकृपा से यह कुंडलिनी शक्ति जाग्रत होती है तथा सहस्रारस्थित शिव से योग प्राप्त करती है। यह कुंडलिनी शक्ति तंत्र के अनुसार जीव की आध्यात्मिक शक्ति है। इस साक्षात्कार के

[१] फिलासफी आव हिंदू साधना, पृ० १३४।

[२] वही, पृ० २७५।

विषय में तंत्र का मत है कि यह साक्षात्कारसिद्धि क्रिया और भावना, दोनों के योग से होती है। इस सिद्धि के लिये, जैसा ऊपर बताया गया है, तंत्र वैदिक कर्मकाण्ड, भक्तिपद्धति, पूजा, प्राणायाम योग आदि की सहायता लेता है।[१]

ऊपर कहा गया है कि पातंजल योग के अनुसार चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है। इसीसे विवेकख्याति और तत्पश्चात् कैवल्य की प्राप्ति होती है। किंतु तांत्रिक योग का लक्ष्य भिन्न है। उसकी परिभाषा भी भिन्न है। तांत्रिक ग्रंथ शारदातिलक के अनुसार जीवात्मा और परमात्मा का ऐक्य ही योग है। इससे सहज ही अनुमेय है कि तांत्रिक योग के अनुसार अनैक्य का ऐक्य में विकास ही योग है। यह अनैक्य या भिन्नता या द्वैत की वस्तुतः सत्ता नहीं है। इसकी प्रतीति केवल बंधन के कारण होती है। सर्वाधिक शक्तिमान् बंधन माया है। इस बंधन के विनाश का महत्तम साधन योग है। इस योगसंपादन में ज्ञान सर्वाधिक सहायक है तथा इसमें सबसे बड़ा बाधक या शत्रु अहंकार है। तत्वज्ञान के लिये योग सर्वाधिक आवश्यक है। कर्मफल के रूप में यह पशुशरीर या पिंड प्राप्त होता है। इस शरीर से कर्मों का संपादन होता है। कर्म जौर कर्मफल से पशु या जीव अनवरत रूप से जन्म-मृत्यु-चक्र में पड़ा रहता है। इससे भिन्न योगफल है। पूर्ण योगफल की प्राप्ति चिर, नित्य और अपरिवर्तनशील जीवन की प्राप्ति है।[२] कुछ दर्शनवेत्ता पातंजल योग के 'योग' को आत्मा और परमात्मा का योग नहीं मानते।[३] कुछ विद्वान् ऐसे हैं जिनका कथन है कि योग को चाहे कुलकुंडलिनी और परमशिव का ऐक्य कहा जाय या जीवात्मा-परमात्मा का संयोग कहा जाय या चित्त की एक ऐसी अवस्था कहा जाय या चन्द्र और सूर्य (इड़ा और पिंगला) का संयोग कहा जाय या प्राण और अपान का या नाद और विंदु का ऐक्य कहा जाय, सब एक ही तात्पर्य का बोध कराते हैं।[४]

इस प्रकार के विचार व्यक्त करने का एक आधार प्रतीत होता है। पातंजल योगसूत्र को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि पतंजलि ने अपने योग-

---

[१] वही पृ० २७५-२७७।

[२] इंट्रोडक्शन टु तंत्रशास्त्र, सर जान उडरफ, पृ० १२३–१२४; घेरंड संहिता, १.२, ४.७।

[३] ऐन इंट्रोडक्सन टु इंडियन फिलासफी—दत्त एण्ड चटर्जी, पृ० ३०३-३०४।

[४] ई० तं० शा०, पृ० १२६।

सूत्र में केवल विभिन्न प्रकार के योगों को एकत्रित कर योग से संबद्ध किये जाने योग्य विविध विचारों का कथन ही नहीं किया अपितु सांख्य तत्वविज्ञान से तदनुकूलतः उन्हें संबद्ध भी कर दिया। इस प्रकार उन विभिन्न योगों और तत्संबन्धी विचारों को वह रूप दिया। इस प्रकार उन विभिन्न योगों और तत्संबंधी विचारों को वह रूप दिया जिसमें वह आज हमें प्राप्त है।[1] ऊपर पातंजल योगसूत्रों का जो संक्षिप्त परिचय दिया गया है उससे भी यही बात स्पष्ट होती है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि तांत्रिक योग प्रकृति-मुक्त एवम् निरुद्धवृत्तिवाले चित्त की सामाधिक कैवल्य अवस्था को लक्ष्य के रूप में स्वीकार नहीं करता। किंतु जैसा आगे के विवेचन से स्पष्ट होगा, वह पातंजल योग के आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान आदि को स्पष्टतया स्वीकार करता है। तांत्रिक साधन में योग का सामान्य विवरण तो मिलता ही है तथा उसमें भी षट्चक्रभेद का जो विस्तृत और सविशेष विवरण मिलता ह, उससे यही ज्ञात होता है कि आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान आदि षट्चक्रसाधन के उपकारक साधन हैं तथा इस योग का चरम लक्ष्य अद्वैतावस्था की प्राप्ति है। यह अद्वैतावस्था, वस्तुतः, पातंजल योग से तांत्रिक योग को पृथक् करनेवाला एक तत्व है। यद्यपि पातंजल योग में ईश्वरप्रणि-धान की बात अवश्य कही गई है तथापि पातंजल योग में ईश्वर का जो स्वरूप उपस्थित किया गया है, उसमें वह शैवों और तंत्रों के "परमशिवस्थानीय" होते हुए भी उससे भिन्न है। परम शिव में शिव-शक्ति का अभिन्न भाव गृहीत है तथा निमित्तोपादानकारणता भी उसमें लक्षित की जाती है। यह पातंजल योग के ईश्वर में कथमपि नहीं है। इससे यह प्रतीत होता है कि पातंजल योग प्रकृतिमुक्त आत्मा की कैवल्यस्थिति (या मुक्तपुरुष की स्थिति) को मुक्ति के रूप में स्वीकार करता है जब कि तांत्रिक योगसाधन में पूर्णाद्वैत की स्थिति ही लक्ष्य है।

इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये तांत्रिक योग अनेक योगांगों का प्रयोग करता है। इन योगांगों को तथा इनकी व्याख्या को भी देखकर पातंजल और तांत्रिक योगों के परस्पर भेद का अनुमान किया जा सकता है। यद्यपि विभिन्न प्रकार के योग बताये जाते हैं तथापि हठयोग और समाधियोग नाम के दो सरल भेद स्वीकार किये जाते हैं। उडरफ ने राजयोग को समाधियोग का ही एक प्रकार बताया है। घेरंड संहिता के अनुसार हठयोग से ही राजयोग की सिद्धि

---

[1] ए हि० इं० फि०, वा० १, पृ० २२९।

होती है। यह आवश्यक नहीं है कि हठयोग की सभी क्रियाएँ राजयोग की सिद्धि में सहायक हों। विशिष्ट अवस्था, आवश्यकता और आचार के अनुसार ही इनका विचार किया जाता है। उडरफ ने योग का विचार करने के लिये घेरंड संहिता को आधार ग्रंथ के रूप में उद्धृत किया है। घेरंड ने इस साधन को घटस्थसाधन कहा है। यह घटस्थयोग है। इस योग के सात साधन बताये गये हैं—शोधन, दृढ़ता, स्थैर्य, धैर्य, लाघव, प्रत्यक्ष, निर्लिप्ति। ये क्रमशः षट्कर्म, आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान और समाधि से प्राप्त होते हैं। अन्त में समाधियोग के भी छ भेद बताये गये हैं—ध्यानयोगसमाधि, नादयोगसमाधि, रसानंदसमाधि, लयसिद्धिसमाधि, भक्तियोगसमाधि, राजयोग-समाधि। इनमें से लयसिद्धिसमाधि के साधन के लिये योनिमुद्रा का विशेष वर्णन मिलता है।[१] इन सप्त साधनों में से प्रथम चार तो शारीरिक और बाह्य साधन हैं। तथा अंतिम तीन आन्तरिक साधन हैं।

इन सप्त साधनों में प्रथम स्थान षट्कर्म का है जिसके अन्तर्गत धौति, बस्ति, नेति, लौलिकी, त्राटक, कपालभाति की गणना की गई है। इनसे शरीर का शोधन किया जाता है जिससे साधक योगांगों का अनुसरण करने में समर्थ होता है। इनमें से अनेक के कई भेद बताये गये हैं। दूसरा स्थान आसन का है। आसन केवल बैठना ही नहीं है। ये आसन शरीर के विभिन्न अंगों को ध्यान में रखकर किये जाते हैं। इनके करने से विभिन्न अंगों, यथा उदर, पृष्ठभाग, बाहु आदि को दृढ़ता प्राप्त होती है। कहा जाता है कि आसनों की संख्या जीवों की योनियों के समान ही ८४ लाख है जिसमें १६०० मुख्य हैं। इनमें ३२ प्रधान हैं। मुक्तपद्मासन, बद्धपद्मासन, मुंडासन, चितासन, शवासन आदि की गणना उनमें की जाती है। पतंजलि ने इन आसनों का नाम न देकर इतना संकेत किया है कि आसन के मुख्य लक्षण हैं–स्थिरता, सुखदायित्व। तीसरा स्थान मुद्रा का है, जिसका कोई भी संकेत पातंजल योग में नहीं है। तंत्रों में स्थिरता की प्राप्ति मुद्रा से मानी गई है। घेरंड संहिता के अनुसार मुख्य मुद्राएँ हैं–योनिमुद्रा, काकिनी मुद्रा, अश्विनी मुद्रा, शक्तिचालन मुद्रा आदि। हठयोग के ग्रंथों में शरीर की विभिन्न स्थितियों को मुद्रा कहा गया है।[२] शारदातिलक की टीका में राघवभट्ट ने मुद्रा की कई

---

[१] इं० तं० शा०, पृ० १२६, घे० सं०, १. २,९–११, ७. ५–६, १२; ३. ३२–३७।

[२] इं० तं० शा०, पृ० १२७–१२९।

व्याख्याएँ की हैं। वह मोद देती है, इसीलिए उसे मुद्रा कहते हैं। उनके दर्शन से देवता लोग हर्षित होते हैं। इसकी व्याख्या में कहा गया है कि अंगुष्ठादि पाँच अँगुलियाँ आकाश, वायु, अग्नि सलिल और भू रूप हैं। उनके संयोग से देवता प्रगुणीभावपूर्वक मोद को प्राप्त करते हैं। इनके स्वरूपभेद मात्र से उनसे प्राणियों पर कोप और हर्ष उत्पन्न होता है। विभिन्न मुद्राओं के विभिन्न सांप्रदायिक दृष्टियों से विभिन्न पक्ष हैं।[1] घेरंड संहिता में इन्हें स्वास्थ्य देनेवाली तथा मृत्यु और रोग से रक्षा करनेवाली कहा गया है। ये जल और वायु से रक्षा करती हैं। इनसे उत्पन्न कर्म और स्वास्थ्य चित्त को प्रभावित करते हैं। पूर्ण चित्त और शरीर से सिद्धि की प्राप्ति होती है। चौथा स्थान प्रत्याहार का है। पातंजल योग में प्रत्याहार को प्राणायाम के बाद पंचम स्थान दिया गया है। वहाँ प्रत्याहार का अर्थ है —इंद्रियों का विषयरहित चित्त से तदाकार हो जाना। इससे इंद्रियों की वश्यता प्राप्त होती है किंतु तांत्रिक योग में इससे धैर्य की प्राप्ति मानी गई है। कहा गया है कि इससे इंद्रियों का निरोध तथा चित्त की विघ्नों से मुक्ति होती है। वह पूर्णतया आत्माश्रित हो जाता है। इससे छ प्रकार के पापों का नाश बताया गया है। शारदातिलक के अनुसार इंद्रियों का उनके विषयों से बलात् आहरण प्रत्याहार है।[2]

इसके बाद प्राणायाम का विधान है जिससे लाघव की प्राप्ति होती है। यहाँ लाघव का अर्थ है "हल्कापन"। प्रत्येक प्राणी अजपा गायत्री का जप करता है। यह जप एक दिन (२४ घंटे) में २१६०० बार होता है। निःश्वास (साँस निकालना) में 'हं'—कार का तथा आश्वास (साँस लेना) में 'स'—कार का उच्चारण होता है। सामान्यतः श्वास का विस्तार १२ अंगुल होता है, किंतु गायन, भोजन, विचरण, शयन, मैथुन में इसका विस्तार क्रमशः १६, २०, २४, ३० तथा ३६ अंगुल हो जाता है। प्रबल साहसी कार्यों में इसका विस्तार और बढ़ जाता है और अधिकतम विस्तार ९६ अंगुल होता है। जब श्वास सामान्य विस्तार में रहेगा तो जीवन विस्तृत होगा और

---

[1] शारदातिलक, पृ० ५१०, श्लो० १०६—११० तथा इन श्लोकों की टीका। शारदातिलक की यह व्याख्या तांत्रिकों के तीन प्रकारों में से केवल एक की ओर संकेत करती है जिसका उपर्युक्त योग की मुद्रा से कोई संबंध नहीं है।

[2] ई० तं० शा०, पृ० १३०।

इसका विस्तार जितना ही अधिक होता जायेगा, जीवन भी, उतना ही संकुचित होता जायेगा। पूरक क्रिया श्वास लेना या आश्वास है और रेचक क्रिया निःश्वास है। कुंभक इन दोनों के बीच श्वास का धारण है। घेरंड संहिता के अनुसार कुंभक आठ प्रकार का है—सहित, सूर्यभेद, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा, केवली। प्राणायाम श्वास तथा अन्य वायुओं का नियंत्रण है। इससे शक्ति जाग्रत होती है, रोग मुक्ति होती है, विरक्ति होती है, आनंदोत्पत्ति होती है। इसकी भी कई कोटियाँ हैं। २० परिमाण का उत्तम, १६ परिमाण का मध्यम तथा १२ परिमाण का अधम प्राणायाम होता है। मध्यम प्राणायाम मेरुदण्ड में कंपन उत्पन्न करता है। अधम प्राणायाम प्रस्वेद उत्पन्न करता है, क्योंकि इनमें प्राणवायु अशुद्ध नाड़ियों में प्रवेश नहीं करता। इसलिये अशुद्ध नाड़ियों को शुद्ध करने के लिये प्राणायाम की आवश्यकता होती है। प्राणायाम से नाड़ी शुद्धि या तो समनु विधि से हो सकती है या निरमनु विधि से। समनु का अर्थ है बीजसहित तथा निरमनु का अर्थ है बीजरहित। दोनों प्रकार की पद्धतियों में से समनु का विस्तृत विचार उनके बीजों के साथ मिलता है। यहाँ बीजों की संख्या श्वास की तीनों स्थितियों में निश्चित कर दी गई है, साथ ही इड़ा आदि नाड़ियों का संबंध भी उन स्थितियों में निश्चित कर दिया गया है। इस प्राणायामसाधन के लिये विभिन्न आचार बताये गये हैं जिनके पालन से प्राणायाम सुकर और सफल होता है।[1]

कहा गया है कि योगी को कुशासन, मृगचर्म या हरित तृण पर बैठना चाहिए। या तो वह पूर्वाभिमुख रहे या उत्तराभिमुख। इस प्रकार की स्थिति में ही प्राणायाम करना चाहिए। नाड़ीशुद्धि के साथ ही उचित स्थान, काल और भोजन का भी विचार करना चाहिए। स्थान इतनी दूर नहीं होना चाहिए कि वह चिन्ता उत्पन्न करे। उसे उजाड़ जंगल या अति व्यस्त स्थान में भी स्थित नहीं होना चाहिए जिससे व्याकुलता उत्पन्न हो। भोजन शुद्ध निरामिष होना चाहिए। वह अति उष्ण और अति शीतल भी नहीं होना चाहिए। वह उत्तेजक खट्टा, नमकीन या कड़वा भी न हो। उपवास, दिन में केवल एक बार भोजन तथा इसी प्रकार के अन्य कार्य, निषिद्ध हैं। भोजन हल्का पौष्टिक हो। दूरगामी विचरण या इसी प्रकार के अन्य परिश्रमी कार्यों से भी बचना चाहिए। आरंभ योगी के लिए, निश्चय ही, मैथुन भी

[1] इं० तं० शा०, पृ० १३०–१३३।

निषिद्ध है। केवल आधा पेट भोजन करना चाहिए। इस योग का साधन वसन्त में या शरद् ऋतु में करना चाहिए। इस प्राणायाम के भी कई भेद कहे जाते हैं।[१]

पातंजल योग के अनुसार श्वास और प्रश्वास की गति का विच्छेद ही प्राणायाम है। यहाँ भी इसकी बाह्य, आभ्यंतर और स्तम्भ नाम की तीन वृत्तियाँ बताई गई हैं। इनसे भिन्न एक चतुर्थ प्रकार का प्राणायाम बतलाया गया है जिसमें बाह्य और आभ्यंतर विषयों (या श्वास प्रश्वास) का त्याग हो जाता है। इस प्राणायाम के अभ्यास से ज्ञान या प्रकाश के आवरणस्वरूप कर्म का नाश होता है। इससे चित्त में धारणा की योग्यता भी आ जाती है।[२] इस प्रकार तांत्रिक योग में प्राणायाम मंत्रात्मक है अर्थात् मंत्रसाधन तथा नाड़ीशोधन दोनों ही इससे सिद्ध होते हैं। पातंजल योग में ये क्रियाएँ नहीं हैं।

ध्यान से प्रत्यक्ष होता है। यह ध्यान तीन प्रकार का बताया गया है—स्थूल, ज्योति और सूक्ष्म।[3] प्रथम में देवता की मूर्ति का ग्रहण होता है। इसमें अमृतसागर, मणिद्वीप, कदम्बवन, कल्पवृक्ष, उसकी चार शाखाएँ, अनेक दिव्य भ्रमरों तथा कोयलों की सुमधुर ध्वनि, उसके दिव्य फल-पुष्प, दिव्य विशाल और सुंदर शैय्या पर स्थित इष्टदेवता की गणना की जाती है। गुरु ही उस देवता के वाहन, रूप, वस्त्र, देवोपाधि आदि का निर्देश करता है। ज्योतिर्ध्यान इसके बाद की विकास की अवस्था है। इसमें देवता के इस कल्पित रूप में अग्नि और तेज की प्रतिष्ठा की जाती है। ज्योतिर्ध्यान उसके तेजोमय रूप का ध्यान है। सूक्ष्म ध्यान में ब्रह्मस्थानीय परदेवता कुंडली का ध्यान किया जाता है। मूलाधार में मोमबत्ती की शुंडाकृति शिखा के रूप में जीवात्मा निवास करती है। इस ध्यान में साधक तेजोमय ब्रह्म के प्रणवात्मक रूप का ध्यान भ्रूमध्य में करता है। वस्तुतः दूसरे शब्दों में, इस सूक्ष्म ध्यान में शांभवी मुद्रा के साथ उत्थित कुंडलिनी का ध्यान किया जाता है। इस योग से आत्मसाक्षात्कार होता है।[४] इस योग का अंतिम तत्व है समाधि,

---

[१] वही, पृ० १३२; घे० सं०—५. २—३०। इस विधान के लिये पंचमोपदेश अध्येय है।

[२] पा० यो० सू०—२. ५१-५३, सैक्रेड बुक्स आव दि हिन्दूज़, वा० ४, पृ० १७२-१७६।

[3] घे० सं०-६.१, 'स्थूलं ज्योतिस्तथा सूक्ष्मं ध्यानस्य त्रिविधं विदुः।'

[४] इं० तं० शा०, पृ० १३३-१३४ तथा पादटिप्पणी।

जिसमें निर्लिप्तत्व की प्राप्ति होती है और तत्पश्चात् मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है। समाधि चित्त की सघन एकाग्रता है जिसमें सभी संकल्पों से मुक्ति हो जाती है। संसार से राग नहीं रहता। ममत्व से मुक्ति मिल जाती है। इस प्रकार के साधन के परिणाम को ही जीवात्मा-परमात्मा का अद्वयभाव कहते हैं।[१]

घेरंड संहिता के अनुसार यह समाधियोग छ प्रकार का बताया गया है। ध्यानयोगसमाधि शांभवी मुद्रा से प्राप्त होती है जिसमें बिन्दुब्रह्म पर ध्यान करने तथा आत्मसाक्षात्कार करने को कहा गया है। अन्ततः यह आत्म-साक्षात्कार महाकाश में स्थिर हो जाता है। द्वितीय समाधियोग नादयोग है जो खेचरी मुद्रा से प्राप्त होता है जिसमें जिह्वा का तलभाग काट दिया जाता है और उसे इतना बढ़ाया जाता है कि वह भ्रूमध्यावकाश तक पहुँच जाती है। तब वह उलटकर मुँह में लाई जाती है। तीसरा समाधियोग रसानंदयोग है जो कुंभक के द्वारा प्राप्त होता है। इसमें साधक एक नीरव स्थान में स्थित होकर अपने दोनों कर्णरन्ध्रों को बन्द कर लेता है तथा तब तक पूरक और कुंभक करता है जब तक वह नाद नहीं सुन लेता है। ये नाद अपनी सघनता के अनुसार विभिन्न प्रकार के होते हैं। इसके नित्य अभ्यास से अनाहत ध्वनि सुनाई पड़ती है तथा चित्त से ज्योति का दर्शन होता है। इस ज्योति का अंत में परविष्णु में लय होता है। चौथा समाधियोग लयसिद्धियोग है जिसका साधन योनिमुद्रा से होता है। साधक अपने को शक्ति तथा परमात्मा को पुरुष समझते हुए, अपने और शिव के संगम का अनुभव करता है तथा उसके साथ उस आनन्द का अनुभव करता है जो शृंगार रस है और अन्त में वह स्वयम् आनन्द हो जाता है या ब्रह्म हो जाता है। पाँचवाँ योग भक्तियोग है जिसमें इष्टदेवता का ध्यान भक्ति के साथ तब तक किया जाता है जब तक आनन्दाश्रुसंहित दिव्य आनन्दावस्था नहीं प्राप्त हो जाती। छठाँ राजयोग है जिसका साधन मनोमूर्च्छाकुंभक से किया जाता है। इसमें चित्त को सांसारिक विषयों से विरक्त करके भ्रूमध्य के आज्ञाचक्र में स्थिर कर दिया जाता है और कुंभक क्रिया की जाती है। चित्त और आत्मा के एकात्म से, जिससे ज्ञानी सर्वश्रेष्टा हो जाता है, राजयोगसमाधि की प्राप्ति होती है।[२]

---

[१] वही, पृ० १३४, षट्चक्रनिरूपण; श्लो० ५१ तथा उसकी विस्तृत टीका, पृ० ६५-६८।

[२] इं० तं० शा०, पृ० १३४-१३५; घेरंड संहिता, ७. ५-६; ७.७-२३; ३.२३-२५; ५.७७-८२।

इसके अतिरिक्त सर्वाधिक विस्तार से वर्णित होनेवाला योगसाधन षट्चक्र-भेद है। इस साधन के सूक्ष्म विवरण केवल गुरु से ही प्राप्य हैं किन्तु इतना कहा जा सकता है कि इस योगसाधन से व्यक्ति-जीवन या व्यष्टि-जीवन, विश्व-जीवन या समष्टि-जीवन के स्तर तक उत्थित हो सकता है। यह विश्व-जीवन या चित् तत्व केवल सहस्रार में ही इस प्रकार साक्षात्कृत हो सकता है। जीवात्मा अपने सूक्ष्म शरीर में पंचप्राण, चित्त के तीन रूप—मनस्, अहंकार और बुद्धि, पंचकर्मेन्द्रिय का आश्रय है। वह कुलकुंडलिनी से एकात्म प्राप्त करता है। मूलाधार में अपानवायु के एक प्रकार का, जिसे कंदर्प वायु या कामवायु कहते हैं, निवास है। इसे बाँई दिशा की ओर प्रेरित किया जाता है तथा इस प्रकार उस अग्नि को उद्दीप्त किया जाता है जो कुंडलिनी के चारों ओर व्याप्त रहती है। बीज 'हूं' और इस प्रकार उद्दीप्त की हुई अग्नि के ताप से सुषुप्त कुंडलिनी जाग्रत की जाती है। वह कुंडलिनी, जो स्वयम्भू-लिंग को चारों ओर से सार्द्धत्रितय वलयों से आवृत कर लिपटी रहती है तथा ब्रह्मद्वार के छिद्र को बन्द किये रहती है, इस प्रकार जाग्रत किये जाने पर, उस द्वार में प्रवेश करती है तथा जीवात्मा से समन्वित होकर ऊपर की ओर उत्थित होती है।[1]

इस प्रकार ऊर्ध्वमुख गतिशीलता के होने पर ब्रह्मा, सावित्री, डाकिनी शक्ति, देवगण बीज और वृत्ति—ये सभी कुंडलिनी के शरीर में लीन हो जाते हैं। महीमंडल या पृथिवी बीज 'लं' में परिवर्तित होकर उसके शरीर में लीन हो जाती है। जब कुंडलिनी शक्ति मूलाधार से उत्थित होती है तो वह पद्म जो उसके जागरण के समय विकसित हो गया था तथा ऊर्ध्वमुख हो गया था, पुनः मुकुलित और अधोमुख हो जाता है। जैसे ही कुंडलिनी स्वाधिष्ठान चक्र को पहुँचती है, वह स्वाधिष्ठानस्थित पद्म विकसित हो जाता है तथा उसके दल भी ऊर्ध्वमुख हो जाते हैं। कुंडलिनी का प्रवेश होने पर महाविष्णु, महालक्ष्मी, सरस्वती, राकिनी शक्ति, देव, मातृकाएँ, वृत्ति, वैकुंठ धाम, गोलोक और उनमें निवास करने वाले देव-देवीगण, सभी कुंडलिनी के शरीर में लीन हो जाते हैं। पृथ्वी का बीज 'लं' जल में तथा जल बीज 'वं' में परिवर्तित हो जाने पर कुंडलिनी के ही शरीर में स्थित रहता है। जब देवी मणिपूरचक्र को पहुँचती है, तब जो कुछ भी उस चक्र में रहता है, वह सब

---

[1] इं० तं० शा०, पृ० १३५-१३६। इसका विस्तृत विवरण पूर्णानंद-स्वामी कृत षट्चक्रनिरूपण में मिलता है।

उस कुंडलिनी शरीर में लीन हो जाता है। वरुण का बीज 'वं' अग्नि में मिश्रित हो जाता है और देवी शरीर में बीज 'रं' के रूप में रहता है। इस मणिपूरचक्र को ब्रह्मग्रंथि कहते हैं। इस चक्र का भेदन होने से बहुत पीड़ा हो सकती है, शारीरिक अव्यवस्था हो सकती है, कोई व्याधि उत्पन्न हो सकती है। इसीलिये एक अनुभवी गुरु की आवश्यकता होती है और इसीलिये अन्य प्रकार के उचित और अनुकूल योग भी बताये गये हैं, क्योंकि इस प्रकार की अवस्थाओं में क्रियाशक्ति सीधे उच्चतर केंद्रों में उत्थित होती है। उच्चतर केन्द्रों या चक्रों तक पहुँचने के लिये सदैव निम्नतर केन्द्रों या चक्रों का भेदन होना आवश्यक नहीं है। इसके बाद कुंडलिनी अनाहतचक्र में प्रवेश करती है, जिसमें वहाँ जो कुछ भी रहता है, सब देवी शक्ति के शरीर में लीन हो जाता है। तेजस् का बीज 'रं' वायु में लीन हो जाता है तथा वायु का बीज 'यां' में परिवर्तित होकर कुंडलिनी के शरीर में लीन हो जाता है। इस चक्र को विष्णुग्रंथि कहते हैं। कुंडलिनी भारती या सरस्वती के निवासस्थान विशुद्धचक्र को पहुँचती है। उसमें प्रवेश करने पर अर्द्धनारीश्वर शिव, शाकिनी, षोडश स्वर, मंत्र आदि कुंडलिनी के शरीर में लीन हो जाते हैं। वायु का बीज 'यां' आकाश में लीन हो जाता है तथा वह स्वयं भी बीज 'हं' में परिवर्तित होकर कुंडली देवी के शरीर में लीन हो जाता है। ललनाचक्र का भेदन कर कुंडलिनी आज्ञाचक्र को पहुँचती है जहाँ परमशिव, सिद्धकाली, देव, गुण तथा उस चक्र में निवास करने वाले सब उसके शरीर में लीन हो जाते हैं। आकाश का बीज 'हं' मनसचक्र में लीन हो जाता है तथा मन स्वयं परादेवता के शरीर में लीन हो जाता है। आज्ञाचक्र को रुद्रग्रंथि कहते हैं। इस चक्र के भेद के बाद कुंडलिनी अपनी ही गति से परमशिव से एकात्मलाभ करती है। जैसे ही यह द्विदल पद्म से ऊपर की ओर उत्थित होती है, निरालंबपुरी, प्रणव, नाद आदि सभी उसके शरीर में लीन हो जाते हैं।[1]

इस प्रकार कुंडलिनी अपने ऊर्ध्वमुख उत्थान में पंचभूततत्वों से आरम्भ कर अन्त तक २४ तत्वों को अन्तर्लीन कर लेती है और तब परमतत्व से एकात्म प्राप्त कर अद्वयावस्था को प्राप्त कर लेती है। यह सात्विक पंचतत्वों का मैथुन है। इस प्रकार के अद्वय से जो अमृतस्राव होता है वह संपूर्ण क्षुद्र ब्रह्मांड या मानव शरीर को आपूर कर देता है। तभी साधक इस संसार

---

[1] वही, पृ० १३६–१३७।

का विस्मरण कर अनिर्वचनीय आनंद में लीन हो जाता है। यही साधक की सर्व्वोच्च अवस्था है।

तदनन्तर साधक वायु बीज 'यां' का चिन्तन करते हुए बायें नासिकारंध्र की वायु को इड़ा में प्रेरित करते हुए, उस बीज का १६ बार जप करता है। इसी प्रकार पूरक, कुंभक और रेचक आदि के साथ ही विभिन्न बीजों का ध्यान कर इड़ा-पिंगला आदि के साथ प्राणायाम का विधान करते हुए बताया गया है कि इससे अंततः कायनिर्माण, कायदृढ़ता आदि की प्राप्ति होती है। अंत में 'सोऽहं' मंत्र के जप के साथ साधक जीवात्मा को हृदय में स्थापित करता है। इस प्रकार कुंडलिनी, जो परमशिव के साथ अपने अद्वय का उपभोग कर चुकी है, अपने परावर्तनमार्ग की ओर उन्मुख होती है। यह वही मार्ग है जिससे उत्थित होकर वह अद्वय को प्राप्त कर सकी थी। इस परावर्तन-क्रिया में वह चक्रों से अपने में लीन किये हुए तत्वों को पुनः उन्हीं में स्थित कर देती है। इस प्रकार वह पुनः मूलाधार में पहुँचती है और ऐसी अवस्था में वे सभी तत्व तत्तत् चक्रों में पूर्ववत् स्थित हो जाते हैं, जैसे वे कुंडलिनी जागरण के पूर्व थे।

इस साधन में गुरु के उपदेश केवल आज्ञाचक्र तक जाने में सहायक होते हैं। इस चक्र के भेदन के बाद साधक ब्रह्मस्थान की प्राप्ति, बिना किसी सहायता के ही कर लेता है। शिव के सप्तम मुख के नीचे गुरु और शिष्य के संबंध निरुद्ध हो जाते हैं। सप्तम आम्नाय के उपदेश अप्रकाशित रहते हैं।[१] ऊपर हम कह चुके हैं कि लयसिद्धि-समाधि के अंतर्गत षट्चक्रभेद की गणना होती है। इस प्रकार षट्चक्रभेद लययोग है।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट होता है कि पातंजल योग और तांत्रिक योग का परस्पर घनिष्ठ संबंध है। इस तांत्रिक योग के अन्तर्गत ही लययोग, ध्यानयोग, हठयोग, मंत्रयोग आदि का विनियोग हो गया है। सामान्यतया योग के जो प्रकार बताये जाते हैं, वे हैं—मंत्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग। ये विभिन्न प्रकार की साधनाएँ हैं जो चित्त की विभिन्न प्रकार की वृत्तियों को नियंत्रित करती हैं तथा विभिन्न मार्गों से ब्रह्मसाक्षात्कार कराती हैं। इनमें से सभी योग अष्टांगयोग को स्वीकार करते हैं। सबका एक ही लक्ष्य है—

---

[१] वही, पृ० १३८-१३९; दि सर्पेंट पावर—आर्थर एवेलेन, पृ० २४१। शारदातिलक—पृ० ५४८, २५ वाँ पटल, पृ० ४४९, ४५०-४५१।

ब्रह्मसाक्षात्कार का अनुभव। वे केवल साधन में तथा परिणाम की मात्रा में भेद करते हैं। मंत्रयोग की समाधि महाभाव है, हठयोग की समाधि महाबोध है, लययोग की समाधि महालय है तथा राजयोग और ज्ञानयोग की समाधि कैवल्यमुक्ति है।[1]

इन योगों के आधारस्वरूप कुछ बातें अति महत्वपूर्ण हैं। योग और ज्ञान का घनिष्ठ संबंध है, ऐसा कहा जा चुका है। योग, ज्ञान और मुक्ति का इन विभिन्न प्रकार के योगों के साथ क्या संबंध है, इसका भी निर्देश किया जा चुका है। इन योगों में विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ साधक को सहायता पहुँचाती हैं। सामान्यतया, साधनक्षेत्र में, दो प्रकार का ज्ञान स्वीकार किया जाता है—स्वरूपज्ञान और क्रियाज्ञान। स्वरूपज्ञान सद्यःमुक्ति प्रदान करता है। योग तो शारीरिक और मानसिक साधन है। इसका उपयोग मानवशक्तितत्व के उद्घाटन के लिये किया जाता है। यह मूल शक्तितत्व ही चैतन्य परमतत्व है। अद्वैत वेदांत की दृष्टि से शुद्ध चित् तत्व सभी जीवों का मूल तत्व है। यह सदैव मुक्त रहता है, किंतु वह बंधन में है, ऐसा प्रतीत होता है। इस प्रकार मुक्ति या मोक्ष सभी जीवों में स्वभावतया वर्तमान रहता है। जीव का परमात्मा से सदैव अभिन्नत्व रहता है किंतु इस अभिन्नत्व का अनुभव माया के आवरण के कारण नहीं होता जिससे जीवात्माएँ भिन्न-भिन्न प्रतीत होती हैं। परमात्मा के ऐक्य का अज्ञान अविद्या के कारण है। इस अभिन्नत्व का प्रत्यक्ष या साक्षात्कार विद्या या ज्ञान से होता है। यह प्रत्यक्ष करानेवाला ज्ञान स्वरूपज्ञान है। शुद्ध चित् तत्व की प्राप्ति योग का लक्ष्य है। यह ज्ञान स्वयं शुद्ध चित् है। दूसरे प्रकार का ज्ञान क्रियाज्ञान है। इन क्रियाओं का ज्ञान इससे अभिप्रेत है जिनकी सहायता से स्वरूपज्ञान होता है। द्वितीय अर्थ में जब ज्ञान शब्द का प्रयोग होता है तब उसका अर्थ एक प्रकार की मानसी क्रिया होती है अर्थात् उससे ब्रह्म और अब्रह्म का विवेक होता है। यह ज्ञान, क्रिया और रूप में, ब्रह्म को सच्चे अर्थ में समझना है तथा तब तक उस समझे हुए पर ध्यान स्थिर करना है, जब तक ब्रह्म चित्त को पूरी तरह से अधिकृत न कर ले, जिससे अन्य सबका चित्त से अनवस्थान हो जाय। तब चित्त शुद्ध चित्त के रूप में ब्रह्म में लीन हो जाता है। यही स्वरूपज्ञान है। यह ज्ञान सद्यःमुक्ति प्रदान करानेवाला है। योग की क्रियाओं का जो ज्ञान है, वह क्रममुक्ति के अंतर्गत है। सिद्ध ज्ञानयोगी या जीवन्मुक्त जो कुछ इस जीवन

---

[1] दि स० पा०, पृ० १८५-१८६।

में प्राप्त कर लेता है, वही बाद में ब्रह्मसायुज्य में पूर्ण होता है। किन्तु मनुष्य केवल बुद्धिमान् ही नहीं है, उसमें भावना और भक्ति भी है। उसे शरीर भी प्राप्त है। अतः साधना की पूर्णता के लिये क्रियाओं का भी समन्वय किया जाता है, जैसे उपासना, हठयोग आदि की सूक्ष्म एवं स्थूल क्रियाएँ।[१]

इन योगसाधनों में जो क्रियाएँ साधक द्वारा संपादित की जाती हैं वे भी दो प्रकार की हैं। ऊपर के योग के विवेचन से स्पष्ट है कि योग वह क्रिया है जिससे मानसिक प्रतिभा, चित्तवृत्ति और प्राण को प्रथमतः नियमित तथा तदुपरान्त स्थिर किया जाता है।[२] चित्त, वृत्ति और प्राण के स्थिर कर दिये जाने पर ही चित् तत्व या परमात्मा का साक्षात्कार होता है। इस प्रकार योग में भावात्मक और अभावात्मक (पाजिटिव और निगेटिव) दो प्रकार की क्रियाएँ सम्मिलित हैं। अभावात्मक क्रिया भावात्मक क्रिया की सहायिका है। योग भावात्मक चित् या चैतन्य अवस्था की ओर प्रेरित वह क्रिया है जिसके साधनमार्ग में अचित् तत्वों के दूरीकरण की क्रिया भी सम्मिलित है। इन शक्तियों को क्रमशः निबोधिका और निरोधिका शक्तियाँ कह सकते हैं। प्रथम शक्ति ज्ञान देनेवाली है तथा दूसरी इंद्रियों के माध्यम से विषयानुकूल संसार के प्रति क्रियाशील चित्त को निरुद्ध करती है। इस प्रकार के संस्कारों के निरोध से ही चित् तत्व का अभ्युदय होता है। इस चिदवस्था का अभ्युदय ही समाधि की अवस्था है जिसमें जीवात्मा-परमात्मा की अभिन्नता का साक्षात्कार होता है। यह अनुभूति तभी होती है जब प्राण और मन का लय हो जाता है तथा सभी संकल्पों और संस्कारों का निरोध हो जाता है। तभी समरसत्व की उपलब्धि होती है। यही अवस्था आत्मा की सहजावस्था है। समाधि की अवस्था साधक की उस अवस्था के समान है, जिसमें उसका मन नमक के ढेले के समान आत्मा में गल कर एक हो जाता है। यह वह ध्यानावस्था है जिसमें न 'यहाँ' है, न 'वहाँ' है, न 'तू' है, न 'मैं' है। इसमें किसी विशाल समुद्र की प्रभा और शांति है।[3] हठयोगप्रदीपिका में इस अवस्था के पर्यायों की एक लंबी सूची दी हुई है।[४]

---

[१] वही, पृ० १८१-१८२।

[२] वही, पृ० १८३, कुब्जिका तंत्र—९.४०।

[3] दि० स० पा०, पृ० १८३-१८४, हठयोगप्रदीपिका—४.५-७।

[४] ह० प्र०, ४.३-४, 'राजयोग : समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी। अमरत्वं लयस्तत्वं······चैत्येकवाचकाः।'

इन योगों के साध्य भिन्न-भिन्न हैं तथापि इन सबका परस्पर घनिष्ठ संबंध है। यह सिद्धान्त प्रायः सभी प्रकार के योगों में स्वीकार किया जाता है कि मन, प्राण और वीर्य—तीन में से किसी एक को नियंत्रित और अधिकृत कर लेने से शेष भी अधिकृत हो जाते हैं। इसलिये मन पर अधिकार करना अन्य दो पर अधिकार करना कहा जाता है। इसी प्रकार प्राण पर अधिकार करने से मनस् और वीर्य स्वतः नियंत्रित और साधन में सहायक हो जाते हैं। पुनश्च, यदि वीर्य नियंत्रित हो जाय और वह पदार्थ, जो कामवासना के प्रभाव से स्थूल शुक्र में परिवर्तित हो जाता है, ऊर्ध्वमुख कर दिया जाय तो मनस् और प्राण पर नियंत्रण प्राप्त किया जा सकता है। प्राणायाम से शुक्र सूख जाता है। शुक्र-शक्ति, प्रथमतः ऊर्ध्वगति होने पर, मिलन के पश्चात् शिवशक्ति के अमृत के रूप में अवतरित होती है। प्राण संबंधी इस अभ्यास को प्राणायाम नाम से अभिहित करते हैं। यह प्रायः सभी प्रकार के योगों का एक अंग स्वीकार किया जाता है। किंतु मंत्र, लय और राजयोग में जहाँ यह एक सहायक के रूप में प्रयुक्त किया जाता है, वहीं हठयोगी इसे प्रधानतया मोक्षोत्पादक मानता है। यह मोक्ष तो प्रायः सभी योगों का लक्ष्य है किंतु हठमार्ग यह मानता है कि चित्त-वृत्तियाँ सदैव प्राण का अनुसरण करती हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए वह यह मानता है कि 'ह' और 'ठ' के सुषुम्ना में योग से तथा दोनों संयुक्त प्राणों को ब्रह्मरन्ध्र तक ले जाने से समाधि की प्राप्ति होती है।[१]

यहाँ जिन योगों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है, उनमें से जिन योगों का हमारे विषय से अति घनिष्ठ सम्बन्ध है, तथा जिन्हें तांत्रिक साधन में भी अति महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हैं, वे हैं—हठयोग और षट्चक्रभेद। इनका हम विशेष विस्तार से विवेचन करना उचित समझते हैं, क्योंकि नाथयोग और संत-योग, दोनों में ही, इन्हें किसी न किसी रूप में अवश्य स्वीकार किया गया है। षट्चक्रों का परिचय हम पहले ही दे चुके हैं। इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध क्या है, भेद क्या है तथा इसी प्रकार मंत्रयोग और राजयोग से भी इनका क्या सम्बन्ध है, इसकी ओर भी संकेत किया गया है; क्योंकि प्रथमतः तो इन दोनों का हठ और लय से भी सम्बन्ध है तथा साथ ही संतों की भक्तिसाधना से इनका विलक्षण सामंजस्य मिलता है। वैष्णव योग के विवरण में इसकी ओर संकेत किया जा चुका है।

---

१ दि स० पा०, पृ० १९९-२००।

हठयोग के साधन में शरीरसाधन पर अधिक जोर दिया जाता है। इस शरीरप्रधान साधन में प्राणायाम भी एक है। हठयोग क्रियाज्ञान है। वह कुंडलिनी की सहायता से ज्ञान प्राप्त करता है। कुंडलिनी का शिव से जो मिलन होता है, उससे स्वरूपज्ञान की प्राप्ति होती है। इससे स्पष्ट है कि हठयोग कुंडलिनीयोग का उपकारक साधन है।[१] हठयोग स्थूल शरीरप्रधान साधन है। स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर से संबद्ध होता है क्योंकि वह सूक्ष्म शरीर का बाह्य आवरण होता है। यह स्थूल शरीर का संयम सूक्ष्म शरीर तथा उसके भाव, विचार और वासना को प्रभावित करता है। इस स्थूल शरीर का निर्माण सूक्ष्म शरीर की प्रकृति के अनुकूल ही होता है। दोनों ही एकात्म हैं तथा परस्परावलम्बी हैं। अर्थात् स्थूल शरीर का नियंत्रण सूक्ष्म शरीर को प्रभावित करता है। इस योग की शारीरिक क्रियाएँ विशिष्ट स्वभाववाले साधकों के लिये विहित हैं जिससे उनके स्थूल शरीर के प्रथमतः नियंत्रित होने पर सूक्ष्म शरीर अपनी सभी चित्तवृत्तियों के साथ ही नियंत्रित हो जाता है। ये शुद्ध स्थूल शारीरिक क्रियाएँ, दूसरी क्रियाओं के लिये सहायक हैं क्योंकि कुलार्णवतंत्र का कथन है कि न कमलासन पर और न नासिका पर ध्यान लगाना योग है, अपितु, वस्तुतः आत्मा और परमात्मा का मिलन ही योग है।[२] इस हठयोग में योग्यता का निर्णय शरीर की दृष्टि से किया जाता है तथा इसमें नियमों का विधान भी शरीर की रक्षा, वृद्धि तथा उसकी रोगमुक्ति के लिये किया जाता है। इस योग में ज्योति का ध्यान किया जाता है, जिससे महाबोध समाधि की प्राप्ति होती है। इस समाधि की प्राप्ति का साधन प्राण और अन्य वायुओं का नियमन है। वायुनियमन से चित्तनियमन होता है क्योंकि चित्त और उसकी वृत्तियाँ वायु का अनुसरण करती हैं।[३]

'हठ' शब्द 'ह' और 'ठ' वर्णों के योग से बना है जिसका अर्थ है सूर्य और चन्द्र, अर्थात् प्राणवायु और अपानवायु। आर्थर एवेलेन ने षट्चक्रनिरूपण के आधार पर बतलाया है कि हृदयस्थ प्राण मूलाधारस्थ अपान को आकर्षित करता है तथा अपान प्राण को आकर्षित करता है। ये दोनों अपनी विषम गति के कारण एक दूसरे को शरीर छोड़ने से रोकते हैं किंतु जब इनकी समगति होती

---

[१] दि स० पा०, पृ० १८६।

[२] वही, पृ० १९७।

[३] वही, पृ० १९८।

है तब वे दोनों शरीर को छोड़ देते हैं। इन दोनों का सुषुम्ना में योग तथा इस योग की स्थिति तक ले जानेवाली क्रिया प्राणायाम कही जाती है। इस प्रकार हठयोग या हठविद्या प्राणशक्तिविज्ञान है। यहाँ 'प्राण' का अर्थ विभिन्न प्रकार की उन वायुओं से है जिनमें प्राण विभाजित होता है। यह प्राण मानव शरीर या पिंड में विश्वप्राण का एक अंश है। इस विश्वप्राण को महाप्राण भी कहते हैं। इसलिये सर्वप्रथम प्रयत्न इस पिंडप्राण या व्यष्टिप्राण को ब्रह्माण्ड-प्राण या समष्टिप्राण के साथ समरसत्व प्रदान करना है। इससे शक्ति और स्वास्थ्य दोनों की उपलब्धि होती है। इस समरस प्राण के नियमन से चित्त नियमित और स्थिर होता है। इस प्राण और चित्त की समरसता का परिणाम है ध्यान या एकाग्रता।[१] बताया जा चुका है कि सिद्धि की प्राप्ति के लिये साध्य तीन हैं—मन, प्राण और शुक्र। अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव की दृष्टि से प्राण अधिभूत है।[२] इस दृष्टि से प्राणायाम या हठयोग आधिभौतिक साधना है। इस स्थूल शारीरिक अभ्यास के अंतर्गत बड़े विस्तार से निवासस्थान, जीवनचर्या, जैसे—भोजन, पान, मैथुन आदि का विचार मिलता है। घेरंड संहिता में प्राणायाम का तो विस्तार से विवेचन मिलता है साथ ही उससे संबद्ध आचारों का और शारीरिक संयम का जो विस्तार से वर्णन मिलता है वह नाथयोग और संतयोग दोनों दृष्टियों से अति महत्वपूर्ण है।[3] इस प्राणायाम के साथ जो अन्य अभ्यास एवं साधन बताये गये हैं उनमें नाड़ीशुद्धि प्रधान है।[४] इस नाड़ीशुद्धि का संक्षिप्त परिचय हम पहले ही दे चुके हैं। इस प्रकार इस परिचय से स्पष्ट है कि प्राणायाम श्वास के ऊपर अधिकार प्राप्त करने की प्रारंभिक पद्धति है। यह वह निम्नद्वार है जिसमें प्रवेश करने की आवश्यकता प्रवीण या सिद्ध व्यक्ति को नहीं होती।[५]

हठयोग से संबद्ध किन्तु भिन्न प्रकार का योग लययोग है। इसे कुंडलिनी-योग, षट्चक्रभेद, भूतशुद्धि आदि नामों से भी अभिहित करते हैं।[६] कुंडलिनी-योग शब्द से स्पष्टतः संकेत कुंडलिनी शक्ति की ओर होता है। यह कुंडलिनी-

---

१ वही, पृ० १९८–१९९।

२ वही, पृ० १९९।

3 द्रष्टव्य, घेरंड संहिता, पंचम उपदेश, श्लोक १-३१।

४ घे० सं०, ५·३२-३७।

५ दि स० पा०, पृ० २२३-२२४।

६ षट्चक्रनिरूपण—फोरवर्ड, पृ० ४-५, दि स० पा०, पृ० १।

शक्ति जीव को शरीर में निसर्गतः प्राप्त होती है। यह जीव की सामान्य अवस्था में, मूलाधार में सुषुप्त एवं कुंडलित सर्प के रूप में रहती है। इसके जागरण से योग की प्राप्ति होती है। इसीलिये इसे कुंडलिनीयोग कहते हैं। जाग्रत किये जाने पर यह सूक्ष्म शरीर के छ चक्रों का भेदन करती है, इसीलिये इसे षट्चक्रभेद कहते हैं। इस क्रिया से आश्चर्यजनक शक्ति और जीवन का संपूर्ण मनोशारीरिक काया में उदय होता है। इस क्रिया से शरीर के तत्वों का शोधन भी होता है। इसलिये इसे कभी-कभी भूतशुद्धि भी कहते हैं।[1] इस साधन में कुंडलिनी की ऊर्ध्वगति होने पर, अंततः सभी भूततत्वों, अन्य पिण्डगत सृष्टितत्वों का कुंडलिनी के साथ सहस्रारस्थित परमशिव चैतन्य में लय हो जाता है। इसीलिये इसे लययोग कहते हैं।[2] इसकी विस्तृत और सप्रमाण व्याख्या आगे की गई है। षट्चक्रभेद का संक्षिप्त परिचय ऊपर दिया जा चुका है। यहाँ केवल सिद्धांतगत विचारों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

ऊपर हम यह कह चुके हैं कि तंत्र के अनुसार योग आत्मा और परमात्मा का ऐक्य है। योग वह क्रिया भी है जिससे व्यष्टिचैतन्य या पिंडचैतन्य, परमात्मा या समष्टिचैतन्य या ब्रह्माण्डचैतन्य से अपने सच्चिदानंदमय रूप में एकात्म प्राप्त करता है। ऊपर हम यह भी कह चुके हैं कि तांत्रिक साधन अद्वैतवाद का ही क्रियारूप है। वेद के अनुसार 'यह सब ब्रह्म' है तथा परमात्मा स्वयं अमृत, अनंत तथा आनन्दस्वरूप है। जीवात्मा यद्यपि उसी का अंश है, तथापि वह अज्ञान, अपूर्णता और दुःख से ग्रस्त प्रतीत होता है। इसकी व्याख्या में तांत्रिक ग्रन्थों में कहा गया है कि ब्रह्मगत माया की आवरण और विक्षेप शक्तियों से यह द्वैतात्मक प्रपंच सत्तावान् होता है जिससे आत्मा का स्वरूप कंचुकित होता जाता है तथा अपूर्णता की भावना उसमें जाग्रत होती है। इस प्रकार पूर्ण अपूर्ण प्रतीत होता है। यह सब माया शक्ति से होता है। कुंडलिनीयोग की सहायता से व्यक्ति आत्मा को कंचुकित करनेवाली शक्ति माया के भेदन में समर्थ होता है। इस योग का मुख्य सिद्धान्त है कि जीवात्मा की प्रातिभासिक अपूर्णता का साक्षात्कार केवल जीवात्मा और परमात्मा के अभिन्नत्व के साक्षात्कार से संभव है। जब जीवात्मा में अपनी असमर्थता का ज्ञान उदित होता है, तथा आनन्द के लिये

[1] ष० नि०, फोरवर्ड, पृ० ५; दि स० पा०, पृ० १।
[2] दि स० पा०, पृ० ४८।

प्रवृत्ति और इच्छा की उत्पत्ति होती है तब यह लक्षित होता है कि सृष्टिक्रिया में आबद्ध जीवात्मा स्वयं अपने में अस्थायी और प्रातिभासिक अपूर्णता का प्रत्यक्ष कर रहा है। यह प्रत्यक्ष या अनुभव ही उसे सच्चिदानंदरूप के साक्षात्कार के लिये प्रयत्नशील करता है। इस प्रकार के बंधन से मुक्त करना सभी योगों का लक्ष्य है। कुंडलिनी, जो मूलाधार में कुंडलित अवस्था में रहती है तथा अपने मुख से सुषुम्ना नाड़ी के ब्रह्मद्वार नाम के प्रवेशद्वार को बंद किये रहती है, स्वयं शब्दब्रह्म ही है। सभी मंत्र उसके प्रकाश हैं तथा वर्ण मातृकाएँ हैं। यह कुंडलिनी ही महाकुंडलिनी के रूप में जीव की सृष्टि करती है, शरीर को बंधन में डालती है और पुनः यही मुक्ति प्रदान करनेवाली क्रिया का तथा तत्वज्ञान का प्रकाश कर बंधन का नाश करती है। मंत्र ब्रह्म कुंडलिनी के ही प्रकाश हैं तथा साथ ही कुंडलिनी जागरण के प्रभावकारी साधन हैं।[1]

यह कुंडलिनी शुद्ध चैतन्य है तथा सहस्रारस्थ होने पर यह पशु-भाव की हानि करने वाली है। यही परा संवित् के ज्ञान से दिव्य स्थिति का साक्षात्कार करानेवाली है। इस अवस्था में यह कुण्डलिनी सामरस्यावस्था में परम शिव से एकात्म की उपलब्धि कर महाकुंडलिनी पद को प्राप्त करती है। जब उचित रीति से इस योग का साधन किया जाता है, तब साधक यह अनुभव करता है कि उसका जीवन तथा मानसिक, शारीरिक आदि सभी प्रकार की क्रियाएँ जगज्जननी या विश्वमाता की दिव्य क्रियाओं के ही अंश हैं। उस विश्वमाता का ही प्रकाशन विशिष्ट व्यष्टि मानव शरीर से हो रहा है। यह शरीर भी अदिव्य नहीं होता। संसार और उसकी भोग्य वस्तुएँ घृणास्पद नहीं हैं, क्योंकि सभी वस्तुएँ उसी चित् शक्ति से उत्पन्न हैं। सभी उसी एक दिव्य विश्वमाता के प्रकाश हैं। जब साधक इस अद्वैतभाववृत्ति को प्राप्त कर लेता है तथा सभी प्रकार के द्वैतभाव का त्याग कर देता है, शुद्ध-अशुद्ध के विचार का लोप हो जाता है, तब कहा जाता है कि उसने वीर साधक की स्थिति को प्राप्त कर लिया है। पशुभाव या द्वैतभाव पर विजय प्राप्त करने के कारण ही उसे वीर कहते हैं।[2]

कहा गया है कि पशुभाव की हानि करनेवाली तथा वीरभाव की उपलब्धि करानेवाली कुंडलिनी से संबन्धित इस साधना को कुंडलिनीयोग कहते हैं।

[1] ष० नि०, फोरवर्ड, पृ० ६-७।

[2] वही, पृ० ७-८।

यमनियमादि के साधनों में सिद्ध होने पर तथा उनसे प्राप्त होनेवाले गुणों को प्राप्त कर लेने पर साधक इस साधन को करने का अधिकारी होता है। प्राणायामविधि तथा विशिष्ट मंत्रोच्चार की सहायता से जाग्रत कुंडलिनी ब्रह्म नाड़ी से होती हुई, क्रम से लिंगत्रय का भेदन करती हुई, अंत में सहस्रार से स्रवित होनेवाले कुलामृत का पान करती है। बाद में आनन्दमग्न होकर मूलाधार चक्रस्थित कुलस्थान को परावृत होती है। इस प्रकार इस मार्ग में वह लिंगत्रय (मूलाधारस्थित स्वयंभूलिंग, अनाहतस्थित बाणलिंग, आज्ञास्थित इतर लिंग) का भेदन कर वह क्रमशः स्थूल रूप से सूक्ष्म रूप की ओर गतिशील होती है। शब्द के चार (परा, पश्यंती, मध्यमा, वैखरी) रूपों में से वह स्वयंभूलिंग में वैखरी अवस्था में, बाण लिंग में मध्यमा अवस्था में तथा भ्रूमध्यस्थित आज्ञाचक्रान्तर्गत इतरलिंग में पश्यंती भाव को प्राप्त करती है। यहाँ 'हंस' या जीवात्मा, 'सोऽहं' या परमात्मा या परमहंस में लीन हो जाता है। जैसे ही कुंडलिनी परमशिव को प्राप्त करती है तथा उनसे एकात्मस्थिति को प्राप्त करती है, उसके महाकुंडलिनी रूप या विशुद्ध सत्त्व का प्रकाशन होता है जिससे नित्यानन्द रूप मुक्ति का उदय होता है।[1] इस प्रकार कुंडलिनी की आरोहण और अवरोहण की दो प्रकार की क्रियाएँ होती हैं। अपनी अवरोहण क्रिया में, जिसका वर्णन पहले हो चुका है तथा जिसमें वह अपने में अन्तर्लीन सभी भूततत्वों, देवताओं, देवियों, शक्तियों आदि को तत्तत् चक्रों में यथास्थान पुनः अधिष्ठित करती है, वह पुनः कुलस्थान मूलाधारचक्र को लौटती है। प्रथम क्रिया को लयक्रम और द्वितीय क्रिया को सृष्टिक्रम कहते हैं। ये लयक्रम और सृष्टिक्रम की विपरीत क्रियाएँ हैं। जिस क्रम से सृष्टि होती है, उसी के विपरीत क्रम से लयक्रिया होती है, जिसे इस रूप में उपस्थित किया जा सकता है।

> अहंकार → महत्तत्व → बुद्धितत्व → मनस्तत्व → प्रकृतितत्व → जीवतत्व → नियति तत्व → काल तत्व → राग तत्व → कला तत्व → अविद्या तत्व → माया तत्व → शुद्ध विद्या तत्व → ईश्वर तत्व → सदाशिव तत्व → शक्ति तत्व → शिव तत्व → परम शिव तत्व।

इस अवस्था में कुंडलिनी को 'कवलीकृत निःशेष तत्वग्रामस्वरूपिणी' कहा गया है। वह सभी ३६ तत्वों को संहृत कर लेती है तथा अन्त में केवल 'एक' भाव में रहती है।[2] यही पूर्ण लयक्रम है।

---

[1] वही, पृ० १४-१६।

[2] वही, पृ० १६, १९।

इस प्रकार की कुलकुंडलिनी का साधन करनवाले कुंडलिनी के पथ या कुलपथ से भलीभाँति परिचित होते हैं। इस पथ में पड़ने वाले जो तीन लिंग हैं वे क्रमशः स्थूल, सूक्ष्म और कारण के प्रतीक हैं। इनसे अतीत तुरीय है जिसे भावातीत अवस्था भी कहते हैं। वही गुरु या परम शिव का स्थान है। यह भावाभावविनिर्मुक्त अवस्था तीन भावों—पशुभाव, वीरभाव, दिव्यभाव से अतीत जाने पर ही प्राप्त होती है। तंत्रशास्त्र के आदेशानुसार यह भाव सप्ताचार का साधन करने के उपरान्त प्राप्त होता है। ये सप्ताचार सूक्ष्म शरीर के सात चक्रों तथा वेदान्त दर्शन की सप्तभूमियों से समता रखते हैं।[१]

इस लययोग की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। लययोग के ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि यह योग अति संवेदनशील पीठों या चक्रों का निरूपण तथा अभ्यास करता है। ये पीठ विभिन्न देवताओं, देवियों के आसन हैं। इन आसनों का आरम्भ सहस्रार से होता है तथा इनका विस्तार मूलाधार तक है। सहस्रार में निर्लिप्त सच्चिदानंदमय परमात्मा का आसन है तथा मूलाधार में प्रकृति शक्ति का अवस्थान है। इस प्रकृतिशक्ति को ही योगशास्त्र में कुलकुंडलिनी कहते हैं। लययोग में बताये हुए क्रियाविधान के सतत अभ्यास से जब प्रकृतिशक्ति जाग्रत कर दी जाती है, तब ऊर्ध्वगति होने पर इसका प्रतिबिंब भ्रूमध्य में प्रकाश के रूप में उदित होता है। जब यह ध्यान और अधिक अभ्यास से स्थिर कर दिया जाता है, तब यही प्रकाश बिंदुध्यान का विषय बन जाता है। इस साधन में यमादि स्थूल शारीरिक साधनों के अभ्यास के उपरांत प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान (बिंदु-ध्यान) का अभ्यास किया जाता है। ये चार सूक्ष्म क्रियाएँ हैं। इसके साथ ही इस लययोग की जो अपनी विशेषताएँ हैं, उनमें स्वरोदय (नाड़ीविज्ञान), पंचतत्व, चक्र, सूक्ष्म प्राण तथा इसी प्रकार की अन्य क्रियाएँ हैं। इस प्रकार अंततः नादबिंदु के माध्यम से होनेवाली लययोग की क्रिया को महालय कहते हैं। कुंडलीसाधन विशेष रूप से धारणा को ग्रहण करता है क्योंकि इसी से उसका जागरण संभव होता है। धारणा और ध्यान लययोग के प्रधान तत्व हैं।[२]

यह कहा जाता है कि अनंत (शेष) संपूर्ण विश्व का आधार है, उसी प्रकार कुंडलिनी भी, जो शरीर का आधार है, सभी योगसाधनों का भी आधार है। जैसे एक व्यक्ति कुंचिका से बलात् द्वार को खोल देता है, उसी प्रकार योगी को

---

[१] वही, पृ० १७।

[२] दि स० पा०, पृ० २२२-२२३।

चाहिए कि वह मोक्ष के द्वार को कुंडलिनी की सहायता से खोल दे। इस कुंडलिनी को कई नामों से पुकारा जाता है—शक्ति, ईश्वरी, कुटिलांगी, भुजंगी, अरुंधती आदि। यह शक्ति मानव शरीर में परा शक्ति है जिसमें सभी शक्तियाँ संनिहित हैं। वह विभिन्न रूपों को धारण करती है। इसी प्रकार एक कामशक्ति भी है जिसका उपयोग इस योग में किया जाता है। स्थूल शुक्र को तरल के रूप में अवतरित करने के स्थान पर सूक्ष्म शक्ति के रूप में सुरक्षित किया जाता है तथा प्राण के साथ शिव तक उत्थित किया जाता है। इस प्रकार इस शारीरिक मृत्युस्रोत को आध्यात्मिक जीवनस्रोत में रूपांतरित किया जाता है। इस कामवासना के निर्वापन के साथ ही चित्त सबसे अधिक शक्तिशाली बंधन से मुक्त हो जाता है।[1]

इस कुलकुंडलिनी का सारतत्व मंत्र है। यह प्रत्येक जीव के मूलाधार में विद्युत् प्रभा की तरह प्रकाशित रहती है। वेद और मंत्र भी इसी के तत्व हैं। यह सूर्य, चन्द्र और अग्नि नाम की तीन शक्तियों की जननी है तथा स्वयं शब्द ब्रह्म है। इसलिये कुंडलिनी मानवशरीर में क्रियाशक्ति की सर्वाधिक शक्तिशाली अभिव्यक्ति है। कुंडली शब्द ब्रह्म है, अर्थात् वह आत्मा की शक्ति के रूप में अभिव्यक्ति है। शिव का निवास सहस्रार में है। यह चक्र ऊर्ध्वतम श्रीचक्र है तथा अन्य छ चक्र निम्नचक्र हैं। तब भी शिवशक्ति एक हैं। इसलिये कुंडलिनी का शरीर आठ अंगों का है—छ चक्र, शक्ति और सदाशिव। कुंडलिनी सहस्रार में परमात्मशक्ति में लीन हो जाती है। कुंडलिनी महाप्राणदेवता है, नादात्मा है। यदि प्राण को मध्यम पथ सुषुम्ना के मध्य से ब्रह्मरन्ध्र की ओर आकर्षित किया जाय तो अवश्य ही यह शक्ति उत्थित होकर मार्ग में पड़नेवाले चक्रों का भेदन करेगी। कुंडलिनी प्राणशक्ति है। यदि कुंडलिनी उत्थित की जाती है तो प्राण भी उत्थित होता है।[2] इस प्रकार प्राणायाम और कुंडलिनी-जागरण का सघन संबंध सिद्ध होता है। प्राणायाम के लिये तथा कुंडलिनी के उद्बोधन के लिये विभिन्न प्रकार के आसनों, कुंभकों, बंधों, मुद्राओं आदि का प्रयोग किया जाता है। इससे इड़ा-पिंगला से आकर्षित किया हुआ प्राण सुषुम्ना या शून्य में प्रवेश करने पर शक्ति या ओज के रूप में ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करता है। परिणामतः शेष शरीर निष्प्राण हो जाता है। तब प्राण की संपूर्ण धारा मेरुदण्ड में प्रेरित कर दी जाती है। प्राण के लय से मनोन्मनी अवस्था का उदय

[1] वही, पृ० २२४।

[2] वही, पृ० २२७-२२८।

होता है क्योंकि इसके बाद मन का लय होता है। सुषुम्ना में नित्य ही प्राण-धारा को प्रेषित करने से अन्य नाड़ियों में प्राण की गति क्षीण हो जाती है तथा मन स्थिर हो जाता है। इस समकालिक क्रिया का कारण यह है कि जब प्राण में परिस्पंदन होता है तो मन भी चंचल रहता है अर्थात् सांसारिक विषयों का भोग करता है।[१]

जब प्राण सुषुम्ना में रहता है, तब न तो रात रहती है, न दिन रहता है क्योंकि सुषुम्ना काल को निगीर्ण कर लेती है। जब प्राण में स्पंदन होता है तब चित्तवृत्ति चंचल रहती है, निरुद्ध नहीं रहती। योगवाशिष्ठ के अनुसार जब तक प्राण का अस्तित्व रहता है, तब तक न तत्वज्ञान होता है और न वासना का क्षय होता है क्योंकि तत्वज्ञान से चित्त और वासना दोनों का क्षय होता है। श्वासनिरोध शुक्र को स्थिर और अचंचल करता है। शुक्र तब तक चंचल रहता है, जबतक प्राण चंचल रहता है। शुक्र के स्थिर न रहने पर मन भी स्थिर नहीं रहता। मन के अभ्यस्त किये जाने पर मन ही अपने को संसार से विरक्त कर लेता है। ये विभिन्न परिणाम कुंडलिनी जागरण से तथा उन अन्य क्रियाओं से होते हैं जिनके लिये कुंडलिनी कुंचिकावत् है।[२] प्राण के साथ कुंडलिनी का यह उत्थान और अन्ततः लय के लिये यह गतिक्रम क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म की ओर गतिक्रम है। लयक्रम स्थूल से सूक्ष्म की ओर होता है।[३] मानसध्यान तथा अन्य वर्णित साधनों से स्थूल तत्व सूक्ष्म तत्व में लीन हो जाते हैं। प्रत्येक अपने कारण में लीन होते हैं और अन्ततः सभी चिदात्मा में लीन हो जाते हैं। सामरस्य का अर्थ पुमान् और स्त्री के सामरस्य से उत्पन्न भोगज्ञान है। इसी प्रकार साधक लयसिद्धियोग में अपने को शक्ति के रूप में भावित कर तथा परमात्मा की पुरुष के रूप में भावना कर अपनी संगमावस्था का अनुभव करता है। यह अनुभव श्रृंगार रस का होता है। यह रस नौ रसों में प्रथम है या प्रेमरस या आनंद है। यह आदिरस या श्रृंगार सत्वगुणोत्पन्न, अखंड, स्वप्रकाश, आनंद तथा चिन्मय होता है। यह वेद्यान्तरस्पर्शशून्य ब्रह्मास्वादसहोदर होता है। अन्य सभी आनंद इसी ब्रह्मानंद के अंश हैं या उसकी छाया हैं।[४] साधक के शरीर में शिव-शक्ति का यह मिलन सात्विक पंचभूततत्वों का मैथुन है जिसके

---

[१] वही, पृ० २२८-२२९।
[२] वही, पृ० २२९।
[३] वही, पृ० २३६।
[४] वही, पृ० २३८-२३९।

विषय में योगिनी तंत्र का कथन है—यह उन लोगों के लिये सभी मैथुनों से श्रेष्ठ है जिन्होंने वासनाओं का नियंत्रण कर लिया है। इस प्रकार वे यतिपद प्राप्त करते हैं।[1]

सामान्य कुंडलीसाधन में यह मिलनस्थिति या शिवशक्तिमैथुन की स्थिति दीर्घकालिक या स्थायी नहीं होती। कुंडलिनी का जागरण, इस योग में अति निम्न कोटि की सिद्धि है। महत्वपूर्ण सिद्धि उस कुंडलिनी का शिव से एकात्मावस्था में स्थिर रहना है। उसकी यह दीर्घकालिक या नित्य स्थिति योगी की अभ्यासशक्ति पर निर्भर करती है। इसका कारण यह है कि कुंडलिनी में जब तक कुलस्थान में प्रत्यावर्तित होने के अविमलीकृत-संस्कार शेष रहते हैं, तब तक वह बार-बार प्रत्यावर्तित होती रहती है तथा सामान्य योगी के लिये सहस्रार में उसका स्थिर रखना कठिन हो जाता है। कुंडलिनी, योगी के प्रयत्नों से या अभ्यास से, जितने ही अधिक समय तक सहस्रार में मिलनावस्था में स्थिर रखी जा सकेगी, साधक उतना ही अधिक नित्य एकातमावस्था के निकट हो सकेगा। इस प्रकार कुंडलिनी को केवल सहस्रार तक ले जाना ही मुक्ति नहीं है और न सहस्रार के नीचे के किसी चक्र में उसे स्थिर करना ही मुक्ति है। मुक्ति की प्राप्ति तभी होती है, जब कुंडली अपना स्थायी निवास सहस्रार में स्थिर कर लेती है तथा उसका अवतरण केवल सिद्ध योगी की इच्छा पर ही निर्भर करता है। यह कहा जाता है कि सहस्रार में कुछ समय तक स्थिर करने के बाद, कुछ योगी लोग कुंडलिनी को हृदय तक ले जाते हैं, तथा वहीं उसकी पूजा करते हैं। किंतु इस प्रकार की क्रिया केवल उन लोगों द्वारा संपादित की जाती है जो वहाँ सहस्रार में स्थिर रहने में असमर्थ रहते हैं। यदि वे हृदय से भी नीचे कुंडलिनी का अवतरण करते हैं, अर्थात् उसकी पूजा अनाहत से नीचे के तीन चक्रों में से किसी एक में करते हैं, तो कहा जाता है कि वे समयसमाज के अन्तर्गत ग्राह्य नहीं हैं।[2] इस प्रकार कुंडलिनी का जागरण या कुंडलीयोग जीवशक्ति का परमात्मशक्ति में या व्यष्टिचैतन्य का समष्टिचैतन्य में लय है या दो का एकात्म है। यह सभी भारतीय योगों का एक लक्ष्य है।[3]

---

[1] वही, पृ० २४०।

[2] वही, पृ० २४४।

[3] वही, पृ० २४६।

समय आगमों में कहा गया है कि पिंडांड के ये चक्र ब्रह्मांड के लोकों से समतुल्यता रखते हैं। इनमें से प्रत्येक के अपने गुण तथा अधिष्ठातृ देवता हैं। जब शिष्य चक्र-प्रतिचक्र आरोहण करता है तो वह ब्रह्माण्ड के स्तर पर समतुल्य लोकों का अतिक्रमण करता है। नीचे की सारणी से समतुल्य लोकों, चक्रों, गुणों, अधिष्ठाता देवताओं का परिचय मिलता है—

चक्र	लोक	गुण	अधिष्ठाता देवता
१—मूलाधार (जब शक्ति जाग्रत होती है)	भुवर्लोक	तमस्	अग्नि
२—स्वाधिष्ठान	स्वर्लोक		
३—मणिपूर	महर्लोक	रजस्	सूर्य
४—अनाहत	जनलोक		
५—विशुद्धि	तपोलोक	सत्व	चन्द्र
६—आज्ञा	सत्यलोक		

यदि कोई साधक उनमें से किसी अवस्था को पहुँचकर शरीरपात करता है, तब वह पुनः पहले की अवस्थाओं की समस्त उपलब्धियों को लेकर पुनः जन्म लेता है। इस प्रकार कोई साधक, उदाहरणतः, यदि शक्ति को अनाहत तक ले जाने के उपरान्त शरीरपात करता है तो अपने दूसरे जन्म में वह पुनः वहीं से आरम्भ करता है और अनाहत से ऊपर शक्ति का उत्थान करता है। किंतु यह ध्यान में रखना चाहिए कि साधक को शुद्ध सत्त्व की प्राप्ति तब तक नहीं होती, जब तक वह सहस्रार में नहीं पहुँच जाता। जब यह कुंडली जाग्रत होती है, तब वह कुमारी की अवस्था में होती है। अनाहत में पहुँच कर यह योषित की अवस्था को प्राप्त करती है। जब वह सहस्रार में पहुँचती है, तब वह पतिव्रता होती है।[1] जब कुंडलिनी पतिव्रता की अवस्था में स्थायी रूप से सहस्रार में निवास करती है तब वह साधक जीवन्मुक्त या शुद्ध सत्व होता है। वह आत्मा के भौतिक बंधन का अनुभव नहीं करता। वह सर्वानंदमय रहता है और स्वयम् नित्य रहता है।[2]

इस प्रकार यहाँ राजयोग, मंत्रयोग, हठयोग, लययोग का संक्षिप्त परिचय दिया गया। मंत्रयोग का संबंध शरीर से बाहर की वस्तुओं से है और उसमें बाह्य वस्तुओं से संबद्ध क्रियाविधानों पर विशेष जोर दिया जाता है।

---

[1] वही, पृ० २४८-२४९।

[2] वही, पृ० २५०।

इसमें वर्णाश्रम धर्म के विधान पर भी ध्यान दिया जाता है। इसी प्रकार इसमें नर और नारी के कुलधर्मों का भी विचार किया जाता है। माना जाता है कि स्त्री को दिया गया मंत्र पुरुष को नहीं दिया जा सकता। इसी प्रकार ब्राह्मण को दिया गया मंत्र शूद्र के उपयुक्त नहीं हो सकता। इसमें मनन के विषय हैं—देवता, देवी तथा उनकी विभिन्न अभिव्यक्तियाँ, विभिन्न प्रतीक। समाधि को महाभाव कहा जाता है जिसकी प्राप्ति नामरूप के मनन से ही हो सकती है।[1] सामान्य हठयोग का संबंध शारीरिक क्रियाओं से है। यह सूक्ष्म शरीर को स्थूल शरीर के माध्यम से प्रभावित करता है। इसकी तुलना में मंत्रयोग का संबंध उन शक्तियों या तत्वों से है जो शरीर से बाहर हैं, यद्यपि ये शरीर को प्रभावित करते हैं।[2] निर्विकल्प समाधि की प्राप्ति केवल राजयोग से हो सकती है। मंत्रयोग की समाधि में महाभाव की प्राप्ति होती है जिसके लक्षण हैं—स्थैर्य और अनिर्वचनीयता। हठयोग की समाधि में श्वासक्रिया निरुद्ध हो जाती है और जीवित रहने के कोई भी लक्षण प्रकट नहीं रहते। शरीर तब शववत् हो जाता है। लययोगसमाधि में योगी की बाह्य चेतना नहीं रहती और वह आनंद-सागर में निमग्न हो जाता है। राजयोग की समाधि पूर्ण चित्स्वभावा है और निर्विकल्प मुक्ति है।[3]

इन संपूर्ण योगप्रकारों को देखने से स्पष्ट होता है कि योग की दो धाराएँ हैं—ध्यानयोग या भावना योग और कुंडलिनी योग। इन दोनों में भेद है। प्रथम धारा के योग में समाधि की प्राप्ति ध्यान के क्रियाज्ञान से होती है। किसी ध्यानयोगी को अपने शरीर की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। मानव मनस् और भूततत्त्व, दोनों से बना हुआ है। ये दोनों ही एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। इनकी उपेक्षा से या नाश से अव्यवस्थित कल्पना की उत्पत्ति, आध्यात्मिक अनुभव के स्थान पर होती है। ध्यानयोगी हठयोगी की तरह स्थूल शरीर से संबंधित नहीं रहता। एक सफल ध्यानयोगी होते हुए भी वह शरीर और स्वास्थ्य से क्षीण, दुर्बल, अल्पायु और रोगी भी हो सकता है। उसकी मृत्यु का निश्चय वह स्वयं नहीं, अपितु उसका शरीर करता है। वह अपनी इच्छा से शरीरत्याग नहीं कर सकता। हर्षोन्माद, जिसे वह मुक्ति के रूप में स्वीकार करता

---

[1] वही, पृ० १९७-१९८।

[2] वही, पृ० २२२। विशेष विस्तार के लिये श्री मोहनलाल भगवानदास झवेरी की 'मंत्रशास्त्र' पर लिखी पुस्तक द्रष्टव्य।

[3] वही, पृ० २४५-२५५।

है, वास्तविक मुक्ति नहीं है। वह सांसारिक और शरीरिक पीड़ाओं से मुक्ति केवल मृत्यु होने पर ही प्राप्त कर सकता है। उसकी समाधि केवल ध्यान के प्रकार की होती है। वह चित्तिवृत्तिनिरोध से भावनासमाधि को प्राप्त करता है। इसमें शरीर की केंद्रीय शक्ति के अभ्युत्थान की क्रिया नहीं होती। वह चित्त की ही सहायता से चित्त को नियंत्रित करता है। वस्तुतः चित्त या मनस् प्रकृति-शक्ति कुंडलिनी से उत्पन्न है। ध्यानयोगी के प्रयत्न से मनस्, चित्तवृत्तियाँ और तृष्णाएँ शांत हो जाती हैं जिससे चैतन्य के ऊपर से मनस् की क्रियाओं से उत्पन्न आवरण हट जाता है। लययोग में जब योगी कुंडलिनी को जाग्रत करता है, तब वह कुंडलिनी ही ज्ञानस्वरूपा होने के कारण योगी को ज्ञान प्राप्त कराती है। फिर प्रश्न यह हो सकता है कि इतनी कठिन और कष्टसाध्य कुंडलिनी-साधना का कष्ट क्यों उठाया जाय, जबकि अन्य सरल साधनाएँ उपलब्ध हैं। उत्तर यह है कि इस साधन से सफलता निश्चित हो जाती है और साक्षात्कार सरल हो जाता है। कारण यह है कि कुंडलिनी स्वयम् ज्ञानरूपा है, ज्ञानरूपा शक्ति है। इस साधन में, बीच में, विभिन्न प्रकार की सिद्धियाँ भी मिलती हैं, जो भोगस्वरूप हैं। इसे तंत्र के मूल सिद्धान्त के रूप में विकसित और व्याख्यात किया जा सकता है।[१]

शाक्त तन्त्र भुक्ति और मुक्ति दोनों प्रदान करने की प्रतिज्ञा करते हैं। इस प्रतिज्ञा का मूलाधार एक सिद्धान्त है। एक ही परमतत्व दो रूपों में स्थित है। प्रथम है, सभी प्रकार के रूपों से मुक्ति के रूप में आत्मा का अचल मौन आनंदोपभोग। दूसरा है, विषयों का क्रियात्मक उपभोग। ये दोनों रूप शुद्ध शक्ति और भूत शक्ति के रूप में प्रकट हैं। उसके इन दोनों रूपों में एकात्म होना आवश्यक है। यदि भली भाँति विधिवत् अभ्यास किया जाय तो यह सिद्धान्त सत्य सिद्ध होगा कि मनुष्य को दोनों लोकों का सर्वोत्तम उपयोग करना चाहिए। दोनों लोकों में, वस्तुतः, कोई विषमता नहीं प्रतीत होगी यदि विमर्श या शक्ति के ब्रह्मांडीय नियमों के अनुकूल क्रिया की जाय। वह एकमात्र शिव ही परमानन्दानुभव है। वही सुख-दुःख से पूर्ण मानव के रूप में प्रकट होता है। यदि जीवन की प्रत्येक क्रिया में दोनों प्रकार के शिवों की अभिन्नता का साक्षात्कार कर लिया जाय तो दोनों प्रकार के आनन्दों की प्राप्ति इसी जीवन में तथा इसके बाद भी हो सकती है। यह तभी संभव है

---

[१] वही, पृ० २८७-२९०।

जब निरपवाद रूप से, साधक, अपनी प्रत्येक क्रिया को यज्ञ और पूजा की क्रिया समझे ।[1]

इस साधन में व्यष्टिजीवन और समष्टिजीवन दोनों एक समझे जाते हैं । इस भावना से भावित होकर जब साधक भोजन, पान या अन्य प्रकार की शारीरिक क्रिया के संपादन में प्रवृत्त होता है तो यह विश्वास करते हुए और अनुभव करते हुए उन्हें संपादित करता है कि "मैं शिव हूँ", "मैं भैरव हूँ", "मैं देवी शक्ति हूँ" (शिवोऽहं, 'भैरवोऽहं' "साऽहं") । वह यह अनुभव करता है कि क्रिया संपादित करनेवाला व्यक्ति या भोग करनेवाला व्यक्ति भिन्न व्यक्ति नहीं है अपितु यह शिव ही है जो इस प्रकार की क्रिया में प्रवृत्त हो रहा है या किसी के माध्यम से भोग कर रहा है । उसका जीवन तथा उसकी सभी प्रकार की क्रियाएँ उस तत्व से अभिन्न रहती हैं । कोई भी क्रिया या भावना ऐसी नहीं होती जो अहंकार के साथ उदित हुई हो । उसके जीवन की सत्ता तथा उसकी क्रियाओं की सत्ता, मनुष्य में अभिव्यक्त और क्रियाशील होनेवाली देवी क्रिया के अंश के रूप में होती है । वह अपने हृदय के कंपन में उस संगीत को सुनता है जो ब्रह्मांडीय जीवन में सदैव स्पंदित होता रहता है । इस साधन के अनुसार, शरीर की आवश्यकताओं की उपेक्षा करना या उसका नाश करना ही उसको अदिव्य मानना है और इस प्रकार उस महत्तर जीवन को अस्वीकार करना तथा उसकी उपेक्षा करना है जिसका यह व्यष्टिजीवन एक अंश है इससे भूत और चित् के एकात्म के सिद्धान्त की भी असिद्धि होती है । इन उपर्युक्त विचारों और भावनाओं से अनुशासित और प्रेरित होने पर निम्नतम शारीरिक आवश्यकताएँ भी ब्रह्माण्डीय प्रकृति को धारण कर लेती हैं । यह शरीर ही शक्ति है । इसकी आवश्यकता शक्ति की आवश्यकता है । जब साधक भोग करता है तब वस्तुतः शक्ति उसके माध्यम से भोग करती है । जब वह देखता है, तब मातृशक्ति देखती है, जब वह कर्म संपादित करता है तब शक्ति क्रियाशील होती है । उसके हाथ, उसकी आँखें मातृशक्ति के हाथ और आँखें हैं । उसका संपूर्ण शरीर और उसकी सभी क्रियाएँ उस शक्ति की अभिव्यक्तियाँ हैं । साधक का इस प्रकार साक्षात्कार करना, स्वयम् अपने को पूर्ण बनाना है । वह सारे संसार को परस्पर संबद्ध तथा उसी एक सर्वव्यापक चैतन्य तत्व के विभिन्न पक्ष मानता है । जब कर्म उचित भाव से किये जाते हैं तो वे मुक्ति प्रदान करते हैं और पुनः पुनः अनुभूत और संपादित वे भाव और

---

[1] वही, पृ० २९०-२९१ ।

कर्म स्थायी और परिपक्व होने पर तत्वज्ञान प्रदान करते हैं। यह तत्वज्ञान ही मुक्ति है। जब मातृशक्ति का सभी वस्तुओं में साक्षात्कार होता है तब वही, बाद में, सर्वातीत रूप में साक्षात्कृत होती है।[१]

जिस योग का वर्णन ऊपर किया गया है, वह इन्हीं सिद्धान्तों का प्रयोग-पक्ष है। कहा गया है कि इससे भुक्ति और मुक्ति दोनों की प्राप्ति होती है। सामान्यतया यह कहा जाता है कि जहाँ योग है, वहाँ भोग नहीं है किंतु कौलोपदेश के अनुसार योग भोग हैं और भोग ही योग है। इस दृष्टि से यह संसार ही मुक्तिस्थान है। कुंडलिनीयोग में भोग और सिद्धियाँ प्रत्येक चक्र में प्राप्त हो सकती हैं, जहाँ अपनी यात्रा में कुंडलिनी का आवास होता है। इस साधन के सतत ऊर्ध्वाभ्यास से, सबसे अंत में, उस भुक्ति की प्राप्ति होती है, जिसे मुक्ति कहते हैं।[२] हठयोग की निम्न क्रियाओं से सिद्धदेह की प्राप्ति होती है। मानस साधना के लिये यह सिद्धदेह सर्वाधिक उपयुक्त और उचित माध्यम हो सकता है। हठयोग एक ऐसे शरीर की प्राप्ति कराता है जो वज्रलौह के समान कठोर, स्वस्थ, रोगमुक्त और दीर्घायु होता है। हठयोगी शरीर का स्वामी होते हुए भी जीवन और मृत्यु, दोनों का स्वामी होता है। उसका प्रकाशित रूप सदैव नित्य यौवनशक्ति का उपभोग करता है। उसकी मृत्यु इच्छामृत्यु होती है। जब वह संहारमुद्रा करता है, तब वह बड़ी ही महिमा के साथ प्रयाण करता है। इसीलिये यह कहा जा सकता है कि हठयोगी न तो रुग्ण होता है और न मृत्यु को प्राप्त होता है।[३]

ध्यानयोग में समाधि की प्राप्ति संसार के प्रति विरक्ति और मानस ध्यान से होती है। ये दोनों ही क्रियाएँ चित्तवृत्तियों को शून्यता की ओर ले जाती हैं या चित्त के आवरणों को बाधा से सर्वथा मुक्त, शुद्ध, चैतन्य के उदय की ओर ले जाती हैं। चैतन्य के अनावरण की मात्रा साधक की ज्ञानशक्ति के ऊपर तथा विरक्ति के विस्तार पर निर्भर करती है। ध्यानयोग की समाधि में कुण्डलिनीशक्ति का जागरण, लय तथा आनन्दप्राप्ति तथा उसके साथ सिद्धियों की प्राप्ति नहीं होती। ध्यानयोगी भुक्ति की उपलब्धि भी नहीं कर पाता। दूसरी ओर कुंडलिनीशक्ति सर्वशक्तिमयी है। वह स्वयं ज्ञानशक्ति-

---

[१] वही, पृ० २९१-२९३।

[२] वही, पृ० २९३।

[३] वही, पृ० २९३-२९५।

मयी है। जाग्रत होने पर वह योगी को पूर्ण तत्वज्ञान प्रदान करती है। कुंडलिनी-योग में केवल ध्यान से समाधि की प्राप्ति नहीं होती, अपितु जीव की केंद्रीय शक्ति से होती है। यह वह शक्ति है जो शरीर और मनस्, दोनों की शक्तियों के सहयोग से गतिशील होती है। वे दोनों कुंडलिनी शक्ति के साथ रहती हैं। केवल मानस सहयोग से जो योग प्राप्त होता है, उसकी तुलना में यह योग अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण होता है। यद्यपि दोनों में शारीरिक चेतना लुप्त हो जाती है तथापि कुंडलिनीयोग की समाधि में केवल मनस् ही नहीं अपितु शरीर का भी, जिसका प्रतिनिधित्व कुंडलिनी के माध्यम से होता है, मिलन शिव से से होता है। इस योग से भुक्ति और मुक्ति, दोनों की उपलब्धि होती है।[1]

वैष्णव योग, पातंजल योग और तांत्रिक योग के इस संक्षिप्त परिचय से हम कुछ निष्कर्षों पर पहुँच सकते हैं। प्रायः सभी विवेचित वैष्णव ग्रंथ प्राणायाम और ध्यान को साधन के आवश्यक अंग के रूप में स्वीकार करते हैं। प्राणायाम से संपन्न होनेवाली नाड़ीशुद्धि की क्रिया को, भक्ति की उत्पत्ति के लिये लाभकर माना गया है। जयाख्य, अहिर्बुध्न्य, विष्णु आदि संहिता ग्रंथों, पद्म और ब्रह्म जैसे पुराण ग्रंथों, नारद पंचरात्र जैसे पांचरात्र ग्रंथों में उपर्युक्त सभी साधनों का उपयोग भक्ति की उत्पत्ति एवं विकास के लिये किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि अहिर्बुध्न्य संहिता, नारद पंचरात्र आदि में नाड़ी-शुद्धि, कुंडलिनीयोग आदि का जो प्रयोग भक्ति के उपकारक साधनों के रूप में स्वीकार किया गया है, उनका संबंध स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, बाह्य साधन तथा आन्तरिक साधन से है। प्राणायाम का प्रयोग चित्तवृत्तिनिरोध और नाड़ीशोधन के लिये किया गया प्रतीत होता है। इसी प्रकार कुंडलिनीयोग का प्रयोग पंचमहाभूतों की शुद्धि के लिये किया गया प्रतीत होता है। लयक्रम का स्पष्ट निरूपण इन वैष्णव ग्रंथों में नहीं मिलता। सुषुम्ना को मोक्षप्रदायिका प्रायः सभी मानते हैं। नारद पंचरात्र ग्रंथियों का विवेचन करता है। ये ग्रंथ चक्रों की संख्या छ मानते हैं तथा सर्वोपरि चक्र सहस्रार की भी कल्पना करते हैं जिसमें गुरुपद का निवास मानते हैं। प्रायः सभी कुंडलिनी के महत्व को स्वीकार करते हैं। तंत्रों में नाड़ियों की संख्या ७२००० मानी गई है किन्तु नारद पंचरात्र में नाड़ियों की संख्या १५ करोड़ बताई गई है। इसी प्रकार चक्रस्थ वर्णों में भी कुछ और अंतर मिलता है। उदाहरणार्थ नारद पञ्चरात्र में बताया गया है कि स्वाधिष्ठान चक्र के ६ दलों में क, ख, ग, घ, ङ और च ६ वर्ण

[1] वही, पृ० ३१४-३१५।

हैं। इससे भिन्न तंत्रग्रंथों में इसके वर्ण हैं—ब, भ, म, य, र, ल।[१] इसी प्रकार अन्य भेदक तत्वों का भी तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। नारद पंचरात्र का यह कथन अति महत्वपूर्ण है कि सेवा, पूजा, उपासना, भक्ति के लिये सेवक या शिष्य या साधक का शरीर से पुष्ट होना आवश्यक है। ऐसा प्रतीत होता है कि नारद पंचरात्र 'शारदातिलक' या 'शारदातंत्र' नामक तांत्रिक ग्रंथ से परिचित है। उसने कुंडलिनी, नाड़ी आदि के विवेचन के प्रसंग में 'शारदा' को उद्धृत किया है। इस शब्द से 'शारदातिलक' या शारदातंत्र नामक ग्रंथ का अनुमान किया जा सकता है। तंत्र और पांचरात्र मत का क्या संबंध है, इसका विचार हम पहले ही कर चुके हैं। इसीलिये तांत्रिक योग तथा उसके मूल में निहित सिद्धान्तों का प्रमाणग्रंथों के आधार पर इतने विस्तार से परिचय दिया गया है।

यहाँ तांत्रिक योग का तथा उसमें निहित कुछ सिद्धान्तों का विस्तृत परिचय इसलिये दिया गया है कि जिससे आगे के विवेचन में नाथयोग कुछ अधिक स्पष्ट रूप से सामने आ सके। यहाँ तांत्रिक योग के विभिन्न उपांगों का वर्णन किया गया है, उससे यह नहीं समझना चाहिए कि ये सभी साधन स्वयं अपने में भी पूर्ण हैं अथवा स्वयं ही लक्ष्य हैं। ऊपर बतलाया गया है कि मंत्रयोग का संबंध शरीर से बाहर बाह्य शक्तियों, दिव्य अभिव्यक्तियों तथा उनके प्रतीकों से है। उसी प्रकार हठयोग या प्राणसाधन का संबंध शरीरस्थ नाड़ियों के शोधन, शरीर में स्थित विभिन्न प्रकार के वायुओं के नियंत्रण और संयमन से है। यह क्रिया भी स्थूल देह में स्थित तत्वों का साधन है। लययोग या कुंडलिनीयोग या षट्चक्रभेद का संबंध सूक्ष्म शरीर से है जिसमें विभिन्न चक्रों में स्थित शक्तियों, देवियों, देवताओं, मातृकाओं और भूततत्वों की शुद्धि, नियमन, नियंत्रण तथा उनके सूक्ष्म आत्मशक्ति में लय की क्रियाएँ प्रधान मानी जाती हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म की ओर, ये योग साधक को गतिशील करते हैं। इनमें क्रमशः ऊर्ध्व और सूक्ष्मतर प्रगति की क्रिया है। तांत्रिक योग में यह माना जाता है कि राजयोग सर्वोपरि है तथा योगोत्तमोत्तम है। ये सभी योग राजयोग या ज्ञानयोग या समाधियोग के लिये साधक को अधिकारी बनाते हैं। जो विवेचन अभी तक उपस्थित किया गया है, उसमें स्पष्टतया संकेत किया गया है कि कुंडलिनीजागरण या कुंड-लिनीयोग, पातंजलयोग के धारणांग के अन्तर्गत हैं। इसके बाद ही ध्यान और

---

[१] वही, पृ० ३६५, चित्र संख्या ३ द्रष्टव्य।

समाधि की अवस्थाएँ आती हैं। वस्तुतः पातंजल योग में पूर्वांग, परांग के लिये साधक को अधिकार प्रदान करते हैं। इसी प्रकार धारणांग ध्यान के लिये, जो समाधि की ही पूर्वक्रिया या प्राथमिक क्रिया है, तथा समाधि जिसकी पूर्ण परिपक्वावस्था है, अधिकार प्रदान करता है। धारणावस्था में पूर्णता के बाद पातंजल योगी ध्यान के क्षेत्र में अग्रसर होता है। लययोग या कुंडलिनी-योग में अंतिम चक्र या पद्म आज्ञा है जो भ्रूमध्य में स्थित है। यहाँ मनस् का लय होता है अर्थात् यहाँ मनस् तत्व आत्माधिकार में आ जाता है या आत्मानुकूल होकर अद्वैतावस्था की प्राप्ति के लिये अग्रसर होता है। दूसरी दृष्टि से इसे ही हम उसकी निरुद्धावस्था कह सकते हैं। इस प्रकार ध्यान या उसकी परिपक्वावस्था समाधि को ही प्रधानता देनेवाला पातंजलयोग यहाँ से समाधि-योग या ध्यानयोग की उपाधि प्राप्त कर लेता है।

यों लययोग में ध्यानक्रिया तो प्रायः प्रत्येक चक्र में करनी पड़ती है किंतु मानसलय होने पर ही पूर्ण ध्यान करने की सामर्थ्य साधक में आती है। तात्पर्य यह कि पातंजलयोग के चित्त की पूर्ण धारणावस्था ओर लययोग का आज्ञाचक्रावस्थान ये दोनों ही समतुल्य अवस्थाएँ प्रतीत होती हैं। इसके बाद ही पातंजल योग के समाधियोग का, जिसके अन्तर्गत समाधि की सभी अवस्थाएँ आ जाती हैं, अभ्यास हो जाता है। इस प्रकार क्रमशः मंत्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग की ऊर्ध्वगति क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म की ओर गति है। प्रथम तीन योग अंतिम के लिये अधिकार प्रदान करते हैं। योगसाधन को विभिन्न प्रकार से साधन के रूप में व्यवहृत करने वाले मार्ग इन प्रथम तीन में से ही किसी एक का विशेष साधन करते हैं अथवा उन पर उनका विशेष आग्रह होता है। उदाहरणतः तांत्रिकों की शक्ति की उपासना के अनुकूल षट्चक्रभेद या कुंडलिनीयोग है। इसलिये इस पर वे विशेष आग्रह करते हैं तथा इसका विस्तृत विवेचन करते हैं। दूसरी ओर नाथयोगी हठयोग या प्राणायामाभ्यास पर विशेष आग्रह करते हैं तथा उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म विस्तृत विवरणों और क्रियाओं के साधन को अति महत्व देते हैं। यद्यपि सभी योगसाधन इन तीनों का किसी न किसी रूप में साधन अवश्य करते हैं तथा उनमें से एक को प्रधानता देते हैं तथापि सभी यह मानते हैं कि ये साधन राजयोग या समाधियोग या ज्ञानयोग के उपकारक हैं तथा साधक को इसके साधन का अधिकार प्रदान करते हैं। इस संबंध में हठयोगप्रदीपिका के ये वाक्य महत्वपूर्ण हैं—

प्रणम्य श्रीगुरुं नाथं स्वात्मारामेण योगिना।
केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते ।।२।।

भ्रांत्या बहुमतध्वांते राजयोगमजानताम् ।
हठप्रदीपिकां धत्ते स्वात्मारामः कृपाकरः ॥३॥[१]

मूलभाव यह है कि हठयोग का फल राजयोग है तथा राजयोग का फल कैवल्य है, हठयोग स्वयम् फल नहीं है। हठयोग से सिद्धियाँ मिलती हैं किंतु पातंजल योग में इन सिद्धियों या विभूतियों को उपसर्ग (बाधा) कहा गया है। अतएव कैवल्य ही हठयोग का भी चरम प्राप्तव्य है। इस कैवल्य या मुक्ति की व्याख्या प्रत्येक संप्रदाय और साधनसंप्रदाय अपनी अपनी प्रकृति और दर्शन के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार से करते हैं। हठयोग के विवेचन में बताया जा चुका है कि हठयोग कायसिद्धि या काया पर पूर्णाधिकार को अपना लक्ष्य मानता है, यद्यपि उसका चरम लक्ष्य मानससिद्धि या चित्तसिद्धि के उपरान्त प्राप्त होनेवाला कैवल्य है।

—:०००:—

[१] हठयोगप्रदीपिका—प्र० उ०, श्लो० २, ३ तथा टीका, 'केवलं राजयोगाय राजयोगार्थं हठविद्योपदिशत इत्यन्वयः ।'

नौवाँ परिच्छेद
नाथपंथी संस्कृत ग्रंथों में नाथों का योग

नाथसंप्रदाय और नाथयोग, दोनों का, तांत्रिक योग से घनिष्ठ संबंध है। नाथयोगी शैव थे, इसके संबन्ध में हम विस्तार से पहले ही विचार कर चुके हैं। यद्यपि ये पाशुपत शैव माने जाते हैं, तथापि आगमिक शैवों में भी इन्हें पर्याप्त सम्मान प्राप्त था। इसके प्रमाण में तंत्रालोक में अभिनवगुप्तपादाचार्य द्वारा मच्छन्दविभु का किया हुआ स्तवन उद्धृत किया जाता है। आगमिक शैवों में अभिनवगुप्त की महत्ता सर्वमान्य है। उन आगमिक शैवों में तांत्रिक साधना प्रचलित थी तथा साथ ही अभिनवगुप्त ने स्वयं तंत्रालोक जैसे बृहत् ग्रंथ की रचना की थी। नाथों में शिवपत्नी शक्ति या गौरी की पूजा प्रचलित है। इसलिये योगियों को कुछ लोग शाक्त मानते हैं। योनि-लिंग की पूजा भी उनमें प्रचलित है। तंत्रों में ये दोनों शक्ति और शिव के प्रतीक हैं। योगियों में शाक्तों के दक्षिण और वाम, दोनों मार्गों का प्रवाह मिलता है। पहाड़ी प्रदेशों के योगी तांत्रिक क्रियाएँ करते हैं।[1] साधन की दृष्टि से योगियों ने आसन को भी महत्त्व दिया है। उनके मुद्रा और बंध में भी आसन के तत्त्व मिलते हैं। इनका संबंध प्राणायाम के विभिन्न प्रकारों से भी जोड़ा गया है। योगियों के विभिन्न आसनों से पूर्णतया भिन्न तांत्रिकों के कुछ आसन हैं जिनमें मुण्डासन, चितासन, शवासन आदि की गणना की जा सकती है। संभवतः ये नाथयोगियों में स्वीकृत नहीं हैं। ब्रिग्स का मत है कि १२वीं ई० शताब्दी के गोरक्ष रचित गोरक्षशतक के उपदेशों में योग और तंत्र का मिश्रण है।[2] डा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त के अनुसार पहले शैवों के अपने सिद्धान्तों के अनुसार योगसाधन का विकास हुआ। उन क्रियाओं का एक विकास मंत्रयोग के रूप में तथा दूसरा विकास, दूसरी दिशा में, हठयोग के रूप में हुआ। इस दूसरे विकास में प्राण-नियमन को प्रधानता दी गई तथा शरीर के अंगों के नियंत्रण के विभिन्न अभ्यास भी उसमें संमिलित किये गये। मंत्रयोग, लययोग, हठयोग, राजयोग आदि ने,

---

[1] गो० क० यो०, ब्रिग्स, पृ० १६२-१६३, १७१-१७२।

[2] वही, पृ० ३२७, २५७।

उनके मत से, तांत्रिक पूजा-उपासना-साधन के विकास को प्रभावित किया हैं।[१] योगियों का अपना विशेष हठयोग है। इस साधन में आसन, मुद्रा, प्राणायाम, धौति, चक्र, नाड़ी, कुंडलिनी आदि से संबंधित अभ्यास गृहीत हैं। ये साधन अत्यधिक विस्तृत रूप में तांत्रिक ग्रंथों में वर्णित मिलते हैं। गोरखनाथियों के उपदेश में तांत्रिक तत्त्व प्रधान है। आसाम और बंगाल के नाथयोगियों में शक्ति या शिवपत्नी की पूजा तांत्रिक विधान से ही होती है। म० म० डा० गोपीनाथ कविराज इस तथ्य को स्पष्टतया घोषित करते हुए कहते हैं अभिनव-गुप्त शाक्त साधन के प्राण थे। वे एक प्रसिद्ध कौल भी थे। उनका 'तंत्रालोक' वस्तुतः शैव और शाक्त दर्शन का विश्वकोषतुल्य ग्रंथ है। अभिनवगुप्त के बाद दूसरे महत्त्वपूर्ण नाम हैं—गोरक्ष, पुण्यानंद, नटनानंद, स्वतंत्रानंद, और भास्करराय। गोरक्षनाथ, जिन्हें महेश्वरानंद भी कहा जाता है, महार्थमंजरी के लेखक थे। वे अभिनवगुप्त के संप्रदाय के अति घनिष्ठ अनुयायी थे।[२]

नाथों के संस्कृत साहित्य के आधार पर योग का निरूपण बड़े विस्तार से विद्वानों ने किया है। अतः पुनः उस निरूपण को यहाँ उद्धृत करना निरर्थक है। पूर्ववर्ती परिच्छेद के प्रकाश में हमें जो कुछ कहना है, उसे संक्षेप में उप-स्थित करेंगे। पुर्वोल्लिखित तांत्रिक साधना के प्रभाव की पुष्टि नाथयोगियों के प्रमाणग्रंथों से होती है। अपने सिद्धान्तों को पुष्ट करने के लिये गोरक्ष-सिद्धान्तसंग्रह ने विभिन्न तांत्रिक ग्रंथों को प्रमाणरूप में उद्धृत किया हैं। नाथमत योगसाधन को तथा योगी को सर्वश्रेष्ठ मानता है। इसकी पुष्टि में उसने तंत्रमहार्णव को उद्धृत कर बताया है कि योगी ब्रह्मा, विष्णु तथा देवदेव महेश है। वही पूर्ण मोक्ष है। वही सृष्टिकर्ता और हर्ता है।[३] नाथपद की महत्ता के निर्वचन और व्याख्या में गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह ने शक्तिसंगमतंत्र की सहायता ली है।[४] शाबरतंत्र ने नवनाथों की नामगणना की है।[५] नाथों के अनुसार सभी शैव-शाक्त मार्ग तंत्रानुसारी हैं। तंत्रों के भी उपदेशक नाथ ही

---

[१] वही, पृ० २७२ पर उद्धृत।

[२] वही, पृ० २७४; हिस्ट्री आव फिलासफी : इस्टर्न ऐंड वेस्टर्न, वा १, डा० राधाकृष्णन्, 'शैव शाक्त स्कूल—शाक्त फिलासफी'—डा० गोपीनाथ कविराज, पृ० ४०३-४०४।

[३] गो० सि० सं०, पृ० ९।

[४] वही, पृ० ११।

[५] वही, पृ० १८।

हैं। नाथ ने तंत्रों की रचना की है। इसकी पुष्टि षोडशनित्यातंत्र को उद्धृत कर की गई है। कहा गया है कि तंत्रों की कल्पना नवनाथों ने की है। इसी प्रकार षट्शांभवरहस्य को उद्धृत कर बताया गया है कि तांत्रिक अनुष्ठानों का भी फल योग ही है। अन्तर यह है कि तांत्रिकों का अनुष्ठान बहिरंग होता है। इसके पश्चात् वे अवधूत पद को प्राप्त करने के लिये योगियों के अंतरंगपूजन या सूक्ष्म शक्ति कुंडलिनी की पूजा करते हैं। इस प्रकार तांत्रिकों का भी तात्पर्य अवधूत पद बतलाया गया है।[१] नाथमत के अनुसार सभी लोग सांसारिकी प्रक्रिया को मानते हैं। नाथ मत पारमार्थिकी प्रक्रिया को मानता है। यह प्रक्रिया तंत्रानुमोदित है। पुराणों के अनुसार ही लोग ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र की इस प्रक्रिया या क्रम को स्वीकार करते हैं। किन्तु तंत्रों के अनुसार शिव, भैरव, श्रीकण्ठ, सदाशिव, ईश्वर, रुद्र, विष्णु, ब्रह्मा के क्रम को स्वीकार किया जाता है। यही योगसम्प्रदाय की भी रीति है। यह पारमार्थिकी प्रक्रिया योग से ही आई है। सबका कारण योग ही है।[२]

इस प्रकार यद्यपि नाथ लोग पाशुपत शैवों की परंपरा में थे तथा दूसरे मत के अनुसार पाशुपत शैवों की तथा नाथों की साधना में सादृश्य था तथापि उनका सम्बन्ध तंत्रों से भी था। इसलिये नाथ धर्म को तंत्र और शैव तत्त्व का सम्मिश्रण कहना चाहिए। मूलतः नाथ लोग शैव थे। तंत्र के पिण्ड और ब्रह्माण्ड के एकत्व की अनुभूति का साधन तथा शक्तिपूजा नाथों में प्रचलित थी। शारदातिलक नामक तंत्रग्रंथ में यंत्र, मंत्र, चक्र, कुंडली और पाशुपत दर्शन का वर्णन पाया जाता है। मुक्ति का प्रथम तत्त्व 'प्रसाद' है। इसे नाथ और काश्मीर शैवाद्वैत मत में शक्तिपात कहा जाता है। तंत्रों में दिव्य साधक को कौल कहा जाता है। कौल के लिये लाभ-हानि, पाप-पुण्य समान हैं। विष से विषक्षय करने का उनका सिद्धान्त है। इस मार्ग को वे लोग अति दुर्गम मानते हैं। इसी मार्ग का अवलंबन कर वे शिवत्व का लाभ करते हैं। यह कौल नीति नाथनीति है क्योंकि नाथ लोगों को कौल नाम से भी पुकारा जाता है।[3] इस सम्पूर्ण विवरण से यही सिद्ध होता है कि नाथों का तंत्र से घनिष्ठ सम्बन्ध था। केवल इतना ही नहीं, शैवों, तांत्रिकों और नाथों का परस्पर संबन्ध सैद्धान्तिक ही नहीं साधनात्मक भी था।

---

[१] वही, पृ० १९-२०।

[२] वही, पृ० ५८-५९।

[3] नाथ सम्प्रदायेर इतिहास दर्शन ओ साधनाप्रणाली—पृ० १६४-१६५।

इस परिच्छेद में दो बातें विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं। पहली बात तो यह है कि नाथमत अधिकांशतः तांत्रिक साधन और सिद्धान्त का अनुसरण करता है। केवल यत्र-तत्र विवरणों में भेद मिलता है। दूसरी बात यह है कि राजयोग या ज्ञानयोग या समाधियोग के साथ साथ हठयोग और कुंडलिनी योग का विचार और समन्वय नाथों में भी मिलता है। नाथों को हठयोगी कहा जाता है किन्तु इससे एक भ्रम उत्पन्न होता रहा है कि नाथयोगी केवल हठयोगी हैं। पिछले विवेचन से स्पष्ट है कि केवल हठयोग आध्यात्मिक साधन की दृष्टि से निरर्थक है तथा राजयोग का उपकारक होने में ही उसकी उपयोगिता है। यही बात कुंडलिनीयोग के विषय में भी कही जा सकती है।

योगसाधन के पिछले विवरण से स्पष्ट है कि इस सम्पूर्ण साधन में गुरु की महत्ता और आवश्यकता को वैष्णव, शैव, शाक्त सभी सम्प्रदायों ने स्पष्टतया स्वीकार किया है। तंत्रों में तो गुरु देववत् स्वीकार्य हैं।[1] गुरुशिष्यवाद के साथ तंत्रों का तथा अन्य साधनापद्धतियों का जो दूसरा सिद्धान्त संलग्न है, वह अधिकारभेदवाद है। इन सिद्धान्तों में सिद्धावस्था या सिद्ध के लक्षण भी अन्तर्गर्भित हैं। नाथों के साधन का आरंभ गुरुतत्व से होता है। इस गुरु-तत्व का थोड़ा सा परिचय हम भक्ति के विवेचन में भी दे चुके हैं। गुरु तत्व का योगसाधन से भी अति घनिष्ठ संबंध स्वीकार किया जाता है। कारण यह है कि साधक को इसमें अनेकानेक रहस्यमय, अपरिचित तथा कठिन मार्गों पर चलना पड़ता है जिनमें आंशिक असावधानी तथा अज्ञान से शिष्य के रुग्ण होने या उसकी प्राणहानि होने तक की आशंका रहती है। नाथों के योगसाधन में, सिद्धसिद्धान्तपद्धति के अनुसार, पिंड के समरसीकरण को स्वीकार किया गया है। यह परमपद में समरसीकरण गुरु की कृपा से होता है। वही पिंडपद और परमपद का ज्ञान कराता है। शास्त्रज्ञान या ऊहापोह से इनका ज्ञान नहीं होता। इस परमपद को स्वसंवेद्य भी कहा गया है। गुरु-चरणों में रत रहने से इस स्वसंवेद्य परमपद की सिद्धि संभव बतलाई गई है। केवल इसी साधन से योगियों को स्वकीय पिंड के निरुत्थान का अनुभव होता है तथा तत्पश्चात् समरसीकरण की सिद्धि होती है।[2] कहा गया है कि

---

[1] इं० तं० शा०, पृ० ६५-६७।

[2] सि० सि० प० अ० ना० यो०, क० मल्लिक, सि० सि० पद्धति, ५.१-१२।

अशौच, उदकक्रिया, स्वभावज्ञान, अभ्यास, आसन, वैराग्य, अनाहार, प्राणधारण, मुद्रा, कायक्लेश, जप, तप, ध्यान, तीर्थसेवन, देवार्चन, भक्ति, आश्रमपालन, षड्दर्शन, केशधारण, मुंडन आदि दैहिक साधनों से परमपद की प्राप्ति कदापि नहीं होती। सिद्ध पुरुष अदैहिक साधनों का आश्रयण कर परमपद की प्राप्ति करते हैं। अदैहिक साधनों में स्थिति गुरु के दृक्पात से होती है। यह स्थिति या तो गुरु के कथन या उपदेशकथन या शक्तिपात या पादावलोकन या गुरु की कृपा से होती है तथा फलस्वरूप परमपद की प्राप्ति होती है। इसलिये गुरु से बड़ा कोई नहीं है। वह अपनी करुणा के खड्गपात से पशु (साधक) के आठों प्रकार के पाशों का छेदन करता है। उसकी इस प्रकार की क्रिया से साधक सम्यक् आनंद में मग्न हो जाता है। उसकी यह कृपा विश्रांतिकारक होती है। बिना स्वात्मगत विश्रांति के पिंडपद का समरसीकरण नहीं होता। शास्त्र, अनुमान, तर्क आदि से भ्रांत करनेवाला गुरु गुरु नहीं है। उपर्युक्त गुणों, धर्मों से समलंकृत गुरु को प्राप्त कर शिष्य जन्म और संसार के बंधन से मुक्त हो जाता है तथा परानंदमय होकर निष्कल शिवत्व की उपलब्धि करता है।[१]

प्रकृति के सभी विकारों का अवधूनन करने वाला सिद्ध ही अवधूत है। अवधूत योगी ही सद्गुरु पद को प्राप्त कर सकता है।[२] सिद्धसिद्धान्तपद्धति में सिद्ध योगी अवधूत को अत्याश्रमी, योगी, सिद्धयोगी, जितेन्द्रिय आदि कहा गया है।[३] गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह ने इसे प्रमाण रूप में उद्धृत किया है।[४] संग्रहकार द्वारा उद्धृत षोडशनित्यातंत्र के उद्धरणों में गुरुरूप में भगवान् शिव को नमस्कार किया गया है। कुलार्णवतंत्र के उद्धरण में बताया गया है कि श्रीगुरु से श्रेष्ठ कोई दूसरा देवता नहीं है। उपायस्वरूप गुरु के साधन का महान् कष्ट भी स्वल्प हो जाता है और उसकी कृपा से स्वल्पकल्पमात्र से सहज सिद्धि प्राप्त होती है। बिना प्रयत्न के वायुस्थैर्य, बिना दृश्य के दृष्टिस्थैर्य, बिना अवलम्ब के चित्तस्थैर्य उसकी कृपा से संभव हैं।[५] इस गुरु को ३६ लक्षणों से सम्पन्न होना चाहिए। अधिक तत्त्व से गुरु कहा जाता है। शिष्य

---

[१] वही, ५.५४-८१।

[२] वही, ६.१, २१।

[३] सि० सि० प० का संपूर्ण षष्ठ उपदेश।

[४] गो० सि० सं०, पृ० ३१-३२।

[५] वही, पृ० ४५, ४६, १४, ४०।

के गुरु से चार लक्षण कम होते हैं अर्थात् उसमें ३२ लक्षण आवश्यक माने गये हैं। इनसे कम लक्षणों से युक्त सिद्ध व्यक्ति को गुरु रूप में स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए। ३२ से कम लक्षणों से युक्त व्यक्ति को शिष्य भी नहीं बनाना चाहिए। बनाने पर गुरु पाप का भागी होता है। अतः अधिक शिष्य बनाना भी वर्जित है। शिष्य के इन ३२ लक्षणों के लिये आठ परीक्षाएँ स्वीकार की गई हैं। सिद्धसिद्धान्तपद्धति में इन लक्षणों का वर्णन नहीं है। गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह में बताया गया है कि ये गुण या लक्षण अवधूत संप्रदाय के अनुसार हैं—

> १—ज्ञान परीक्षा—निरालम्ब, निर्मम, निवासी, निशब्द। २—विवेक परीक्षा—निर्मोह, निर्बंध, निःशंक, निर्विषय। ३—विवेक परीक्षा या परीक्षा-वमेक—सर्वंगी, सावधान, सन्, सारग्राही। ४—निरालम्ब परीक्षा—निष्प्र-पंच, निस्तरंग, निर्द्वन्द्व, निर्लेप। ५—संतोष परीक्षा—अयाचिक, अवांछक, अमान, अस्थिर। ६—शील परीक्षा—शुचि, संयमी, शांत, श्रोता। ७—सहज परीक्षा—सहज, शीतल, सुखद, स्वभाव। ८—शून्य परीक्षा—लय, लक्ष्य, ध्यान, समाधि।

गोरक्षसिद्धान्तसंग्रहकार ने गुरु में कौन-कौन से लक्षण अधिक हैं यह नहीं बतलाया।[1] पहले यह बतलाया जा चुका है कि अवधूत मत में नादक्रम, शिष्यक्रम, महागायत्री या योगशास्त्र तथा तदुत्पन्न तंत्रशास्त्र का क्रम और शिक्षा चलती है जिसमें उपर्युक्त शिष्यलक्षण या गुरुलक्षण पर ध्यान रख कर या उसे आधार मानकर उपदेश प्राप्त करने या साधन क्षेत्र में प्रवेश करने का अधिकार प्रदान दिया जाता है।[2]

तंत्रों में, साधन करते समय, विशेषकर षट्चक्रसाधन में बताया गया है कि आज्ञा चक्र तक साधक को गुरु की आवश्यकता होती है, तत्पश्चात् वह अपनी अभ्यासशक्ति और आत्मशक्ति से, आज्ञाचक्र में मनोलय के बाद, अग्रसर होता है। तब गुरु और शिष्य में भेद नहीं रहता। इस प्रकार का कोई भी विचार नाथों के संस्कृत के योगग्रंथों में दिखाई नहीं पड़ता। नाथ साहित्य में ३२ और ३६ लक्षणों का जो निर्वचन मिलता है, वह शारदातिलक जैसे तांत्रिक ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं। किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि तंत्रों में जैसे गुरु परम-तत्वस्थानीय माने गये हैं, उसी प्रकार नाथ साहित्य में और उसी प्रकार वैष्णव-

---

[1] वही, पृ० ५६-५७।

[2] वही, पृ० ७२।

साहित्य में भी उसको माना गया है। विशेषकर नारदपंचरात्र में इस प्रकार का जो विवरण मिलता है, वह पहले ही विवेचित हो चुका है।[१]

इसी गुरुशिष्यवाद से संबद्ध साधन का दूसरा तत्व अधिकारभेदवाद है। सभी साधनाओं में साधक के ऊर्ध्वगमन के कुछ क्रम होते हैं और क्रमानुसार ही वह साधक अग्रसर होता है। तांत्रिकों में भावत्रय और सप्ताचार की व्यवस्था है। नाथों में सप्ताचार-सी कोई व्यवस्था नहीं दिखाई पड़ती किन्तु भावत्रय के संबंध में यत्र-तत्र कुछ संकेत अवश्य मिलते हैं। पशु, वीर और दिव्य नामों का प्रयोग अवश्य मिलता है किन्तु उनके लक्षण और व्याख्याएँ उपलब्ध नहीं हैं। ऊपर गुरु-शिष्य और अवधूत के लक्षणों का जो परिचय दिया गया है, उसके आधार पर नाथों के अधिकारभेदवाद का कुछ अनुमान किया जा सकता है। गोरक्षसिद्धांतसंग्रह में शिष्य की परीक्षाओं का जो क्रम दिया गया है, उसमें अंतिम दो परीक्षाएँ अत्यधिक कठिन प्रतीत होती हैं। प्रथम ६ परीक्षाओं में जिन २४ गुणों की परीक्षा की बात बताई गई है वे नाथसाधनान्तर्गत संयमों के समान ही हैं। उनमें यम-नियम के अन्तर्गत आने वाले कई संयम, आचार और अभ्यास भी यत्किंचित गृहीत प्रतीत होते हैं। सातवीं परीक्षा के गुण प्रथम ६ परीक्षाओं के गुणों को आयत्त कर लेने के बाद ही प्राप्त हो सकते हैं। जैसे शून्य परीक्षा में ऐसा प्रतीत होता है कि शिष्य की योग्यता समाधि के अनुकूल है या नहीं, इसका ध्यान रखा गया है। शिष्य क्रमशः ३२ लक्षणों से युक्त होकर साधनक्षेत्र में अग्रसर होता है तथा अन्ततोगत्वा स्वयम् ३६ लक्षणों से सम्पन्न होकर अवधूत योगी के पद को प्राप्त करने में समर्थ होता है। इस पद को प्राप्त करने वाला व्यक्ति ही पूर्ण अधिकारी होता है। तभी वह पूर्ण तत्त्व का, नाथमत के स्वीकृत लक्ष्य का साक्षात्कार करता है। इस प्रकार शिष्य, अवधूत योगी तथा गुरु के लक्षणों के निर्णय और विश्लेषण के आधार पर नाथ-मत-संमत अधिकारभेदवाद का अनुमान किया जा सकता है।[२]

साध्य या लक्ष्य के स्वरूप का निर्णय हो जाने पर तदनुकूल साधनपद्धति का विचार किया जा सकता है। नाथमार्ग का परमपद 'नाथ' है। गोरक्षसिद्धान्तसंग्रहकार ने 'नाथस्वरूपेणावस्थानम्' को ही लक्ष्य के रूप में स्वीकार

---

[१] विशेष विवरण के लिये इं० तं० शा०, उडरफ, पृ० ६५-६७।

[२] विशेष विवरण के लिये—ना० सं० इ० द० सा० प्र०, पृ० ५५३—५५८।

किया है ।[१] यह ग्रंथ अधिकांशतः सिद्धसिद्धान्तपद्धति के सिद्धान्तों तथा साम्प्रदायिक रीतियों का अनुसरण करता है। सिद्धसिद्धान्तपद्धति में कहा गया है कि समरसीकरण के लिये, गुरुकृपा से पिडंसंवित्ति के लिये शुद्ध या दिव्य देह की आवश्यकता है। बिना गुरुकृपा और शुद्ध देह के इस लक्ष्य की सिद्धि नहीं हो सकती। इसीलिये नाथ मार्ग में यह कायसिद्धि आवश्यक मानी गई है जिसका लक्ष्य समरसीकरण है।

निराकार-साकार, निर्गुण-सगुण, द्वैत-अद्वैत आदि से परे, सर्वातीत, स्वसंवेद्य केवल अनुभवगम्य तत्त्व ही नाथपद है। इस पद को अनिर्वाच्य तथा स्वात्म-प्रकाशरूप कहा गया है। वह निश्चल, निर्मल, शांत, सर्वातीत, निरामय है। अहंकारयुक्त, सुख-दुःख-युक्त, जीवनभावनाकुल, काम-क्रोध, लोभ-भय-चिन्ता, मोह, मद, जरा-मृत्यु, कार्पण्य, शोक, निद्रा, क्षुधा, तृषा, द्वेष, हर्ष-विषाद, जागर्ति-स्वप्न-सुषुप्ति, शंका, गर्व आदि दोषों से सर्वथा मुक्त शिवतत्व ही होता है। जीव इन दोषों से युक्त होता है।[२] अन्यत्र नाथमतानुसार मोक्ष वह अवस्था मानी गई है जिसमें समाधि के क्रम से मन द्वारा मन का अवलोकन किया जाता है। इसी को आगे जीवन्मुक्ति पद कहा गया है।[३] परमात्मा को तीन प्रकार की शक्तियों से समलंकृत, चित् दर्पण में प्रतिबिम्ब समान, विविध भाव-कलाकलित, संसार की चेष्टाओं के अवलोकन में कुशल कहा गया है। वह जलचन्द्रवत् दिखाई पड़ता है। यह सर्वव्यापी, चतुर्दशविधभूतग्राम-कर्ता है।[४]

पिंडवर्णन नाथों का, तथा तांत्रिकों का भी, प्रिय विषय है। नाथों तथा तंत्रों को पिंडब्रह्माण्डएकत्ववाद का सिद्धान्त मान्य है। पिछले अध्याय के लययोग के प्रसंग में इस सिद्धान्त का थोड़ा सा परिचय उपस्थित किया गया है।[५] नाथों के उपर्युक्त लक्ष्य की प्राप्ति के लिये पिंडज्ञान आवश्यक है। सिद्धसिद्धांत-पद्धति में कहा गया है कि योगी को पिंडगत नवचक्र, षोडश आधार, तीन लक्ष्य, पंच व्योम अवश्य जानने चाहिएँ।[६] अन्यत्र गोरक्ष ने कहा है कि जो

---

[१] गो० सि० सं०, पृ० १०, 'परम पुरुषार्थस्तु·········सदानन्द देवता।'

[२] योगबीजम्—श्लोक १०, ११, १३-१७।

[३] अमरौघशासनम्—पृ० ९।

[४] वही, पृ० १२-१३।

[५] विस्तार के लिये—इं० तं० शा०, पृ० ३४-३५।

[६] सि० सि० प०, २·३१।

योगी पिंडगत एक स्तम्भ, नव द्वार, पंचदेवता आदि को नहीं जानता वह सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता ।[१] जो व्यक्ति या योगी पिंड में सम्पूर्ण चराचर का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, उसे 'पिंडसंवित्ति' कहते हैं ।[२] पिण्ड के अन्तर्गत जो कुछ भी है, वह संपूर्ण ब्रह्माण्ड का संक्षिप्त रूप या प्रतीक है । इसमें देवता, परमतत्व, पाताल, ब्रह्माण्ड, कलाएँ, वर्ण, उपवर्ण, द्वीप, समुद्र, खण्ड, पर्वत, उपपर्वत, नदियाँ, उपनदियाँ, कुल्य, उपकुल्य, नक्षत्र, राशियाँ, नौ ग्रह, तिथियाँ, तारामंडल, दानव, यक्ष, राक्षस, पिशाच, भूत, प्रेत, कुलनाग, सनकादि मुनि, मातृशक्तियाँ, उग्र देवता, मेघ, तीर्थ, अनन्त सिद्ध, चन्द्र, सूर्य, वृक्ष-लता-गुल्म-तृण, कृमि-कीट-पतंग, सुख, दुःख, मुक्ति, शान्ति आदि सभी निवास करते हैं । इन सब वर्णनों का समाहार गोरक्षनाथ ने इस एक वाक्य में कर दिया है—'इस प्रकार सभी शरीरों में विश्वस्वरूप परमेश्वर चित्स्वरूपी परमात्मा अखण्ड स्वभाव से घट-घट में स्थित रहता है । इस प्रकार पिंडसंवित्ति होता है ।'[३]

उपर्युक्त समरसीकरण के लिये योगबीज योगरहित ज्ञान और ज्ञानरहित योग की निरर्थकता बतलाते हुए योगयुक्त ज्ञान को ही मोक्षोपाय के रूप में स्वीकार करता है ।[४] दो प्रकार के देहियों में से अपक्व देही योगहीन होते हैं । अपक्व देह शीतोष्ण, सुख, दुःख, आदि व्याधियों से पीड़ित रहता है । उसका मारुत चंचल रहता है, क्षुब्ध रहता है । ऐसा देही देहावसान के समय जिसकी-जिसकी विभावना करता है, उसी-उसी में वह आगे जन्म लेता है । यही उसके जन्म लेने का कारण है । यदि अहंकार का नाश कर दिया जाय तो वह व्याधियों से पीड़ित रहने वाला शरीर भी नष्ट हो जायगा ।[५] अहंकार, व्याधियों और दोषों से पीड़ित रहनेवाला देही शरीर से विजित रहता है । इस शरीर के जय का एकमात्र उपाय योग है । योगाग्नि से सप्तधातुमय तथा महाभूत-निर्मित शरीर दग्ध हो जाता है । इस प्रकार स्थूल से भी स्थूल, जड़ से भी जड़ शरीर सूक्ष्मातिसूक्ष्म हो जाता है ।[६] ऐसा योगसाधनबल से परिपक्व देही मृत्यु को प्राप्त नहीं करता । विरक्त ज्ञानी अंत में शरीर द्वारा ही विजित हो जाते

---

[१] गो० सं०, १.१३-१४ । गो० प०, १.१३-१४ ।

[२] सि० सि० प०, ३.१ ।

[३] वही, ३.२–१४ ।

[४] यो० बी०, श्लोक १८-१९ ।

[५] वही, ३४-३५, ३७-४०, ४४-४७ ।

[६] वही, ४९-५३ ।

हैं। किंतु ज्ञान के बिना भी योग सिद्ध नहीं होता।[1] इस प्रकार नाथयोगी का लक्ष्य होता है ऐसे शरीर की प्राप्ति जिसका पतन न हो, जिसके बाहर प्राण न जाता हो। इनका लक्ष्य वह अवस्था है जिसमें शरीर भी ब्रह्मत्व को प्राप्त करता है। शरीर चिन्मय हो जाता है और फिर अनन्यता की प्राप्ति होती है।[2] यह पिंडसिद्धि परमपद की प्राप्ति का अनिवार्य सोपान है। संक्षेप में नाथों का लक्ष्य है जीवन्मुक्तियुक्त सिद्ध देह से नाथरूप में अवस्थान या पिंडपद का परमपद में समरसीकरण।

परिपक्व देह या सिद्ध देह की प्राप्ति के लिये योग ही उपाय है। इस नाथयोग का तांत्रिक योग से घनिष्ठ संबंध है। नाथयोगी हठयोग को प्रधानता देते हैं। योगतत्त्वोपनिषद् के अनुसार चार प्रकार के योगों में से हठयोग भी एक है। योगों के स्थूल और सूक्ष्म नाम के दो भेदों को स्वीकार करने पर हठयोग को स्थूल और तथा समाधियोग को सूक्ष्म भेदों के अन्तर्गत रखा जा सकता है। हठयोग से राजयोग की सिद्धि होती है। घेरंडसंहिता में प्राणायाम से, जिसका प्राणायाम में अधिकतम महत्त्व है ऐसे लाघव की प्राप्ति मानी गई है। इससे नाड़ीशुद्धि भी बतलाई गई है। प्राणायाम साधन के लिये बहुत विस्तार से संयम और आचार का उपदेश दिया गया है। तांत्रिकों के षट्चक्रभेद में हठयोग का भी विनियोग है। यह भी बताया गया है कि मन, प्राण और वीर्य में से किसी एक को नियंत्रित कर लेने से शेष भी नियंत्रित हो जाते हैं। प्राण के चंचल होने से मन चंचल होता है और मन के चंचल होने से शुक्र चंचल होता है। अतः प्राणसंयम आवश्यक है। मंत्रयोग, लययोग और राजयोग में प्राणायाम एक सहायक के रूप में स्वीकार किया जाता है किंतु हठयोगी इसे प्रधानरूप से मोक्षोत्पादक मानता है। यह हठयोग कुंडलिनी योग या लययोग या पंचभूतशुद्धि का सहायक साधन है। स्थूल शरीर का संयम सूक्ष्म शरीर तथा उसके भाव, विचार और वासना को प्रभावित करता है। प्राण अधिभूत तत्त्व है। इस प्रकार प्राणायाम या हठयोग आधिभौतिक साधन है। सभी योगसाधनों की समीक्षा करने से यह स्पष्ट होता है कि योग की दो धाराएँ हैं—ध्यानयोग या भावनायोग और कुंडलिनीयोग। इन दोनों में भेद है। प्रथम में समाधि की प्राप्ति ज्ञान के क्रियाज्ञान से होती है किंतु ध्यानयोगी हठयोगी की तरह स्थूल शरीर से संबंधित नहीं रहता। एक सफल ध्यानयोगी शरीर और

---

[1] वही, ५६, ५९-६०, ६८-७०।

[2] वही, १८३-१८७।

स्वास्थ्य से क्षीण, दुर्बल, अल्पायु और रोगी हो सकता है। उसकी मृत्यु का निश्चय वह स्वयं नहीं, अपितु उसका शरीर करता है। वह अपनी इच्छा से शरीरत्याग नहीं कर सकता। वह सांसारिक और शारीरिक पीड़ाओं से मुक्ति केवल मृत्यु होने पर ही प्राप्त कर सकता है। हठयोग की सामान्य क्रियाओं से सिद्धदेह या परिपक्व देह की प्राप्ति होती है। मानससाधना के लिये यह सिद्ध देह सर्वाधिक उपयुक्त और उचित माध्यम हो सकती है। हठयोग एक ऐसे शरीर की प्राप्ति कराता है जो वज्रलौह के समान कठोर, स्वस्थ, रोगमुक्त और दीर्घायु होता है। हठयोगी शरीर का स्वामी होते हुए भी जीवन और मृत्यु दोनों का स्वामी होता है। उसकी मृत्यु इच्छामृत्यु होती है। विद्वानों ने परीक्षा कर निश्चय किया है कि नाथयोगियों ने हठयोग को या उससे प्राप्त सिद्धियों को कभी भी लक्ष्य के रूप में स्वीकार नहीं किया।[1] हठयोग के अति प्रसिद्ध और मान्य ग्रंथ हठयोगप्रदीपिका में कहा गया है कि राजयोग में आरूढ़ होने के लिये हठयोगविद्या का अभ्यास करना चाहिए। टीका में कहा गया है कि राजयोग सर्ववृत्तिनिरोध करता है तथा उसे असंप्रज्ञात योग भी कहते हैं।[2]

तांत्रिकों के समान ही नाथसाधन भी पिंडब्रह्माण्डवाद को स्वीकार करता है और इस साधन के लिये, पिंड और ब्रह्माण्ड या व्यष्टि और समष्टि के ज्ञान के लिये, इनके समरसत्त्व के लिये गुरु के महत्त्व को भी पूर्णतया स्वीकार करता है। षट्चक्रसाधन और नाड़ी-साधन से इस सिद्धांत का विशेष सम्बन्ध है। चक्रों, नाड़ियों, वायुओं आदि का वर्णन वस्तुतः पिंडवर्णन है। इस वर्णन के विवरण में यद्यपि सभी मत भिन्न है तथापि पिंड और ब्रह्माण्ड या व्यष्टि और समष्टि की एकता के विषय में सभी एकमत हैं। इस एकत्वसिद्धान्त का अनुभव कराने के लिये ही हठयोग से समन्वित कुंडलिनी योग या लययोग का अभ्यास आवश्यक है।[3] प्राणायाम साधन तथा तत्पश्चात् कुंडलिनीयोग-साधन पातंजल योग के क्रमशः प्राणायाम और धारणा अंग के अंतर्गत आते हैं। पातंजल योग की इसके बाद क्रमशः प्रक्रियायें हैं—ध्यान, समाधि। अतः हठ-योग को, जैसा पिछले परिच्छेद में बताया गया है, नाथयोग के अनुसार भी धारणा, ध्यान और समाधि की अवस्थाओं तक पहुँचने के लिये सोपानवत् सम-झना चाहिए।

---

[1] नाथयोग—अक्षयकुमार बनर्जी, पृ० १९।

[2] हठयोगप्रदीपिका—१.१ तथा टीका, श्लोक २ तथा टिप्पणी।

[3] इस विवरण से संबंधित विवेचन के लिये द्रष्टव्य—इं० त० शा०, उडरफ, पृ० ३४-३५, ४२-५७।

इस योगाभ्यास के आरम्भ के लिये संयम का विधान नाथाचार्यों ने किया है। घेरंड संहिता की तरह ही स्वात्माराम रचित हठयोगप्रदीपिका में भी हठयोग के अभ्यास का आरम्भ करने के पूर्व आहार, अपथ्य, पथ्य, भोजन आदि से संबंधित संयमों के पालन का उपदेश दिया गया है। कहा गया है कि ब्रह्मचारी और मिताहारी योगी शीघ्र ही सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। कहा गया है कि योगाभ्यास के समय वह्निसेवन, स्त्रीसेवन तथा मार्गसेवन नहीं करना चाहिए। गोरक्ष के वचन को उद्धृत कर कहा गया है कि इनके साथ ही दुर्जन प्रान्तों का त्याग करना चाहिए तथा प्रातः स्नान, उपवासादि कायक्लेश की विधियों को भी त्याग देना चाहिए।[१] योगाभ्यास के प्रतिबंधकों के विवरण में कहा गया है कि अत्याहार, परिश्रम, प्रजल्पन (या बहुभाषण), यमग्रह (स्नान, रात्रि में ही भोजनग्रहण, फलाहारादि का नियमग्रहण), जनसंगम, चंचलता, ये छ योगाभ्यास के प्रतिबंधक हैं। इसी तरह योगसाधकों के विवरण में उत्साह, साहस, धैर्य, तत्वज्ञान, निश्चय, जगसंगपरित्याग, इन छ की गणना की गई है।[२] इसके बाद यम और नियम का वर्णन (प्रक्षिप्त रूप में) किया गया है। बताया गया है कि यम में मिताहार मुख्य है तथा नियम में अहिंसा मुख्य है। योगी का आत्माध्यायी और मिताहारी दोनों होना आवश्यक बताया गया है।[3] (किंतु ह० यो० प्र० के यम-नियम संबंधी प्रक्षिप्त श्लोकों में अहिंसा और मिताहार दोनों ही यम में अन्तर्गणित हैं।)

ये यम और नियम पतंजलि के प्राचीन अष्टांग योग में भी अन्तर्गणित हैं। नाथयोगी अपने योग को षडङ्ग योग कहते हैं जिसके अन्तर्गत आसन, प्राणसंरोध (प्राणायाम), प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि की गणना है।[४] इन साधनों के अलग-अलग फल भी बताये गये हैं। आसन से मरुत् का हनन, प्राणायाम से पातक का नाश, प्रत्याहार से मानसविकारों का नाश, धारणा से मानस धैर्य की प्राप्ति तथा समाधि से मोक्ष की प्राप्ति बताई गई है।[५] घेरंड संहिता में बताये गये तांत्रिक सप्तांग योग के अंगों और उसके साधन से प्राप्त होनेवाले फल उपर्युक्त अंगों और फलों से भिन्न हैं। वे अंग

---

[१] ह० यो० प्र०, १.५७-६३।

[२] वही, १. १५, १६।

[3] वही, १. ३८, ४०।

[४] गो० सं०, १.७; योगमार्त्तण्ड—श्लो० २।

[५] यो० मा०, श्लो० १०२।

हैं—षटकर्म, आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान, समाधि। इनसे क्रमशः शोधन, दृढ़ता, स्थिरता, धैर्य, लाघव, प्रत्यक्ष, निर्लिप्त और मुक्ति की प्राप्ति बताई गई है।[१] इसमें यम-नियम सम्मिलित नहीं हैं। नाथसाधन में उनकी अनुपस्थिति के संबन्ध में श्री बनर्जी के विचार हैं कि नाथों ने पातंजल योग के यम-नियय के अन्तर्गत गिनाये गये संयमों को सभी सामान्य व्यक्तियों के लिये अनिवार्य माना है। अतः वे उन्हें अंगों के रूप में स्वीकार नहीं करते। ये नैतिक ब्रह्मचर्य संबंधी आचार और संयम योग में दीक्षित-अदीक्षित सभी व्यक्तियों के लिये आवश्यक हैं।[२] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने नाथयोग के अंगों की संख्या के सम्बन्ध में दो विधियों की ओर संकेत किया है। पहली विधि गोरक्षनाथ की पूर्ववर्तिनी है जिसका उपदेश मृकण्डुपुत्र (मार्कण्डेय) आदि ने किया था और दूसरी विधि गोरक्ष आदि द्वारा उपदिष्ट है। म० म० पं० गोपीनाथ कविराज का मत है कि पहली विधि उन सभी आठ अंगों को स्वीकार करती है जिन्हें पातंजल योग के आठ अंगों के रूप में स्वीकार किया गया है। गोरक्षनाथ आदि की विधि केवल अन्तिम ६ अंगों को स्वीकार करती है।[३] किन्तु डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है कि यह भेद बहुत अधिक मान्य नहीं है। हठयोग के ग्रन्थों में अष्टांग योग की भी बात आती है और षडङ्ग योग की भी। गोरक्ष-शतक में षडंग योग की बात है और सिद्ध-सिद्धांतसंग्रह में अष्टांग योग की।[४] इस विवाद में पहले उद्धृत श्री अक्षय-कुमार बनर्जी का मत ध्यान देने योग्य है।

यद्यपि सिद्धसिद्धान्तसंग्रह में यम और नियम सहित अष्टांग योग की बात कही गई है किन्तु उसमें यम-नियम का विस्तृत विवरण नहीं है। हमने पहले षडङ्ग योग के लिये जिन ग्रन्थों का विचार किया है, वे सभी गोरखनाथ रचित माने जाते हैं किन्तु सिद्धसिद्धांतसंग्रह गोरक्ष रचित नहीं है। गोरक्षनाथ के नाम से प्रसिद्ध सिद्धसिद्धान्तपद्धति में जिस अष्टांग योग का परिचय दिया गया है, उसमें यम-नियम की गणना कर ली गई है, जिससे यह प्रकट होता है कि गोरक्षनाथ की दृष्टि में योग के लिये यम-नियम आधारस्वरूप हैं। किंतु यम-नियम के जो लक्षण यहाँ मिलते हैं वे पातंजल योग के लक्षणों से भिन्न

---

[१] घे० सं०, श्लो० ९-११।

[२] ना० यो०, पृ० १८।

[३] सरस्वती भवन स्टडीज, भाग ६, कविराज जी का लेख।

[४] नाथ संप्रदाय,–पृ० १२४; सि०सि०सं०,–पृ० १६, १७ श्लो० २.४९-५८।

हैं।[१] यम-नियम का विस्तृत परिचय हठयोगप्रदीपिका में मिलता है। उसमें यम के दस प्रकार माने गये हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धृति, दया, आर्जव, मिताहार, शौच। इसी प्रकार नियम के दस प्रकार हैं—तप, संतोष, आस्तिक्य, दान, ईश्वरपूजन, सिद्धान्तवाक्यश्रवण, ह्री, मति, जप, होम।[२] श्री बनर्जी ने प्रदीपिका के इन श्लोकों के आधार पर अनुमान किया है कि यद्यपि नाथयोगी लोग अपने षडंग योग में यम-नियम को नहीं गिनते तथापि वे लोग हठयोगसाधन के प्रारम्भिक अभ्यास के लिये इन्हें बहुत अधिक महत्त्व देते हैं। वे पतंजलि द्वारा बताये गये पाँच प्रकार के यम तथा पाँच प्रकार के नियमों के स्थान पर दस यम और दस नियमों को स्वीकार करते हैं।[३] छान-बीन करने पर पता चला कि ये दशांग यम-नियम तांत्रिकों को ग्राह्य हैं। शारदातिलक में वे सभी श्लोक मिल जाते हैं जिन्हें हठयोगप्रदीपिका में उद्धृत किया गया है। उन श्लोकों में भी दशांग यम-नियम का वर्णन है। आगे इसकी चर्चा की गई है।

यम-नियम के अभ्यास के बाद हठयोग का वास्तविक आरम्भ होता है। यद्यपि हठयोग का मूल तत्त्व प्राणायाम है पर आसन स्थिर और सिद्ध हो जाने के बाद ही प्राणायाम का विधान है। इस हठ शब्द की कई प्रकार से व्याख्या की गई है। हठयोगप्रदीपिका में उद्धृत सिद्धसिद्धान्तपद्धति के अनुसार 'हठ' शब्द के दो अक्षरों में से 'ह्' का अर्थ सूर्य तथा 'ठ' का अर्थ चन्द्र बतलाया गया है। सूर्य-चन्द्र योग के कारण इसे हठयोग कहते हैं। प्रदीपिका के टीकाकार ने इसी प्रकार 'ह्' और 'ठ' को प्राण-अपान का वाचक मानकर प्राणायाम को ही हठयोग कहा है।[४] इसी प्रकार टीकाकार ने अन्यत्र भी सूर्य को सूर्य नाड़ी तथा चन्द्र को चन्द्र नाड़ी का वाचक माना है। सूर्य नाड़ी को दक्षिणांग

---

[१] सि० सि० प०, २.३२, ३३।

[२] ह० यो० प्र०, प्रथम उपदेश में १६-१७ वें के बीच में उद्धृत श्लोक। इस प्रसिद्ध ग्रन्थ के भाषा टीकाकार ने इस विषय के ढाई श्लोकों को प्रक्षिप्त माना है। उन्हें उद्धरणचिन्ह्रों के अन्तर्गत रखा गया है तथा इन श्लोकों की गणना भी मूल ग्रन्थ के श्लोकों में नहीं की गई है। इन श्लोकों पर संस्कृत टीका भी नहीं है। अतः ह० यो० प्र० को भी अष्टांग योग स्वीकार है, इसमें सन्देह है।

[३] नाथयोग—बनर्जी, पृ० १९।

[४] ह० यो० प्र०, १.१ तथा उसकी टीका।

में तथा चन्द्र नाड़ी को वामाङ्ग में बताया गया है। सूर्य नाड़ी को पिंगला भी कहा गया है। अतः चन्द्र नाड़ी को इड़ा समझना चाहिए। इस प्रकार इन दोनों के योग को हठयोग कहते हैं।[१] योगबीज में योग की कई परिभाषाएँ मिलती हैं। कहा गया है कि अपान और प्राण का योग रजस् और रेतस् का योग, सूर्य-चन्द्र का योग, जीवात्मा और परमात्मा का योग, योग है। इस प्रकार द्वन्द्वजाल का संयोग ही योग है।[२] कुछ मतों के अनुसार इस योग से हठात् सिद्धि मिलने के कारण इसे हठयोग कहते हैं।[३]

हठयोगप्रदीपिका तथा अन्य ग्रन्थों के उक्त कथनों से यह स्पष्ट होता है कि हठयोग प्राणायाम प्रधान होता है। किंतु ऊपर के और विवरणों को देखने पर नाथयोगियों के षडङ्ग योग में सर्वप्रथम स्थान आसन को ही दिया गया प्रतीत होता है।[४] गोरक्ष संहिता तथा अन्य योगग्रन्थों में आसनों की संख्या उतनी ही बताई गई है जितनी जीवजातियाँ हैं। इनमें ८४ आसन विशेष हैं तथा उनमें भी सर्वोत्तम दो हैं—सिद्धासन और कमलासन। गोरक्षनाथ के प्रसिद्ध ग्रन्थों में केवल उपर्युक्त दो का विस्तृत विवरण है। हठयोगप्रदीपिका तथा तांत्रिक ग्रंथों में स्वस्तिक, गोमुख, वीर, कूर्म, कुक्कुट, उत्तान, धनु, मत्स्येन्द्र, पश्चिमोत्तान, मयूर, शव, सिंह, भद्र, पद्म, आदि मुख्य आसनों का वर्णन मिलता है। हठयोगप्रदीपिका में भी सिद्धासन को अति महत्त्वपूर्ण आसन माना है। उसी को वज्रासन, मुक्तासन, गुप्तासन आदि नामों से भी अभिहित करते हैं। इनमें से प्रत्येक आसन के अलग-अलग गुण हैं किंतु सभी आसनों का सामान्य गुण है आरोग्य और अंगलाघव प्रदान करना।[५]

षडंग योग का दूसरा अंग प्राणायाम है, जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। प्राणायाम का घनिष्ठ सम्बन्ध नाड़ीशोधन से है। पिंड में मेढ़्र से ऊपर तथा नाभि के नीचे पक्षी के आकार की कंदयोनि है, जहाँ से नाड़ियाँ उत्पन्न होती हैं। इन नाड़ियों की संख्या ७२ हजार बताई गई है जिनमें ७२ मुख्य हैं तथा इनमें भी १० नाड़ियाँ प्राणवाहिनी एवम् प्रधान हैं। उनके नाम हैं—इड़ा

---

[१] वही, ३. १५ तथा उसकी सं० टीका।

[२] योगबीम्—१. ८९-९०।

[३] नाथ संप्रदाय—ह० प्र० द्विवेदी, पृ० १०३।

[४] ह० यो० प्र०, १. १७।

[५] गो० सं०, १.१-१०, यो० मा०, २-५; गो० सं०, २.१२; ह० यो० प्र० १.१७-५७।

पिंगला, सुषुम्ना, गांधारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलंबुषा, कुण्ड तथा शंखिनी। इड़ा नाड़ी वाम भाग में, पिंगला दक्षिण में, सुषुम्ना मध्य देश में, गान्धारी वाम चक्षु में, हस्तिजिह्वा दक्षिण चक्षु में, पूषा दक्षिण कर्ण में, यशस्विनी वाम कर्ण में, अलंबुषा आनन में, कुंड लिंगदेश में तथा शंखिनी मूल स्थान में स्थित मानी गई हैं। इस प्रकार दस द्वारों का आश्रयण कर ये नाड़ियाँ इस पिंड में स्थित रहती हैं। अमरौघशासनम् में 'कुण्ड' के स्थान पर 'कुहू' नाड़ी का नाम दिया हुआ है।[१] दस द्वार हैं—दो नासिका छिद्र, दो लोचनरन्ध्र, दो कर्णरन्ध्र, दो मुखरन्ध्र दो उत्सर्गरन्ध्र।[२] गोरक्षसंहिता में दस द्वारों का स्पष्ट वर्णन नहीं है। उसमें आगे बताया गया है कि इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना प्राणमार्ग का आश्रयण करती हैं। इनके देवता क्रमश: हैं—सोम, सूर्य, अग्नि। सिद्धसिद्धान्तपद्धति में केवल नौ नाड़ियाँ प्रधान मानी गई हैं।[३] अन्यत्र बतलाया गया है कि इड़ा और पिंगला दो नासाद्वारों में बहती हैं। सुषुम्ना तालुमार्ग से ब्रह्मरंध्रपर्यन्त प्रवाहित होती है। सरस्वती मुखद्वार से बहती है। पूषा और अलंबुषा चक्षु द्वारों से बहती हैं। इसी प्रकार गांधारी और हस्तिजिह्वा दोनों कर्णरन्ध्रों में बहती हैं। कुहू को गुदाद्वार में तथा शंखिनी को लिंगद्वार में प्रवाहित बतलाया गया है। यह शंखिनी दण्डमार्ग से ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त प्रवाहित रहती है।[४] सिद्धसिद्धान्तपद्धति का यह नाड़ी वर्णन गोरक्षसंहिता से कुछ भिन्न है। इन सभी नाड़ियों में सुषुम्ना सर्वश्रेष्ठ है। वह सुषुम्ना मोक्षमार्ग है, विश्वधारिणी है। यहाँ चन्द्र और सूर्य का निबंधन होने से काल ही निर्जित हो जाता है।[५] इसी प्रकार तंत्रों में भी सुषुम्ना को काल का भक्षण करनेवाली कहा गया है।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि सभी नाड़ियों में इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना महत्वपूर्ण हैं। इन्हीं को क्रमश: चन्द्रनाड़ी, सूर्यनाड़ी और अग्निनाड़ी कहते हैं। प्राणायाम के साथ जैसे नाड़ियों का संबंध घनिष्ठ है, उसी प्रकार विंदु का भी है। प्राणायाम के लिये विन्दुरक्षा अति आवश्यक है। विंदु

---

[१] गो० सं०, १.२४-३१; अमरौघशासनम्, पृ० ६। गो० सं० में मुद्रण-त्रुटि प्रतीत होती है।

[२] अमरौघशासनम्, पृ० ७।

[३] गो० सं०, १.३२; सि० सि० प०, ३.११।

[४] सि० सि० प०, १.६७।

[५] योगबीजम्, १३१-१३२।

को दो प्रकार का बतलाया गया है—पाण्डुर और लोहित। शुक्र पांडुर होता है तथा महारज को लोहित कहा गया है। सिन्दूर के द्रव के समान महारज रविस्थान में रहता है। उसी प्रकार पाण्डुर शुक्र शशिस्थान में रहता है। इन दोनों का ऐक्य दुर्लभ है। पाण्डुर विंदु शिव और लोहित विंदु शक्ति है। पाण्डुर विन्दु इन्दु और लोहित विन्दु महारज रवि है। इन दोनों के संगम से परमपद की प्राप्ति होती है। वायु द्वारा शक्तिचालन से जब महारज प्रेरित किया जाता है तब रवि और इन्दु के सहैकत्व से शरीर दिव्य हो जाता है। शुक्र चन्द्र के साथ तथा रज सूर्य के साथ संयुक्त है। इन दोनों के समरसैकत्व के ज्ञान से ही योगी योगी होता है।[१] अधोमुख चन्द्र अमृत वर्षा करता है तथा रवि उसका ग्रास कर लेता है। अतः पीयूषपान की विधि जाननी चाहिए। नाभि के ऊपर सूर्य तथा तालु के नीचे शशि है। इसके लिये विपरीतकरण जांनना चाहिए। योगमार्तण्ड में चन्द्र को अधोमुख तथा सूर्य को ऊर्ध्वमुख कहा गया है।[२]

प्राणायाम के साधन की व्याख्या में सिद्धसिद्धान्तपद्धति में कहा गया है कि प्राणायाम प्राण की स्थिरता है। रेचक, कुंभक और संघट्टकरण इसके चार लक्षण हैं।[3] गोरक्षसंहिता का कथन है कि जिस प्रकार भुजदण्ड से उक्षिप्त किया हुआ कंदुक उछलता है, उसी प्रकार प्राण से समाक्षिप्त जीव भी स्थिर नहीं रहता। प्राण और अपान के वशीभूत जीव ऊपर-नीचे दौड़ता है। वाम और दक्षिण मार्ग से चंचलता के कारण वह दिखाई नहीं पड़ता। जिस प्रकार रज्जु से बँधा हुआ श्येन (बाज) पुनः लौटा लिया जाता है, उसी प्रकार गुणबद्धजीव प्राणापान से छिन्न नहीं हो पाता। अपान प्राण को तथा प्राण अपान को आकृष्ट करता है। इन दोनों की अधः और ऊर्ध्व की स्थिति को जो जानता है, वही योग का जानकार है। प्राण 'हंकार' के साथ बाहर जाता है तथा 'सकार' के उच्चारण के साथ पुनः वह प्रवेश करता है। 'हंस' 'हंस'—इस मंत्र का जप जीव सदैव करता रहता है।[४] रात और दिन मिला

---

[१] गो० सं०, १.७३-७७। योगमार्तण्ड (सि० सि० प० अ० व० ना० यो०), ६०-६४।

[२] गो० सं०, २.३३-३५; योगमार्तण्ड (सि० सि० प० अ०…), १२१-१२३।

[3] सि० सि० प०, २.३५।

[४] गो० सं०, १.३८-४२। योगमार्तण्ड (सि० सि० प० अ० व० ना० यो०), २७-३१।

कर कुल वह २१६०० बार जप करता है। इसी को अजपा नाम की गायत्री कहते हैं जो मोक्षदायिनी होती है।[१] योगी को स्थाणुत्व की प्राप्ति करने के लिये वायु का निरोध करना चाहिए। जब तक वायु शरीर में है, तब तक ही जीवन माना जाता है। जब वायु शरीर में बाँध लिया जाता है तभी चित्त निरामय होता है। जब सभी नाड़ीचक्र शुद्ध हो जायँ तभी समझना चाहिए कि योगी प्राणसंग्रह में सक्षम हो गया है।[२] जब पद्मासनबद्ध योगी प्राण से चन्द्र नाड़ी को प्रपूरित करता है तथा सूर्य का रेचन करता है, तब वह इस प्रकार अमृत, दधि, गोक्षीरतुल्य धवल चंद्रबिंब का ध्यान कर सुखी होता है। इस प्रकार की प्राण और नाड़ी संबन्धी अन्य क्रियाओं के अभ्यास से नाड़ियाँ शुद्ध हो जाती हैं। वायु के यथेष्ट धारण से अनल का प्रदीपन, नाद की अभिव्यक्ति तथा नाड़ीशोधन होते हैं।[३] द्वादशमात्रासंयुक्त प्रणवात्मक (सामान्य) प्राणायाम रेचक, पूरक और कुंभक भेद से तीन प्रकार का होता है। उपदेश किया गया है कि पूरक को १२ मात्रा का, कुंभक को १६ मात्रा का तथा रेचक को दस ओंकार का करना चाहिए। इसे ही प्राणायाम कहते हैं। १२ मात्राओं का प्राणायाम अधम, उसका द्विगुण मध्यम तथा त्रिगुण उत्तम प्राणायाम कहा जाता है।[४] प्राणायामाभ्यासी योगी को बद्धपद्मासन होकर शिवरूप गुरु को नमस्कार कर केवल नासाग्र में दृष्टि लगाकर प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। उस अपान को ऊपर की ओर खींच कर उसे प्राण में नियोजित कर देना चाहिए। शक्ति से उसे ऊपर की ओर लाना चाहिए। इस प्रकार का प्राणायाम पातकनाशक होता है।[५] प्राणायाम के अभ्यास से यदि पवन को गगन में प्रेरित किया जाय तो घंटा, प्रकृष्ट वाद्यादिकों की ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं तथा सिद्धि की प्राप्ति की संभावना होती है। जैसे प्राणायाम के उचित अभ्यास से सर्वरोगक्षय होता है, उसी प्रकार अनुचित अभ्यास से सभी प्रकार के रोग भी उत्पन्न हो सकते हैं।[६] वायु के युक्तरूपेण त्याग

---

[१] यो० मा० (स० सि० प० अ०…), ३२-३३।

[२] यो० मा० (स० सि० प० अ०…), ७८-८०।

[३] गो० सं०, १.९६-१००; यो० मा०, ८४-८९।

[४] गो० सं०, २.३,५,६।

[५] वही, २.८, ९।

[६] वही, २.१८-२०, यो० मा०, १०८।

और ग्रहण का भी उपदेश किया गया है। इस प्रकार आसन और प्राणायाम से संयुक्त होकर धारणा के अभ्यास का विधान किया गया है।[1]

योगबीज ने तीन मुख्य बंधों से भी प्राणायाम का संबंध जोड़ा है। बंध तीन हैं—मूलबंध, उड्डीयानबंध और जालंधरबंध। इनमें से प्रत्येक के अभ्यास में प्राणाकर्षण की आवश्यकता बतलाई गई है। उड्डीयान को कुंभक और रेचक के अन्त में करने का उपदेश दिया गया है। इससे सुषुम्ना में बद्ध होने के कारण प्राण उड़ता है। इसीलिये इसे उड्डीयान कहते हैं। इसी प्रकार पूरक के अन्त में जालंधरबंध करने का उपदेश किया गया है।[2] इस प्रकार गुरु के प्रसाद से जो मरुत् को साधता है उसका चित्त पवन से साधित हो जाता है। यदि मरुत् के होते हुए भी चित्त भी नष्ट हो जाय तो प्रतीति और मरुत् भी नष्ट हो जाते हैं। ऐसे व्यक्ति के लिये न शास्त्र है, न आत्मप्रतीति है, न गुरु है, न मोक्ष है।[3] इन बताई विधियों से रेचक और पूरक करने से वायु स्थिर होता है, विभिन्न प्रकार के नाद उत्पन्न होते हैं, चन्द्रमण्डल में स्राव होता है।[4] नाड़ी, बंध आदि के अतिरिक्त कुंडलिनीसाधन से भी प्राणायाम का घनिष्ठ संबंध है जिसका विवरण कुंडलिनी के प्रसंग में दिया गया है। इस प्रकार विभिन्न ग्रंथों के आधार पर प्रस्तुत प्राणायामसाधन के विवरण से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि नाड़ीशोधन के लिये, पिंड को रोगरहित बनाने के लिये, पातकहानि के लिये प्राणायाम का साधन किया जाता है। यह क्रिया कुंडलिनीजागरण तथा चित्त की स्थिरता, दोनों में सहायक होती है क्योंकि तांत्रिकों के समान ही नाथयोगियों का भी मत है कि प्राण की चंचलता से चित्त चंचल होता है तथा चित्त के चांचल्य से विंदु चंचल होता है। अतः दोनों की स्थिरता के लिये प्राणायाम आवश्यक है। इन उद्देश्यों को ध्यान में रख कर प्राणायाम का विधान मिलता है।

ऊपर बतलाया गया है कि प्राणायाम का महत्व विन्दुधारण तथा विन्दु-स्थैर्य के लिये भी है। लम्बिका (अमरौघशासनम् में लम्पिका) के ऊपर जो विवर को खेचरी से मुद्रित कर लेता है, कामिनी-संगम से उसका बिंदु क्षरित नहीं होता। जब तक बिंदु शरीर में स्थित है तब तक मृत्यु का भय नहीं

[1] गो० सं०, २.२१,५२।

[2] योगबीजम्, ११५, ११८, ११९, १२१।

[3] वही, १३७-१३८।

[4] वही, १४१।

होना चाहिए। नभोमुद्रा का साधन करने पर विंदु का क्षरण नहीं होता। लोहित और पांडुर विंदु का वर्णन पहले ही किया जा चुका है। बताया गया है कि वायु के द्वारा शक्तिचारण से जब रज प्रेरित किया जाता है तथा जब विन्दु के साथ एकत्व को प्राप्त करता है तब शरीर को दिव्यत्व की प्राप्ति होती है। इस प्रकार विन्दुस्थैर्य में प्राणायामसहित मुद्रा सहायक होती है। बन्ध और वेध भी आसनक्रियाओं से समानता रखते हैं। वस्तुतः चैतसिक साधन का आरम्भ प्राणायाम के बाद से ही होता है। यम से प्राणायाम तक का साधन स्थूल शरीरसाधन से घनिष्ठरूपेण संबद्ध है। इन साधनों में प्राणायाम के सहायक के रूप में तथा बाद में कुंडलिनीसाधन के भी सहायक के रूप में मुद्रा, बंध और वेध का वर्णन हठयोग के ग्रंथों में मिलता है। ये सभी साधन घनिष्ठरूपेण एक दूसरे से संबद्ध हैं।

मुद्रा, बंध और वेध का सविस्तर वर्णन तांत्रिक ग्रंथों में मिलता है किंतु नाथ साहित्य में इनका इतना सविस्तर वर्णन उपलब्ध नहीं है। मुद्रा, बंध और वेध वस्तुतः स्थूल शरीर के साधन हैं। विभिन्न योगग्रंथों में इनका वर्णन किसी क्रम से नहीं किया गया है। अधिकांश ग्रंथों में आसन के बाद इनका वर्णन किया गया है। मत्स्येन्द्र ने योगविषय में इनकी कोई चर्चा नहीं की है। गोरक्षनाथ ने भी सिद्धसिद्धांतपद्धति में उनका अपने साधनपथ के रूप में उल्लेख नहीं किया है। उनके नाम से प्रसिद्ध इतर ग्रंथों में इन तीनों का वर्णन मिलता है। गोरक्षसंहिता में महामुद्रा, नभोमुद्रा, खेचरी मुद्रा, योनिमुद्रा तथा उड्डीयान बंध, जालंधरबंध और मूलबंध का वर्णन किया गया है।[1] घेरंड संहिता की तरह इनका अति विस्तृत विवरण हठयोगप्रदीपिका में मिलता है। गोरक्ष के नाम से प्रसिद्ध ग्रंथों में गोरक्षपद्धति को यद्यपि स्पष्टतः उसे गोरक्षसंहिता से संबद्ध माना गया है, तथापि जिन षट्कर्मों, मुद्रा, बंध, वेध का विस्तृत वर्णन गोरक्षपद्धति में उपलब्ध है, वह गोरक्षसंहिता में नहीं है। हठयोगप्रदीपिका में षट्कर्मों को उपकारक माना गया है। कहा गया है कि प्राणायाम का अभ्यास षट्कर्मों को कर लेने के बाद करना चाहिए। मतान्तर उपस्थित कर यह कहा गया है कि प्राणायाम करने से ही संपूर्ण मल शुष्क हो जाते हैं, इसलिये कुछ आचार्यों का ऐसा मत है कि प्राणायाम के अतिरिक्त

---

[1] गो० सं०, १.५७–७१, १.७७–७८,७९–८२। 'बिन्दुः शिवो रजः शक्तिः बिन्दुरिन्दु रजो रविः। उभयोः संगमादेव प्राप्यते परमं पदम्।' यो० मा०, ५९–६४।

जो षट्कर्म हैं वे सम्मत नहीं हैं ।[१] मुद्रा, बंध और वेध संबंधी विवरणों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि इन तीन साधनों में मुद्रा स्पष्टतः आसन की कोटि की है । आसन और मुद्रा के अभ्यास से देह की दृढ़ता और स्थिरता की प्राप्ति होती है । इन सबके बाद प्राणायाम और प्रत्याहार के द्वारा साधक क्रमशः आत्मप्रत्यक्ष की ओर अग्रसर होता है । मुद्राओं में अनेक ऐसी हैं जिनका उपयोग शक्तिजागरण में किया जाता है—उदाहरण के लिये शक्तिचालिनी-मुद्रा । लययोगादि के लिये योनिमुद्रा उपकारक बताई गई है । इसी प्रकार अमृतपान के लिये या वारुणीपान के लिये खेचरी मुद्रा का विधान है । मुद्रा का साधन स्थूल शरीर से होता है, सूक्ष्म शरीर से नहीं । अतः उन्हें भी आसन की ही कोटि में रखना चाहिए । वारुणीपान, वीर्यरक्षाभ्यास, कुंडलिनी-जागरण आदि विभिन्न क्रियाओं से मुद्राओं का संबंध है । इसलिये, जहाँ तक उपयोग का प्रश्न है, नाथयोगी ग्रन्थों में तथा अन्यत्र भी इनका भिन्न-भिन्न प्रसंगों में वर्णन मिलता है । इसी प्रकार बन्ध के विषय में भी (जिनका कुछ वर्णन पहले प्राणायाम के प्रसंग में हो चुका है) अनुमान किया जा सकता है । प्रायः सभी बन्धों का सम्बन्ध प्राणायाम से है । ये शरीर के विभिन्न अंगों की ऐसी स्थितियाँ या अवस्थाएँ है जिनमें प्राणायाम के अभ्यास में पर्याप्त सुविधा एवं सहायता मिलती है । अतः ये भी आसन के अभ्यास के बाद एवं प्राणायाम के पूर्व किये जाने चाहिएँ । इस प्रकार यह प्रकट होता है कि हठ-योग में यम, नियम, आसन, मुद्रा, बंध आदि स्थूल शरीर के साधन हैं । वेध भी बन्ध की तरह ही प्राणसाधन और नाड़ीसाधन से संबन्ध रखते हैं । नाथ-पंथी षडंग साधन में धारणा, ध्यान और समाधि, ये तीन सूक्ष्म शरीर के साधन हैं । इनका सम्बन्ध चित्त से है । पातंजल योग में भी इनका यही स्थान है ।

प्राणायामसाधन से ओंकारसाधन का घनिष्ठ सम्बन्ध है । वस्तुतः इसे प्राणायामसाधन का उपांग कहना चाहिए । ओंकारसाधन और अजपा-जाप दोनों ही प्राणायाम में अन्तर्भूत हैं । प्राणायाम अधम, मध्यम और उत्तम होता है । यह निर्णय मात्रा के आधार पर किया जाता है । यह मात्रा "ओंकार" की गणना से जानी जाती है । इसके जप के विधान में बतलाया गया है कि पद्मासन में स्थित होकर शरीर, शिर और उदर को सम करके, नासाग्र भाग में दृष्टि को एकाग्र करके अव्यय तत्व ओंकार का जप करना

---

[१] हठयोगप्रदीपिका, २.३६–३७ ।

चाहिए। इस प्रणव के अ, उ, म् तीन वर्ण क्रमशः भूर्लोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक के वाचक हैं। ये सोम, सूर्य्य और अग्नि नाम के देवताओं के भी वाचक हैं। इसी प्रकार ये तीन वर्ण, तीन काल, तीन वेद, तीन लोक, तीन स्वर के भी वाचक हैं। इन्हें क्रिया, इच्छा और ज्ञान या ब्राह्मी, रौद्री और वैष्णवी नाम की शक्तियों का भी बोधक कहा जाता है।[१] मत्स्येन्द्रनाथ ने इन तीनों वर्णों को ग्रंथियों से भी संबद्ध कर दिया है। उन्होंने अकार को वह्निदेश में, जहाँ ब्रह्मग्रंथि है, संस्थित माना है। उकार हृद्देश में, जहाँ विष्णु ग्रंथि है, स्थित है। उसी प्रकार मकार को भ्रूमध्य में जहाँ रुद्रग्रंथि है, स्थित माना गया है। तदनुसार ही अकार को ब्रह्मा, उकार को विष्णु तथा मकार को शिव कहा गया है।[२] गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह में ब्रह्म को पक्षपातविनिर्मुक्त कह कर उसे प्रणव से अभिन्न कहा गया है। बताया गया है कि स्वर (अ,उ) से तो योगसाधन करना चाहिए तथा अस्वर (म्) से परमतत्व की भावना करनी चाहिए। यही निष्कल निर्विकल्प निरंजन ब्रह्म है। इस प्रकार सरलता से निश्चय ही ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है।[3] योगविषय के अनुसार भी 'म्' शिवपद और रुद्रग्रंथि का वाचक है। इस प्रकार स्वर साधन से अस्वर शिव की सिद्धि कही गई है। वास्तव में ओंकारसाधन मंत्रसाधन है। इस मंत्र-साधन से गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह में अद्वयानुभव या अद्वयज्ञान की प्राप्ति का प्रतिपादन किया गया है। एक ऐसी अवस्था भी आती है, जब ओंकार को भी साधन के रूप में व्यवहृत नहीं किया जाता। ओंकार शिवस्थान या रुद्रस्थान तक पहुँचने के लिये रथस्थानीय साधन के समान है।[४] इस संग्रहकार ने बड़े विस्तार से नाथमतानुमोदित प्रभाव का प्रतिपादन उसी प्रकार किया है जिस प्रकार शिवोपनिषद्, बृहदारण्यकोपनिषद्, छन्दोग्योपनिषद् आदि में मिलता है। बताया गया है कि नाथमत या योगिमत के अनुसार योगियों का स्थूलवेद से कोई भी प्रयोजन नहीं है। उनका प्रयोजन और तात्पर्य केवल सर्ववेदमूलभूत ओंकार से है। यह वेदों का सार है। यह प्रणव ही वेद है।[५]

डा० कल्याणी मल्लिक ने बहुत विस्तार से प्रणव की बहुविध व्याख्या की

---

[१] गो० सं०, १. ८३,८६; योगमार्तण्ड, ७२-७७।

[२] योगविषय, १६-१८।

[3] गो० सि० सं०, पृ० २।

[४] वही, पृ० २।

[५] वही, पृ० २६-२८।

है। उसे उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं।[१] ओंकारसाधन की उपयोगिता मनोलय में बतलाई गई है। कहा गया है कि यह अजपा गायत्री कुंडलिनी से समुद्भूत होती है। इसे प्रणव विद्या भी कहते हैं। अजपा गायत्री के उच्चारण के साथ प्रणव वायु की भी क्रिया होती है। इसीलिये इसे प्राण की तारयित्री भी कहते हैं। कुंडलिनी शक्ति द्वारा इसकी परिपुष्टि होती है।[२] इस प्रणव को एकाक्षर नाम भी कहा जाता है। इस नाथसाधन को ही प्राचीन आगम-शास्त्र में शब्दयोग या वाक्योग कहा गया है। यही वस्तुतः नाद-विन्दु-साधन है। यह मंत्र हंसयोग का बीज है।[3] जैसा कहा जा चुका है, नाथ मत के अनुसार सूक्ष्मा सृष्टि प्रणव या महागायत्री है तथा स्थूला सृष्टि वेदत्रयी। प्रणव-साधन करनेवाला योगशास्त्र भी सूक्ष्मा सृष्टि के अन्तर्गत है। यह प्रणव कुंड-लिनी का स्पन्दन है। नाथगण जिस प्रणवतनु की चर्चा करते हैं, उसकी प्राप्ति कुंडलिनी के जागरण में होती है। इसी को ओंकारदेहलाभ भी कहते हैं। यह प्रणवतनु या ओंकारदेह चन्द्रामृतपान से अजरत्वलाभ करता है। इस प्रकार का देहधारी योगी जीवित रहते हुए भी मुक्त रहता है और संसार की दृष्टि में मृत रहता है। इसे ही नाथयोगियों के अनुसार 'सिद्धदेह' कहते हैं।[४] यह ओंकारसाधन सिद्धमत की विशेषता है। यह साधन ही नाथ मत का नाद-विंदुसाधन है। यही शिवशक्तिसाधन है।[५]

इस ओंकारसाधन का, प्राणायाम और नादानुसंधान से घनिष्ठ संबन्ध है। हठयोग के विभिन्न ग्रन्थों में ओंकारसाधन को ही नादानुसंधान कहा गया है। प्राणवायु जब ब्रह्मरंध्र में स्थिर हो जाता है तब क्षुद्रघंटिका, वंशी, वीणा भ्रम-रादि के नाद की तरह सूक्ष्मतर नाद सुनाई पड़ते हैं। नादानुरक्त मन क्रमशः इन नादों का भी त्याग अन्त में करके समाधि में लीन होता है। गोरक्ष-सिद्धान्तसंग्रह में नाद की चार अवस्थाओं का वर्णन मिलता है। विद्वानों ने इन अवस्थाओं का चार शून्यों से भी सम्बन्ध स्थिर किया है। चौथी अवस्था

---

[१] ना० इ० द० सा० प्र०, पृ० ४७५, ४७८ तथा गोरक्ष संहिता—५. ८, १०, १२, १३।

[२] ना० इ० द० सा० प्र०, पृ० ४७९ तथा गोरक्ष संहिता ५. २९, १.३८, ४०।

[3] ना० इ० द० सा० प्र०, पृ० ४८०-४८२।

[४] वही, पृ० ३२७-३२८।

[५] वही, पृ० २७२।

में प्राण ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर हो जाता है। चित्त एकविषयीभूत हो जाता है। यह विशुद्ध शून्यावस्था या परम शून्यावस्था है।[१] यही पूर्ण समाधि की अवस्था बताई गई है। इसी अवस्था में योगी जीवन्मुक्त होता है।[२]

प्रणव मंत्र और अजपागायत्री ये दोनों ही मंत्र हैं। मंत्रशास्त्र के अनुसार मंत्र परब्रह्म या उपास्य का नादमयविग्रह है। इसलिये उसमें श्रद्धा, विश्वास और भक्ति के साथ उसके जप का विधान मिलता है। इस जप के साथ अर्थभावना करने से भक्ति, श्रद्धा, विश्वास और प्रेम की वृद्धि स्वीकार की गई है। आदर्श जप तो वह है कि जिसमें दिव्य नाम और दिव्य शक्ति का स्मरण प्रत्येक श्वास में हो। वस्तुतः सिद्धमतानुसार प्राणायाम की रेचक क्रिया, जिसमें श्वास बाहर निकालती है, जीवात्मा का बाहर निकल कर जगत् में विश्वात्मा से एकात्म स्थापित करना है। उसी प्रकार पूरक क्रिया विश्वात्मा का जीवात्मा में ग्रहण और पूरण कर एकात्म स्थिर करने की क्रिया है।[३] इसी प्रकार कुंभक क्रिया इस एकात्म को अधिक से अधिक समय तक स्थिर रखने की क्रिया है। इन क्रियाओं में हंस मंत्र या अजपागायत्री का उपयोग इस स्थिरता को अधिक सरस और गंभीर बनाने के लिये किया जाता है। इस रूप में प्राणायाम की, जागरण, सुषुप्ति, स्वप्न, सभी अवस्थाओं में स्वाभाविक रूप से होनेवाली ये क्रियाएँ जीवात्मा-परमात्मा, आन्तर और बाह्य, अपूर्ण और पूर्ण, बद्ध और मुक्त के पूर्ण एकात्म को संपन्न करनेवाली क्रियाएँ हैं जिन्हें योगतत्व से अपरिचित व्यक्ति नहीं जानता। उनका कोई उपयोग वह नहीं कर पाता।[४] ओंकार आदि नाद है। यह अनाहत और अखण्ड है। यह अन्य नादस्रोतों का कारण है, मूल है। किन्तु अंतर यह है कि विश्व के सभी नाद खंडित हैं या सखण्ड है और यह अखण्ड है। इसका ही अनुसंधान नादानुसंधान नाम से अभिहित होता है जिसका विवरण पहले दिया गया है। यह नाद साधक के अंतस् में निसर्गतः विद्यमान रहता है। अंतस् में इसकी सत्ता ही ब्रह्म की अंतस् में सत्ता है। उसे ही नाद ब्रह्म कहते हैं। इसका अनुसंधान ब्रह्मानुसंधान है। साधक को इसी नाद पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए। किन्तु यह नाद मनुष्य को सामान्य सांसारिक दशा में अनुभूत और

---

[१] गो० सि० सं०, पृ० ३७३; ना० इ० द० सा० प्र०, पृ० ४६३-४६५।

[२] ना० इ० द० सा० प्र०, पृ० ४६६-४६७।

[३] नाथयोग, अक्षयकुमार बनर्जी, पृ० ५८-६०।

[४] वही, पृ० ६०-६१।

श्रव्य नहीं हो सकता। इसके लिये प्रणवजप को आरंभिक अवस्था में उपाय रूप में स्वीकार किया जाता है। आगे की अवस्थाओं में महत्वपूर्ण अवस्था वह है जिसमें इस नाद का ध्यान अनाहत चक्र में किया जाता है। अन्तिम अवस्था में विभिन्न चक्रों को अतिक्रांत कर नाद सहस्रार में साधक को साक्षात्कृत होता है। यही शिव-शक्ति की आनन्दमयी मिलनभूमि है। यहीं नादानुसंधान की क्रिया समाप्त होती है, उसके लक्ष्य की प्राप्ति होती है।[1]

प्राणायाम के बाद षडंग योग में प्रत्याहार का स्थान आता है। चैतन्य तरंगों का प्रत्याहरण, नाना प्रकार के विकारों से चित्त के ग्रस्त हो जाने के कारण उत्पन्न विकारों से भी निवृत्ति प्रत्याहार का लक्षण है।[2] भिन्न भिन्न ग्रंथों में प्रत्याहार की परिभाषा भिन्न भिन्न शब्दों में मिलती है। गोरक्षसंहिता में चक्षु आदि अपने विषयों में विचरण से आहरण प्रत्याहार कहा गया है। जिस प्रकार तृतीय काल में रवि अपनी प्रभा का प्रत्याहरण करता है, उसी प्रकार इस तृतीयांग प्रत्याहार में आकर योगी अपने मानस को विकारों से प्रत्याहृत करता है। कूर्म जैसे अपने अंगों को अपने अंगों में ही संकुचित कर लेता है, उसी प्रकार योगी अपनी इन्द्रियों का प्रत्याहरण करता है। योगी जो-जो अपने कानों से सुनता है, तथा इंद्रियों के प्रिय विषयों को ग्रहण करता है, उनसे-उनसे, वह उन्हें परिज्ञात कर उन इंद्रियों को प्रत्याहृत करता है। इसी प्रकार नासिका, चक्षु, चर्म, जिह्वा के प्रत्याहरण को भी बतलाया गया है।[3] प्रत्याहरण से योगी मानस विकारों का मोचन करता है।[4] इस प्रकार प्रत्याहार का सर्वमान्य लक्षण है—मानस का सभी विकारों से प्रत्याहरण। आसन से जहाँ शरीर के रोगमुक्ति की बात कही जाती है, वहीं प्राणायाम से नाड़ीमंडल का शोधन स्वीकार किया गया है। तीसरे प्रत्याहार में चित्त विभिन्न विकारों से प्रत्याहृत होता है। इस अंग के साधित होने पर चित्त सर्वथा विकारमुक्त हो जाता है।

षडंग योग में चतुर्थ अंग धारणा है। धारणा में बाह्य और अंतस् के एकमात्र निजतत्व स्वरूप का अन्तःकरण से साधन किया जाता है। जो कुछ उत्पन्न होता है, उसे निराकार में धारण, जीवात्मा का निर्वात दीप की तरह धारण

[1] वही, पृ० ६१-६४।

[2] सि० सि० प०, २.३६।

[3] गो० सं०, २.२३-३१; योगमार्त्तण्ड, ११३-११९।

[4] गो० सं०, २.१२।

ये धारणा के लक्षण हैं ।[१] धारणा से मानस स्थैर्य की प्राप्ति बताई गई है ।[२] आसन से समायुक्त करके तथा प्राणायाम से संयुक्त करके धारणा का अभ्यास करना चाहिए । हृदय में पंचभूतों के पृथक्-पृथक् धारण तथा मानस के निश्चलत्व के धारण के कारण ही इसे धारणा कहते हैं । यह धारणा पाँच प्रकार की बताई गई है—क्षितिधारणा, वारुणी धारणा, वैश्वानरी धारणा, वायवी धारणा और नभोधारणा ।[३] इन पाँच प्रकार की धारणाओं के नाम से ही स्पष्ट है कि इनका पंचभूततत्वों (पृथ्व्यप्तेजोवाय्वाकाश) से संबंध है । अंततः, धारणाओं के बाद, सिद्धसिद्धान्तपद्धति के अनुसार, चित्त का निराकार निजतत्व में एकत्व तथा आत्मा का निर्वातदीपत्व सिद्ध होना चाहिए । संक्षेप में ये धारणा के लक्षण हैं ।

घेरंड संहिता में भी ये पाँच प्रकार की धारणाएँ बतलाई गई हैं किन्तु उन्हें 'पंचधारणामुद्रा' के अन्तर्गत वर्णित किया गया है ।[४] पहले जो तांत्रिक योग का विवरण दिया गया है, उसमें धारणा से ही कुंडलिनीयोग या षट्चक्र भेद या लययोग का संबंध बतया गया है । घेरंड संहिता में कुंडलिनीसाधन के लिये मुद्राओं का अभ्यास आवश्यक बताया गया है । कहा गया है कि लयसिद्धिसमाधि के लिये योनिमुद्रा का अभ्यास करना चाहिए ।[५] उडरफ ने बतलाया है कि अष्टांगसाधन की धारणा से कुंडलिनीयोग का संबंध है । इसी प्रकार तांत्रिक योग में कुंडलिनीयोग को लययोग इसलिये कहते हैं कि इस साधन में शब्द ब्रह्म कुंडलिनी के शरीर में पंचभूतों का लय होता है तथा वे अंततः कुंडलिनी के साथ ही परम शिव से सहस्रार में लय प्राप्त करते हैं । तांत्रिक योग में धारणा से संबद्ध पंचधारणा मुद्रा है । ऐसा प्रतीत होता है कि तांत्रिकों के कुंडलिनीयोग में कुंडलिनीजागरण के लिये शक्तिचालनीमुद्रा, पंचभूतलयक्रिया के लिये पंचधारणा मुद्रा तथा लयसमाधि के लिये योनिमुद्रा का अभ्यास क्रमशः स्वीकार किया गया है । यद्यपि ग्रंथों में इस प्रकार का कोई क्रमबद्ध वर्णन नहीं मिलता तथापि अध्ययन से इस अनुक्रम पर पहुँचा जा सकता है । नाथों के यहाँ यद्यपि पाँच प्रकार की धारणा अवश्य स्वीकार की गई है

---

[१] सि० सि० प०, २.३७ ।

[२] गो० सं०, २.१३ ।

[३] गो०सं०, २.५२-५८ । यो० मा०, १४१-१५४ ।

[४] घे० सं०, ३.६३-७६ ।

[५] वही, ३.३२–३७; ७.१२–१३; ३.४४–४५ ।

तथापि उसे मुद्रा के रूप में विवेचित नहीं किया गया है, ऐसा ऊपर के विवरण से स्पष्ट होता है।

संस्कृत भाषा में उपलब्ध नाथ साहित्य में कुंडली और कुंडलीजागरण का विस्तृत विवरण उपलब्ध है। विभिन्न ग्रंथों में इस साधन के परिचय के लिये आसन, नाड़ी, प्राणायाम आदि का भी समायोग आवश्यक माना गया है। इस साधन के परिचय के लिये षट्चक्रों का ज्ञान सबसे अधिक आवश्यक है। मत्स्येन्द्रनाथ ने अपने 'योगविषय' में कुंडलिनीयोग को मुख्यता प्रदान की है तथा उसके अनुकूल ही षट्चक्र, सूर्यचक्र, अग्नि, ओंकार, ग्रंथि, कुंडलिनी, शंखिनी आदि के साधन, देवतार्चन, ईश्वरार्चन तथा उसकी सामग्री का वर्णन किया है। आसन से लेकर प्रत्याहार तक, धीरे धीरे, जैसा पिछले विवरण से विदित है, साधक स्थूल तत्वों से सूक्ष्म तत्वों के साधन की ओर या शारीरिक साधन से चैतसिक साधन की ओर अग्रसर होता हुआ प्रतीत होता है। कुंडलिनीसाधन भूतजय और भूतलय दोनों है और जैसा पहले बतलाया गया है, कुंडलिनी की यात्रा में पड़नेवाले विभिन्न पाँच चक्रों में क्रमशः पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश की स्थिति भी मानी गई है। इस प्रकार कुंडलिनी की यात्रा पृथ्वी की आकाश तक की यात्रा आध्यात्मिक यात्रा के रूप में कल्पित की जा सकती है। इन विचारों को ध्यान में रखकर नाथयोगियों के कुंडली और कुंडली-साधना संबंधी विवरण को उपस्थित किया गया है। विभिन्न ग्रंथों में तत्संबंधी विवरण भिन्न भिन्न मिलते हैं।

मत्स्येन्द्र ने छ चक्र माने हैं—आधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत विशुद्धि और आज्ञा। इनकी क्रमशः गुदा, लिंग, नाभि, हृदय, कण्ठदेश तथा भ्रूमध्य में स्थिति मानी गई है। निरंजन की स्थिति इन चक्रों से परे मानी गई है। ओंकार में अ, उ, म् तीन वर्ण हैं। अकार वह्निदेश या नाभिदेश में, उकार हृदयस्थान में तथा मकार भ्रूमध्य में स्थित है। तीन ग्रन्थियाँ हैं—सबसे नीचे आधार में ब्रह्मग्रंथि, हृदय में विष्णुग्रंथि तथा भ्रूमध्य में रुद्रग्रंथि की स्थिति मानी गई है। इस प्रकार अकार ब्रह्मा, उकार विष्णु तथा मकार रुद्र हैं। योगविषय की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें आज्ञा के ऊपर भी नौ चक्रों का वर्णन किया गया है। ये चक्र हैं—त्रिकूट, त्रिहट, गोल्लाट, शिखर, त्रिशिख, वज्र, ओंकार, ऊर्ध्वनाख और भ्रुवोर्मुख।[1] कुंडलिनीशक्ति के आठ

[1] योगविषय, श्लो० ८-१०, २०; सि० सि० प० अ० व० ना०—'समरीज' पृ० ४३।

कुंडलों के आठ नाम बताये गये हैं—प्रणवा, गुदनाला, नलिनी, सर्पिणी, बंकनालि, क्षया, शौरी और कुंडली । प्राण द्वारा कुंडली का चालन करने से शशिमंडल का भेदन हो जाता है और द्वार बन्द हो जाते हैं और वज्रगुम्भ की स्थिति प्राप्त होती है ।[1] ब्रह्मस्थान में नाद का श्रवण होता है, तब शंखिनी नाम की नाड़ी अमृत वर्षा करती है और इससे छ चक्रों का पवित्रीकरण हो जाता है । इससे ही ज्ञानदीप का प्रकाश होता है । इस ज्ञानदीप से योगी ईश्वर का साक्षात्कार करता है । वह तब अपने मानसरूपी पुष्प को उस ईश्वर को अर्पित करे और इस प्रकार ईश्वर की अर्चना करे ।[2] कुंडलिनी के जागरण के लिये बतलाया गया है कि कंठसंकोच करके दोनों नाड़ियों को दृढ़तापूर्वक स्तंभित कर देना चाहिए । रसना का निपीड़न करने से षोडश (षोडशी=कुंडलिनी ?) ऊर्ध्वगामिनी होती है ।[3]

सिद्धसिद्धांतपद्धति में पिंडोत्पत्ति का वर्णन करते समय बतलाया गया है कि स्वयं अनादि, सिद्ध, एकमेव अनादिनिधन (परमतत्व) की इच्छामात्र से ही धर्मिणी और अधर्मिणी बनने वाली निजा शक्ति है । उसके उन्मुख होने मात्र से परा शक्ति उत्थित होती है । परा शक्ति के स्पंदन मात्र से अपरा शक्ति उत्थित होती है । तब अहन्ता की अर्द्ध मात्रा से सूक्ष्मा शक्ति तथा उसमें से वेदनशीला कुंडलिनी शक्ति उद्गत होती है । इस तरह पाँच प्रकार की शक्तियों में सर्वान्तिम से वेदनशीला कुंडलिनी शक्ति उत्पन्न होती है । 'पद्धति' में इसी प्रकार पाँच शक्तियों, उनके गुणों, पिंडों, मूर्त्यष्टक, २५ गुण, कुल-पंचक, इनके गुण, पाँच प्रत्यक्षकरण, सूर्य, चन्द्र और अग्नि की कलाओं, नाड़ियों, दस द्वारों, दश वस्तुओं आदि का विस्तार से वर्णन मिलता है ।[4] इन पिंडों, भूततत्वों आदि का कुंडलिनीसाधन की दृष्टि से महत्व है । कुंडलिनी जिन चक्रों का भेदन करती है, उनमें भूत तत्वों और सात ऊर्ध्व लोकों की कल्पना की जाती है । इसी प्रकार कुंडलिनीसाधन इन सब भूततत्वों, पिंडों, लोकों का जय कर उनसे परे जाकर सहस्रारस्थ परम शिव से मिलन प्राप्त करने का साधन है । स्पष्ट ही पिंडब्रह्माण्ड के एकत्व का सिद्धांत इसका सहयोगी है । तांत्रिक योग के प्रसंग में इस विषय पर कुछ विचार किया गया है ।

---

[1] योगविषय, श्लो० २२-२३ ।

[2] वही, श्लो० २४-२६ ।

[3] वही, श्लोक १९ ।

[4] सि० सि० प०, १·४,५,६ ७-३०, ३६, ४२-६६, ६८ ।

पिंडविचार में चक्र, आधार, त्रिलक्ष्य और व्योम का वर्णन किया गया है। ये भी पिंड में विद्यमान हैं। योगमार्त्तण्ड तथा घेरंड संहिता से भिन्न सिद्धसिद्धांतपद्धति नौ चक्रों को मानती है। नीचे से ऊपर तक उनका क्रम इस प्रकार है—ब्रह्मचक्र, स्वाधिष्ठान, नाभिचक्र, हृदयचक्र, कंठचक्र, तालुचक्र, भ्रूचक्र, ब्रह्मरन्ध्र, निर्वाण चक्र और आकाशचक्र। अन्तिम षोडशदल आकाशचक्र में पूर्णगिरिपीठ की स्थिति मानी गई है।[१] चक्रवर्णन में यद्यपि गोरक्षसंहिता तथा योगमार्त्तण्ड के विवरण अधिक स्पष्ट नहीं है तथापि 'संहिता' के अनुसार, ऐसा प्रतीत होता है, छ चक्र मुख्य हैं और सातवाँ चक्र सहस्रार है। प्रथम चक्र आधार है, जिसमें चार दल हैं। दूसरा चक्र स्वाधिष्ठान छ दलों का है। नाभिचक्र में दस दल हैं। हृदयचक्र में बारह दल हैं। कंठस्थ चक्र में सोलह दल हैं तथा भ्रूमध्यचक्र में दो दल हैं। सहस्रदलकमल विख्यात ब्रह्मरन्ध्र महापथ है।[२]

म० म० पं० गोपीनाथ कविराज ने एक चित्र तथा विराट पुराण के एक हस्तलेख के आधार पर नाथसंप्रदायानुमोदित चक्रों का वर्णन किया है। कुल चक्रों की गणना करने से उनकी संख्या २५ से भी अधिक हो जाती है। कविराजजी ने प्रारंभ में ही बतलाया है कि चक्रों का यह विवरण हठयोग मत और तंत्र, दोनों से भिन्न है। विवरण को देखने से प्रतीत होता है कि मूलाधार से सहस्रार तक के जो ७ चक्र माने जाते हैं, उनमें से प्रत्येक के बीच में अनेक चक्रों या कमलों की कल्पना की गई है। यहाँ तक कि सहस्रदलकमल के भी ऊपर कई कमलों की स्थिति बतलाई गई है। कविराज जी ने ही यह भी कहा है कि चित्र के अति प्राचीन और अस्पष्ट होने से तथा हस्तलेख में भी अनेक चक्रों या कमलों का विवरण अस्पष्ट होने के कारण अनेक स्थलों पर कथित चक्रों का स्पष्ट बोध नहीं हो पाता। चक्र संबंधी जो विवरण दिया गया है, वह तंत्रगत चक्र-विवरण से अनेक अंशों में भिन्न है। चक्रों की संख्या के संबंध में उनका कथन है कि ललितासहस्रनाम के भास्करराय रचित भाष्य में दिये गये विवरण के अनुसार चक्रों की संख्या ३२ है। आर्थर एवेलेन के अनुसार अद्वैतमार्त्तण्ड में भी कुछ ऐसी ही बात है। इस प्रकार के संख्यागत वैभिन्य के कारण भी स्पष्ट हैं। बहुत से ऐसे गुप्त चक्र हैं जिनकी साधारणतया गणना नहीं की गई है तथा कुछ ऐसे चक्र भी हैं जो अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण हैं फिर भी वे

---

[१] वही, २·१-९।

[२] गो० सं०, १·१५-१६।

संपूर्ण चक्रमंडल के निर्माण में सहयोग करते हैं। विभिन्न साधनपथों में इनकी संख्या की विभिन्नता के कारण की व्याख्या के लिये कुछ और बातें भी कही जा सकती हैं। किसी चक्र का यथार्थ वर्णन किसी विद्यार्थी के अध्ययन में सहायक हो सकता है किंतु कुछ ऐसी सीमाएँ हैं जिनसे एकरूप यथार्थ वर्णन नहीं हो पाता। उदाहरण के लिये एक निश्चित चक्र का अनुभव सभी साधकों का, एक ही प्रकार का नहीं हो सकता। अभ्यासी और उसके गुरु के व्यक्तिगत संकल्प भी इस वैभिन्य को उत्पन्न करने में सहायक हो सकते हैं।[1] अतः अब इतना निश्चित हो गया कि नाथयोगियों में चक्रों की संख्या तथा उनके विवरणों के संबंध में पर्याप्त मतभेद है।

जो कुंडलिनी इन चक्रों का भेदन करती है, वह तीन प्रकार की बताई गई है—ऊर्ध्व, मध्य और अधः। कहा जाता है कि मध्यशक्ति के प्रबोधन से, अधः शक्ति के निकुंचन से तथा उर्ध्वशक्ति के निपात से परमपद की प्राप्ति होती है। यथार्थतः शक्ति एक ही है, किंतु प्रभेदमात्र से वह तीन रूपों में दिखाई पड़ती है। अधःशक्ति बाह्येन्द्रिय व्यापारवाली तथा नाना प्रकार की चिन्ताओं से पूर्ण होती है। अतएव मूलाधार के बंधन से योगी लोग इसका आकुंचन करते हैं। मूलाधार से सचराचर चित्-अचिदात्मक यह जगत् उद्भूत होता है। जिस शक्ति के प्रसार और संकोच से जगत् की सृष्टि और संहृति होती है, उसे मूल कहते हैं। वृथा भ्रमण करनेवाली तथा तरंगित स्वभाव-वाली आत्मा को अपने प्रकाश में अपने स्वरूप से जो शक्ति धारण करने में समर्थ होती है वह मध्या कुंडलिनी शक्ति है। यह शक्ति स्थूल-सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार की होती है। स्थूला मध्या कुंडलिनी शक्ति निखिल ग्राह्याधार और ग्राह्यस्वरूपा होते हुए भी पदार्थों के अंतर्गत भ्रमण करती है। इस रूप में कुंडलिनी साकार और स्थूला कही जाती है। पुनः जब यही अपने प्रसारचातुर्य से, वर्तमान रहते हुए भी, परानंदरूपा होकर योगियों को साक्षात्कृत होती है, तब इसे सूक्ष्मा, निराकारा मध्या कुंडलिनी शक्ति कहते हैं। स्थूला शक्ति लोकव्यापिका होती है तथा सूक्ष्मा शक्ति सर्वगा, सूक्ष्मा तथा व्याप्तिव्यापकवर्जिता होती है। सभी तत्वों से अतीत होते हुए भी ऊर्ध्वशक्ति निर्नाम होती है। परमपद ऊर्ध्व नाम से भी प्रसिद्ध है। उस

[1] संस्कृत भवन स्टडीज़, वा० २, पृ० ८३-९०, म० म० डा० गोपीनाथ कविराज का 'दि सिस्टम आव चक्रज़ एकार्डिंग टु गोरक्षनाथ' शीर्षक लेख।

परमतत्व के, स्वसंवेदन से, नाना प्रकार से, साक्षात्कार की सूचना देनेवाली शक्ति ऊर्ध्व शक्ति के नाम से प्रसिद्ध है। इस शक्ति के निपात का अर्थ है— अपने स्वरूप के द्विधाभास का निरास। यह निरास अपने स्वरूप के अखंडत्व से होता है। यह कहा गया है कि चन्द्र और चंद्रिका के समान ही शिव और शक्ति में अभेद है। ऊर्ध्वशक्ति के निपात से महासिद्ध योगी इसी परमपद की प्राप्ति करते हैं।[१] कुंडलिनी प्रबुद्ध और अप्रबुद्ध भेद से दो प्रकार की बताई गई है। अप्रबुद्धा रूप में वह कुंडलिनी पिंडों में, स्वभाव से ही चेतनरूपा होते हुए भी, नाना चिन्ता-व्यापार-उद्यम-प्रपंचरूपा होती है। इसी से वह कुटिल स्वभावा कुंडलिनी कही जाती है। वही योगियों के विभिन्न प्रकार के विकारों के निवारण के उद्यमस्वरूप प्रबुद्धा कुंडलिनी के रूप में ऊर्ध्वगामिनी होती है।[२] संक्षेप में, इस कुंडलिनी शक्ति को संपूर्ण प्रकृति पिंड का आधार माना जा सकता है। सिद्धसिद्धान्तपद्धति का संपूर्ण चतुर्थ उपदेश इसी तथ्य पर आधारित है।

पहले यह बताया गया है कि प्राणधारिणी गायत्री का उदय कुंडलिनी से होता है। जैसे गायत्री के समान कोई जप या ज्ञान या विद्या नहीं है, उसी तरह प्राणविद्या को महाविद्या कहा गया है। गायत्री का उदय करनेवाली यह कुंडलिनी शक्ति कंद के ऊपर आठ कुंडलों को धारण करनेवाली के रूप में सुख-पूर्वक ब्रह्मद्वार का आच्छादन कर स्थित रहती है। निरामय ब्रह्मद्वार को जाने-वाले मार्ग के रन्ध्र को सुखपूर्वक आच्छादित किये हुए कुंडलिनी प्रसुप्त रहती है। उसको वह्नियोग से तथा मानस और मरुत् के सहकार से प्रबुद्ध किया जाता है। इस प्रकार प्रबुद्ध होकर वह सूई के आकार को प्राप्त कर सुषुम्ना के मार्ग से उत्थित होती है। प्रारंभिक अवस्था में यह सुषुप्त रहती है। वह्नियोग से जाग्रत किये जाने पर पद्मतन्तुनिभा कुंडलिनी सुषुम्ना के मार्ग से ऊपर की ओर उत्थित होती है। जिस प्रकार कुंजी से हठात् कपाट उद्घाटित कर दिया जाता है उसी प्रकार कुंडलिनी से योगी मोक्ष-द्वार का प्रभेदन करता है।[३] योगबीज के अनुसार मरुत् को गाढ़भाव से निरुद्ध कर लेने पर शक्ति-चालन की युक्ति से अष्टधाकुंडली को ऋजु करना चाहिए। कुंडलिनी के चालन के लिये भानु का आकुंचन करना चाहिए। वज्रासन में स्थित होकर वायु से प्रज्वलित अग्नि से कुंडलिनी का दहन करे। अग्नि में संतप्त नाड़ी

---

[१] सिं० सिं० प०, ४.१६-२७।

[२] वही, ४.१४।

[३] गो० सं०, १.४२-५१, योगमार्त्तण्ड—३१—४०।

से वह त्रैलोक्यमोहिनी शक्ति पहले वज्रदण्ड में तत्पश्चात् सुषुम्नामुख में प्रवेश करती है। इस प्रकार वह वायु और वह्नि के साथ ब्रह्मग्रंथि का भेदन करती है। तत्पश्चात् वह विष्णुग्रंथि का भेदन कर रुद्रग्रंथि में स्थित हो जाती है।[१] योगमार्त्तण्ड और गोरक्षसंहिता के अनुसार यही कन्दोर्ध्व अष्टधा कुंडलिनी शक्ति मूढ़ों के लिये बंधनकारिणी है तथा योगियों के लिये मोक्षदायिनी है।[२] बताया जा चुका है कि ओंकार के अकार से युक्त ब्रह्मग्रंथि आधार में, उकार से युक्त विष्णुग्रंथि अनाहत में तथा मकार से युक्त रुद्रग्रंथि भ्रूमध्यस्थ आज्ञा में स्थित हैं। कुंडलिनी जाग्रत और ऊर्ध्वमुख होकर क्रमशः इनका भेदन करती है। इनके क्रमशः भेदन से क्रमशः सघनता, शान्ति और विराम साधक को मिलते हैं और अन्ततः परम शांत परम शिव से यह मिलन प्राप्त करती है।[3]

इस प्रकार तांत्रिक कुंडलिनीसाधन और नाथयोगी कुंडलिनीसाधन में कुंडलिनी का पंचभूतों से घनिष्ठ संबंध स्वीकार किया गया है। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि तांत्रिक साधन में मूलाधार से लेकर विशुद्धि तक के चक्रों या कमलों में पंचमहाभूतों की स्थिति मानी गई है। पहले बताया गया है कि जैसे-जैसे कुंडलिनी ऊर्ध्वमुख होकर सहस्रार की ओर अग्रसर होती है तथा क्रमशः चक्रों का भेदन करती है, वैसे-वैसे चक्रस्थ महाभूत भी उसके शरीर में लीन होते जाते हैं। इस प्रकार हठयोग की विभिन्न क्रियाओं से सर्वथा दर्पणवत् निर्मल शरीर के पंचमहाभूतों तथा सूक्ष्म शरीर (प्राण, मन, जीवात्मा आदि एवं सूक्ष्म शरीर के अन्य तत्वों) को धारण करनेवाली कुंडलिनी आज्ञाचक्र पहुँचती है। इस रूप में वह पंचमहाभूतग्रामधारिणी होती है। पाँच प्रकार की धारणा तांत्रिक तथा नाथपंथी ग्रंथों में किंचित् भिन्न रूपों में स्वीकार की गई है, जिसकी ओर संकेत पहले ही किया जा चुका है। दोनों में ही बतलाया गया है कि इस धारणा से चित्त सर्वथा स्थिर हो जाता है क्योंकि महाभूतों से उत्पन्न विकारों से वह प्रत्याहृत हो जाता है। इस स्थिति में चित्त को निर्वात दीप की तरह अचंचल कहा गया है। वस्तुतः पंचज्ञानेन्द्रियों का उनके विषयों तथा तज्जन्य विकारों से पूर्णतया प्रत्याहृत हो जाने के बाद तथा पंचमहाभूतों के भी दिव्य शक्ति कुंडलिनी में लीन हो जाने से चित्त का अचंचल

---

[१] योगबीज—९३-९८।

[२] योगमार्त्तण्ड—४५; गो० सं०, १.५६।

[3] योगविषय—१७-१८।

हो जाना स्वाभाविक है। पंचज्ञानेन्द्रियों के बाद छठी इन्द्रिय मन है जिसका लय शेष रह जाता है। इसकी लयक्रिया तांत्रिक पद्धति के अनुसार आज्ञाचक्र में होती है। आज्ञाचक्र में मनोलय के साथ ही उन्मनी अवस्था की सिद्धि स्वीकार की गई है। इस प्रकार का महाभूतों तथा मन के लय का स्पष्ट वर्णन यद्यपि नाथपंथी संस्कृत ग्रंथों में नहीं मिलता तथापि पंचमहाभूत संबंधी उपर्युक्त साधनाओं को समान रूप से स्वीकार करने के कारण हमें अनुमान करने का अवसर मिलता है कि नाथपंथियों को तांत्रिकों की यह लयपद्धति और क्रम स्वीकार है। यद्यपि चक्रक्रम, चक्रसंख्या और चक्रविवरण में पर्याप्त भेद मिलता है तथापि इतना सत्य है कि नाथों ने अपने चक्रमंडल में तांत्रिकों के अति प्रसिद्ध षट्चक्रों को स्वीकार कर लिया है।

धारणान्तर्गत कुंडलिनीयोग के बाद षडंग योग में ध्यान की गणना की गई है। ध्यान के लक्षण में कहा गया है कि यह परमाद्वैतभाव है। आत्मा, जिन-जिन तत्वों या पदार्थों का स्फुरण होता है, उनकी अपने ही स्परूप के अनुसार भावना करती है। इस प्रकार ध्यान में सभी भूतों में समदृष्टि हो जाती है।[१] ध्यान से अद्भुत ऐश्वर्य की प्राप्ति बतलाई गई है।[२] इस ध्यान-साधन में चित्त पूर्णरूप से निश्चल रहता है। यह ध्यान दो प्रकार का बताया गया है—सगुण और निर्गुण। सगुण ध्यान विभिन्न वर्णों (रंगों) वाला होता है तथा निर्गुण ध्यान केवल (ज्ञानात्मक-अनुभूत्यात्मक)।[3] गोरक्षपद्धति में ध्यानयोग्य विंदु निम्नलिखित रूप में बतलाये गये हैं—गुदा (मूलाधार), मेढ़ (स्वाधिष्ठान), नाभि (मणिपूर), हृत्पद्म (अनाहत), तदूर्ध्व (विशुद्धि), घंटिकामूल लंबिकास्थान, भ्रूमध्य (आज्ञाचक्र), नभोविल (शून्यस्थान)।[४] घेरंड संहिता में बड़े विस्तार से ज्ञानयोग का वर्णन किया गया है। उसमें ध्यान के दो भेद बताये गये हैं—स्थूल और सूक्ष्म। स्थूल ध्यान के बाद तेजोध्यान या ज्योतिर्ध्यान और सूक्ष्म ज्ञान का वर्णन किया गया है। नाथ-पंथी हठयोगी ग्रंथों में जिन चक्रस्थानों या चक्रों पर ध्यान लगाने के लिये कहा गया है, वे यहाँ उपलब्ध नहीं हैं।[५] ये ध्यान क्रमशः श्रेष्ठतर हैं।

---

[१] सि० सि० प०, २. ३८।

[२] योगमार्तण्ड—१०२।

[3] वही, १५७।

[४] गो० प०, २. ६५-७५; तुलना के लिये—योगमार्तण्ड १५६-१६९।

[५] घे० सं०, ६. २-२२।

ध्यान के बाद समाधि है। समाधि एक ऐसी स्थिति है जिसमें सभी तत्वों की सम अवस्था रहती है, निरुद्यमत्व और अनायास की स्थिति रहती है।[1] समाधि से मोक्ष की प्राप्ति होती है जिसमें शुभ-अशुभ कर्मों का त्याग हो जाता है, विश्वतोमुख अनन्त परम ज्योति का साक्षात्कार होता है। इससे क्रिया, कर्म, आवागमन आदि कुछ की भी सत्ता नहीं रहती।[2] जीवात्मा-परमात्मा का ऐक्य ही सभी प्रकार के द्वन्द्वों का ऐक्य है। इस अवस्था में समस्त संकल्पों का नाश हो जाता है। जब प्राण सम्यक् प्रकार से क्षीण हो जाते हैं तथा मानस भी लय को प्राप्त हो जाता है, जब समरसत्व की प्राप्ति हो जाती है, तब कहा जाता है कि समाधि की अवस्था प्राप्त हो गई। इस अवस्था में रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द की स्थिति सिद्ध योगी के लिये नहीं रहती। उस समय अपना-पराया कुछ भी नहीं रहता।[3] हठयोगप्रदीपिका में इस समाधि-स्थिति के विभिन्न नाम बताये गये हैं। ये शब्द समाधि के ही वाचक हैं—राजयोग, समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी अमरत्व, लय, तत्व, शून्याशून्यपरमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालम्ब, निरंजन, जीवन्मुक्ति, सहजा, तुर्या। इन सब शब्दों की अलग-अलग व्याख्या की गई है। जिस प्रकार जल का संयोग प्राप्त कर नमक उसमें मिल कर पूर्ण समत्व को प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार आत्मा और मन का ऐक्य जब हो जाय तब समाधि की प्राप्ति कही गई है। इस समाधि के और लक्षणों में कहा गया है कि जब प्राण भली प्रकार क्षीण हो जाता है और मन का भी लय हो जाता है उस समय (मन और प्राण की) जो समरसता उत्पन्न होती है उसे समाधि कहते हैं। राजयोग की सहायता से अपरोक्षानुभव या आत्मस्वरूप के ज्ञान से जो मुक्ति या निर्विकारस्वरूप में जो अवस्थिति होती है उसे राजयोगसमाधि कहते हैं। इसी प्रकार सहजा समाधि को 'प्रदीपिका' के टीकाकार ने 'तुर्यावस्था' कहा है। लयसमाधि में विविध आसनों, कुंभकों एवं विचित्र करणों या हठयोगी क्रियाओं से जब पराशक्ति कुंडलिनी प्रबुद्ध हो जाती है, तब प्राण का शून्य में या ब्रह्मरन्ध्र में लय हो जाता है। सहजा समाधि या सहजावस्था में कुंडलिनी शक्ति का बोध हो जाता है तथा संपूर्ण कर्मों का त्याग हो जाता है। इन दोनों के होने पर सहजावस्था स्वयमेव उत्पन्न होती है। जब प्राण सुषुम्ना में प्रवाहित होने लगता है तब

---

[1] सि० सि० प०, २. ३९।

[2] गो० सं०, २. १३, १६।

[3] गो० सं०, २. ८५-८८; यो० मा०, १७६-१७८।

मनोन्मनी सिद्ध होती है। मन का लय होने पर पवन का लय होता है अथवा पवन का लय होने पर मन का लय होता है। इस प्रकार पवन का जब प्रवेश सुषुम्ना में होता है तब मन भी उसमें प्रवेश करता है जिससे मनोन्मनी की सिद्धि होती है।[१]

इस षडंग योग या अष्टांग योग के दो उद्देश्य बताये जा चुके हैं—प्रथम गौण उद्देश्य है सिद्धदेह या दिव्यदेह की प्राप्ति तथा दूसरा मुख्य उद्देश्य है द्वैताद्वैतविवर्जित नाथरूप में अवस्थान या पिंडपद का परमपद में समरसीकरण। संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर उपस्थित किये हुए इस नाथयोग में दो प्रधान साधन हैं—हठयोग और लययोग। इसी प्रकार दो कार्य हैं—विन्दुरक्षा और नादानुसंधान। नाथयोगसाधना का मुख्य तत्व है प्राणायाम। प्राणायाम से ही विंदुरक्षा और नादानुसंधान दोनों ही साधित होते हैं। विन्दुरक्षा या विंदुस्थैर्य का संबन्ध अजरामरता, दिव्यदेह या ओंकारदेह की प्राप्ति से है। प्राण के साधित होने पर मन स्थिर और अचंचल हो जाता है और मन के अचंचल होने पर विन्दुरक्षा या विंदु साधित होता है। परिणामतः कालजय की सिद्धि होती है। नादानुसंधान प्राण-नाड़ी-चक्र-साधना से संबन्धित है। मन्त्रसाधन भी इसमें समन्वित है। इस मन्त्रसाधना में ओंकार और अजपा गायत्री दोनों ही गृहीत हैं। इन दोनों का संबंध प्राणसाधना से है। कुंडलिनी का जागरण प्राण की प्रेरणा से होता है। सुषुम्ना में प्राण का प्रवेश कुंडलिनी का सुषुम्ना में प्रवेश है। प्राणसाधन से संपूर्ण नाड़ीजाल का शोधन होता है। उसी के द्वारा जाग्रत की हुई कुंडलिनी से पंचमहाभूत शुद्ध होते हैं तथा अन्ततोगत्वा उनका कुंडलिनी की काया में लय होने पर, आगे ऊर्ध्वक्रम में, वे कुंडलिनी के शरीर के साथ परम शिव के साथ समरसत्व को प्राप्त करते हैं। पंचभूतों का लय पंचभूतात्मक शरीर के सारतत्वों का कुंडलिनी शरीर में, जो इस पिंड का आधार है, लय है। इस क्रिया की व्याख्या के लिये, तांत्रिक या शैव शाक्त योग के कुंडलिनीयोग के लययोग में विवेचित संपूर्ण सिद्धान्त को दृष्टिगत रखा जा सकता है। नाथसिद्ध कहते हैं कि यह स्थूल शरीर भी मुक्ति को प्राप्त करता है।

ऊपर बताया गया है कि गौण लक्ष्य ओंकारदेह प्राप्ति है जिसकी उपलब्धि बिना विन्दुरक्षा के संभव नहीं। एक दूसरा उपाय भी इस अजरामरता के साधन के लिये है। इसे संक्षेप में 'अमृत साधन' कह सकते हैं। हठयोग के

---

[१] हठयोगप्रदीपिका, ४. ३-१२, २०, २१-२५।

ग्रंथों में स्थूल हठयोगी क्रियाओं के रूप में इसका विस्तृत वर्णन मिलता है। योगमार्तण्ड में चन्द्रामृतपान का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। उसे वहाँ प्रत्याहार साधन के अन्तर्गत वर्णित किया गया है। यहाँ प्रत्याहार की, हठयोग के अनुसार परिभाषा करते हुए कहा है कि चन्द्रामृतमयी धारा का भास्कर से प्रत्याहरण ही प्रत्याहार है। विशुद्धिचक्र सोमकलात्मक है। इसके ऊपर के मार्ग से, रवि के मुख का वर्जन कर जल (सोमजल) स्रवित होता है। प्राणापान के विधान से रसनातालु के मूल से जो योगी सतत भाव से प्राण का पान करता है, वह निर्जर हो जाता है। इस अमृत को सोमकलाजल कहा गया है।[1] इसी को शब्दान्तर से खेचरी मुद्रा, अमरवारुणीपान, गोमांसभक्षण आदि कहते हैं।

संस्कृत ग्रंथों के आधार पर विवेचित नाथयोग के विभिन्न प्रसंगों में अनेक बार समता-विषमता के संकेत के साथ यह कहा गया है कि तांत्रिक योग और नाथयोग में अति घनिष्ठ संबंध है। नाथयोग और तांत्रिक योग दोनों ही षट्कर्म, प्राणायाम, मुद्रा, आसन, लययोग, ध्यान, समाधि को साधन के रूप में स्वीकार करते हैं। तांत्रिक ग्रंथों में स्पष्टतया वैन्दव देह या सिद्ध देह या दिव्य देह तथा अद्वैतोपलब्धि को लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया गया है। इसका कारण यह है कि तंत्रशास्त्र क्रियाप्रधान होता है तथा वह वस्तुतः अद्वैतवाद का ही क्रियापक्ष है। परमतत्व परमशिव स्वयम् शक्तियुक्त है जिसके विषय में ऐसी शैवाचार्यों की स्थापना है कि इकाररूप शक्ति के अभाव में शिव शव हैं। शक्ति के बिना वे कुछ भी करने में समर्थ नहीं हैं। नाथ-पंथियों के नाथ स्वयम् परमतत्व और नाथों के उपास्य हैं तथा सृष्टि-संहार के कार्य से उनका कोई संबंध नहीं है। नाथ लोग इस नाथरूप से अवस्थान या पिंडपद का परमपद में समरसीकरण अपना लक्ष्य मानते हैं। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि नाथयोग म विंदुरक्षा और विन्दुस्थैर्य का अत्यधिक महत्व है। उसी प्रकार तांत्रिक योग में प्रारंभिक अवस्था में ब्रह्मचर्य आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य माना गया है। पंचमकारों के वीराचारगत अर्थों पर विचार करने से प्रतीत होता है कि उस अवस्था में विंदुप्रयोग का साधनात्मक महत्व स्वीकार किया गया है। वीर साधक और उसकी मुद्रा से संबंधित मैथुन पर पर्याप्त भ्रम लोगों में फैला है; कारण तद्गत साधन का रहस्य केवल कुछ जनों तक ही सीमित है। नाथमत के अनुसार 'ऊर्ध्वरेतस्' होना सिद्ध का

[1] यो० मा०, ११९-१३१; गो० सं०, २.४३-५१।

एक लक्षण माना गया है। नाथमत के ब्रह्मचर्यपरायण योगसाधन में, उसमें गृहीत वज्रोली, सहजोली, अमरौली आदि साधनाओं को देखकर, संदेह प्रकट किया गया है। तांत्रिक साधन योगभोगप्रदाता है। भोग का आध्यात्मिक क्षेत्र में इंद्रियोपभोग अर्थ नहीं किया जाना चाहिए। हमारी दृष्टि में भोग का यहाँ अर्थ विश्वैश्वर्य का भोग होना चाहिए। यह ऐश्वर्य या विभूति भी योगोपलब्ध है। इसकी उपलब्धि सिद्ध केवल लोककल्याण के लिये निसर्गतः अनायास ही कर लेता है। किन्तु इन सबका स्वामी होते हुए भी वह इनसे सर्वथा निर्लिप्त रहता है। कुछ विद्वानों ने नाथयोग के अन्तर्गत योग और भोग के तत्व को एक साथ स्वीकार करते हुए भोग का संभवतः ऐसा अर्थ किया है जिससे इन्द्रियोपभोग की ओर संकेत होता है। कहा गया है, यह कहा नहीं जा सकता कि गोरक्षनाथ के साथ उपदिष्ट योगमार्ग का जो रूप आजकल उपलब्ध है उसमें योग और भोग को साथ ही साथ पा लेने की साधना एकदम लुप्त हो गई है। वज्रयान और सहजयान का प्रभाव रह ही गया है।[१] महीधर शर्मा ने गोरक्षपद्धति नामक ग्रन्थ प्रकाशित कराया है। इसमें किसी और ग्रन्थ से वज्रोली और सहजोली मुद्राएँ संगृहीत हैं। ये दोनों ही निश्चित रूप से वज्रयानी और सहजयानी साधनाओं के अवशेष हैं।[२] द्विवेदीजी ने बताया है कि गोरक्षसंहिता के अनुसार इस मुद्रा के लिये केवल दो वस्तुएँ आवश्यक हैं—वशवर्तिनी स्त्री और प्रचुर दूध। इस साधन में योग-साधन के नियमों के बिना पालन के ही सिद्धि मिलती है। यह साधन भोग के आनंद को देकर भी मुक्ति देता है। एक दूसरी बात जो द्विवेदीजी ने लक्षित की है, वह यह है कि मूल गोरक्षपद्धति में ये श्लोक अन्तर्भुक्त नहीं हैं और कहाँ से लिये गये हैं, यह भी नहीं बतलाया गया है। 'यहाँ केवल इतना ही निर्देश कर दिया गया है कि इस मार्ग में उक्त साधनाएँ रेंगती हुई और सरकती हुई घुस आई हैं या फिर हटाने के अनेक प्रयत्नों के बावजूद भी छिपी हुई रह गई हैं। गोरक्षपद्धति में डा० द्विवेदी द्वारा बताये गये श्लोकों के प्रसंग का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि टीकाकार ने स्वयम् प्रक्षिप्त श्लोकों को मुद्राओं, वेधों, करणों आदि की विशेष 'प्रकटता' के लिये ग्रंथांतर से उपस्थित किया है।

---

[१] द्रष्टव्य तां० बौ० सा० सा० में युगनद्ध और मैथुन का विवेचन जिसके अनुसार यह पूर्णतया आध्यात्मिक साधन है, आधिभौतिक या आधिदैविक नहीं।

[२] नाथ संप्रदाय, डा० द्विवेदी, पृ० ७२।

दूसरी बात जो वज्रोली आदि जैसी साधनाओं के संबंध में ज्ञातव्य है, वह है प्राणायाम की। वज्रोलीसाधन में यद्यपि स्त्रीसंग विहित है तथापि वीर्यचंचलता को उसमें भी उपसर्ग ही माना गया है। विंदुपात पर भी प्राण से विंदु और रज के मिश्रित द्रव के आकर्षण का विधान किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है ऊर्ध्वरेतस्साधन में ही यह एक सोपान है जिसमें भोग का सामान्य अर्थ बिल्कुल ही नहीं लिया जा सकता। हम अपना मत पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं। वीराचारसाधन में मैथुन में इस प्रकार का बंधन है। वस्तुतः तांत्रिकों के इस साधन में शक्तिशिवाद्वैत ही लक्ष्य है जब कि नाथों में रसेश्वर-साधन के प्रभाव से कालजय प्रमुख है। इस साधन के लिये जो मुख्य बातें बताई गई हैं उनमें मुख्य तो यह है कि बिना प्राणजय के इसका साधन नहीं हो सकता। कालजय इस साधन का मुख्य लक्ष्य है। स्त्रीसंग ऊर्ध्वरेता होने के लिये, विन्दुस्थैर्य के लिये ही विहित है। इस साधन में भी अनिवार्य आदर्श विंदु-रक्षा ही है क्योंकि वही संपूर्ण नाथयोग का मेरुदण्ड है। बिना उसके सिद्ध देह की उपलब्धि असंभव है। इतिहास और परंपरा के शोध के आग्रह से यहाँ बौद्धों के साधन का संक्रमण ढूँढ़ना निरर्थक है। मूल बात तो यह है कि जिस रूप में गोरक्षपद्धति के प्रक्षिप्त श्लोकों में यह साधन वर्णित है, उस रूप में तांत्रिक योगग्रंथों में भी इस नाम का कोई साधन नहीं है। संभवतः बौद्धों में भी इस प्रकार की कोई मुद्रा और साधना नहीं है। अनुमान यह है कि टीकाकार ने ही उपाय-प्रकार-भेद उपस्थित करने की दृष्टि से उन श्लोकों को उद्धृत किया है! गोरक्षसंहिता, सिद्धसिद्धान्तपद्धति, अमरौघशासनम् आदि ग्रंथों में इस साधन का इस रूप में वर्णन नहीं मिलता। ऐसे साधन नाथयोगियों के योगसाधन की प्रकृति से मेल नहीं खाते। यहाँ इस प्रबंध में हमारा लक्ष्य तांत्रिक योग और नाथ योग का तुलनात्मक अध्ययन उपस्थित करना नहीं है। अतः केवल कुछ स्थूल संकेत कर विषय को स्थगित कर दिया गया है। तांत्रिक योग के उन्हीं विवरणों को प्रमुखता दी गई है जिनका नाथयोग से कुछ न कुछ संबंध प्रतीत होता है। तांत्रिक साधनगत सिद्धान्त उसी रूप में नाथयोगी ग्रंथों में विस्तृत नहीं मिलते। अतः उनका विस्तृत परिचय तांत्रिक योग के ही प्रसंग में दे दिया गया है। इस संपूर्ण विवेचन को पढ़ते समय उन सिद्धान्तों को दृष्टि में रखना आवश्यक है अन्यथा यहाँ सिद्धान्त के अभाव का अनुभव होगा। आगे के विवेचनों में भी ये व्याख्याएँ और सिद्धांत भी आवश्यक होंगे।

नाथयोग की सर्वप्रमुख विशेषता है ब्रह्मचर्य पालन और बिंदुरक्षा। प्रारंभ में संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करने का ही उपदेश है किन्तु बाद में निर्लिप्तत्व प्राप्त कर लेने पर भोगयुक्त संसार में योगानुभव करने का उपदेश दिया गया है। 'भोग में योग', 'भोग से योग' और 'भोग और योग साथ-साथ' में से नाथपंथी लोग 'भोग में योग' के सिद्धान्त को स्वीकार करते प्रतीत होते हैं। तांत्रिक लोगों में ये तीनों सिद्धान्त क्रमशः पशु, वीर और दिव्य साधन में गृहीत प्रतीत होते हैं। नाथ सिद्ध भी अपनी पूर्णावस्था में तृतीय सिद्धान्त को स्वीकार करता है। उसका जीवन उसका उच्चतम निदर्शन है किन्तु द्वितीय सिद्धान्त 'भोग से योग' उसे बिलकुल स्वीकार नहीं है।

दसवाँ परिच्छेद

नाथपंथी हिंदी रचनाओं में नाथ योग

१—नाथयोग की भूमिका

अभी तक नाथयोग के परिचय के लिये अनेक ग्रंथों में तथा शोधप्रबंधों में बहुत कुछ लिखा जा चुका है, किन्तु इन सबके अध्ययन से यह बात अधिक स्पष्ट हो गई है कि उनमें दो प्रकार की न्यूनताएँ दिखाई पड़ती हैं—(१) उनमें या तो केवल संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर विवेचन कर विषय को छोड़ दिया गया है या नाथपंथी संस्कृत ग्रंथों नें विवेचित योग के साथ उसको स्पष्ट करने वाले तांत्रिक योग का मिश्रण कर दिया गया है। यद्यपि यह स्पष्ट है कि तांत्रिक योग और नाथयोग का घनिष्ठ संबंध है तथा तांत्रिक योग ने नाथयोग को पर्याप्त रूप से प्रभावित किया है तथापि इन दोनों में कुछ भेद भी है, जिनकी ओर किंचित संकेत उचित प्रसंग में किया जा चुका है। अतः इन दोनों योगों का पृथक् पृथक् विवेचन पहले ही उपस्थित कर दिया गया है और उसके प्रकाश में, तदनुक्रम में, नाथयोग का परिचय केवल उसके संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर पूर्णतया पृथक् रूप से दिया गया है। (२) दूसरी बात, जिस पर विशेष सूक्ष्मता और विस्तृत अध्ययन के साथ परम्परा को ध्यान में रखते हुए विचार नहीं किया गया है, वह हिन्दी रचनाओं के आधार पर नाथयोग का निरूपण है। इसी प्रकरण में यह बात भी प्रायः छूट सी जाती रही है कि बहुचर्चित संस्कृत ग्रंथों के नाथयोग की परंपरा में हिन्दी ग्रंथों के नाथयोग का क्या स्थान है। प्रायः हमारे मन में यह प्रश्न उठता रहा है कि क्या हिंदी ग्रंथों का नाथयोग संस्कृत ग्रंथों के नाथयोग की परम्परा में स्थान रखता है या नहीं ! क्या उसकी क्रियाएँ, विचार और आदर्श उससे भिन्न हैं ! इन प्रश्नों अभावों, उपेक्षाओं को ध्यान में रखकर यहाँ हिन्दी ग्रंथों में उपलब्ध नाथयोग, का, संस्कृत ग्रंथों में विवेचित योगक्रम के अनुसार परिचय उपस्थित किया जा रहा है। यह अध्ययन केवल उन्हीं नाथयोगी रचनाओं के आधार पर दिया गया है जिनका परिचय हम द्वितीय परिच्छेद में दे चुके हैं।

पहले ही कहा गया है कि तंत्र क्रियाप्रधान साधन है अर्थात् शास्त्र अथवा शास्त्रीय ज्ञान का इसमें महत्व नहीं है। इसमें साधक के क्रियापक्ष की प्रधा-

नता है जिससे देवता चैतन्य होकर साधक के लक्ष्य की सिद्धि करता है। लक्ष्य है अद्वयोपलब्धि। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिये साधक पशु, वीर और दिव्य भावों और सप्ताचारों के क्रम से होकर अद्वयभाव को प्राप्त करता है। मकारों के अर्थ भावों के अनुसार भिन्न-भिन्न हैं। पशुभाव के साधकों के लिये नियमित आचारों और नैमित्तिक आचारों और संयमों का तंत्रों में प्रतिपादन मिलता है। इसमें साधनाक्षेत्र में अग्रसर होने के लिये, अधिकार की उपलब्धि के लिये क्रमशः इन आचारों का पालन आवश्यक माना गया है तथा साथ ही उस जीव के मलापसारण में, जो तत्वतः और निसर्गतः शुद्ध होता है, कंचुकों के निकृन्तन में, ये आचार सहायक भी होते हैं। इसी प्रकार हिन्दी के नाथ साहित्य में योग के प्रारम्भिक साधकों के लिये आचार और संयम आवश्यक माने गये हैं। संपूर्ण हिन्दी नाथ साहित्य को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि इस तत्व की ही इसमें प्रधानता है। संस्कृत ग्रंथों के नाथयोग में इन आचारों को तो प्रारंभ में आवश्यक माना ही गया है किन्तु उसके बाद की क्रियाओं का अपेक्षाकृत अधिक सविस्तर वर्णन उपलब्ध है। दूसरी बात यह है कि ये हिन्दी की नाथ-योगी रचनाएँ किसी एक विषय के शास्त्रीय और व्यवस्थित विवेचन-प्रतिपादन के लिये नहीं लिखी गई हैं। ये फुटकर या मुक्तक रचनाएँ हैं जिनमें नाथ-योगियों ने क्रियाओं की ओर एक इंगित कर अपने योगात्मक अनुभवों, सिद्धियों, परिणामों, उपलब्धियों का परिचय दिया है। अतः किसी एक साधनांग का पूरा विवेचन करने के लिये संपूर्ण साहित्य को देखना आवश्यक हो जाता है। अतः नाथपंथियों के हठयोगी ग्रंथों में जहाँ क्रियाओं का विस्तृत विवेचन और फलों की महत्ता का परिचय दिया गया है, वहाँ हिन्दी रचनाओं में केवल उनकी ओर एक संकेत भर मिल जाता है। इसका कारण यह है कि संस्कृत नाथयोगी ग्रंथ साधकों के लिये लिखे गये हैं जब कि हिन्दी रचनाएँ सामान्य दीक्षित-अदीक्षित व्यक्तियों को दिये गये उपदेश या योगमाहात्म्य का परिचय देनेवाली रचनाओं के रूप में उपस्थित की गई प्रतीत होती हैं। संक्षेप में, संस्कृत ग्रंथ शास्त्रग्रंथ या योगशास्त्र या योगविद्या ग्रंथ हैं तथा हिन्दी रचनाएँ योगसाधन की परम्परा में उपदेशप्रधान रचनाएँ हैं। उनके आधार पर एक पूरे साधनक्रम की व्यवस्था को उपस्थित करने के लिये संस्कृत ग्रंथों में दिये गये नाथयोग को ध्यान में रखना पड़ता है। तात्पर्य यह है कि हिन्दी रचनाओं में विधान का विस्तृत उपस्थापन प्रधान नहीं है, प्रधान है योगप्रधान आचार, साधन के संकेत तथा उनका माहात्म्य एवं फल।

किन्तु इसका अर्थ यह कथमपि नहीं कि हिन्दी रचनाओं के नाथयोग में योग के क्रियाप्रधानपक्ष का बिलकुल वर्णन नहीं मिलता। उनमें उपदेशों की प्रधानता है। इसीलिये डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इनकी नैतिक उपदेशात्मकता के सम्बन्ध में कहा है—'संस्कृत में योगियों के जो भी ग्रंथ उपलब्ध हैं, वे आधारण तौर पर साधना मार्ग के ही व्याख्यापरक ग्रंथ हैं। उनसे योगियों के दार्शनिक और नैतिक उपदेशों का आभास बहुत कम मिलता है। हिन्दी में गोरखनाथ के नाम से जो अनेक पद और सबदी आदि प्रचलित हैं, उनमें भी साधनमार्ग की व्याख्या की गई है पर उनमें योगियों के धार्मिक विश्वास, दार्शनिक मत और नैतिक स्वर का परिचय अधिक स्पष्ट भाषा में मिलता है। इस दृष्टि से इन हिन्दी रचनाओं का विशेष महत्व है।'[१] द्विवेदी जी के इन वाक्यों के सभी विचारों से सहमत होना यद्यपि कठिन है तथापि इतना सर्वथा स्वीकार्य है कि हिन्दी रचनाओं में धार्मिक विश्वास और नैतिक स्वर प्रबल हैं। इन विचारों को ध्यान में रखकर यहाँ हम हिन्दी रचनाओं के आधार पर नाथयोग को उपस्थित करेंगे। इस विवेचन में नाथयोग के प्राप्य या लक्ष्य और षडंग-अष्टांग योग के पूर्व विवेचन को अवश्य ही ध्यान में रखना चाहिए।

संस्कृत ग्रंथों में जिस प्रकार नाथयोग के अन्तर्गत चार प्रकार के हठ, मंत्र, लय और राजयोग नाम के योगों का वर्णन मिल जाता है, उसी प्रकार हिन्दी रचनाओं के योग में द्वैत का अद्वैत में परिवर्तन कर उससे भी अतीत होना स्वीकार किया गया है। नाथयोग का लक्ष्य केवल शिवशक्तियोग नहीं, अपितु इस अद्वययोग से भी अतीत द्वैताद्वैत-विवर्जित अवस्था है जिसके लिये चार प्रकार के योगों से समन्वित योग को, जिसमें प्राणायाम प्रधान है, साधन के लिये स्वीकार किया गया है। इस योग से सिद्धदेह और उसी में निर्वाण पद की प्राप्ति आवश्यक स्वीकार की गई है। योग का मूल है दया और दान। सिद्ध देह, जिसमें जरा नहीं आती, जिसकी मृत्यु नहीं होती, जिसके विंदु का पात नहीं होता, पिंडपात नहीं होता, को प्राप्त करने के लिये नाथयोगी किसी कष्ट-साधन को स्वीकार नहीं करते। कष्टदायक योग उनकी दृष्टि में निरर्थक है। इससे मूल तत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। उनके अभीप्सित योग के साधन के लिये स्वांग की, बाह्य 'भेष' धारण करने की कोई आवश्यकता नहीं। जो लोग स्वांग में तो पूरे हैं और ज्ञान में अधूरे हैं, जिनका पेट हमेशा खाली रहता है या हमेशा भूखे रहते हैं तथा दंभ में ही अपनी शूरता समझते हैं, वे पाखंडी

[१] नाथ संप्रदाय, डा० द्विवेदी, पृ० १८२।

हैं, वे योगसाधन नहीं कर सकते। उन्हें शरीर का तरल सारतत्व सुरक्षित रखना चाहिए। निस्सार शरीर से योगसिद्धि नहीं मिलती। इसके लिये कथनी-बदनी या वाद-विवाद भी निरर्थक है।[१] इससे स्पष्ट है कि नाथ-योगियों की हिन्दी रचनाओं में योग का जो रूप है, वह सदाचार और ब्रह्मचर्य-प्रधान है। दूसरी बात जो स्पष्ट होती है, और आगे भी जिसकी व्याख्या की गई है, वह यह कि इन रचनाओं में भी नाथयोगी केवल हठयोगी नहीं हैं। उनका लक्ष्य है शरीर में ही निर्वाणपद, परमपद, नाथपद या द्वैताद्वैतविवर्जित पद प्राप्त करना। अतः हठयोग को ही ये चरम साधन के रूप में स्वीकार नहीं करते। हठयोग स्वयं समाधियोग का साधक है।

२—गुरुशिष्यवाद और अधिकारभेदवाद—

नाथों के इस साधन में 'निगुरा' या गुरुहीन होकर या बिना दीक्षा के प्रवेश नहीं किया जा सकता। अतः इनके साधन का प्रथम तत्व सद्गुरु ही है। गुरु ज्ञान का पूर्ण सत्य रूप होता है। वह (ब्राह्मी) संपत्ति का अक्षय भंडार है। गुरु के ज्ञान के वाण से ही निहत होकर शिष्य का अति चंचल और अति बलशाली मन स्ववश होता है। वही एकमात्र ज्ञान का प्रदाता है, वह ज्ञानस्रोत है। शिष्य को अन्यत्र कहीं शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। अनेक प्रकार के दोषों से भरे ऊबड़-खाबड़ भवमार्ग में गुरु ही एक-मात्र प्रकाश देनेवाला है।[२] योगसाधन में निष्णात होने पर जब सर्वतोभावेन सम्यक् योग सिद्ध हो जाता है तब गुरु अपनी कृपा से निर्वाण-समाधि की रक्षा करता है। यह समाधि स्वानुभूतिगम्य सत्य है। गुरु इस सत्य का पूर्ण साक्षात्कार करता है और दूसरों की इस प्रकार की अनुभूति की भी उसी को प्रतीति होती है।[3] त्रिगुणात्मिका माया को, जो विभिन्न प्रकार के रूपों को धारण कर जीवों के चित्त को विमूढ़ कर देती हैं, केवल गुरु ही दिखाने में, उसके रहस्य को समझाने में, सत्य और माया का विवेक कराने में समर्थ हो सकता है। स्वानुभूतिगम्य सत्य के वाचक शब्द का केवल गुरु ही प्रत्यक्ष करा सकते हैं, उनकी अनुभूति करा सकते हैं। यह गुरु तत्व ही नाथ तत्व है जो मायाविमूढ़, सुषुप्त जगत् के लिये नित्य जाग्रत रहता है क्योंकि बिना

---

[१] गो० बा०, पृ० १२६, १६४, १५, ६४, ८७, १३९।

[२] गो० बा०, पृ० ६४, ३०, १२६, १२८, १५४।

[3] वही, पृ० ७४, १०।

उनकी कृपा के ब्रह्मसाक्षात्कार या परमपद की प्राप्ति असंभव है।[१] ज्ञान का उद्गिरण होने पर शिष्य का पार्थिव संबंध छूट जाता है, प्रपंचयुक्त पृथ्वी से उसका संबंध नहीं रहता। इस प्रकार की ग्रंथि का भेदन ही ब्रह्मग्रंथि का भेदन है। इस ग्रंथि का स्थान मूलाधार है जिसमें महाभूत पृथ्वी तत्व की स्थिति मानी जाती है। ब्रह्मा की पार्थिवी सृष्टि से संबंधविच्छेद का कार्य गुरु ही करता है। भिन्न शब्दों में यह पाशविमोचन या कुंडलिनी का जागरण है। प्रकारान्तर से इसे साधनमार्ग में प्रवेश या दीक्षा भी कहा जाता है। दीक्षा एक ही बार नहीं होती। यद्यपि संस्कृत-हिंदी नाथ साहित्य में इस दीक्षा तत्व का स्पष्ट और विस्तृत विवेचन नहीं मिलता तथापि तीन ग्रंथियों की क्रियाओं से, जो आज्ञाचक्र तक समाप्त हो जाती हैं, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। इसी प्राथमिक आवश्यकता को अति महत्वपूर्ण मानते हुए गोरखनाथ ने ऐसे गुरु के आराधन का उपदेश दिया है जो ब्रह्मग्रंथि से जीवशक्ति को छुड़ा दे।[२]

यहाँ अधिकारभेदवाद की भी थोड़ी चर्चा कर लेनी चाहिए। इन ग्रंथियों का भेदन हो जाने के बाद गुरु का कार्य समाप्त हो जाता है। तब शिष्य या साधक गुरु के बिना भी अपना साधन-क्रम अग्रसर कर सकता है। पिछले योग संबंधी विवेचनों से यह बात स्पष्ट है कि गुरु और शिष्य का प्रत्यक्ष संबंध केवल आज्ञाचक्र तक ही सीमित है। जब शिष्य तीन ग्रंथियों से, जिन्हें कभी-कभी तीन गुणों का विषम बंधन भी कहते हैं, मुक्त हो जाता है, तब वह अपनी अर्जित शक्ति और संस्कार से अग्रसर होता है। किन्तु आज्ञाचक्र तक साधक के लिये गुरु अनिवार्य तत्व है। आज्ञाचक्र के बाद की स्थिति में गुरु और शिष्य की काया एक ही रहती है। उसमें वे ही ३६ तत्व रहते हैं, जो गुरु में सामान्यतया होते हैं।[३] किन्तु इसके पूर्व की स्थितियों में अधिक तत्व और न्यून तत्व के आधार पर गुरु-शिष्य का संबंध स्थिर रहता है। गोरक्षसिद्धान्त-संग्रह में स्पष्टतया कहा गया है कि गुरु में ३६ तत्व और शिष्य में ३२ तत्व होने चाहिएँ। अर्थात् अधिक तत्वों से संपन्न होने पर गुरु तथा न्यून तत्वों से संपन्न होने पर शिष्य कहा गया है। अंतर के चार तत्वों को आयत्त कर लेने पर शिष्य साधनक्षेत्र में अकेले भी रमण कर सकता है।[४] चार तत्वों

[१] वही, पृ० १६६, १३७, १४९।

[२] वही, पृ० १५०-१५१।

[३] वही, पृ० १९५।

[४] वही, पृ० ५५।

को उपलब्ध कर शिष्य परमतत्व की ओर निर्बाध भाव से अग्रसर होता है। ओंकार निराकार परमतत्व या परमपद की उपलब्धि हो जाने पर, उस स्थिति में, न गुरु रहता है न चेला, सभी एकरस हो जाते हैं।[1] सामान्य जन किस प्रकार साधक पद को प्राप्त करें तथा उससे अग्रसर हों, इसके लिये आठ परीक्षाएँ नाथयोगी आचार्यों ने निश्चित की हैं। शिष्य के ३२ तत्वों की इनमें परीक्षा ली जाती है। इनका वर्णन गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह के आधार पर पहले ही किया जा चुका है। अधिक तत्व और 'हींण' (हीन, न्यून) तत्व का होना इसका मूल सिद्धान्त है। शेष चार तत्व कौन-कौन से हैं, इनका वर्णन न तो संस्कृत ग्रंथों में उपलब्ध है न हिन्दी ग्रंथों में। ३२ लक्षणों या तत्वों का वर्णन हिन्दी की नाथपंथी रचनाओं में इस प्रकार है—

१—ग्यान पारछ्या—निरलोभी, निह्चल, निरबासीक (निवासी), निःशब्द।

२—विचार पारछ्या—निरमोही, निरबंध, निसंक, निरवांन।

३—बमेक (विवेक) पारछ्या—सरबंगी, सावधांन, सति, सारग्राही।

४—संतोष पारछ्या—अजाचीक, अवांछीक, अमांनीक, अस्थिर।

५—निरबल (निरालंब) पारछ्या–निहितरंग, निहिपरपंच, निरदुंदी, निरलोप।

६—सहज पारछ्या—सुमती, सुहृदी, सीतल, सुषदाई।

७—सील पारछ्या—सुचि, संजम, सति (?), श्रोता।

८—सुंनि पारछ्या—ल्यौ, लषि (लक्ष्यम्), ध्यांन, समाधि।

संस्कृत ग्रंथों में दिये गये पुरुष के ३२ लक्षणों के साथ तुलना करने पर इनके क्रम तथा तत्वों में अंतर दिखाई पड़ता है। गोरक्षसिद्धांतसंग्रह के अनुसार क्रम इस प्रकार है—ज्ञान, विचार, विवेक, निरालंब, संतोष, शील, सहज, शून्य। तत्वों की दृष्टि से ज्ञान परीक्षा में, गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह में निरलोभी के स्थान पर 'निरालंब' दिया गया है। विचार परीक्षा में 'निरवान' के स्थान पर निर्विषय है। विवेक परीक्षा में 'सति' के स्थान पर 'सत्' है। निरालंब परीक्षा में 'निर्लोप' के स्थान पर 'निर्लेप' है। इसी प्रकार शील परीक्षा में 'सति' के स्थान पर शांत तथा सहज परीक्षा में 'सुमती' के स्थान पर 'स्वभाव' लिखा गया है। हस्तलेखों में इसे 'अष्ट परिछ्या' और 'बत्तीस लछन' दोनों कहा गया है। दूसरी महत्वपूर्ण बात जो इस 'बतीस लछन' में कही गई है, वह यह है कि इन परी-

[1] वही, पृ० १३०।

क्षाओं को अष्टांग योग की परीक्षा कहा गया है तथा इन लक्षणों को भक्ति का लक्षण कहा गया है।[१] इन दोनों उक्तियों के विषय में स्पष्ट रूप से कुछ भी कहना कठिन है, क्योंकि नाथों में पांतजल योग का अष्टांग बिलकुल उसी रूप में स्वीकार नहीं किया गया है। दूसरे, नाथों में गुरुभक्ति तथा प्रकारान्तर से नाथभक्ति भी मिलती है, किन्तु भक्ति इनका मुख्य साधन नहीं है। इस प्रकार की कोई भी उक्ति गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह में नहीं है। इन लक्षणों से चार अधिक लक्षण जिस अवधूत योगी में मिलें केवल उसे ही गुरुरूप में स्वीकार करने का उपदेश मिलता है। यदि ऐसा गुरु न मिले तो उनसे कम लक्षण-वाला गुरु नहीं करना चाहिए। अधूरे गुरु को लेकर अपने कुल का नाश नहीं करना चाहिए।[२]

नाथयोग का गौण लक्ष्य पिंडसिद्धि या कायसिद्धि या सिद्धदेहप्राप्ति है। गुरु के मिलने पर, साधनक्षेत्र में अग्रसर होने पर ही, पिंडसिद्धि होती है, पुनः शरीरपात नहीं होता। यदि पूरे गुरु के मिलने पर भी पिंडपात हो तो गुरु को लज्जित होना चाहिए। यह पिंडपात ही गुरु का अधूरापन या असफलता है।[3] गुरु के, इस प्रकार तीन कार्य दिखाई पड़ते हैं—प्रथम पूरण, द्वितीय पोषण और तृतीय बोधन। नाथपंथी हिन्दी रचनाओं में गुरु जहाँ एक ओर शिष्य की जीवात्मशक्ति (कुंडलिनी) को ब्रह्मग्रंथि से मुक्त करता है वहीं वह उसे सांसारिक प्रपंचों से भी मुक्त करता है। दूसरी ओर अग्रसर होने पर वह 'चार तत्वों' की, जो शिष्य में कम होते हैं, पूर्ति भी करता है। तीसरा कार्य वह ज्ञान प्रदान करके संपन्न करता है। संस्कृत ग्रंथों में ये कार्य स्पर्श, दृक्पात आदि के द्वारा साध्य बताये गये हैं। ज्ञानोद्गिरण ही शिष्य का बोधन है और चार तत्वों की आप्ति ही शिष्य का पूरण कार्य है। शिष्य की शक्तियों को उज्जीवित रखना भी गुरु का ही कार्य है। इसे ही हम पोषण कार्य कह सकते हैं।

नाथपंथी हिन्दी रचनाओं में गुरुमुख, कामिनीमुख, मनमुख आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। नाथयोगियों को केवल गुरु ही श्रेय है। गोरखनाथ ने स्पष्टतया कहा है कि साधक या मनुष्य के लिये केवल दो ही मार्ग हैं; या

---

[१] वही, पृ० २४९।

[२] वही, पृ० ११५।

[3] वही, पृ० ६०; पृ० १२ भी द्रष्टव्य।

तो वह गुरु की ओट में रहकर अपना उद्धार करे या कामिनी की क्रोड़ में रहकर अपना विनाश करे। इसी प्रकार गुरुमुख (गुरु की ओर उन्मुखता) की महत्ता भी विस्तार से प्रतिपादित की गई है। संस्कृत ग्रंथों के समान ही हिन्दी रचनाओं में पिंडपरिचय के लिये गुरुमुख की शरण में जाने को कहा गया है। मनमुख को पिंड का परिचय नहीं होता। इसलिये मनमुख (मन की ओर जीव की या जीवशक्ति की उन्मुखता) गुरुमुख का विरोधी है। योगसाधन के क्षेत्र में अग्रसर होने के लिये मनमुख का त्याग तथा गुरुमुख का आश्रयग्रहण करना चाहिए। वस्तुतः गोरक्ष के अनुसार मन की चार स्थितियाँ होती हैं— आशा, उदासीनता, गुरु और कमिनी। इन चार में से मन सदैव किसी न किसी एक के आश्रय में रहता हैं।[1] स्पष्ट ही उदासीनता और गुरु का आश्रय प्रधान साधनानुकूल उपाय हैं। बिना गुरुमुख के आशारूप आपत्ति तथा संदेहरूप शोक, जो दोनों ही रोग हैं, दूर नहीं होते। इसके लिये गुरुमुख में 'जरणा' (जलना, शुद्ध होना) आवश्यक है। यह तबतक संभव नहीं है जबतक गुरुमुख का अभिज्ञान न हो। अभिज्ञान हो जाने पर ही 'जरणा' होता है, और तत्पश्चात् अनेक प्रकार की विपत्तियाँ और रोग नष्ट हो जाते हैं। (तदुपरान्त ही आत्मपरिचय या पिंडपरिचय होता है)। इसी गुरुमुख से अलक्ष्य पुरुष का अभिज्ञान होता है। उसी की सहायता से साधक अजर और अमर स्कंधवाला होता है। उसी से साधक में संतोष की उत्पत्ति होती है। उसी की प्रेरणा से साधक में विचारशक्ति जागरूक होती है तथा उसी से ध्यान सफल होता है।[2]

गोरक्ष के अतिरिक्त अन्य नाथपंथियों की रचनाओं से भी गुरु संबंधी इन्हीं विचारों की पुष्टि होती है। मीड़कीपाव ने परिशुद्ध कंचन के समान काया और शुद्ध भावों तथा विचारोंवाले कस्तूरी के समान विशिष्ट मन को गुरु के चरणों में समर्पित कर देने का उपदेश दिया है जिससे अखंड मंडल उस साधक की मढ़ी के रूप में परिवर्तित हो जायगा तथा पिंड या काया जरामरण से क्षीण नहीं होगी।[3] चरपटनाथ ने अपनी सबदी में बतलाया है कि त्रिभुवन के प्राणी इस शरीर से प्रेम करते हैं। उससे अलग उनकी दृष्टि जाती ही नहीं।

---

[1] वही, पृ० ५८, ६१, ५७।

[2] वही, पृ० ७४ छं० २२५, पृ० ५ छं० १३, पृ० १५ छं० ३८, पृ० १२३ छं० १, पृ० १९४ छं० ६४, पृ० १९३ छं० ८८।

[3] नाथ सिद्धों की बानियाँ, पृ० ११८ छं० ७०६।

इसीलिये उन्हें मृत्यु प्राप्त होती है। इन मोहान्ध प्राणियों में केवल एक वही व्यक्ति उद्धार पाता है जो गुरुमुख में सचेत होता है।[१] संसार की श्रेष्ठतम वस्तुओं का निर्वचन करते समय देवल जी ने पारख (परीक्षा लेनेवाले) और सबदी को अतुलनीय और अनुपम बतलाया है।[२] यह परीक्षा की क्रिया अति गुह्य है। विरले ही इस क्रिया को जानते हैं। साधु की परख भी इसी प्रकार हीरे की परख की तरह ही कठिन होती है।[३]

गुरु-शिष्य संबंधी जो परिचय ऊपर दिया गया है, उसमें गुरुमुख, जरणा और पारख शब्द अत्यधिक महत्वपूर्ण एवं व्याख्येय हैं। जिन प्रसंगों में गुरु-मुख शब्द का प्रयोग गोरखबानी में मिलता है, वहाँ डा० बड़थ्वाल ने उसका अर्थ क्रमशः 'गुरु का मुख' 'गुरु की ओर अभिमुख' (मनमुख का विपरीत), 'गुरु के मुख से मिली शिक्षा', 'गुरु के मुख से निकले वचन', 'गुरु के मुख से निकली शिक्षा', 'गुरु के मुख से प्राप्त ज्ञानोपदेश', 'गुरु का मुख' आदि किया है।[४] इसी प्रकार गोरखबानी में 'मुख'—संयुक्त कुछ अन्य शब्द भी व्यवहृत हुए हैं, जैसे—मनमुख, आशामुख, ऊर्ध्वमुख, ज्ञानमुख, गगनमुख, चित्तमुख, निराशमुख, पवनमुख, सुरतिमुख, सहजमुख, शक्तिमुख आदि। इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शब्द 'मनमुख' है। डा० बढ़थ्वाल ने 'मनमुख' का अर्थ 'मन की ओर' किया है। 'गुरुमुख' शब्द के जितने अर्थ हैं उनमें 'गुरु के मुख से निकले, मिले या प्राप्त उपदेश, शिक्षा या ज्ञान' का अर्थ प्रधान है। अन्य अर्थ 'गुरु का मुख' और 'गुरु की ओर अभिमुख' हैं। आजकल सामान्य सांप्रदायिक क्षेत्रों में 'गुरुमुख' होने का अर्थ गुरु से दीक्षा लेना या मंत्र लेना हुआ करता है। हमारी दृष्टि में इन सभी अर्थों पर विचार करने के बाद 'गुरु की ओर' अर्थ सामान्यरूपेण उचित प्रतीत होता है। लक्षणा की सहायता से 'गुरु की ओर उन्मुख होना' या 'अभिमुख होना' या 'गुरु के उपदेशों की ओर अभिमुख होना' अर्थ लिया जा सकता है। इस सामान्य अर्थ की पुष्टि 'मनमुख' शब्द के, डा० बड़थ्वाल के अर्थ से भी होती है। इसी प्रकार अन्य 'मुखांत' शब्दों के अर्थों को भी उद्घाटित किया जा सकता है जिसके लिये पर्याप्त स्थान की

---

[१] वही, पृ० ३४ छं० २००।

[२] वही, पृ० ६३ छं० ४१३।

[३] वही, पृ० ७९ छं० ५०२।

[४] गो० बा०, पृ० ५७ छं० १६८, ६१. १८०, ७४. २३५, ५. १३, १५. ३८, २३. ६४, १०१. २, १२३. १।

आवश्यकता है। यहाँ हम केवल 'मनमुख' और 'गुरुमुख' शब्दों के अर्थ बता कर अन्य 'मुखान्त' शब्दों के अर्थ की दिशा की ओर संकेत कर देना चाहते हैं।

इस प्रसंग में दूसरा महत्त्वपूर्ण शब्द 'जरणा' है। 'जरणा' शब्द का गोरखबानी में जिन-जिन स्थलों में प्रयोग हुआ है, वहाँ डा० बड़थ्वाल ने क्रमशः 'पचानेवाला या जीर्ण करनेवाला', 'जीर्ण करना', 'पचना', 'पूर्ण रूप से स्वायत्त करना' अर्थ किया है।[१] किंचित समान ध्वनियुक्त एक अन्य शब्द 'जारणा' है जिसका प्रयोग 'सिद्धसिद्धांतसंग्रह' में 'मलमूत्र के जारण' या 'जलाना' के अर्थ में किया गया है।[२] 'जारण' शब्द शुद्ध संस्कृत शब्द प्रतीत नहीं होता। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'जरणा' शब्द का अर्थ, डा० बड़थ्वाल के समान ही 'जीर्ण होना' किया है।[3] इस शब्द के अभी तक के प्राप्त प्रयोगों में यह शब्द प्रायः 'गुरुमुख' शब्द के सप्तम्यंत रूप के साथ ही आया है। अतः इस प्रसंग में इस शब्द का अर्थ गुरु के उपदेशों या दिये गये मंत्र में साधक या शिष्य का अपने को जीर्ण कर देना, अपने अहं को जीर्ण कर देना, लीन कर देना, एकरस हो जाना हो सकता है। यह एक प्रकार से लयसाधन या गुरु के मंत्रों या उपदेशों के साथ अभेद स्थापित करने का साधन है। इस प्रकार के अर्थग्रहण से कहीं भी असंगति प्रतीत नहीं होती। 'गुरुमुख होना' और 'जरणा' में एक क्रम दिखाई पड़ता है। 'जरणा' वस्तुतः एक ऊर्ध्वस्थिति है। जिसमें गुरु के मंत्र का श्रवण-ग्रहण नहीं अपितु साक्षात्कार या उपलब्धि होती है। इस जरणा का सीधा संबंध 'रहनी' से है।

इस गुरु-शिष्य प्रकरण से ही संबद्ध एक तीसरा शब्द 'पारख' है। गोरखबानी में एक स्थान पर 'पारिषा' शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ टीकाकार डा० बड़थ्वाल ने 'परख' (या पहचान) किया है।[४] अन्य नाथसिद्धों ने 'पारख', 'पारिख' और 'परख'—इन तीन शब्दों का प्रयोग किया है। डा० द्विवेदी ने 'पारख' का संबंध 'परीक्षा' से बताया है।[५] अन्यत्र 'परष' से सम्बन्धित शब्दों को देखने से 'परख', परीक्षक, पारखी आदि अर्थ ही उचित प्रतीत होते हैं। इस प्रकार 'परष' या 'पारष' शब्द का सीधा सम्बन्ध 'परीक्षा'

---

[१] गो० बा०, पृ० ७८ छं० २५२, ५.१३।

[२] सिद्धसिद्धांतसंग्रह—द्वितीयोपदेश, श्लो० १९।

[3] नाथ संप्रदाय, पृ० १८४।

[४] गो० बा०, पृ० ८९।

[५] ना० सि० बा०, पृ० ६३ छं० ४११, ४१३; ७९. ५०२-५०५।

शब्द से प्रतीत होता है। 'पारष' और 'पारिष' शब्दों का जहाँ प्रयोग है, वहाँ सीधा अर्थ परीक्षक या परीक्षा लेनेवाला अर्थ संगत प्रतीत होता है। नाथों के सिद्धांत के अनुसार परीक्षकत्व गुरु का एक विशेष लक्षण माना गया है। ऊपर ३२ लक्षणों से संबंधित जो परिचय दिया गया है उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि गुरु परीक्षक, पूरक और बोधक तीनों है। इसके अतिरिक्त भवरोगनाशक, शिष्य के लिये मंगलदायक, परमकल्याणमय, दिव्यदृष्टिदाता आदि के रूप में भी उसे स्मरण किया गया है। ऐसा पिछले परिचय से स्पष्ट है। पहले बतलाया गया है कि नाथमत केवल सूक्ष्मवेद प्रणव को मानता है क्योंकि वही नाद-परंपरा है। अन्य शास्त्र, वेद, पुराण आदि विन्दु-परम्परा में हैं, इसलिये वे उन्हें मान्य नहीं। इस सूक्ष्मवेद का अनुभव करानेवाले योगशास्त्र, जो स्वयं नादपरंपरा में है, की युक्ति बतलानेवाला गुरु ही है। इसलिये नाथमत गुरुकृपा को ही स्वीकार करता है, शास्त्रकृपा या आत्मकृपा को नहीं। नाथमत मानता है कि कोई भी साधक बिना गुरु की कृपा को प्राप्त किये, केवल स्वतंत्र आत्मशक्ति से साधनक्षेत्र में प्रवेश नहीं कर सकता। नाथों में गुरुकृपा ही ईश्वरकृपा या नाथकृपा है। इन दोनों में अभेद है।[१]

ऊपर संस्कृत ग्रंथों के आधार पर योग का विवेचन करते समय नाथपंथी अधिकारभेदवाद का अनुमान किया गया है। जिन तथ्यों के आधार पर वहाँ यह सिद्धान्त अनुमित है, वे ही हिन्दी ग्रन्थों में भी मिलते हैं। तांत्रिकों में जैसे पशु और वीर भाव के साधन इस वाद विशेष के आधार पर निर्णीत होते हैं उसी प्रकार नाथों की हिन्दी रचनाओं में भी परीक्षाओं के आधार पर अधिकारनिर्णय होता है। इन्द्रियपाशों से बँधे मनमुख तथा योगमार्ग में आरूढ़ न होनेवाले जीवों को पशु तथा काया गढ़ को जीत कर, काया को पूर्ण रूप से परिशुद्ध कर उसे अपने अधिकार में रखने वाले साधक को शूर-वीर कहा गया है। जैसे तंत्र के पशुपति पाशच्छेदन कर कृपा से उसे साधनयोग्यता प्रदान करते हैं, उसी प्रकार साधक नाथरूप सद्गुरु की कृपा से साधनक्षेत्र में प्रवेश का अधिकारी हो जाता है। यह रज्जुच्छेदन ही वास्तव में दीक्षा, गुरुमुख, शक्तिपात आदि है। जहाँ-जहाँ साधन-क्रम में अग्रसर होने के लिये दीक्षा का विधान है, प्रत्येक उच्चतर साधन के लिये साधक की परीक्षा या अधिकार आदि का बन्धन है, वहीं इस वाद की सत्ता स्वीकार की जा सकती है। नाथों की संस्कृत रचनाओं में परीक्षा के ३२-३६ तत्वों के अतिरिक्त नाद की जो चार

---

१ गो० बा०, पृ० ११५।

क्रमिक अवस्थाएँ स्वीकार की गई हैं, वे ही हिन्दी रचनाओं में भी मिलती हैं। हिन्दी रचनाओं में विशेषता यह है कि उन्हें योगी की साधन की अवस्थाओं से संबद्ध कर दिया गया है। गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह में जिस प्रकार आरंभ, घट, परिचय और निष्पत्ति नाम की चार अवस्थाएँ मानी गई हैं, उसी प्रकार गोरखबानी में भी; किन्तु यहाँ स्पष्टतया 'आरम्भ जोगी', 'घट जोगी', 'परचा जोगी' और 'निसपत्ती जोगी' का विवेचन मिलता है।[1] चार प्रकार के योगियों के अतिरिक्त, अन्यत्र, चार प्रकार के शून्यों का भी कल्पना है।[2] तात्पर्य यह है कि नाथमत के साधनक्रम में क्रमशः विकाश को ध्यान में रखकर साधक की विभिन्न परीक्षाएँ तथा साधना की विभिन्न अवस्थाएँ बतलाई गई हैं। साथ ही, तदनुसार, विकासक्रम को ध्यान में रखते हुए योगियों के चार प्रकार बतलाये हैं तथा उनका संबंध नादों एवं शून्यों से भी स्पष्ट होता है।

नाथपंथी संस्कृत ग्रंथों के आधार पर हमने गुरूशिष्यवाद और अधिकारभेदवाद का निरूपण कर यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि बिना इन दोनों का अनुपालन किये साधक का साधनक्षेत्र में प्रवेश असम्भव है। सांसारिक लक्ष्य--धर्म, अर्थ, काम की प्राप्ति के लिये 'अधिकार' की अपेक्षा नहीं रहती। विलक्षण अलौकिक पद की उपलब्धि के लिये सामान्य जन योग्य नहीं हैं। इसीलिये गुरु परीक्षा कर अधिकार प्रदान करता है। गुरुशिष्यविवेचन में ही यह स्पष्ट कर दिया गया है कि गुरु ही परम तत्व का ज्ञान कराता है, शिष्य को साधनमार्ग में अग्रसर करता है। इस साधनमार्ग या नाथों के योगमार्ग का लक्ष्य निश्चित कर साधक की साधनसंपत्ति का विचार कर गुरु शिष्य को अधिकार प्रदान करता है। साधक की साधनसंपत्ति का संक्षिप्त परिचय पहले, विभिन्न परीक्षाओं के प्रसंग में दिया जा चुका है।

नाथयोग का लक्ष्य—

नाथों के योग के लक्ष्य का निर्वचन यहाँ किया जा रहा है। पहले ही बताया गया है कि नाथों का योग योगयुक्त ज्ञान को स्वीकार करता है अर्थात्

---

[1] गो० बा०, पृ० ४७-४८, इं० १३६-१३९।

[2] इस प्रसंग के लिये निम्न स्थल देखे जा सकते हैं—गो० बा० १७७. १८, ४०. ११४, ६२. १८३, ७१. २१६; नरवै बोध; आत्मबोध—१७४. ५; मच्छीन्द्र गोरषबोध—१८६. २; ना० सि० बा० ७०. ४४०-४४१, ७१. ४४५, ९६. ५८८।

योग की सहायता से उपलब्ध ज्ञान को स्वीकार करता है। मूल बात यह है कि नाथों के योग में केवल कायासाधन ही नहीं, मानसिक या चैतसिक साधन भी है। प्रथम द्वितीय का साधनोपाय है। दूसरे शब्दों में आधिभौतिक और आधिदैविक साधन का लक्ष्य आध्यात्मिक साधन है। आगे इसे प्रकाशित किया गया है।

नाथयोग का चरम लक्ष्य या परमतत्व विलक्षण है। पहले बौद्ध नागार्जुन ने परमतत्व को 'शून्य' शब्द से संकेतित किया था। यह तत्व चतुष्कोटि-(न वह सत् है, न वह असत् है और न वह सत्-असत् दोनों नहीं है आदि) विनिर्मुक्त माना गया था। विद्वानों ने नागार्जुन की परमतत्व के निर्वचन की इस पद्धति को उपनिषदों की नेति-नेति से तुलित करते हुए इस पद्धति को अति प्राचीन बताया है। उपनिषद् के ऋषियों की अनुभूतिप्रधान इस पद्धति का पालन गोरख ने भी किया था और कहा था कि वह न सत् है और न असत् है, वह न असत् है और न सत्। ऐसा साधन वे इसलिये कहते हैं कि वह तत्व प्रत्यक्ष करणों की पहुँच के बाहर है और दूसरे हमारी कोई भी इन्द्रिय उसे ग्रहण नहीं कर सकती। यदि उसका कोई ध्वन्यात्मक प्रत्यक्ष होता है तो केवल गगनशिखर सहस्रार में। अतः ऐसे तत्व का, जिसका केवल ध्वन्यात्मक प्रत्यक्ष होता है, जो अगम है, अगोचर है उसका नाम भला कैसे रखा जा सकता है। इसका कारण यह है कि 'असत्' वस्तु का कोई रूप नहीं हो सकता, अतः इसका नाम भी नहीं रखा जा सकता। यह 'सत्' भी नहीं है क्योंकि वह अगम और अगोचर है। जो वस्तु गोचर है, उसका कोई रूप होगा और उस रूप का बोधक कोई नाम भी रखा जा सकता है एवं उसका वर्णन भी किया जा सकता है। अर्थात् नाथों का परम तत्व सत्-असत् विवर्जित अनिर्वचनीय एवं निर्नाम है।[१]

नाथों का साधन इसी अदृष्ट परमतत्व का दर्शन और उसी में चित्त का आधारण है। उसकी सत्ता-असत्ता-अनिर्वचनीयता, नामरूपराहित्य के निर्वचन का प्रयत्न करते हुए गोरख ने कहा है कि वह परमतत्व यहाँ ही सत्तावान् है और यहीं वह असत्तावान् भी है। सत्तावान् तो इसलिये है कि यहीं उसने तीनों लोकों की रचना की है। वह अगोचर है, इसलिये वह लुप्त कहा गया है एवं असत्तावान् प्रतीत होता है। उसकी सत्ता इससे सिद्ध है कि वह साथ ही रहता है और चूँकि वह हमसे लिप्त नहीं होता, इसलिये वह 'अलग' कहा

[१] गो० बा०, पृ० १ छं० १।

गया है। ऐसे विलक्षण तत्व के लिये साधना कर साधक योगेश्वर हो गये।[१] वह एक ऐसा तत्व है जिसका उचित रूप में निर्वचन वेद, धर्मग्रंथ तथा अन्य धार्मिक वाणियों के समूह भी नहीं कर सके। उन सबने उसे आडंबर में ढँक लिया। उसे कोई प्रकाशित नहीं करता, वह स्वयं अपने को शब्द के रूप में प्रकाशित करता है जिसका ग्रहण या साक्षात्कार केवल अलक्ष्य तत्व के जानकार ही कर सकते हैं। उस अलक्ष्य तत्व का ज्ञान वेद, शास्त्र, किताब (धर्मग्रंथ) कुरान या अन्य पुस्तकों से नहीं हो सकता। ये सब बंधन में डालनेवाले एवं अज्ञान उत्पन्न करनेवाले हैं। इस परमपद या तत्व का ज्ञानी विरला योगी ही हो सकता है।[२] गोरख के अनुसार प्रत्येक शरीर ब्रह्मसाक्षात्कार के लिये बनाया गया है जिसमें ब्रह्मबीज का प्रस्फोट हो सके। जिस क्यारी में ब्रह्मसाक्षात्कार का बीज प्रस्फुटित हो जाता है या जो घट इस प्रस्फोट से निष्पन्न हो जाता है वह गोरक्षकाया या सिद्धकाया है। यह बात गोरख ने प्रत्येक घट के लिये कही है कि कच्चे शरीर में या कमजोर क्यारी में ब्रह्म साक्षात्कार के बीज को प्रस्फुटित करनेवाला ज्ञानजल नहीं टिक सकता।[3] अतः ज्ञानजल को ग्रहण करने के लिये परिपक्व शरीर की आवश्यकता है जिसका एकमात्र साधन योग है। इस प्रकार नाथपद के साक्षात्कार के लिये ज्ञान तथा चिर ज्ञान के लिये योग से उपलब्ध परिपक्व शरीर की आवश्यकता बतलाई गई है।

गोरख ने पहले ही बतलाया है कि परम विलक्षण अनिर्वचनीय तत्व का साक्षात्कार नाद रूप में गगनशिखर में होता है। अर्थात् उसकी अनुभूति इस शरीर में ही होती है। संसार प्रपंचयुक्त है, द्विविधा और द्वैत से ग्रस्त है। परमतत्व इन सबसे मुक्त है। जो इसे प्राप्त कर लेता है, वह अपने को संसार से मुक्त कर लेता है। उसकी प्राप्ति योगयुक्त ज्ञान से होती है। इस साधन से ही उस निर्वाण पद परमतत्व का साक्षात्कार इस पिंड में होता है।[४] इस प्रकार साधक के शरीर की महत्ता स्वीकार की गई है। क्योंकि परम तत्व नाथपद का साक्षात्कार इस पिंड के गगनशिखर में नादरूप में होता है, अतः

---

[१] गो० बा०, पृ० २, छं० २-३।

[२] वही, पृ० २ छं० ४; पृ० ३ छं० ६।

[3] वही, पृ० १४ छं० ३७।

[४] गो० बा०, पृ० १६४—'जोग जुक्त जब पाओ ग्याना। काया षोजौ पद नृबाना।'

इस पिंडगत गगनशिखर की जब तक स्थिति है तब तक साक्षात्कार स्थिर है। अतः इस काया की रक्षा होनी चाहिए। योग से शरीर को शुद्ध करना, योग से ही शरीर की रक्षा करना और उसी से परमपद का गगनशिखर में साक्षात्कार करना, नाथमत के अनुसार, योगी के लिये आवश्यक है। इसलिये नाथों के योग में कायासाधन और देहविजय का इतना निर्वचन मिलता है। काया संबंधी जितने भी वर्णन गोरखबानी में मिलते हैं, उनमें सर्वत्र यही एक ध्वनि सुनाई पड़ती है कि काया का जय अति कठिन है, इसे जीतने पर ही सिद्धि की प्राप्ति हो सकती है।[1] यह जय तबतक कठिन है जबतक पिंडज्ञान न हो जाय। साधक के लिये दो तत्व मुख्य हैं—पिंड और ब्रह्मांड। ब्रह्मांड से पिंड का संबंध साधक को जानना ही चाहिए साथ ही, पिंड में क्या है? इसका भी पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। पहले हम नाथपंथी संस्कृत ग्रंथों के योग के विवरण में बतला चुके हैं कि नाथों का लक्ष्य नाथस्वरूप से अवस्थान या पिंडपद का परमपद में समरसीकरण है। ये सिद्धान्त हिन्दी रचनाओं में भी मिलते हैं।

योगी के साध्य में तथा अन्य साधकों के साध्य में अन्तर है। योगियों का साध्य विलक्षण, अनिर्वचनीय एवं केवल योगगम्य है। वह सत् असत्, द्वैत-अद्वैत से विवर्जित तो है ही, साथ ही वह मस्जिद-मंदिर से भी परे है, अतीत है। उसका साक्षात्कार पंडितों का अधकचरा ज्ञान नहीं करा सकता और आसन-प्राणायामादि के उपद्रव से भी वह अनुभवगम्य नहीं हो सकता। उस परमात्मा का दर्शन आत्मा में जलमध्यगत चंद्रबिंब की तरह होता है। उसकी प्राप्ति शून्य-स्थान सहस्रार में ही होती है। वह अतीत शून्यस्थान में ही समाविष्ट रहता है।[2] यही परमपद है। उसे कई बार निरंजन भी कहा गया है क्योंकि वह अंजन से सदैव निर्लिप्त रहता है। माया अंजन है। निरंजन को प्राप्त करने के लिये अंजन का त्याग करना चाहिए। इस निरंजन का साक्षात्कार गगनशिखर में होता है। नाथ तत्व ही निरंजन तत्व है। उस परमपद में न उदय है न अस्त, न रात न दिन। वह सबमें निरन्तर भाव रखता है, चराचरमयी सृष्टि में अभिन्न भाव से रहता है। उसकी न

---

[1] गो० बा०, पृ० ९५ सं० १, ११४.२, ११५.३, ११६.१, १३४.१, १३३.८, १३५.४, १३८.३, १७१.८ आदि।

[2] गोरखबानी, पृ० २५, सं० ६८, ४७.१३४, ४४.१२४, १२४.४, १९३.६१।

कोई डाल है न मूल, न वह स्थूल है न सूक्ष्म। उस निरंजन रूप की प्राप्ति का उपाय है उन्मनी समाधि।[१] यह ओंकार परब्रह्म निराकार है जिसका सेवन दशमद्वार नें पहुँचकर योगी करता है। अहंकार इस मार्ग में बाधा-स्वरूप है।[२] अर्थात् अहंकार का त्याग कर देने पर योगी दशम द्वार में पहुँच कर निराकार ओंकार परब्रह्मतत्व का साक्षात्कार करता है। दशम द्वार, ब्रह्मरन्ध्र, सहस्रार, केदार, कैलाश, गगनशिखर आदि सभी इस पिंड में हैं और साधक उस अवस्था में पहुँच कर पिंड में ही आत्मा में परमात्मा, परमपद, ब्रह्म निराकार निरंजन नाथ का साक्षात्कार करता है। उसी में जीव लीन हो जाता है, समत्व प्राप्त कर लेता है, नाथस्वरूप हो जाता है। इस ब्रह्म के रूप को कहीं-कहीं अचिन्त्य भी बतया गया है।[3]

यह तत्व पिंड और ब्रह्मांड, दोनों, में समान रूप से व्याप्त है। किन्तु जीव प्रपंचनिरत रहते हुए इन दोनों में समान रूप में एक ही तत्व की व्याप्ति को नहीं जानता। अतः पिंडगत और ब्रह्मांडगत परमात्मा के एकत्व या समरसत्व या समत्व का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। यह जानना चाहिए कि पिंड और ब्रह्मांड में कोई अन्तर नहीं है। पिंडज्ञान से ही ब्रह्मांडज्ञान होता है। उसी को दूसरे शब्दों में कहा जाता है कि अपने को, अपनी आत्मा को, अपने पिंड को पहिचानो, उससे परिचय प्राप्त करो, सारे ब्रह्माण्ड का ज्ञान हो जायगा, कुछ भी अपरिचित नहीं रहेगा, सभी परिचित लगेंगे। इसी को गोरख ने 'पिंड में ब्रह्माण्ड की खोज' कहा है जिससे सभी सिद्धियों की उपलब्धि होती है।[४] पिंड और ब्रह्मांड के एकत्वज्ञान या पिंडब्रह्मांडवाद के संबंध में संस्कृत ग्रंथों में विवेचित योग का परिचय देते समय भी इस प्रकार के विचार व्यक्त किये गये हैं। प्रकृत विषय से संबद्ध जो दूसरी बात यहाँ कहनी है, वह यह है कि संस्कृत ग्रंथों में नाथों के साधन का लक्ष्य पिंडपद का परमपद में समरसीकरण बतलाया गया है। ऊपर कहा गया है कि परमपद या ब्रह्म का साक्षात्कार गगनशिखर या सहस्रार में होता है। गोरखबानी में ब्रह्मांड शब्द का प्रयोग दो अर्थों में हुआ प्रतीत होता है—१. बाह्य चराचर सृष्टि,

---

[१] गो० बा०, ६८.२०७, ७३.२३०, १६.४४, ११६. टेक, ३९.११, ८८.३।

[२] गो० बा०, ३९.११३, १२७.२, १२९. टेक।

[3] गो० बा०, २०२.१२४।

[४] गो० बा० १०१.२, ११६. १. २३।

२. गगनमण्डल जहाँ शिव का निवास है। जीव का पिंडगत केन्द्रविन्दु मूलाधार में है जहाँ जीवशक्ति कुंडलिनी निवास करती है। विभिन्न संस्कृत ग्रंथों से हमें यह मालूम है कि जब कुंडलिनी उत्थित होकर सहस्रार की ओर अग्रसर होती है तब जीवात्मा भी उसके साथ अग्रसर होकर अन्ततोगत्वा एकत्व प्राप्त कर शिवस्वरूप हो जाती है। कहा गया है कि निराकार परमतत्व पिंड और ब्रह्माण्ड (सृष्टि) में समानरूपेण व्याप्त है। पिंडगत और ब्रह्माण्डगत परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है। जब कुंडलिनी शक्ति उलट कर ब्रह्मांड में पहुँचकर शिव से मिलन प्राप्त करती है तव कहा जा सकता है यह पिण्डशक्ति कुंडलिनी ब्रह्मांडगत महाकुंडलिनी पद को प्राप्त हो गई अथवा जीव शिवपद को प्राप्त हो गया। यही समरसीकरण है। इसी को, दूसरे शब्दों में पाताल की गंगा को ब्रह्माण्ड में चढ़ाना कहते हैं।[1]

इस प्रकार इस लक्ष्य संबंधी विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि नाथ लोग निरंजन निराकार सत्-असत्-विवर्जित नाथ तत्व का साक्षात्कार या नाथरूप से अवस्थान अपना मुख्य लक्ष्य मानते हैं। इसे ही दूसरे शब्दों में पिंडपद को परमपद या ब्रह्मपद में समरसीकरण भी कहते हैं। इस मुख्य लक्ष्य की प्राप्ति के लिये योगयुक्त ज्ञान का आश्रय लेना चाहिए तथा इस शरीर में भी उस परमतत्व का साक्षात्कार करना चाहिए। यह पिण्ड ही उस परमतत्व का परम पवित्र मंदिर है। गगनशिखर में उसका साक्षात्कार होता है। अतः पिण्डरक्षा भी आवश्यक है जिससे इस पिंड में साक्षात्कार स्थिर हो तथा चिर ज्ञान उपलब्ध हो। इसके लिये परिपक्व देह की आवश्यकता बतलाई गई है। इस प्रकार मुख्य लक्ष्य की सिद्धि के लिये गौण लक्ष्य के रूप में कायसिद्धि या परिपक्व देह को स्वीकार किया गया है।

ये दोनों लक्ष्य अन्य नाथसिद्धों की रचनाओं में भी मिलते हैं। पहले के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि नाथों की दृष्टि में 'नाथ' ही परमतत्व है। नाथ लोग उन्हें 'परमानंदमय' और विश्वगुरु मानते हैं। वे निरंजन और विश्वव्यापक हैं। इस तत्व के विवेचन में आगे कहा गया है कि वह सृष्टि के आदि में था फिर भी उसके आदि के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इसीलिये वह तत्व अनादि है। वह महानन्दरूप है। न वह साकार है न निराकार। वह इन दोनों के अतीत है। यदि उसे निराकार कहा जाय तो वह आकार धारण करने की इच्छा (सिसृच्छा) के विरुद्ध बात हो सकती

[1] गो० बा०, ७१. २१७, २. २, १७४. ५।

है। यदि उसें साकार कहा जाय तो उसकी व्यापकता की हानि होती है। इसीलिये कर्ता वही है जो द्वैताद्वैतरहित अनिर्वचनीय सदानंद नाथ है।[१] क्रम से उस कर्ता ने इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया शक्तियों को प्रकट किया। क्रियाशक्ति से ही, तत्पश्चात् पिंड-ब्रह्मांड की उत्पत्ति हुई। इन पिंड-ब्रह्माण्डों में ही अव्यक्त निर्गुण तत्व स्वरूप से व्यापक हो गया। इस प्रकार व्यक्त आनन्द-विग्रहस्वरूप पिण्ड-ब्रह्माण्डों में विहार करने लगा। वह तत्व पहले द्वैताद्वैत-रहित नाथ था। बाद में व्यवहार के लिये वह अद्वैत निर्गुण नाथ हुआ और पुनः उसने द्वैत रूप आनन्द विग्रहात्मक नाथ रूप को ग्रहण किया। यह द्वैताद्वैत-रहित नाथ तत्व महासिद्धों का लक्ष्य है।[२] इस तत्व को गोपीचन्द्र ने गोरख की तरह ही अचिन्त्य पद कहा है। उसे उन्होंने अमरौघशासनम् की तरह जलचन्द्रबिम्ब एवं दर्पणछाया से उपमित किया है।[३] इस प्रकार नाथ-सिद्धों का मुख्य लक्ष्य नाथपद प्राप्त करना है किन्तु पिण्डसिद्धि को अन्य नाथ रचनाकार उपेक्षणीय नहीं मानते। उनके अनुसार पिण्डसिद्धि, पिण्डरक्षा, पिण्डशुद्धि तथा उसका परमपद में समरसीकरण भी योगी के लिये आवश्यक है। उनका कहना है कि पिण्ड में जरा नहीं आनी चाहिए। जरा पिण्ड का सबसे बड़ा शत्रु है। इसी प्रकार योगी का सबसे प्रधान लक्षण उसका दृढ़-स्कन्धत्व है। इसीलिये वे रचनाओं में स्कन्धरक्षा के लिये बार-बार सचेत करते हैं तथा पिण्डपात के कारणों पर पुष्कल प्रकाश डालते हैं।[४]

अतः नाथों के योग में उन उपायों को महत्व दिया गया है जिनसे अजरा-मरता प्राप्त होती है। बिना उन उपायों का उपयोग किये पिण्डपात होना अवश्यंभावी है।[५] इस तरह गोरख के समान ही अन्य नाथसिद्ध भी यही मानते हैं कि जीवन के चरम लक्ष्य के रूप में नाथपद को स्वीकार करना चाहिए तथा उसकी पूर्ति के लिये पिण्डसिद्धि और पिण्डरक्षा परमावश्यक है। यह पिण्डसिद्धि स्वयं अपने में कोई लक्ष्य नहीं है। पिण्डपद के परमपद के समरसीकरण को, जैसा संस्कृत ग्रंथों में स्वीकार किया गया है, उसी प्रकार

---

[१] सि० सि० प० अ० व० ना० यो०, पृ० ७२, ७२-७३।

[२] वही, पृ० ७३, ७२।

[३] ना० सि० बा०, पृ० १९ छं० १०८।

[४] सि० सि० प० अ० व०, पृ० ७७, ८० ७८. २१; ना० सि० बा०, २९. १६७, १०१. ६१७।

[५] ना० सि० बा०, पृ० ३१-३२. १८५-१८६, ५१. ३५०।

गोरखबानी की तरह नाथपंथियों की अन्य रचनाओं में भी उसे स्वीकृत दी गई है। सिद्ध की स्थिति में पहुँचने पर, अजयपाल ने बतलाया है, पिण्ड से ब्रह्मांड हुआ या ब्रह्माण्ड से पिण्ड हुआ, कुछ कहा नहीं जा सकता। यदि पिण्ड और ब्रह्माण्ड को सम कर ले अथवा समरस कर ले तो पिण्ड में ही ब्रह्माण्ड समाविष्ट हो जाय।[1] इससे यह स्पष्ट होता है कि पिण्ड और ब्रह्माण्ड में इतनी समता है कि इन दोनों में कौन किससे उत्पन्न हुआ, यह निश्चयतः कहना कठिन हो जाता है। इन दोनों की समता संबंधी इन विचारों का निष्कर्ष यह है कि इन दोनों में समरसत्व या एकत्व स्थापित कर पिण्ड में ही ब्रह्माण्ड का साक्षात्कार किया जाय। हम पहले ही बतला चुके हैं कि ब्रह्माण्ड शब्द का लक्ष्यार्थ परमपद भी है। पिंडगत ब्रह्माण्ड परम तत्व के साक्षात्कार का स्थान है। अनन्त व्यापक परमतत्व समुद्र के समान है जिसमें यह पिंड उसकी एक क्षुद्र बूँद के समान है। पिंड और ब्रह्माण्ड में जिस प्रकार की एकता है, उसी प्रकार की एकता, समता, समतत्वता बूँद तथा समुद्र में है। एक ही परमानन्दमय ब्रह्माण्ड में परम स्वच्छन्द आनन्दमय अनन्त पिण्डों की क्रीड़ा नाथों का अभीष्ट है। अनन्त ब्रह्माण्ड में, पिंड की लीनता, एकत्व, समरसत्व, परमानन्दमयी क्रीड़ा नाथों का श्रेय है। ब्रह्माण्ड का पिंड में दर्शन तथा ब्रह्माण्ड में पिंड की क्रीड़ा वस्तुतः पिंड ब्रह्माण्ड की रसक्रीड़ा है, लीला है। मीड़कीपाव के अनुसार संसार में और सब कुछ गड़बड़ है, केवल यह क्रीड़ा ही सारवती है।[2] दूसरे शब्दों में यह 'घर' (पिंड, मूलाधार, पृथ्वी) और 'अघर' (ब्रह्माण्ड, सहस्रार, आकाश) का परस्पर परिचय है, संवाद है, प्रगाढ़ भावस्थापन है।[3]

४—पिंडब्रह्माण्डवाद

इस क्रीड़ा के लिये सबसे पहले यह आवश्यक है कि साधक अपना ही ज्ञान प्राप्त करे। लोग अपने को नहीं जानते और सारे संसार को जानने दौड़ते हैं या उसके जानने का दावा करते हैं। सिद्धों का मत है कि पहले अपने को जानो। अन्तस्साधन या अध्यात्मिक साधन के मूल स्रोत उपनिषदों में 'आत्मानं विद्धि' जैसे वाक्य कह कर इसी तथ्य की ओर संकेत किया गया है। इसे तंत्रों ने, नाथसिद्धों ने अपने अनुकूल ग्रहण किया है और कहा है कि यह

---

[1] वही, पृ० ७-८ छं० ४७ तथा उसका पाठभेद।

[2] वही, पृ० ११८, छं० ७०७।

[3] गो० बा०, पृ० १०२-१०३, ३४।

पिंड ही सारे रहस्यों का बीज है। ब्रह्मांडगत सम्पूर्ण रहस्यों का स्रोत यही है। इसलिये वे बार-बार पिंडज्ञानी योगी के लक्षणों को दुहराते हैं। संस्कृत ग्रंथों में 'पिंडसंवित्ति' का बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है। नाथपंथी हिन्दी रचनाओं में भी पिंडज्ञान का वर्णन मिलता है। पिंडब्रह्मांडवाद के सिद्धान्त के पूर्ण निर्वचन के लिये पिंडवर्णन सर्वथा आवश्यक है। पिंड के परमपद में समरसीकरण अर्थात् पिंड में ही ब्रह्मांड के साक्षात्कार के लिये इस साढ़े तीन हाथ के ही शरीर में भ्रमण करने की आवश्यकता है। इस शरीर को विभिन्न स्थलों पर नगर, पाटण, गढ़, कोट आदि शब्दों से अभिहित किया गया है और यह भी कहा गया है कि नगर या पाटण के मार्गों या वीथियों का जब-तक ज्ञान न हो जाय तबतक उस पर विजय नहीं प्राप्त की जा सकती। जो इस पाटण में भलीभाँति भ्रमण करता है, वह वस्तुतः शिवपुरी में संचरण करता है।[1] योगसाधन के लिये, शरीर के रहस्यमार्गों, गुह्यस्थानों का जिनमें पतन की प्रतिक्षण शंका बना रहती है, ज्ञान होना अत्यावश्क है। योगसाधन और कायविजय या कायसिद्धि के लिये यह भी जानना आवश्यक है कि इस कायानगर या गढ़का निर्माण कैसे और किन-किन तत्वों से हुआ ? इस पिंड में क्या-क्या है ? गोरख के अनुसार इस शरीर में गुरुदेव और देवता शंभु निवास करते हैं। यह उनका मंदिर है। इसका सर्वोत्तम देवता आत्मा है। इसके नवद्वारों में नवनाथ, त्रिवेणी में जगन्नाथ तथा दशम द्वार ब्रह्मरंध्र में केदार हैं जो शंभुस्थान या शिवस्थान है। इसी दशमद्वार में योगी ध्यान लगाता है तथा उसी कायागढ़ में वह उपास्य नाथ, उनका देवालय सहस्रार तथा उनकी पवित्र पुरी काशी का साक्षात्कार करता है। वहीं वह उस अविनाशी तत्व का साक्षात्कार करता है।[2]

इस पिंड का सविस्तर वर्णन, जैसा सिद्धसिद्धांतपद्धति के तृतीय उपदेश में मिलता है, वैसा 'प्राणसंकली' नाम की नाथपंथी हिन्दी रचनाओं में मिलता है। गोरखनाथ के नाम से एक 'प्राणसंकली' गोरखबानी में संग्रहीत है। डा० बड़-थ्वाल ने दो हस्तलेखों के आधार पर प्राणसंकल का अर्थ 'प्राणश्रृंखला' किया है। उन्होंने बताया है कि एक हस्तलेख में 'प्राणसंकली' के स्थान पर 'आत्म-बोध' शीर्षक दिया गया है। फिर भी उन्होंने 'प्राणश्रृंखला', अर्थ को ही

---

[1] गो० बा०, १६.४३, ११६.१-३, १२०-१२१.१-६, १३४.१-४; ना० सि० बा०, १२.७१, १२०.७१६।

[2] गो० बा०, ९४-९५.१-२, ११६.१-३।

उचित और अंतिम माना है।[१] प्राणसंकली की प्रथम पंक्ति में ही 'आत्मब्रह्म' के लक्षित होने की बात कही गई है। हम पहले ही कह चुके हैं कि गुरु ही पिंडपरिचय कराता है तथा पिंडपात होना ही गुरु के लिये लज्जा की बात है। 'पिंडपरिचय' और 'पिंडपात' शब्दों का परस्पर घनिष्ठ संबंध प्रतीत होता है। 'प्रागसंकली' की विषयसामग्री को देखने से यह बात स्पष्ट होती है कि इसमें पिंडवर्णन प्रधान है। इस पिंडवर्णन की विशेषता यह है कि इसमें ब्रह्माण्ड-गत विभिन्न तत्वों का पिंडगत स्थाननिरूपण है। इसमें पिंडगत विभिन्न तत्वों के रूप, गुण, क्रिया, उत्पत्ति आदि का वर्णन है। इसमें स्पष्ट ही कहा गया है कि पिंडज्ञान या आत्मज्ञान से ब्रह्माण्डदर्शन होता है।[२] यह ज्ञान गुरु के निर्देश से प्राप्त योगसाधन से उपलब्ध होता है। इससे ही इस शरीर में निर्वाणपद की प्राप्ति होती है। शरीर के रहते ही इस निर्वाणपद की प्राप्ति होती है। यह निरंजन निर्वाणपद सप्तद्वीप, नौ खण्ड, ब्रह्मांड, धरती, आकाश, देवता, रवि, चन्द्र, त्रिलोक—सबसे अतीत है।[३] वहाँ दिवस, रात्रि, मास, वर्ष कुछ भी नहीं। उस कैलासस्थित निर्वाणपद में सदैव मेघस्वन होता रहता है। यह निर्वाणपद उस शरीररूपी गढ़ में स्थित है जिसका निर्माण पृथ्वी, जल, तेज और वायु से हुआ है। इसमें तेरह द्वार हैं जिनमें से ३ गुप्त और केवल योगिगम्य हैं तथा अन्य प्रकट हैं। दस द्वारों में नौ रन्ध्र हैं एवं दशम द्वार ब्रह्मरन्ध्र है। इस कायागढ़ में (७२००० नाड़ियों में से १० प्रधान हैं तथा उनमें सुषुम्ना को छोड़कर शेष) नौ नाड़ियाँ हैं। पचास (निम्नाभिमुख एवं अविद्ध षट्चक्रों के कमलदल), २५ (प्रकृतियाँ) तथा ५ (पाँच तत्व) के समूहों में चोर रहते हैं। ३६० चीरा (हड्डियों-पत्थरों) से यह गढ़ बना है। नाड़ियों की ग्रंथियाँ ही नौ सौ खाइयाँ हैं।[४] बहत्तर नदियाँ (नाड़ियाँ) इसमें प्रवाहित रहती हैं जिसमें मकर मत्स्य रूपी अहंकारादि सदैव क्रीड़ा किया करते हैं। साढ़े तीन करोड़ रोम ही वनस्पतियों की मालाएँ हैं। पाँच इंन्द्रियाँ (पाँच कोतवाल) ही महर्षि हैं। इन कोतवालों की एक ही स्त्री मनसा बड़ी बलवती एवं युद्धकुशल है। शरीर के पाँच तत्वों

---

[१] गो० बा०, पृ० १६४ की पादटिप्पणी।

[२] गो० बा०, पृ० १६४, छं० १।

[३] गो० बा०, पृ० १६४, छं० २, ३।

[४] गो० बा०, पृ० १६४-१६५, छं० ४-६। डा० बड़थ्वाल के अनुसार ये ७२ कोठे ही ७२ नाड़ियाँ हैं।

में विष और अमृत दोनों निवास करते हैं ।[१] अर्थात् अशुद्ध शरीर के पाँच तत्व विषोत्पादक हैं तथा शुद्ध पक्व शरीर के पाँच तत्व अमृतकारक हैं । इस प्रकार की 'प्राणसंकली' रचना नाथों और संतों, दोनों में मिलती है । इसमें गोरख ने पिंड का रूपकात्मक वर्णन किया है । इसमें बीच-बीच में साधनक्रम की ओर निर्देश भी कर दिये गये हैं ।

इसी प्रकार चौरङ्गीनाथ के नाम से एक 'प्राणसंकली' का प्रकाशन हुआ है। देखने से मालूम होता है कि यह गद्यरचना है । इसमें सिद्ध चौरंगी ने कई स्थानों पर पिंड में प्राण के परिचय अथवा उसके संधान की ओर संकेत किया है । इस परिचय से जो लोग उद्बुद्ध हो जाते हैं, उनकी मुक्ति हो जाती है। वे परदु:ख को स्वदु:ख के रूप में अनुभव करते हैं ।[२] इस संकेत से प्राणसंकली का यह अर्थ ध्वनित होता है कि प्राण एक प्रकार की रक्षा करनेवाली 'शृंखला' है जिसका ज्ञान पिंडज्ञान से होता है । पिंड में स्थित रहनेवाली प्राण की शृंखला पिंड की ही रक्षा करती है तथा शरीर रहते ही ऐसी मुक्ति प्राप्त कराती है जिसमें परदु:ख-स्वदु:ख में कोई भेद नहीं रहता । इस अर्थ की और भी व्याख्या की जा सकती है । 'प्राणसांकली' से बाहर और भीतर की भ्रांतियाँ नष्ट हो जाती हैं तथा पिंड और प्राण मुक्त हो जाते हैं । यह 'प्राण सांकली' शरीर-विचार ही है । इसी से पिंड और ब्रह्मांड का ज्ञान होता है ।[3] इस 'संकली' का मूल सिद्धांत है--'जो ब्रह्मांड में है, वही पिंड में है ।' इसकी सिद्धि के लिये बतलाया गया है कि इसी शरीर में त्रिभुवन, चतुर्दश लोक, दस वायु, त्रिवेणी, अष्ट गिरि, सप्त सरिता, सप्त समुद्र, रात-दिन, पंचतीर्थ, पंचभूत, पचीस प्रकृति, चार खानि (स्वेदज, अण्डज, पिंडज, उद्भिज), विभिन्न नदियाँ, सप्तवार, नवग्रह, सत्ताइस नक्षत्र, चार वेद, चार युग, विभिन्न चक्र, दो पक्ष (पिंड-ब्रह्मांड)–सब विभिन्न रूपों में निवास करते हैं ।[४] इस प्रकार 'प्राण संकली' शरीर-विचार या पिंडविचार है जिसमें प्राणतत्व प्रधान है । पिंड रक्षा के लिये, पिंडशुद्धि के लिये, प्राण को सर्वोत्तम तत्व के रूप में नाथों ने स्वीकार किया है । अत: प्राण को 'सांकल' (शृंखला) के रूप में स्वीकार करना, जिससे यह शरीर पूर्ण नियंत्रण में रह सके, सर्वथा उचित ही है । इसी प्रकार सृष्टि-

---

[१] गो० बा०, १६५. ६-७ ।

[२] ना० सि० बा०, ३७. २१५, २२२, २२३ ।

[3] ना० सि० बा०, ३७. २२४-२२५ ।

[४] ना० सि० बा०, पृ० ३८-४४ ।

क्रम में पिंड की उत्पत्ति किस प्रकार हुई तथा पिंड के तत्व कौन-कौन से हैं तथा इनका उत्पत्तिक्रम और लयक्रम क्या है, इनका वर्णन गोरख के नाम से प्रकाशित 'महादेव गोरख गुष्टि' तथा 'गोरष गणेश गुष्टि' में भी मिलता है। ऊपर वर्णित प्रायः सभी रचनाओं में सिद्धसिद्धान्तपद्धति की पिंडवर्णनपद्धति और सामग्री का अनुसरण तथा प्रयोग स्पष्ट प्रतीत होता है। अन्तस्साधना को स्वीकार करनेवाले प्रायः सभी साधनसंप्रदाय इस पिंडसिद्धांत को अति महत्व देते हैं।

नाथों की दृष्टि में साधन के लिये 'काया' से श्रेष्ठ और कोई क्षेत्र नहीं हो सकता। आत्मपरिचय (आत्मबोध, पिंडसंवित्ति, प्राणसंकली) से बढ़कर और कोई परिचय नहीं हो सकता। जब गोरख 'कच्चे भांड की बात करते हैं तो उनका अर्थ होता है कि अपक्व शरीर में ज्ञान जल स्थिर नहीं रह सकता।'[1] उन्होंने परमतत्व को बालरूप बतलाया है जिसमें राग-द्वेष-प्रपंच, दोष, वासना आदि का लेश नहीं रहता, सदैव आनन्दनिमग्नता रहती है। उन्होंने साधन के लक्ष्य को यदि कायसिद्धि के रूप में स्वीकार कर लिया है तो उनका मन्तव्य है कि वे इसी बालरूप परमपद का ग्रहण चाहते हैं। अमर, निर्जर, दिव्य और त्रिदशात्मक जीवन ही वे ग्रहण करना चाहते हैं जिसमें आनन्द की धारा बहती हो। इसीलिये वे बार-बार घोषणा करते हैं कि जंजाल का त्याग कर, अमृत-पान कर बालक हो जाना चाहिए।[2] वे बार-बार शरीर को अजर-अमर बनाने की चेतावनी देते हैं।[3] संस्कृत ग्रंथों में जहाँ यह घोषित किया गया है कि नाथों की योगपद्धति से साधन कर योगी मुक्त आत्मा और पक्व शरीर के साथ परमपद की प्राप्ति करता है, वहीं हिन्दी ग्रन्थों में भी गोरख कहते हैं कि आते समय आत्मा इस संसार में शरीर के साथ आती है किन्तु जाते समय वह अकेले जाती है। इसलिये गोरख ने जंजाल का त्याग कर राम में रमण करने का निश्चय किया और योग का आश्रय लिया।[4] निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है, जैसा संस्कृत ग्रंथों में कहा गया है, आत्मा की मुक्ति के साथ-साथ, गोरखनाथ आदि सिद्ध शरीर की भी मुक्ति चाहते हैं।

---

[1] गो० बा०, पृ० २३६, १४.३७, ५४.१५६-१५८।

[2] गो० बा०, १.१, ३१.८७।

[3] गो० बा०, १४७.१।

[4] गो० बा०, ३०.८३, ३१.८८, १३०.१, ३१.८७, १४७.१, १४८.१-३; ना० सि० बा०, ५९.३८६, ५६.५९९।

भरथरी की दृष्टि में जरा ही इस शरीर का सबसे बड़ा शत्रु है। जो योगी नहीं होता वह जरा से ग्रस्त हो जाता है तथा सामान्य व्यक्तियों की तरह वह भी मृत्यु को प्राप्त होता है।[१] अर्थात् योगी स्थिर, दृढ़ और अपरिवर्तन शील स्कंधवाला होता है, उसके शरीर पर काल का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। जरा और मृत्यु के आगमन तथा स्कंधविनाश के कारणों के संबंध में भरथरी ने बताया है कि माया, स्त्री, धन, यौवन, द्रव्य, राजा, कनक, कामिनी इन सबके लिये गर्व नहीं करना चाहिए। इन्हीं से स्कंधविनाश होता है।[२] उनकी दृष्टि में संसार में दो ही मार्ग हैं—कामिनी मार्ग और नाथ मार्ग (जबकि गोरख ने कामिनी मार्ग और गुरु मार्ग नाम के दो मार्ग बतलाये हैं)। भरथरी के अनुसार कामिनी मार्ग में बाघिन का संसर्ग प्राप्त होने से मृत्यु होती है तथा नाथ मार्ग का अनुसरण करने से नाथतत्व की प्राप्ति होती है जिसमें स्कंधरक्षा भी होती है। भरथरी की तरह ही चरपट ने भी मद्य, मांस, अज्ञान, भोग-विलास का परिणाम स्कंधविनाश बतलाया है। इनसे बचना ही स्कंधरक्षा है। यदि जरा और रोग शरीर में बिल्कुल न हों तो शरीर भी सर्वथा सिद्ध हो जाय।[3] इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि नाथों के योग का लक्ष्य है परमपद नाथ की प्राप्ति या पिंड का परमपद ब्रह्मांड में समरसीकरण, जिसके लिये वे परिपक्व शरीर को आवश्यक मानते हैं। यही कारण है कि उनके साहित्य में पिंडवर्णन बड़े विस्तार से मिलता है। एक संकेत यह भी दिया जा चुका है कि इस साध्य के लिये साधन योगयुक्त ज्ञान है। इस योगयुक्त ज्ञान के स्वरूप पर नीचे विचार किया जा रहा है।

५—योगयुक्त ज्ञान

गोरखरचित 'प्राणसंकली' के योगयुक्त ज्ञान के उपदेश का विस्तार से विचार करने पर उपर्युक्त सत्य के लिये नाथमतानुमोदित साधन का परिचय मिल सकता है। इतना स्पष्ट है कि नाथसाधन में योग और ज्ञान दोनों ही साधक के लिये आवश्यक हैं। 'योगयुक्त ज्ञान' पद में योग शब्द प्रथम है। अंतिम-पद-प्राधान्य की दृष्टि से तथा संपूर्ण नाथयोग साधन पर विचार करने से ऐसा प्रप्रीत होता है कि नाथसिद्धों को ज्ञान तो अंततोगत्वा अभीष्ट है किन्तु वे उसके साथ सिद्ध काया को भी आवश्यक मानते हैं। संस्कृत ग्रंथों में

---

[१] सि० सि० प० अ० व०, पृ० ७७, ८०।

[२] ना० सि० बा०, १०१. ६१७।

[3] वही, पृ० ७९, ३०-३१.१८५-१८६।

'गोरक्षसिद्धान्त संग्रह' का यह मत है कि वेदों में कर्मकांड विभाग प्रधान है एव वेदान्त में योग भाग प्रधान है तथा यही योग भाग नाथसिद्धों को भी स्वीकार्य है। इसका तात्पर्य यह है कि योगियों को साधन के रूप में योग ही मुख्य रूप से ग्राह्य है।[१] किन्तु योगबीज नामक संस्कृत ग्रंथ 'ज्ञानयुक्त योग' को स्वीकार करता है। इसके विपरीत गोरख की रचना में भी 'योगयुक्त ज्ञान' को स्वीकार किया गया है। वस्तुतः संस्कृत ग्रंथों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि उसमें इन दोनों को परस्परावलंबी के रूप में स्वीकार किया गया है। यह ज्ञान केवल आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान तक ही सीमित नहीं है, पिंडज्ञान से लेकर ब्रह्म-ज्ञान तक विस्तृत है। किसी समय किसी अधिकारी की अवस्था विशेष के अनुसार योग प्रधान सहायक हो जाता है और कभी-कभी ज्ञान को वह पद प्राप्त हो जाता है। किन्तु इतना निःसंदिग्ध है कि जब तक शरीर शुद्ध न हो जाय तबतक ज्ञानोदय संभव नहीं है और विना पिंडज्ञान के शरीर का शोधन नहीं हो सकता, व्यक्ति योगी नहीं हो सकता। तात्पर्य यह कि चरमान्त में प्राप्त होनेवाले परम ज्ञान के लिये शुद्ध शरीर आवश्यक है तथा शुद्ध शरीर के लिये पिंडज्ञान आवश्यक है। इस प्रकार पिंडज्ञान, योगक्रिया से शरीर शुद्धि, सिद्ध काया फिर क्रमशः परम ज्ञान और समरसीकरण संभव होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि 'योगयुक्त ज्ञान' में 'ज्ञान' परमज्ञान का बोधक है तथा 'ज्ञानयुक्त योग' में यह 'पिंडज्ञानादि' का बोधक है। ऐसी व्याख्या समीचीन प्रतीत होती है। इस व्याख्या के आधार पर यह कहा जा सकता है कि केवल ज्ञानी से, साधन साधक और साध्य की तीनों दृष्टियों से, नाथों को विशिष्ट लक्षित कराने के लिये कायसिद्धिप्रधान यह ज्ञान पर्याप्त है। जहाँ एक ओर शांकर मतवादी, शैव, शाक्त आदि अद्वैतवादी हैं, वहीं दूसरी ओर नाथमत न तो द्वैतवादी है न अद्वैतवादी है। वह द्वैताद्वैतविवर्जितवाद का समर्थक है। इसी प्रकार अपने लक्ष्य के साधन में भी वह योग से उपलब्ध कायसिद्धि को आवश्यक मानता है जो शांकरमतवादियों को स्वीकार नहीं है। इस प्रकार शुद्ध ज्ञानवादियों से नाथसिद्धों का वैलक्षण्य सिद्ध हो जाता है। हिन्दी की नाथपंथी रचनाओं में योग और ज्ञान संबंधी इस प्रकार के विस्तृत विचार मिलते हैं।

---

[१] ना० सं० इ० द० सा० प्र० में पृ० ४०५ पर गो० सि० सं० के पृ० ५२ के एक कथन पर विचार व्यक्त किया गया है। वस्तुतः यह कथन गो० सि० सं० के पृ० २८ पर है।

डा० कल्याणी मल्लिक ने बतलाया है कि नाथमत योगसाधन को ही प्रधानता देता है।[१] नाथयोगी को बार बार उपदेश दिया गया है कि वह वास्तविक रूप में अवधूत बने। योगी की जिन विशेषताओं का निर्वचन किया गया है, उससे उसकी कायसिद्धि के पक्ष पर ही अधिक प्रकाश पड़ता है। गोरख के अनुसार योगी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह कभी भी वृद्ध नहीं होता। उसमें निश्चलता एवं गम्भीरता होती है। 'जरणा' उसके जीवन की विशेषता है। उसके साधन का सार संयम है। वह वाद-विवाद से विरक्त पवनज्ञानी होता है। वह मस्जिद-मंदिर से अतीत परमतत्व का ध्यान करता है। वर्ष में तीन बार काया को पलटना उसके लिये आवश्यक है। वह मनको नियंत्रित रखता है। वह वारुणी का पान करता है।[२] वह मद्य, मांस और भाँग का सेवन नहीं करता। अजपाजाप में सदैव रत रहता है। स्वप्न में भी वह कामग्रस्त नहीं होता। मन-पवन के साधन से वह शरीर को स्ववश रखता है। वह जरा का विपरीतकरण कर निर्जर शरीर की प्राप्ति करता है।[३] उनकी दृष्टि में यदि जप-तप का मूल तत्व संयम है तो योग का मूल तत्व है दया-दान। बिना इनके योग संभव नहीं। इस योग के लिये स्वाँग की आवश्यकता नहीं, शुद्ध ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। इसके लिये संयम की आवश्यकता है, पाषंड की नहीं। अग्निसाधन इस योग का आवश्यक अंग है। इस योग के आरम्भ के लिये सबसे पहले विंदुरक्षा की आवश्यकता है। इसमें क्रिया, कर्तव्य, संयम की आवश्यकता है, कथनी-बदनी की नहीं। बनखंड के भ्रमण से योग साधन नहीं होता।[४]

गोरख की तरह अन्य नाथसिद्धों ने भी योग के इस रूप की पुष्टि की है। भरथरी के अनुसार जगत् के प्रपंच निस्सार हैं। उनसे संलग्न होने से अनेक प्रकार के रोगों की वृद्धि होती है। इसलिये जागतिक प्रपंचों और रोगों से मुक्ति प्राप्त करने के लिये योग ही मधुर औषधि है।[५] चरपट इस योग के लिये काया और चित्त की दृढ़ता एवं स्थिरता आवश्यक मानते हैं। इन दोनों

---

[१] ना० सं० इ० द० सा० प्र०, पृ० ४०५।

[२] गो० बा०, ६९.२१०, ७३.२३१, ७८.२५२-२५३, ६.१४, २०.५६, २५.६८, ३२.९२, ३५.१२, ४८.१३७।

[३] गो० बा०, ५६.१६४, १६४. टेक. २४, १६६.१२, १७४.४, २०२.१२७।

[४] गो० बा०, १२६.३२, ६४.१९०, ६४.१९१, ८७.४, १३९.४४, १३३.७।

[५] सि० सि० प० अ० व०, ८०.३८।

के लिये कायशुद्धि आवश्यक है। वायु के ६४ संधियों में भ्रमण से कायशुद्धि होती है। विषयों के साथ होनेवाले संबंध को रुद्ध कर अमरवारुणी के पान से प्राणशक्ति सदैव समर्थ रहती है तथा पिंडपात नहीं होता। उनके अनुसार योग से बुभुक्षा पर नियंत्रण, निद्रामारण, विंदुरक्षा, पिंडस्थैर्य एवं पूर्ण आरोग्य सिद्ध होता है। इन्हीं के लिये नाथों के योग का साधन किया जाता है। नाथों के इस योग में काया का विपरीतकरण और उसके फल के रूप में रोग-नाश को भी स्वीकार किया गया है।[१] गोपीचन्द ने स्पष्ट रूप से, संस्कृत रचनाओं के समान ही, बताया है कि मन की चंचलता से पवन चंचल होता है तथा पवन की चंचलता से विन्दु अस्थिर रहता है। विंदु के चंचल हो जाने से पिंडपात होता है। जलंधरि ने सबसे अधिक जोर संयत आहार, वायु आहार, सिद्धासन, नादानुसंधान, जिह्वास्वादत्याग, भोग से वैराग्य, मन-पवन-साधन पर विशेष रूप से दिया है।[२] गरीबनाथ अपने जीवन-यापन की अति क्षुद्र वस्तुओं का भी त्याग आवश्यक समझ कर कंथानाश, डीबी (पात्र) के खंडित होने को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में केवल 'आत्मरक्षा' (आत्म-तत्व की रक्षा) ही आवश्यक है, शेष सब त्याज्य हैं। वे विशेष एवं निश्चित निवासस्थान का भी त्याग कर, वृक्ष-कांतार आदि में रह कर साधन में लीन रहना चाहते हैं।[3]

योगी और योग संबंधी इन लक्षणों और परिचयों से यह सिद्ध हो जाता है कि नाथों के योग का सर्वप्रथम लक्ष्य पिंडरक्षा और पिंडस्थैर्य है। इसके लिये उन्होंने मन-पवन और विंदु की रक्षा आवश्यक समझी है। इन तीनों को अचंचल कर देने से काया भी स्थिर और दृढ़ हो जाती है। इस बात को केवल गोरख ने ही नहीं प्रायः सभी नाथसिद्धों ने स्वीकार किया है। काय-स्थैर्य और उसकी सिद्धि तो सभी नाथसिद्ध चाहते हैं किंतु उनमें कुछ भेद भी है। उदाहरण के लिये संस्कृत रचनाओं में कहा गया है कि यद्यपि मन, पवन और विंदु में से किसी एक की स्थिरता से शेष दो स्थिर और अचंचल हो जाते हैं किन्तु नाथयोगियों ने पवन की स्थिरता को प्राथमिकता दी है और उसी के स्थैर्य से मन और विंदु के स्थैर्य को साध्य माना है। किन्तु ऐसा भी हो सकता है कि भिन्न-भिन्न नाथसिद्ध विंदु या मन के स्थैर्य को प्राथमिकता दें। आगे इस संबंध में विचार किया गया है। यहाँ ज्ञान का इस योग से क्या संबंध है, यह स्थिर करना है।

---

[१] वही, ८४.२३-२५, ८४.२९, ८५.३४।
[२] वही, ८९.१९, ९०.६।
[3] ना० सि० बा, १२.२.७२।

गोरख ने केवल योग को साधनरूप में स्वीकार नहीं किया है। उनके अनुसार चित्त को योगमार्ग में आरूढ़ करने के लिये ज्ञान ही सबसे बड़ा गुरु है। जहाँ ज्ञान की सत्ता है वहाँ वाद-विवाद आदि की सत्ता नहीं रहती। साधनक्षेत्र में अग्रसर होने के लिये ज्ञान सबसे बड़ा सहायक है। उसी के निर्देशों से साधक दिशा प्राप्त करता है। इस प्रकार जब योग से युक्त ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है तभी इस पिंड में परमपद की खोज संभव है।[१] ज्ञान के प्राप्त होने पर पंचतत्वों में वैषम्य नहीं रहता। ये तत्वज्ञान की प्राप्ति में समान भाव से सहायक हो जाते हैं। योगी के लिये ज्ञान अधारी है, अर्थात् ज्ञान के आधार के बिना योगसाधन निष्कंटक भाव से चल नहीं सकता। यद्यपि यह सत्य है कि परमपद की प्राप्ति हो जाने पर ज्ञान की भी संज्ञा नहीं रहती तथापि साधनकाल में बिना इसकी सहायता के योगी परमपद तक पहुँच भी नहीं सकता।[२] यद्यपि नाथयोगी को वाद-विवाद, कथनी-बदनी से दूर रहने के लिये कहा गया है तथापि यह भी कहा गया है कि यदि कथनी करनी भी हो तो केवल ज्ञान का कथन करना चाहिए। यह ज्ञान गुरुमुख से मिलता है। इसी से मन का मारण संभव होता है। पाँचों इंद्रियों को सम्हाले रखने में ज्ञान सहायक होता है। उसी की सहायता से योगी शरीर के सभी द्वारों पर विषयरूपी शत्रुओं से युद्ध करता है।[३] इस प्रकार के ज्ञान से ही विशिष्ट ज्ञान या विज्ञान (परमपदज्ञान, तत्वज्ञान, आत्मज्ञान) संभव होता है। अज्ञानी व्यक्ति योगसिद्ध नहीं हो सकता। यह ज्ञान केवल पिंडज्ञान, ब्रह्मांडज्ञान या आत्मज्ञान नहीं है, वस्तुतः यह योगी का अपना विचार या विवेक ही है जो धीरे धीरे इन रूपों में विकसित होता है। इस ज्ञान का उदय होने पर मन चैतन्य रहता है, चैतन्य तत्व की ओर उन्मुख रहता है, उसमें जड़ता नहीं रहती और न वह जड़ता की ओर उन्मुख ही रहता है। इसी ज्ञान से त्रिभुवन में आत्मभाव की स्थिरता रहती है। इस ज्ञान की रक्षा के लिये नारीसंग त्याज्य है क्योंकि इससे ज्ञानरत्न और प्राण का हरण होता है। नारीसंग से ज्ञाननाश और योगनाश होता है। इसलिये जो वास्तविक ज्ञानी है, अर्थात् योगयुक्तज्ञान को धारण करनेवाला है, वह राक्षसिन से अपनी रक्षा कर लेता है।[४] षट्चक्रभेद

---

[१] गो० बा०, ६४. १८९, ६५. १९५, १६४. २।

[२] गो० बा०, १८८. १६, १७. ४८, १३०. ३, ३८. ११०।

[३] गो० बा०, ५६. १६६, १२६. ३, १७५. ८-९।

[४] गो० बा०, १९५. ७४, ६७. २०१, ६४. १९०, १९७. ८६, १९९.१०६ २०१. १२२, ९१. ४, १४३. १।

की दृष्टि से विचार करने पर छठाँ चक्र (आज्ञाचक्र) ही ज्ञान चक्र है, जहाँ योगी को विश्राम मिलता है। दूसरे शब्दों में ज्ञान में ही योगी को विश्राम मिलता है। जो केवल योगी है, वह ब्रह्मज्ञानी नहीं हो सकता। वह नाद का बोध भी प्राप्त नहीं कर सकता।[1]

अन्य नाथसिद्धों ने ज्ञानतत्व का उतना परिचय नहीं दिया है जितना ज्ञान के व्यावहारिक पक्ष का उद्घाटन किया है। उनकी दृष्टि में बिना ज्ञान और योग का समन्वित साधन किये कोई सिद्ध नहीं हो सकता। चरपट ने बतलाया है कि जीवन में बिना ज्ञान को उतारे जो लोग ज्ञान का बखान करते हैं, उनका ज्ञान निस्सार है। इंद्रियभोग के साथ ध्यान नहीं किया जा सकता।[2] जो तापस या योगी इंद्रियोपभोग करता है, अपक्व शरीरवाला है और उस पर भी ध्यान करता है तो उसमें ज्ञानोत्पत्ति असंभव है। दया, धर्म, सत्य से जिनका चित्त दूर रहता है तथा योगी को देखकर निंदाभाव से जो मन ही मन हँसता है, ज्ञान का बखान करता है, फिर भी जिसके जीवन में ज्ञान तनिक भी अवतीर्ण नहीं होता, समझना चाहिए कि कलियुग (तामस तत्व) ने इस पर अपना पूरा प्रभाव डाल दिया है। जिन व्यक्तियों के पास ज्ञान से उपलब्ध सुख नहीं है, उनका संग भी, पृथ्वीनाथ की दृष्टि में, त्याज्य है।[3] सामान्यतया लोग कहते हैं कि आगे चित्र या मूर्ति रखकर मानसपूजा करना, माला फेरना, मंत्रपाठ करना, ध्यान करना, ताली पीट कर नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि एकाग्र करना ही ज्ञान है किन्तु पृथ्वीनाथ इन सबको फोकट (निस्सार, जिनका जीवन में कोई अनुभव न हो) ज्ञान कहते हैं। भरथरी ने बताया है कि संपूर्ण ब्रह्मांड में एक तत्व सत्तावान् है। यदि ज्ञानदृष्टि से देखा जाय तो हरि ही सब घटों में वर्तमान हैं। ज्ञानदृष्टि से सर्वव्यापक ब्रह्म का साक्षात्कार संभव है। संपूर्ण साधनक्रम में ज्ञान के स्थान के विषय में वे कहते हैं कि सर्वप्रथम गुरु से ज्ञान की प्राप्ति होती है और फिर उससे विवेक-बुद्धि उदित होती है। इस विवेक-बुद्धि या परिशुद्ध मन से ही अकल परमपद का प्रकाश होता है। इसी परम ज्ञान से हरिपद का स्पर्श संभव है।[4]

---

[1] गो० बा०, १९२. ५४, २१६. ३५।

[2] सि० सि० प० अ० व०, ८३. १८; ना० सि० बा०, १८. १६५।

[3] सि० सि० प० अ० व०, ८३. १९; ना० सि० बा०, २८. १६४, २९. १६८, ७३. ४६२।

[4] ना० सि० बा०, ८५. ५४२, ११२. ६७६, ११३. ६७९।

योगी, योग, ज्ञान आदि के इस परिचय से उनकी एक स्थूल रूपरेखा तो स्पष्ट हो जाती है तथा साथ ही उनका परस्पर संबंध भी स्पष्ट हो जाता है। योग और ज्ञान संबन्धी विवेचन के पूर्व जितनी बातें इनके संबंध में कही गई थीं, वे इनसे सिद्ध हो जाती हैं। नाथमत में इनकी परस्परावलम्बिता सिद्ध है किन्तु कायसिद्धिप्रधान योग नाथों के योग का वैलक्षण्य है। संस्कृत ग्रंथों में जैसे योगहीन ज्ञान एवं ज्ञानहीन योग दोनों का तिरस्कार किया गया है तथा मोक्षोपकारक नहीं माना गया है, उसी प्रकार विवेक और ज्ञान से परिपुष्ट योग को ही मोक्षोपकारक कहा गया है। तात्पर्य यह है कि नाथों को केवल कथनी का ज्ञान ग्राह्य नहीं है। जो ज्ञान योग के क्रियापक्ष के अनुकूल नहीं है, उसे नाथ लोग तिरस्कार्य ही मानते हैं। इसी प्रकार नाथतत्व के सर्वघटव्यापकत्व के दर्शन में भी ज्ञान ही सहायक है। इसीलिये यह ज्ञान नाथों के लिये गुरुस्थानीय है। इससे नाथों के ज्ञान संबंधी दृष्टिकोण का ज्ञान हो जाता है।

६—अध्यात्मयोग

नाथों के योगसाधन के इस रूप की ओर संकेत करने के साथ ही गोरख ने दो-तीन स्थानों पर अध्यात्म या अध्यात्मयोग की ओर भी संकेत किया है। पहले हमने वैष्णव, शैव एवं शाक्त योग के विवरण में योगगत आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक साधनों की ओर भी संकेत किया है। वहाँ बताया गया है कि स्थूल शरीर संबंधी साधन, जिसमें प्राणायाम विशेष है, आधिभौतिक साधन है। वहाँ विंदुसंबंधी साधन को आधिदैविक और मन एवं चित्त संबंधी साधन को आध्यात्मिक साधना बताया गया है। आध्यात्मिक साधन और अध्यात्मयोग का सम्बन्ध है। स्थूल कर्मकाण्डगत साधन भी आधिभौतिक साधन हैं। इसकी वेदों के पूर्वभाग में प्रधानता है। वेदान्तभाग में ज्ञानकांड प्रमुख है। कभी-कभी वेदान्तविद्या को आध्यात्मविद्या कहते हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन की चेतन सत्ता आत्मा ही सर्वशक्तिमान है। यही सच्चिदानन्द है। व्यक्ति के उत्थान का मूल विंदु यही है। शरीर इसी चेतन सत्ता का अनुसरण करता है। पाश्चात्य विचारकों के 'स्पिरिचुअलिज्म' या 'स्पिरिटिज्म' के अनुसार यह वाद, जिसका अनुवाद हिन्दी में 'अध्यात्मवाद' किया जाता है, एक प्रकार की विशेष धारणा या विश्वास है जो व्यक्तिशक्ति का विभिन्न मृत व्यक्तियों या शक्तियों या अलक्ष्य शक्तियों से संवाद स्वीकार करता है। इसके अनुसार व्यक्ति उन शक्तियों से अभिन्नता का अनुभव करता

है। यह सिद्धांत यह मानता है कि शक्ति या आत्मा विश्वव्यापक है। प्राण तत्व भी शक्ति है और विश्वव्यापक है। यह भी विश्वास किया जाता है कि यह शक्ति शरीर से अलग भी की जा सकती है तथा वह शरीरधारी की सुषुप्तावस्था में या सामाधिक अवस्था में संपूर्ण विश्व में या पितरों तक यात्रा भी कर सकती है। फिर भी इस शक्ति को इस वाद के अनुसार, किसी व्यक्ति के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता। ऐसा शक्तिमान् व्यक्ति स्थूल शरीरधारियों और सूक्ष्म विश्वगत शक्तियों के बीच संवाद का माध्यम भी हो सकता है। इन संवादों की अभिव्यक्ति भी वह सामान्य भाषा संकेतों से न करके कुछ विशिष्ट अलौकिक संकेतों से करता है। इसी तरह अध्यात्मवाद के दो पक्ष भी माने गये हैं। प्रथम है शारीरिक तथा दूसरा मानसिक। शारीरिक पक्ष में मानस-निर्देश से शरीर क्रियाशील होकर इन विश्वासों को चरितार्थ करता है तथा मानसिक पक्ष में केवल मानस ही शरीर का अतिक्रमण कर, बिना शरीर के सहयोग के ही, विभिन्न शक्तियों के साथ संवादों में संलग्न होता है।[1]

भारतीय या हिन्दू अध्यात्मविद्या को कुछ लोग 'साधन' कहते हैं। जीवात्मा व्यक्तिशक्ति है तथा परमात्मा विश्वशक्ति। इन दोनों के संवाद में आध्यात्मवाद विश्वास करता है। यह संवाद कैसे संभव है? इसके उपाय को ही 'साधन' कहते हैं। डा० महादेवन जैसे विवेचकों ने इन उपायों में केवल कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग की गणना की है।[2] इन तीनों ही शब्दों में 'योग' शब्द संयुक्त है। इस योग के अर्थ हैं—आत्मा एवं परमात्मा का एकात्म और उपाय। उन्होंने चित्तवृत्तिनिरोधात्मक एवं शरीरसाधनसंयुक्त ज्ञानयोग का अर्थ यहाँ ग्रहण किया है। सामान्यतया इसमें चार उपायों की गणना की जाती है—कर्म, ज्ञान, भक्ति और योग। 'आत्मपरमात्मएकात्म' के अर्थ में योग को प्रायः सभी लोग किसी न किसी रूप में स्वीकार करते हैं। पूर्व के विवेचन से यह स्पष्ट है कि गोरक्ष ने इस अध्यात्मविद्या के योगोपाय को स्वीकार किया है। गोरक्षसिद्धांतसंग्रह के विवेचनों को ध्यानपूर्वक देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि नाथपंथी आचार्यगण शंकराचार्यादि की तरह ही श्रुतिवाक्यों को अपने मतानुकूल ग्रहण कर उनकी व्याख्या करते हैं। श्रुतिवाक्यों के वे प्रबल समर्थक प्रतीत होते हैं। इस प्रकाश में यदि नाथयोगसाधन को अध्यात्मविद्या

---

[1] इं० रे० ए०, वा० ११, पृ० ८०५-८०६।

[2] आउटलाइंस आव हिन्दुइज्म—डा० टी० एम० पी० महादेवन, पृ० ८३।

के अन्तर्गत ग्रहण किया जाय तो कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए; क्योंकि जहाँ तक देहगत शक्तियों के विश्वगत शक्तियों के साथ संवाद का प्रश्न है, वे सर्वथा सहमत हैं। वे स्वयं पिंड को ब्रह्मांड से अभिन्न अनुभव करने के लिये साधन करते हैं। पिंडब्रह्मांडलीला का सांकेतिक परिचय हम पहले ही दे चुके हैं। सिद्ध शरीरिक पक्ष से अनेक प्रकार की सिद्धियों में निष्णात हो जाता है तथा साथ ही शुद्ध और प्रबुद्ध मन से वह शरीर को नियंत्रित रखकर, शरीर से अप्रभावित भी रहता है। जीवात्मशक्ति कुंडलिनी ब्राह्मांडशक्ति महा-कुंडलिनी से एकात्म प्राप्त करती है। यह जीवात्मशक्ति साधक की ही चेतन शक्ति है जिसके साथ उसका मानस परिशुद्ध एवं उद्‌बुद्ध भाव से आरोहण करता है। तांत्रिक मत मानता है कि वस्तुतः प्राणायाम में पिंडप्राण और ब्रह्मांड-प्राण का मिलन ही साध्य है। स्वयं गोरख ने भी ऐसे संकेत दिये है। वस्तुतः आध्यात्मसिद्धि चेतन तत्व का जड़तत्व पर विजयोद्‌घोष है। गोरख पिंडगत पवन पुरुष का उत्थान होने पर स्थूल जागतिक जीवन की प्रतीक मनसा (इच्छा) को अपने व्यापार बाँधने या समेटने की चेतावनी देते हैं। यह प्राणपुरुष का जागरण ही योगी की शक्ति का जागरण है। इससे चैतन्य प्राणपुरुष संपूर्ण कायानगर में संचरण कर उसे परिशुद्ध और शुद्ध कर देता है।[1] वे सुषुप्त और अप्रबुद्ध स्थूल जगत् में फँसे योगी का प्रबोधन कर कहते हैं कि 'तुम्हें अब अध्यात्मसाधन में लगना चाहिए जिससे तुम्हारे मूल का, तुम्हारे जीवन की मूल शक्ति का ह्रास न हो, विनाश न हो; वह तुम्हारे हाथ से निकल न जाय। तुम इन प्रपंचों में फँसे हो, जड़ता के पीछे दौड़कर निस्सार वस्तुओं को एकत्रित कर रहे हो। तुम्हारी इस जड़क्रिया को तुम्हारे ही भीतर बैठी परमात्मशक्ति निरखा-परखा करती है। इस कमाई में तुम अपने मूल गँवा रहे हो, सचेत हो जाओ।'[2] इन उद्धरणों से स्पष्ट ही यह संकेत होता है कि गोरख के अनुसार अध्यात्मयोग में व्यक्ति की मूल शक्ति की रक्षा आवश्यक है जिसमें शरीररक्षा, विंदुरक्षा, पिंडप्राण-विश्वप्राण-एकात्म आदि सम्मिलित हैं। शरीर-रक्षा, विंदुरक्षा, शरीरशोधन, वायुसाधन, आदि इसलिये आवश्यक है कि इससे पिंडशक्ति तथा विश्वशक्ति का संवाद संभव होता है। योगप्रधान इस अध्यात्मवाद का विस्तृत परिचय गोरखबानी में प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट रूप से नहीं मिलता। अन्य नाथसिद्धों की रचनाओं में भी यह प्रत्यक्ष रूप में उपलब्ध नहीं।

---

[1] गो० बा०, ९५. टेक।

[2] गो० बा०, पृ० १५१।

पिंडब्रह्मांडवाद और लययोग या कुंडलिनीसाधन संबंधी विवरणों के आधार पर इस अध्यात्मवाद का अनुमान हो सकता है ।

विंदु की अचंचलता की ओर कोई संकेत नहीं किया गया है । नाथों के योग में बार-बार मन-पवन-साधन की ओर योगी के ध्यान को आकृष्ट किया गया है । मन और पवन के संबंध के विषय में दो मत हो सकते हैं । पहला यह कि मानसनियंत्रण से पवन स्वतः नियंत्रित हो जाता है । दूसरा यह कि पवन-नियंत्रण या प्राणायाम से मानस स्वयं, नियंत्रित हो जाता है । संस्कृत की रचनाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि नाथयोग में प्रारंभ में हठयोग को, जो प्राणायामप्रधान है, महत्ता प्रदान की गई है । अर्थात् प्राण से शरीरशोधन होता है तथा प्राण के नियंत्रित होने पर मन और विंदु भी स्थिर हो जाते हैं । यह आवश्यक नहीं कि सभी नाथयोगी इस मत को मानते हों । गोरख ने बताया है कि जब योगी मन को पवन से तथा पवन को मन से बाँध लेता है तभी वस्तुतः साधन में पूर्ण समर्थ होता है । वह इन दोनों के समन्वित साधन से उन्मनी अवस्था को प्राप्त करता है । उन्हीं दोनों के योग से उसे अगम एवं पूर्ण प्रकाशित ज्योति का दर्शन होता है । योगी के लिये ये दो ही संपत्तियाँ हैं जिनसे वह साधनक्षेत्र में अग्रसर होता है ।[1] इन दोनों के दो दिशाओं में, चंचल दशा में होने पर, गतिशील होने पर साधना नहीं चल सकती । यहाँ इड़ा-पिंगला के परस्पर विरोध और द्वैत को मिटाकर सुषुम्ना में प्रेरित करने की क्रिया स्वीकृत है । मन-पवन को क्रमशः चन्द्र और सूर्य या शब्दान्तर से इड़ा-पिंगला कहा जाता है । योगी इन दोनों को एक साथ समन्वित कर योगलीन रहता है । मन, प्राण और मनसा इन तीनों की संधि सहस्रार में संपन्न होती है । ऐसा तभी संभव है, जब मन और पवन दोनों स्थिर हो जायँ । जब गोरख कहते हैं कि योगी वहाँ ध्यान लगाकर रहता है, जहाँ तक मन-पवन का गम नहीं हैं, तो उसका अर्थ है, जैसा ज्ञान और योग के संबन्ध में कहा है, उस स्थिति में पहुँचने पर ये साधन सत्तावान् नहीं रहते ।[2]

इस परिचय से स्पष्ट है कि गोरख की दृष्टि में मन और पवन दोनों के साधन या आध्यात्मिक और आधिभौतिक दोनों प्रकार के साधन समन्वित होकर साधक को सिद्धि दिलाते हैं । कुछ नाथयोगी ऐसे भी हैं जिनकी हिन्दी रचनाओं में विंदुरक्षा से प्राण-मन-नियंत्रण या मानससंयम से प्राण-विन्दु-नियंत्रण

[1] गो० बा०, ८१. २६५, १३. ३४, ९७. १, १२०. १, १२५. २ ।
[2] गो० बा०, १८८. १६, १७६. ११, १७७. १५, ८१. २६५ ।

को दोनों प्रकार से साध्य बतलाया गया है। विंदुरक्षा या उसकी स्थिति का सम्बन्ध ब्रह्मचर्य से है। बताया गया है कि मन या तो गुरु के आश्रम में रहे या कामिनी के क्रोड़ में।[1] कामिनी के क्रोड़ में विन्दुरक्षा नहीं हो सकती। विन्दुस्थैर्य से कायसिद्धि होती है। सीप्रकार मानस-नियमन-संयम से काय-सिद्धि होती है। गोपीचंद ने स्पष्टतया घोषणा भी की है कि मन की चंच-लता से ही पवन चंचल होता है तथा पवन के चंचल होने से विन्दु चंचल होता है। विन्दु की चंचलता ही स्कंधपात का कारण है। गोपीचंद के जीवन से संबद्ध कथाओं से भी उनके इस मत की पुष्टि की जा सकती है। मन, पवन, विन्दु में से किसका प्रथम साधन आवश्यक है, इसके सम्बन्ध में नाथयोगियों में वैमत्य की संभावनाएँ हैं तथापि नाथयोग अपने संपूर्ण रूप में बिना इन तीनों के साधन के सिद्धि को असंभव मानता है। जब तक मन, पवन और वायु चंचल हैं तब तक विन्दुरक्षा नहीं हो सकती।[2] कई बार संकेत किया गया है कि मन-पवन भी नाड़ियों के दो पक्ष के समान हैं। उसी प्रकार विन्दु के दो रूप भी इड़ा–पिंगला, शिव-शक्ति के रूप में स्वीकार किये गये हैं।

७—नाथों के योग का स्वरूप : यम

इस प्रकार स्पष्ट है कि मन-पवन-विन्दु के साधन से कायसिद्धि या परिपक्व शरीर की प्राप्ति होती है जिसका लक्ष्य, नाथपद प्राप्त करना है। जीवशक्ति का चरम विकास केवल कायसिद्धि से नहीं होता। इसके लिये कुछ अन्य साधन भी हैं। बताया गया है, योग गें मंत्र, हठ, लय और राजयोग की गणना की गई है। मंत्र का अजपा गायत्री और ओंकार से सम्बन्ध है। इसी प्रकार हठयोग का प्रधानतया प्राणसाधन से सम्बन्ध है। लययोगसाधन का कुण्डलिनी से सम्बन्ध है एवं राजयोग का ध्यान और समाधि से। नाथयोग-साधन में यद्यपि इन सभी प्रकार के योगों का समन्वय है तथापि हठयोग या प्राणायाम की प्रधानता है, ऐसा संस्कृत रचनाओं के विवेचन में कहा गया है। हिन्दी रचनाओं में प्रायः सभी योग समन्वित रूप में मिलते हैं जिसका परिचय आगे दिया जा रहा है। प्रश्न यह है कि क्या संस्कृत रचनाओं की तरह ही नाथपंथियों की हिन्दी रचनाएँ भी राजयोग को चरम साधन के रूप में स्वीकार करती हैं? यदि मन-पवन को भी इड़ा-पिंगला या चन्द्र-सूर्य या शिव-शक्ति के रूप में स्वीकार कर लें तो कहना पड़ेगा कि नाथयोगसाधन

---

[1] गो० बा०, ५८. १०२।

[2] ना० सि० बा०, ७१. ४४५, ९१. ५८०, १९. ११०, ३२. १९२।

का वैलक्षण्य कायसिद्धिप्रधान हठयोग में है, इसीलिये वे हठयोगी भी कहे जा सकते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वे ध्यानसमन्वित समाधियोग या राजयोग को स्वीकार नहीं करते। नाथ लोग भी ताली, ध्यान और समाधि को, जो सूक्ष्म योगसाधन के अंग हैं, पर्याप्त महत्व देते हैं।[1] वे बार बार ऐसी अवस्था का वर्णन करते हैं जहाँ, योग, ज्ञान, ध्यान, जप, तप, पूजा आदि बिलकुल नहीं रहते। इसकी ओर प्रामाणिक संकेत किये जा चुके हैं। आगे नाथयोगसाधन का एक विस्तृत परिचय हिन्दी रचनाओं के आधार पर तथा संस्कृत रचनाओं के योग को ध्यान में रखते हुए उपस्थित किया जा रहा है।

पतंजलि के अष्टांग योग में यम, नियम आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा ध्यान और समाधि गृहीत हैं। नाथपंथी संस्कृत ग्रंथों में इन अंगों का नाथपंथी साधन के अनुसार परिचय मिलता है। हिन्दी रचनाओं में, जो शास्त्रनिरूपक रचनाएँ नहीं हैं, इन अंगों के संकेत मिलते हैं। हमने नाथयोग का जो विवरण दिया है, उसमें पातंजल योग के अंतर्गत ही मंत्र, हठ, लय और राजयोग का वर्णन किया है, इसी प्रकार यहाँ भी किया जा रहा है। हिन्दी रचनाओं में अष्टांग और षडंग शब्दों का प्रयोग तो अवश्य मिलता है किन्तु अर्थ की दृष्टि से इतने अधिक संदिग्ध प्रयोग मिलते हैं कि उनके आधार पर किसी सिद्धान्त का निरूपण भ्रान्तिकारक भी हो सकता है। पातंजल योग में कहीं भी नाड़ियों और कोठों का स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता। किन्तु गोरक्ष ने शरीर की नौ नाड़ियों तथा बहत्तर कोठों के ज्ञान को अष्टांग योग कहकर झूठा बतलाया है।[2] 'गोरक्ष उपनिषद्' में, जो 'गोरक्षोपनिषद्' नाम के संस्कृत ग्रंथ का उल्था सा प्रतीत होता है, अष्टांग ओर षडंग योग शब्दों का प्रयोग मिलता है। उल्थाकार कई स्थानों पर भ्रान्त हो गया सा प्रतीत होता है या अर्थों को ठीक ढंग से व्यक्त नहीं कर सका है। इसके संभव अर्थ हो सकते हैं—'योग मत (तो) अष्टांग योग है (जिसमें) मुख्यकर षडंग योग है। (इसे) अकुल योग कहते हैं, (उसी को) अवधूत योग कहते हैं। (इसी) योग से अष्टांग योग (का) साधन होता है।' इससे इतना निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अवधूतयोगसाधन या अकुलयोगसाधन षडंग योग है।

---

[1] उद्धरण के लिये द्रष्टव्य गो० बा०, ३२. ९०, १२६. १, १७४. १, ४. ८, ५६. १६५, ११०. १, १२२. २, १२४. १, १३०. ३, १९२. ५४, १९९. १०४, १९४. ६४, २०२. १२६, १९२. ५४।

[2] गो० बा०, ४६. १३३।

किन्तु यह भी ध्यान रखना चाहिए कि यह निष्कर्ष संदिग्ध पाठ के आधार पर निकाला गया है।[१] पातंजल योग के प्रथम दो अंगों, यम-नियम को उसी रूप में संभवतः संस्कृत ग्रंथों में भी नाथयोग में स्वीकार नहीं किया गया है। हिन्दी रचनाओं में इनका नाम तक नहीं मिलता। गोरख उपनिषद् में षडंग योग और अष्टांग योग का रूप क्या है तथा उसमें कौन-कौन से अंग किस-किस रूप में गृहीत हैं, इसका कोई भी संकेत नहीं है। ऐसी अवस्था में ऐसा अनुमान संभव है कि हिन्दी रचनाओं के नाथयोग में पातंजल योग के यम और नियम गृहीत नहीं है। यम-नियम में जिन आचारों, संयमों का सन्निवेश मिलता है, उनका नाथवाणियों में अति विस्तार से बार-बार वर्णन मिलता है।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के उद्धरण देकर हम इस तथ्य को पुष्ट रूप में उपस्थित कर चुके हैं कि नाथवाणियों में नैतिक-ब्रह्मचर्य का स्वर ही प्रधान है। उसका यत्किंचित परिचय भक्ति के प्रसंग में भी दिया जा चुका है। नाथ-पंथियों के योग से संबद्ध इस नैतिक स्वर का अत्यधिक मूल्य है क्योंकि नाथवाणी और उसकी विचारपरम्परा में आनेवाली अन्य रचनाओं के इन विचारों ने भक्तिकालीन अन्य संप्रदायों तथा उनके साहित्यों से इनको विलक्षण और पृथक् सिद्ध कर दिया है। पहले ही हम संस्कृत रचनाओं का विचार करते समय बतला चुके हैं कि प्राणायाम तथा तत्संबंधी अन्य साधनों की नाथयोग में प्रधा-नता होने के कारण सदाचार, ब्रह्मचर्य और नैतिकता का विस्तृत विवे-चन यहाँ मिलता है। जैसा कहा गया है, ये हिन्दी रचनाएँ शास्त्रनिरूपक रचनाएँ नहीं हैं। इनमें सामान्य योगी या अन्य सामान्य व्यक्तियों को नीति के उपदेश दिये गये हैं। शुद्ध सात्विक जीवन व्यतीत करना योगी के लिये अत्यन्त आवश्यक है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि सामान्य जन इसका तिर-स्कार करें। इसलिये हिन्दी रचनाओं में सदाचारपरायण सात्विक जीवन का उपदेश मिलता है। जैसे पातंजल योग के अभ्यास के लिये प्रारंभ में क्रमशः यम-नियम का साधन आवश्यक है, उसी प्रकार नाथयोगसाधन के प्रारंभ के लिये इन सदाचार संबंधी नियमों का पालन आवश्यक है।

जैसा पहले बताया गया है, हठयोगप्रदीपिका में उद्धृत श्लोकों के अनुसार यम में निम्नलिखित गृहीत हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धृति, दया, आर्जव, मिताहार, शौच। इसी प्रकार नियम में तप, संतोष, आस्तिक्य, दान, ईश्वरपूजन, सिद्धान्तवाक्यश्रवण, ह्री, मति, जप, होम गृहीत हैं। प्रायः

---

[१] सि० सि० प० अ० व०, पृ० ७५।

ये सभी किसी न किसी रूप में नाथपंथी हिन्दी रचनाओं में विवृत हैं। इन सब में अहिंसा का स्थान सर्वप्रथम है। इसका थोड़ा सा परिचय भक्तिविवेचन के प्रसंग में दिया जा चुका है। यहाँ इसके सविस्तर वर्णन की आवश्यकता इसलिये है कि पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'इतिहास' में एक महत्वपूर्ण विचार इस सम्बन्ध में व्यक्त किया है। उन्होंने कहा है कि 'आगे चलकर भक्तिकाल में निर्गुण संत संप्रदाय किस प्रकार वेदान्त के ज्ञानवाद, सूफियों के प्रेमवाद तथा वैष्णवों के अहिंसावाद और प्रपत्तिवाद को मिलाकर सिद्धों और योगियों द्वारा बनाये हुए इस रास्ते पर चल पड़ा, यह आगे दिखाया जायगा।'[1] इससे स्पष्ट है कि यह अहिंसा तत्व संतों को नाथों से नहीं मिला था, उन्हें वैष्णवों से मिला। शुक्लजी ने यह स्पष्ट नहीं किया कि नाथों में अहिंसा तत्व बिलकुल नहीं था और दूसरे यह भी संभव है कि यदि नाथों में अहिंसा तत्व रहा भी हो तो वैष्णवों की अहिंसा से भिन्न रहा होगा, किन्तु इसका भी कोई उल्लेख नहीं किया गया है। शुक्लजी के वाक्य से यह प्रतीत होता है कि नाथों से उन्हें अहिंसा तत्व नहीं मिला। किन्तु नाथवाणियों का अध्ययन करने से यह मालूम होता है कि अहिंसा तत्व वैष्णवों और नाथों दोनों की साधानाओं में वर्तमान था। नाथपंथियों का अहिंसा तत्व उनके प्राणायाम प्रधान योग का उपकारक है। गोरख ने योग का मूल तत्व दया और दान माना है। अहिंसा इस दया का व्यवहार पक्ष है। हिंसा करने से योग के मूल तत्व की हानि होती है। हिंसा कार्य में रत रहकर पशुहत्या करनेवाले मोहम्मद के अनुयायियों को भी उन्होंने फटकारा और उनके इस मतवाद का खंडन किया कि मोहम्मद स्वयं पशुहत्या के समर्थक थे। वस्तुतः इस्लाम धर्म के अनुयायियों ने अपने धर्मप्रवर्तक को समझा ही नहीं। उस मोहम्मद की छूरी लोहे या फौलाद की गढ़ी हुई नहीं थी जिससे जीवहत्या होती है। मुसलमान ही नहीं योगी भी भ्रांत हो जाते हैं। वे योगी जो मांसभक्षण करते हैं वे अन्य सामान्य जनों की तरह नरक में जाते हैं। मांस के भक्षण से दया और धर्म दोनों का नाश होता है। इस प्रकार के उपदेश के पीछे नाथपंथियों का अपना सिद्धांत भी है। पिंडब्रह्मांडवाद के प्रारम्भ में बताया गया है कि नाथपंथी सिद्ध पिंड और ब्रह्मांड में, प्रत्येक घट में, उस परमतत्व का साक्षात्कार करते हैं। उनकी दृष्टि उन सब में समत्वदर्शन की है। इसलिये वे उपदेश करते हैं कि जीव और शिव दोनों का एक साथ ही निवास रहता है। इसलिये पशुहत्या कर

[1] हिं० सा० इ०, शुक्ल जी, पृ० २०-२१।

रुधिर-मांस का सेवन नहीं करना चाहिए।[1] पिंड को धारण करनेवाले जीव की हत्या से कोई लाभ नहीं। उससे दया की ही हानि होती है। यदि मारना ही है तो मनमृग को शब्द के अत्यधिक तेज खांडे से ही मारना चाहिए जिसका प्रयोग मुहम्मद ने भी किया था। इस मनमृग के वर्ण, रक्त, मांस नहीं हैं, फिर भी यह योगी की बुद्धिवाटिका का सदैव नाश किया करता है। यह मन योगी के साधन के विरुद्ध विद्रोह किया करता है।

गोरख के अतिरिक्त अन्य नाथपंथियों ने भी इस सिद्धांत को स्वीकार किया है। चरपट ने कहा है कि जो लोग जीवहत्या करते हैं और पूजा करते हैं, उनकी पूजा निरर्थक है। यह पंडितों का ही ज्ञान है जो इस प्रकार जीव-हत्या कर पूजा करने को मानता है। मद्य-मांस का भक्षण करनेवालों की, चरपट की दृष्टि में, स्कंधरक्षा नहीं हो सकती। इसलिये चौरंगीनाथ, गोरक्षनाथ की तरह ही, केवल मतवाले मन को ही मारने का उपदेश देते हैं। भरथरी ने इस अहिंसासिद्धान्त की थोड़े विस्तार से व्याख्या की है। उनके अनुसार इस संसार में उस परमतत्व को छोड़कर दूसरे किसी की सत्ता नहीं है। यह दर्शन ज्ञानदृष्टि से संभव है कि हरि ही सभी घटों में विद्यमान हैं। जल-थल में जितने भी जीव हैं, उन सबमें वही हरि विद्यमान है, अतः उन पर दया करनी चाहिए। चूंकि सभी घटों में वह एक ब्रह्म विद्यमान है, इसलिये किसी भी जीव की हत्या नहीं करनी चाहिये। वे केवल जीवित प्राणी की ही हत्या का निषेध नहीं करते, मृतक प्राणियों पशुओं के मांसभक्षण का भी निषेध करते हैं। भरथरी के विचार इस सम्बन्ध में, अन्य नाथपंथियों की तुलना में, अधिक स्पष्ट और व्यापक हैं।[2]

यम-नियम के अन्य तत्वों में से सत्य और अस्तेय का कोई स्पष्ट वर्णन नाथपंथी रचनाओं में नहीं मिलता। नाथयोगसाधन सदाचारप्रधान है। इसमें ब्रह्मचर्य का अत्यधिक महत्व है। वस्तुतः नाथयोगी संप्रदाय कंचन और कामिनी, जैसा उसकी रचनाओं से पता लगता है, दोनों का विरोधी है। दोनों का निषेध करता है। उनके नारी सम्बन्धी विचार ब्रह्मचर्य से संबद्ध हैं। संक्षेप में उनके विचारों के अनुसार कामिनीसंग से विन्दुपात होता है और विन्दुपात से ब्रह्मचर्य का नाश होता है, स्कंध या पिंड का पतन होता है।

[1] गो० बा०, १२६.४, ४.९, ५६.१६४-१६५, ७३.२२७, १२६. टेक।

[2] ना० सि० बा०, ४.१०, ८१.२६४, १२६.१-४, २७.१५५, २९.१६७, ४८.३४४, ११२.११३।

फलतः कायसिद्धि नहीं होती तथा शुद्ध ज्ञान या परमज्ञान की उपलब्धि भी नहीं होती। ब्रह्मचर्य का पालन न करने से प्राणायाम सिद्ध नहीं होता। बिना प्राणायाम के मन चंचल होता है। मन की चंचलता से विन्दु चंचल होता है और परिणाम में स्कंधनाश होता है। इसलिये मूल बात यह है कि योगारम्भ के लिये ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक है, इसलिये यम में ही उसे प्रायः लोगों ने स्थान दिया है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य से नारी, विन्दुरक्षा, कायसिद्धि सभी संबद्ध हैं। गोरखबानी की रचनाओं को देखने से प्रतीत होता है कि उसमें इनसे सम्बद्ध विचार या उपदेश ही प्रधान हैं।

पहले ही बताया जा चुका है कि नाथमार्ग अकुलमार्ग है (कुछ आधुनिक विवेचक इसे कुलेगार्ग कहते हैं। संभवतः उनकी दृष्टि में मत्स्त्येन्द्र और उनके योगिनीकौल मत की परंपरा है।) तथा यह भी संकेत किया गया है कि इसे ही अवधूत मार्ग या नाद मार्ग भी कहा गया है। विवे-चनों में यह स्पष्ट करने की कोशिश की गई है कि कुलमार्ग या विंदुमार्ग सांसारिक मार्ग हैं। जैसे शक्ति के प्रबुद्ध और अप्रबुद्ध रूप स्वीकार किये गये हैं उसी प्रकार नाथसिद्धों ने भी नारी के दो रूपों की कल्पना की है। एक रूप कामिनी रूप है तथा दूसरा मातृरूप है। शक्ति का या विन्दु का वह रूप जो सृष्टिप्रक्रिया में विभिन्न भेदों, रूपों, वर्णों में निरन्तर रूप में विभाजित होने में गतिशील है, जिसमें क्रमशः उसके मूल रूप से भेद भी बढ़ता जाता है, किसी भी प्रकार से नाथों को ग्राह्य नहीं।" ऐसी शक्ति निरन्तर प्रपंच की वृद्धि कर व्यक्ति को साधन की ओर उन्मुख नहीं होने देती। व्यक्ति को, आध्यात्मिक दृष्टि से सुषुप्त तथा सांसारिक दृष्टि से जाग्रत व्यक्ति की शक्ति को काम की ओर प्रेरित करती है। कभी-कभी इसी प्रकार मातृरूप और कामिनी-रूप में शक्ति या नारी की कल्पना मिलती है। कभी-कभी जाग्रत व्यक्ति-शक्ति को 'सुन्दरी' शब्द से अभिहित किया गया है। कभी-कभी नारी के 'कामिनी' वाले रूप को केवल 'भग' शब्द से संबोधित कर दिया गया है। भग शब्द स्वयं अनेक अर्थोंवाला है। यही वह तत्व है जिससे समग्र सृष्टि का उदय करनेवाला तत्व शक्तिधर भगवान् नाम से अभिहित होता है। इस प्रकार वही शक्ति जननी है माता भी है।

गोरख ने शक्ति के इस कामिनी रूप का त्याग करने का कई बार उपदेश किया है। उनका कहना है कि चित्त की रुझान भी कामिनी की ओर न होनी चाहिए। कामिनी के प्रवाह में बहनेवाले व्यक्ति को योगसिद्धि नहीं

मिलती। उसके संग से शांति नहीं मिलती। उसके संग में जो व्यक्ति रहता है, उसकी स्थिति पूर्णिमा के चन्द्र की तरह होती है जो क्रमशः क्षीण होता ही जाता है। योगानुकूल न होने से नारी गुणहीन है। ऐसी नारी से स्नेह नहीं करना चाहिए क्योंकि उसी में वह रात-दिन बिता देता है। माया भी निर्गुण निराकार है, फिर भी उसके पीछे सारा संसार रात-दिन गँवाता रहता है।[1] गोरख ने प्रतीक रूप में नारी को 'भग' शब्द में भी संबोधित किया है। उसे वे 'भग राक्षसिन' कहते हैं। इस राक्षसिन की विशेषता यह है कि यह बिना दांत के ही सारे संसार का भक्षण करती है। यह बाघिन है। दिन में यह सोई रहती है तथा रात्रि में संपूर्ण शरीर का शोषण करती है। विषयानंद में लुब्ध नर अज्ञानी होकर अपने घरों में ही ऐसी बाघिन का पोषण करते हैं। वस्तुतः निरानन्द कामिनीभोग से नर का शरीर दिन-प्रतिदिन क्षीण होता जाता है। विलक्षणता तो यह है कि बाघिन ही शरीर को उत्पन्न करती है, वही उसका पालन करती है, वही यमराज के पार्श्व में खड़ी होकर दहाड़ती है। ऐसी बाघिन या राक्षसिन नारी वस्तुतः माया ही है। यह विभिन्न रूपों को धारण करती है तथा देखने में बड़ी भोली भाली मालूम पड़ती है। उसके क्रोध में पड़कर नर संपूर्ण जीवनरस खो देता है। व्यक्ति उसमें अनुरक्त होकर अपनी संपूर्ण (साधन-) संपत्ति का नाश कर देता है। उसके संग में पड़कर व्यक्ति की स्थिति नदी के किनारे के पेड़ की तरह हो जाती है जिसका किसी भी क्षण गिर कर नष्ट हो जाना संभावित रहता है। इस प्रकार स्कंधविनाश या पिंडपात होता है।[2] यह माया या कामिनी साँपिन है जो संपूर्ण त्रिभुवन को डँसती है। यह माया ही भग का जाल फैलाकर संपूर्ण लोक को उसमें फँसा लेती है, उससे कोई बचता नहीं है। मैथुनक्रिया से यह शरीर जराग्रस्त हो जाता है। योगी भी राक्षसिन के फेर में पड़कर अपना योगनाश करता है। इसलिये गुरु ने नारी, सारी और किंनरी—इन तीनों का त्याग कर दिया है।[3]

अन्य नाथसिद्धों ने भी नारी के इस कामिनी रूप का उद्घाटन किया है। चरपट ने बतलाया है कि कामिनी जीवन और विंदु दोनों का शोषण करती है, जिसके परिणामस्वरूप दिन-दिन काया क्षीण होती है। भरथरी ने इसी से स्कंध-

[1] गो० बा०, ३५.१०२, ७.१९, ८८.१, ६९.२१०, ९१.४, १५३.टेक।

[2] गो० बा०, १४४.१-३, १४४. टेक, ८७.३, १३७. टेक, १।

[3] गो० बा०, १३९-१४०. टेक—४; १३७. टेक, १; ३४.९९, १३.३५, १७३.१४, १७८.१९।

विनाश बतलाया है। भरथरी ने भी, जैसा गोरख ने कहा है, 'चमड़ी' (भग), 'ममड़ी' (ममता), 'दमड़ी' (कनक) इन तीन वस्तुओं का त्याग कर दिया है। इतना ही नहीं, उन्होंने सुस्पष्टतया नारी, चोरी और पर-स्त्री-प्रेम का त्याग करने को कहा है।[१] इस त्याग का कारण यह है कि वे भी गोरख की तरह ही देखते हैं कि नारी 'बाघिन' है। वह प्रेम कर घट में प्रवेश करती है और नौ नाड़ियों का शोषण करती है। उसकी सुन्दर काया मोहित कर लेती है तथा जीवन और विंदु दोनों का शोषण कर लेती है। जीवन-मार्ग में अचानक आक्रमण कर वह व्यक्ति के जीवनधन को बरबस लूट लेती है।[२] इन रूपों में नारी साधन की विपरीत दिशा में व्यक्ति को ले जाती है। अग्निकुंडसम नारी में पड़कर घृतकुंडसम पुरुष सर्वथा नष्ट हो जाता है। इसलिये नाथसिद्धों ने उसके प्रति घृणाभाव का प्रदर्शन किया है। इस विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि माया और कामिनी दोनों ही समान हैं। दोनों का त्याग करना चाहिए। कामिनी माया की क्रियाशीलता का माध्यम है। 'माया' और 'माय' शब्द समध्वन्यात्मक है। इसी का विकृत रूप 'माई' में भी मिलता है। अनेक स्थानों में, बौद्ध सिद्धों की रचनाओं में भी, इस शब्द का इस प्रकार प्रयोग मिलता है। कभी-कभी, इसे 'प्रपंचों की जननी' भी कह दिया गया है। नारी के कामिनी रूप के प्रति इस प्रकार का घृणाभाव स्कंधरक्षा या पिंडरक्षा के लक्ष्य के कारण है।

संपूर्ण नारी जाति के प्रति गोरक्ष में अवहेलना और तिरस्कार का भाव नहीं है। उसका कारण यह है कि नारी का कल्याणमय शिव रूप भी उन्होंने देखा है। दूसरे शब्दों में उन्होंने नारी में मातृरूप का भी दर्शन किया है। इन विचारों को देखते समय जो सबसे अधिक आवश्यक बात ध्यान में रखनी पड़ती है, वह यह है कि ये नाथसिद्ध नारी को साधना की ही दृष्टि से देखते हैं। जहाँ तक उसके कामिनी रूप का प्रश्न है, वह तो नाथसाधन के प्रसंग में विद्वानों द्वारा बहुचर्चित है किंतु उसके सर्वथा कल्याणकारक रूप का दर्शन, मातृरूप का उद्घाटन, अभी तक आलोचकों ने नहीं किया है। नाथों की रचनाओं में ही इस मातृरूप का दर्शन नहीं होता, उनके जीवन से संबद्ध कथाओं से भी उसकी पुष्टि होती है। यथोचित प्रसंग में विद्वानों ने उन कथाओं की ओर संकेत किया है। जैसे बौद्धों के साधन में गृहीत प्रत्येक वस्तु के सांवृतिक

---

[१] ना० सि० बा०, २८.१६०; १०१.६१७, १०४.६३१, १०४.६३१, ६३२।

[२] ना० सि० बा०, १२५. टेक, १२७.४७९, ११९.७१०।

और पारमार्थिक अर्थ भिन्न-भिन्न होते हैं, उसी प्रकार नाथसाहित्य में भी दिखाई पड़ता है। कुंडलिनी की जाग्रत और सुषुप्त दो अवस्थाएँ होती हैं। सुन्दरी या कामिनी के भी दो रूप माने गये हैं—प्रथम शरीर को क्षीण करने-वाली कामिनी का रूप तथा दूसरा शरीर को पुष्ट एवं परिपक्व करनेवाली सुषुम्ना के माध्यम से सहस्रार तक पहुँचानेवाली का रूप, जिसे सुषुम्नासुन्दरी कहा गया है। यह 'सुषुम्नासुन्दरी' जाग्रत और उद्‌बुद्ध कुंडलिनी का ही दूसरा नाम है। शक्ति नारी है जो कामना के जाल में भी फँसाती है तथा वही 'सहस्रार' में जीवात्मा का परमशिव से मिलन भी कराती है। माया शब्द भी, जिसका रूपांतर 'माई' या 'माय' के रूप में मिलता है, दो अर्थों में मिलता है। नीचे प्रमाण सहित नारी या शक्ति के पारमार्थिक अर्थ का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा ह। नारी का यह पक्ष ब्रह्मचर्य की रक्षा करनेवाला या सहायक है।

गोरख के हृदय में नारी के 'जननी' रूप के प्रति आदर भाव है। वे उन व्यक्तियों को धिक्कारते हैं जिन्होंने मातृरूप धारण करनेवाली नारी को भोग की सामग्री बना लिया है। जिस स्त्री ने जन्म दिया है, वह आदरणीय है और इसलिये संपूर्ण नारी जाति आदरणीय है। गोरखनाथ के संबंध में एक कथा प्रसिद्ध है जिससे उनके इस विचार का अच्छी तरह पोषण होता है। यह कथा इसलिये महत्त्वपूर्ण है कि इससे गोरखनाथ के स्त्री-संग-त्याग की तथा उसके मातृ-रूप-ग्रहण की पुष्टि जनप्रवाद से होती है। पार्वती ने नवनाथों की परीक्षा लेते समय गोरख को जिस कामिनी का रूप दिखाया उसे गोरख ने 'माता' के रूप में स्वीकार कर अपनी दृढ़ता प्रदर्शित की। गोरक्ष भिक्षाटन में भी स्त्रियों को मातृरूप में संबोधित करते हैं तथा उनसे बालक के रूप में ग्रहण करने तथा उसका योगानुकूल पोषण करने का आग्रह करते हैं।[1] गोपीचन्द्र जब सर्वप्रथम भिक्षाटन आरम्भ करते हैं तब वे अपनी रानियों को भी 'माई' शब्द से संबोधित करते हैं तथा अपने को 'परदेशी' कहते हैं। इस सम्बन्ध में वे रानियों से वाद-विवाद भी करना पसंद नहीं करते। योगी हो जाने पर गृहत्याग के बाद गोपीचंद में परिवर्तन हो जाता है। संपूर्ण विलास-सामग्री के प्रति उनके विचार परिवर्तित हो जाते हैं। रानियाँ उनके लिये कन्या हो जाती हैं। वे 'माई' और 'बहन' कह कर भिक्षा माँगना आरम्भ

---

[1] गो० बा०, १४४-१४५.टेक.४; कथा के लिये देखिये—नाथ संप्रदाय-डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ४५-४६।

कर देते हैं। स्पष्ट ही इन विचारों का संबंध उनके जीवन की घटनाओं से है। इस संबन्ध में उनके जीवन की अनेक कथाओं को देखा जा सकता है।[१]

जब इस प्रकार सब नाथसिद्ध कामिनीसंग के त्याग और उसके मातृरूप के ग्रहण का उपदेश देते हैं तो साधन के क्षेत्र में परावृत शक्ति को न्यस्त करने के लिए बार-बार वे नारीशक्ति को धारण करने के लिये भी कहते हैं। कभी कभी बौद्ध अपभ्रंश रचनाओं में तथा नाथपंथी रचनाओं में 'नाड़ी शक्ति' शब्द का प्रयोग 'अवधूतिका' या सुषुम्ना के लिये किया गया है। इसी को नाथसिद्ध लालजी 'सुंदरि सुषमनि' कहते हैं। इसी के भोग में योगी सदैव रत रहता है। इस सुंदरी की रुचि शून्य शिखर सहस्रार में है। गोरखनाथ भी योगी को, इसी दृष्टि से भोगी ही कहते हैं क्योंकि योगिनी, जो 'सुषुम्ना सुंदरी' से भिन्न नहीं कही जा सकती, या जिसे शब्दान्तर से मध्य सुषुम्ना मार्ग में गमन करने वाली जाग्रत कुण्डलिनीशक्ति कहते हैं, के संग का कभी त्याग नहीं करता। इस जाग्रत कुण्डलिनी नारी का, जिसे कई बार 'सर्पिणि' कहा गया है, भोग करने का बार-बार उपदेश मिलता है। यही शक्ति ब्रह्मांड में पहुँच कर शिव से मिलन प्राप्त करती है।[२] इस विवेचन से इतना स्पष्ट हो गया कि नाथयोगियों के ब्रह्मचर्यरक्षायुक्त साधन में केवल निषेध ही नहीं है, उसमें यह विधान भी किया गया है कि इस प्रकार की परावृत शक्ति को किस प्रकार संयमित किया जाय। यह भी स्पष्ट हो गया है कि इस साधन में जहाँ नारी का सामाजिक दृष्टि से आदर किया गया है, वहीं उसकी आध्यात्मिक साधना में, अन्तस्साधना में, महत्ता स्वीकार की गई है और बताया गया है कि 'नारी' भोग का नहीं योग का साधन है।[3] नारी के प्रति इस प्रकार

---

[१] ना० सि० बा०, १७-१८. १०१; सि० सि० प० अ० व०, ८९. १२-१४, ना० सि० बा०, १६.८८; ना० सं०, पृ० १६८-१७२।

[२] ना० सि० बा०, १२१.७२१; गो० बा०, १०५. टेक; गो० बा०, १९२. ५२, ३०. ८४।

[3] गोपीचंद आदि के प्रसंग से यह भी स्पष्ट है कि साधक के दृष्टिभेद से कामिनी ही साधिका या शाधनशक्ति के रूप में परिवर्तित हो सकती है तथा शोषिका ही पोषिका बन सकती है। कामिनी का कन्या या जननी के रूप में दर्शन ही यह परिवर्तन है। यही भोग का योग में परिवर्तन है। यह तांत्रिक सिद्धांत "साधन के क्षेत्र में प्रमाता या उसकी दृष्टि ही सब कुछ है। प्रमेय का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं

की दृष्टि नाथयोगियों ने क्यों स्वीकार की इसके सम्बन्ध में लोग सांप्रदायिक परिस्थितियों की गवेषणा कर बतलाते हैं कि बौद्धों के भोगपरक या नारी-संग-परक साधन के विकृत रूप के विरोध में नाथमत निवृत्तिवादी हो गया। किन्तु 'तांत्रिक बौद्ध साधन में भी भोगपरक जीवन व्यतीत करते थे।' हमें अभी इसमें ही संदेह है। इस सम्बन्ध में हम अन्यत्र पर्याप्त विस्तार से लिख चुके हैं।

ब्रह्मचर्य में मुख्य तत्त्व नारी-संग-त्याग ही है। यह नारी-संग-त्याग विंदु-रक्षा के लिये है क्योंकि विन्दुरक्षा कायसिद्धि या परिपक्व देह की प्राप्ति के लिये आवश्यक है। किन्तु यदि इसके साथ विंदुस्थैर्य के लिये भी प्रयत्न न किया जाय तो भी ब्रह्मचर्य स्थिर नहीं रह सकता। इसलिये विंदुसाधन का विधान नाथयोग में मिलता है। यह विंदु क्या है तथा मनुष्य-शरीर-निर्माण में इसका क्या स्थान है इसके ज्ञान के लिये तांत्रिकों के विंदु शब्द का दार्शनिक परिचय भी आवश्यक है जिससे इसका साधनात्मक रूप स्पष्ट हो सके। संस्कृत नाथसाहित्य में विन्दुविचार का प्रायः अभाव सा है। डा० कल्याणी मल्लिक ने विभिन्न प्रकार से इस विंदुतत्त्व की विस्तार से व्याख्या की है।[1] तांत्रिक साधन में कामकला, वीरयोग, सामरस्य, कुमारीपूजा का इस प्रसंग में विस्तार मिलता है।[2]

इस प्रकार विन्दु, नाद और कामकला का शक्तितत्व से संबंध है। मत्स्येन्द्रविरचित कौलज्ञाननिर्णय में शिव या महालिंग की शक्ति को विंदु कहा गया है। यह विन्दु आत्मशक्ति द्वारा ही भेद्य रहता है। विन्दु ही अमृत है। इससे जरा और वार्द्धक्य का अपसारण होता है। इसकी ज्योति से सभी वस्तुएँ विशुद्ध होती हैं तथा यही कामकला होकर अमृत प्रदान करता है। यही सहजावस्था की चरम परिणति है। यह निर्मल मणि, मुक्ताफल, खद्योत, आकाश की तारकराजि की तरह उज्वल है। यह सित, रक्त, कृष्ण, धूम्र, पीत वर्ण का होता है। यह सृष्टि-संहार-कारक है। गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह में नाद और विन्दु संबंधी जो विवरण मिलता है उसे पहले ही बताया जा चुका है। उसमें इस प्रसंग के अनुकूल जो आवश्यक बात है वह यह कि नाथयोगसाधन

है"—यहाँ स्पष्टतः चरितार्थ होता दिखाई देता है। इस सिद्धांत की सर जान उडरफ ने अपने ग्रंथों में कई स्थानों पर व्याख्या की है।

[1] ना० सं० इ० द० सा० प्र०, पृ० ४९०, ५०१, ४९८।

[2] वही, पृ० ५००।

में विन्दु, इन्दु, शिव को एक ही कहा गया है। इसी प्रकार रज, रवि और शक्ति को एक कहा गया है। इन दोनों के संगम से परमपद की प्राप्ति होती है। इस विन्दु का शरीर में साधन कर लेने पर मृत्युभय नहीं रहता, परम पद की प्राप्ति भी हो जाती है। नभोमुद्रा की सहायता से इस विन्दु का धारण करने को कहा गया है।[1]

इस परिचय से स्पष्ट है कि विन्दु कायसिद्धि के लिये अति महत्वपूर्ण है। इस विन्दु को अमृत भी कहा गया है। यह शिव और चन्द्र भी है। यह सृष्टि और संहार (व्यष्टि और समष्टि दोनों के लिये) दोनों का मूल कारण है। इसलिये नाथसिद्ध इसकी रक्षा को अति आवश्यक मानते हैं। विन्दु की रक्षा और धारणा या स्थैर्य के लिये नारी-संग-त्याग को आवश्यक पहले ही बताया जा चुका है। निम्नाभिमुख विन्दु को ऊर्ध्वमुख करना वे आवश्यक मानते हैं। नाद और विन्दु दोनों ही जिस साधक के शरीर में जलते हैं, सिद्ध होते हैं, वही व्यक्ति सिद्ध होता है। प्रायः माना जाता है कि गृहस्थ व्यक्ति विन्दुरक्षा नहीं कर सकता। अतएव उसी व्यक्ति को वास्तविक घरबारी कहा गया है जो घर का पूरा परिचय प्राप्त कर बहिर्मुख विन्दु को अंतर्मुख करे। नाथसिद्ध भी विन्दु से जीवन मानते हैं। जहाँ विन्दु है वहीं जीवन है। इसी विन्दु की स्थिति सुषुम्ना नाड़ी में पवन की स्थिरता से होती है जिसे कुंभक कहते हैं। वज्रोली करते हुए अमरोली की रक्षा तथा अमरोली करते हुए वायु की रक्षा कठिन है। इस प्रकार रक्त के सारतत्व शुक्र या विन्दु का भोग करते समय या वज्रोलीसाधन के समय भी भग में पतन न होने दे तो सिद्धि प्राप्त होती है।[2] वास्तविक बात यह है कि जो लोग नारीभग के संसर्ग से वज्रोलीसाधन करते हैं उनके लिये सबसे अधिक आवश्यक है विन्दुस्थैर्य। वज्रोलीसाधन में उपक्रिया के रूप में अमरोली साधन है जिसमें विन्दु की मध्य धारा का रक्षण होता है। किन्तु इस प्रकार की क्रियाओं को करते समय वायु स्थिर नहीं रह पाता। क्योंकि मैथुन में श्वास की गति अति तीव्र हो जाती है, जैसा तांत्रिक प्राणायाम के विवेचन से स्पष्ट है। अतः इसका निष्कर्ष यह है कि जिस व्यक्ति का प्राण स्थिर है तथा जो प्राणायामकुशल है, वही व्यक्ति वज्रोली साधन में प्रवृत्त हो सकता है। दूसरे, किसी प्रकार विन्दुपात हो भी गया तो भग से विंदु की मध्यधारा का आकर्षण अति कठिन

---

[1] वही, पृ० ४९७-४९८, ५०९-५१०।

[2] गो० बा०, ७.१७, ७.१९, १६.४४, २१.५७, ४९.१४१।

कार्य है। प्रायः इस स्थिति में प्राण अस्थिर हो उठता है। इस आकर्षण के लिये सशक्त प्राणस्थैर्य आवश्यक है। गोरख ने इस तथ्य को ध्यान में रखकर प्राणायामाभ्यासी या हठयोगी को भगमुक्ति या नारीसंगत्याग के लिये बार-बार चेतावनी दी है क्योंकि इससे प्राण की गति अत्यधिक बढ़ जाती है तथा साथ ही मन चंचल होता है और विन्दु भी पतित होता है। वे कहते हैं कि जैसे रसायनक्रिया में अग्निसमूह में पारे (जिसे रसेश्वर मत में शिवांबु भी कहते हैं) की रक्षा कठिन हो जाती है उसी प्रकार भग में विंदु की रक्षा कठिन है। इसलिये वे अपरिपक्व या योग से हीन साधकों को ललकारते भी हैं। विंदु की इस महत्ता को स्वीकार करते हुए ही उन्होंने कहा कि यह विंदु ही योग, भोग, रोग, सब कुछ है। इसे ही मानव जीवन या साधनात्मक जीवनव्यापार का मूल मानकर उसे सदैव अपने अधिकार में, सुरक्षित रखने के लिये सचेत करते हैं।[१] यह विंदु वह अमूल्य रस है जिसका बाघिन शोषण कर लेती है जिसके क्षीण हो जाने पर योगसिद्धि कदापि नहीं मिल सकती। किन्तु यह भी निश्चित है कि शरीर के इस महत्वपूर्ण तरल पदार्थ से सिद्धि सरल हो जाती है। गोरख ने इसे अमूल्य रत्न कहा है, क्योंकि जब तक यह शरीर में स्थिर रहता है तबतक स्कंधपात नहीं होता। इसे वे मत्स्येन्द्र के उपर्युक्त विचारों की ही तरह मत्स्येन्द्र से निवेदन करते हैं—"यह विंदु अमृत महारस है। मन की क्षणिक चंचलता से मेरु के समान आधार विन्दु क्षीण हो जाता है और परिणामतः स्कंधविनाश होता है। इसका आध्यात्मिक जीवन के लिये उतना ही महत्व है जितना ब्रह्म का। इसलिये वे केवल उसी व्यक्ति को अवधूत कहने को तैयार हैं जो इस ब्रह्म को क्षीण होने से रोकता है।[२]

अन्य नाथसिद्ध भी गोरख से भिन्न विचार नहीं रखते। भरथरी भी विन्दुपात की ब्रह्महत्या से तुलना करते हैं तथा ऐसे विंदुपात करनेवालों को दुराचारी तथा अशौच से ग्रस्त कहते हैं। चरपट की दृष्टि में जिन लोगों का किये हुए भोजन का सार स्थिर नहीं रहता, उनकी वाणी भी सत्य नहीं होती। इसलिये प्रत्येक विन्दु के पतन पर वे बार बार मरते हैं।[3] बालनाथ को

[१] गो० बा०, ४९.१४२, ५१.१४८, ८५.टेक।

[२] ना० सि० बा०, ८७.२, ४; ९०.टेक–१, १३७.टेक–१; १४५.४।

[3] सि० सि० प० अ० व०, ७९.३१; ना० सि० बा०, १०३.६२६; सि० सि० प० व०, ८२.२; ना० सि० बा०, २५.१४४।

मनुष्यों की मूर्खता पर विस्मय होता है कि वे मनुष्य यह नहीं जानते कि इस संसार का विकास अत्यंत सूक्ष्म एवं अत्यल्प विंदु से हुआ है। किन्तु वे उसके मूल्य को न जान कर अनेक विंदुओं का नाश करते हैं। मनुष्य पतित विन्दु के वास्तविक मूल्य या रहस्य को नहीं समझता किन्तु इस विन्दु से उत्पन्न व्यक्तियों के मर जाने पर रोता है। इस विन्दु संबंधी विवेचन का निष्कर्ष यही है कि कायसिद्धि, किंबहुना, परमपद के लिये भी, विन्दुरक्षा, विन्दुस्थैर्य, विन्दुसाधन अत्यावश्यक है। यह यम के ब्रह्मचर्यांग के अन्तर्गत ही है। इसकी सिद्धि किस प्रकार हो, इसके लिए वज्रोली, नभोमुद्रा आदि की ओर संक्षिप्त संकेत पहले ही किये जा चुके हैं।[1]

यमगत अन्य अंगों में से केवल मिताहार को छोड़कर किसी अन्य का सविस्तर वर्णन नहीं मिलता। क्षमा को गोरख ने षडासन कहा है।[2] योगी के साधन में यदि अन्य किसी मानसिक तत्व की स्थिरता आवश्यक है तो वह धैर्य है। इसी से वह साधनमार्ग में सदैव अग्रसर होने में समर्थ हो पाता है। योग के लिये वे दया को भी आवश्यक मानते हैं क्योंकि इसके न होने से अहिंसा का पालन भलीभाँति नहीं हो सकता। दूसरे, इसके अभाव में विभिन्न प्रकार की कायसिद्धियों का लक्ष्य ही समाप्त हो जायगा। कायसिद्धि और जीवन्मुक्ति का लक्ष्य सांसारिक लोगों के उद्धार के लिये ही है जो बिना दया के असंभव हैं। आर्जव या ऋजुता का संबन्ध करनी और रहनी से है। यहाँ आर्जव का अर्थ जीवन की ऋजुता या सरलता है। नाथसिद्ध किसी भी प्रकार का आडंबर, पाषंड या कृत्रिमता नहीं मानते। वे करनी, रहनी की

---

[1] ना० सि० बा०, ९१. ५८३। गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह में केवल ब्रह्मचर्य-पालन करते हुए, गृहस्थादि का तनिक भी पालन न करने का जो उपदेश दिया गया है, उसका कारण यह है कि परम्परानुसार प्रथम १२ वर्ष विद्याभ्यास में, द्वितीय द्वादश वर्ष शब्दबोध, शास्त्रपाठ में व्यतीत करने का उपदेश दिया जाता है। पुनः शास्त्राभ्यास, वेदान्ताभ्यास आदि करने से इस प्रकार आधी आयु तो यों ही बीत जाती है। फिर इन्द्रियों के शिथिल होने पर वे सत्याभ्यास करने में अशक्त हो जाते हैं। अतः प्रथमतः साक्षरतामात्र के पांडित्य को प्राप्त कर मनुष्यों को योगाभ्यास में लग जाना चाहिए। गो० सि० सं०, पृ० ५०।

[2] गो० बा०, १७. ४८ तथा शब्दसंग्रह में 'षडासन' शब्द की व्याख्या द्रष्टव्यः; गो० बा०, २०१. ११८, १२६. ४.३२।

सचाई चाहते हैं। व्यवहार में किसी प्रकार की कृत्रिमता उनकी दृष्टि में, अनुचित है। वे सरल जीवन को योगी के लिये आवश्यक मानते हैं। उस सरल जीवन में खान-पान-वेश-भूषा-व्यवहार सभी सम्मिलित हैं। वे सभी प्रकार की सरलता चाहते हैं। बाह्य और आन्तरिक जीवन के साम्य को वे आवश्यक मानते हैं। आध्यात्मिक जीवन के आदर्श का कथन करना अति सरल है; किन्तु तदनुकूल जीवन भी व्यतीत करना या उनका जीवन में आचरण करना अति कठिन है। बिना आचरण के, बिना रहनी के यह 'कहनी' थोथी एवं निस्सार है। सच्चे योगी की 'रहनी' ही सच्ची होती है। सार-तत्व से युक्त रहनी ही सर्वोत्तम है जिसमें करनी की महत्ता है; क्योंकि उत्तम करनी के लोग भवसागर पार होते हैं। बिना इस करनी एवं रहनी के योग सिद्ध नहीं होता।[१] रहनी में योगानुकूल साधन या परम-पद-साधन के लिये लीन रहनेवाले आचरण से युक्त रहनी उत्तम है। नाथयोगी योग-शास्त्र को ही शास्त्र, योगसाधन को ही साधन तथा तद्नुकूल आचरण को ही आचरण कहते हैं। शेष सब आडंबर और पाषंड है। तंत्र, मंत्र, वेदान्त (या वैद्यक से सिद्धिप्राप्ति) आदि सबका त्याग इस रहनी में होना चाहिए। यंत्र, गुटिका (सिद्ध गुटिका जिससे आकाश-उड्डयन आदि की सिद्धियाँ संभव मानी जाती हैं), विभिन्न धातु प्रयोग आदि सभी पाषंड हैं। जो लोग परमतत्वसाधन को लक्ष्य में न रखकर केवल कथनी के लिये या केवल चमत्कारप्रदर्शन के लिये नौ नाड़ियों एवं बहत्तर कोठों की बात करते हैं या साधन करते हैं और उसे 'अष्टांग योग' कहते हैं, वे वास्तव में झूठे हैं। यह सब मिथ्या है। वास्त-विक सिद्धि स्तंभन, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन आदि में नहीं है। ये सब योगबाह्य हैं। अतः इनका त्याग करना चाहिए।[२] पाषंड और आडंबर के त्याग के प्रसंग में गोरख ने अपने मत से भिन्न अनेक संप्रदायों की आलो-चना की है जिसमें एकदंडी, द्विदंडी, त्रिदंडी, भगवावेषी, जटाधारी, जैन, दूधा-धारी, तीर्थयात्री, ब्राह्मण आदि अन्तर्गणित हैं। ये सभी आदर्श का या पर-मतत्व का खूब वर्णन करते हैं किन्तु उसका जीवन में अनुभव नहीं करते।

अन्य नाथसिद्धों में चरपट ने निस्सार आवागमन, निस्सार कथनी, निस्सार भोजन; निस्सार विवाद—इन सबको योगमय जीवन के उपसर्गसमान माना है। बायें हाथ में कमंडल धारण करना, दाहिने हाथ में दंड धारण करना, चक्र

[१] गो० बा०, ४२. २७१, ८१. २६४, २१. ५९, १३९. ४. ४४।

[२] गो० बा०, १७०. ४, ४६. १३३, १७०. ५।

घुमाना, आडंबर की पूजा करना और उसके साथ वेश्याओं का संग करना—ये सभी उनकी दृष्टि में पाषंड है। केवल किसी संप्रदायविशेष का वेष धारण कर लेने से परमतत्व का भेद नहीं मिलता। ऊपर से गृहत्याग करते हुए भी यदि मन से माया नहीं गई तो वह गृहत्याग निरर्थक है।[1] इस प्रकार चरपट ने बाह्य साधना का भी खंडन किया है। योगी का आडंबर उनको सर्वथा अप्रिय है। योगसाधन में आवश्यक है कि साधक गुरुवाणी का भलीभाँति जीवन में ग्रहण एवं आचरण करे। किन्तु सभी लोग वेष तो धारण कर लेते हैं, किन्तु आचरण नहीं करते, अपने को नहीं पहचानते। अपने को नाथ कहलानेवालों में 'माया को' नाथने की शक्ति नहीं होती। उनके साथ चेलों की जमात चलती है। वे भीख माँग कर भर-भर पेट खाते हैं। यद्यपि उन्हें नाथ कहा जाता है तथापि वे बार-बार जन्म लेते और मरते हैं। वे आडंबरी है। कान में मुद्रा और गले में रुद्राक्ष धारण करना ही नाथ होने के लिये वे पर्याप्त समझते हैं। यह सब कुछ पाषंड है। वे नकटी-बूची 'योगिन' को साथ में ले लेते हैं, जटा धारण करते हैं, मोटी कंथा धारण करते हैं, विचित्र वाणी बोलते हैं, मान-अभिमान को लादे फिरते हैं, दंड-कमंडल, भगवावेश धारण करते है, अनेक प्रकार से आडंबर करते हैं। तत्व की बात बिल्कुल नहीं समझते और पंडित तथा ज्ञानी बनते हैं। भीतर तो मल (मानसिक और शारीरिक) भरा रहता है और बाहर से वे सफाई करते हैं। तीर्थस्नान करते हैं, यंत्र-मंत्र आदि करते हैं किन्तु परब्रह्म का ध्यान कभी नहीं करते।[2] चरपट ने योगियों को भी नहीं छोड़ा है। व्रजकछौटी पहन कर योगी पान चबाते हैं, तीर्थ में जाकर दान लेते हैं, वैद्यक करते हैं, रोगी को अच्छा करने का दावा करते हैं। वस्तुतः ये सभी नष्ट हो गये हैं। योगसाधन की सभी क्रियाएँ, मन, विन्दु और पवन को स्थिर करने के लिये की जाती हैं जिनका परिणाम कायसिद्धि तथा अन्ततः परमपद प्राप्ति है किन्तु ये योगी मन को कभी नहीं मोड़ते, उसके विकारों को कभी दूर नहीं करते। इस 'केशमुंडन' से कुछ नहीं होता। वस्तुतः ये केवल बाहर के रूप को ग्रहण कर भीतर का सार तत्व बिल्कुल छोड़ देते हैं। पृथ्वीनाथ ने बताया है कि वह मुद्रा, तिलक, माला, पूजा, षटकर्म, गायत्री आदि कुछ और ही भिन्न प्रकार के हैं जिनसे

---

[1] सं० सि० प० अ० व०, ८५. ४०, ८५. ४१–४२।

[2] वही, ८६. ४२–५२; ना० सि० बा०, ७. ४४, २६. १४९, २६. १५०-१५१. २६–२७. १५०–१५६।

वस्तुतः सिद्धि मिलती है।[1] वे बार-बार पाषंड, आडंबर, बाह्याचार, बाह्य-साधन के त्याग तथा अन्तस्साधना को ग्रहण करने का उपदेश देते हैं, क्योंकि उनका सिद्धान्त है कि पिण्डशुद्धि और पिण्डज्ञान से ही ब्रह्माण्डशुद्धि और ब्रह्माण्डज्ञान संभव है। जब तक पिण्ड सिद्ध नही होता तब तक ब्रह्माण्ड भी सिद्ध नहीं हो सकता। अन्तस्साधना ही सब कुछ है, बाह्यसाधना अन्तस्साधना बिना निरर्थक है। बिना इसके बाहर का सब कुछ कुटिल, कृत्रिम, आडंबर और पाषंड है। बाहर और भीतर की एकतानता, सरलता, कथनी और करनी या रहनी की एकता के बिना सब निरर्थक है। इसलिये साधक में बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रकार की ऋजुता चाहिए। साधक को बाहर भीतर एकरस होना चाहिए।

आर्जव के अतिरिक्त, नाथयोगियों की दृष्टि में, सबसे अधिक महत्वपूर्ण अंग मिताहार है। संस्कृत रचनाओं में मिताहार का महत्व प्रतिपादित है। उससे कम महत्व हिन्दी रचनाओं में उसे नहीं दिया गया है। संस्कृत रचनाओं में पथ्य-अपथ्य, योगानुकूल और योगविरुद्ध आहार का वर्णन मिलता है। यद्यपि खाद्य-अखाद्य की लंबी सूची नहीं दी गई तथापि उनकी ओर कुछ संकेत अवश्य हैं तथा साथ ही यह भी बतलाया गया है कि मिताहार का उल्लंघन योगानुकूल नियमों का उल्लंघन है। इस संबंध में मध्यममार्ग का उपदेश भी मिलता है। इस संबंध में जो विधान मिलते हैं वे निश्चित समय, निश्चित परिमाण, निश्चित पदार्थ के अनुसार हैं। वे सारे योगानुकूल हैं। आहार का उद्देश्य योगसाधन के लिये शरीर को उचित रीति से पुष्ट बनाना तथा उसकी रक्षा करना है। इसलिये गोरक्ष शीघ्र भोजन, अल्पाहार तथा उचित मात्रा में आहार का विधान करते हैं। पेट भर-भर कर भोजन करने से सारे शरीर में काम व्याप्त हो जाता है। इसीलिये अल्पाहार करना चाहिए। न तो भोजन पर टूट ही पड़ना चाहिए न भूखों ही मरना चाहिए, क्योंकि अत्यधिक भोजन से इन्द्रियाँ बलवान् होकर पीड़ित करती हैं, ज्ञान नष्ट हो जाता है तथा चित्त मैथुनकामी हो जाता है। निद्रा पूर्णतया व्याप्त हो जाती है तथा निद्रा के आते ही काल आक्रमण करता है। आहार में साधक को दूसरों पर इस प्रकार अवलंबित नहीं रहना चाहिए कि जिससे कष्ट हो। जो दूध के आहार पर रहनेवाले हैं, उन्हें सदैव दूसरों के घर के सहारे रहना पड़ता है। उनका चित्त सदैव दूसरों के घर में लगा रहता है। अत्याहार योगसाधक के लिये काल के समान

[1] ना० सि० बा०, ३०.१७५, ३२.१९१, ८७-८८.५५३-५६६।

वैरी है। बिना आहार को तोड़े गुरु के दिये ज्ञानभंडार की रक्षा नहीं हो सकती।[१] अत्याहार तथा मांसवृद्धि करनेवाले आहारों से योगी का शरीर स्थूल हो जाता है। कूल्हे बड़े-बड़े हो जाते हैं तथा पेट बड़ा हो जाता है। इनसे गुरु के बताये उपदेशों की सिद्धि नहीं हो सकती। इसके लिये खड़खड़ या पुष्ट और हल्की काया होनी चाहिए। ऐसी काया के लिये नियमित परिमित और नियंत्रित आहार की आवश्यकता है। ऐसे शरीर के लिये उपवास करने की आवश्यकता नहीं है। आहार में संयम करने की आवश्यकता है। इस संयम के मध्यममार्ग का अनुसरण करने से मन निश्चल हो जाता है तथा श्वास भी स्थिर हो जाती है जो कायसिद्धि के लिये आवश्यक है। इस संयम के लिये मद्य, मांस, भाँग का सेवन बिल्कुल निषिद्ध है क्योंकि इससे दया-धर्म का नाश, प्राणनाश, ज्ञान-ध्यान की हानि होती है।[२]

अन्य नाथसिद्धों की हिन्दी रचनाओं से भी गोरक्ष के उपर्युक्त विचारों की पुष्टि होती है। चरपट ने भीख माँग-माँग कर खाने तथा पेट भर-भर कर खाने की निंदा की है और बताया है कि ऐसे लोगों की बार-बार मृत्यु होती है। मद्य-मांस में जिनका चित्त लगा रहता है, वे कभी ज्ञान की बात कर ही नहीं सकते। उनका स्कंधविनाश निश्चित है। इन सबका त्याग करने के साथ ही वे खीर, खाँड़, घृत तथा अन्य भोगपरक भोज्य पदार्थों के भी त्याग का उपदेश देते हैं। इनका त्याग होने पर ही आत्मरक्षा तथा योगसाधन संभव है। भरथरी की दृष्टि में पेट भर-भर कर भोजन करना बड़े ही निकृष्ट कोटि का कार्य है। दत्तात्रेय ने अल्पाहार और उच्च विचार को ही योगी के लिये आवश्यक माना है।[३] इसी प्रकार जलंधरनाथ ने भी संयत आहार को महत्व दिया है क्योंकि इससे काम शरीर में व्याप्त नहीं होता। जिह्वास्वाद के लिये भोजन वे अनुचित ठहराते हैं। किन्तु कठिनाई यह है कि यदि थोड़ा भोजन करें तो मानसिक असंतोष और कष्ट होता है। यदि अत्याहार करे तो रोग उत्पन्न होता है। दोनों ही प्रकार से कष्ट है। अतएव जलंधरनाथ दोनों पक्षों की संधि का विचार करने को कहते हैं। जो इस प्रकार आहार

[१] गो० बा०, ८.२०, १०२.३०, १२.३२, १३.३३, १४.३६, १५.३९-४०, ३०.८४।

[२] गो० बा०, ३८.१०९, ५१.१४६, ५६.१६४-१६५।

[३] सि० सि० प० अ० व०, ८२. ४, ८६. ५४, ८४. ३०; ना० सि० बा०, १०४. ६२९, ६१. ४००।

करता है वही योगी हो सकता है।[१] वामाचारी तांत्रिकों के वीराचार में मद्य-मांस का यथार्थ रूप में ग्रहण है किन्तु शैव नाथयोगी अपने साधन में इनका स्पष्टतया निषेध करते हैं तथा साथ ही तांत्रिकों के दिव्याचार में गृहीत पंचमकार के अन्तस्साधनात्मक अर्थों का ये विधान करते हैं। केवल उसी को ये ग्राह्य मानते हैं।

यम का अन्तिम अंग शौच है जिसका अर्थ शारीरिक और मानसिक शुचिता है। यों सामान्यतया शरीर के विभिन्न अंगों का प्रक्षालन तथा शोधन, शुद्ध जल से स्नान, शुद्ध जल-पान, शुद्ध वायु का ग्रहण, शुद्ध पदार्थों का ग्रहण, सत्संग में निवास, स्वास्थ्य के नियमों के पालन आदि को शारीरिक शौच में गिना जाता है तथा शुद्ध विचार, शुद्ध इच्छा आदि को मन के शोधन के लिये ग्रहण किया जाता है। किन्तु नाथसिद्धों ने इन बाह्य एवं शारीरिक शौच-साधनों को महत्व नहीं दिया है। यद्यपि गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह ने शौच के लिये अपनी आचारविधि बतलायी है तथापि उसमें भी केवल बाह्य कृच्छ्राचार का विरोध है। सांसारिक लोगों में आचार की बड़ी धूम है, किंतु वे चमड़े का जूता पहनाते हैं, स्त्रीसंग करते हैं, सूर्यादि ग्रहण के समय मृत्तिकापात्रों का तो त्याग कर देते हैं किन्तु धान्य-घृतादि वस्तुओं का त्याग नहीं करते। इसलिये ऐसा प्रतीत होता है कि इन लोगों का आचार एक कल्पना है। अतः आचार प्रधान नहीं है, विचार प्रधान है। नाथपंथियों को भी आचार ग्राह्य हैं किन्तु विचारपूर्वक, क्योंकि नाथों में तत्वविचार मुख्य है। उनके यहाँ भी व्यवहार सर्वथा त्याज्य नहीं है। वे शौचादि क्रिया, स्नान, पूजा गुरुस्मरण आदि को मानते हैं किंतु वृथा के आचारों में वे समय का व्यय अनुचित समझते हैं। इन शौचकार्यों में भी वे केवल उन्हीं क्रियाओं को स्वीकर करते हैं जिनसे मुख्य लक्ष्य की हानि न हो तथा खेद से प्राणहरण न हो, क्योंकि प्राणरक्षा के बिना मन स्थिर नहीं रहता और उसके बिना काल से मोक्ष नहीं होता। अतः नाथसिद्ध विचारपूर्वक केवल योगानुकूल आचारों को स्वीकार करते हैं। गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह निरर्थक योगविरुद्ध आचारों को अत्याचार कहता है।[२] भरथरी ने शारीरिक और मानसिक, दोनों प्रकार की शुचिता को ध्यान में रखकर योगविरुद्ध अशुचि की ओर संकेत कर कहा है, जैसा गो० सि० सं० में कहा गया है, कि जिस व्यक्ति के चित्त में मादकता प्रदान करने-

---

[१] ना० सिं० बा०, ५२. ३५७–३५८।

[२] गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह, पृ० ६०-६१, पृ० ६०।

वाली कामिनी चढ़ी रहती है, सुरा, विषय, शय्या और मन्मथ सदैव पास में बने रहते हैं, जो वीर्यपात कर ब्रह्महत्या का भागी होता है, वह दुराचारी है। भला उस व्यक्ति में शुचिता कहाँ रह सकती है।[१] इससे स्पष्ट है कि नाथ लोग सबसे अधिक विंदुगत और मनोगत शुचिता को महत्व देते हैं जिसके लिये वे प्राणायाम, संयम, ब्रह्मचर्य एवं विंदुरक्षा का विधान करते हैं। यदि संयम रखा जाय, ब्रह्मचर्य रखा जाय, विंदुरक्षा की जाय तो शारीरिक, मानसिक दोनों प्रकार की शुचिता रह सकती है।

८—नियम

इसी प्रकार यम की तरह, हठयोगप्रदीपिका के प्रक्षिप्त श्लोकों में, जो मूलतः शारदातिलक के श्लोक हैं, नियम के अन्तर्गत तप, संतोष, आस्तिक्य, दान, ईश्वरपूजा, सिद्धान्तवाक्यश्रवण, ह्री, मति, तप और होम की गणना की गई है। इनमें से अधिकांश का परिचय नाथवाणियों में नहीं मिलता। इन अंगों में भी तप, आस्तिक्य, होम आदि विवादस्पद हैं तथा उनके सामान्यतया गृहीत रूपों को नाथसिद्ध स्वीकार नहीं करते। यहाँ क्रम से विचार किया जा रहा है।

तप में मन और शरीर को इस प्रकार सिद्ध किया जाता है कि किसी ऋतु-परिवर्तन या स्थूल वातावरण के परिवर्तन का उसके ऊपर कोई प्रभाव न पड़े। उसमें ऐसा अभ्यास किया जाता है कि जिससे नग्न शरीर प्रसन्नतापूर्वक शीत, ताप और वर्षा को सह सके। उपवास या अन्य भोजन संबंधी कष्टों से भी वह पीड़ित न हो। इसमें शरीर, मन, इन्द्रियों, विलासभोग की वासनाओं को जीतने का प्रयत्न किया जाता है। इस प्रकार संपूर्ण जीवन ही नये सिरे से व्यवस्थित और नियंत्रित किया जाता है। किन्तु नाथपंथी लोगों में अन्तस्साधना प्रधान है। पहले ही बताया जा चुका है कि आहारादि के संबंध में नाथयोगी मध्यममार्ग का अनुसरण करते हैं। गोरख की दृष्टि में तप से, जिसमें सामान्यतया शरीर को कष्ट देकर उसे जीतने का भाव प्रधान रूप से माना जाता है, कोई शूर नहीं हो सकता, न शरीर और मन को जीत सकता है।[२] शरीर और मन को साधने के लिये लोग पावड़ी पहनते हैं किन्तु ऐसे ही लोग फिसल कर गिरते भी हैं। लोहे की शृंखलाओं से शरीर को जकड़ते हैं, उनका शरीर क्षीण होता है। वस्तुतः उसी प्रकार, नग्न रहने वाले नागा, मौन रहने वाले मौनी या केवल दूध के आधार पर रहने वाले दूधाधारी लोग

---

[१] ना० सि० बा०, १०३. ६२६। [२] गो० बा०, ११५. २।

योग नहीं प्राप्त कर सकते। दूधाधारी का चित्त शांत नहीं रहता। दूसरों के घर में उसका चित्त लगा रहता है। उसी प्रकार बिना लकड़ी के नागा नहीं रह सकता। उसको नित्य ही लकड़ी चाहिए। मौनी को मित्र की आशा लगी रहती है।[1] इस प्रकार ये सभी लोग कृच्छ्राचार से शरीर को साधना चाहते हैं। ये सभी योगसिद्धि प्राप्त करने में असफल रहते हैं। कष्टपूर्ण साधन से इन्द्रियों का संयम करने वाले सभी इसी प्रकार धोखे में रहते हैं। वस्तुतः ऐसे लोगों की साधन-संपत्ति को लूटनेवाला कोई अन्य (माया) होता है और वे अज्ञान में पड़कर इंन्द्रियों को कस कर उन्हें दंड देते हैं। वे सभी धोखे में रहते हैं। तन-मन के रहस्यों का उन्हें तनिक भी पता नहीं रहता। माया में पड़कर वे सभी अपनी सुरति को नष्ट कर देते हैं।[2] उनकी सारी तप की क्रियायें केवल कष्टसाधन या आडंबर के रूप में रह जाती हैं। इसलिये गोरख ने बड़े विस्तार से मन और शरीर की रक्षा या अपरिवर्तनशीलता के लिये अपने योगानुकूल संयम का विवेचन किया है।

ऊपर यम के अन्तर्गत जितने विचार व्यक्त किये गये हैं उनमें यह स्पष्ट संकेत किया गया है कि शरीर को कष्ट देना वे बिल्कुल अनुचित समझते हैं। ऊपर यह भी बताया गया है कि सरल जीवन, निरावरण मन और व्यवहार को वे आवश्यक मानते हैं। उस रहनी या करनी के विषय में उन्होंने और जो कुछ बतलाया है, वह यहाँ तप के अन्तर्गत वर्णित किया जा रहा है क्योंकि उनके अनुसार तप किसी विशेष आध्यात्मिक लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये मन और शरीर को अतिवादी ढंग से कष्ट देना है। सामान्य जीवन में भी विचारपूर्वक संयम रखने से और योगसाधन करने से मन और शरीर की सिद्धि को स्वीकार किया गया है। इस प्रकार की सहज सरल रहनी के विषय में वे कहते हैं कि सामान्य जीवन की तरह हँसना-खेलना चाहिए और प्रसन्न रहना चाहिए, किंतु काम-क्रोध का त्याग करना चाहिए। संसार में रहकर इन सभी प्रकार की क्रियाओं को करते हुए भी अपने चित्ता को चंचल नहीं होने देना चाहिए। इस प्रकार संसार में रहकर अचंचल चित्ता होकर परमतत्व का ध्यान करना चाहिए, ब्रह्मज्ञान की चर्चा में सदैव ही इस तरह से रहना चाहिए जैसे वही रहनी ही हो जाय। किंतु सर्वप्रमुख बात मन की अचंचलता है। मन की अचंचलता

---

[1] गो० बा०, १५. ३९-४०।

[2] गो० बा०, २०९. ९।

के लिये, धन और यौवन की आशा छोड़कर, राग छोड़कर, उनसे निराश रहना चाहिए।[१] इस संयम के लिये किसी कृच्छ्राचार की आवश्यकता नहीं है। आचानक फट से हड़बड़ा कर नहीं बोल पड़ना चाहिए, जोर-जोर से धबक-धबक कर नहीं चलना चाहिए। धीरे-धीरे शांत भाव से चलना चाहिए। गर्वत्याग करना चाहिए। इस प्रकार सहज भाव से रहना चाहिए।[२] इन सबको करते हुए भी मन और शरीर स्वस्थ, शुद्ध और स्थिर नहीं रहते क्योंकि मन और काया की सिद्धि के लिये जब बन में जाते हैं तो क्षुधा पीड़ित करती है, नगर में जाते हैं तो विभिन्न प्रकार की माया सताती है, यदि भर पेट भोजन करते हैं तो विन्दु पीड़ित करता है। अतः ऐसी हालत में, गोरख का उपदेश है कि सूने जंगलों में जाने की कोई आवश्यकता नहीं, वहाँ मार्ग भूल जाने से कोई बटमार मार डालेगा। वे एकांतवास चाहते हैं किन्तु वह एकान्त ऐसा हो जिससे शरीर सुरक्षित रहे तथा जिससे नादानुसंधान आदि साधन निर्विघ्न-भाव से हो सकें।[३]

हँसना, बोलना, खेलना सब कुछ संयत हो तभी उचित है। यदि इनका अवरोध इस प्रकार से हो कि ये शरीर के लिये, साधक के लिये कष्टकर हो जायँ तो इनका त्याग कर देना चाहिए। शरीर को साधने के लिये लोग पंचाग्निसाधन करते हैं या शरीर को गर्म रखने के लिये अग्नि का सेवन करते हैं। यह सब निरर्थक है। इससे शरीर को कष्ट मिलता है, अतः पिंडगत पवन से पिंडस्थ ब्रह्माग्नि का प्रज्वलन करना चाहिए। मन और शरीर की सिद्धि के लिये तीर्थयात्रा निरर्थक है क्योंकि उससे शरीर क्षीण होता है, विचलित होता है। फलस्वरूप ध्यान छूट जाता है। इनको त्याग

---

[१] गो० बा०, ३. ७, ४. ८, ७. १६, ७. १९।

[२] गो० बा०, ११. २७।

[३] गो० बा०, १२. ३०, ५२. १५०, ६२. १८४। इसी प्रकार के विचार हठयोगप्रदीपिका, घेरंडसंहिता आदि में व्यक्त किये गये हैं जिनके अनुसार साधन के उपयुक्त स्थान वे ही हैं जो न नगर हैं, न बन हैं न गाँव हैं, अपितु अपनी साधना के अनुकूल हैं—हठयोगप्रदीपिका १. १२–१४। घेरंड संहिता में दूर देश, अरण्य, राजधानी, जनान्तिक आदि का निषेध किया गया है। निरूपद्रव और निश्चित स्थान सर्वोत्तम बतलाया गया है, वह अरण्य, बन, ग्राम कहीं भी हो सकता है। घेरंड संहिता, पृ० ६०, उपदेश ५, श्लोक ३–७।

कर जल, अन्न, पवन और विन्दु का संयम करना चाहिए।[1] आशा, तृष्णा इच्छा, लोभ, मोह, माया का त्याग कर मन वशीभूत हो जाता है। नाथों की अग्नि अन्य प्रकार के साधकों की अग्नि से भिन्न है। यह ऐसी अग्नि है जो दिखाई नहीं देती। तीर्थयात्रा और व्रतों से प्राण ओर शरीर क्षीण होते हैं। अतः ये उन्हें स्वीकार्य नहीं। घरबारी होकर यदि शरीर नष्ट करना है तो यह भी उन्हें स्वीकार्य नहीं है। घरवासी गृही व्यक्ति यदि अपने पिंड का पूर्ण ज्ञान रखता हो ओर विन्दु की पूरी रक्षा करता हो, मायापाश का निकृन्तन करता हो तो वह श्रेष्ठ है। यदि गृही अपने शरीर को बाँधता हो, भीतर की मानसिक माया का त्याग करता हो, सहज शीलमय जीवन व्यतीत करता हो तो वह व्यक्ति गंगा के जल के समान पवित्र है। यदि घरबारी और गृही संयम रखते हैं तो इनमें और योगी में कोई भेद नहीं है क्योंकि जप-तप का सार संयम है।[2] अन्य नाथसिद्धों में से चरपटनाथ उस तापस या तपसी को तप करनेवाला नहीं मानते जो कहने के लिये तो सिद्ध कहा जाता है किन्तु स्त्रीसंग का त्याग नहीं कर पाता। परिणामस्वरूप उसका मुख काला तथा पैर पीले हो जाते हैं, शरीर क्षीण हो जाता है। भोग करनेवाले ऐसे लोग जब ध्यान करते हैं तब भला ऐसे तापस में, ज्ञान का उदय कैसे हो सकता है? ऐसे आडंबरों में फँसे लोग इच्छानुकूल चाहे जप करें या तप, चाहे कोटि तीर्थों की यात्रा करें, वे लोग जैसे जीवित रहते को सती नहीं हो सकता, उसी प्रकार बिना योगयुक्ति के वे परमपद की प्राप्ति नहीं कर सकते।[3] इस प्रकार नाथों का तप कृच्छ्राचारविरोधी तथा सहज रहनी और करनी का समर्थक है। उसमें बन में पलायन नहीं है और न चंचलता है। वे संयम के विषय में अतिवादी नहीं हैं। आहार और आचार में गंभीरता और संयम, ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन, प्राण, मन और विन्दु का साधन उनको स्वीकार्य है किन्तु इसके लिये किसी भी कष्टसाधन को वे स्वीकार नहीं करते। स्पष्ट ही उनके तप का मूल तत्व सभी प्रकार का योगानुकूल संयम है।

नियम में दूसरा स्थान संतोष का है। योगसाधन में जो स्थान और महत्व आसन का है, वही स्थान योग में संतोष को प्राप्त है। उसी के बाद

---

[1] गो० बा०, १७. ४७, ४३. १२३, ५५. १६२।

[2] गो० बा०, ८७. टेक, १४. ४६, ८. २२, ६४. १९१, १६. ४४, १७. ४५, पृ० ७८।

[3] सि० सि० प० अ० व०, ८३. १९; ना० सि० बा०, २८. १६४, ८०-८१. ५१५।

साधना आगे चलती है। संतोष ज्ञानदीप में वर्तिकास्थानीय है। नाथसिद्ध तो एक कुटिया तक बनाकर उसे अपने अधिकार में रखना नहीं चाहते। कनक और कामिनी दोनों का त्याग कर देने पर जीवन चलाने तथा साधना चलाने के लिये जो कुछ भी निश्चित भाव से मिल जाता है, वही ग्राह्य है। किसी के लिये चिंता नहीं, इच्छा नहीं। पहले ही बतला चुके हैं कि वे धन और स्त्री दोनों से दूर रहना चाहते हैं। 'निरास' और 'उदास' रहना वे अच्छा समझते हैं। उन्हें कीर्ति, सत्कार, सम्मान, भिक्षा, भोजन, किसी की आशा नहीं है। राव-रंक किसी से भी वे कुछ आशा नहीं रखते। वे सबसे उदास हैं। अपने ज्ञान को सभा में प्रकाशित करने की उन्हें इच्छा नहीं है। इसके लिये वे अज्ञानी और गूँगे हैं। भरथरी ने तत्वज्ञान के सात अंगों में संतोष को चौथा स्थान दिया है।[१]

तीसरा तत्व अधिक विवादास्पद है क्योंकि स्वयं 'आस्तिक' शब्द पर ही विवाद है। शब्द जो विचारणीय है वह नास्तिक है। ये दोनों शब्द परस्पर संबद्ध है। सामान्यतया आस्तिक के तीन अर्थ मिलते हैं–(१) मृत्यूपरान्त जीवन में विश्वास करनेवाला, (२) ईश्वर में विश्वास करनेवाला, (३) वेदप्रामाण्य में विश्वास करनेवाला। इनमें अन्तिम अर्थ भारतीय दर्शन के क्षेत्र में गृहीत है। मनुस्मृति में कुल्लूक भट्ट के अनुसार वेदनिन्दक नास्तिक हैं। अंतिम अर्थ शेष दो अर्थों से किसी न किसी प्रकार संबद्ध भी किया जा सकता है। कर्मवाद और वेद के अपौरुषेयत्व अथवा उसकी अलौकिक रचना और प्रामाणिकता परस्पर सम्बद्ध और सापेक्ष हैं। सामान्य लोग दूसरे अर्थ को ही ग्रहण करते हैं। तथा कुछ लोग केवल प्रथम अर्थ के बल पर बौद्धों को भी आस्तिक सिद्ध करते हैं।[२] यहाँ इन तीन अर्थों के आधार पर नाथसिद्धों की आस्तिकता पर विचार किया गया है क्योंकि नियम के अन्तर्गत विवेचित होने वाले अन्य अंगों का भी इससे घनिष्ठ संबन्ध है। नाथसिद्ध सामान्य जन के लिये यद्यपि मृत्यूपरान्त जीवन या कर्मवाद को स्वीकार करते हैं तथापि उनका कहना है कि नाथसिद्ध कर्मों, उनके संस्कारों, बीजों को दग्ध कर देता है। जैसा ऊपर के विवेचन में कई बार कहा गया है, नाथों के

---

[१] गो० बा०, १९७. ८६, २०१. ११६, ४४. १२६, १७२. ११; ना० सि० बा०, ९७. ५९२।

[२] दे० आउटलाइन्स आव हिन्दूइज्म–डा०टी०एम०पी० महादेवन, पृ० ९९। बौद्ध धर्म दर्शन, आचार्य नरेन्द्रदेव, पृ० २-३, ४-७।

विचार में जो कुकर्म करते हैं, वासनाग्रस्त रहते हैं, वे मरते समय भी जिन जिन वस्तुओं की जैसी भावना करते हैं, तद्नुकूल ही वे पुनर्जन्म भी धारण करते हैं अथवा नरक में जाते हैं। किन्तु नाथसिद्ध अवधूत कर्म के सभी प्रकार के रूपों को नष्ट कर निर्बन्ध हो जाता है। गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह के अनुसार यह शरीर कर्मरचित है। सभी कर्म त्रिगुणयुक्त हैं। गुण माया से उत्पन्न हैं। इस प्रकार प्राणी के जो प्रारब्ध कर्म हैं वे सभी मायाभिमत हैं। माया और गुण अभिमानयुक्त हैं जिससे ब्रह्मतत्व सर्वथा पृथक है। अतः वह ब्रह्मतत्व की उपलब्धि में बाधक ही है। इसलिये अवधूतों का काम है प्रारब्ध कर्म का निर्मूलीकरण।[१] संचित, प्रारब्ध और आगामि कर्म परस्पर संबद्ध हैं। आगामि का आधार प्रारब्ध है। अतः यदि अवधूत प्रारब्ध को निर्मूल कर देता है तो आगामि का उसे कोई भय नहीं रहता। दूसरे, योग के साधन में संचित कर्म के परिवर्तन की बात मानसकायपरिवर्तन के पिछले वर्णनों में कई बार कही जा चुकी है। किन्तु इतना निश्चित है कि नाथसिद्ध कर्मवाद तथा तत्परिणति जन्मान्तरवाद को मानते हैं अन्यथा उनका प्रारब्ध-कर्म-निर्मूलीकरण का सिद्धान्त असिद्ध हो जाता है। गोरख ने प्राण-संकली में कहा है कि पाप और पुण्य का निवास कर्म में है। अतः यदि इनसे मोक्ष और मुक्ति की इच्छा है तो परमतत्वसाधन से ही साध्य है। पहले ही बताया गया है कि नाथसिद्ध जीवन्मुक्ति और इच्छामृत्यु को साध्य मानते हैं। स्वर्ग और नरक की कल्पना भी मिलती है। स्वर्ग नाथसिद्धों का यहीं, इसी पृथ्वी पर और इसी सिद्ध जीवन में है। उनका केदार या सहस्रार को प्राप्त करना ही स्वर्ग प्राप्त करना है। वे किसी पौराणिक स्वर्गजाल में नहीं पड़ते। भोग करनेवाला, अनुचित स्त्री में या विधवा नारी से भोग करनेवाला व्यक्ति नरक में जाता ही है, इसमें कोई संदेह ही नहीं।[२]

दूसरा अर्थ ईश्वर में विश्वास है। ईश्वर तत्व से एक ऐसे तत्व का बोध होता है जो सर्वव्यापक है, सर्वातीत है, सबका मूलाधार है, सभी, प्राणियों का आधार और स्रोत है। उसे विश्व का कारण माना गया है। उसी में विश्व का उदय, उसी से स्थिति और उसी में संहार होता है। उसके अतिरिक्त और कोई नहीं है। वह एकमेव अद्वितीय है। वह निमित्त और उपादान कारण दोनों स्वयं है। रूढ़ि के अनुसार लोग उसे पिता कहते हैं और उसी

---

[१] गो० सि० सं०, पृ० १५।

[२] गो० बा०, १६४.२७, १५१-१५२. पद ५५।

प्रकार उसे माता भी कहते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् से इसकी पुष्टि होती है। उसी एक ईश्वर ने इन अनेक दृश्यमान रूपों को धारण किया है। इस प्रकार का ईश्वर ही सगुण ब्रह्म है जिसे लोग अंग्रेजी में 'पर्सनल गाड' कह दिया करते हैं, क्योंकि व्यक्ति अपनी ओर से इसमें गुणों का आरोप करता है। यहाँ साधक या व्यक्ति की वैयक्तिक विशिष्ट भावना प्रमुख है। किन्तु ब्रह्म को ही लोग 'इम्पर्सनल ऐब्सोल्यूट' या निर्वैयक्तिक 'ब्रह्म' या परमतत्व, पूर्ण ब्रह्म कहते हैं क्योंकि यह तत्व व्यक्ति की किसी भावना, कल्पना, विचार, तर्क आदि की सीमा में नहीं आता। वह नेति-नेति से ही जाना जा सकता है। यह सत्य है कि ब्रह्म निर्गुण और निर्विशेष है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह स्वरूपरहित है। उपनिषद् उसे सत्, चित्, आनंद कहते हैं उसे 'तत्वमसि' कहते हैं।[1] नाथपंथी संस्कृत रचनाओं में नियम के अंतर्गत एकान्तवास, निःसंगता औदासीन्य, यथाप्राप्तिसंतुष्टि तथा गुरुचरणावरूढत्व की गणना की गई है। 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' के यम-नियम में ईश्वर से संबद्ध कोई भी तत्व नहीं रखा गया है क्योंकि जहाँ यम को शरीर का यमन मानते हैं वहाँ नियम को वे मनोवृत्तियों का नियमन मानते हैं जिसमें ईश्वरविश्वास का कोई भी विचार वे नहीं करते।[2] 'हठयोगप्रदीपिका' के प्रक्षिप्त श्लोकों में आस्तिक्य को स्थान पातंजल योग के नियम के प्रणिधान के अनुसार दिया गया है। ईश्वरप्रणिधान का विस्तृत विचार हम पहले ही भक्ति के प्रसंग में कर चुके हैं। किन्तु पातंजल योग का ईश्वर वेदान्तगत ईश्वर या सगुण ब्रह्म से भिन्न है। उस पातंजल ईश्वर का विस्तृत विवेचन हम पहले कर चुके हैं जिसका सृष्टिप्रक्रिया से कोई संबंध नहीं है या वेदान्तगत ईश्वर से कोई उसकी समानता नहीं। यहाँ 'ईश्वर में विश्वास' सम्बन्धी विचार का सविस्तर वर्णन इसलिये किया जा रहा है कि नाथमत पर विचार करनेवाले कुछ हिन्दी के विद्वानों ने कहा है कि—'गोरख ने पतंजलि के उच्च लक्ष्य, ईश्वरप्राप्ति को लेकर हठयोग का प्रवर्तन किया।'[3] हम पहले ही संस्कृत और हिन्दी रचनाओं के आधार पर यह बतला चुके हैं कि नाथों का परम तत्व 'नाथ' द्वैताद्वैतविलक्षण, सदसदनिर्वचनीय है जिसकी कोई तुलना न तो पातंजल ईश्वर से की जा सकती है और न तो वेदान्तिक ब्रह्म से ही, क्योंकि वह नाथ द्वैताद्वैतपरवर्ती है। हिन्दी रचनाओं में

---

[1] आउटलाइन्स आव हिन्दुइज्म, पृ० २३, १४८-१४९।

[2] सि० सि० प०, पृ० १३, २.३३, २.३२-३३।

[3] हिन्दी सा० का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १३।

प्रायः ब्रह्म शब्द का प्रयोग नाथपद के लिये ही किया गया है। उसके लिये कहा गया है कि वह आदि-अंतहीन है। उसकी सत्ता के लिये किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता नहीं। वह स्वयं किसी कार्य का कारण नहीं है। फिर भी उसकी सत्ता है। वह स्वसंवेद्य है, स्वयंप्रकाश है। वह पूर्ण ब्रह्म है, पृथ्वी का पुरुष है। गोरख कहते हैं—'तेरी सूरत ही संसार की ये मूर्तियाँ हैं। तूने ही सारे संसार को बनाया है फिर भी तेरी रचना किसी ने नहीं की। तू वह तत्व नहीं जो अवतार लेता है। ऐसे ब्रह्म का रूप अचिंत्य है।' किन्तु ईश्वर के विषय में उनका मत उस पातंजल योग एवं अद्वैतवेदान्त के ईश्वर से पूर्णतया भिन्न है। गोरख ने बताया है कि ईश्वर माया और काम से ग्रस्त एवं पीड़ित तत्व है, संसार के प्रपंचों में निरत है।[1] इसलिये हमारे पास कोई ऐसा आधार नहीं है कि जिससे हम गोरक्ष आदि को पातंजल ईश्वर में विश्वास करने-वाला मान लें। दूसरे, यदि ईश्वर का अर्थ जैसा पहले बतलाया गया है, सृष्टि का कर्ता, पालक, हर्ता, कारण, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, एक, अद्वितीय आदि है तो उसे भी वे स्वीकार नहीं करते। यदि ईश्वर का अर्थ परमतत्व लें तो उसे केवल वे द्वैताद्वैतविवर्जित उस नाथ पद के रूप में ही स्वीकार करने को तैयार हैं, जिसका परिचय दिया गया है। इस दृष्टि से हम नाथयोगियों को आस्तिक मान सकते हैं।

आस्तिक के तीसरे अर्थ के अनुसार केवल वही संप्रदाय या व्यक्ति आस्तिक हो सकता है जो वेदनिंदक न हो या वेदप्रामाण्य में विश्वास करता हो। जैसा पहले बतलाया गया है, गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह के अनुसार सृष्टि दो प्रकार की है—नादरूपा और विन्दुरूपा। नादरूपा सृष्टि में योगशास्त्र है तथा विन्दु-रुपा सृष्टि में वेदादि हैं। नादरूपा सृष्टि सूक्ष्मा सृष्टि है और दूसरी विंदुरूपा सृष्टि स्थूला सृष्टि है। दूसरे शब्दों में योगशास्त्र, जिसे नाथमत स्वीकार करता है, पारमार्थिकी विद्या है और वेद विद्या व्यावहारिकी विद्या है। नाथ-मत परमार्थ को महत्व देता है, व्यवहार को नहीं। नाथमत नादपरंपरा में आनेवाले तत्वों को स्वीकार करता है। योगशास्त्र में प्रणव विद्या मुख्य है। योगमत केवल इस मूल तत्व प्रणव को स्वीकार करता है।[2] वेद का पूर्व भाग नाथयोगियों की दृष्टि में विभिन्न वर्णों के लिये है तथा उत्तर भाग या वेदान्त भाग भिक्षुओं के लिये है। किन्तु इन दोनों से जो विलक्षण भाग है वह अव-

---

[1] गो० बा०, १०८-१०९. टेक-५, १५४. टेक-४, २०२.१२४; ६७.१९९।

[2] गो० सि० सं०, पृ० ७२-७३।

धूतों के लिये या नाथयोगियों के लिये है। इसी प्रकार वेदान्त भाग में योग ही तात्पर्य है। पूर्व भाग की अपेक्षा उत्तार भाग ही अधिक मुख्य होता है। वेदान्त भाग मुख्य है तथा उसका तात्पर्य योग ही मुख्य है। इस प्रकार नाथ-पंथियों को, संस्कृत रचनाओं के आधार पर कहा जा सकता है वेद का पूर्व भाग का जो तात्पर्य ज्ञान है, केवल वही स्वीकार्य है तथा उसी प्रकार वेदान्त का तात्पर्य योग भी उनको स्वीकार्य है। मुख्यतः उन्हें वेदान्त भाग (उपनिषद्) और उसका तात्पर्य योग ही ग्राह्य है। इसकी पुष्टि इससे होती है कि गोरक्ष-सिद्धान्तसंग्रह तथा अन्य नाथपंथी संस्कृत ग्रंथों ने उपनिषदों को पुष्कल मात्रा में प्रमाण रूप में उद्धृत किया है। इस दृष्टि से भी वे आस्तिक कहे जा सकते हैं यद्यपि वे वैदिक कर्मकांड को स्वीकार नहीं करते। नाथसिद्धों की हिन्दी रचनाओं में भी इसी प्रकार के विचार मिलते हैं। गोरख मानते हैं कि वेदों में परमतत्व का निर्वचन नहीं किया जा सका है; क्योंकि वेद स्थूल हैं, वे मूल तत्व का अनुभव नहीं कर सकते। दूसरे, उसको केवल योगी ही जान सकता है। शेष वेदादि प्रपंच ही फैलाते हैं। वेद तो कुरानादि की तरह भ्रांत करनेवाले हैं।[1] तीनों अर्थों पर विचार कर इतना स्पष्टतया कहा जा सकता है कि नाथसिद्ध कर्मवाद, ईश्वरवाद और वेदप्रामाण्य को उसी रूप में स्वीकार नहीं करते जिस रूप में अन्य मतवाद, जैसे पातंजल, उत्तार मीमांसा, पूर्वमीमांसा आदि, स्वीकार करते हैं। कर्मवाद को वे मानते हैं। एक निर्गुण-सगुणातीत द्वैताद्वैतपरवर्ती नाथपद तथा उपनिषद्प्रामाण्य या वेदान्तप्रामाण्य को वे स्वीकार करते हैं। केवल इन्हीं आधारों पर उन्हें आस्तिक कहा जा सकता है।

नियम के अन्तर्गत चौथा तत्व दान है। इसके अन्तर्गत औदार्य, हृदय-विस्तार, दूसरों के साथ एकात्मभाव के ग्रहण की गणना की जा सकती है। इन भावों का क्रियान्वय उचित पात्रों को अपने द्वारा अर्जित और अविकृत वस्तुओं को, सहानुभूति तथा विनम्रता के साथ, देने से होता है। यह दान वस्तुतः त्याग और संन्यास के अभ्यास का व्यावहारिक मार्ग है जिससे मन सभी प्रकार के रागों से मुक्त हो जाता है। ये राग साधनमार्ग में बहुत बड़े अवरोध हैं। गोरखबानी में दया और दान को योग का मूल कहा गया है। यदि केवल दयाभाव हो तो व्यावहारिकता नहीं आ सकती। यह रहनी की बात नहीं हो सकती। भाव को व्यवहार में परिवर्तित करना ही

---

[1] गो० सि० सं०, पृ० २८; गो० बा०, ३.६, ३३.९६।

चाहिए। यदि नाथसिद्धों का लक्ष्य जीवन्मुक्ति या पिंडपद का परमपद में समरसीकरण है तो इस मार्ग में, जैसा पातंजल योग में स्वीकार किया गया है, अनेक प्रकार की सिद्धियाँ भी मिलती हैं जिनसे लोककल्याण हो सकता है। जीवन्मुक्ति की अवस्था में विभिन्न सिद्धियों के प्राप्त होते हुए भी यदि दान की भावना न हो तो ऐसा व्यक्ति सिद्ध नहीं हो सकता। उसकी जीवन्मुक्ति निरर्थक है। दूसरी बात यह है कि जीवन्मुक्ति के लिये काय-सिद्धि अनिवार्य है जिससे सिद्ध अपनी इच्छा पर्यन्त जीवित रह कर लोक-कल्याणसाधन करता है। यह कल्याणसाधन दया की प्रेरणा तथा दानेच्छा और दानक्रिया से होता है। यदि दान की भावना और क्रिया न होती तो कोई भी अवधूत गुरुपद को प्राप्त नहीं कर पाता न लोक-कल्याण-साधन ही होता और न किसी मत, साधन या संप्रदाय की कोई परंपरा ही चलती। यही सोच समझकर गोरख ने दया और दान को योग का मूल कहा है।[1]

पाँचवा तत्व ईश्वरपूजा है। ईश्वर की कल्पना के संबंध में हम पहले ही नाथसिद्धों का मत प्रकाशित कर चुके हैं। जहाँ तक पूजा का, परब्रह्म या परमतत्व की पूजा का प्रश्न है, नाथसिद्ध उस रूप में उसे स्वीकार नहीं करते जिस रूप में अन्य संप्रदाय उसे स्वीकार कर स्थूल और बाह्य सामग्रियों का विधान करते हैं। संस्कृत ग्रंथों के अनुसार नाथसिद्धों का उपास्य नाथ है। यह बताया गया है कि नाथ निर्नाम, अरूप, निर्गुण-सगुण से परे तथा द्वैत-अद्वैत से अतीत है। स्पष्ट है, ऐसे तत्व की केवल भावोपासना हो सकती है। इसलिये गोरख के अनुसार योग के अन्तर्गत पूजा-पाटी, जाप आदि को बाह्य साधनों के द्वारा करना अपने आप की हँसी उड़ाना है। यह सब वैद्यक, वाणिज्य और व्यापार हैं, आध्यात्मिक साधन नहीं। किसी धार्मिक ग्रंथ का पाठ तथा उसका गायन ये दोनों ही लोकाचार हैं, पारमार्थिक आचार नहीं। वस्तुतः वह परब्रह्म या परमतत्व न तो शून्य है, न स्थूल, न लिंगरूप। अतः उसकी पूजा नहीं होती। इसीलिये मत्स्येन्द्र ने अपनी संस्कृत रचना में उसकी मानसिक पूजा या भावपूजा का विधान किया है। यह पिंडगत आन्तरिक आध्यात्मिक सामग्री से पूजन है। मत्स्येन्द्र भक्तिपूर्वक चिद्रूप ईश्वर को चन्द्रामृत से स्नान कराने को कहते हैं तथा मनपुष्प समर्पित करके परमशिव की अर्चना करने का विधान करते हैं।[2]

---

[1] गो० बा०, १२६. ४. ३२।

[2] गो० बा०, १७१.९, १०९.३; सि० सि० प० अ० व०, ४७.२६।

छठाँ तत्व सिद्धांतवाक्यश्रवण है। इसके अन्तर्गत योगशास्त्र, सिद्धों के विचार, सिद्धों द्वारा निर्णीत सिद्धांतों का श्रवण गृहीत है। गोरक्षसिद्धांत-संग्रह में सिद्धों द्वारा निर्णीत विचारों को ही सिद्धांत कहा गया है। नाथ लोग सभी सिद्धांतों को सिद्धांत नहीं मानते। सिद्ध अवधूत गुरु से प्राप्त सिद्धों के सिद्धांतों एवं योगशास्त्र का श्रवण ही विहित माना गया है। जैसा पहले कहा गया है, नाथसिद्ध केवल गुरुमुख से सब कुछ ग्रहण करते हैं तथा उसे प्रमाण मानते हैं क्योंकि गुरुमुख से सुने हुए सिद्धांत अनुभवसिद्ध होते हैं। वही पिंड और ब्रह्मांड, षोडशाधार, व्योमपंचक, नौ चक्र आदि का प्रारम्भिक ज्ञान देता है। वे ही योगी के लिये अत्यावश्यक हैं। पहले यह भी कहा गया है कि योग क्रियाप्रधान शास्त्र है। इसके लिये शास्त्राध्ययन और पाठ अनिवार्य नहीं हैं। वे पोथी के कोरे पाठ को आडम्बर समझते हैं। इसीलिये वे पंडितों के ज्ञान का प्रात्याख्यान करते हैं। मुख्य बात यह है कि नाथसिद्ध योगशास्त्र के सिद्धांतों को गुरुमुख से ही सुनते हैं। बानियों में इस तत्व का कोई स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता। इसी प्रकार सातवें तत्व का अर्थ है, अविहित और निषिद्ध कार्यों को करने में संकुचित एवं लज्जित होने का भाव। यद्यपि इसका कोई स्पष्ट वर्णन नाथवाणियों में नहीं मिलता तथापि योगविरुद्ध एवं निषिद्ध अविहित कर्मों का वर्णन मिलता है, जिनकी ओर संकेत ऊपर किया जा चुका है। आठवाँ तत्व मति है जिसका अर्थ वह सूक्ष्म बौद्धिक ग्रहण और गहन विचार है जिससे साधक अपने आध्यात्मिक जीवन के सारवान् तत्वों का ग्रहण और अन्य का त्याग करता है। इसका विकास श्रवण, स्वाध्याय और विचार से होता है। इसमें सिद्धांत-वाक्य-श्रवण सहायक है। इसमें शुद्ध और परिष्कृत मन की, जो सत्यग्रहण और सारग्रहण में सदैव निर्दोष रहता हो, आवश्यकता है। आचार के प्रसंग में, नाथयोगियों के अनुसार, विचार और विवेक का हम संक्षिप्त परिचय दे चुके हैं। गोरक्ष सुरति को श्रवण एवं मति को क्षेत्र मानते हैं जिसमें मंत्र रूप बीज का वपन होता है।[१] जिन तत्वों का विस्तृत वर्णन नाथवाणियों में नहीं, उनका एक निश्चित रूप उपस्थित करना कठिन है।

नौवाँ तत्व जप नाथयोगियों की दृष्टि से अतिमहत्वपूर्ण है। इसमें परम-तत्त्व के किसी एक नाम का भक्तिपूर्वक मानस के योग के साथ जप स्वीकार किया गया है। संस्कृत ग्रंथों के आधार पर इसका विस्तार से विवेचन पहले

---

[१] गो० बा०, १८७.१२।

किया जा चुका है। हिन्दी वाणियों के अनुसार जिस प्रकार गुरु की पहचान की जाती है, परम तत्व की पहचान की जाती है, उसी प्रकार साधन के रूप में जपमाला की भी पहचान की जानी चाहिए। नाथसिद्ध जप करने की उस माला को नहीं स्वीकार करते जो स्थूल और बाह्य है। इसलिये वे आन्तरिक जपमाला की पहचान करने को कहते हैं। संस्कृत रचनाओं के अनुसार आन्त-रिक जप की माला हमारी श्वासक्रिया है। नाम तत्व को उस आन्तरिक जप-माला के साथ संबद्ध कर देना ही नाथसिद्धों को ग्राह्य है। वे अवधूत को ऐसा ही जप जपने के लिये कहते हैं। ऐसे ही जप का वे फल भी मानते हैं। इस जप को वे अगम जप इसलिये कहते हैं कि इस जप तक स्थूल इन्द्रियों की पहुँच नहीं हैं। इस जप की पहचान वे अति कठिन मानते हैं। इसके लिये इस चर्ममुख की भी आवश्यकता नहीं। इस जप के मुख वे विभिन्न कमल हैं, जिनकी स्थिति साधक के पिंड में पाई जाती है। साधक का चैतन्य प्राणतत्व ही जपमाला है। यह प्राण संपूर्ण शरीर में व्याप्त है। इस शरीररूप कंचन के मनकों में विभिन्न कमल ही उनके मुख हैं जिनसे इस सूक्ष्म जप का जाप होता है।[१] स्पष्ट ही यह जपमाला चैतन्य जपमाला है, स्थूल नहीं जिसे अन्य लोग बाह्याडंबर के रूप में धारण किये फिरते हैं। गोरख 'सोहं' का जप करने का उपदेश देते हैं और उसे अजपा कहते हैं, जैसा संस्कृत रचनाओं में भी कहा गया है। नासिका के आगे की अपनी वायु जब इड़ा और पिंगला नाड़ियों के मध्य (सुषुम्ना) में समा जाती है तथा २१६०० (२४ घंटों में श्वासों की संख्या, जैसा संस्कृत ग्रंथों में भी स्वीकार किया जाता है) संख्या में 'सोहं' का अजपाजाप होने लगता है तब अनाहत नाद का स्वतः उदय होता है। तब बंकनाल में सूर्योदय होता है, प्रत्येक रोम में तूर्यध्वनि का श्रवण होता है जैसे प्रत्येक रोम श्रवणयुक्त हो गये हों। इसी प्रकार अनेक अलौकिक दृश्य और ध्वनियों का दर्शन-श्रवण होता है। सभी इन्द्रियों में दिव्यता आ जाती है।[२] इस प्रकार के अगम सूक्ष्म आंतरिक जप से भिन्न किसी अन्य प्रकार के जप को गोरख ग्राह्य नहीं समझते और न उसे ग्रहण करने का उपदेश देते हैं क्योंकि ऐसा करने से योगसाधन में अपनी ही हँसी होती है। जो पशु हैं, बंधन में बँधे हैं, अज्ञान हैं, वे उस आंतरिक सूक्ष्म अजपा गायत्री का जप नहीं करते। इसलिये उन्हें मुक्ति नहीं मिलती।[3]

---

[१] गो० बा०, १०१. टेक. १। [२] गो० बा०, १२४. टेक-४.३०।

[3] गो० बा०, १७१.९, १७७. १८।

इस परिचय से यह स्पष्ट हो जाता है कि नाथपंथी इसे अजपा क्यों कहते हैं। इस जप में मुख का कोई उपयोग नहीं होता। दूसरे यह साधक की अपनी श्वासक्रिया के साथ संबद्ध हो जाती है और श्वास की स्वाभाविक गति एवं क्रिया के साथ यह जप होने लगता है, सहज हो जाता है। इसलिये यह क्रिया बाह्य दृष्टि से 'अजपा' अर्थात् बिना जपी हुई, रहती है। जप के संबंध में अन्य सिद्धों ने भी प्रायः गोरख के समान ही कहा है कि साधक को एकांत में निवास करते हुए अलक्ष्य तत्व की उपासना करनी चाहिए जिससे परम प्रकाश का उदय होता है। गंभीर मन से श्वास का साधन करते हुए 'सोहं' का जप करना चाहिए। जलंधरिपाद ने बिना जप के जप को ही वास्तविक जप कहा है अर्थात् जैसे वे बिना कृच्छ्राचार एवं कष्टसाधन के साधन करना चाहते हैं, उसी प्रकार बिना (मौखिक) जप के ही वे (श्वास के साथ होनेवाला स्वाभाविक सहज) जप करना चाहते हैं।[१] पृथ्वीनाथ जप की स्थूल माला का स्पष्टतया विरोध करते हैं। वस्तुतः वह माला कुछ और ही है जिसको फेरने से परम तत्व की स्मृति, सुधि, ध्यान की प्राप्त होती है। निश्चय ही वह स्थूल जप-माला नहीं है। वह गायत्री कुछ और ही प्रकार की है जिसका जप करने से सिद्धि प्राप्त होती है एवं परमतत्व का साक्षात्कार होता है। पृथ्वीनाथ के विचार और भेद से, ऐसा प्रतीत होता है कि महागायत्री और ब्रह्मगायत्री में अंतर है। गोरक्षसिद्धांतसंग्रह में शब्दसृष्टि दो प्रकार की बतलाई गई है—सूक्ष्मरूपिणी और स्थूल रूपिणी। सूक्ष्मरूपिणी प्रणव महागायत्री है जिसे योग-शास्त्र भी कहते हैं तथा दूसरी स्थूलरूपिणी ब्रह्मगायत्री है जिसे वेदत्रय भी कहते हैं। सूक्ष्मरूपिणी महागायत्री नादक्रम में है।[२] नाथसिद्ध इस महा-गायत्री को ही स्वीकार करते हैं। महागायत्री को प्रणव भी कहा गया है।

'सोहं' को भी विभिन्न स्थानों पर गायत्री कहा गया है तथा गोरक्षसिद्धांत-संग्रह प्रणव को भी महागायत्री कहता है। गोरख ने, प्रणव की उत्पत्ति के संबंध में गोरक्षसिद्धांतसंग्रह में व्यक्त मत की पुष्टि की है। उनके अनुसार ओंकार की उत्पत्ति नाद से होती है। नाद शून्य से संभूत होता है। साधक श्रवण की स्थापना करता है, सुनता है। नाद भी निरंजन (परमतत्व) में विलीन हो जाता है।[3] इससे इतना स्पष्ट हो जाता है कि प्रणव नाद की परंपरा में है।

---

[१] ना० सि० बा०, १८.१०३, ५४.३६४।

[२] वही, ८८.५६०, ५६३; गो० सि० सं०, पृ० ७२।

[3] गो० बा०, १९०.३६।

यह ओंकार न निराकार हैं, न सूक्ष्म है, न स्थूल है । वह पेड़ की तरह विकसित नहीं होता । वह न पत्र है और न पुष्प के रूप में प्रस्फुटित होता है। परमानुभव पद में इस ओंकार तत्व की भी सत्ता नहीं रहती । गोरख ने एक स्थान पर वायुमंत्र की व्याख्या की है । यह मंत्र 'सोहं' मंत्र है जिसे 'अजपा-गायत्री' कहते हैं । उनकी दृष्टि में मंत्र की धारा का मूल ओंकार है, क्योंकि यही सकल संसार में व्याप्त है । ओंकार नाभि (स्वाधिष्ठान) है, हृदय (अनाहत), देवता, गुरु है । बिना ओंकार का साधन किये सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती । 'सोहं' वायु ही हंस के रूप में संपूर्ण शरीर में घूमती है । मन, विंदु, वायु—सबका मूल ओंकार ही है ।[1] गोरख के ओंकार और अजपागायत्री संबंधी विचारों से स्पष्ट है कि परमतत्व से नाद, नाद से ओंकार और ओंकार से सोहं का क्रमशः विकास हुआ । शब्दसृष्टि को ही सूक्ष्म सृष्टि या नाद-रूपा सृष्टि कहते हैं । नाद का विकास 'सोहं' में हुआ है । इस प्रकार ओंकार प्रणव महागायत्री का 'सोहं' अजपा गायत्री से घनिष्ठ संबंध सिद्ध होता है।

नियम का अंतिम तत्व होम है । हुत या होम का अर्थ है साधक द्वारा साध्य को भोज्य-पेय या अन्य पदार्थों का भक्तिपूर्वक निवेदन । यह क्रिया प्रतिदिन के हवन या होम की है । इस प्रकार हवन या होम से जीवन शुद्ध और अग्रसर होता है । जीवन के लिये जो कुछ आवश्यक है, उन सबका निवेदन ईश्वर के प्रति होना चाहिए और फिर प्रसाद या भगवान् के आशीर्वाद के रूप में ग्रहण करना चाहिए । गोरखबानी में होम शब्द का जो प्रयोग मिलता है, उससे उसका वह कर्मकांडप्रधान रूप ज्ञात नहीं होता जो जन-सामान्य में प्रचलित है । नाथसिद्ध विभिन्न बाह्य वस्तुओं को वेदिका में प्रज्वलित स्थूल अग्नि में हवन करने का उपदेश करने के स्थान पर ब्रह्माग्नि (ज्ञानाग्नि-ब्रह्मानुभूति) में अपनी अशुद्ध भौतिक काया को ही होम कर देने का उपदेश करते हैं । वे इस ब्रह्माग्नि के भेद को रात दित जानते रहने, ग्रहण करते रहने को कहते हैं । यह अग्नि चंचलता से प्रज्वलित नहीं होती, अपितु स्थिरता और गंभीरता से वह अग्नि प्रज्वलित है । यह अग्नि आभ्यंतरिक है, बाह्य नहीं । इस आभ्यंतरिक अग्नि का ही प्रज्वलन करना चाहिए और रात दिन उसके प्रज्वलन के प्रयत्न में लगे रहना चाहिए ।[2] स्पष्ट ही ब्रह्माग्नि प्रतीक है तथा होम एक प्रतीकात्मक क्रिया है । वैदिक यज्ञों में भी

---

[1] गो० बा०, १२९.१, ३८.११०, ९८-१००. टेक-६.१२ ।

[2] गो० बा०, ७.१८, १२.३१, १८.४९, १७५.८, १७६.१४ ।

अग्नि का अति महत्वपूर्ण स्थान है। वहाँ अग्नि मनुष्यों और देवताओं के बीच एक माध्यम के रूप में गृहीत है। अग्नि में दी गई आहुतियाँ देवताओं द्वारा गृहीत होती हैं। वे मानवों पर प्रसन्न होते हैं। वस्तुतः इस होम का मूल तत्व देवता को अपनी प्रिय वस्तु का समर्पण है जिसमें श्रद्धाभाव का होना आवश्यक है। इस होम में भाव प्रधान है, आहुत पदार्थ प्रधान नहीं है। वेदों में केवल उस वाचिक निवेदन या आहुति का ही निर्वचन मिलता है जिसमें भौतिक पदार्थों की आहुति का प्रत्याख्यान है।[1] हम पहले ही जान चुके हैं कि नाथसिद्धों की दिव्य शुद्ध परिपक्व काया भी मुक्ति को प्राप्त करती है। शरीर से भी ब्रह्मसाक्षात्कार होता है। ऐसी दिव्य शुद्ध काया जब त्रिकुटी स्थित ब्रह्मकुंड की प्रज्वलित अग्नि में आहुत हो जाती है तब शुद्ध ज्ञानोदय और ब्रह्मानुभूति होती है। उस अग्नि में शरीर के आहुत होने पर वह काया भी ब्रह्मसाक्षात्कार को प्राप्त कर अन्ततः सहस्रार में लीन हो जाती है।[2]

९– दशांग यम-नियम

हम पहले ही कह चुके हैं कि नाथसिद्धों ने षडंग योग को स्वीकार किया है यद्यपि सिद्धसिद्धांतपद्धति में अष्टांग योग का भी वर्णन मिलता है। यहाँ हठयोगप्रदीपिका के प्रक्षिप्त श्लोकों के आधार पर, हिन्दी रचनाओं में प्राप्त यम-नियम का इतने विस्तार से वर्णन इसलिये किया गया है कि ये २० तत्व ही अधिकांशतः हिन्दी रचनाओं में अधिक विवेचित हुए हैं। उनका विस्तृत परिचय देने के लिये एक शास्त्रीय आधार की आवश्यकता थी। यों खोज करने पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि हठयोगप्रदीपिका के ये प्रक्षिप्त श्लोक भी तांत्रिक परंपरा से ही आये हैं। शारदातिलक नाम के प्रसिद्ध तांत्रिक ग्रंथ में 'प्रदीपिका' के दशांग यम-निमय संबंधी श्लोक प्रायः उन्हीं रूपों में मिलते हैं।[3] मिलान करने पर 'प्रदीपिका' के श्लोक कुछ भ्रष्ट मालूम होते हैं, किन्तु जहाँ तक अंगों का प्रश्न है, उनमें कोई अन्तर नहीं है। यम के अन्तर्गत 'दया' के स्थान पर 'कृपा' तथा नियम के अन्तर्गत 'ईश्वरपूजनम्' के स्थान पर 'देवस्य पूजनम्' शारदातिलक में दिया हुआ है। राघवभट्ट की पदार्थादर्श टीका में यम-नियम का विस्तृत परिचय भी दिया गया है जिसका विस्तार से विचार करने के लिये यहाँ उचित स्थान और अवकाश नहीं है। महत्वपूर्ण बात यह है

---

[1] आउटलाइन्स आव हिन्दुइज्म, पृ० ४१-४३।

[2] गो० बा०, ११४.१।

[3] शारदातिलक, पृ० २५-२६, श्लो० ७-८।

कि नाथमत की हिन्दी रचनाओं में यम-नियम के उपर्युक्त अंगों का वर्णन यत्र-तत्र मिलता है, उनका व्यवस्थित और एकत्र वर्णन नहीं मिलता। इन दशांग यम-नियमों को नाथमत के ग्रंथों में स्पष्टतः स्वीकार भी नहीं किया गया है। सिद्धद्धांतपद्धति के यम-नियम में जो अंग हैं वे पातंजल यम-नियमों के पाँच तत्वों से भिन्न हैं। वहाँ सर्वेन्द्रियजय या उपशम को यम कहा गया है। आहार, निद्रा, शीत, वात, आतप के जय को इसमें अन्तर्गणित किया गया है। इसी प्रकार मनोवृत्तियों के नियमन को नियम कहा गया है जिसमें एकान्तवास निःसंगता, औदासीन्य, यथाप्राप्तिसंतुष्टि, वैरस्य तथा गुरुचरणावरूढत्व को नियम का लक्षण कहा गया है। ये यम-नियम, कई तत्वों या लक्षणों की दृष्टि से तांत्रिक योग के अन्तर्गत गिने जाने वाले यम-नियम के दशांगों से भिन्न हैं यद्यपि नियमान्तर्गत कतिपय तत्वों में समानता है। 'पद्धति' के भी प्रायः सभी यम-नियमगत तत्वों का परिचय पहले दिया जा चुका है।[१] जैसा संस्कृत ग्रंथों के आधार पर वर्णन किया गया है, यम-नियम के बाद ही वास्तविक रूप में नाथयोगसाधन का आरम्भ होता है। इन विवरणों में नाथयोग गत विभिन्न सिद्धांतों का विचार किया जा चुका है। अब मुख्य साधनक्रियाओं का परिचय और तद्गत विचारों का परिचय हिन्दी वाणियों के आधार पर दिया जा रहा है।

१०—हठयोग

ऊपर जितना विवरण उपस्थित किया गया है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि नाथसिद्ध अपने प्राथमिक लक्ष्य परिपक्व देह या सिद्धदेह की प्राप्ति के लिये मन, पवन और विंदु को स्थिर करना चाहते हैं। नाथयोगी इन तीनों में किसे प्राथमिकता देते हैं, उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर, कुछ निश्चित नहीं बताया जा सकता किन्तु इतना निश्चित है कि योग सम्बन्धी जितने विवरण उपलब्ध हैं उसमें प्राणतत्व और उसका साधन ही विशेष रूप से अधिक मात्रा में वर्णित है। 'हठ' की जो व्याख्या पहले दी गई है उसका संबंध प्राण या पवन से ही अधिक है। नाथसिद्धों को हठयोगी कहते हैं। इस हठयोग में यद्यपि आसन, बंध, वेध, मुद्रा, षट्कर्म, प्राणायाम आदि गृहीत हैं किन्तु इनमें प्राणसाधन ही प्रधान प्रतीत होता है शेष उसके उपकारक तत्व प्रतीत होते हैं। यम-नियम से संबंधित जो विवरण ऊपर उपस्थित किया गया है, उससे यही

---

[१] सि० सि० प० अ० व०, पृ० १२-१३; सि० सि० प०, २.३२-३३।

स्पष्ट होता है कि सभी आचारों और संयमों का लक्ष्य प्राण की स्थिरता है। जिस प्रकार संस्कृत रचनाओं में प्राप्त नाथयोग का वर्णन उपस्थित किया गया है उसी प्रकार से प्रायः उसी क्रम से हिन्दी रचनाओं में प्राप्त नाथयोग को भी उपस्थित किया जा रहा है।

पहले कह चुके हैं कि हिन्दी बानियों में 'हठ' शब्द का पारिभाषिक प्रयोग नहीं मिलता। किन्तु इन रचनाओं में सूर्य-चन्द्र और प्राण-अपान का विस्तृत वर्णन मिलता है। संस्कृत रचनाओं में हठ के 'ह्'कार को सूर्य तथा 'ठ' कार को चन्द्र कहा गया है या क्रमशः प्राण और अपान कहा गया है। प्रथम को सूर्यनाड़ी तथा द्वितीय को चन्द्रनाड़ी कहा गया है। 'ह्' और 'ठ' को क्रमशः इस प्रकार बतलाया जा सकता है—

ह—सूर्य, रवि, सूर्यनाड़ी, यमुना, पिंगला, शक्ति, प्राण, रज, पवन, अधः।

ठ—चन्द्र, शशि, चन्द्रनाड़ी, गंगा, इड़ा, शिव, अपान, विंदु, मन, ऊर्ध्व।

गोरख ने शक्ति को रज और शिव को विंदु कहा है। रवि की १२ कलाएँ हैं तथा चन्द्र की १६। रवि को शक्ति तथा शशि को शिव कहकर क्रमशः उनका स्थान मूलाधार एवं सहस्रार में बताया है। ये रवि और शशि ही सूर्य-नाड़ी और चन्द्रनाड़ी हैं। सूर्य पवन के घर में तथा चंद्र मन में रहता है। इन्हीं को क्रमशः अधः और उर्ध्व कहा गया है। चन्द्र और सूर्य के युग्म की तरह ही एक युग्म इड़ा—पिंगला का बताया गया है, जिन्हें संस्कृत ग्रंथों में क्रमशः चन्द्र और सूर्य या चन्द्र नाड़ी और सूर्य नाड़ी कहा गया है। गोरख ने बताया है कि परमतत्व या परमपद में चन्द्र और सूर्य की स्थिति नहीं है। एक अन्य युग्म मन—पवन की स्थिति क्रमशः हृदय और नाभि में मानी गई है। सूर्य की १२ कलाएँ है तथा चन्द्र की १६ हैं।[१] इनके अतिरिक्त एक और युग्मक महत्वपूर्ण है, जिसका संबंध ऋग्वेद की द्यावा—पृथिबी से जोड़ा जा सकता है क्षौर उसे 'अरध—ऊरध' की तरह 'धरणी और गगन' का युग्म कहा जा सकता है।[२] ये युग्म देखने से द्वैत ज्ञात होते हैं। इनमें विरोध दिखाई देता है। इसलिये अद्वैत की स्थिति के लिये अन्य तत्वों का जो नाम लिया

---

[१] गो० बा०, १००. ५, ११०. १ (डा० बड़थ्वाल के अनुसार), १०३. २, १८८. १६, १९०. ३४, १२४. २, १५६. ६०, १९. ५१, १८९. २६, पृ० २०५ और २४१।

[२] गो० बा०, १८८. २२, १०२. टेक।

जाता है उसे तांत्रिक ग्रंथों में कहीं कहीं अग्नि नाम दिया गया है। इसलिये उपर्युक्त युग्मों की तुलना में उसे योग, अग्नि, नाड़ी, सरस्वती, सुषुम्ना, मध्य आदि नामों से अभिहित करते हैं। कहीं कहीं मध्य, अनन्तर, एकत्व, 'साँध' सम्मुख, विलीनता 'समि' या साम्य या सामरस्य, स्थैर्य, समाधि, मिलन आदि कहा गया है। गंगा और यमुना या इड़ा—पिंगला का मिलन या उनके विरोधभाव की हानि सुषुम्ना में होती है। जहाँ इड़ामार्ग को चन्द्र तथा पिंगला मार्ग को भौम या सूर्य कहा गया है वहीं सुषुम्नामार्ग को वाणीमार्ग (गंगा-यमुना-मार्ग के अनुसार सरस्वती मार्ग) कहा गया है। इड़ा—पिंगला के साधन से ही कुण्डलिनी का जागरण होता है और फिर सुषुम्ना नाड़ी में निश्शंक विश्राम मिलता है। वही वास्तविक घर है। इड़ा (चन्द्र) का शोधन और पिंगला का पूरण कार्य कर उन दोनों को लेकर सुषुम्ना के मध्य से आकाश में आरोहण करना चाहिए। इन नाड़ियों के एक साथ साधन से ही भ्रमनिवारण होता तथा ब्रह्मसाक्षात्कार होता है।[१] यह सुषुम्ना ही वस्तुतः मध्यममार्ग है। इसे अद्वय भी कह सकते हैं। आचार और संयमगत मध्यम मार्ग का परिचय हम पहले ही दे चुके है और यहाँ हठयोगगत मध्यममार्ग का परिचय दिया गया है जिसमें सुषुम्ना को मध्य कहा गया है। गोरख के अनुसार सारे आध्यात्मिक संसार का व्यापार अधः और उर्ध्व के बीच का व्यापार है। पूरक और रेचक के बीच कुंभक की स्थिति है, वही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है और उसी से आध्यात्मिक व्यापार चलता है। यही स्थान शून्य स्थान है जहाँ साधक की स्थिति स्थिर होती है, वहीं उसे मस्ती मिलती है। प्राणतत्व की स्थिर और वास्तविक स्थिति अधः और उर्ध्व या पूरक-रेचक या अपान और प्राण के मध्य में है। प्राणपुरुष का वास्तविक निवास वहीं है। व्यक्ति की जब इड़ा और पिंगला में पवनक्रिया चलती रहती है तब उसे संसारोन्मुख कहा जाता है। व्यावहारिक दृष्टि से उसे जागना तथा पारमार्थिक दृष्टि से उसे सोना कहते हैं किन्तु जब द्वैतप्रधान ये दोनों नाड़ियाँ अपने द्वैत का त्याग कर देती हैं, उनकी सांसारिकता सो जाती है, तभी केवल सुषुम्ना में पवन-क्रिया होती है। पारमार्थिक दृष्टि से इसे ही जागरण कहते हैं। गोरख के उपदेश में साधक से कहा गया है कि सबके सामने व्यवहार में तो सायंकाल सो जाओ किन्तु उस समय मध्यकाल में, रात और दिन या शशि और सूर्य के मध्य में, भीतर से, अंतस् से, जागते रहना चाहिए। यह जागरण तभी संभव होता

[१] गो० बा०, ३३. ९४, ९५.१, १०५.२, १११.५.१९, १६७.१६।

है जब इड़ा-पिंगला दोनों मध्य में समाहित हो जायँ, उनका पृथक् अस्तित्व न हो, विरोध भाव न रहे। इसी को उन्होंने गंगा-यमुना के बीच आसन जमाना कहा है।[१]

इसी को शिव-शक्ति-योग भी कहते हैं। शिव और शक्ति के योग की निजस्वरूप में स्थिति गोरख चाहते हैं। यह मेरुदंड की स्थिरता से ही होता है। ये दोनों तब तक साधित नहीं होते जब तक गुरु ब्रह्मग्रंथि से मुक्त न कर दें। शिवशक्ति का योग होने पर मन में चंचलता रह नहीं सकती वह सदैव उन्मन (अचंचल-परमतत्व की ओर उन्मुख मन) ही रहेगा। इसी मध्ययोग को कहीं-कहीं संधि भी कहा गया है। जिस सुषुम्ना के विषय में पहले कहा गया है उसे गोरख ने एक स्थान पर विषमी संधि कहा है। गोरखबानी के कुछ पदों के किसी नाथपंथी टीकाकार ने विषमी संधि नाभि को कहा है तथा सुषुम्ना का दूसरा नाम विष नाड़ी बताया है।[२] डा० बड़थ्वाल ने इसे वंकनाल या सुषुम्ना या इला-पिंगला के प्रवाहों की संधि कहा है। यहाँ संधिस्थल वस्तुतः मन, मनसा और सुर (प्राण या पवन) का संधि स्थल है। इसी को दूसरे शब्दों में चन्द्र और सूर्य की विपरीत एवं भिन्न दिशाओं का निवारण कर उन्हें परस्पर सम्मुख रखना कहते हैं जिससे अमृत तत्व सूर्य द्वारा नष्ट नहीं किया जाने पाता। चन्द्र-सूर्य की पृथक् सत्ताओं का विलोप अर्थात् सुषुम्ना के प्रभावकारी रूप में प्रकटीकरण का भी यही तात्पर्य है, जो गगन में सिद्ध होता है। पहले हम साम्य, समरसीकरण या समता की बात कह चुके हैं। पिंड और ब्रह्माण्ड के समरसीकरण के अतिरिक्त सूर्य-चन्द्र के समीकरण की भी बात कही जाती है। यह समीकरण चन्द्र-सूर्य, शिव-शक्ति का समीकरण, पांचों (भूत-) तत्वों, मन-पवन का समीकरण है। गोरख ने इन्हीं क्रियाओं को चन्द्र-सूर्य का एक घर में रखना, सूर्य—शशि का निर्विवाद होना, चन्द्र द्वार पर सूर्य की स्थिरता, चन्द्र—सूर्य का मिलन आदि कहा है।[3] इस मिलनस्थल सुषुम्ना को 'पश्चिम द्वार' भी कहा जाता है। यदि मूलाधार को पूर्व कहा जाय, जहाँ सूर्योदय होता है, तो तदनुरूप षोडश-कला-युक्त अमृतस्राविनी सुषुम्ना को शिवस्थान या

[१] गो० बा०, २८. ७८, २९. ८१, ८६. ३, १२४. २, १४९. ५३।

[२] गो० बा०, ४५. १३०, ३०. ८४, १५०. ३, १९३. ५६।

[3] गो० बा०, २५२. ६, १२७. २ तथा उसकी बड़थ्वाल की टीका, १४०. २, ६३. १८७, ३९. ११३, ९६. ४, ९२.२, १००. ५, ११८. १६, १९८. ९६, १९१. ४६, १७६. १२, १३०. १, १७५. ६, ९६. ३।

पश्चिम कहना चाहिए। क्योंकि यहाँ 'अमृताकला' की रक्षा होती है तथा सूर्य का विरोधभाव समाप्त हो जाता है।[१]

गोरख ने द्वादश-कला-संपन्न सूर्य का शोषण तथा षोडश-कला-संपन्न शशि का पोषण करने के लिये कहा है। सूर्य और शशि के अन्तर की चार कलाओं का साधन, जिसे तत्वतः अमृत कहा जा सकता है, करे तो निजरंता आयत्त होती है।[२] इसी को 'ह+ठ+योग' कहते हैं। किन्तु इतना स्पष्टतः ध्यान में रखना चाहिए कि यह सुषुम्ना सरस्वती या मध्यसाधन या शिव-शक्ति-योग तक ही नाथसाधन का अंत नहीं है क्योंकि यह तो अद्वय अवस्था है। इसके बाद भी नाथसिद्ध की एक ऐसी अवस्था है जो निर्गुण-सगुण, द्वैत-अद्वैत सब से परे कही जाती है और यही नाथपद है जिसमें कायसिद्धि और परमपदप्राप्ति दोनों मिश्र एवं अविभाज्यभावेन निहित हैं। इसे पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है।

हठयोग शब्द की जो व्याख्या उपस्थित की गई है, उससे स्पष्ट होता है कि नाथों के योग में मन-पवन का साधन मुख्य है। पवन साधन ही प्राणायाम है जिसमें पवन की सहायता से समग्र शरीर का, उसकी नाड़ियों का, शोधन हो जाता है तथा इसी से जीवशक्ति प्रेरित होकर ऊर्ध्वमुख होती है। नीचे शक्ति है तथा ऊपर शिव है। इसी को शिवशक्तियोग कहा गया है। यह शक्ति पिंड में कुंडलिनीशक्ति है जो मूलाधार में कुंडलित होकर रहती है। कभी-कभी कुंडलिनी का ऊर्ध्वीकरण ही विंदु का ऊर्ध्वीकरण कहा जाता है। यह क्रिया भी प्राणायाम से साधित होती है। जैसा पहले बताया जा चुका है मन और पवन नामक दो तत्वों में से नाथसिद्ध दोनों को परस्पर साध्य मानते हैं, जबकि उनका कहना है कि विंदुरक्षा प्राणयाम को संभव बनाती है। इस प्रकार नाथ-योग में मन, प्राण, विंदु, कुंडलिनीशक्तिसाधन अन्तर्भूत हैं। ये सभी साधक की दृष्टि से अति महत्वपूर्ण हैं। गोरख ने साधन के लिये ओंकारसाधन, नादानुसंधान, प्राणायाम या वायुसाधन, मानस साधन, विंदुसाधन को स्वीकार किया है। इन पाँच तत्वों से उन्होंने सहज तत्व का प्रकाश संभव माना है। वायुसाधन या प्राणायाम के प्रसंग में उन्होंने बताया है कि उसी वायु से ही नाद होता है। इसी से विभिन्न ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं। यह वायु ही षट्चक्र-

---

[१] गो० बा०, ६३. १८७।

[२] गो० बा०, ३१. ८९।

भेद करती है। यही अधः, ऊर्ध्व और मध्य में भ्रमण करती है। यही सोहं वायु 'हंस' के रूप में संपूर्ण पिंड में घूमती है। अपने योगसाधन में गोरख ने कई प्रकार की क्रियाएँ सम्मिलित की हैं। उन्होंने छठें-छमासे काया को पलटना या परिवर्तित करना, पवन का उलटना, षट्-चक्र-भेद करना, सूर्य-चन्द्र का अपने घर में रक्षण, आसन और आहार की दृढ़ता, नाद-विंदु और वायु का रक्षण, मन-पवन की अचंचलता, इड़ा-पिंगला की सुषुम्ना या त्रिवेणी में संधि, मनसा के व्यापार का बंधन, पवन-पुरुष की उत्पत्ति, अध्यात्मलीनता, चन्द्र-सूर्य-साधन, नादानुसंधान, विंदुस्थैर्य या दृढ़ता, इड़ा-पिंगला का नाड़ीसाधन, आसन, महारसपान, मनोमारण, कायादोषहरण, ब्रह्माग्निप्रज्वलन, अमृतपान आदि को अपने योग में अन्तर्भूत कर लिया है।[१] प्रायः ये सभी साधन नाथयोगी स्वीकार करते हैं। इनका विस्तृत विवरण आगे दिया जा रहा है।

साधन की दृष्टि से विचार करने पर यम-नियम के बाद आसन का सबसे पहले स्थान है। नाथपंथी हिन्दी रचनाओं में प्रायः कृच्छ्राचारप्रधान स्थूल काया साधनों का अभाव है। आसनों का वैसा विस्तृत परिचय इनमें नहीं मिलता जैसा संस्कृत रचनाओं में मिलता है। गोरख ने आसन का सबसे अधिक आवश्यक तत्व दृढ़ता माना है। आसन में जबतक दृढ़ता न हो तब तक वह निरर्थक है क्योंकि इससे चंचलता का बाध होता है। यदि सहज युक्ति से आसन किया जाय तो तन-मन और पवन का दृढ़ धारण हो सकता है। यह आसन इसलिये भी आवश्यक है कि तीर्थ-व्रत करने से, गिरि-पर्वतों पर आरोहण करने से, पवन टूटता है, क्षीण होता है तथा परिणामतः काया भी नष्ट होती है। आसन लगाने से पवन नहीं टूटेगा और न काया ही क्षीण होगी।[२] विभिन्न प्रकार के आसनों में से, गोरखबानी में, पद्मासन का स्पष्टतः नाम लिया गया है और उसके साधन को श्रेयस्कर बताया गया है। वज्रकछोटा धारण करने तथा वज्रासन सिद्ध करने के लिये विशेष रूप से कहा है क्योंकि इससे रोग, व्याधि और क्षुधा का हरण होता है।[३] संस्कृत रचनाओं में भी आसनों को आरोग्यप्रदाता माना गया है तथा सभी आसनों में सिद्धासन, वज्रा-

---

[१] गो० बा०, ९८-१००.टेक–६.१२; १३.३३, ३६.१०५, ४४.१२५, ५५.१६३, ६३.१८६-१८७; ९५. टेक; ९६.३-४, १०३.२-३, १५५.१, १७६.११-१४, पृ० २४१।

[२] गो० बा०, ४४.१२५, १०३.२, १६९.३, १७१.८।

[३] गो० बा०, १७४.१, १७७.१६।

सन या मुक्तासन आदि को विशेष कहा गया है। किन्तु जहाँ इस प्रकार आसन के साधन का समर्थन मिलता है, वहीं केवल आसनसाधन को निरर्थक भी कहा गया है। जिस खंडित ज्ञान के प्रपंच में लोग जूझ कर मरते हैं, उससे भिन्न परमपद को समझ नहीं पाते, उसी प्रकार खंडित योगी, जो आसन और प्राणायाम तक ही रह जाता है, इनके विभिन्न प्रकार के उपद्रवों से ग्रस्त रहता है तथा रात-दिन वह इन्हीं के चक्करों में पड़कर घुल-घुल कर मरता है। आसन लगाकर पवननिरोध करना भी एक प्रपंच है यदि आत्मविचार न हो। इसीलिये गोरक्ष इन स्थूल आसनों की अपेक्षा अन्तस्साधन को महत्ता देते हैं, गंगा और यमुना के मध्य सुषुम्ना में आसन लगाने को कहते हैं। संयम की दृष्टि से उन्होंने संतोष को ही आसन बताया है।[1] तात्पर्य यह कि आसन का सबसे बड़ा तत्व दृढ़ता है। यदि इनका प्रयोग आत्मयोग के लिये न हो तो ये निरर्थक हैं। मुख्य आसन तो अद्वय भूमि सुषुम्ना का है और संतोष ही संयम की दृष्टि से आसन है। अन्य नाथसिद्धों में से जलंधरिपाद ने सिद्धासन से मायामुक्ति मानी है। चरपट ने दृढ़ आसन की आवश्यकता बतलाई है।[2] इस प्रकार शरीर की अचंचलता, पवन-स्थिरता और आरोग्य के लिये आसन आवश्यक बतलाया है। ऐसा प्रतीत होता है कि साधन के अग्रसर होने पर इन स्थूल आसनों का कोई महत्व नहीं रहता और साधक अन्तस्साधन में ही लीन रहता है।

१२—प्राणायाम

संस्कृत रचनाओं में बताया गया है कि शरीर के शोधन के लिये षट्कर्म या प्राणायाम् में से किसी एक का प्रयोग किया जा सकता है। किन्तु इन दोनों की क्रियाओं को देखने से प्रतीत होता है कि प्राणायाम जहाँ शोधन करता है, वहीं षट्कर्म से शरीर के भीतर के, विशेषकर जघनस्थल से ऊपर तथा सिर से नीचे के अंगों का शोधन होता है। प्रणायाम का विस्तृत रूप से निरूपण इन नाथपंथी बानियों में मिलता है। षट्कर्म का, जिसमें तांत्रिक मतानुसार धौति, बस्ति, नेति, लौलिकी, त्राटक, कपालभाति की गणना की जाती है, कोई वर्णन या संकेत नाथबानियों में नहीं मिलता। प्राणायाम का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। प्राणयाम वायुसाधन या पवनसाधन है। यह

---

[1] गो० बा०, ४७.१३४, २९.८२, १४९.५३, १९७.८६।

[2] ना० सि० बा०, ५३.३५७; सि० सि० प० अ० व०, ९०.६, ८५.३९।

पवन ही सब कुछ है। जबतक यह पवन चंचल है तबतक संसार भोग है और इसके अचंचल होने पर योग होता है। इस पवन से ३६ प्रकार के रोगों का हरण होता है। इस पवन के रहस्य का ज्ञान हो जाने पर व्यक्ति स्वयं अपने शरीर का कर्ता (शासक) हो जाता है और स्वयं उसका शरीर ही उपास्य हो जाता है। पवन से ही पंचेन्द्रियों का उनके विषयों से प्रत्याहरण होता है। इस पवन के परावृत या प्रत्यावर्तित करने, मोड़ने, पलटने से आरोग्यलाभ होता है। पवनसाधन से सम्पूर्णशरीर के प्रत्येक अंग में वायु की क्रीड़ा होने लगती है। इसी पवन से मन को बाँधना चाहिए। इस पवन के ही विपरीतकरण से योगाग्नि का प्रज्वलन करना चाहिए। शरीर की हजारों नाड़ियों में इसी पवन के संचरण से कोटि प्रकार के नादों की झंकार होती है। इस पवन के ब्रह्मरन्ध्र में समावेश से बालरूप परमतत्व का साक्षात् या प्रत्यक्ष होता है। पवन का ही साधन बंध को संभव बनाता है।[1] नीचे की ओर जानेवाले पवन या प्राण को ऊर्ध्वमुख कर दें तो द्वादश अंगुल परिमाण वाला पवन मन को भी ऊर्ध्वमुख कर देता है। इस पवन को ही उन्मुख या ऊर्ध्वमुख कर देने से विभिन्न उपाधियाँ, रोग आदि नष्ट हो जाते हैं। षट्चक्रों का वेध भी इसी पवन को उलटने से सम्भव होता है। यों प्राण का प्रसार तो अनेक नाड़ियों में है किन्तु उसका वास्तविक निवास तो षोडश-कला-युक्त चन्द्रनाड़ी तथा द्वादश-कला-युक्त सूर्यनाड़ी से भिन्न एवं परे सहस्रार नाड़ी सुषुम्ना में है। यही असंख्यकलात्मक शिव का स्थान है। बताया गया है कि स्थिर पवन का या वायु का स्थान सुषुम्ना है। वहीं जाकर वायु परिपक्व हो जाता है। इस वायु या 'बाई' की ही परिपक्वता से जीवन की परिपक्वता सिद्ध होती है।[2] इस शरीर में जो चौसठ संधियाँ हैं, वे ही चौंसठ हाट, बाजार हैं। इन संधियों में वायु के संचार से कायाकल्प या कायापरिवर्तन होता है। इसके लिये शरीर के नौ रन्ध्रों को, जो वायु के बहिर्गमन-आगमन के द्वार हैं, अवरुद्ध कर देना आवश्यक है। सभी द्वारों को बंद कर देने से वायु के निकलने का मार्ग नहीं रह जाता। अतः कुंभक की अवधि बिलंबित होती है। इसलिये गोरक्ष पूर्वोक्त संयमों के पालन का उपदेश करते हुए वायु-संग्रह का उपदेश देते हैं। क्योंकि इस वायु से विभिन्न

[1] गो० बा०, ५१.१४७, ६१.१८२, ७०.२१५, ७१.२१७, ८१.२६५, १७.४७, १९.५३, ३१.८८, ४३.१२३।

[2] गो० बा०, १७५.७, १९४.६४, ३६.१०५, ३३.९३, ५४.१५७।

प्रकार के वाक्य सुनाई पड़ते हैं। इसी से घनगर्जन सुनाई पड़ता है, इसी से ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं। इसी से षट्चक्रवेध होता है तथा यही अधः और ऊर्ध्व में यात्रा करता है। सोहं वायु ही साधन से प्रत्यावर्तित होकर 'हंस' के रूप में सम्पूर्ण पिंड में फिरता है (तथा संपूर्ण शरीर को पवित्र करता है)। इसी वायु के प्रभाव से बिंदु, गुरु के उपदेशों के अनुकूल स्थिर रहता है। विपरीतकरण की एक मुद्रा के साधन द्वारा जैसे वायु स्थिर होती है, उसी प्रकार वायु के स्थिर होने पर महारस अमृत सिद्ध होता है।[१]

अन्य नाथसिद्धों ने भी इस प्राणायाम अंग पर प्रकाश डालकर उसकी महत्ता उपयोगिता एवं अन्य साधनों के साथ उसके संबंध का वर्णन किया है। भरथरी ने भी, गोरख के समान ही, नौ द्वारों के कपाटों को बंद कर देने तथा वायु के लिये शिवस्थान दशम-द्वार के मार्ग का ही अनुसरण करने का उपदेश दिया है। उनकी दृष्टि में यदि कोई साधनयोग्य तत्व है तो केवल पवन। चरपट ने इस वायु-पवन की धारा को अति चंचल माना है। यह पवन इस शरीर का स्तंभ है। अतः इसके चंचल होने से शरीर टिक नहीं सकता, स्थिर नहीं रह सकता। अतः मूल द्वार को बंद कर वायु को शरीर की चौसठ संधियों में क्रीड़ा करने देना चाहिए, उससे नित्य ही शरीर का प्रक्षालन करना चाहिए। इससे जरा का परिवर्तन तो होता ही है, साथ ही इससे रोगखंडन भी होता है क्योंकि इससे सभी दोष निकल जाते हैं।[२] गोपीचंद गहन (गंभीर) मन से सोहं श्वास का जपसाधन करने के लिये कहते हैं। उनके अनुसार इस साधन में पवन को प्रेरित कर पश्चिम दिशा (सुषुम्ना) की ओर पलट देना या उन्मुख कर देना चाहिए। इस प्रकार अपान और प्राण को उलट कर परस्पर मिला देना चाहिए। परिणामतः नादधारा का ग्रहण, विंदुस्थैर्य, जन्ममुक्ति आदि सिद्ध होते हैं। इस पवन के ही स्थिर होने से मन स्थिर होता है तथा पुनः उससे विंदु और क्रमशः स्कंध स्थिर होते हैं। चौरंगीनाथ ने बताया है कि प्राण के स्थिर रहने पर सब कुछ रहता है। तथा प्राण के (चंचल हो) जाने पर सब कुछ चला जाता है। इसीलिये अनेक गुरुओं ने इसका उपदेश दिया है। चुणकरनाथ के अनुसार वायु से ही विंदु गगन की ओर प्रेरित किया जाता है। उसी को बाँधने से सारा जगत् बँधता है। भरथरी द्वादश पवन के साधन में वंशीध्वनि का श्रवण संभव मानते हैं। वायु के साधन से षट्चक्रों का वेध

---

[१] गो० बा०, १९.५०, ५०. १४५, ९९.३ १४९-१५०. १।

[२] सि० सि० प० अ० व०, ७७. ९, ७८. २२, ८२. ३, ८३. १४, ८४.२४।

माना है तथा उसी से सहस्रदलपद्म में सुख को प्राप्य माना है। मीड़कीपाव कहते हैं कि चलते हुए पिंड को, उसकी गति को सभी लोग देखते हैं किंतु वे बिरले ही व्यक्ति हैं जो चलते हुए प्राण को उसकी गति को देखते हैं।[१]

प्राण और प्राणायाम संबंधी इस विवरण से इतनी बात स्पष्ट हो जाती है कि प्राणसाधन के लिये संयम आवश्यक है। प्राण का स्थैर्य होने से आरोग्य-लाभ, षट्चक्रभेद, मनःस्थैर्य, जन्ममुक्ति, नादानुसंधान, उन्मनीसाधन, जपसाधन, प्रत्याहरण, साधन के सभी तत्वों का विपरीतकरण, कायाशोधन या नाड़ीशोधन, विंदुरक्षा या विन्दुस्थैर्य, कायपरिवर्तन, अग्निसाधन आदि संभव होते हैं। इनमें से महत्वपूर्ण साधनों का विचार करने से प्रतीत होता है, जैसा पहले कहा जा चुका है, कि मन, विंदु, प्राण और वाक् ये चार तत्व प्रधान हैं। इनमें वाणी का मंत्रयोग से तथा प्राण का हठयोग से साधन होता है। किन्तु ये पूर्णतया पृथक् नहीं किये जा सकते। योगसाधन में ये परस्पर सहयोगी भाव से अग्रसर होते हैं। जपसाधन का संबंध मंत्रयोग से है। मन तथा अन्य मूल तत्वों का साधन लययोग या षट्चक्रभेद से संबद्ध है। नाथयोगियों ने मनसाधन का भी विचार किया है। मन और प्राण के स्थैर्य से विंदुस्थैर्य संभव बताया गया है। प्राणायाम से जिस साधन का सबसे घनिष्ठ संबंध है, वह नादानुसंधान है।

प्राणायाम का प्रारंभिक संबंध नाड़ियों से है। संस्कृत रचनाओं तथा हिन्दी रचनाओं के उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट है कि नाड़ियों का शोधन प्राण से ही होता है। प्राण पर जब तक पूर्ण नियंत्रण न हो तबतक इच्छानुसार स्वतंत्र भाव से प्राण नाड़ियों में संचरण नहीं कर सकता। अतः प्राण पर पूर्ण नियंत्रण या संयम हो जाने पर ही नाड़ीशोधन संभव है। श्वास की संख्या, उसकी मात्रा, नाड़ियों की संख्या शरीर के विभिन्न रन्ध्र या द्वार तथा उनका निरोध—ये सभी प्रायः संस्कृत रचनाओं के अनुकूल है। हठयोग शब्द की व्याख्या करते समय अभी बताया गया कि 'ह' और 'ठ' क्रमशः सूर्य और शशि या पिंगला और इड़ा नाड़ियों के वाचक हैं। इसी प्रकार अन्य नाड़ियों में सुषुम्ना सर्वाधिक महत्वपूर्ण है पहले ही यह भी कहा गया है कि इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना नाड़ियों को क्रमशः गंगा, यमुना और सरस्वती नदियों के नाम से भी अभिहित किया जाता है। चौरंगीनाथ ने सात सरिताओं का वर्णन करते समय प्राण-संकली में गंगा, यमुना, सरस्वती, नर्मदा, गोदावरी, देवनदी, गोमती नदियों को गिना है। जि ह्वा

[१] ना० सि० बा, १८.१०३, १८.१०५-१०६, ३९.२४१, ५१.३४९-३५०, ५७.५९२-५९३, ११८.७०३।

के दक्षिण पार्श्व में गंगा, उसके वाम पार्श्व में यमुना तथा जिह्वा के मध्य में सरस्वती का निवास है। पवन नाड़ी का निवास नर्मदा में है। अन्न नाड़ी में गोदावरी, मेरु मध्य में देवनदी और मूत्र नाड़ी में गोमती नदी का निवास माना गया है।[1] गोरख ने नाड़ियों के परिचय में बतलाया है कि शंखिनी नाड़ी में शिव का संचार है तथा सुषुम्ना नाड़ी में जीव का संचार है। जीव बंकनाल में अमृतरस का पान करता है। गोरख ने कई स्थानों पर नौ नाड़ियों का वर्णन किया है। डा० बड़थ्वाल के अनुसार सुषुम्ना को छोड़कर वे नौ नाड़ियाँ हैं—इड़ा, पिंगला, गांधारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलंबुषा, कुहू और शंखिनी। गोरख ने नाड़ियों की ७२००० संख्या की ओर भी संकेत किया है। इन नाड़ियों की ही सात गाँठों को चक्र कहा जाता है। साधना की दृष्टि से सुषुम्ना नाड़ी का महत्व है। इसी में नाद का श्रवण होता है। नाड़ियों के शोधन और साधन के संबंध में कहा गया है कि सब से पहले सदोष नाड़ियों को प्राण से भर कर शुद्ध कर लेना चाहिए और तत्पश्चात् प्राणवायु से बंकनाल का पूरण करना चाहिए। इस बंकनाल का स्थान नाभि कहा गया है। नाड़ी ऊर्ध्वमुखी होती है तथा इसी में अमृतरस का स्राव होता है।[2]

इन नाड़ियों का संबंध द्वारों तथा शरीरगत विशेष पवित्र स्थानों से है। इन स्थानों को तीर्थ इसलिये कहा जाता है कि जिस प्रकार बाह्य जगत् में विभिन्न तीर्थस्थान सरिताओं के तट पर हैं, उसी प्रकार ये पवित्र स्थान भी शरीर की नाड़ियों के, जिन्हें सरिताएँ कहा गया है, किनारे बसे हुए हैं। गोरख ने पारंपरिक रूप से प्रसिद्ध ६८ तीर्थों को घटस्थ माना है। योगियों का कैलास, मानसरोवर, केदार, गंगोत्तरी आदि सभी इसी शरीर में हैं।[3] चौरंगी ने गया, प्रयाग, वाराणसी, केदार, गंगासागर नाम के पंचतीर्थों में से केदार को शीर्षभाग (सुषुम्ना का अंत भाग) में, प्रयाग को (बंकनाल का स्थान) नाभि में, वाराणसी को सर्वव्यापक, गया को कंठ में तथा गंगासागर को उदर में स्थित माना है।[4] इन नाड़ियों का शरीर के दस रन्ध्रों से भी संबंध है। गोरखबानी में इनके

---

[1] ना० सि० बा०, पृ० ४१-४२, छं० २७५-२७६।

[2] गो० बा०, १९३.६०, १६४-१६५.५, १६५.६, १६७.१३, १५५.३.५९, १९२.५२, १४९.५३, २०.५६।

[3] गो० बा०, ५५.१६३, ३३.९६।

[4] ना० सि० बा०, ४२.२८४-२८५।

संबंध में कुछ भी नहीं मिलता। केवल शरीरगत नौ रन्ध्रों के महत्व की ओर संकेत कर दिया गया है। दशम द्वार का अवश्य ही विस्तृत परिचय उपलब्ध है। गोरख ने 'देवद्वार' शब्द का प्रयोग ब्रह्मरन्ध्र या दशम द्वार के अर्थ में किया है। दशम द्वार वह स्थान है जहाँ योगी उन्मन हो जाता है तथा नाद-विन्दु के मेल से उत्पन्न धू-धू-कार अनाहत नाद को सुनता है। किन्तु इसके उपरान्त इस दशम द्वार को भी बन्द कर वह अन्य द्वार से परमतत्व की खोज करता है। इस दशम द्वार में या ब्रह्मरन्ध्र में शिव का निवास है। इसी दशम द्वार में अवधूत की समाधि लगती है। जब अधः और ऊर्ध्व को अवरुद्ध कर दिया जाता है, तो मन स्थिर हो जाता है, पवन स्थगित हो जाता है और तदुपरान्त दशम द्वार ब्रह्मरन्ध्र का प्रत्यभिज्ञान होता है और परिणामतः आवागमन छूट जाता है। इस शरीर में नौ द्वार तो प्रत्यक्ष ही दिखाई पड़ते हैं किन्तु दशम द्वार अप्रत्यक्ष है, दिखाई नहीं पड़ता। इसी दशम द्वार में 'निराकार पद' की सेवा की जाती है। इस प्रकार की सेवा के लिये नौ द्वारों का दृढ़तापूर्वक अवरोध करना चाहिए। वहीं ब्रह्मरंध्र में मदमत्त मन को बाँध देना चाहिए। जब वायु को बाँध दिया जाता है तथा पवन चौंसठ सन्धियों में क्रीड़ा करने लगता है, नौ द्वारों में ताला बंद कर दिया जाता है तभी दशम द्वार में प्रकाश का दर्शन होता है।[१] गोरख ने नवरन्ध्रों या नौ द्वारों को नौ गायों के रूप में कल्पित किया है। इन्हें नौ घाटी भी कहा गया है जिसमें वायु का आवागमन बना रहता है। इन रास्तों को रोक देने से वायु का चौसठ संधियों में व्यापार होने लगता है। इन नौ द्वारों से होनेवाले वायु के गमनागमन को रोकने से 'काया की पलट' या कायाकल्प भी होता है तथा परिणामतः उन्मनीयोग की सिद्धि होती है। अन्यत्र गोरख ने शरीर के नौ द्वारों को नौ बछड़ों के रूप में भी कल्पित किया है। इसी प्रकार नौ द्वार नौ सूत्रों के रूप में भी कल्पित हैं जिनके ऊपर या सहारे कोट का यंत्र प्रचलित रहता है। नौ द्वार शरीर रूपी मठ की नौ लाख खाइयों के समान भी हैं।[२] धूधलीमल ने मन को फेर कर दशम द्वार में ही उसे घेरने तथा अधः-उर्ध्व का निरोध कर देने का उपदेश दिया है। भरथरी के अनुसार नौ द्वारों के कपाट को दृढ़तापूर्वक स्थिरभाव से बंद कर देना चाहिए क्योंकि दशम द्वार से तो शिव के मंदिर का रास्ता चलता है।[3] स्पष्ट ही दशम द्वार ब्रह्मरन्ध्र है

[१] गो०बा०, पृ० १४७, ४७, ९४, ११६, ११७, १२०, १२७, १७५, १७४।

[२] गो० बा०, पृ० १०४, १२, १९, ११३, १२१, १३४, ११६।

[3] ना० सि० बा०, पृ० ६५-६६, १००।

और वहाँ शिव का निवास है। इसी प्रकार नौ रन्ध्र या नौ द्वार शरीर के छिद्र हैं।

प्राणायाम का नाड़ियों से सम्बंध है तथा नाड़ियों का द्वारों से। इन नाड़ियों का तथा प्राणायाम का नाद-विंदु से भी सम्बन्ध है। सूर्य-चन्द्र और नाड़ियों के विषय में हम बतला चुके हैं कि इस युग्मक सिद्धान्त को व्यक्त करनेवाले अन्य शब्द भी हैं। नाद-विंदु की भी इन्हीं में गणना की जाती है। विंदुरक्षा प्राणायाम में अत्यधिक आवश्यक है। गोरख ने विंदु शब्द का अधिकतर प्रयोग 'शुक्र' के अर्थ में किया है।[१] उन्होंने विंदु के दो भेद भी बताये हैं—कच्चा विंदु तथा पक्का विंदु। वायु के कच्चे रहने से, प्राण पर पूर्ण नियंत्रण न रहने से जीवन कच्चा रहता है तथा परिणामस्वरूप ही काया कच्ची रहती है और विंदु भी कच्चा रहता है। उन्होंने इन सबको योगाग्नि से परिपक्व करने की सम्मति दी है।[२] गोरख ने शिवशक्ति के युग्मक के समान ही रज और विंदु (या रज और शुक्र) के युग्मक को स्वीकार कर बतलाया है कि शक्ति रज है और शिव विंदु है। डा० बड़थ्वाल ने रक्त को शक्तिस्वरूप बतलाया है और विंदु को शिवस्वरूप। रवि की बारह कलाएँ होती हैं और चन्द्र की सोलह कलाएँ होती हैं। इन दोनों का योग ही शिवशक्तियोग है। इस प्रकार रज और विंदु का योग भी शिवशक्तियोग है। यह सामरस्य अनंत है। यह चार कलाओं का सामरस्य है।[३] 'रक्त' 'रज' आदि शब्द लोहित विंदु के बोधक हैं तथा 'विंदु' पांडुर विंदु का बोधक प्रतीत होता है। संस्कृत ग्रंथों में पाण्डुर विंदु को शशिस्थानीय तथा लोहित विंदु को रविस्थानीय कहा गया है। इस प्रकार जो युग्मक बनते हैं, वे इस प्रकार अनुमित किये जा सकते हैं—

शिव—विंदु (पाण्डुर), शुक्र, शशि, इड़ा, गंगा, ठ।
शक्ति—विंदु (लोहित), रज, रवि, पिंगला, यमुना, ह।
(इस प्रकार के कुछ कुग्मकों का परिचय पहले भी दिया जा चुका है)

---

[१] गो० बा०, ४९.१४१-१४२, ५१.१४८, ७०.२१२, १२.३०, १७.४७ ९०.२, ९१.५।

[२] गो० बा०, ५४.१५६।

[३] गो० बा०, १००.५।

इसी प्रकार विंदु से संबंधित दूसरा युग्मक नाद-विंदु है। गोरखवानी में इनकी व्याख्या नहीं मिलती। इनके सामरस्य अथवा योग की बात अवश्य कई बार कही गई है। शरीर में इन दोनों का समन्वित रूप में 'जरना' (जलना या जीर्ण होना) आवश्यक बतलाया गया है। नाद का विंदु के घर गरजना, पहुँचना, नाद को उलट कर तथा विंदु को पलट कर वायुगृह में पहुँचाना, या वायु की सहायता से दोनों का समन्वय करना भी योगक्रिया ही है।[१] डा० कल्याणी मल्लिक ने बताया है कि गोरक्षसिद्धांतसंग्रह में नाद और विंदु अंश के उत्कर्षापकर्ष का विचार किया गया है। बताया गया है कि नाथ से नाद और नाद से प्राण की उत्पत्ति हुई। इसी प्रकार शक्ति से विंदु और विंदु से शरीर की उत्पत्ति हुई। योगसंप्रदाय में नाद से उत्पन्न शिष्य को विंदु से उत्पन्न पुत्र की अपेक्षा श्रेष्ठ बताया गया है। यह भी बताया गया है कि विंदु शिव है और रज शक्ति। विंदु ही इंदु है और रज ही रवि है। इन दोनों के संगम से ही परमपद की प्राप्ति होती है।[२] इनके साधन के संबंध में संस्कृत ग्रंथों में विवेचन मिलता है जिसका परिचय हम पहले ही दे चुके हैं। अन्य नाथसिद्धों ने भी नादविंदुसाधन की ओर संकेत किया है। चरपटनाथ ने बताया है कि पवन को पलट कर गगन में समाहित कर देने से नाद-विंदु को स्थिरता प्राप्त होती है। पारबती जी, गोरख की तरह ही, नाद-विंदु के शरीर में जीर्ण होने की बात करते हैं।[3]

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि नाड़ीसाधन और नाद-विंदु-साधन, दोनों ही, नाथपंथियों की हिन्दी रचनाओं के अनुसार, प्राणसाधन से संभव हैं। इस पवनसाधन या प्राणसाधन से योगाग्निप्रज्वलन या कुंडलिनीप्रबोध, शरीर की चौसठ संधियों में वायु का संचरण (और शोधन), काया का परिवर्तन, नव-द्वाररोध, उन्मनीयोगसाधन, विन्दुस्थैर्य, ऊर्ध्वोध: वायुसाधन से ब्रह्म-रन्ध्रादि-सिद्धि, ज्योतिप्रकाश, अनाहतनादश्रवण, ध्यानसाधन, नित्य आरोग्य, पवन को उलट कर प्रेरित करने से षटचक्रवेध, महारससिद्धि एवं शिवशक्तियोग, परमात्मप्राप्ति, मन की अचंचलता, द्वादशांगुल पवन के सुषुम्ना में प्रवेश से सुख एवं जरामरणदुःख से मुक्ति , सुषुम्ना में पवननिरोध से अजरत्व एवं अमरत्व

---

[१] गो० बा०, ७.१९, २०.५४-५५।

[२] ना० सं० इ० द० सा० प्र०, पृ० ५०९-५१०।

[३] ना० सि० बा०, पृ० ३१ छं० १८०; पृ० ६८ छं० ४३४-४३५।

की प्राप्ति, मन-पवन के योग से अनाहतनादश्रवण आदि सिद्ध होते हैं।[१] गोरख ने चार प्रकार के प्रमाण के श्वासों का वर्णन कर बताया है कि बैठे रहने पर १२, चलने पर १८, सोने पर ३० तथा 'कइथन' (?) करने पर ६४ सासें टूटती हैं। जब तक ये सांसें टूटती हैं तब तक जगदीश का भजन संभव नहीं होता। श्वासस्थैर्य होने पर ही इनका उचित उपयोग संभव है।[२] अतः इक्कीस हजार छ सौ सासों का मेल कर (परस्पर उन्हें संधित कर, जिससे वे टूटने न पावें) शरीर के नख से शिखा तक में उनको ग्रहण कर शरीर रूपी नौका को प्रतिबंधित करना चाहिए। भरथरी भी केवल पवन-साधन के लिये उपदेश करते हैं। गोपीचंद ने पश्चिम दिशा सुषुम्ना में वायु को प्रेरित करने का उपदेश दिया है। वे अपान और प्राण को उलट कर मिलाने को कहते हैं। परिणामस्वरूप अनाहत नाद का प्रवाह गगन में होगा तथा विंदु स्थिर हो जायेगा जिससे पुनः जन्मधारण करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।[3]

गोरख ने, यद्यपि इन्हीं रचनाओं में विभिन्न बंधों को साधनांगों के रूप में स्वीकार किया है तथापि उनके स्थान, क्रिया, उपयोग, विधान, आदि का परिचय वहाँ नहीं मिलता। उन्होंने मूलबंध और उड्डीयानबंध को स्पष्टतया स्वीकार किया है। क्षरित होने वाले अमृत को जालंधरादि बंधों की सहायता से रक्षित करने का उपदेश मिलता है। इनके अतिरिक्त गोरख ने तुरीया बंध और अगोचर बंधों का भी नाम दिया है।[४] इन बंधों का प्राणायाम से क्या संबन्ध है, इसके विषय में हम तांत्रिक योग और संस्कृत ग्रंथों के नाथों के योग के विवेचन में कह चुके हैं। हिन्दी रचनाओं में 'वेध' का कोई स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता। एक स्थान पर 'वेधाबोध' शब्द का प्रयोग अवश्य है किन्तु वहाँ डा० बड़थ्वाल नें 'कुण्डलीवेध' का अर्थ लिखा है जो हठयोगी एवं नाथपंथी ग्रंथों में विवेचित 'वेध' से पूर्णतया भिन्न है। इसी प्रकार बंध और

---

[१] गो० बा०, १७. ४७; १९. ५०, ५२; २१. ५७; २८. ७८; २९. ८१; ३२. ९०, ९२; ३६. १०५; ४५. १३०; ५०. १४५; ५१. १४६; ५३. १५५; ८१. २६५।

[२] गो० बा०, ८३. २७४।

[३] गो० बा०, पृ० १६०; सि० सि० प० अ० व०, ७८. २२; ना० सि० बा०, पृ० १८।

[४] गो० बा०, पृ० १६०, १७६, १९४, २०२।

वेध के अतिरिक्त जिस तीसरे साधनांग का प्राणायाम से संबंध है वह मुद्रा है। प्राणायाम और मुद्रा के संबंधों के विषय में हम पहले ही कह चुके हैं।

गोरख के नाम से प्रसिद्ध रचनाओं में मुद्रा का बहुविध परिचय मिलता है। गोरख ने 'मुद्रा' का 'बंद करना', 'अवरुद्ध करना' आदि अर्थों में भी प्रयोग किया है। आन्तरिक मुद्रा का भी वर्णन है। इसमें चन्द्र और सूर्य के मुद्रण अथवा मन-मुद्रण या मानस की सांसारिक वृत्तियों के मुद्रण की बात कही गई है जिनका न कोई रूप है और न रेखा ही। इसके अतिरिक्त वज्रोली और अमरोली नाम की प्रसिद्ध मुद्राओं का संकेत मिलता है। कहा गया है कि वज्रोली करके अमरोली की और अमरोली करके वायु की रक्षा करनी चाहिए। इनकी सहायता से भोग करते समय भी विंदुरक्षा की जानी चाहिए। शुक्र का पोषण या ऊर्ध्वीकरण कर वज्रोली मुद्रा के साधन की भी बात कही गई है। इस क्रिया से काया के समी दोषों का हरण बताया गया है।[१] इनके अतिरिक्त गोरख-बानी में 'अष्ट मुद्रा' नाम की एक अलग रचना है। इस रचना में मूलनी, जलश्री, 'बीतनी', बेचरी, भूचरी, चाचरी, अगोचरी, उनमनी नाम की आठ मुद्राएँ बताई गई हैं। इनमें से अनेक का नाम हठयोगी ग्रंथों एवं नाथपंथी संस्कृत ग्रंथों में मिल जाता है किन्तु यहाँ प्रारम्भ में ही बता दिया गया है कि ये आठ मुद्राएँ घट के भीतर की हैं। इन सबका स्थान क्रमशः इन्द्रिय (जननेन्द्रिय), नाभि, हृदय, मुख, नासिका, चक्षु, कर्ण, ब्रह्माण्ड बताया गया है। कहा गया है कि इन स्थानों में क्रमशः काम-तृष्णा, काम-क्रोध, ज्ञानदीप, 'स्वाद-विस्वाद', गंध-विगंध, दृष्टि-विदृष्टि, शब्द-कुशब्द के वैषम्य तथा ब्रह्माण्ड में परमज्योति का निवास है। इन वैषम्यों का मुद्रण ही मुद्रा का अर्थ प्रतीत होता है। यह अर्थ स्पष्ट रूप से 'अष्टमुद्रा' में नहीं बताया गया है। 'साम्य' शब्द का कई बार प्रयोग होने से ऐसा प्रतीत होता है कि 'मुद्रण' या 'मुद्रा करना' का अर्थ है साम्य स्थापित करना।[२] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हिन्दी रचनाओं में जिन मुद्राओं का वर्णन मिलता है, वे पिण्डस्थ हैं एवं सदाचार तथा मानस-विन्दु-नियन्त्रण से संबंधित हैं। इनका सीधा संबंध शरीर की बाह्य चेष्टाओं से प्रतीत नहीं होता। संस्कृत रचनाओं में मुद्राओं का जो विवेचन मिलता है, उससे स्पष्ट है कि वे सभी शरीर के बाह्यांगों के साधन है।

इसी प्रकार प्राणायाम का प्रणवसाधन, नादानुसंधान आदि से भी संबंध है।

---

[१] गो० बा०, पृ० ११०, १४६, ४९, १७६।

[२] गो० बा०, पृ० २४७।

इसके सम्बन्ध में कुछ विवेचन हम संस्कृत ग्रंथों में वर्णित योग के प्रकरण में कर चुके हैं। वस्तुतः नाद मूलतः एक ही होता है किंतु औपाधिक संबंध को व्यक्त करने के लिये उसको विभिन्न स्तरों में विभक्त किया गया है। योगियों के मतानुसार नाद के सात भेद हैं, किंतु एकमात्र ओंकार या प्रणव ही उपाधिरहित शब्द तत्व के रूप में वर्णित होता है।[१] इस नाद के साधन की प्रथम अवस्था में प्राणवायु का ब्रह्मरन्ध्र में गमन होता है। इसी समय सागरगर्जन, मेघ-ध्वनि, भेरी शब्दादि का श्रवण होता है। इसके बाद की मध्य अवस्था में प्राणवायु के ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश के समय मर्दल, शंख, घंटादि के शब्दों की तरह सूक्ष्म शब्दों का श्रवण होता है एवं अंत में जब प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर हो जाती है तब क्षुद्रघंटिका, वंशी, वीणा भ्रमरादि के नाद की तरह सूक्ष्मतर नाद का श्रवण होता है। नाद में अनुरक्त मन सभी विषयों का परित्याग कर देता है। इससे समाधिलाभ होता है।[२] हम नाथपंथी संस्कृत ग्रंथों के योग में आरंभ, घट, परिचय और निष्पत्ति नाम की नाद की चार अवस्थाओं का वर्णन कर चुके हैं।

हिन्दी रचनाओं में गोरख ने गगन (ब्रह्मरन्ध्र) में शब्द के प्रकाशित होने की बात कही है। इस शब्दप्रकाश को अलक्ष्य (शब्द, नाद) तत्व का विशिष्ट ज्ञानी समझ सकता है। यह नाद गगन (ब्रह्मरन्ध्र) में उच्छलित होता है। यह नाद साररूप और अति गंभीर होता है। गोरख की कुछ रचनाओं से ऐसा प्रतीत होता है कि नाद और शब्द, ये दोनों ही, पर्याय हैं। 'शब्द' का प्रयोग दो अर्थों में मिलता है—१—नाद, २—गुरुनिर्देशरूप वचन। इन दोनों अर्थों का साधन की दृष्टि से, अत्यधिक घनिष्ठ संबंध है। जब तक शब्द या नाद का श्रवण नहीं होता तब तक परमतत्व का साक्षात्कार नहीं होता, अतएव शब्द ही ताला है और गुरुवाक्य की ही सहायता से नादानुसंधान कर परमतत्व का साक्षात्कार होता है। अतएव यह शब्द ही कुंचिका है। इस प्रकार गुरुशब्द या वचन से ही नादजागरण होता है, शब्द से ही शब्द का परिचय मिलता है। अन्ततोगत्वा गुरुशब्द ही शब्द में समाहित हो जाता है अर्थात् साधन साध्य में लीन हो जाता है, उसकी पृथक् सत्ता नहीं रहती। तब साधक नाद में ही गुरु या गुरुवचन का वास्तविक साक्षात्कार करता है। यद्यपि गोरख ने नाद को सर्वत्र ब्रह्माण्ड में व्याप्त माना है तथापि वे उस अगोचर मूल तत्व को गगन (ब्रह्मरन्ध्र) में ही खोजने का उपदेश देते हैं।[3]

---

[१] ना० सं० इ० द० सा०, पृ० ४६३-४६४। [२] वही, पृ० ४६४।
[3] गो० बा०, पृ० २, छं० ४, ५. १२. ८, २१, १६७-१४।

संस्कृत रचनाओं के योग में नाद की जो चार स्थितियाँ बतलाई गई हैं, उनका तद्रूप वर्णन हिंदी रचनाओं में नहीं मिलता। यद्यपि वे दम (प्राण) का साधन कर उन्मनी अवस्था की प्राप्ति एवं अनाहत तूर्य के निनाद की बात को स्वीकार करते हैं, असाध्य पवन के ही साधन से गगन-गर्जन (ब्रह्मरन्ध्र में अनाहत नादोत्पत्ति) को मानते हैं, उन्मनी अवस्था की प्राप्ति मानते हैं, पवन को पलटने से वाणी को पलटना (लौकिक से अलौकिक वाणी में पलटना, शब्द का श्रवण) मानते हैं, शृंगी या बाह्य नाद का बजाना छोड़कर आन्तरिक अनाहत नाद को बजाने को कहते हैं, उसी नाद से परम निर्वाण की प्राप्ति की बात स्वीकार करते हैं किन्तु नाद की अवस्थाओं का वर्णन नहीं करते।[1] गोरख जिन वाद्यों की ओर संकेत करते हैं, उनसे अवश्व ही नाद की अवस्थाओं की ओर संकेत हो सकता है। वे विभिन्न प्रसंगों में अनाहत मृदंग, अनाहत घड़ी, अनाहत भ्रमर, मर्दल, अनाहत शंख आदि की ध्वनियों के अनुभवों का वर्णन करते हैं। नाद की चार अवस्थाओं के अनुसार ही गोरख ने चार प्रकार के योगियों की ओर संकेत अपनी हिंदी रचनाओं में किया है।

यदि नादसाधन की अवस्थाओं के अनुसार ही साधक की अवस्थाओं का भी भेद स्वीकार किया जाय तो 'आरंभ जोगी', 'घट जोगी', 'परिचय जोगी', और 'निसपती जोगी' नाम के चार प्रकार के योगी माने जा सकते हैं। गोरख ने आरंभ योगी को एकरस, प्रतिक्षण शरीर पर विचार करने वाला कहा है। घटयोगी का मन घट में ही रहता है, दूर नहीं जाता। वह रात-दिन (अमर) वारूणी का पान करता है। उसके सुख-दुःख-काल वायु से क्षीण हो जाते हैं। 'परिचय जोगी' उन्मन समाधि में रहा करता है, रात-दिन इच्छानुसार देवता से समागम करता रहता है, क्षण-क्षण (विभिन्न सिद्धियों की सहायता से) नाना रूप धारण करता रहता है। 'निसपती जोगी' सभी प्रकार से शुद्ध लोहे के के समान ही शुद्ध होता है, राजा-प्रजा में समदृष्टि रखता है। 'नरवै बोध' में गोरक्ष ने नादसाधन करनेवाले साधकों के आचार-विचार पर विस्तार से विचार किया है। आरंभ, घट, परचा, निसपती, जिन्हें डा० बड़थ्वाल ने योगी की क्रमशः चार अवस्थाएँ बतलाई हैं, वस्तुतः नादानुसंधान करनेवाले योगी के साधन की चार अवस्थाएँ हैं। ये ही नाम संस्कृत ग्रंथों में नाद की चार अवस्थाओं को दिये गये हैं। 'नरवै बोध' में तथा 'मच्छींद्र गोरष बोध' के आरंभ में जिस प्रकार के आचार-विचार का निर्देश किया गया है, उससे यह

---

[1] गो० बा०, १९. ५१; ३२. ९०, ३७. १०६, ९९.२।

प्रतीत होता है कि गोरख जिस प्रकार प्राणायाम के साधन के लिये यम-नियम के विभिन्न अंगों के रूप में आचार-विचार का उपदेश करते हैं, उसी प्रकार प्राणायाम से संबंधित नादानुसंधान के लिये भी वे उन्हें आवश्यक मानते हैं।[1] दूसरी बात यह है कि नादसाधन की प्रथम दो अवस्थाएँ स्थूल शरीरगत हैं, तृतीय मानसिक और आन्तरिक है। चतुर्थ अवस्था एकत्व-अनेकत्व में समत्वस्थापन की है। यह चतुर्थ क्रिया नाथों के अन्य साधनों में भी, तांत्रिकों के साधन की तरह ही दिखाई पड़ती है।

१५—प्रणवसाधन और अजपाजाप

प्राणायाम से ही संबंधित प्रणवसाधन और अजपाजाप हैं। यह कह चुके हैं कि प्रणव या ओंकार ही एकमात्र उपाधिरहित शब्दतत्व के रूप में वर्णित होता है। उसी के भेद और रूप नाद, ध्वनियों और शब्दों के रूप में गृहीत होते हैं। ओंकार या प्रणव का अर्थनिरूपण और विस्तार संस्कृत ग्रंथों में पुष्कल रूप में मिलता है। यह संपूर्ण वर्णन हिंदी रचनाओं के प्रणवसाधन का शास्त्रीय आधार है। नाथपंथी संस्कृत ग्रंथों में प्रणव या ओंकार को ही सूक्ष्मवेद कहा गया है। इसके साथ ही चतुर्वेद को स्थूलवेद कहा गया है। गोरख की हिन्दी रचनाओं में 'ससंवेद' शब्द का प्रयोग मिलता है। इसकी प्रायः दो व्युत्पत्तियाँ मिलती हैं—स्वसंवेद्य, सूक्ष्म वेद। गोरख के इस शब्द को ध्यान से देखने से प्रतीत होता है कि सूक्ष्मवेद, जो चार स्थूल वेदों से भिन्न है, सर्वथा एवं सर्वदा स्वसंवेद्य ही है, पाठ्य, निर्वचनीय नहीं। डा० बड़थ्वाल ने गोरखबानी के दो स्थानों पर उनके प्रयोग को देखकर दोनों स्थानों पर 'स्वसंवेद्य' ही अर्थ किया है किंतु जहाँ वेद पढ़ने की बात हो वहाँ पर सूक्ष्मवेद या प्रणव का ही अर्थ अधिक उचित प्रतीत होता है।[2] हिन्दी 'गोरष उपनिषद्' में बताया गया है—ब्राह्मण तो वेदपाठी होते हैं, वे ऋक्, यजुः, साम इत्यादि पढ़ते हैं। किन्तु योगियों का वेद सूक्ष्म वेद होता है। प्रणवकार ही वेद है। अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण ही उसे सूक्ष्मवेद कहते हैं।[3] इस प्रकार स्पष्ट है कि संस्कृत रचनाओं के समान ही नाथों की हिन्दी रचनाओं में भी सूक्ष्म वेद

---

[1] गो० बा०, पृ० ४७-४८ छं० १३६-१३९; पृ० १६९-१७३, छं० २-१४; पृ० १८६।

[2] गो० बा०, १०९.५, १२७.१, १०९.१ तथा १२७.१ की टीकाएँ द्रष्टव्य।

[3] सि० सि० प० अ० व० ना०, पृ० ७४।

प्रणव को ही साध्य माना गया है। गोरख इस ओंकार या प्रणव को ही मूल मानते हैं (अर्थात् वायु-मंत्र-साधन का मूल ओंकार है)। इस ओंकार मूल मंत्र की धारा सकल संसार में व्याप्त है। वही विभिन्न महत्वपूर्ण (नाभि, हृदय आदि) चक्रों में (विभिन्न वर्णों के रूप में) स्थित है। बिना इसकी उपलब्धि के गोरख सिद्धि की उपलब्धि संभव नहीं मानते। उसे वे निराकार मानते हैं। कहते हैं कि यह न सूक्ष्म है न स्थूल। यह स्वयं ज्योतिस्वरूप है।[1] प्रणव, ओंकार, सूक्ष्मवेद या स्वसंवेद्य आदि शब्दों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि गोरखबानी में प्रणवसाधन का कोई विस्तृत रूप विवेचित नहीं मिलता। केवल दो विचार मिलते हैं—(१) नाथ लोग केवल सूक्ष्मवेद प्रणव को स्वीकार करते हैं तथा (२) यह तत्व परमतत्व की भाँति संपूर्ण सृष्टि में व्याप्त है। इसके अतिरिक्त कोई स्पष्ट विस्तृत परिचय नाथपंथी रचनाओं में नहीं मिलता।

अजपाजाप का शास्त्रीय रूप पहले उपस्थित कर चुके हैं। अजपाजाप का श्वास-प्रश्वास ही आधार है। प्राणायाम प्राण का साधन है। हिन्दी रचनाओं के प्राणायाम के संबंध में हम प्राणायाम विवेचन के प्रारम्भ में ही कह चुके हैं। संस्कृत रचनाओं में नियम के अन्तर्गत ही 'जप' का विधान मिलता है। किंतु साधनक्रम में अजपाजाप का स्पष्टीकरण प्राणायाम के प्रसंग में ही संभव है। फिर भी नाथपंथियों को जप का कौन सा रूप ग्राह्य है, इसका परिचय देते हुए प्रणवसाधन और अजपाजप दोनों का ही विवेचन हिन्दी रचनाओं में उपलब्ध 'नियम के अन्तर्गत ही कर दिया गया है।

प्राणायाम के इस विस्तृत विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि नाथपंथी हिन्दी रचनाओं में संस्कृत रचनाओं की अपेक्षा प्राणायाम को अधिक महत्ता दी गई है। पूर्व वर्णित क्रम के अनुसार प्राणायाम के बाद क्रमशः प्रत्याहार, धारणा ध्यान और समाधि के साधनांग आते हैं।

१६—प्रत्याहार

कहा गया है कि षडंग योग का तृतीय अंग प्रत्याहार है जिसका प्रमुख लक्षण है—मानस का सभी विकारों से प्रत्याहरण। वस्तुतः प्रत्याहार शुद्ध रूप से मानस साधन है। पहले बताये हुए विभाजन के अनुसार प्रत्याहार मानस साधन होने के कारण आध्यात्मिक साधन है। आधिभौतिक (प्राण) और

---

[1] गो० बा०, पृ० ९८ छं० १७; १२९.१; १९८.९१।

आधिदैविक (शुक्र) साधन के बाद आध्यात्मिक साधन समीचीन ही है। प्रत्याहार से लेकर समाधि तक के अंग वस्तुतः आध्यात्मिक साधन के ही अन्त-र्गत हैं। योगमार्तण्ड के अनुसार प्रत्याहार की एक भिन्न परिभाषा उपस्थित करते हुए पहले कहा गया है कि चन्द्रामृतमयी धारा का भास्कर से प्रत्याहरण ही प्रत्याहार है। इस परिभाषा के विवरण से इसका विशेष संबंध विपरीतकरण से ही प्रतीत होता है जिसका उचित प्रसंग में आगे वर्णन किया गया है।

नाथों ने, जैसा संस्कृत ग्रंथों के योग में बताया जा चुका है, कहा है कि प्राणस्थैर्य हो जाने पर मन भी स्थिर हो जाता है। इसका अर्थ यही है कि प्राण के अचंचल हो जाने पर मन भी सरलता से अचंचल हो जाता है। चित्त-वृत्तियों के निरोध का वास्तविक प्रयत्न यहीं से आरंभ होता है। इसीलिये गोरख ने मन की पराकोटि की महत्ता स्वीकार करते हुए उसे ही शिव, शक्ति, पंचतत्वात्मक जीव तक कह दिया है। (अर्थात् मन को मोक्षोपकारक और बंधनकारक दोनों माना)। वे मन की पवित्रता और स्वास्थ्य को ही सब कुछ समझते हैं। वह मन की ही महत्ता को प्रदर्शित करने के लिये प्रसिद्ध कहा-वत 'मन चंगा तो कठौती में गंगा' का प्रयोग करते हैं। शुद्ध साधनागत सिद्धांत की दृष्टि से विचार करने पर निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि प्रमाता या अनुभविता ही शैवों की दृष्टि में सब कुछ है। ध्याता के चित्त से भिन्न ध्येय नहीं होता। यदि ध्याता की चित्तवृत्ति अध्यात्मसंपर्कित है, उज्जीवित है तो अनात्म अथवा मृत्यु का दर्शन उसे कहीं नहीं होगा। ऐसे महत्वपूर्ण मन की चार स्थितियों की ओर संकेत गोरख ने किया है। मन या तो जाग-तिक आशाओं के बंधन में रहता है या वह परम उदासीन या विरक्त रहता है। वह या तो गुरु की ओट या शरण में रहता है या कामिनी के क्रोड़ में। स्पष्ट ही इनमें से जागतिक आशाओं के बंधन में रहनेवाला तथा कामिनी के क्रोड़ में रहनेवाला मन योगानुकूल नहीं है। अतः इसके साधन के लिये आवश्यक यह है कि उसे न तो दबाया जाय, न बलात् उसका दमन किया जाय, न उसे खाली रखा जाय। सदैव किसी योगानुकूल कार्य में लगाये रखे अन्यथा वह किसी न किसी समय योगविरुद्ध मार्ग में जायगा। वे योगाग्नि अथवा ब्रह्माग्नि के रहस्य को जानने के लिये कहते हैं कि उससे मन परिशुद्ध होता है। वे साधक को ऐसा साधन करने को कहते हैं जिससे वह काया से बाहर न जाने पावे, रात दिन अंतर्मुख बना रहे। शरीर के विभिन्न अंगों की मुद्रा करने से वे कोई लाभ नहीं मानते। मानस की मुद्रा का तो न कोई रूप है न रेखा। मानसिक वृत्तियों की ही मुद्रा की जानी चाहिए। मन को अन्तर्मुख कर

संपूर्ण जगत् का शरीर के अन्दर ही दर्शन करना वस्तुतः मन का, उसके विषयों से आहरण ही है। (मानस मुद्रा या आन्तरिक मुद्रा की बात हम पहले ही मुद्रा के प्रकरण में कह चुके हैं) मदमत्त गज को मन के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त करते हुए ब्रह्मरंध्र द्वार पर उसे बाँधने का उपदेश देते हैं। आसन और पवन-साधन के बाद ही मन मूर्छित होता है और तभी ध्यान लगने पर गगन शिखर में प्रकाश होता है। इस साधनक्रम में प्राणायाम के बाद की प्रत्याहारक्रिया स्पष्ट है। वे इस मन को बाहर के विषयों की ओर भागनेवाला भी कहते हैं। पवन की सहायता से आत्मा मन का मारण कर उसे अन्तर्मुख रखती है।[1] इस प्रकार मन-पवन के परस्पर संबंध की अभिव्यक्ति हो जाती है।

मन इन्द्रियों से पृथक् नहीं होता। जब तक इन्द्रियाँ विषयों से प्रत्याहृत नहीं होतीं तब तक मन का प्रत्याहरण संभव नहीं है। इसलिये आँखों के विषयों से दृष्टि को हटाना चाहिए। उसी प्रकार लौकिक श्रोतृ विषयों का कानों से तथा नासिका रन्ध्रों से पवन को हटाना चाहिए। इस प्रकार की क्रिया से अंत में एकमात्र निर्वाणपद ही विषय के रूप में शेष रह जायगा। इस प्रकार के प्रत्याहृत इन्द्रियों एंव मन के लिये केवल निर्वाणपद के ही विषय के रूप में रह जाने पर आत्मसुरति (आत्मस्मृति—सघन स्मृति) चौगान में मन रूपी गेंद से ब्रह्मरन्ध्रक्षेत्र में क्रीड़ा करने लगती है। तब उसका सांसारिक स्वरूप नहीं रह जाता। इस प्रकार मदमस्त हस्ती रूप मन को अनुकूल बना लेने एवं हस्तगत कर लेने पर अक्षय भंडार की उपलब्धि आनंदमय एवं सरल हो जाती है। इसी प्रकार जब गोरक्ष पंचज्ञानेन्द्रियों के प्रसार के निवारण की बात करते हैं तब भी वे वस्तुतः प्रत्याहारसाधन की ओर ही संकेत करते हैं। दूसरे शब्दों में, शरीर को घेरना भी पंचेन्द्रियों के बाह्य प्रसार का प्रत्याहरण है। इस प्रकार की घेरेबंदी से इन्द्रियों का स्वामी (पंचदेव) घर में (शरीर में) बंदी हो जाता है, पूर्णतया नियंन्त्रित एवं स्थिर हो जाता है।[2] अन्य नाथसिद्धों ने भी मानस साधन प्रत्याहार का वर्णन किया है। चरपट ने इस शरीर को तरुवर तथा चित्त को मर्कट की तरह चंचल माना है। मर्कट नित्य ही डाल-पात (सांसारिक विषयों के प्रसार) में भ्रमण किया करता है। इसीलिये वह बार-बार दुखी होता है, रोता है तथा निवृत्ति के बाहर ही दसो दिशाओं में दौड़ता है,

[1] गो० बा०, १८. ५०, ५३. १५३, ५८. १७२, ५९. १७३, १४६. १, १७४. १, १७५. १०, १७६. ११।

[2] गो० बा०, २७. ७५—७७; २९. ८३, ३९. ११२।

फिर भी उसे सिद्धि (निवृत्ति) नहीं मिलती। प्रिथीनाथ के अनुसार मन को जीत लेने से तीन भुवन, काया, यम, माया पर विजय संभव हो जाती है। मन को वश में रखनेवाला व्यक्ति ही सबसे बड़ा है। अड़सठ तीर्थों और कोटि यज्ञों का फल केवल उसके दर्शन मात्र से मिलता है।[1]

१७—धारणा और षट्चक्रसाधन

प्रत्याहार के बाद धारणा का वर्णन किया गया है। पिछले विवेचनों में धारणा के अन्तर्गत ही कुंडलिनीयोग, लययोग, षट्चक्रभेद आदि का वर्णन किया गया है। धारणा बाह्य और अंतस् के साथ एकमात्र निजतत्वस्वरूप का अन्तःकरण से साधन है। इसे सभी पदार्थों का निराकार में धारण या जीवात्मा का निर्वात दीप की तरह धारणा कहा गया है। इससे मानसधैर्य की प्राप्ति बताई गई है। इस क्रिया में पंचभूतों का पृथक्-पृथक् धारण एवं मानस का निश्चलत्वसंपादन होता है। पंचभूतों के क्रमानुसार ही पाँच प्रकार की धारणा का परिचय हम पहले ही दे चुके हैं। लययोग में पंचभूतों का लय तथा आज्ञाचक्र में मनोलय का साधन वर्णित है। लययोग का अन्तर्भाव किस प्रकार धारणा के अन्तर्गत किया जाता है, इसका परिचय हम पहले ही दे चुके हैं। नाथ-पंथी हिंदी रचनाओं में धारणा का स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता। षट्चक्रभेद, लययोग, भूतविजय, कुंडलिनीसाधन, विपरीतकरणी, अमृतसाधन या रस-साधन आदि का वर्णन मिलता है। कुंडलिनीयोग या लययोग या षट्चक्र-साधन का प्रारंभिक तत्व षट्चक्र है।

संस्कृत ग्रंथों के योग का जो परिचय दिया गया है उसमें बताया गया है कि चक्रों की संख्या अनिश्चित है तथा उनके रूपवर्णन आदि के संबंध में भी भिन्न-भिन्न विवरण मिलते हैं। हिंदी रचनाओं में भी अष्टचक्रों, षट्चक्रों और नवचक्रों का वर्णन मिलता है। गोरख के नाम से प्रसिद्ध 'अष्ट चक्र' नाम की एक फुटकल रचना में आठ चक्रों का वर्णन मिलता है। गोरख ने आठ चक्रों को घट के भीतर स्थित बतलाया है। प्रथम चक्र गुदा में स्थित आधारचक्र है जिसमें चार दलों का एक कमल है। इसके ऊपर षट्दलकमलयुक्त लिंगस्थान में स्थित दृष्टिचक्र है। इसी प्रकार क्रमशः ऊर्ध्वक्रम में मणिपूरचक्र, अनाहत-चक्र, विशुद्धचक्र, अग्निचक्र, कायाचक्र, सहस्रदलकमल और सूक्ष्मचक्र हैं। इनका विवरण निम्नलिखित है[2]—

---

[1] सि० सि० प० अ० व० ना०, ८२.१; ना० सि० बा०, ७१. ४४५, ८९. ५७०।

[2] गो० बा०, पृ० २४९-२५०।

सं०	चक्रनाम	कमल के दल	स्थान	अन्य विवरण श्वास संख्या
१.	आधारचक्र	४	गुदा	६००
२.	दृष्टिचक्र	६	लिंग	६००
३.	मणिपूरचक्र	१०	नाभि	६००
४.	अनाहतचक्र	१२	हृदय	६००
५.	विशुद्धचक्र	१६	कंठ	१०००
			अजपा गायत्री पार-ब्रह्म का ध्यान	
६.	अग्निचक्र	१६	नेत्र	१००० ,,
७.	ज्ञानचक्र	१००० सहस्रदल कमल	ब्रह्मांड	१००० ,,
८.	सूक्ष्मचक्र	२१०००	विज्ञान	—

'मच्छींद्र गोरष बोध' में केवल ६ चक्रों का वर्णन किया गया है। उसमें उपर्युक्त विवरण से भिन्न नामवाले चक्रों का वर्णन कर बताया गया है कि अधःचक्र में चन्द्र दृढ़ होता है ऊर्ध्वचक्र में बंध लगता है, पश्चिमचक्र में निरोध निष्पन्न होता है, हृदयचक्र में मनप्रबोध होता है, कंठचक्र में ध्यान-धारण होता है तथा ज्ञानचक्र में साधक विश्राम प्राप्त करता है। यदि यह विवरण क्रमनिबद्ध माना जाय तो अधः चक्र आधारचक्र (मूलाधारचक्र) प्रतीत होता है तथा ऊर्ध्वचक्र (मूलाधार से ऊपर) लिंगस्थानीय दृष्टिचक्र है। इसी प्रकार पश्चिमचक्र मणिपूर और हृदयचक्र अनाहतचक्र है। इसके बाद स्पष्ट ही कंठचक्र (विशुद्ध चक्र) और ज्ञानचक्र का वर्णन मिलता है। इन दोनों चक्रों के मध्यस्थानीय अग्निचक्र का वर्णन यहाँ नहीं है। 'मच्छींद्र गोरष बोध' में ही एक अन्य स्थान पर भी चक्रों का वर्णन मिलता है जिसमें बताया गया है कि 'मूलचक्र' में कंदस्थैर्य, गुदाचक्र में अगोचर बंध, मणिचक्र में हंस-निरोध तथा अनाहतचक्र में चित्तप्रबोधन संपन्न होता है। इसके बाद के दो चक्रों—क्रमशः विशुद्धि और चन्द्रचक्र में स्वादोपलब्धि एवं समाधि की आप्ति होती है।[1] स्पष्ट ही यहाँ मूलचक्र और गुदास्थानीय आधारचक्र में भेद किया गया है। गोरख बानी के ही तीन स्थलों में तथा गोरख के ही नाम से प्रसिद्ध रचनाओं में चक्रों की संख्या, विवरण एवं क्रम में इस प्रकार भिन्नता मिलती है। अतः इनके आधार पर गोरख की किसी व्यवस्थित चक्र-व्यवस्था का

---

[1] गो० बा०, पृ० १९२, पृ० २०२।

परिचय नहीं मिलता। किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि 'अष्टचक्र' के आठ चक्रों में से सूक्ष्मचक्र अवश्य ही नाथों की अतिरिक्त कल्पना है। तांत्रिकों के चक्रों में क्रमशः मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि और आज्ञा नाम के छ चक्रों का वर्णन मिलता है। सहस्रार मिलाकर तांत्रिकों में भी ७ चक्रों का (जैसा षट्चक्रनिरूपण में है) वर्णन मिलता है। प्रथम ६ कमलों के दल क्रमशः ४, ६, १०, १२, १६ और २ माने गये हैं। अष्टचक्र के छठें चक्र को यदि आज्ञाचक्र मानें तो निश्चय ही यहाँ उसके दलों की संख्या १६ होने के कारण, उसका तांत्रिकों के द्विदल आज्ञचक्रस्थ कमल से भेद है। इसी प्रकार अन्य भेद भी दिखाये जा सकते हैं। यदि दलों की संख्या को ध्यान में रखकर 'अष्टचक्र' के चक्रों की तुलना की जाय तो आधार चक्र तांत्रिकों का मूलाधार चक्र है तथा दृष्टिचक्र स्वाधिष्ठान चक्र है। शेष, उपर्युक्त अंतरों को ध्यान में रखकर समतुल्य सिद्ध किये जा सकते हैं। तुलना की सुकरता के लिये तांत्रिकों द्वारा स्वीकृत चक्रव्यवस्था का विवरण 'षट्चक्रनिरूपण' के आधार पर नीचे दिया जा रहा है—

सं०	चक्र नाम	कमलदल	वर्ण	स्थान	अन्य विवरण
१.	मूलाधारचक्र	४	पीत	इन्द्रिय और गुदा के बीच	पृथ्वी तत्व
२.	स्वाधिष्ठानचक्र	६	सिंदूरी	इन्द्रिय मूल में स्थित	जल तत्व
३.	मणिपूरचक्र	१०	सघन जलद	नाभि के स्तर पर	अग्नि तत्व
४.	अनाहत चक्र	१२	रक्त-कमल वर्ण	हृदय	वायु तत्व
५.	विशुद्धि चक्र	१६	धूमायित बैंगनी	कंठ के नीचे	आकाश तत्व
६.	आज्ञाचक्र	२	उज्वल	भ्रूमध्य	गुरु-आज्ञा का प्रकाशन
७.	सहस्रार	१०००	शुभ्रोज्वल	परम व्योम महाशून्य	गुरु-स्थान, जीवात्मा परमात्मा के एकत्व का ज्ञान[1]

[1] षट्चक्रनिरूपण—फोरवर्ड, श्री भैरवानन्द, पृ० ९-१४।

इसी प्रकार निम्न विवरण से गोरखबानी के भिन्न-भिन्न स्थलों पर दिये गये चक्रविवरण के तुलनात्मक परिचय के साथ चक्रों के भिन्न-भिन्न नाम भी, जो नाथों द्वारा स्वीकृत हैं, ज्ञात हो जाते हैं।[1]

'मच्छींद्र गोरख बोध' (१)	मच्छींद्र गोरखबोध (२)	'अष्टचक्र'	षट्चक्रनिरूपण
१–अरध (अधः) चक्र	मूलचक्र	आधारचक्र (४)	मूलाधारचक्र (४)
२–उर्घ (ऊर्ध्व) चक्र	गुदाचक्र	द्रिष्टि (दृष्टि) चक्र (६)	स्वाधिष्ठानचक्र (६)
३–पछम (पश्चिम) चक्र	मणिचक्र	मणिपुर (मलिपूर) चक्र (१०)	मणिपूरचक्र (१०)
४–हिरदा (हृदय) चक्र	अनहदचक्र	अनहद (अनाहत) चक्र (१२)	अनाहतचक्र (११)
५–काठे (कंठ) चक्र	विसुधचक्र	विसुध (विसुद्धि) चक्र (१६)	विशुद्धिचक्र (१६)
६–ग्यांन (ज्ञान) चक्र	चंद्र चक्र	अगनि (अग्नि) चक्र १६	आज्ञाचक्र (२)
७– —	—	गिनांत (ज्ञानं) चक्र (सहस्रदल)	सहस्रार कमल (१०००)
८– —	—	सुछिम (सूक्ष्म) चक्र (२१०००)	

इसके अतिरिक्त नाथों की हिन्दी रचनाओं में जो चक्र संबंधी विवरण मिलता है, उससे उपर्युक्त विवरण से साम्य-वैषम्य तो मिलता ही है साथ ही साधन संबंधी सिद्धान्तों का भी कुछ परिचय मिल जाता है। गोरख ने 'अष्ट कँवल' और 'बतीस पाँखुड़ी' शब्दों का जो प्रयोग किया है, वह डा० बड़थ्वाल की दृष्टि में संदिग्ध है। उपर्युक्त विवरणों में से केवल ८ कमलों के बात की पुष्टि हो सकती है। ३२ पंखड़ियों का कोई आधार वहाँ नहीं मिलता। 'अध' और 'ऊर्ध्व' शब्दों का जो प्रायः प्रयोग गोरखबानी में मिलता है, उसे देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि सर्वातिनिम्न चक्र या घटस्थित साधनकेन्द्र के

[1] गोरखबानी में मच्छींद्र गोरष बोध (१), पृ० १९२, मच्छींद्र गोरष बोध (२) पृ०, २०२; अष्ट चक्र—पृ० २४९–२५०। षट्चक्रनिरूपण के अंग्रेजी में लिखे 'फोरवर्ड' में संक्षेप में चक्रों का विवरण मिलता है।

लिये 'अधः' (अरधै) और सर्वोच्च घटस्थित साधनपीठ के लिये ऊर्ध्व (उरधै) नाम दिया गया है। कहा गया है कि 'अरधै' में योगेश्वर और 'उरधै' में केदार की स्थिति है। नीचे के केन्द्र में शक्ति का तथा ऊपर के केन्द्र में शिव का निवास है।[1] मूलकमल और मूलाधार को डा० बड़थ्वाल ने एक ही माना है। षट्दल को स्वाधिष्ठान तथा षोडशदल कमल को विशुद्धिकमल या चक्र माना गया है।[2] अन्य नाथसिद्धों में चौरंगीनाथ ने 'प्राणसंकली' में षट्चक्रों का वर्णन किया है। उनके अनुसार चक्रों के विवरण निम्नलिखित हैं–

सं० चक्र नाम	**कमलके दल**	**वर्ण**	**अन्य विवरण**
१–गोहाचक्र (आधारचक्र)	४	रक्तवर्ण	सूर्यदेवता
२–लिंगचक्र (स्वाधिष्ठानचक्र)	६	पीत वर्ण	कामेश्वर देवता, आधारचक्र से ३ अंगुल ऊपर
३–नाभिचक्र (मणिपूरचक्र)	१०	कपिल वर्ण	सेवता नाम के देवता, लिंगचक्र से १० अंगुल ऊपर
४–हृदयचक्र (अनाहतचक्र)	१२	श्वेत वर्ण	प्राणालिंग देवता, नाभिचक्र से १२ अंगुल ऊपर
५–कंठचक्र (विशुद्धिचक्र)	१६	धूम्रवर्ण	नादध्वनि देवता, हृदय से ८ अंगुल ऊपर
६–भ्रूचक्र (आज्ञाचक्र)	२	रक्तवर्ण	रुद्रदेवता, कंठचक्र से १६ अंगुल ऊपर
७–शून्य-ब्रह्मांड (गगनमंडल) देव भुवन, सिद्ध भुवन			आज्ञा से एक अंगुल ऊपर

चौरंगीनाथ के चक्रनाम और दलसंख्या षट्चक्रनिरूपण से मिलते हैं। चक्रों की संख्या भी सब मिलाकर ७ है। यद्यपि कमलों के वर्ण में भेद है तथापि चक्रस्थानों में कोई भेद नहीं है।[3] चक्र संबंधी अभी तक जितना विवरण नाथपंथियों की हिन्दी रचनाओं से दिया गया है उसमें अधिकांशतः तांत्रिक चक्रसंख्या, दलसंख्या, चक्रनाम आदि में भेद दिखाई पड़ता है। अतः कुल मिलाकर ७ चक्र नाथपंथियों को मान्य हैं यद्यपि कुछ अन्य चक्रों का भी विवरण

[1] गो० बा०, १६७. १३ तथा उसकी टीका, पृ०७, १३, २८, २९, ११७, १२०, १३५, १६६, १६७, १८८, १९०, १९५, १९६, १८९, १७५।

[2] गो० बा०, पृ० १५५, ५८, ९५।

[3] ना० सि० बा०, पृ० ४३-४४।

मिलता है। 'षट्चक्रनिरूपण' नाम के तांत्रिक ग्रंथ में ही अनेक छोटे-छोटे चक्रों के नाम मिलते हैं जैसे अनाहतचक्र के समीप रक्ताभ अष्टदलकमल और आज्ञाचक्र के ऊपर मनसचक्र और सोमचक्र। इस प्रकार नाथपंथियों को भी (हिंदी रचनाओं के अनुसार) मूलाधार से आज्ञा तक के ६ चक्र तथा ७वाँ सहस्रार स्वीकार्य है। ये ७ मुख्य कमल हैं। अन्य विवेचकों द्वारा भी अधिकांशतः ये चक्र स्वीकार्य हैं। किन-किन चक्रों में कौन-कौन से भूततत्व हैं, इसका कोई भी संकेत नाथपंथी हिन्दी रचनाओं में नहीं मिलता। संस्कृत रचनाओं में भी कोई विवरण नहीं मिलता। अतएव तांत्रिक विवरणों को यहाँ भी स्वीकार करना चाहिए।

१८—कुंडलिनी

जब कुंडलिनी मूलाधार से जाग्रत होकर चक्रों का भेदन करती है तब इस क्रिया को षट्चक्रभेद कहते हैं। सहस्रार तक पहुँचने की क्रिया को आरोहण-क्रिया या प्रलय कहते हैं और सहस्रार से पुनः परावृत्त होकर मूलाधार में आने की क्रिया को अवरोहणक्रिया या सृष्टिप्रक्रिया कहते हैं। इन क्रियाओं का विस्तृत विवरण हम पहले ही दे चुके हैं। इस प्रकार षट्चक्रसाधन के लिये द्वितीय मुख्य तत्व कुंडलिनी है। कुंडलिनी के द्वारा मुख्यतः भेदनक्रिया किये जाने के कारण ही इस साधन को कुंडलिनीसाधन या कुंडलिनीयोग कहते हैं। नाथपंथी हिन्दी रचनाओं में इस कुंडलिनी को विभिन्न नामों से संबोधित कर उसके साधन की ओर संकेत किया गया है। ऊपर बताये गये विभिन्न चक्रों के लिये नाथसिद्धों ने विभिन्न ऐसे नामों का प्रयोग किया है जिनका शास्त्रीय ग्रंथों में प्रायः प्रयोग नहीं मिलता। इनमें से अधिकांश शब्द मूलाधार, सहस्रार, ब्रह्मरंध्र या गगनशिखर आदि के लिये हैं। कुछ शब्द तो ऐसे हैं जो प्रतीक हैं और वैदिक-तांत्रिक विचार-परंपरा का जीवंत विकास धारण किये हुए हैं यद्यपि नाथों की दृष्टि से उनका स्रोत शैव तंत्र ही है।

१९—सहस्रार तथा पर्याय

कुंडलिनी की यात्रा के आरंभ, मध्य और अंत में पड़नेवाले विभिन्न शक्ति-केन्द्रों में सर्वोच्च स्थान सहस्रार है। कभी-कभी उसे आकाश कहा गया है। वहाँ जाकर कुंडलिनी अंततः विश्राम लेती है। पवन को अति आश्चर्यजनक शक्तिशालिनी गुटिका के रूप में कल्पित कर उसी के बल से आकाश अथवा ब्रह्मरन्ध्र में साधनात्मक जीवन व्यतीत करना संभव बताया गया है। निम्न-

स्थानीय पिंडगत साधनकेन्द्र (चक्र) का नाम 'पाताल' मिलता है जिसका अर्थ डा० बड़थ्वाल ने एक स्थान पर 'स्वाधिष्ठान' किया है (किंतु तांत्रिक परंपरा के अनुसार मूलाधार भुवर्लोक है। नीचे के लोकों की स्थिति, जिन्हें पाताल के सामान्य नाम से पुकारा जाता है, भुवर्लोक के नीचे मानी जाती है। अतः पाताल का अर्थ मूलाधार गह्वर (या विवर) का वह स्थान होना चाहिए, जहाँ कुंडलिनी सुषुप्तावस्था में रहती है। नाथपंथियों के स्वाधिष्ठान की स्थिति मूलाधार या आधारचक्र के ३ अंगुल ऊपर मानी जाती है। शून्यस्थान सर्वोच्च स्थान है जिसे डा० बड़थ्वाल ने ब्रह्मरन्ध्र माना है। मही या पृथ्वी तत्व की स्थिति मूलाधार में मानी जाती है, इसीलिये इसे भुवर्लोक कहते हैं। आकाश तत्व की स्थिति विशुद्धिचक्र में मानी जाती है जिसे तांत्रिकों के अनुसार तपोलोक कहा जाता है। गगनमंडल (शून्य अथवा ब्रह्मरन्ध्र) में अमृतरसस्रावी एक औंधा कूँआ है। उसी गगनमंडल (या सहस्रार) में शून्यद्वार भी है। यहीं अनुभूति की परमोच्च अवस्था की उपलब्धि होती है। इस गगन को स्तंभविहीन और निराधार कह कर उसमें ही ज्ञानदीप का प्रकाशन माना गया है।[१] सहस्रार के ही विषय में तांत्रिकों का मत है कि वहाँ जीवात्मा-परमात्मा के एकत्व का ज्ञान होता है। हम पहले ही कह चुके हैं कि कहीं-कहीं नाथ लोग आठ चक्रों को भी स्वीकार करते हैं। यह अष्टम चक्र सहस्रार के ऊपर है। यदि तांत्रिकों के अनुसार यहाँ एकत्वज्ञान होता है तो इस अष्टम चक्र में अद्वैतानुभूति से भी पराकोटि की अनुभूति होनी चाहिए। इस दृष्टि से विचार करते हुए यदि नाथों के द्वैताद्वैतविर्वाजित नाथपद को लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया जाय तो स्पष्ट ही तांत्रिकों से नाथों का वैलक्षण्य, इस अष्टम चक्र को ध्यान में रखने पर, सिद्ध होता है।

गोरखबानी के प्रारंभ में अनिर्वचनीय निर्नाम और अरूप बालरूप की विलक्षण उपलब्धि की बात कही गई है। उसका ध्वनिमय विग्रह गगनशिखर (ब्रह्मरंध्र या शून्य या आकाश) में प्रकाशित होता है। वहीं नाद का उच्छलन, पवन के समाहित हो जाने से अनाहत नाद का ध्वनन, एवं प्रोज्वल ब्रह्मप्रकाश का प्रकाशन होता है। अवधूतों का क्रीड़ास्थल गगनमंडल ही है। इसी में पवन को उलटकर, समाहित कर देने से अनाहत नाद का गर्जन होता है। विंदु-साधन में जब विंदु (शुक्र) उत्थित कर पहुँचा दिया जाता है, तभी साधक ऊर्ध्वरेता कहलाता है। संन्यासी भी केवल गगनमंडल में मिलनेवाली परमानु-

[१] गो० बा०, पृ० ११९, १३१, ९, ६०, ६६, ६८।

भूति की आशा करता है (किसी बाह्य जगत् की वस्तुओं की आशा नहीं करता)। साधक को द्वादशांगुल वायु के इसी शून्यमंडल में प्रेरण का उपदेश दिया जाता है। यहीं तूर्यनाद के श्रवण तथा आकाशजल के पान का अवसर मिलता है।[1] यह गगन अथवा ब्रह्मरंध्र ही चन्द्र-सूर्य नाड़ियों का निरोधस्थान है। यही वह आकाश है जिसका धरणी से मधुर संबंध माना जाता है। अवधूत के वैराग्यभाव को धारण करनेवाले योगी का मन इसी गगनमंडल ब्रह्मरन्ध्र में अपनी मढ़ी बनाता है। इसी आकाशरूपी गाय का दुग्ध अमृतसमान है, जिसे अमृतरस कहते हैं। मिलन की यही भूमि है। अवधूत का मन अगोचर वस्तु की खोज यहीं करता है। यहीं मन को उन्मनावस्था की प्राप्ति होती है। यहीं (आत्मा) गगन में चढ़कर अमृतजल का पान करता है।[2] इस प्रकार स्पष्टतः नाथलोग ब्रह्मरन्ध्र, गगनमंडल, आकाश, शून्यस्थान या 'द्यावा' में अमृतपान, दिव्य दृश्य, दिव्य प्रकाश, दिव्य रूप, दिव्य ध्वनि आदि की उपलब्धि करते हैं।

सहस्रार या साधन के अन्य महत्वपूर्ण स्थानों के लिये अन्य पर्याय भी नाथ-पंथी रचनाओं में मिलते हैं तथा उनसे संबद्ध विभिन्न प्रकार की अनुभूतियाँ एवं उपलब्धियाँ भी जुड़ी हुई बताई गई हैं। उदाहरण के लिये कविलास या कैलास, औंधा कूँआ, कूप, काशी, केदार, त्रिकुटी, दशमद्वार, पश्चिम द्वार, पश्चिम, पलंका, ब्रह्मकुंड, भँवर गुफा, ब्रह्मसागर, ब्रह्मांड, ब्रह्मग्रंथि, विषमी संधि, शिवपुरी सरोवर, शून्य द्वार, कपाट, धरती, पाताल, महीतल, मान-सरोवर, सप्तग्रंथि, संधि आदि शब्द लिये जा सकते हैं। इनमें से शून्य, कवि-लास या कैलास, औंधा कूँआ, कूप, काशी, केदार, त्रिकुटी, दशम द्वार, पश्चिम चक्र, भँवर गुफा, ब्रह्मांड, शिवपुरी, कपाट, शून्य द्वार आदि शब्द ऊपर के साधनकेन्द्रों की ओर संकेत करते हैं। इसी प्रकार धरती, दक्षिण, पाताल, महीतल आदि शब्द साधन के निम्न पीठों की ओर संकेत करते हैं।

इन शब्दों में से कविलास या कैलास ब्रह्मरंध्र या गगनशिखर का पर्याय है। औंधे कूँए की स्थिति गगनमंडल या ब्रह्मरंध्र में मानी गई है। इड़ा-पिंगला का मिलनस्थल ही त्रिकुटी या संगम है। इसी स्थान को सुषुम्ना का स्थल भी कहते हैं। त्रिकुटी ब्रह्मरंध्र है, ब्रह्मकुंड है। यहीं अमृतस्रावक

---

[1] गो० बा०, पृ० १, २, १२, १९, २७, ३१, ३२, ३३, ३६, ४०, ४१, ९१।

[2] गो० बा०, पृ० ९६, १०२, १०५, ११३, ११४, १६७, १८८, १९०, ४५, १४९, १७४।

कूप है। इस त्रिकुटी तीर्थ को ही काशी तीर्थ कहा गया है। द्वारों का वर्णन हम पहले ही कर चुके हैं। दशम द्वार या ब्रह्मरंध्र वह स्थान है जहाँ योगी का मन उन्मन होता है। यहीं दशमद्वार में केदार (परब्रह्म या शिव का स्थान) की स्थिति मानी गई है। यहीं परमात्मा का परिचय होता है। यह द्वार अदृश्य है। यहीं अवधूत मधुकरी माँगता है, आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने का संबल प्राप्त करता है।[1] भँवरगुफा भी ब्रह्मरंध्र का ही वाचक है। ब्रह्मांड का अर्थ पिंडब्रह्मांडवाद के निरूपण में हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं। इस अर्थ में ब्रह्मांड पिंड का संवादी होता है यद्यपि उसका स्तर विश्वात्मक होता है। दूसरे अर्थ में ब्रह्मांड, ब्रह्मरंध्र, सहस्रदलकमल आदि का पर्याय है। इसी प्रकार अन्य शब्दों में विषमी संधि, बंकनाल या सुषुम्ना, जहाँ इड़ा-पिंगला की संधि है, का पर्याय है। इसी को हम पहले त्रिकुटी कह चुके हैं। शिवपुरी भी ब्रह्मरंध्र का वाचक है।[2]

२०—कुंडलिनीसाधन

कुंडलिनीसाधन से संबंधित दूसरी क्रिया विपरीतकरण है। धारणा में मन में पंचभूततत्वों का धारण होता है, मन का निश्चलत्वसंपादन होता है। मन के निश्चलत्वसंपादन का वर्णन हम मनोन्मनी के अन्तर्गत कर चुके हैं। यह मनोन्मनीसाधन भी एक प्रकार का विपरीतकरण है जिसमें मन को पलट कर अन्तर्विषयों, नादादि की ओर आकृष्ट कर निश्चल कर दिया जाता है। इसमें शरीर के पंचभूतों को कुंडलिनी के शरीर में लीन कर उनका प्रलयीकरण होता है। अंततः वे दिव्य हो जाते हैं। लौकिक स्थूल तत्वों का लोकोत्तरीकरण भी विपरीतकरण ही है। हठयोगी ग्रंथों में 'विपरीतकरणी मुद्रा' भी मिलती है। किंतु यह विपरीतकरण केवल सूक्ष्म तत्वों से ही संबंधित है। यह विपरीतकरण उलटी स्थापना है, उलटा क्रम है। सांसारिक क्रम को उलट कर पारमार्थिक बना देना विपरीतकरण है। दीक्षा भी इसी का एक प्रकार है। सांसारिक-क्रम पितृक्रम-पुत्रक्रम-विदुक्रम है। नाथों को गुरुक्रम-शिष्यक्रम-नादक्रम ही मान्य है। दीक्षा के पूर्व सांसारिक क्रम ही चलता है किंतु दीक्षा के बाद नादक्रम या अलौकिक क्रम ही चलता है। शिष्य के सिद्ध होने पर

[1] गो० बा०, पृ० १६४, १३१, ९, १२२, ११६, ६३, १३४, १०२, १७४, ४७, ९४, ११०, ११७, १२०, १४९।

[2] गो० बा०, पृ० ४६, १२२, १२५, २५, १०१, १०६, २, ३९, १७४, १२७, १६, १७७।

या ३६ लक्षणों से संपन्न हो जाने पर फिर गुरु-शिष्य आदि के भेद नहीं रहते। उनमें किसी को भी ज्येष्ठ या श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता। किंतु सांसारिक दृष्टि से यह विपरीत क्रम है। इस क्रम के संबन्धमें हम पहले भी बहुत कुछ कह चुके हैं। मन, पवन, शब्द, सुरति—इन सबको उलट कर त्रिपुटी में मिलाना या केन्द्रित करना भी विपरीतकरण है।[1] कुंडलिनी का सुप्त रहना एवं मानसिक वृत्तियों का बाह्य सांसारिक विषयों की ओर उन्मुख होकर चंचल रहना यह सब सांसारिकों की दृष्टि में सीधी क्रिया है। इनको उलट देना कुंडलिनी को जाग्रत कर सहस्रारोन्मुख कर देना विपरीतकरण है। इस प्रकार की उलटी क्रिया की चर्चा उलटी चर्चा है। कायसिद्धि या सिद्धदेह का वर्णन करते समय 'काया पलटना' का वर्णन किया जा चुका है। इसी प्रकार षट्चक्रवेध के लिये पवन को उलटना भी आवश्यक बतलाया गया है। इसी साधन को चंद्र-सूर्य को सम्मुख रखना, उलटकर फूल का कली में आना (वृद्ध से बाल रूप में आना), उलट कर फिर पीछे की ओर आना (परावृत होना), मन का उलटना, कमलों का उलटना (तांत्रिक मान्यता है कि कमलों का वेध होने पर वे अधोमुख से ऊर्ध्वमुख हो जाते हैं), रुधिर को उलट कर अमृत रस का भरना, विपरीतकरणी मुद्रा से वायुस्थैर्य, चंद्र और सूर्य का उलट कर राहु-केतु का ग्रास कर लेना, चंद्र-सूर्य का समरसीकरण आदि सभी प्रकारान्तर से इसी विपरीतकरण की ओर संकेत करते हैं।[2] इस प्रकार यह विपरीतकरण मन, पवन, इन्द्रिय, शुक्र, काया आदि का विपरीतकरण है जिससे शारीरिक अजरामरता एवं परमतत्वसाधन—दोनों ही सिद्ध होते हैं। कुंडलिनी का पलटना इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण है।

कुंडलिनी का पलटना या जागरण और सहस्रारोन्मुख होकर गतिशील होना एक ही है। इसकी यात्रा के संबंध में विस्तार से हम तांत्रिक योग के विवेचन में कह चुके हैं। तांत्रिक लोग शक्ति के ही दो रूप मानते हैं। शक्ति माया भी है और मुक्तिदायिनी भी है। कुंडलिनी जब तक सुप्त रहती है तबतक वह मायाभिमुख जीवशक्ति का प्रतीक है। जाग्रत होने पर वही मोक्ष-दायिनी है। पहले हम नारीशक्ति के भी रूपों का परिचय दे चुके हैं। कुंडलिनी के कुंवारी, योषित और पतिव्रता ये तीनरूप उसके विकासक्रम के

[1] गो० बा०, पृ० ५० छं० १४४, पृ० १८७।

[2] गो० बा०, पृ० १४२, ६५, ७०, १३, १९, ३६, ३९, ४०, ७४, १२४ १४६, १४९, १७५, १७६।

अनुसार बताये जा चुके हैं। हिन्दी की नाथपंथी रचनाओं से इन तीनों रूपों का परिचय नहीं मिलता। यद्यपि गोरखबानी में कुंडलिनी को नारी कहा गया है किंतु अधिकतर नारी शब्द का प्रयोग 'रमणी' के लिये ही किया गया है। इसी प्रकार यद्यपि 'कुँवारी' शब्द तांत्रिक योग में जाग्रत कुंडलिनी की प्रथम अवस्था है तथापि यहाँ 'कुँवारी' शब्द 'माया' के लिये व्यवहृत किया गया है। यदि कुंडलिनी का एक मायात्मक रूप भी स्वीकार कर लिया जाय तो 'कुँवारी' शब्द का प्रयोग कुंडलिनी के लिये समीचीन माना जा सकता है। एक तीसरा शब्द 'कलालिन' है। मदिरा पान करानेवाली 'नारी' के रूप में कुंडलिनी की कल्पना अपरिचित नहीं है किंतु डा० बड़थ्वाल ने इच्छा रूप 'कलालिन' का अर्थ किया है।[१] बौद्ध सिद्धों के यहाँ सुषुम्नासुन्दरी या अवधूतिका को 'योगिन' के रूप में कल्पित किया गया है, किंतु गोरक्ष द्वारा प्रयुक्त 'जोगणि' शब्द को डा० बड़थ्वाल ने 'मनसा' का बोधक माना है। 'मनसा' या इच्छा रूप 'योगिनी' कुंडलिनी का ही बोधक है क्योंकि इसके विषय में कहा गया है कि यह मन में झूलती (मस्त होती) आती है तथा गगन मंडल में मढ़ी बना लेती है। वस्तुतः कुंडलिनी जीव की इच्छाशक्ति का प्रतीक है। 'योगिनी' के आगे के परिचय में स्पष्टतया कहा गया है—'मेरे सास-ससुर नाभि (मणिपूर चक्र) में रहने वाले हैं। मैं (जोगी मन) ब्रह्मस्थान (ब्रह्मरंध्र) का निवासी हूँ (अर्थात् स्वयं परमात्मतत्व हूँ)। इला-पिंगला के प्राणायाम के द्वारा मेरी जोगिन (कुंडलिनी) से भेंट हुई और सुषुम्ना में मुझे निवास मिला।……नाभि (मणिपूर) में कुलकुंडलिनी शक्ति का निवास माना जाता है। इसी शक्ति (मूल या आदि माया) के द्वारा सृष्टि का निर्माण हुआ है। इसीलिये उसे ब्रह्मा और सावित्री का निवास मानते हैं। ये ही सास-ससुर कहे जाते हैं क्योंकि ये स्थूल माया पैदा करने वाले हैं। इस प्रकार योगी का मन ही साधक है तथा योगिन मनसा या कुंडलिनी के साथ वह योगी सदैव भोगनिरत रहता है।[२]

कुंडलिनी शब्द ही सर्पिणी का बोधक है। इसलिये कुंडलिनी का दूसरा पर्याय नागिन है। कुंडलिनी या नागिन षट्चक्रों का भेदन कर उनसे ऊपर निवास करती है। डा० बड़थ्वाल ने इसे माया अथवा शक्ति कहा है। उसे काली सर्पिणी रूप माया भी कहा गया है। 'भुवंगन' या भुजंग शब्द भी

[१] गो० बा०, पृ० ९७, ९१, १५१, १५२, १५३, १७३, १०६, १२२।

[२] गो० बा०, पृ० १०५-१०६।

सर्पिणी या कुंडलिनी का पर्याय है। एक स्थान पर उसे श्वास-सर्प भी कहने का कारण यह है कि श्वास से जाग्रत की हुई कुंडलिनी सुषुम्ना के मार्ग से गमनागमन करती है। सहजभाव से बंकनाल से होकर नाभि तक कुहक करने-वाली कुंडलनी ही सर्पिणी या माया भी कही जाती है।[१] 'पाताल' का अर्थ-निर्णय हम पहले ही कर चुके हैं। कुंडलिनी को 'पाताल की गंगा' भी कहते हैं क्योंकि वहाँ से निकल कर भूतपरिशोधिका होकर वह सहस्रार तक प्रवाहित होती है।[२] दर्शन और साधन दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण शब्द शक्ति है। शक्ति शब्द का प्रयोग नाथपंथी हिन्दी रचनाओं में कई अर्थों में मिलता है— कुंडलिनी, माया शक्ति, शिव का अभिन्न तत्व, रज, रवि। इनमें से प्रथम तीन अर्थ ही प्रधान हैं। कभी-कभी प्रथम दो अर्थों का मिश्रण भी हो गया है। डा० बड़थ्वाल ने प्रायः इन दोनों अर्थों को मिलाकर अर्थनिरूपण किया है, जैसा पहले के विवेचनों से स्पष्ट है। शक्ति उलट कर जब ब्रह्मांड में पहुँच जाती है तथा नख से शिखा तक वायु क्रीड़ा करने लगती है तभी चन्द्र उलट कर राहु को ग्रस्त कर देता है। इसी शक्ति का शिव से विभिन्न क्रियाओं द्वारा योग कराया जाता है। इस शक्ति का शिव से योग कराने पर उन्मनी सिद्ध होती है। वस्तुतः इसका निवास अधोभाग में रहता है। सूर्य-चन्द्र साधन से संबंधित करने पर रवि ही शक्ति है जिसे शिव (चंद्र) से जोड़ा जाता है। इसे 'रज' और शिव को विंदु कहते हैं जिनका विलक्षण योग साधन माना गया है।[३] शिव-शक्ति-योग संबंधी इस परिचय से यद्यपि शक्ति के दार्शनिक रूप का कोई परिचय नहीं मिलता तथापि शिवशक्तिसंबंध के विषय में जितनी बातें तांत्रिक योग के विवेचन में कही गई हैं उनको दृष्टिगत रखकर विचार करने पर इसका स्पष्टीकरण हो जाता है। हिन्दी रचनाओं में 'पनिहारी' और 'गागर' का प्रतीक भी व्यवहृत है। आत्मा को पनिहारिन और कुंडलिनी को गागर कहा गया है। चक्रों के अनुसार पनिहारिन आत्मा का स्थान ऊपर ब्रह्मरंध्र है तथा कुंडलिनी (गागर) जिसके द्वारा ब्रह्मानन्द रस का अनुभव होता है, वह मूलाधार में है।[४]

---

[१] गो० बा०, पृ० १६५, १६६, ६३, १४७, १७४, १३९, १९२।

[२] गो० बा०, पृ० २।

[३] गो० बा०, पृ० ७१, ८२, ३०, ४५, १००, १९०, १५०, १७४, १९३, १९६, १००, ११०।

[४] गो० बा०, पृ० १४२।

अन्य नाथसिद्धों में बालगुंदाई ने कुंडलिनीशक्ति के महत्व की ओर संकेत कर बताया है कि कुंडलिनी शक्ति त्रिभुवनजननी है। वह आदि कुँवारी एवं संपूर्ण जगत् की नारी (भोग्या) है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र की उत्पत्ति करने-वाली वही है। पिंडगत कुंडलिनी को उत्थित कर गगन में चढ़ाया जाता है जिसके परिणामस्वरूप साधक को निर्भयता तथा सिद्धदेह की उपलब्धि होती है। अनेक जन्मों के दुःख से मुक्ति भी मिल जाती है। त्रिभुवनजननी का कुंडलिनी रूप उसके उस विश्वात्मक रूप की ओर संकेत करता है जिसे महा-कुंडलिनी नाम से अभिहित किया जाता है। इसी प्रकार पृथ्वीनाथ ने भी कुंडलिनीसाधन का वर्णन करते हुए बतलाया है कि 'हमारी योगयुक्ति ही हमारा छत्र और सिंहासन है। महाशक्ति का निवासस्थान ही रनिवास है। उस विलक्षण पुरुष के लिये आकाशमंदिर की रचना की है।[१] इस प्रकार स्पष्ट है कि शक्ति या कुंडलिनी शब्द पिंडगत एवं ब्रह्मांडगत दोनों अर्थों में व्यवहृत हुआ है। उसके दार्शनिक अर्थ का उद्घाटन, उसके साधनगत अर्थ की अपेक्षा कम हुआ है।

धारणान्तर्गत कुंडलिनीयोग संबंधी जो विवरण ऊपर उपस्थित किया गया है उसमें वे सारे विवरण और सिद्धान्त उपलब्ध नहीं हैं जो तांत्रिक योग या संस्कृत ग्रंथों के नाथयोग के पहले के विवेचन में दिखाये जा चुके हैं। इस वर्णन में मुद्रा, विशेषकर पंचधारणामुद्रा, लयक्रिया, भूतलय, भूतजय, ग्रंथिवर्णन, मानस पुष्प का ईश्वर को समर्पण, कुंडलिनी के ऊर्ध्व, मध्य एवं अधः भेद, हंस मंत्र और कुंडलिनीयोग, पंचमहाभूतग्रामधारिणी कुंडलिनी आदि का वर्णन स्पष्टतः नहीं मिलता। किंतु कुंडलिनीजागरण और षट्चक्रभेद का विस्तृत विवरण उपलब्ध है। इससे यह प्रतीत होता है कि हिन्दी की नाथपंथी रच-नाओं में प्राणायामसाधन के बाद दूसरी साधनात्मक प्रक्रिया कुंडलिनीयोग या षट्चक्रभेद की है। ऊपर के विवेचन में अधः-ऊर्ध्व साधन या धरती-गगन-साधन का जो परिचय मिलता है, उसे संस्कृत ग्रंथों में विवेचित नाथयोग और तांत्रिक योग के मेल में पूरी तरह से रखा जा सकता है। उसी प्रकार 'द्यावा-पृथिवी' के जिस युग्मक का यह प्रतीकात्मक वर्णन कुंडलिनी योग की शब्दा-वली के माध्यम से उपस्थित किया गया है, उसे ऋग्वेदीय द्यावा-पृथिवी से मिला कर उसकी परंपरा वैदिक और तांत्रिक साधन दोनों से मिलाई जा सकती है।[२] अमृत साधन या अमर-वारुणी-पान के साधन को भी अजर-अमर-

---

[१] ना० सि० बा०, पृ० ९६, ९६-९७, ७१। [२] गो० बा०, १८८. २२।

निर्जर-विबुध-सुर देवताओं की दिव्य सोम साधना से संधित कर उसकी उज्वल परंपरा को उपस्थित किया जा सकता है।

२१—ध्यान

नाथों के षडंग योग में धारणा के उपरान्त ध्यान का स्थान है। ध्यान को परमाद्वैतभाव कहा गया है। पदार्थों या तत्वों की आत्मस्वरूपानुसार भावना की क्रिया इसमें होती है। परिणामतः इसमें सभी भूतों में समदृष्टि की उपलब्धि मानी गई है। इसमें मन का पूर्ण निश्चलत्व संपन्न होता है। नाथपंथी हिन्दी रचनाओं में ध्यान और समाधि के लिये प्रायः 'ताली' शब्द का प्रयोग मिलता है। डा० बड़थ्वाल ने 'ताली' शब्द का अर्थ कहीं 'ध्यान' किया है और कहीं समाधि। इसमें कोई सन्देह नहीं, जैसा पिछले विवेचनों में हम कह चुके हैं कि समाधि ध्यान की पूर्ण परिपक्वावस्था है। कुंडलिनीसाधन के प्रसंग में हम कह चुके हैं कि आज्ञाचक्र, जिसका स्थान भ्रूमध्य या त्रिकुटी है, में मन उन्मन हो जाता है अर्थात् वहाँ मनोलय होता है। मन जब पूर्ण अचंचल एवं नादश्रवण से एक विषयानुधावी हो जाता है तब उसे उन्मन कहा जाता है। यह विषय आन्तरिक एवं घटस्थ रहता है। गोरक्ष कंठचक्र (विशुद्धि चक्र) में ध्यान करने को कहते हैं। दूसरे स्थान पर भ्रमर गुफा में मन को स्थिर कर ध्यान करने के लिये कहते हैं। (गो० बा०, पृ० १२२, १९२)। गोरक्षपद्धति में जैसे चक्रों पर ध्यान लगाने के लिये कहा गया है उसी प्रकार गोरक्ष की हिन्दी रचनाओं में भी शरीर की नाड़ियों की सात गाँठों एवं अधः—ऊर्ध्वगामी श्वासक्रिया पर ध्यान लगाने के लिये कहा गया है।[1] (गो० बा०, पृ० १६७)। ऐसी स्थिति में पिंड से बाहर किसी अन्य स्थूल वस्तु पर ध्यान लगाने का कोई प्रश्न नहीं उठता। दूसरे ध्यान में कहीं 'रंग' (या वर्ण) का वर्णन नहीं मिलता। सगुण ध्यान के इस परोक्ष अभाव में इस प्रकार निर्गुण ध्यान की ही मान्यता की अधिक संभावना है। वेद संबंधी विवेचन में हम पहले ही कह चुके हैं कि नाथों को स्वसंवेद्य या स्वानुभूत्यात्मक ज्ञान ही मान्य है। वे अन्य किसी प्रमाण को स्वीकार नहीं करते। स्वसंवेद्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह अनिर्वचनीय होता है और केवल अनुभवगम्य होता है और नाथों को केवल यही मान्य है। वे ध्यान से जो कुछ भी देखते हैं वह अगम, अगोचर, असीम, अदेख, अलेख, अनुपम, अतीत, अनंत, निरंजन, अचिन्त्य,

---

[1] गो० बा०, पृ० १२२, १९२, १६७।

अलक्ष्य, अविनाशी आदि है।[१] इसीलिये नाथसिद्ध ऐसे द्रष्टा को भी 'अलख विनांली' (अलक्ष्य विज्ञानी) कहते हैं तथा उस पुरुष को अतीत पुरुष, निरंजन, अलेख पुरुष आदि कहते हैं। कहीं-कहीं अनंत सूर्यों के उदय के प्रकाशपुंज की उपमा भी दी गई है। 'ऊरम धूरम ज्योति उजाला' पद का व्यवहार कर उसकी अनंत प्रकाशता का वर्णन किया गया है। घेरंड संहिता में सूक्ष्म ध्यान के अन्तर्गत तेजोध्यान या ज्योतिर्ध्यान का वर्णन किया गया है। निर्गुण ध्यान ज्योतिर्ध्यान या तेजोध्यान ही प्रतीत होता है। गोरखबानी में 'तेज' और 'ज्योति' दोनों शब्दों से उसके प्रकाश रूप का वर्णन किया गया है।[२]

डा० बड़थ्वाल ने ताली शब्द का अर्थ कहीं तो ध्यान किया है और कहीं समाधि। जहाँ उन्होंने समाधि लगाने का अर्थ किया है, वहाँ प्रायः उसे उन्मनी समाधि या केवल समाधि कहा है। केवल ध्यान लगाने के अर्थ में भी प्रयोग मिलता है। गोरक्ष की रचनाओं में जहाँ केवल 'ध्यान' शब्द का प्रयोग किया गया है वहाँ कुछ खास बातें दिखाई पड़ती हैं। गोरख के अनुसार हँसते खेलते हुए भी ध्यानक्रिया चलती रहनी चाहिए। वे भाँग-भक्षण आदि को ध्यान का अवरोधक और नाशक मानते हैं। इस क्रिया के लिये भी वे किसी निश्चित समय का बंधन न लगाकर रात दिन एक समान ध्यान लगाने को कहते हैं। इसके लिये आसन की दृढ़ता और मूलाधार का संकोच आवश्यक मानते हैं। इसके लिये काया की चिन्ता की आवश्यकता नहीं। काया अथवा स्थूल विषयों को छोड़कर, सकल विधियों का समायोग कर जगदीश का ध्यान करने को कहा गया है।[3] इस ध्यानवर्णन से स्पष्ट है कि नाथसिद्ध लोग जिस प्रकार अजपा-जाप को स्वाभाविक श्वासक्रिया में अयत्नज कर देना आवश्यक समझते हैं उसी प्रकार ध्यान को भी वे अपने आध्यात्मिक जीवन की नैसर्गिक क्रिया बना देना चाहते हैं। जीवन की सामान्य क्रियाओं में वे जप और ध्यान को समाविष्ट कर देना चाहते हैं। यह वस्तुतः संपूर्ण दैनिक-सांसारिक जीवन का दिव्य जीवन में परिवर्तन है। यह भी स्पष्ट है कि यह क्रिया श्वासनियंत्रण, विंदुस्थैर्य, मनः-

---

[१] गो० बा०, पृ० ८, १०९, ११०, १२७, १०३, १, ७३, ४६, १९८, २०२, ३६, ९७, १०१, ६६, १०२, २, ३६, १३६, ११६।

[२] गो० बा०, पृ० ३६, १४६, १२३, ५४, १२४, ५७, ३१, २९, १२४, २००, ११४।

[3] गो० बा०, पृ० ३५, १२२, ५५, १६७, १७४, ४, ५६, १२७, १२४, १५०, १७०, १९७।

स्थैर्य, भूतशुद्धि, भूतजय, कुंडलिनीजागरण, त्रिकुटी की पूर्ण सिद्धि के उपरान्त ही संभव है। चौणकनाथ (चुणकरनाथ) ने भी अजपाजाप और नादानुसंधान की सिद्धि के बाद ही, उनकी सहायता से ध्यान करने को कहा है। इस प्रकार के साधन से ऐसे अद्भुत ज्ञान की उपलब्धि बतलाई गई है जिससे (सांसारिक) योगों का संहार (अथवा योग संबंधी विस्तृत कठिन क्रियाओं का संकोच) और पापों पर प्रहार होता है।[1]

२२—समाधि, उसके पर्याय और उन्मनी

षडंग योग के अन्तर्गत वर्णित अन्तिम अंग समाधि है। पातंजल योग की समाधि के अन्तर्गत वर्णित सवितर्क-निर्वितर्क तथा संप्रज्ञात-असंप्रज्ञात के भेद अत्यन्त सूक्ष्म हैं। समाधि का उस प्रकार का वर्णन यहाँ उपलब्ध नहीं है। नाथसिद्धाचार्यों के अनुसार समाधि वह अवस्था है जिसमें सभी तत्वों की समस्थिति रहती है, निरुद्यमत्व और अनायास की स्थिति रहती है। समाधि से ही मोक्ष की प्राप्ति बताई गई है जिसमें शुभ-अशुभ कर्मों का त्याग हो जाता है, विश्वतोमुख अनंत परम ज्योति का साक्षात्कार होता है, इससे क्रिया-कर्म, आवागमन आदि की भी सत्ता नहीं रहती। जीवात्मा-परमात्मा का ऐक्य ही सभी प्रकार के द्वन्द्वों का ऐक्य है। इस अवस्था में समस्त संकल्पों का नाश हो जाता है। जब प्राण सम्यक् प्रकार से क्षीण हो जाते हैं तथा मानस भी लय को प्राप्त हो जाता है, जब समरसत्व की प्राप्ति हो जाती है, तब समाधि की प्राप्ति कही जाती है। उस समय योगी के लिये शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श की सत्ता नहीं रहती, क्योंकि पंचभूत, तन्निर्मित पदार्थ, पंचेन्द्रिय, सभी लय को प्राप्त हुए रहते हैं। उस समय अपने-पराये का भाव भी नहीं रहता। हठयोगप्रदीपिका में इस अवस्था के बोधक अनेक शब्दों की एक लम्बी सूची दी गई है। समाधि वस्तुतः उपलब्धि की अवस्था है। इसका सविस्तर वर्णन हम पहले ही कर चुके हैं। हठयोगप्रदीपिका में समाधि के जिन वाचक शब्दों की सूची दी गई है, वे निम्नलिखित हैं—राजयोग, समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, लय, तत्व, शून्याशून्य, परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालंब, निरंजन, जीवन्मुक्ति, सहजा, तुर्या। आगे हम क्रमशः हिन्दी की नाथपंथी रचनाओं के आधार पर इन शब्दों का विचार करेंगे।

नाथपंथी हिन्दी रचनाओं में समाधि की अवस्था के लिये राजयोग शब्द का व्यवहार नहीं मिलता। गोरख ने समाधि शब्द का स्पष्टतः व्यवहार

---

[1] ना० सि० बा०, पृ० ५२।

किया है। चक्रों के वर्णन में कहा गया है कि गोरख एक चन्द्रचक्र मानते हैं जिसमें समाधि लगती है। इसके पूर्व का वर्णित चक्र विशुद्धि चक्र है। चक्र संबंधी विभिन्न विवरणों को मिलाकर देखने पर निश्चित-सा मालूम पड़ता है कि चन्द्रचक्र तांत्रिकों का आज्ञाचक्र है। यह छठाँ चक्र है। इसी प्रकार ज्ञानचक्र भी कंठचक्र के ऊपर छठाँ चक्र है जिसमें साधक को विश्राम मिलता है। हम ऊपर कह चुके हैं कि पंच चक्रों में पंचभूतों के लय के बाद छठें चक्र अज्ञाचक्र में मनोलय संपन्न होता है। जैसे पाँच चक्रों में भूत परिशुद्ध और विजित होते हैं, इसी प्रकार छठें चक्र में मन परिशुद्ध और विजित होता है। उसमें विषयोन्मुख होकर चंचल रहने की शक्ति नहीं रहती। इस प्रकार आज्ञाचक्र में मन शांत एवं निश्चल हो जाता है। वहाँ उसे एकविषयोन्मुख किया जा सकता है। वस्तुत: उन्मनी अवस्था (जसमें परिशांत निश्चल मन ऊर्ध्वमुख होकर किसी अलौकिक तत्व में लीन हो जाता है) इसके बाद ही आती है। यदि डा० बड़थ्वाल ने गगनमंडल, सहस्रार, ब्रह्मरन्ध्र आदि को एक माना है तो संभवत: इस समाधि की अवस्था, मन की उन्मन अवस्था को देखकर आज्ञाचक्रोर्ध्व सहस्रार की स्थिति उनके ध्यान में आ गई हो। गोरख कहते हैं कि मनमुख होने पर समाधि लगती है।[1] हमने पहले 'गुरुमुख' आदि शब्दों का विचार करते समय बतलाया है कि 'मुख' का अर्थ उन्मुख होना, 'तदनुकूल होना', 'तदनुसरण करना' आदि है। इसी प्रकार मन की स्थितियों के विषय में भी कहा गया है कि गोरख मन की तीन स्थितियाँ मानते हैं, या तो यह गुरु की ओट में रहता है या कामिनी के क्रोड़ में रहता है या उदास रहता है। इनमें से निश्चय ही साधनोपयोगी मन की उन्मुखता गुरु की ओर ही है। इस दृष्टि से विचार करने पर यहाँ परिशुद्ध मन या उन्मुख मन या गुरु के उपदेशों का अनुसरण करने वाला मन ही मनमुख है (यद्यपि साधक की स्थिति का विचार करते समय 'गुरुमुख' और 'मनमुख' क्रमश: साधनोपयोगी एवं साधनविरोधी भी माने गये हैं जिनका परिचय हम पहले दे चुके हैं।) इसी प्रकार एक 'निर्वाण समाधि' भी बताई गई है जिसकी रक्षा सदैव गुरु करता है।[2] (समाधि के प्रकारों का वर्णन हम आगे इसी परिच्छेद में करेंगे)।

उन्मनी के संबंध में हम पहले ही कह चुके हैं कि प्रथम पाँच चक्रों में पंचभूततत्वों के विलय के बाद आज्ञाचक्र में मन का लय होता है। प्रत्याहार के प्रसंग में बताया गया है कि पंचज्ञानेन्द्रियों का उनके विषयों से प्रत्याहरण

---

[1] गो० बा०, पृ० १९२, २०२, १९४। [2] गो० बा०, पृ० ७४।

ही प्रत्याहार है। इसके बाद ही पंचभूतों के लय का क्रम आता है और इनके लय के बाद मनोलय या मानसस्थैर्य का क्रम आता है। गोरखबानी में स्पष्ट रूप से पंचभूततत्वों के लय का कोई विवरण नहीं मिलता। केवल ज्ञानेन्द्रियों के नियंत्रण-निश्चलत्व का बार-बार वर्णन किया गया है। वस्तुतः जहाँ 'लय' शब्द और क्रिया का संबंध है, गोरखबानी में कहीं भी प्रयोग और वर्णन नहीं है। किन्तु उन्मनीयोग या उन्मनीसाधन का पर्याप्त वर्णन मिलता है। बताया गया है कि योगी दशमद्वार ब्रह्मरंध्र में ही समाविस्थ होता है। इस प्रकार के योग में मन-पवन के योग की ओर कई बार संकेत किया गया है। जब तक प्राण का नियंत्रण नहीं होता तबतक उन्मनावस्था सिद्ध नहीं होती। जब सूर्य और चन्द्र के योग से (अथवा प्राण और अपान के योग से) उन्मनावस्था सिद्ध हो जाती है, ब्रह्मरंध्र शून्यमंडल में अमृत का निर्झर झरने लगता है।[१] गोरख मन को असाध्य मानते हैं। जब यह मन सिद्ध हो जाता है, तभी अनाहत नाद का गर्जन होता है तथा उन्मनी समाधि लगती है। अनाहत नाद से ही मन (आकर्षित होकर, निश्चल होकर) उन्मन हो जाता है। डा० बड़थ्वाल ने उन्मानावस्था को तुरीयावस्था बतलाया है। यह स्थिति गगनमंडल में ही प्राप्त होती है। इस उन्मनी अवस्था के लिये शिवशक्तियोग को उपायस्वरूप बतलाया गया है। इस अवस्था के प्राप्त होने पर महारस के पान का अवसर योगी को मिलता है।[२] इस प्रकार दूसरे शब्दों में कहें तो मन की अचचल शून्य अवस्था ही उन्मनी अवस्था है जिसका साधन पवन, कुंडलिनी, लय, नाद आदि से संपन्न होता है। इन साधनों का परस्पर क्या संबंध है, इसके विषय में पहले ही कई स्थानों पर कहा जा चुका है।

२३—अमृतसाधन

ब्रह्मरंध्रप्रकरण में ही 'अमृतसाधन' या अमरवारुणीपान के साधन की ओर भी प्रसंगतः संकेत हो चुके हैं। गोरख ने बताया है कि षट्दलकमल (स्वाधिष्ठानकमल) का भेदन होने पर ही अमृतरस पीने को मिलता है। जीवन्मुक्त योगी रात दिन दृष्ट पदार्थों के बीच अदृष्ट अगम एवं अपार तत्व का दर्शन करता हुआ अखंड अमृतधारा का पान करता रहता है। निस्सार मायिक वस्तुओ में से ही सारवान् अमृत सत्व का ग्रहण होता है। पंचतत्व से निर्मित वस्तुएँ निस्सार हैं। उनके संसर्ग से विष हो जानेवाला तत्व गुरुवचन से

---

[१] गो० बा०, पृ० ४७, १३, १९, २०।

[२] गो० बा०, पृ० ३२, ३६, १८८, १९३।

अमृत हो जाता है। बंकनाल से स्रवित होनेवाला जल ही अमृत है। गोरख की वाणी के अर्थनिर्णय में डा० बड़थ्वाल ने बंकनाल को नाभि के पास बतलाया है। इसी बंकनाल में सूर्य जब उदित होता है तब रोम-रोम में तूर्यनाद होता है। इसी प्रकार शून्यमंडल या ब्रह्मरंध्र से भी निर्झर का स्रवित होना कहा गया है।[१] अमृतसाधन या अमृतपान या वारुणीसाधन का गोरख ने एक स्थान पर रूपकात्मक वर्णन किया है। उनके अनुसार उपलब्धि की अवस्था में इक्कीस ब्रह्मांडों में अमृतस्राव होता है। सर्वत्र ही साधक को अमृत का दर्शन और ग्रहण होता है। इस अमृत में नित्य मादकता है जिससे योगी सदा मतवाला बना रहता है। 'योगी की इच्छा रूप कलालिन अच्छा प्याला भर भर साधक को देती है। साधक अपनी इच्छाशक्ति के बल से सदैव इस अमृत का पान कर लिया करता है। इस अमृत के निर्माण में अमृतानुभव की दाख की भट्ठी पर के पात्र में भरी जाती है उसमें गुड़ (माधुर्य) झकझोर कर पिलाया जाता है। मन महुआ की तरह तथा शरीर घाहुड़ की तरह प्रयुक्त किया गया। उसमें विभिन्न प्रकार की वनस्पतियाँ (विभिन्न प्रकार की यौगिक प्रक्रियाएँ) प्रयुक्त की गईं। ब्रह्मरंध्र में आसन लगाकर बालयोगी ध्यानस्थ होकर बैठ जाता है। भलीभाँति सावधानी से उसका निर्माण संपन्न किया गया। इस प्रकार अमृतवारुणी का निर्माण कर चैतन्य आत्मा रूप रावल ने भर-भर कर मद का पान किया और परिणामस्वरूप युग-युग तक बनी रहने वाली समाधि लग गई। त्रिकुटी संगमरूपी कूपी मद से भर गई और अपार मद तैयार हुआ। इस निर्मल मदिरा का पान करने से साधक अवधूत हो गया।[२] इस प्रकार इस अमृतसाधन में तन और मन दोनों ही सहायक होकर अमृतानुभव कराते हैं। दूसरी दृष्टि से यह साधन पिंडात्मक और विश्वात्मक, दोनों ही, स्तरों के परस्पर संयोग का परिणाम है। व्यष्टि की दृष्टि से तन, मन और कुंडलिनी तथा समष्टि की दृष्टि से ब्रह्मांडगत स्तर पर उस अमृत या एकत्व का अनुभव—ये ही विचार इस रूपकात्मक वर्णन के मूल में दिखाई पड़ते हैं।

यह वारुणीसाधन ही रस साधन है। वारुणी साधन के अन्तर्गत ही खेचरी मुद्रा का भी वर्णन मिलता है। गोरख की वाणी में खेचरी मुद्रा की सहायता से वारुणीपान का वर्णन केवल एक स्थल पर मिलता है जहाँ कहा गया है कि

[१] गो० बा०, पृ० १७१, १९२, ११३, १६७, २०, १९२, १२४।
[२] गो० बा०, पृ० १२२-१२३।

जिह्वा को उलट कर तालु-मूल में रखना चाहिए (जिससे सहस्रारस्थित चन्द्र से स्रवित होनेवाले अमृत का आस्वादन होगा)।[१] भरथरी ने भी खेचरी मुद्रा की सहायता से वारुणीपान का वर्णन न कर मायात्याग की बात कही है।[२] पहले के उदाहरणों में अमृत को महारस कहा गया है। अतः अमृतसाधन ही रससाधन है। पक्व देह और अपक्व देह का परिचय देते समय भी इस संबंध में कुछ कहा जा चुका है। इस साधन के अनुसार कहा जाता है कि सामान्य सांसारिक व्यक्ति का शरीर जरामृत्यु के अधीन है। नाथ लोग काया को अजर-अमर बनाकर उसे बालस्वरूप में रखने का प्रयास रसायनविद्या की सहायता से करते हैं। 'गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह' में 'रसायनी महाविद्या सिद्धिर्भवति निश्चितम्' कहा गया है। रसायन के प्रयोग से शरीर को कुछ काल तक रोग और जरा से मुक्त रखा जा सकता है, किंतु उसे स्थायी न मानकर नाथयोगी लोग उसे सिद्धिप्राप्ति के लिये यथेष्ट नहीं मानते। षट्कर्म और आसन-मुद्रादि के द्वारा कालविजयी होना ही इन लोगों का लक्ष्य है। अमृतपान ही मुख्यतम साधन है किंतु सहस्रार में अमृतस्रावक चन्द्रमा के स्राव को मूलाधारस्थित सूर्य ग्रहण कर लेता है। इसलिये चन्द्रमा के झिलमिल करते रहने पर भी अमावस्या का अंधकार रहता है, इसीलिये गोरक्ष मीनमार्ग से जाने का उपदेश करते हैं, चन्द्रविरोधी सूर्य को चन्द्र के सम्मुख करने को कहते हैं और इस प्रकार अमृतरस का आस्वादन कर कालजयी होने को कहते हैं। सुषुम्ना की मध्यवर्तिनी चित्रा नाड़ी की सहायता से कुंडलिनी को सहस्रार में ले जाकर अमृतपान करना योगिजनों का साधन है। इस साधनपथ में विंदुरक्षा के लक्ष्य को स्थिर रखने के लिये नाथमार्ग में बार-बार उपदेश मिलता है।[3] विभिन्न रासायनों के प्रयोग का विस्तार से वर्णन चरपटनाथ ने किया है किंतु गोरखनाथ ने रस-रसायनों का प्रयोग कर आरोग्यलाभ किया है।[४] चन्द्रस्राव का पान ही अमृत तत्व प्रदान करता है। चन्द्रामृत ही वास्तविक अमृत है।

२४—समाधि के अन्य पर्याय

अन्य शब्दों में तत्व और शून्याशून्य शब्द हैं। तत्वोपलब्धि हो जाने पर

[१] गो० बा०, पृ० ४६।

[२] ना० सि० बा०, पृ० ३२।

[3] ना० सं० इ० द० सा० प्र०, पृ० ५७१; गो० बा०, पृ० २०; ना० सं० इ० द० सा० प्र०, पृ० ५७१-५७२।

[४] ना० सि० बा०, पृ० ३४-३५, गो० बा० १७२, ६९।

चंगे मन को सर्वत्र गंगा दिखाई पड़ती है। यद्यपि तत्व की उपवब्धि होती है तथापि उसकी न कोई रेखा है न रूप। उसे एक विलक्षण बेली (बेल) के रूप में कल्पित कर बतलाया गया है कि वह साखा-मूल-फूल-फल आदि से विहीन है, फिर भी बिना सिंचन किये ही वह सतत वर्द्धमान है। यह तत्व निज तत्व है जिसका साक्षात्कार करने पर अपने-पराये का भाव नहीं रह जाता, सभी भेद मिट जाते हैं।[१] शून्य शब्द सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। शून्य शब्द एक स्थान पर समाधि की उस अवस्था की ओर संकेत करता है, जहाँ शून्य ही सिद्ध का जनक, पालन-पोषण करनेवाला, शून्य ही रक्षा करनेवाला एवं शून्य ही परमोपास्य ब्रह्म होता है। इस शून्य के परिचय से साधक स्थिर, निश्चल, गंभीर हो जाता है। दूसरे स्थान पर शून्य शब्द ब्रह्मरंध्र का द्योतक है।[२] शून्य का सामान्य अर्थ निस्सार, खोखला, फलरहित आदि भी लगाया जाता है।[3] नागार्जुन ने चतुष्कोटिविनिर्मुक्त शून्य का विवेचन किया था। शून्य का एक अर्थ अभाव भी है किंतु नागार्जुन का शून्य इससे विलक्षण है। परमतत्व के निर्वचन के समय 'बस्ती' और 'शून्य' दो शब्दों का प्रयोग सद्भावात्मक और असद्भावात्मक अर्थ को व्यक्त करने के लिये किया गया है। डा० बड़थ्वाल के अनुसार ब्रह्म के अभावात्मक पक्ष की अभिव्यक्ति के लिये ही गोरख ने शून्य शब्द का प्रयोग किया है, किंतु गोरख ने जिस बाल ब्रह्म का वर्णन वहाँ किया है, वह निश्चय ही भावाभावविनिर्मुक्त है। नागार्जुन का शून्य इससे सर्वथा भिन्न है।[४] शून्य-वादी शून्य के विषय में कहते हैं कि संसार की सभी वस्तुओं की निस्सारता ही उनका स्वभाव है। यह स्वभाव जो चतुष्कोटिविनिर्मुक्त है तथा अतिसूक्ष्म है, शून्य कहा जाता है। यदि हम दूसरी दृष्टि से देखें तो यह वस्तुतः परम सत्ता की निषेधात्मक या अभावात्मक स्वीकृति है। इससे उस तत्व की सूक्ष्मता की ओर भी संकेत होता है। गोरख ने 'सूक्ष्म' के अर्थ में भी 'शून्य' शब्द का प्रयोग किया है। यह शब्द नित्य सतावान् तत्व का वाचक भी है। चक्र एवं कुंडलिनीसाधन संबंधी विवरणों की दृष्टि से शून्य ब्रह्मरंध्र या गगन-मंडल या

---

[१] गो० बा०, पृ० ५३, १०६, १३१।

[२] गो० बा०, पृ० ७३, ७, २०, २८, ३२, १३१।

[3] गो० बा०, पृ० ३४।

[४] गो० बा०, पृ० १ छं १; तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य, पृ० ५०-५५।

आकाश का ही वाचक है। विभिन्न संस्कृत ग्रंथों में जिस प्रकार के शून्य, अतिशून्य, महाशून्य और विशुद्ध शून्य नाम के चार शून्यों का वर्णन मिलता है, उस प्रकार का वर्णन हिन्दी रचनाओं में नहीं मिलता ![1]

इन वर्णनों को ध्यान से देखने से प्रतीत है कि विशुद्ध शून्य का अर्थ शून्य से व्यक्त किया गया है। 'गोरक्ष बोध' को उद्धृत करते हुए डा० कल्याणी मल्लिक ने बतलाया है कि 'बोध' में वर्णित योगसाधन शून्यसाधना का नामान्तर है। यह शून्य निराकार है। साकार उपासना या ब्रह्मलाभ में शून्य तत्व का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। यह शून्यसाधना, वस्तुतः योगी की ही लयसाधना है। लयसाधना द्वारा उन्मनी अवस्था की प्राप्ति नाथयोगियों का लक्ष्य है। इस अवस्था की प्राप्ति होने पर योगी का निर्विषय चित्त आकाश-स्थित कुंभ के समान अन्तःशून्य तथा बहिःशून्य दोनों होता है तथा जलार्णवान्तर्गत कुंभ के समान अन्तपूर्ण एवं बहिःपूर्ण भी होता है। अर्थात् लय की अवस्था में योगी का चित्त शून्यमय है। 'मच्छीन्द्र गोरषबोध' में ही अन्यत्र कहा गया है कि 'शून्य ही मन्दिर है, शब्द उसका द्वार है, ज्योति ही मूर्ति है, अग्नि दुर्जेय है, (ऐसे) अरूप के रूप के ध्यान से या गुरु के आदेश से साधक गुरुतत्व जान पाता है या उन्मनी अवस्था को प्राप्त करता है।' गोरक्ष के पदों में 'आकाशगमन' का वर्णन कर शून्यसाधना की ओर ही संकेत किया गया है। पिंडगत आकाश में मन का निवास ही मन का उन्मनी अवस्था में निवास है। सहज हंस क्रीड़ा के अन्त में शून्य में ही स्थित रहता है। आकाश जिस प्रकार निराकार होता है, उसी प्रकार हंस या आत्मा भी 'परम ज्योति' में निवास करता है। मन शून्य में विलीन हो रहता है।[2]

शून्य शब्द का विवेचन करते समय विभिन्न विद्वानों ने उसके तीन अर्थों की ओर संकेत किया है—१–परमतत्व नाद, परम ज्ञान, परम स्वभाव, २–ब्रह्मरंध्र, दशम द्वार, मध्यम पथ, सहस्रार कमल, गगनमंडल, ३–शिवलोक। शून्य को गगन का पर्याय मानकर गगन-गर्जन को शून्य-गर्जन (बौद्ध सिद्धों की शब्दावली में शून्यता का सिंहनाद) कहा है। शून्य को नाद से संबंधित मानकर नाथों ने उसे शब्दसृष्टि का मूल कारण कहा है। वह शून्य

---

[1] गो० बा०, पृ० १०१, १०९, १८७; ना० सं० इ० द० सा० प्र०, पृ० ३४३।

[2] ना० सं० इ० द० सा० प्र०, पृ० ३४६-३४८।

ही निरंजन है, ब्रह्म है। उसी का परिचय पाने पर साधक को स्थैर्य की प्राप्ति होती है। शून्य का ज्ञान (अथवा शून्यज्ञान) सर्वत्र घट-घट में प्रकाशित नहीं होता—"घटि घटि सूण्यां ग्यान न होई। बनि बनि चंदन रूष न कोई।" किंतु डा० बड़थ्वाल ने 'सूण्यां' शब्द का अर्थ 'सुनना मात्र' किया है। जहाँ एक स्थान पर शून्य को ब्रह्म कहा गया है, उसे सृष्टि का माता-पिता कहा गया है, वहीं अन्यत्र, हृदय के न रहने पर शून्य को ही मन का निवासस्थान बतलाया गया है। इसी प्रकार नाथपंथियों ने ब्रह्मरंध्र के लिये गगनमंडल स्थित शून्यद्वार शब्द का प्रयोग किया है, ब्रह्मरन्ध्र के लिये शून्यमण्डल शब्द का प्रयोग किया गया है जहाँ अमृतनिर्झर सदैव स्रवित होता रहता है।[1] कुछ लोगों ने 'मधि शून्य' शब्द का अर्थ 'शून्यपथ' किया है और बतलाया है कि यह शून्यपथ अधः और ऊर्ध्व के बीच विस्तृत है। डा० बड़थ्वाल ने 'ब्रह्मरंध्र' अर्थ किया है।[2] इस प्रकार स्पष्ट है कि नाथपंथियों का शून्य अनिर्वचनीय भावाभावविनिर्मुक्त परब्रह्म का बोधक है। दूसरे, वह हठयोगी परंपरा के साधक नाथसिद्धों का ब्रह्रंध्र, गगनमंडल, सहस्रार आदि भी है। पं० परशुराम चतुर्वेदी ने इस शब्द के नाथपंथी विकास के संबंध में कहा है कि 'योगियों तथा नाथपंथियों के यहाँ इस शब्द के अर्थ में और भी अधिक विकास हुआ। यह न केवल देशकालातीत ब्रह्म का वाचक समझा गया, प्रत्युत् इसके द्वारा उस विचित्र स्थान विशेष को भी सूचित किया जाने लगा जिसे ब्रह्मरंध्र कहा जाता है। हठ्योगप्रदीपिका को देखने से तो यहाँ तक पता चलता है कि यह वहाँ पर कभी सुषुम्ना नाड़ी कभी अनाहतचक्र के पर्याय सा भी मान लिया जाता था। गुरु गोरखनाथ और उनके अनुयायियों ने इसके साथ नाद तत्व का भी समावेश कर दिया जो उनकी प्रसिद्ध सबदी 'बसती न सुन्यं···कैसा' द्वाराप्रकट होता है और इसके द्वारा पीछे नाद से सृष्टि के आविर्भावादि पर भी विचार किया जाने लगा। वास्तव में शून्य ही इनके यहाँ आ कर सभी कुछ दीख पड़ने लगा।'[3] गोरख की रचनाओं में 'अशून्य' शब्द का प्रयोग 'समाधि' के वाचक के रूप में नहीं मिलता।

समाधिवाचक अन्य शब्दों में परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालंब, निरंजन, जीवन्मुक्ति, सहजा, तुर्या आदि हैं। अन्य साधन वर्गों से अपना ध्येय संबंधी

---

[1] गो० बा०, पृ० ३२, ७३, ५८, १८९, ६०, २०।

[2] गो० बा०, पृ० २८।

[3] कबीर साहित्य की परख—पृ० २४०।

भेद निरूपित करते हुए गोरख कहते हैं कि हिन्दू देवालय में ध्यान करते हैं, मुसलमान मस्जिद में ध्यान करते हैं, किंतु योगी परमपद में ही ध्यान लगाते हैं। यह पद परम है अर्थात् सभी सांसारिक भेदक तत्वों से परे है। वहाँ तो न देवालय है और न मस्जिद। डा० बड़थ्वाल के अनुसार 'श्वास (शक्ति) को अधर और ऊर्ध्व के बीच में उठाकर रक्खा अर्थात् केवल कुंभक किया और मध्यशून्य (ब्रह्मरंध्र) में जाकर (साधक ने) निवास किया। वहाँ मतवाले शिव (ब्रह्म तत्व) की संगति मिली। इस प्रकार परमगति प्राप्त की गई। इस व्याख्या के अनुसार प्राणायामाभ्यास (अथवा शक्तिसाधन) से ब्रह्मरंध्र में शिवतत्व की प्राप्ति ही परमगति की प्राप्ति है। इसी को योगी का ध्येय कहा गया है। इस परमपद या परमगति के संबंध में तीसरी बात बताई गई है कि यह 'परमपद' स्वसंवेद्य या अनुभवैकगम्य है। यह पंडितों के शास्त्र-ज्ञान से उपलभ्य नहीं है।[1] इस प्रकार योगियों के ध्येय या परमपद की तीन विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं—१–यह मस्जिद-मन्दिर में उपास्य न होकर पिंडस्थ है। २–यह योगी के ब्रह्मरंध्र में हठयोगी साधनों से साध्य है। ३—यह केवल अनुभवैकगम्य या स्वसंवेद्य है।

अशून्य शब्द की तरह ही 'अमनस्क' शब्द का भी प्रयोग नाथों की वाणियों में उपलब्ध नहीं है यद्यपि यह नाथों का अति महत्वपूर्ण शब्द है। कुछ विवेचकों ने इस शब्द की व्याख्या करते समय शून्य को भी विवेच्य माना है। उनका कहना है कि सम्पूर्ण साधना का एकमात्र मूल तत्व है चित्त को वृत्तिहीन या निर्विषय करना। योगसाधनपथ के कई स्तरों या अवकाशों का अतिक्रमण करने पर पूर्णता की प्राप्ति होती है। इसे ही नाथ लोग परमपदप्राप्ति कहते हैं। इस अवकाश का नामान्तर शून्य है। इसीलिये विभिन्न धर्मों में शून्य की संख्या के संबंध में मतभेद है। फिर भी सभी धर्मों का मूल लक्ष्य एक ही है, अर्थात् चित्त का लयसाधन एवं 'अन्तःशून्यः बहिःशून्यः शून्यः कुम्भ इवाम्बरे' अवस्था की प्राप्ति। चित्त की इस निर्वितर्क अवस्था की प्राप्ति होने पर नाद या मंत्र की किसी प्रकार की अनुभूति नहीं रहती। स्मृति के परिशुद्ध होने पर 'स्वरूप शून्य' की या वितर्करहित अवस्था अर्थात् शब्दहीन ज्ञान की प्राप्ति होती है। यही निर्गुण उन्मनी अवस्था या योगमत में निर्बीज समाधि है। यही नाथों का 'अमनस्क' या मनोहीन अवस्था है।[2] स्पष्ट

---

[1] गो० बा०, पृ० २५, २८, ४७।

[2] ना० सं० इ० द० सा० प्र०, पृ० ३५८।

ही यह उन्मनी अवस्था का बोधक है। मनोहीन अवस्था का यह अर्थ नहीं है कि मन की सत्ता नहीं रहती अथवा उसका निर्दलन हो जाता है। वस्तुत: अचंचल मन जब स्थैर्य को प्राप्त कर परमात्मतत्व में लीन हो जाता है, तभी इस स्थिति की प्राप्ति होती है।

गोरख की रचनाओं में यद्यपि 'अद्वैत' अथवा 'अद्वय' शब्द का व्यवहार नहीं है तथापि 'एक' शब्द का ही डा० बड़थ्वाल ने अद्वैत या अद्वय अर्थ किया है। इस एक शब्द का प्रयोग 'परब्रह्म' के लिये हुआ है। अन्यत्र 'एकंकार' शब्द प्रयुक्त हुआ है जो 'एकाकार' शब्द का विकास मालूम पड़ता है। इसे ही 'एकाकार अद्वय परब्रह्म' का बोधक माना गया है। यह 'एकंकार' (एकाकार) कैवल्य अवस्था का भी वाचक है। 'मच्छींद्र-गोरष बोध' में पवन का आकार निरालंब कहा गया है। अन्यत्र निरालंब निरति में बंध लगने की बात कही गई है। 'निरंजन' अत्यधिक महत्वपूर्ण शब्द है। गोरख ने निरंजन को निराकार और पिता कहा है। वह माता, मनसा इच्छा या माया है। निरंजन पिता और मनसा (माया माता) से उत्पन्न पिंड का उद्धार करनेवाले गुरु हैं। यहाँ निरंजन माया के संसर्ग से पिंडनिर्माण करनेवाला बताया गया है। दूसरे, निरंजन परब्रह्म का द्योतक है। आध्यात्मिक अनुभूति अथवा समाधि गगनशिखर में होती है। परमानुभूतिकामी जीव भी उस गगन-शिखर में निरुद्ध हो जाता है तथा वह निरंजन में लौ लगा लेता है।[१] यहाँ निरंजन गगनशिखर में स्वानुभूत होने वाला परब्रह्म है। माया को काटनेवाला योगी 'निरंजन की काया' से युक्त कहा गया है अर्थात् वह ब्रह्मतुल्य हो जाता है। इस निरंजन निराकार से भेंट तभी होती है जब सिद्ध पंचतत्वों को वश में कर लेता है। ऊपर जिस निरंजन की स्वानुभूति गगनशिखर में बतलाई गई है, उसी के साधन के संबंध में कहा गया है कि इड़ा नाड़ी का शोधन कर पिंगला में भरकर तथा सुषुम्ना के मार्ग से आकाश में चढ़ जाना चाहिए। यह (निरंजन) परब्रह्म पद न उदय है न अस्त, न रात न दिन, सारी चराचरमयी सृष्टि में कोई भिन्नता का भाव नहीं (अथवा सर्वेश और चराचरमयी सृष्टि में कोई भेद-भाव नहीं है)। शुद्ध निरंजन ब्रह्म रह जाता है, मूल और शाखा (अधिष्ठान और नामरूपोपाधि) का भेद नहीं रह जाता। वही सर्वव्यापी रह जाता है, जो न सूक्ष्म है न स्थूल। अन्यत्र नाथ को निरंजन कहा गया है। यही निरंजन शून्य है, परमात्मा है, परब्रह्म है। यही वह निरंजन ब्रह्म है जिसका प्रकाशन ज्योति

---

[१] गो० बा०, पृ० १०३, १०१, ३८, १८७, १९६, ६७, ६८।

के रूप में होता है। इसकी उपलब्धि तीन लोकों में नहीं, पिंड में ही होती है। अंजन में भूल कर (माया-काया में भूलकर?) निरंजन तत्व के त्याग का अर्थ है मायातीत परमतत्व का त्याग।[1] इस प्रकार स्पष्ट ही निरंजन परब्रह्म का द्योतक है। हम पहले ही कह चुके हैं कि नादरूपा सृष्टि के मूल शिव परब्रह्म हैं। साधनान्त में, इसीलिये बतलाया है कि नाद उस निरंजन में ही विलीन हो जाता है।[2] इस प्रकार निरंजन के तीन अर्थ गोरख बानी में मिलते हैं—१—माया के संसर्ग से मायात्मक पिंड का निर्माण करनेवाला, २—परब्रह्म, मायातीत परमेश्वर जिसकी स्वानुभूति गगन शिखर में होती है। ३—नादरूपा सृष्टि का लयस्थान। गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह में कहा गया है—'तिष्ठति खेचरी मुद्रा तस्मिन् शून्ये निरञ्जने।' नाथपंथियों में शिव ठाकुर के साथ निरंजन की भी पूजाविधि स्वीकृत है। यह शून्यमूर्ति है।[3] हिन्दी रचनाओं में भी निरंजन को शून्य कहा गया है।

जीवित अवस्था में देहपात के पूर्व जो मुक्ति होती है, उसे जीवन्मुक्ति कहते हैं तथा पार्थिव स्थूल और सूक्ष्म देहनाश के बाद जो मुक्ति होती है उसे विदेह मुक्ति कहते हैं। नाथदर्शन में जीवन्मुक्ति की अवस्था ही आदर्श है। देहपात होने पर जो मुक्ति होती है, उसे आदर्श मुक्ति नहीं कहा गया है, क्योंकि वह मुक्ति देहपात रूप प्रतिबंधक द्वारा बाधित है। नाथ लोग कहते हैं कि जिस देह में परमपद की प्राप्ति होती है, उस देह को अजर अमर एवं यथेष्ट विचरण करनेवाला बनाना चाहिए। विदेह मुक्ति से इस देह का भी त्याग हो जाता है। जीवन्मुक्त योगी का दैहिक परिवर्तन साधित होता है। जल में नमक जिस प्रकार मिल जाता है, उसी प्रकार मुक्त पुरुष का शरीर ब्रह्मत्वलाभ करता है। इसी प्रकार योगी भी जीवन्मुक्त होता है।[4] योगी के सिद्ध देह की प्राप्ति कर लेने पर उसके लिये इच्छामृत्युवरण संभव हो जाता है। हठयोगप्रदीपिका में कहा है कि वर्णित समाधियों में मृत्युघ्न समाधिक्रम अर्थात् इच्छामृत्युरूप समाधि उत्तम है एवं जीवन्मुक्तिस्वरूप सुख का उपाय है। इसकी टीका में कहा गया है कि जो इस क्रम के अनुसार समाधि का आश्रयण कर सकते हैं, उनकी मृत्यु नहीं होती। ये इच्छा करने

---

[1] गो० बा०, पृ० १६, २७, १११, ११६, ७३, १६४, १५२।

[2] गो० बा०, पृ० १९०।

[3] ना० सं० इ० द० सा० प्र०, पृ० ३४४।

[4] वही, पृ० २९२-२९३।

पर देहत्याग कर सकते हैं। इस समाधि का आश्रयण कर सकने पर तत्वज्ञान का भी उदय होता है। उसके होने पर मनोनाश और वासनाक्षय होकर जीवन्मुक्तिरूप सुखलाभ होता है। यह समाधिक्रम ब्रह्मानंदप्रद है, अर्थात् इस समाधि में प्रारब्ध कर्म का क्षय हो जाता है। उसके होने पर जीव और ब्रह्म के अभेद का ज्ञान होकर अत्यन्त ब्रह्मानंदप्राप्तिरूप विदेह मुक्ति का लाभ हो जाता है। हठयोगप्रदीपिका में कहा गया है कि जो योगी कुंडलिनी को प्रबोधित कर निःशेष रूप में कायिक और मानसिक कर्म का परित्याग कर अवस्थित होता है, वही सहजावस्था का लाभ करता है। परम वैराग्य या दीर्घ काल तक संप्रज्ञात समाधि के द्वारा बुद्धिव्यापार से निवृत्त होने पर जो निर्विकार स्वरूप में अवस्थान होता है, वही सहजावस्था या जीवन्मुक्ति है। शक्तिबोध और सर्वकर्मपरित्याग के होने पर किसी प्रकार का यत्न न करने पर, इस अवस्था का लाभ होता है।[1] इस सम्बन्ध में पहले भी बहुत कुछ कहा जा चुका है।

गोरख की हिन्दी रचनाओं में जीववन्मुक्ति शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। उनके अनुसार मरण भी मीठा होता है। वे उस मृत्यु का वरण करने के लिये कहते हैं जिससे गोरखनाथ ने परमतत्व का दर्शन किया। व्याख्या में डा० बड़थ्वाल ने कहा है कि 'यह मरना सामान्य मृत्यु नहीं है, उससे भौतिक अस्तित्व का अंत नहीं समझना चाहिए। योगमार्ग में विश्वास यह चला आता है कि योगी कभी मरता नहीं। इसलिये यह मरना जीवन्मृत्यु है। इसी का दूसरा नाम जीवन्मुक्ति है। इसमें स्वार्थी अर्थ में मृत्यु समझना चाहिए। भौतिक अर्थ में तो व्यक्ति के जीवन का अंत-सा हो जाता है, अब वह आध्यात्मिक जीवन में परमार्थ के लिये जीता है। परमार्थ और परोपकार एक ही चीज नहीं। परन्तु परमार्थी जीवन परोपकार में भी अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार शब्दान्तर से डा० बड़थ्वाल ने गोरख की हिन्दी रचनाओं में जीवन्मुक्ति का सिद्धान्त देखा है। गोरखबानी में एक शब्द 'जीवता मूवा' प्रयुक्त है, जिसका अर्थ डा० बड़थ्वाल ने 'जीते जी मृतक के समान' किया है। इस वाक्य का संकेत है कि जो योगी सोता है, वह जीते जी मृतक के समान होता है अथवा साधनमार्ग में सिद्धि नहीं प्राप्त करता। यहाँ 'जीवते मूवा' का अति सामान्य अर्थ है, लौकिक है, आध्यात्मिक नहीं।[2] मोक्ष और मुक्ति के संबंध में भी गोरखबानी में विचार व्यक्त किये गये हैं।

---

[1] वही, पृ० २९३, २९६। [2] गो० बा०, पृ० १०, २५।

गोरखबानी में कहा गया है—'परब्रह्म रमता राम से चौगान का खेल खेलो। अभिमान में क्यों भूलते हो। पृथ्वी और आकाश के बीच कोई अंतर नहीं। यह अंतर न मानना अर्थात् अभेददृष्टि ही कैवल्य मुक्ति का बृहत् मैदान है।' डा० बड़थ्वाल के इस अर्थ से पूरे मुक्तिसाधन पर प्रकाश पड़ता है। संपूर्ण पद के इस टेक में ही स्पष्ट हो जाता है कि साधक जब अहंकार का त्याग कर धरणी (मूलाधार—जीवात्माधारिणी कुंडलिनी का स्थान—पृथ्वी का प्रतीक—जीवात्मा का क्रीड़ास्थल) और गगन (सहस्रार—परमात्मा का स्थान—आकाश का प्रतीक—परमात्मा का क्रीड़ास्थल) में एकात्म और नैरन्तर्य, अभेद का ज्ञान हो जाता है, धरती से आकाश तक केवल मुक्ति का क्रीड़ाक्षेत्र ही अनुभव होने लगता है, तभी एक में अनन्त (एक परमात्मा में अनन्त सृष्टि) का दर्शन होता है साथ ही अनन्त (सृष्टि) में उस एक का साक्षात्कार होता है। यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि उस एक से ही इस अनन्त की सृष्टि हुई है। किंतु इस एक का आभ्यंतर (हृदय) में ही परिचय प्राप्त हो जाता है और तब सारी अनन्त सृष्टि एक में समा जाती है। पिंडब्रह्मांड-वाद और कुंडलिनीसाधन संबंधी तांत्रिक विवरण जो पहले दिया जा चुका है, उसकी उद्धरणी यहाँ आवश्यक नहीं है किन्तु इतना ध्यान दिलाना आवश्यक है कि इस अवस्था (सिद्धावस्था—परमावस्था) में पहुँचने पर एक (परमात्मा) और अनंत (सृष्टि) में अथवा परमात्मा और जीवात्मा, समष्टि और व्यष्टि, पारमार्थिक और सांसारिक में कोई अंतर नहीं रह जाता। दूसरे शब्दों में, यही जीवन्मुक्ति की अवस्था है।[१] स्पष्ट है कि हरि के पास, शिव के पास ऐसी मुक्ति उपलभ्य है। किन्तु जैसा अभी हम कह चुके हैं, नाथों को पिंडपातोपरांत प्राप्त होनेवाली मुक्ति काम्य नहीं है, वैसी ही बात हिन्दी रचनाओं में भी कही गई है। गोरख कहते हैं—'हे पंडित, ब्रह्मज्ञान ही का अध्ययन मनन करो (क्योंकि ब्रह्मज्ञान के बिना सब झूठा है।) मरने पर जो मुक्ति (मानी जाती) है उसमें वैकुंठ में स्थान मिलना (कहा जाता है, परन्तु वस्तुतः) वह गड्ढे में अथवा चिता पर स्थान पाना है और चौरासी लाख योनियों के चक्कर में पड़ जाना है।' इसीलिये, जैसा हम नाथपंथियों के लक्ष्य-विवेचन के प्रसंग में पहले कह चुके हैं, पिंडपातरहित, इच्छामृत्युयुक्त जीवन्मुक्ति ही नाथपंथियों का लक्ष्य है जिसमें अनेकता में ही एकता की उपलब्धि हो जाती है, परमार्थ सेवा और परोपकार मिल कर एक हो जाते है। ऐसी सिद्धि ही नाथपंथियों की मुक्ति है।[२]

---

[१] देखिये—गो० बा०, पृ० १०२–१०३। [२] गो० बा०, पृ० १८०।

पाश्चात्य लेखकों के अनुसार जीवन्मुक्त वह व्यक्ति है जो इस पृथ्वी पर रहते हुए मोक्षको प्राप्त कर लेता है। इस मुक्ति से हम (सांसारिक) अस्तित्व का अंत या पुनर्जन्म का अंत या ब्रह्म में लौटना या निर्वाणप्रवेश समझते हैं। इस पृथ्वी पर ही मुक्त होनेवाला वह व्यक्ति संत (सेंट) है जिसने मुक्ति के सभी लक्षणों को उपलब्ध कर लिया है तथा अपने अंतकालीन सांसारिक अस्तित्व में अब रह रहा है। चूँकि उसने (ब्राह्मण मतानुकूल) वैयक्तिक जीवन को अस्तित्व में रखनेवाले पोषक तत्वों—वासना और माया—का अंत कर दिया है अथवा बौद्ध मतानुकूल सत्ता बनाये रखनेवाले हेतुओं का नाश कर दिया है अतः इस प्रकार उसने अलौकिक से लोकोत्तर की ओर प्रस्थान किया है। यदि सच कहा जाय तो उससे विचार और कर्म वस्तुतः बहिष्कृत हो जाते हैं। वह मुक्त व्यक्ति इस पृथ्वी पर रहता है क्योंकि जीवन बनाये रखनेवाली शक्तियाँ अभी तक मृत नहीं हुई रहतीं। इसका कारण यह है कि जिन कर्मों से यह जीवन मूल्य रूप में चुकाया जाता है, उनका पूरा मूल्य चुका नहीं रहता। किंतु वे संचित और प्रारब्ध कर्म, जिनका फल नवीन जन्म में भोगना है, या तो दग्ध हो जाते हैं या इसी जन्म में अन्तरित कर दिये जाते हैं। जीवन्मुक्त को किसी नवीन कर्म का फल नहीं भोगना पड़ता क्योंकि फल उसी व्यक्ति को भोगना पड़ता है जो वासनायुक्त होता है।[१] नाथपंथियों की जीवन्मुक्ति इससे भिन्न है। वे इच्छामृत्यु के साधक हैं, ऐसा हम बतला चुके हैं।

२५—सहज

जीवन्मुक्त और जीवन्मुक्ति शब्दों के समान ही अन्य महत्वपूर्ण शब्द सहजा और सहज हैं। समाधि की अवस्था को सहजावस्था कहा गया है। गोरखबानी में एक स्थान पर 'सहजसमाधि' का जिस प्रकार वर्णन उपलब्ध है, उसके आधार पर उसके लक्षण बतलाये जा सकते हैं। कहा गया है—'नींद स्वप्न में शुक्र का नाश करती है। मार्ग चलने से थकान के कारण आत्मा को अवसाद होता है। (बेकाम) बैठे रहने से खटपट सूझती है। खड़े होने से उत्पात होता है। इसलिये हे पुत्र! गोरख का नथन है कि सहज समाधि में सर्वदा लीन रहना चाहिए।[२] इससे स्पष्ट होता है कि गोरख की दृष्टि से सहज समाधि में निद्रा, यात्रा, खटपट आदि कार्य बिलकुल नहीं होते। यह ऐसी अवस्था है जिसमें शुक्रनाश करनेवाली निद्रा नहीं आती।'

[१] इं० रे० ए०, वा० ७, पृ० ५६३-५६४। [२] गो० बा०, पृ० ७०।

शुक्रस्थैर्य हो जाता है, योगनिद्रा आती है तथा शुक्रस्थैर्य से शरीर अजर-अमर हो जाता है। इस अवस्था में विभिन्न प्रकार की तीर्थादि की यात्राओं की आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि प्राणायामादि में, जैसा पहले कह चुके हैं, यात्रादि श्वास को स्थिर नहीं रहने देते। इससे शिथिलता आती है। अतः तीर्थादि संबंधी यात्रा करने से भी समाधि बाधित होती है, योगी साधन में सचेष्ट नहीं रह पाता। बेकाम बैठने से भी विभिन्न प्रकार की खटपट सूझती है और खड़े रहने पर भी अनेक प्रकार के उत्पात होते हैं। इस प्रकार सहज समाधि इन सबसे रहित है। इसमें शुक्र और प्राण स्थिर हो जाते हैं तथा शरीर को किसी प्रकार आयास अथवा कष्ट नहीं उठाना पड़ता, सरल योगसिद्धि होती है। गोरखवानी के विभिन्न प्रयोगों से इस अर्थ की सिद्धि होती है।

गोरखबानी में योगेश्वर के संबंध में कहा गया है—"वे शब्द का विचार करके व्यवहार करें। शिष्य जितने के अधिकारी हों, उतना ही ज्ञान उन्हें दें।" जितनी वस्तु के योग्य पात्र हों, उतना ही उसमें डालें। इस पर एक प्रश्न उपस्थित किया गया है कि "बर्तन में खूब दबा कर भरने से बर्तन फूट सकता है, बहुत ठूँस कर शिष्य में ज्ञान भरने से वह उसके अनुसार कार्य न कर सकेगा और समस्त मार्ग ही को छोड़ देगा और यदि कुछ बाहर रहने दिया जाय तो जितना अंश बाहर रहेगा वह नष्ट हो जायेगा। वस्तु अधिक है और बर्तन छोटा है। कहो हे गुरु, क्या उपाय किया जाय।" उत्तर में जो कुछ कहा गया है, उससे 'सरलता', 'स्वाभाविकता', 'शिष्य की प्रकृति' आदि भाव स्पष्ट होते हैं—"हे अवधूत सहज स्वाभाविक रूप से शिष्य की मायिकता को लेकर (हटाकर) उसके स्थान पर ज्ञान देना चाहिए। सहज स्वभाव से प्रीति और लौ लग जायगी। सहज (स्वाभाविक) रूप से प्रयत्न किया जायगा तो पात्र स्वयं बड़ा हो जायगा और उसमें सब समा जायगा।" वस्तुतः यह सहज दीक्षा की ही व्याख्या है जिसमें शिष्य की प्रकृति का विशेष ध्यान रखकर ही अनुकूल दीक्षा दी जाती है। तांत्रिक दीक्षा के मूल में भी यही बात दिखाई देती है। यह 'सहजता', 'स्वाभाविकता', प्रकृत्यनुकूलता वस्तुतः गोरखबानी में वर्णित अन्य साधनों में भी दिखाई देती है। गुरुज्ञान को प्राप्त करने, साक्षात्कृत करने के लिये सहज की जीन पर बैठना, पवन को अश्ववत् प्रयुक्त करना, लय को वल्गा बनाना, चेतन आत्मा को सवार बनाना तथा अन्य सभी उपायों को छोड़कर केवल इसी का साधन करना स्पष्ट करता है कि इस संपूर्ण साध

का आधार सहज है, जिसमें किसी प्रकार का कृच्छ्राचार नहीं हैं। इसी प्रकार साधन कर परब्रह्म रमता राम से चौगान का खेल खेला जा सकता है।[1] गोरख को इस सहज साधन से ही सहजसिद्धि मिली है। पिंड में ही ब्रह्मांड को ढूँढ़ कर गोरख ने यह सर्वसिद्धि पाई थी। इससे आवागमन मिट गया। यह पिंड या काया गढ़ के समान है जिसके अन्दर के दशमद्वार में ताला लगा हुआ है। इसे कुंडलिनी शक्ति के द्वारा खोलना आवश्यक है। इसी गढ़ के अन्दर देव, देवालय और काशी हैं और वहीं अविनाशी परमात्मा सहज स्वभाव से गोरख को मिले हैं। डा० बड़थ्वाल ने यद्यपि यहाँ सहजस्वभाव की व्याख्या नहीं की है, तथापि वर्णन से एवं उनकी अन्य स्थलों की व्याख्याओं से मिलान करने से यह स्पष्ट होता है कि कष्ट,कृच्छ्राचार-बह्याचार से रहित अन्तस्साधन से इस अविनाशी तत्व की उपलब्धि संभव है और इस अन्तस्साधन में काया-ज्ञान, कायाजय, कुंडलिनीसाधन आदि गृहीत हैं। (डा० वड़थ्वाल की स्पष्ट व्याख्या के अभाव में यहाँ 'साध्य अविनाशी तत्व का सहज स्वभाव' अर्थ भी लिया जा सकता है) साधक के अकृत्रिम, स्वाभाविक भाव से ही गुरुदेव भी तुष्ट होकर कृपा की वर्षा करते हैं।[2]

सहज साधन के लिये सहज रहनी आवश्यक है जिसमें सहजक्रिया, सहज-शील, सहज वेश-भूषा भी अन्तर्गणित हैं। 'रहनी' और 'स्वभाव' साधक के लिये परस्परावलंबी हैं। प्राणायाम के लिये या हठ-(चन्द्र-सूर्य)साधन के लिये किस प्रकार मध्यम आचार-विचार-संयम की आवश्यकता होती है, इस विषय में हम पर्याप्त विस्तार से लिख चुके हैं। वहाँ मध्यम आचार-विचार-संयम का जो परिचय दिया गया है, उसमें ही गोरख ने एक स्थान पर 'सहज' शब्द का व्यवहार किया है। "अचानक फट से बोल नहीं उठना चाहिए। जोर से पाँव पटकते हुए नहीं चलना चाहिए। धीरे धीरे पाँव रखना चाहिए। गर्व नहीं करना चाहिए, सहज स्वभाविक स्थिति में रहना चाहिए।" स्पष्ट ही यहाँ सहज स्वाभाविक युक्त आचार-विचार-व्यवहार-भाव की ओर संकेत किया गया है। 'सहजैं रहिबा' से उस 'सहज रहनी' की ओर संकेत प्रतीत होता है जिसके अन्तर्गत जीवन के सभी सामान्य व्यवहार, चलना-फिरना, उठना-बैठना, व्यवहार, भाव, रोना-हँसना आ जाते हैं। इसका विस्तृत वर्णन गोरख ने अपनी वाणियों में किया है। यम-नियम के विवेचन के अन्तर्गत हम पर्याप्त

[1] गो० बा०, पृ० ७८-७९, छं० २४५-२५६; पृ० १०२-१०३, पद १४।
[2] गो० बा०, पृ० ११६, पद २३; पृ० १२५, पद ३१।

विस्तार से इसके संबंध में कह चुके हैं। योगी के शील (चरित्र, आचार आदि) को भी गोरख ने सहज ही बताया है। यह 'योगी इतना शीलवान् है कि शरीर ही मानों स्वाभाविक शील का बना हुआ है।[१] सहज बाह्याचार और कृत्रिम वेशभूषा का भी विरोधी है। गोरख के अनुसार "नाथयोगी के पास सहज ज्ञान (संभवतः पोथी ज्ञान या शास्त्र ज्ञान का विरोधी) का खप्पर है।" इस कथन से जहाँ एक ओर कृत्रिम थोथे पोथी ज्ञान का विरोध कर स्वानुभूतिक ज्ञान व्यंजित किया गया है वहीं दूसरी ओर स्थूल बाह्याचार के प्रतीक खप्पर को पारमार्थिक अर्थ देकर, अन्तस्साधनात्मक सहज स्वाभाविक तत्वों को ग्रहण करने का उपदेश भी दिया गया है। इस पंक्ति के साथ आने-वाली अन्य पंक्तियाँ भी इसी अर्थ की पुष्टि करती हैं। ऊपर बताया गया है कि गुरु की ओर से शिष्य की माया का आदान आदि क्रियाएँ सर्वथा सहज स्वाभाविक ढंग से की जानी चाहिए। इस प्रकार के सहज साधन और सहज रहनी से पाँचो तत्व वा तन्मात्राएँ या ज्ञानेद्रियाँ चूर्ण हो जाती है।[२] इन्हीं को पूर्ण करने के लिये, वश में करने के लिये अनेक कष्टकर क्रियाएँ अनेक साधक करते हैं।

सहज से संबंधित अन्य शब्द हैं—'सहज सुन्नि', 'समि सुन्नि', 'अतीत सुन्नि'। 'मच्छीन्द्र गोरष बोध' में गोरख के प्रश्न का उत्तर देते हुए मत्स्येन्द्र ने बताया है कि "(साधक की) सहज शून्य में उत्पत्ति होती है, सम शून्य में सतगुरु (परम तत्व को) समझता है तथा अतीत शून्य में (साधक) समाहित हो रहता है। शून्यों के इस वर्णन को मत्स्येन्द्र ने परमतत्ववर्णन कहा है।[3] डा० बड़थ्वाल ने 'मच्छींद्र गोरष बोध' की टीका नहीं की है। अतः यहाँ शून्यों का तथा सहज शून्य का क्या अर्थ है, यह उनके अनुसार उपस्थित नहीं किया जा सकता। 'सहज शून्य' शब्द के अन्य प्रयोगों में कहा गया है कि सहज शून्य में तन-मन स्थिर रहते हैं। डा० बड़थ्वाल ने एक स्थान पर टीका में बताया है कि 'यहाँ नहीं, वहाँ त्रिकुटी के मध्य सहज शून्य में हमारा निवास है।'[४] यदि इन स्थलों पर ध्यान दिया जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि त्रिकुटी के मध्य में स्थित सहज शून्य स्थान में ही साधक के वास्तविक स्वरूप का प्रकाशन होता

---

[१] गो० बा०, पृ० ११ छं० २७; पृ० १७।

[२] गो० बा०, पृ० १४८-१४९; पद ५३; पृ० १५१।

[3] गो० बा०, पृ० १९३।

[४] गो० बा०, पृ० १९५, १३४ तथा टीका।

है, वहीं मन स्थिर होता है। वहीं पर साधक की वास्तविक रहनी होती है। त्रिकुटी में जहाँ तक मन:स्थैर्य का प्रश्न है, साधना के पिछले विवरण से उसकी पुष्टि होती है। त्रिकुटी का स्थान भ्रूमध्य है। यही आज्ञाचक्र का स्थान है जिसे छठाँ चक्र भी कहते हैं। प्रथम पाँच चक्रों में पंचभूतों, तन्निर्मित विषयों एवं इन्द्रियों के स्थैर्य तथा लय का साधन होता है। छठाँ चक्र मन के स्थैर्य एवं लय का स्थान है। हम पहले बतला चुके हैं कि यही त्रिकुटी साधक के ध्यान-साधन का वास्तविक स्थान है। यदि इस प्रकार हठयोगी साधनक्रम के अनुसार सहज शून्य की व्याख्या की जाय तथा इसी प्रकाश में 'समशून्य' और 'अतीत शून्य' का भी अर्थनिरूपण किया जाय तो सहज शून्य के सापेक्षिक वर्णन में ये दोनों क्रमशः ऊर्ध्वतर और ऊर्ध्वतम शून्य कहे जा सकते हैं। हम नाथों के चक्र संबंधी विवरण में बतला चुके हैं कि गोरख की एक रचना के अनुसार, आठ चक्र मान्य हैं। सहस्रार में समाधि की अवस्था मानी गई है जिसमें साधक में पूर्ण समदृष्टि का उदय होता है। उसी में आत्मा-परमात्मा के अद्वैत-ज्ञान के उदय को भी स्वीकार किया गया है। अष्टम चक्र सूक्ष्मचक्र है जिसमें अद्वैतज्ञान भी नहीं रहता। वस्तुतः, यदि अष्टचक्रव्यवस्था स्वीकार की जाय तो यहीं विशिष्ट ज्ञान, सर्वातीत नाथ-पद की उपलब्धि बताई गई है। नाथों का लक्ष्य नाथपद यहीं है। नाथसिद्ध की यही समाधि की अवस्था है। इसी लिये यहाँ ही 'अतीत शून्य' की स्थिति संभव हो सकती है क्योंकि नाथ को सर्वातीत एवं द्वैताद्वैतविवर्जित मानते हैं। इस प्रकार का कोई विवेचन डा० बड़थ्वाल अथवा अन्य किसी विवेचक ने नहीं किया है।

गोरखबानी में अधःशून्य, मध्यशून्य और ऊर्ध्व शून्य नाम के तीन शून्यों का वर्णन मिलता है। डा० धर्मवीर भारती ने इनसे भी ऊपर एक चतुर्थ शून्य बतलाया है। "नाथयोगपद्धति में प्रज्ञा तथा उपाय की बौद्ध भावना का तिरस्कार किया जा चुका था किन्तु त्रिकुटी में शून्य समाधि द्वारा मन को प्रसन्न बनाने और अमृतपान कर चित्त को दृढ़ और काया को अमर बनाने की कल्पना चली आ रही थी। गोरखबानी में कुछ पंक्तियाँ ऐसी मिलती हैं जिनमें शून्य से ऊपर सहज शून्य की कल्पना की गई है और यह बताया गया है कि केवल मात्र शून्य में तो आवागमन लगा ही रहता है किन्तु जिस शून्य में चित्त समाकर स्थिर हो जाता है, वह सहज शून्य है।" इस प्रकार डा० भारती के अनुसार सहज शून्य शून्य से ऊपर है तथा उससे श्रेष्ठ है। पं० परशुराम चतुर्वेदी ने इसी प्रकार गोरखबानी के सहज का प्याला को 'सहज

ज्ञान के आनंद' का वाचक माना है। इसकी उपलब्धि वहाँ होती है "जहाँ सूर्य एवं चन्द्र के उदय के बिना ही ब्रह्मज्योति का प्रकाश हो जाता है।"[१] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने नाथयोगियों की भावाभावविनिर्मुक्तावस्था को दुर्लभा सहजावस्था बतलाया है। यही नाथयोगियों की परमानुभव की अवस्था है। उन्होंने बौद्ध सिद्धों, नाथसिद्धों एवं संतों के सहज अथवा सहज शून्य शब्दों के विविध प्रयोगों एवं अर्थों का विचार कर बतलाया है कि सहज अथवा सहज शून्य शब्द अकेले अथवा युग्मक के रूप में परमोपलब्धि के वाचक हैं।[२]

जहाँ तक नाथसिद्धों की हिन्दी रचनाओं का संबंध है, उनकी बानियों में 'सहज जुगति' और 'सहज मुखि' शब्द और मिलते हैं जिनका सीधा संबंध तो सहज से है और अप्रत्यक्ष संबंध सहजावस्था या सहज समाधि से है। 'नरवै बोध' में गोरख ने कहा है कि द्वन्द्व का त्याग कर निर्द्वन्द्व रहो, आलिंगन (भोग-विलास) को त्याग कर सांसारिक वासनाओं से निर्बन्ध रहो। (इस प्रकार) सहज युक्ति का आश्रय लेकर आसन करो (जिससे कष्ट न हो) और (इस प्रकार) तन-मन और पवन को दृढ़ करके धारण करो। यहाँ यद्यपि डा० बड़थ्वाल की व्याख्या नहीं मिलती तथापि स्पष्ट है कि आसन, प्राणायाम आदि का ग्रहण इस सहजयुक्ति के अन्तर्गत ही है। कुछ मतों के अनुसार आसन में, सुखप्रदायकता ही मुख्य गुण है। विभिन्न शब्दों के साथ प्रयुक्त होनेवाले 'मुख' शब्द का 'उन्मुख' अर्थ पहले बतलाया जा चुका है। 'गुरुमुख', 'मनमुख' आदि की तरह ही 'सहज मुख' भी एक शब्द है। 'रहनी' के संबंध में भी अभी कह चुके हैं कि सहज-साधन के लिये 'सहज रहनी' आवश्यक है। गोरक्ष को उपदेश देते हुए मत्स्येन्द्र इस सहजता या स्वाभाविकता की ओर उन्मुख रह कर 'रहनी' रहने के लिये कहते हैं।[३]

डा० कल्याणी मल्लिक ने बौद्ध सिद्धों और नाथसिद्धों की साधनापद्धति की तुलना करते हुए नाथसिद्धों के सहज और सहजावस्था का अर्थनिरूपण किया है। बौद्ध सिद्ध लुइपा ने बलपूर्वक कहा है कि मुद्रा, बंध आदि विभिन्न साधनों का

---

[१] सिद्ध साहित्य, डा० धर्मवीर भारती, पृ० ३५६-३५७; कबीर साहित्य की परख, पृ० २४८।

[२] प्रोसीडिंग ऐंड ट्रांजैक्संस आव दि आल इंडिया ओरियंटल कांफ्रेंस, १९४३-१९४४; १९४६ में प्रकाशित पार्ट ३, 'सहज समाधि ऐंड खसम भाव इन मेडीएवेल इंडिया', पृ० ३८७-३९०।

[३] गो० बा०, पृ० १६९, १९८।

त्याग करना चाहिए क्योंकि इन सब साधनों के होते हुए भी साधक की सामान्य व्यक्तियों जैसी मृत्यु होती है। इसलिये सहज या सरल मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। दूसरी ओर नाथों के हठयोग के ग्रंथों में मत्स्येन्द्र-गोरक्ष आदि द्वारा साधित आसनों का वर्णन मिलता है। योगाभ्यास से शरीरस्थित अनाहत-नाद का श्रवण भी एक दूसरा कठिन साधन है जिसका उपदेश नाथगुरुओं ने किया है। इसी प्रकार कुंडलिनीजागरण और कायासाधन भी साधना के सहज या सरल मार्ग नहीं हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि बौद्धों का सहज मार्ग तथा नाथों के सिद्धान्तों में बहुत अधिक समानता नहीं है। यद्यपि अकुल-वीरतंत्र में मत्स्येन्द्र ने सहज के अनुसरण का उपदेश दिया है पर यह सहज समरस की अवस्था है। यही तांत्रिक बौद्ध मत की सहज समाधि है। नाथ-योगी का लक्ष्य है "अद्वैतपरिवर्ती" नाथपद की उपलब्धि। यह तभी संभव है जब योगी बाह्य मानसिक क्रियाओं से उत्तीर्ण हो जाय जिससे वह स्वानुभृति-गम्य परमतत्व का ज्ञान अपनी स्वानुभूति से प्राप्त कर सके जिसे हम सहज कहते हैं। ये विचार बौद्ध, जैन तथा निर्गुनिया दोहों में मिलते हैं। बौद्ध सहजिया लोगों ने परमेश्वर से एकात्म (स्वानुभूति या प्रातिभ ज्ञान से परमा-वस्था की प्राप्ति) को सहजसमाधि कहा है। नाथयोगियों ने इसे समरस (विश्व की अनेकता में उस तत्व की एकता का साक्षात्कार) कहा है।[१] इस प्रकार नाथयोगियों के सहज अथवा सहजावस्था संबंधी जो विचार यहाँ उप-स्थित किये गये हैं, उनसे स्पष्ट होता है कि नाथ लोग सहज का सामान्य अथ स्वाभाविक या 'नैसर्गिक' स्वीकार करते हैं। सहज पद्धति (बाह्याचारविहीन चन्द्रसूर्यसाधन से समन्वित हठयोग—अन्तस्साधन) से उपलब्ध जो समाधि है, उसे वे सहज समाधि अथवा समरस कहते हैं। प्राणायामादि साधन के अनुकूल जो सहज रहनी है, उसे वे स्वीकार करते हैं। इस साधन में आसन, बंध, मुद्रा आदि भी गृहीत हैं किंतु नाथयोगियों की इनकी अपनी व्याख्या है। बौद्ध सहजिया सिद्धों ने आसन और बंध से समन्वित साधन का ही कष्ट या कृच्छ्राचार कह कर त्याग करने और सहज साधन को ग्रहण करने का उपदेश दिया था। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि 'सहज' शब्द का अर्थ सापेक्ष है। तदनुकूल सहजावस्था अथवा सहज समाधि के अर्थ में भी सापेक्ष परिवर्तन स्वीकार किया जा सकता है।

बौद्ध सिद्धों के 'सहज' का विचार करते समय सहज शब्द के विभिन्न अर्थों पर विचार हम पहले भी कर चुके हैं। अपने 'तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य'

[१] सि० सि० प० अ० व०, इंट्रो० पृ० १७, १८, २४।

नामक ग्रंथ में कह चुके हैं कि वज्रयान में, उसके परवर्ती काल में, कुछ ऐसे योगियों का दल उठ खड़ा हुआ था जिसने तांत्रिक साधना की बाह्याडंबरता या वज्रयान का विरोध किया। डा० शशिभूषण दासगुप्त ने उसके दो अर्थ बताये हैं—(१)आत्मगत एवं संसारगत पदार्थों का स्वाभाविक धर्म, (२) मानव प्रकृति और शरीर को अनुचित कष्ट देने की अपेक्षा सत्यानुभव करानेवाला स्वाभाविक मार्ग। उन्होंने बतलाया है कि हमारी यौनवृत्तियाँ ही हमारे स्वभाव की सब कुछ हैं। यह वृत्ति शुद्ध एवं अनाचाररहित होती है। इसीलिये यह आवश्यक है कि यह रागवृत्ति या यौन वृत्ति परमतत्व के साक्षात्कार के लिये नियोजित कर दी जाय। जो स्वाभाविक है, वही सरल भी है। इस प्रकार सहज साधना सहज या स्वाभाविक वृत्ति की साधना है। साधारणतया 'सहज' शब्द का अर्थ 'जाति या जन्म के साथ ही उत्पन्न होना' लिया जा सकता है। धर्मों या पदार्थों में जो स्वभावतः ही रहता है, उसे 'सहज' कहना चाहिए। सहज के ये स्वाभाविक, नैसर्गिक, प्राकृतिक, सरल आदि अर्थ मूलतः सभी प्रकार के अर्थों में विद्यमान मिलते हैं। अपने साधन, दर्शन और लक्ष्य के अनुकूल इसके भिन्न-भिन्न निरूपण मिलते हैं।[१]

नाथसिद्धों की हिन्दी रचनाओं के आधार पर, विशेषकर गोरखबानी के जिन अंशों के आधार पर हमने ऊपर नाथसिद्धों के सहज पर विचार किया है, प्रायः उन्हीं के आधार पर डा० धर्मवीर भारती ने सहज के पाँच अर्थ बतलाये हैं। उन्होंने सहज की परंपरा पर भी प्रकाश डाला है। उनके अनुसार 'शैव पद्धतियों ने ११वीं शती में ही सहज शब्द को स्वीकार कर लिया था किंतु उसके अर्थ बदल दिये थे। इस बात की पूरी संभावना है कि बौद्ध तथा शैव दोनों प्रकार की पद्धतियों ने इस शब्द को किसी तीसरी परंपरा से ग्रहण किया हो। मत्स्येन्द्र के योगिनीकौल मार्ग तथा वज्रयानी सिद्धों के सहजाम्नाय की तुलना करने से यह ज्ञात होता है कि दोनों में ही सहज शब्द का प्रयोग स्वाभाविक प्रवृत्तिमार्ग के अतिरिक्त ऐसी साधनापद्धति के अर्थ में होता था जिसमें पुरुष तथा शक्ति तत्व का समागम किया जाय। ये दोनों तत्व बौद्ध पद्धतियों में प्रज्ञा तथा उपाय और योगिनी कौल मार्ग में शक्ति तथा शिव के नाम से प्रख्यात थे। कौलज्ञान की 'सहजा' आदि शक्तियों के संबंध में हम पहले ही कह चुके हैं। कौलज्ञान में, डा० भारती के अनुसार, साधक स्वकीया गृहणी शक्ति को शरीरस्थ कर अन्दर ही ग्रहण करे। ऐसे व्यक्ति

[१] ता० बौ० सा० सा०, पृ० १८५, १९०-१९१।

को सहजानंद की प्राप्ति होती है। यद्यपि बौद्ध आदि की वहाँ निंदा की गई है किंतु उसमें सांप्रदायिक प्रतिद्वंद्विता का आभास अधिक है। डा० भारती मानते हैं कि यदि प्रज्ञा तथा उपाय को शक्ति और शिव की संज्ञा दे दें तो वज्रयानी सहज और कौलज्ञान के सहज में कोई अंतर नहीं रहता, क्योंकि इसी प्रसंग में कहा गया है कि अकुल-वीर-साधना द्वारा जो समरस में प्रतिष्ठित हो जाता है, वही ब्रह्म है, वही शिव है, वही सोम है, वही अर्हन्त है, वही बुद्ध है। किंतु फिर भी योगिनीकौल मार्ग में सहज को शैव रूप दे देने का एक परिणाम अवश्य अनुमित किया जा सकता है। वह यह कि नाथपंथी योगियों को सहज भावना शैवों से प्राप्त हुई होगी। अतः उन्होंने इसे बौद्ध नहीं माना और सहज से वे बराबर शक्ति तथा शिव के संगम के अर्थ लेते रहे, किंतु उसे उन्होंने देहस्थ शक्ति या देहस्थ खेचरी मुद्रा को उपलब्ध करने में लिया होगा।[1] डा० भारती के इस निष्कर्ष के संबंध में एक बात कही जा सकती है और वह यह कि शैवों और बौद्धों के शिव तत्व में मूलतः एवं सिद्धान्ततः भेद है। यह भेद संपूर्ण साधनापद्धति एवं भावनाधारा के परिवर्तन का उत्तरदायी हो सकता है। अतः यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि यदि नाथसिद्धों का सहज शिवशक्तियोग है तो निश्चय ही वह पूर्णतया शैव है। बौद्धों के शिव-शक्ति या उपाय एवं प्रज्ञा से उसकी कोई समानता नहीं। बौद्ध सिद्धों और नाथसिद्धों के संबधनिरूपण के प्रसंग में हम पहले ही इस तथ्य की ओर संकेत कर चुके हैं।

डा० भारती ने जिन ६ अर्थों में 'सहज' का प्रयोग नाथवाणियों में बतलाया है, उनमें से अधिकांश का परिचय हम पहले दे चुके हैं। फिर भी सुविधा के लिये, उसे संक्षेप में देकर हम इस सहज के प्रकरण को समाप्त करते हैं (१) परमतत्व के रूप में सहज—इसमें बतलाया गया है कि पाँचों तत्वों का सहज से ही उद्भव और अंत में सहज में ही विलयन होता है (२) इस सहज को आत्मगत कर साधक को भी सहज स्वरूप धारण करना चाहिए। यह सहज ज्ञान या सहज स्वभाव उन समस्त द्वयताओं से विवर्जित है, भाव-अभाव आदि की द्विविधा इसमें नष्ट हो जाती है और अविनाशी तत्व की प्राप्ति होती है (३) शिवशक्ति के योग की सहज पद्धति में मैथुन का रूपक है। डा० भारती की दृष्टि में सहज का तांत्रिक अर्थ यही था। वज्रयानी सिद्धों ने भी इसे ग्रहण किया था। नाथयोगी हठयोग की साधना में सहजपद्धति को शिवशक्ति

---

[1] सिद्ध साहित्य, पृ० ३६८-३६९।

के मिलन या जोगी द्वारा जोगिनी के मिलन के रूपकों में रखकर पूर्ववर्ती तांत्रिक परंपरा का निर्वाह करते थे। ये शक्ति और शिव वास्तव में नाद और विंदु हैं। इनमें से शक्ति का वास कुंडलिनी के रूप में, एक दूसरे स्थान पर नीचे बताया गया है और शिव का वास ऊपर। जोगी और जोगिनी के परिणय के रूप में भी इस सहज समागम को चित्रित किया गया है। (४) सहज समाधि पवन का निरोध कर अपनी इन्द्रियों को पूर्णतया वश में करने को सहजसमाधि के रूप में चित्रित किया गया है। (५) परमपद निर्वाण के अर्थ में प्रयुक्त मिलता है। (६) सहज जीवनपद्धति के रूप में भी सहज का प्रयोग मिलता है। यह सहज बाह्य अनुष्ठानों, वाह्याचारों और विधि-निषेधों, अतिचारों से मुक्त मध्यम सहज मार्ग का अर्थ देता है।[1]

हठयोगप्रदीपिका में समाधि का एक और पर्याय 'तुर्या' दिया हुआ है। इसका रूप प्रायः तुरीया माना जाता है। गोरखवानी में इन दोनों में से कोई भी रूप समाधि के अर्थ में नहीं मिलता। 'मच्छींद्र गोरष बोध' में अवश्य ही 'तुरिया बंध' शब्द का प्रयोग मिलता है। कहा गया है—'हे बालयोगी अवधूत मनमुख (या परिशुद्ध मन—उन्मन) से समाधि लगती है। पवनमुख होने से (या पवन साधन करने से—उसके उन्मुख होने पर) उपाधियाँ छूटती हैं। सुरतिमुख से तुरीया बंध लगता है तथा गुरुमुख से (साधक) अजरामर शरीरवाला हो जाता है।' मोनियर विलियम्स ने तुरीया को आत्मा की चौथी अवस्था बतलाया है। यह आत्मा की शुद्ध निर्गुण ब्रह्म की अवस्था है।[2] इस अर्थ के अनुसार गोरखबानी के उपर्युक्त उद्धरण में 'तुरिया बंध' का अर्थ 'आत्मा की चौथी अवस्था का बंध' अर्थ होना चाहिए जिसमें आत्मा परम शुद्ध ब्राह्मी अवस्था में अवस्थित हो जाती है। हठयोग के किसी नाथपंथी ग्रंथ में 'तुरीया बंध' शब्द नहीं मिलता।

२६—निष्कर्ष

नाथपंथी हिन्दी रचनाओं में विवेचित नाथों के योग के इस विस्तृत परिचय

---

[1] भिन्न भिन्न अर्थों के लिये क्रमशः निम्नलिखित संदर्भ द्रष्टव्य— (१) गो० बा०, पृ० १००, १८९; योग प्रवाह—डा० बड़थ्वाल, पृ० २२७; (२) गो० बा०, पृ० १९६, ११६—सिद्ध साहित्य पृ० ३६९–३७० (३) गो० बा०, पृ० १००, १९६, १०५—सिद्ध साहित्य पृ० ३७० (४) गो० बा०, पृ० १०४, ११८, (५) गो० बा०, पृ० २३१, (६) गो० बा०, पृ० ७९. ११, सिद्ध साहित्य, पृ० ३७१।

[2] संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी—मो० वि०, पृ० ४५१।

से हम कुछ निष्कर्षों पर पहुँच सकते हैं। संस्कृत नाथपंथी रचनाओं के योग पर जिस प्रकार तांत्रिक प्रभाव मिलता है, उसी प्रकार हिन्दी रचनाओं पर भी। हिन्दी रचनाओं का योग संस्कृत रचनाओं के योग के अधिकांशतः अनुकूल है। हिन्दी रचनाओं के अनुसार नाथपंथियों का लक्ष्य है—हठयोग और समाधि योग या राजयोग की सहायता से शरीर में निर्वाण पद, परमपद, नाथपद या द्वैताद्वैतविवर्जित पद प्राप्त करना। इस साधन में 'निगुरा' या गुरुहीन व्यक्ति के लिये कोई स्थान नहीं है। गुरु ही जीवनशक्ति या साधक की शक्ति को ब्रह्मग्रंथि से मुक्त करता है। संस्कृत ग्रंथों के अनुसार ही ३२ और ३६ तत्वों का विचार हिन्दी रचनाओं में भी मिलता है। ३२ तत्वों की आठ परीक्षाओं से नाथों के योग में अधिकारभेदवाद की पुष्टि होती है। नाथों का गौण लक्ष्य पिंडसिद्धि या कायसिद्धि या सिद्धदेहप्राप्ति है। चार तत्वों की पूर्ति और पोषण गुरु की सहायता से ही होता है। गुरुकृपा होने पर ही पिंडसिद्धि संभव है। इसलिये नाथपंथी हिन्दी रचनाओं में गुरुमुख का इतना महत्व है। अन्य नाथपंथी सिद्धों की हिन्दी रचनाओं में भी इन सिद्धांतों का परिचय मिलता है। गुरु के जो रूप इन रचनाओं में मिलते हैं, वे परीक्षक, पूरक, पोषक, और बोधक के हैं। इसी प्रकार कुछ और रूपों की ओर भी संकेत किया गया है। ऊपर जिस अधिकारभेदवाद की चर्चा की गई है, उससे स्पष्ट है कि परीक्षाओं के आधार पर अधिकारनिर्णय को स्वीकार किया गया है। नाद की चार क्रमिक अवस्थाओं के अनुसार योगी की चार अवस्थाओं का परिचय मिलता है।

नाथसिद्ध योगयुक्त ज्ञान को स्वीकार करते हैं। अर्थात् वे आध्यात्मिक साधन के लिये आधिभौतिक और आधिदैविक साधनों को स्वीकार करते हैं। उनका परमतत्व सदसत्, निर्गुण-सगुण, द्वैत-अद्वैत से अतीत है, अनिर्वचनीय है। नाद के रूप में यह गगनशिखर में साक्षात्कृत होता है। वे योग से ही काया की रक्षा, योग से ही शरीर का शोधन, योग से ही शरीर का जप और योग से ही शरीर में परमपद का साक्षात्कार संभव मानते हैं। यह सब तब तक संभव नहीं जब तक पिंडज्ञान न हो। ब्रह्मांड और पिंड का संबंधज्ञान आवश्यक है। इसलिये नाथपंथी लोग पिंडब्रह्मांडवाद को भी अपने योगसाधन के लिये आवश्यक मानते हैं। वे पिंड और ब्रह्मांड के एकत्वज्ञान को, सामरस्य को बहुत महत्व देते हैं क्योंकि उनका लक्ष्य है नाथस्वरूप से अवस्थान या पिंडपद का परमपद में समरसीकरण। इसीलिये वे पिंडरक्षा को अत्या-

वश्यक मानते हैं । अनंत ब्रह्मांड में पिंड की दृढ़ता, एकत्व, समरसत्व, परमानंदमयी क्रीड़ा, परमानंदमय ब्रह्मांड में परम स्वच्छंद आनंदमय पिंड की क्रीड़ा नाथों का श्रेय है । यह क्रीड़ा तबतक असंभव है जबतक 'पिंडसंविति' न हो । इसी 'संविति' के लिये 'प्राणसंकली' जैसी रचनाओं में बड़े विस्तार से पिंडपरिचय दिया गया है । इस पिंडब्रह्मांडवाद या पिंडसाधन के निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि नाथसिद्ध जीवात्मा की मुक्ति के साथ-साथ शरीर की भी मुक्ति चाहते हैं । यद्यपि योग से शरीर और मन मुक्त हो जाते हैं तथापि इसकी तथा चित्त की विमुक्ति के लिये ज्ञान आवश्यक है । शुद्ध ज्ञानवादियों से नाथयोगियों का वैलक्षण्य यह है कि ये पिंडसिद्धि और इच्छामृत्यु को भी ज्ञान (या परमज्ञान) के साथ आवश्यक मानते हैं । वस्तुतः नाथों का योग, ज्ञान और योग का समन्वित साधन है । इस साधन में बिंदुसाधन आधिदैविक, प्राणसाधन आधिभौतिक और चित्तसाधन या मानससाधन आध्यात्मिक साधन समन्वित हैं । नाथों के मन-पवन-साधन से भी इसी तथ्य की ओर संकेत होता है । इसी साधन से पिंड और परमपद की सिद्धियाँ सम्भव मानी गई हैं ।

अष्टांग पातंजल योग को नाथों ने उसी रूप में स्वीकार नहीं किया है । हिंदी रचनाओं में यम-नियम का नाम नहीं मिलता, किंतु उनके विभिन्न अंगों का परिचय मिलता है । उनमें कोई क्रम नहीं है और न उनका एकत्र वर्णन है । संस्कृत ग्रंथ हठयोगप्रदीपिका में यम-नियम दशांग हैं और 'शारदातिलक' से लिये गये प्रतीत होते हैं । नाथसिद्धों ने यम-नियम के अंगों को स्वीकार कर लिया है किन्तु वे पातंजल यम-नियम नहीं हैं । हिन्दी रचनाओं में किस यम-नियम को स्वीकार किया गया है, यह निश्चित नहीं कहा जा सकता । 'गोरष उपनिषद' में अवश्य ही अष्टांग योग को स्वीकार करते हुए भी षडंग योग को महत्ता दी गई है । यम-नियमगत तांत्रिक अंगों को नाथपंथी भी प्राणायाम को दृष्टि में रखते हुए अत्यावश्यक मानते हैं । दशांग यम-नियम को स्वीकार कर लेने के कारण ही 'अहिंसा' तत्व का भी नाथों ने उपदेश दिया । यम-नियमगत अंगों में से नाथयोगियों ने अपनी हिन्दी रचनाओं में अहिंसा, ब्रह्मचर्य, मिताहार, आर्जव आदि का विस्तार से वर्णन किया है । वे नारी के कामिनी रूप का त्याग कर और जननी रूप या मातृरूप या सुन्दरी के पारमार्थिक प्रतीकात्मक 'सुषुम्नासुन्दरी' रूप का साधन करने को कहते हैं । नियम, व्रत, तप, दान, ईश्वरपूजा, जप, होम का नाथवाणियों में विस्तृत परिचय मिलता है ।

यम, नियम के बाद ही नाथों के अपने विशेष साधन षडंग योग का आरंभ होता है। नाथों को हठयोगी कहते हैं। हठसाधन तथा तत्संबंधित विभिन्न पारिभाषिक शब्दों का विचार कर बताया गया है कि यह वस्तुतः नाड़ीसाधन प्राणसाधन या शिवशक्तियोग है। यह आचार-संयमगत मध्यममार्ग के अतिरिक्त हठयोग का साधनगत मध्यममार्ग है। दूसरे शब्दों में यह 'संधि-साधन' या कलासाधन या अमृत कला का साधन है। यम-नियम के बाद का अंग आसन है जिसका विस्तृत विचार नाथवाणियों में नहीं मिलता। आसन में भी अद्वय भूमि सुषुम्ना का आसन मुख्य माना गया है। निश्चय ही यह पारमार्थिक और प्रतीकात्मक है। प्रारंभिक साधन में बाह्य आसनों की आवश्यकता स्वीकार की गई है। शरीर के आन्तरिक अंगों के शोधन के लिये षटकर्म और प्राणायाम में से कोई भी स्वीकार्य हो सकता है। नाथवाणियों में षटकर्मों का वर्णन नहीं मिलता। इससे प्रतीत होता है कि कृच्छ्राचारप्रधान षटकर्मों को नाथों ने स्वीकार नहीं किया है। इसके विपरीत प्राणायाम का बड़े विस्तार से बहुविध वर्णन नाथवाणियों में मिलता है। योगसाधन के लिये नाथों ने इसकी महत्तम उपयोगिता स्वीकार की है। उसी के साधन से अन्य परवर्ती कठिन साधन सरल और साध्य हो जाते हैं। इस प्राणायाम से ही नाड़ीशोधन, कुंडलिनीजागरण, षट्चक्रवेध, लयसाधन, उन्मनीसाधन, प्रणवसाधन नादानुसंधान आदि साधन साध्य हैं। यम-नियम संबंधी आचारों और संयमों का विचार भी प्राणायाम को ध्यान में रखकर ही किया गया है। प्राणायाम का सीधा संबंध नाड़ीशोधन से है। नाद-विन्दु-साधन के लिये भी इस प्राणायाम की ही सहायता लेनी पड़ती है। आगे बताया गया है कि इस पवनसाधन या प्राणसाधन से योगाग्निप्रज्वलन या कुंडलिनीप्रबोध, शरीर की चौंसठ संधियों में वायु का संचरण (और शोधन), काया का परिवर्तन, नवद्वाररोध, उन्मनी-योग-साधन, विंदुस्थैर्य, ऊर्ध्वोधः वायु-साधन से ब्रह्मरन्ध्रादि सिद्धि, ज्योतिप्रकाश, अनाहतनादश्रवण, ध्यानसाधन, नित्य आरोग्य, पवन को उलट कर प्रेरित करने से षट्चक्रवेध, महारससिद्धि एवं शिवशक्तियोग, परमात्मप्राप्ति, मन की अचलता, द्वादशांगुल पवन के निरोध से अजरत्व एवं अमरत्व की प्राप्ति, मन-पवन के योग से अनाहतनादश्रवण आदि सिद्ध होते हैं। बन्धों का नाथवाणियों में विस्तृत वर्णन नहीं मिलता। मुद्रा का परिचय यद्यपि नाथवाणियों में मिलता है तथापि उसका अर्थ और वर्णन संस्कृत के हठयोगी ग्रंथों के समान नहीं है। वहाँ घटस्थ मुद्राओं का ही वर्णन मिलता है। इनका सीधा संबन्ध मानस-विन्दु-नियंत्रण से है। इसी प्रकार

नाद के अनुभव की तीन अवस्थाओं का भी वर्णन मिलता है जिसके साधन का प्राणायाम से घनिष्ठ सम्बन्ध है । संस्कृत ग्रन्थों में वर्णित नाद की चार स्थितियों का वर्णन है । इसके अतिरिक्त प्राणायाम से प्रणवसाधन और अजपाजाप का सम्बन्ध है । प्रणव ही नाथपन्थियों का 'स्वसंवेद' और 'सूक्ष्मवेद' है । वे केवल इस सूक्ष्मवेद प्रणव को ही स्वीकार करते हैं । यह प्रणव तत्व भी उनकी दृष्टि में संपूर्ण सृष्टि में व्याप्त है । जप में भी वे केवल 'अजपाजाप' को ही स्वीकार करते हैं जिसका आधार श्वास-प्रश्वास-साधन है इस प्रकार इस प्राणायाम के बहुविध रूप और उसकी महती उपयोगिता को देखते नाथयोगियों के अनुसार प्राणायाम का महत्व उचित ही है ।

प्राणायाम के बाद प्रत्याहार का स्थान है । यह प्रत्याहार आध्यात्मिक साधन है। योगमार्तण्ड के अनुसार प्रत्याहार चन्द्रामृतमयी धारा का भास्कर से प्रत्याहरण है । उसकी दूसरी परिभाषा है—'मन का विषयों से आहरण ।' आहरण की ये दोनों प्रकार की क्रियाएँ यद्यपि नाथवाणियों में किसी न किसी रूप में वर्णित मिलती हैं किन्तु प्रत्याहार नाम कहीं भी नहीं मिलता । ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें प्रथम परिभाषा हठयोगसाधन के क्रम में है और दूसरी परिभाषा राजयोग या समाधियोग के क्रम में है । इन्द्रियों को उनके विषयों से प्रत्याहृत कर लेना इसी के अंतर्गत है पातंजल योग के अंगों के क्रम के अनुसार प्रत्याहार के बाद धारणा का स्थान है । धारणा बाह्य और अंतस् के साथ एकमात्र निज तत्व स्वरूप का अन्तःकरण से साधन है । इस क्रिया में पंचभूतों का पृथक्-पृथक् धारण एवं मानस का निश्चलत्वसंपादन होता है । इस साधन का 'धारणा' नाम से वर्णन नाथवाणियों में नहीं मिलता अपितु इसके अन्तर्गत वर्णित होने वाले षट्चक्रभेद, लययोग, भूतविजय, कुंडलिनीसाधन, विपरीतकरणी, अमृतसाधन या रससाधन आदि के वर्णन मिलते हैं । नाथवाणियों में चक्रों का विस्तार से वर्णन मिलता है । उन रचनाओं में षट्चक्र और अष्टचक्र का वर्णन मिलता है । गोरख के नाम से प्रसिद्ध 'अष्टचक्र' नाम की रचना में आठ चक्रों का वर्णन है और 'गोरष मच्छीन्द्र बोध में' छ चक्रों का वर्णन उपलब्ध है । तांत्रिकों के मुख्य चक्र ७ हैं और नाथयोगियों की कुछ रचनाओं में आठ चक्र मान्य हैं । तांत्रिक सप्तम चक्र सहस्रार से अद्वैतानुभूति करते हैं और नाथगण अष्टम चक्र में द्वैताद्वैतविवर्जितानुभूति करते हैं । नाथवाणियों के अधिकांश विवरण तांत्रिकों के षट्चक्र (+सहस्रार=७) सिद्धांत ही स्वीकार करते हैं । षट्चक्रों या अष्टचक्रों से संबंधित विभिन्न तत्वों,

स्थानों, पदार्थों या गुणों के विभिन्न पर्यायों का परिचय नाथवाणी में मिलता है। इनकी एक पर्याप्त लंबी सूची उपस्थित की जा सकती है। कुंडलिनी साधन से ही संबधित विपरीतकरण भी एक प्रकार की महत्वपूर्ण क्रिया है और इसका भी वर्णन नाथवाणियों में मिलता है। विभिन्न षट्चक्रों या अष्टचक्रों के समान कुंडलिनी के नाम नाथवाणियों में मिलते हैं जिनमें से अधिकांश को तांत्रिक योगपरक रचनाओं और हठयोगी ग्रन्थों के शब्दों की परम्परा से गृहीत बतलाया जा सकता है। कुछ नाम पूर्णतया लोक-जीवन से गृहीत रूपकों के अनुसार दिये गये हैं जिन्हें प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में नहीं पाया जाता। किन्तु इतना निश्चित है कि प्राय: सभी शब्दों की किसी न किसी प्रकार दार्श-निक या साधनात्मक व्याख्या उपस्थित की जा सकती है।

धारणा के उपरांत ध्यान का स्थान है। यह परमाद्वैत भाव है। नाथ-वाणियों में ज्योतिर्ध्यान का वर्णन मिलता है। किंतु नाथों की ध्यानक्रिया यत्नज और परिश्रमसाध्य नहीं है। वह सहज एवं जीवन की सामान्यक्रियाओं में भी अनुस्यूत है। अंतिम अंग समाधि है। यह समरसावस्था है। इस अवस्था का बड़े विस्तार से वर्णन नाथपंथी संस्कृत ग्रन्थों में मिलता है। हठयोग-प्रदीपिका में तो इसके पर्यायों की एक लंबी सूची ही दे दी गई है। उसके अधिकांश शब्दों का प्रयोग नाथवाणियों में 'समाधि' के लिये मिलता है। इन शब्दों का विस्तार से विचार किया गया है। इन्हीं में सहज, शून्य जैसे महत्व-पूर्ण शब्द भी अन्तर्गणित हैं। इन शब्दों के साथ 'मुक्ति' शब्द का भी प्रयोग और विचार मिलता है।

इस प्रकार नाथों के योग में हठयोग राजयोग का पूरक है और हठयोग समन्वित राजयोग, दूसरे शब्दों में योगयुक्त ज्ञान, के साधन से वे नाथसिद्ध कायसिद्धि या पिंडसिद्धि या सिद्धदेह या इच्छामृत्यु की सिद्धि के सहित पिंडपद के परमपद में समरसीकरण अथवा नाथस्वरूप से अवस्थान की उपलब्धि करना चाहते हैं।



ग्यारहवाँ परिच्छेद

संतों का योग और नाथों के योग के साथ उसका तुलनात्मक अध्ययन

पूर्व के परिच्छेदों में हमने शैवों और वैष्णवों के योग का परिचय उपस्थित किया है। यहाँ हम उस विवेचन के प्रकाश में संतों के योग का विचार करेंगे। वहाँ कहा जा चुका है कि वैष्णवों और शैवों, दोनों पर, उनकी साधनपद्धतियों पर, तांत्रिक साधन का प्रभाव पड़ा है। शैवों पर तांत्रिक प्रभाव किस प्रकार है, इसका विचार हम पहले कर चुके हैं और यह भी देख चुके हैं कि नाथों की संस्कृत और हिन्दी रचनाओं में मिलनेवाले योग पर भी उसका पर्याप्त प्रभाव है। पहले कहा गया है कि पांचरात्र साहित्य अंशतः वैदिक है और अंशतः तांत्रिक। इसी तंत्रप्रभावित पांचरात्र वैष्णव साहित्य में प्रकाशित वैष्णव साधन का विकास और विवेचन आगे चलकर रामानुजी वैष्णव मत तथा अन्य वैष्णव मतों में हुआ। इस वैष्णव साहित्य में उपलब्ध योग के स्वरूप का एक परिचय पहले उपस्थित किया जा चुका है। सुविधा की दृष्टि से उसके कुछ निष्कर्षों की ओर संकेत किया जा रहा है।

१—वैष्णव ग्रन्थों के योग की उपयोगिता और आलोचकों के विभिन्न मतों की समीक्षा

वैष्णव रचनाओं में से विष्णु संहिता, जयाख्य संहिता, परम संहिता अहिर्बुध्न्य संहिता, पद्मपुराण, नारदीय पुराण, नारद पंचरात्र, शांडिल्य भक्ति-सूत्र, नारदभक्तिसूत्र और वैष्णवमताब्जभास्कर का विचार किया गया है। रामानुज मत के आचार्यों ने भी योग के साधन को स्थान दिया था। ये वैष्णव ग्रंथ षडंगयोग और अष्टांगयोग दोनों को स्वीकार करते हैं। भक्ति की प्राप्ति के लिये योग की आवश्यकता मानी गई है। विष्णु संहिता इसे भागवत योग कहती है। जयाख्य संहिता ने भक्त को योगी कहकर लयसाधन, मंत्रसाधन, इन्द्रियनियमन, चित्तसंयम, प्राणायाम, आसन, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा आदि का वर्णन करते हुए ब्रह्मरन्ध्रपथ के उद्घाटन की ओर संकेत किया है। परम संहिता में योगसाधन को स्वीकार करते हुए भी कष्टकर

क्रियाओं का निषेध किया गया है। अहिर्बुध्न्य संहिता ने बड़े विस्तार से नाद, नादविकास, नादानुसंधान का वर्णन किया है। यह वर्णन दार्शनिक आधार पर किया गया है। इसी प्रकार षट्चक्रभेद, नाड़ी शोधन, प्राणायाम, आसन, दशांग यम-नियम का भी वर्णन मिलता है। योग दो प्रकार का बताया गया है—(१) ध्यान की सहायता से किया हुआ आत्मसमर्पण या हृद्योग और (२) योग। अहिर्बुध्न्य का हृद्योग पर विशेष आग्रह है। पद्मपुराण में कायिक (लौकिक), वाचिक (वैदिकी) और मानसिक (आध्यात्मिकी) ब्रह्मभक्ति में से मानसिक या आध्यात्मिक ब्रह्मभक्ति के दो भेद बताये गये हैं—(१) सांख्यभक्ति में २४ तत्वों का ज्ञान, परमतत्व पुरुष से उनका भेदज्ञान तथा परम पुरुष तथा जीव का परस्पर संबंधज्ञान गृहीत है। (२) योगभक्ति में प्राणायाम का अभ्यास और परब्रह्म का ध्यान गृहीत है। नारदीय पुराण मन की अन्तर्मुखी साधना को योग कहता है। नारद पंचरात्र में वैष्णव योग का बड़े विस्तार से विवेचन मिलता है। उसमें हरिभक्ति उत्पन्न करनेवाले ज्ञान को वास्तविक ज्ञान कहा गया है। पाँच प्रकार के ज्ञानों में से योगज्ञान भी भक्तिप्रदायक और सिद्धिदायक है किंतु भक्त बिना कृष्णभक्ति के सिद्धियों की वांछा नहीं करते। इसके अनुसार योगी भी अन्ततः भक्ति का आश्रयण करता है। नारद पंचरात्र ने भी कुंडलिनी-योग, षट्चक्रभेद, नाड़ी- शोधन, प्राणायाम, नादानुसंधान आदि का वर्णन किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये साधन योगज्ञान में अन्तर्भूत हैं तथा योगज्ञान भक्तिज्ञान का उपकारक है। शांडिल्य के अनुसार राजयोग ज्ञानयोग का एक अंग है और ज्ञानयोग भक्तियोग का अंग है। 'वैष्णवमताब्जभास्कर' में सुषुम्ना मार्ग और यमनियम-साधन का परिचय मिलता है। रामानुजमत में योगिप्रत्यक्ष को मानसप्रत्यक्ष कह कर उसे भी प्रमाण माना गया है।

इस प्रकार वैष्णव भक्ति साहित्य और मत में भी योग को साधनांग के रूप में स्वीकार किया गया है। किन्तु केवल उसी योग को ग्राह्य और सार्थक बताया गया है जो भक्ति की उत्पत्ति और प्राप्ति में सहायक हो। दूसरी बात यह है कि जिस योग का परिचय मिलता है वह यम-नियम, आसन, प्राणायाम, कुंडलिनी-साधन, षट्चक्रवेध, नाड़ीसाधन आदि से समन्वित है। तीसरी बात यह है कि इस योग का भक्ति से पृथक कोई महत्व नहीं है। चौथे, किसी न किसी रूप में योग से चित्तसंयम कर ध्यान की सहायता से जीवात्मा-परमात्मा की एकात्मोपलब्धि को ही ये लोग योग कहते हैं। कुछ ग्रंथ इसमें 'समर्पण' तत्व का भी समन्वय करते हैं।

संतों के योग के प्रसंग में वैष्णव साहित्य में प्राप्त योग का परिचय देना आवश्यक इसलिये समझा गया कि अभी तक संतों के योग को केवल नाथपंथियों की ही देन समझा जाता रहा है। अभी तक संत साहित्य पर विद्वानों ने जो कुछ भी विचार किया है उनमें योग और भक्ति का स्थान-निरूपण और स्रोत-निरूपण मुख्य हैं। भक्ति का विचार हम पहले ही कर चुके हैं। संतों को योग शैव परंपरा से मिला था या वैष्णव परंपरा से, इसका निश्चय हम यहाँ करना चाहते हैं। संतों की भक्ति और योग का संबंधनिरूपण और स्वरूप-निर्माण भी करना आवश्यक है। स्रोत, संबंध और स्वरूप में से प्रथम दो का विवेचन पं० रामचन्द्र शुक्ल ने करते हुए बतलाया था कि गोरखनाथ के नाथ-पंथ का मूल बौद्धों की वज्रयान शाखा थी। बौद्धों की इस शाखा की विशेषताएँ थीं—अन्तस्साधना पर जोर और पंडितों को फटकार, दक्षिणमार्ग छोड़कर वाममार्गग्रहण, वारुणीप्रेरित अन्तर्मुख साधना, साधना में मद्य तथा स्त्रियों का विशेषतः डोमनी रजकी आदि का अबाध सेवन, घट के भीतर विहार, महा-सुखवाद और युगनद्ध। उनके अनुसार यद्यपि नाथपंथ का मूल यही वज्रयान शाखा थी किन्तु गोरखनाथ की शाखा योगियों की हिंदू शाखा थी और उसने वज्रयानियों के अश्लील और वीभत्स विधानों से अपने को अलग रखा। गोरख ने हठयोग का प्रवर्तन किया। योगियों की इस शाखा की विशेषताएँ थीं—रसायन सिद्धि, ईश्वरवाद, हिन्दू मुसलमानों का सामान्य साधनामार्ग, ईश्वरोपासना के बाह्य विधानों के प्रति उपेक्षा, घट के भीतर ही ईश्वर को प्राप्त करने पर जोर, वेदशास्त्र के अध्ययन की व्यर्थता और विद्वानों के प्रति अश्रद्धा, तीर्थाटन आदि की निष्फलता, अन्तस्साधना, परमात्मा की अनिर्वचनीयता, जाँति-पाँति का खंडन, सद्गुरु की महत्ता, आत्मनिग्रह, श्वासनिरोध, भीतरी चक्रों, नाड़ियों का वर्णन आदि। इस प्रकार नाथपंथियों ने वज्रयानियों की परम्परा अपने ढंग पर जारी रखी। शुक्ल जी के मतानुसार 'आगे चलकर भक्तिकाल में निर्गुण संत सम्प्रदाय···वेदान्त के ज्ञानवाद, सूफियों के प्रेमवाद तथा वैष्णवों के अहिंसावाद और प्रपत्तिवाद को मिलाकर सिद्धों और योगियों द्वारा बनाये हुए इस रास्ते पर चल पड़ा।' हृदयपक्षशून्य सामान्य अन्तस्साधना का मार्ग नाथपंथी निकाल चुके थे। उसमें प्रेमतत्व का अभाव था। इस प्रकार 'कबीर ने भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद, हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद और वैष्णवों के अहिंसावाद तथा प्रपत्तिवाद का मेल करके अपना पंथ खड़ा किया।' उन्होंने हठयागियों के साधना-

त्मक रहस्यवाद के कुछ सांकेतिक शब्दों—चंद, सूर, नाद, विंदु, अमृत, औंधा कुआँ—को लेकर अद्भुत रूपक बाँधे हैं। परम्परा का विचार करते हुए उनका स्पष्ट अभिमत है कि 'अहिंसा और प्रपत्ति के अतिरिक्त वैष्णवत्व का कोई अंश उसमें (संत साहित्य में) नहीं है। उसके 'सुरति' और 'निरति' शब्द बौद्ध सिद्धों के हैं।···सुरति और निरति शब्द योगियों की वाणियों से आये हैं, वैष्णवों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं।'[1] इससे स्पष्ट है कि शुक्ल जी संतों के योग को नाथों की परम्परा में मानते हैं। यह नाथों का योग भी वज्रयानियों के योग की परम्परा से आया था यद्यपि नाथों ने उसमें कुछ परिवर्तन कर लिया था। शुक्ल जी यद्यपि यह मानते हैं कि रामानंद की जाति-वर्ण सम्बंधी उदारता नाथपंथियों से प्रेरित नहीं थी, अपितु वैष्णवभक्ति के अनुसार थी तथापि कबीर के संबंध में विचार करते समय वे इस प्रवृत्ति को मुसलमानों या योगियों की देन मानते हैं। रामानंद कबीर के गुरु थे। रामानंद ने योगसाधना नहीं की थी और न उसे किसी रूप में स्वीकार ही किया था। योगचिंतामणि, रामरक्षा आदि ग्रंथ भी उनके नहीं हैं। तुलसी के संबंध में विचार करते समय उन्होंने जो एक अति महत्वपूर्ण बात कही है, वह यह है कि तुलसी की भक्ति को धर्म और ज्ञान दोनों की रसानुभूति कह सकते हैं। 'योग का भी उसमें समन्वय है, पर उतने ही का जितना ध्यान के लिये चित्त को एकाग्र करने के लिये आवश्यक है।'[2] पं० रामचन्द्र शुक्ल के इन विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि संतों को योग नाथपंथियों से मिला तथा उनके गुरु रामानंद योग के न तो साधक थे न उपदेशक। संतों के योग का स्रोत बौद्ध सिद्धों और नाथसिद्धों की साधना से प्रवाहित होता आ रहा था।

शुक्ल जी के बाद विचारकों ने कुछ भिन्न विचार व्यक्त किये। डा० बड़थ्वाल ने कबीर का जातिगत संबंध भी किसी न किसी रूप में नाथपंथियों से माना, जिसका विस्तृत विचार हम पहले ही कर चुके हैं। राहुल सांकृत्यायन ने पहले संतो का बौद्ध सिद्धों से संबंध जोड़ने में कठिनाई का अनुभव किया था। बाद में डा० बड़थ्वाल के 'हिंदीं कविता में योग प्रवाह' निबंध के प्रकाशित हो जाने पर पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय को यह संबंधस्थापन अति सरल अनुभूत हुआ क्योंकि १२वीं से १५वीं शताब्दी तक के व्यवधान को

[1] हिं० सा० इ०, शुक्ल जी, पृ० ९–१३, १३–२१, ६३–६४, ७७, ७८, ९२–९३।

[2] वही, पृ० ११८, १२०, १२२, १४०।

पूरा करने के लिये नाथपंथी योगियों की रचनाओं का एक सामान्य परिचय उनके सामने प्रस्तुत था। उन सभी बातों को ध्यान में रखकर डा० बड़थ्वाल ने गोरखबानी की भूमिका में लिखा था—नाथयोगियों की बानियाँ हमारे साहित्यिक और सांस्कृतिक विकास की लड़ी में एक महत्वपूर्ण कड़ी हैं।[1] इस प्रकार डा० बड़थ्वाल ने बौद्ध सिद्धों से लेकर कबीर तक साधना की एक ही परम्परा का दर्शन किया। इस बात को और भी स्पष्ट करने के उद्देश्य से उन्होंने संतों के पारिभाषिक शब्दों की परंपरा की खोज कर उनका वर्ग-विभाजन किया। इन वर्गों में से एक वर्ग ऐसा है जिसमें 'शून्य', 'विज्ञान', 'निर्वाण' जैसे शब्द गृहीत हैं और बौद्ध धारा की ओर संकेत करते हैं। इस धारा के शब्दों के अर्थ में बहुत परिवर्तन हो गया है। इस प्रकार के शब्दों के प्रयोग और उनके अर्थ में परिवर्तन का मुख्य कारण नाथपंथियों की योग-पद्धति है।[2] अपनी इस स्थापना को वे और अधिक स्पष्ट और सुनिश्चितरूप देते हुए कहते हैं 'गोरखनाथ के आसनों का प्रसंग यदि छोड़ दिया जाय तो उनमें तथा निर्गुण संप्रदाय के संतों में एक आश्चर्यजनक समानता दिखाई पड़ेगी। केवल शुक्ल कला ही नहीं अपितु शब्दावली भी दोनों की एक समान है। सुरति, निरति, उन्मन आदि शब्दों को गोरखनाथ एवम् अन्य संतों ने अपनी हिंदी रचनाओं के अंतर्गत एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया है।'[3] यहाँ तक के विचारों में पं० रामचंद्र शुक्ल और डा० बड़थ्वाल में समानता दिखाई पड़ती है। भिन्नता यह है कि डा० बड़थ्वाल ने राघवानंद और रामानंद दोनों को योग का साधक और उपदेशक माना है। राघवानंद रामानंद के गुरु थे तथा जनश्रुति से इतना ज्ञात है कि वे रामानुजी संप्रदाय के महात्मा थे और योगक्रिया में पारंगत थे। उन्होंने अनुमान किया है कि जिस समय दक्षिण से आकर श्री यामुनाचार्य और रामानुजाचार्य की वैष्णव भक्ति का उत्तर में प्रचार हुआ उस समय वहाँ योगसंप्रदाय का बहुत प्रचार था। इस नवीन भक्ति के प्रभाव में योगसंप्रदाय के बहुत से लोग आ गये। परंतु साथ ही इन लोगों ने पुराने मार्ग की बातों को जो उनके अस्तित्व के अभिन्नांश हो गये थे, त्यागा नहीं। उन्हें नई परिस्थितियों के साथ समन्वित कर लिया। इसीलिये हमें रामानंद, कबीर, रैदास आदि उनके उत्तराधिकारियों में योग और भक्ति का

---

[1] गो० बा०, भूमिका, डा० बड़थ्वाल, पृ० ११।

[2] हिंदी काव्य में निर्गुण संप्रदाय, डा० बड़थ्वाल, प्रस्तावना, पृ० ज, झ।

[3] वही, डा० बड़थ्वाल, मूल पृ० २४२।

पूर्ण समन्वय मिलता है।[१] यद्यपि डा० बड़थ्वाल ने इतना स्वीकार कर लिया है कि राघवानंद और रामानंद के साधन में योग तत्व था तथापि वे उसे केवल तत्कालीन परिस्थिति का प्रसाद मानते हैं। अपनी स्थापना को पुष्ट रूप में उपस्थित करते हुए उन्होंने बताया कि 'राघवानंद बाहर से रामानुज संप्रदाय में होते हुए भी वस्तुतः इन्हीं योगी-नाथों के उत्तराधिकारी हैं और उनसे पायी हुई सामग्री को उन्होंने रामानंद को दिया।'[२] राघवानंद और रामानंद के इस प्रकार के संबंध पर हम पहले ही प्रकाश डाल चुके हैं।

वस्तुतः पं० रामचन्द्र शुक्ल और डा० बड़थ्वाल प्रायः समकालीन आलोचक थे। उनके बाद के आलोचकों में से प्रायः सभी ने संतों के योग का मूलाधार नाथों का योग माना है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने निर्गुणवादी संतों की वाणियों की बाहरी रूपरेखा का बौद्ध धर्म के अंतिम सिद्धों और नाथपंथी योगियों के पदादि से सीधा संबंध माना है। संतों ने अपने इन पूर्ववर्तियों के शब्दों और पदों में यत्र-तत्र परिवर्तन भी किया था। द्विवेदी जी ने माना है कि कबीर ने एक साथ तीन बड़ी-बड़ी धाराओं को आत्मसात् किया था। ये धाराएँ हैं—उत्तर पूर्व के नाथपंथ और सहजयान का मिश्रित रूप, पश्चिम का सूफी मतवाद और दक्षिण का वेदान्तभावित वैष्णव धर्म। पर इनमें से अंतिम तीसरी धारा ही कबीर को, वास्तव में, सदा परिचालित करती रही। उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि कबीर को जातिपरम्परा और वातावरण से योग मिला था। वे योगियों की रूपान्तरित जाति में ही बड़े हुए थे। किन्तु फिर भी वे योग को वह स्थान न दे सके जो उसे नाथपंथियों में प्राप्त था। वे योगप्रक्रिया के विरोधी नहीं थे, परन्तु हठयोगियों की सभी क्लिष्ट साधनाओं को आवश्यक नहीं समझते थे। योगियों की कुछ क्रियाओं का अभ्यास वे नापसंद नहीं करते थे पर उसके सभी अंगों को अंधभाव से स्वीकार नहीं करते थे। इसका कारण, संभवतः द्विवेदी जी की दृष्टि में, यह है कि वे सदैव वेदान्तभावित वैष्णव धर्म से ही परिचालित होते थे।[3] कबीर ने यौगिक क्रियाओं को भी बाह्याचार ही माना था। इनके द्वारा प्राप्त अनुभवों और उपलब्धियों को वे अस्थायी और अनित्य मानते थे। उनकी वाणी वह लता

---

[१] योगप्रवाह, डा० बड़थ्वाल, पृ० १, १६-१७।

[२] रामानंद की हिंदी रचनाएँ—भूमिका, डा० बड़थ्वाल, पृ० २६।

[3] हिंदी साहित्य की भूमिका, डा० द्विवेदी, पृ० ३१, ३७, ४८, ६७।

है जो योग के क्षेत्र में बीज पड़ने से अंकुरित हुई थी।[१] नाथपंथियों से कबीरादि को ब्रह्मचर्य, वाक् संयम, शारीरिक शौच, मानसिक शुद्धता, ज्ञान के प्रति निष्ठा, बाह्य आचरणों के प्रति अनादर, आन्तरिक शुद्धि, मद्य-मांसादि के पूर्ण बहिष्कार के विचार मिले जिन्होंने संत मत को चारित्रिक बल प्रदान किया और परिणामतः संपूर्ण भक्तिकाल में चारित्रिक दृढ़ता का वैलक्षण्य संतों के लिये जीवनदाता बन गया। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने नाथों और संतों की इतनी आलोचना करते हुए भी उनकी इस विशिष्टता की प्रशंसा की है।[२] ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि संतों को यह वैलक्षण्य नाथों से मिला। दूसरी बात यह है कि डा० बड़थ्वाल, डा० द्विवेदी आदि ने यह स्वीकार कर लिया कि कबीरादि की मुख्य प्रवृत्ति वैष्णव भक्ति थी जो योगादि के ग्रहण में भी महत्वपूर्ण कार्य करती थी। रामानंद के संबंध में भी उनके विचार डा० बड़थ्वाल के समान हैं। उन्होंने कहा है—'रामानंद में कुछ न कुछ ऐसी साधना अवश्य थी जिसके कारण योगप्रधान भक्तिमार्ग, निर्गुणपंथी भक्तिमार्ग और सगुणोपासक भक्ति तीनों ही के पुरस्कर्ता भक्तों ने उन्हें अपना गुरु माना है।'[3]

संत साहित्य के आलोचकों के इन विचारों से हमें चार निष्कर्ष मिलते हैं। प्रथम तो यह कि संतों के योग का उद्भव और विकास नाथों के योग से हुआ। दूसरे, संतों ने नाथों के योग के विभिन्न पारिभाषिक शब्दों, प्रक्रियाओं एवम् अंगों को अपने ढंग से ग्रहण किया अथवा उनमें परिवर्तन कर दिया। तीसरे, कुछ लोगों के मतानुसार कबीर की गुरुपरंपरा में राघवानंद और रामानंद योगसाधक और योगोपदेशक थे। चौथे, वैष्णव भक्ति ही कबीर के सारे विचारों और भावों को सदैव परिचालित करती रही। इन निष्कर्षों पर विचार करने से दो प्रश्न उठते हैं। पहला तो यह कि यदि कबीर के विचारों और भावों की परिचालिका भक्ति थी तो क्या वैष्णव भक्ति में योग का सर्वथा अभाव था? दूसरे, यदि वैष्णव भक्ति में योग के लिये भी स्थान है तो यह सम्भव है कि कबीर को योगसाधन वैष्णव भक्ति के साथ मिला हो। ऐसी स्थिति में इतने परिश्रम से साधित नाथयोगियों और कबीर के जातिगत संबंध के परिणामस्वरूप उपलब्ध योग के सिद्धान्त की क्या संगति और उपयोगिता है? अभी तक विद्वानों के जो तत्संबंधी विवेचन उपलब्ध हैं उनसे यह पता

---

[१] कबीर, डा० द्विवेदी, पृ० ९३, १३०, १५१।

[२] नाथसम्प्रदाय, डा० द्विवेदी, पृ० १८७; हिं० सा० इ०, शुक्ल जी, पृ० ६५।

[3] हिं० सा०, डा० द्विवेदी, पृ० १०८।

लगता है कि प्राचीन वैष्णव ग्रंथों में भक्ति के साथ विवेचित होनेवाले योग-साधन पर विद्वानों ने अभी तक विचार नहीं किया है और न यह बतलाया है कि संतों के योग का आधार, उनकी भक्ति के समान ही, वैष्णव योग है। प्राचीन वैष्णव साहित्य और मत में योगसाधना विवेचित और प्रचलित थी, इसका विस्तृत परिचय हम पहले ही दे चुके हैं। योग और भक्ति में कोई मेल सम्भव नहीं, इसके खंडन के लिये पं० रामचन्द्र शुक्ल के उस कथन को ध्यान में रखा जा सकता है जिसमें उन्होंने तुलसी की भी भक्ति में योग के समन्वय की बात कही है। प्राचीन वैष्णव साहित्य एवं मत में योग का सद्भाव था अतः संभव है कि कबीर को भक्ति के समान योग भी वैष्णवों से मिला हो किंतु अभी तक आलोचकों ने इस सम्भावना की ओर संकेत भी नहीं किया है। हम यह पहले ही सिद्ध कर चुके हैं वैष्णवों के सम्प्रदाय में और उनके प्राचीन साहित्य में योगसाधन का पर्याप्त प्रचलन और विवेचन था। नाथयोगियों से प्रभावित जाति में उद्भूत और एक भिन्न वातावरण में पालित होने पर कबीर को योग, योग से सम्बंधित शब्दावली आदि सहज ही उपलब्ध हो गई थी। जब तक कबीर को भक्ति की प्राप्ति नहीं हुई थी तब तक उनका योग नाथ-पंथी योग ही रहा होगा, जिसके स्वरूपनिर्णय का हमारे पास कोई आधार नहीं है, किंतु भक्ति से प्रभावित होने पर उनके योग का स्वरूप क्या था इसका निर्णय करने के लिए हमारे पास उनकी रचनाएँ हैं। हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि नाथयोगियों को योगयुक्त ज्ञान ही स्वीकार है। भक्ति का वह स्वरूप और स्थान उन लोगों ने स्वीकार नहीं किया था जो वैष्णव भक्तों को स्वीकार था। अतः अभी यह अनुमान किया जा सकता है कि भक्ति को प्रमुखतम तत्व के रूप में स्वीकार कर लेने पर भी, जैसा पहले संतों की भक्ति में बतलाया जा चुका है, तथा जैसा डा० द्विवेदी ने भी बतलाया है, कबीर ने योग को या योगयुक्त ज्ञान को भक्ति की प्राप्ति में सहायक के रूप में स्वीकार कर लिया होगा। नाथों के योग में इस प्रकार के किसी विकल्प की संभावना नहीं की जाती। वैष्णवों के शास्त्र और मत में योग को यह स्थान दिया गया है। अतः यह अनुमान उचित और सभी समस्याओं का समाधानकारक प्रतीत होता है कि नाथपंथियों की परंपरा से प्राप्त योग का पूर्णतया परित्याग कबीर ने प्रेमाभक्ति को चरम साधन के रूप में स्वीकार कर भी नहीं किया था। यद्यपि उसका स्थान उसके साधन में वही नहीं रहा जो नाथयोगी साधन में उसे प्राप्त था।

इस समाधान पर भी एक यह संदेह उपस्थित किया जा सकता है कि कबीरादि की रचनाओं में उपलब्ध योग का स्वरूप नाथयोगियों के योग के समान ही है। अतः वैष्णव योग से उसकी परम्परा सिद्ध नहीं की जा सकती। इसके निवारण के लिये कुछ मुख्य और प्रारंभिक बातों को ध्यान में रखा जा सकता है। हम पहले ही कह चुके हैं, तांत्रिक साधन का प्रभाव समान रूप से बहुत पहले, वैष्णवों और शैवों के ऊपर पड़ा था। अतः तांत्रिक योग केवल कुछ विवरणों, तथ्यों और संख्याओं के अंतर के साथ प्रायः सभी साधनापद्धतियों में मिलता है। प्रायः सभी बातों और संप्रदायों ने अपने सिद्धांतों के अनुकूल इस तांत्रिक योग को स्वीकार किया था। वैष्णवों के योग का जो परिचय दिया गया है, उससे यह स्पष्ट हो गया है कि वैष्णवों के भी योग में प्राणायाम, षट्चक्रभेद, कुंडलिनीयोग, नाड़ीसाधन आदि गृहीत थे। इसके अतिरिक्त प्राचीन वैष्णव ग्रंथों में योग भक्तिसिद्धि में केवल सहायक है। संतों के योग का स्वरूपनिर्णय करने पर ऊपर कही हुई बातें और अधिक स्पष्ट और पुष्ट रूप में सामने आ सकेंगी।

इस परिच्छेद के आरम्भ में जिन वैष्णव ग्रंथों का परिचय दिया गया है, वे शास्त्रनिरूपक रचनाएँ हैं। उनमें योग और भक्ति का उसी प्रकार व्यवस्थित और शास्त्रीय निरूपण मिलता है, जिस प्रकार नाथपंथियों के संस्कृत ग्रंथों में, हठयोग के संस्कृत ग्रंथों में योग का निरूपण मिलता है। यदि नाथपंथी हिन्दी रचनाओं को संस्कृत रचनाओं का अनुभूतिपरक और उपलब्धिपरक विकास माना जाय तो उसी प्रकार संतों की रचनाओं को भी प्राचीन वैष्णव ग्रंथों और मत का भी अनुभूतिपरक और उपलब्धिपरक विकास मानना चाहिए। वस्तुतः ये सभी संस्कृत रचनाएँ किसी न किसी रूप में सिद्धाचार्यों या आचार्यों की रचनाएँ हैं जिन्होंने साधनापद्धति अथवा संप्रदाय अथवा मत विशेष का एक व्यवस्थित रूप उपस्थित करने के लिये उनकी रचना की थी। मतप्रचार अथवा साधना-प्रचार भी उनका उद्देश्य माना जा सकता है। हिन्दी रचनाएँ, विशेषकर संतों की हिन्दी रचनाएँ, अनुभूति और उपलब्धिप्रधान रचनाएँ हैं। इनमें उपलब्धि के मार्ग का भी विचार और निरूपण मिलता है किन्तु उनमें वह व्यवस्था और अनुशासन नहीं है जो उस प्रकार की शास्त्रीय रचनाओं में आवश्यक है। वस्तुतः ये सभी हिन्दी रचनाएँ मुक्तक रचनाएँ हैं। अतः इन रचनाओं से संतों की साधनापद्धति को या योग के पूर्ण और व्यवस्थित स्वरूप को उस रूप में उपस्थित नहीं किया जा सकता जिस रूप में वह संस्कृत

रचनाओं में उपलब्ध है। केवल उनके योग की प्रकृति का आभास देने के लिये ये रचनाएँ महत्त्वपूर्ण मानी जा सकती हैं। इसी प्रकार की बात नाथ-योगियों की हिन्दी रचनाओं के लिये भी कही जा चुकी है। नाथ साहित्य की महत्ता पं० रामचन्द्र शुक्ल जैसे आलोचकों ने संत साहित्य की भूमिका के लिये या उसकी प्रवृत्तियों को प्रकाशित करने के लिये स्वीकार की है। उन्होंने संतों की हिन्दी रचनाओं को हिन्दी भक्तिकाव्य के अंतर्गत स्थान दिया है। स्पष्ट है कि नाथ साहित्य की तुलना में संत साहित्य में सांप्रदायिक उपदेश कम हैं यद्यपि उसमें भी इस प्रकार का दोष-दर्शन किया ही गया है। कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि संत काव्य कोई शास्त्रीय साहित्य नहीं है और उसके आधार पर किसी संप्रदाय या मत विशेष या साधनापद्धति विशेष का पूर्ण और व्यवस्थित स्वरूप भी नहीं खड़ा किया जा सकता। भक्ति और योग संबंधी जो स्फुट विचार संतों के मिलते हैं, तथा जिन तत्संबंधित अनुभूतियों का वर्णन उनकी रचनाओं में मिलता है, उनके आधार पर भक्ति के स्वरूप की एक रूपरेखा पहले उपस्थित की जा चुकी है। योग संबंधी स्फुट विचारों एवं अनुभूतियों के आधार पर संतों के योग का एक स्वरूप यहाँ उपस्थित किया जा रहा है साथ ही भक्ति के साथ उसके सम्बंध का निर्देश कर नाथों के योग के साथ उसकी तुलना भी की जा रही है।

हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि वैष्णवों ने योग को चरम साधन के रूप में स्वीकार नहीं किया है। यह भी कहा जा चुका है कि नाथसिद्ध योगयुक्त ज्ञान को चरम साधन के रूप में स्वीकार करते हैं। पूर्व के विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि हठयोग को साधन की दृष्टि से, नाथपंथियों ने स्वतंत्र अस्तित्व प्रदान नहीं किया है। उनका हठयोग राजयोग का सहायक है। यह हठयोग-समन्वित राजयोग केवल सिद्धि की उपलब्धि के लिये नहीं अपितु कायसिद्धि-समन्वित परम ज्ञान की उपलब्धि के लिये ही नाथों को ग्राह्य है। उनका हठयोग 'बलात् बलप्रयोग कर साधन करना' न होकर चंद्र-सूर्य-साधन है। कृच्छ्राचार के नाथयोगी भी विरोधी थे। संस्कृत ग्रंथों में उपलब्ध वैष्णवों के योग की स्थिति कुछ इससे भिन्न है। वैष्णवों ने योग को भक्ति का सहायक माना है। उनके यहाँ उन मंत्रों, तंत्रों, योग, योगांगों, क्रियाओं, सिद्धियों, शक्तियों की कोई आवश्यकता नहीं समझी गई जो भक्तिभावना की उत्पत्ति में सहायक न हो। नाड़ीसाधन, प्राणायाम, कुंडलिनीसाधन, षट्चक्रभेद आदि सभी भक्ति के उपकारक हैं अर्थात् चैतासिक साधन या राजयोग के लिये ही उनकी उपयोगिता स्वीकार की गई है। किन्तु यह राजयोग भी भक्ति

का उपकारक है। कृच्छ्राचार को वे भी निषिद्ध मानते हैं। इन पारंपरिक स्थूल विचारों को ध्यान में रखकर संतों के योग का विचार किया जा रहा है। इस संबंध में एक और महत्त्वपूर्ण बात जो ध्यान में रखने योग्य है, वह यह कि प्राचीन वैष्णव संस्कृत ग्रंथों में योगसमन्वित भक्ति के इस प्रकार विभिन्न नाम मिलते हैं। यद्यपि इन नामों में तथा उनके द्वारा व्यक्त अर्थों और संकेतित तत्त्वों की मात्रा में अंतर है किन्तु इतना निश्चित है कि वे सभी योग को किसी न किसी अंश में, अपनी साधना में स्थान अवश्य देते हैं। उदाहरण के लिये विष्णुसंहिता में भक्ति की उत्पत्ति के लिये प्रयुक्त योग को भागवत योग कहा गया है। अहिर्बुध्न्य संहिता में परमात्मा की प्राप्ति के लिये हृदयोग और योग नाम के दो उपाय बताये गये हैं। इनमें से हृद्योग तो आत्मसमर्पण है। यही अहिर्बुध्न्य संहिता के अनुसार मुख्योपाय है। योग में विभिन्न क्रियाओं और साधनों का वर्णन किया गया है। यह योग हृद्योग का सहायक है। नारद पंचरात्र ने योगयुक्त ज्ञान और सिद्धिद ज्ञानों की गणना की है। ये भी हरिभक्तिप्रदज्ञान के सहायक हैं। इन नामों से भी यही स्पष्ट होता है कि योग को भक्ति की उत्पत्ति में सहायक मान कर ही उसे ग्रहण किया गया है। इन विचारों को हम हिन्दी के संत कवियों की रचनाओं में देखने की चेष्टा करेंगे।

२—नामदेव और योग

संतों की प्रवृत्तियों का विचार करने के लिये सबसे पहले मराठी संत कवि नामदेव का नाम लिया जाता है। नामदेव की हिन्दी रचनाएँ बहुत कम उपलब्ध हैं। इन उपलब्ध रचनाओं में योग के संदर्भ इतने कम ह कि उनके आधार पर योगांगों और प्रक्रियाओं का विस्तृत निरूपण नहीं किया जा सकता। योग के सम्बन्ध में उनका क्या मत है यह स्पष्ट रूप में उनकी रचनाओं में नहीं मिलता। एक बात जो स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ती है, वह यह है कि योगसाधन को या हठसाधन या प्राणायाम को उन्होंने कभी भी भक्ति से ऊँचा स्थान नहीं दिया। यद्यपि वे बार-बार अनाहत नाद के श्रवण की बात करते हैं, उन ध्वनियों के विभिन्न भेदों, जैसे घनगर्जन-ध्वनि, मर्दल-ध्वनि की ओर भी स्पष्ट निर्देश करते हैं, फिर भी ये नाद स्नेही राम के मिलन के उपलक्षण मात्र हैं। वे वेद, पुराण, शास्त्र, गीत, कवित्त इत्यादि गाना पसंद नहीं करते अपितु अनाहत वेणु के वादन में ही उनकी रुचि है। अतीत और अनाहत शब्द में ही उनका मन रत है जिससे उन्हें हरि के घर जाने की प्रेरणा मिलती

है। इन अनाहत नादों के प्रति अनुरक्ति केवल इसलिये है कि ये शून्य समाधि में चित्त को हरि में अनुरक्त करने में सहायक होते हैं। इससे स्पष्ट है कि नामदेव नादानुसंधान तो करते हैं किन्तु उसमें वे राम की ध्वनि ही सुनते हैं। दूसरी बात जो ध्यान में आती है, वह यह है कि 'अनहद' शब्द के विभिन्न स्थानों पर प्रयोग को देखने से उसका अर्थ 'सीमाहीन' या 'अनन्त' भी प्रतीत होता है। नामदेव ने एक स्थान पर 'जहँ अनहद सूर उजियारा' पद का प्रयोग किया है जिसमें उपर्युक्त अर्थ ही प्रसंगोचित मालूम पड़ता है। इस प्रकार नामदेव में 'अनहद' शब्द दो प्रकार से व्युत्पन्न प्रतीत होता है—(१) न+आहत=अनाहत, तथा (२) न+हद अनहद=असीम। नाद अथवा ध्वनि के जो अनेक भेद बताये गये हैं, वे नाथपंथी हिंदी रचनाओं में भी मिलते हैं, यथा मर्दलध्वनि, घनध्वनि, वेणुध्वनि आदि। किंतु नामदेव की इन रचनाओं में ऐसा कोई संकेत उपलब्ध नहीं है जिसके आधार पर यह बतलाया जा सके कि इन ध्वनियों का श्रवण साधन की किन-किन अवस्थाओं में होता है।[1]

इसी प्रकार योग सम्बंधी अन्य प्रकरणों का भी यत्किंचित वर्णन नामदेव की इन रचनाओं में उपलब्ध है। नामदेव गुरुप्रसाद से ही अपनी साधना अग्रसर करते हैं। गुरुकृपा से ही ज्ञान की प्राप्ति होती है, उसी के द्वारा संदेह-निवारण किये जाने पर मन को साधन में उपलब्धि पर प्रतीति होती है। गुरु की महत्ता और सत्ता का प्रत्यभिज्ञान करते करते वे अंत में यहाँ तक कह देते हैं कि केवल गुरुदेव ही सत्य है, अन्य सबकी सेवा झूठी है। वे केवल गुरुदेव की ही शरण में जाते हैं।[2] नाथपंथियों से अंतर यह है कि यहाँ गुरु की महत्ता योगरहस्यों के ज्ञान के लिये नहीं अपितु भक्ति तथा अन्य उपकारक तत्वों की उपलब्धि के साथ ही साक्षात्कार के लिये स्वीकृत है। षट्चक्रभेद अथवा कुंडलिनीयोग अथवा लययोग का नामदेव की रचनाओं में अभाव है। केवल एक स्थान पर 'रतन कमल कोठरी' का वर्णन अवश्य किया गया है जिससे संदिग्ध रूप में 'सहस्रार' की ओर संकेत प्रतीत होता है।[3] उन्होंने एक पद में योग और उससे संबंधित विचारों को इस प्रकार व्यक्त किया है

[1] हिंदी को मराठी संतों की देन—पं० विनयमोहन शर्मा, पृ० २४४–२४५, २५२–२५३, २६७, पद संख्या ९, १०, ११, ३१, ३४, अतिरिक्त पद १.२, ३।

[2] वही, पृ० २४४–२४५, २५८–२५९, पदसंख्या ९, १०, ४८।

[3] वही, पृ० २४४।

जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि नामदेव यद्यपि नादानुसंधान, नाड़ीसाधन (इड़ा+पिंगला-साधना=ह+ठ+योग), चन्द्रसूर्य का समरसीकरण तीर्थस्नान-तीर्थयात्रा-विरोध, अहिंसा, अन्तस्साधना आदि को स्वीकार करते थे किंतु फिर भी शून्य समाधि में इन सबकी सहायता से मन हरि से ही अनुरक्त रहता है ।[१] इस 'अनुरक्ति' शब्द की व्याख्या भक्ति के प्रसंग में की जा चुकी है । 'शून्य समाधि' का एकमात्र और व्याख्यारहित प्रयोग होने के कारण इसका पूरा अर्थ प्रकट कर सकना कठिन है । अन्यत्र नामदेव ने हरिनाम भजन या भक्ति की तुलना में 'दशम द्वार में प्राण को काढ़ने' तथा गगनमंडल में योगध्यान लगाने को नीचा ही बताया है ।[२] इन विचारों से यह स्पष्ट होता है कि नामदेव प्राणायाम, नादानुसंधान, नाड़ीशोधन एवं साधन तथा उनसे उपलब्ध 'शून्य समाधि' की उपयोगिता को तो अवश्य स्वीकार करते हैं किन्तु उनका स्थान भक्ति के नीचे है । वे भक्ति के लिये उपयोगी स्वीकार्य हो सकते हैं । इससे अधिक सूचनाएँ, योग के संबंध में, नामदेव की रचनाओं से नहीं मिलती ।

नामदेव के बाद रामानंद, कबीर आदि से संतों की साधना का एक व्यवस्थित रूप मिलने लगता है । अतः रामानंद, कबीर, नानक, दादू, सुंदरदास (छोटे), रज्जब, पलटू, दरियासाहब (बिहारवाले) तथा अन्य संतों के आधार पर संतों के योग की एक रूपरेखा उपस्थित की जा सकती है । नाथों के योग का विचार करते समय हमने पतंजलि के अष्टांग योग के अन्तर्गत आनेवाले हठयोग, मंत्रयोग, लययोग और राजयोग का वर्णन किया है । हठयोग के अन्तर्गत आसन, प्राणायाम, नाड़ीशोधन, नाड़ीसाधन का विचार करने के साथ ही तत्संबंधित नादानुसंधान, प्रणवसाधन या ओंकारसाधन और अजपाजाप का भी परिचय दिया है । वस्तुतः प्रणवसाधन, अजपाजाप और नादानुसंधान का जहाँ एक ओर प्राणायाम से संबंध है वहीं दूसरी ओर इन्हें मंत्रयोग के अन्तर्गत भी ग्रहण किया जा सकता है । लययोग के अन्तर्गत षट्चक्रभेद और कुंडलिनीयोग का विचार है । राजयोग के अन्तर्गत मुख्यतया ध्यान और समाधि का परिचय दिया गया है । प्रत्येक अंग और प्रक्रिया का वर्णन कवियों के ऐतिहासिक क्रम से ही किया गया है । इस प्रकार विवेचन करने के पूर्व नाथों की साधना के मुख्यतम अंग 'गुरु' के समान ही संतों की योगसाधना के मुख्यतम

---

[१] वही, पृ० २५२, पद ३१ ।

[२] वही, पृ० २६७, अतिरिक्त पद १.२, ३ ।

अंग गुरु का विचार आवश्यक है। साधक का आध्यात्मिक जीवन गुरु के सामीप्य से ही आरंभ होता है। गुरु का विचार ही वस्तुतः संतों के 'गुरु-शिष्यवाद' का विचार है।

३—संतों का गुरुशिष्यवाद और अधिकारभेदवाद

प्राचीन वैष्णव ग्रंथों में से नारदपंचरात्र में गुरुमहिमा का सबसे अधिक गायन किया गया है। वहाँ तो साधन की दृष्टि से, भगवान् की अपेक्षा गुरु को अधिक महत्व दिया गया है। ज्ञानोदिग्रण करने के कारण ही उसे गुरु कहा गया है। यह ज्ञान भी भक्तिप्रदाता है। नाथों ने योगमार्ग की कठिनता और दुर्बलता को ध्यान में रखकर गुरु को साधक के लिये आवश्यक माना। नाथों के यहाँ अवधूत ही गुरुपद का अधिकारी हो सकता है। गुरु और नाथ में अभेद माना गया है। नारद पंचरात्र में भी गुरु और भगवान् में अभेदभाव व्यक्त किया गया है। परवर्ती ग्रंथ नाभादास के भक्तमाल में भी भगवान् और गुरु को एक माना गया है। संतों में भी साधन की प्रथम आवश्यकता गुरु है। बिना गुरु के साधनक्षेत्र में प्रवेश नहीं मिलता। रामानंद ने बाह्याचारप्रधान उपासना की निस्सारता का उद्घाटन करनेवाला गुरु को ही माना है। ब्रह्म इस घट में ही है इसका ज्ञान गुरु ही कराता है। उसी के उपदेश से कोटि कर्मों के बन्धन भी छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। कायागढ़ पर आरोहण करने के लिये सतगुरु ही सर्वोत्तम साथी है। गुरु ही अपने शब्दों से शिष्य को यमपाश से मुक्त करता है।[१] इस प्रकार रामानन्द गुरु को अंतस्साधना का निर्देशक, ज्ञानप्रदाता, कर्मबंधननिकृन्तक, कायसिद्धिप्रदाता मानते हैं। कबीर साहित्य में गुरु-विचार अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से मिलता है। कबीर के अनुसार संसार में साधक का सद्गुरु के समान और कोई सगा नहीं है। वह देवगृह का द्वार है। वह मनुष्य को देवत्व प्रदान करता है। उसी की कृपा से आनन्द का दर्शन होता है। सांसारिक दृष्टि (अंत+दृष्टि) का परिवर्तन कर वह अनन्त (परमात्म दृष्टि) को उद्घाटित करता है। वही अतुलनीय रामनाम का दान करता है। उसके उपदेशों का अचूक प्रहार हृदय पर ही होता है। ऐसे गुरु का मार्ग लोक और वेद के मार्ग से भिन्न है। वह आनुभूतिक ज्ञान का दान करता है। साधक या शिष्य की चेष्टा से ऐसे गुरु की उपलब्धि असंभव है। जब तक गोविंद की कृपा नहीं होती तब तक गुरु की प्राप्ति नहीं होती। गुरु ही गोविन्द की

---

[१] रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ, पृ० ८, १५।

प्राप्ति कराता है। गुरु के मिलने पर शिष्य की अपनी जाति, कुल, पाँति आदि का कोई अस्तित्व नहीं रहता। उसका गुरु से अभेद हो जाता है। गुरु ही शिष्य की माया से रक्षा करता है। इस गुरु से ही शिष्य को निःशंकता, सचेतनता, धैर्य आदि की प्राप्ति होती है। साधन में शरीर को साधन बना कर प्रेम की क्रीड़ा करने की पद्धति गुरु ही बतलाता है। कबीर की दृष्टि में गुरु और गोविंद तो वस्तुतः एक हैं, केवल उनमें आकारभेद है। जबतक वास्तविक गुरु की उपलब्धि नहीं होती, तब तक चेला केवल 'भेष' का उपासक रहता है। वास्तविक गुरु शिष्य की परीक्षा करता है और उसे कंचन बना देता है।[१] कबीर का मत है कि साधु का गुरु चारो वेदों को पढ़ने वाला ब्राह्मण नहीं हो सकता। उस गुरु का बताया हुआ मार्ग पंडितों के मार्ग से भिन्न है। यह गुरु ही 'पूरविला भरतार' का प्रत्यभिज्ञान कराता है। अष्टकमलदल में सदैव केलिरत श्री रंग की प्राप्ति गुरु के मिलने पर ही संभव है। उसी की कृपा से हृदयकमल प्रकाशित होता है। वस्तुतः कबीर का गुरु वही व्यक्ति हो सकता है जो स्वयम् भी भवसागर से उत्तीर्ण हो और दूसरे को उत्तीर्ण कर सके। साधना के क्षेत्र में जब तक व्यक्ति गुरु के शब्दों को स्वीकार नहीं करता, योगयुक्ति का ज्ञान नहीं प्राप्त करता, मन से विषय-विकारों का त्याग नहीं करता तब तक उसे हरि का मिलन भी प्राप्त नहीं हो सकता। बिना गुरु के शिष्य को ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। सारे संसार की वस्तुएँ नष्ट हो जानेवाली हैं, कोई भी वस्तु साथ नहीं देगी, केवल गुरु का 'शब्द' ही साथ देगा। अतः केवल उसी से प्रेम करना चाहिए। इसीलिये कबीरदास ऐसे दयावान् गुरु से इस भवसागर में सहायता करने की प्रार्थना करते हैं।[२] इस प्रकार कबीर के अनुसार गुरु देवत्वप्रदाता, कृपालु, रामनामोपदेशक, लोकवेदभिन्न-मार्ग-निर्देशक, आनुभूतिक ज्ञानदाता, रक्षक, परीक्षक (या पारखी), तारक होता है। दूसरे शब्दों में गुरु रक्षक, परीक्षक, बोधक और तारक होता है।

कबीर के उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट है कि 'निगुरा' व्यक्ति भगवान् को नहीं पा सकता। केवल सगुरा व्यक्ति ही भागवत साधन का अधिकारी है। केवल सगुरा व्यक्ति परब्रह्म मौक्तिक का चयन करने में समर्थ हो सकता है।[३]

---

[१] कबीर ग्रंथावली—डा० श्यामसुन्दरदास, गुरदेव कौ अंग, साखी १,२, ३,४,६–७,११,१२,१३,१४,१९–२०,२३,२६,३२।

[२] क०ग्रं०, पृ० ३६,५४,६०,८८,८९,९१,९७,१२८, १७९, १८७।

[३] वही, पृ० ८३, निगुरां कौ अंग, साखी ३।

नाथपंथी साधन में 'निगुरा' को कोई स्थान नहीं दिया गया है। वहाँ नाथ-सिद्धों को भी गुरु का रक्षक, परीक्षक, बोधक और तारक रूप मान्य है। वहाँ गुरु का एक पूरक रूप और स्वीकार किया जाता है। इस रूप को स्वीकार करने का मूलाधार ३२-३६ तत्वों की स्वीकृति है। नाथसिद्धों के यहाँ गुरु का जो स्वरूप स्वीकार किया गया है उसमें उसे 'पारख' भी कहा गया है। कहा गया है कि गुरु में ३६ लक्षण और शिष्य में ३२ लक्षण होने चाहिएँ। गुरु ३२ लक्षणों की परीक्षा कर शिष्यरूप में व्यक्ति को स्वीकार करता है। साधनक्रम में शिष्य क्रमशः चार लक्षणों को आयत्त करता है, जिसकी विस्तृत व्याख्या हम कर चुके हैं। गुरु कृपा से वह उन चार लक्षणों को पूरा करता है। किन्तु संत साहित्य में इन ३२–३६ लक्षणों का कोई भी वर्णन उपलब्ध नहीं है। इसीलिये गुरु के उपर्युक्त 'पूरक' रूप का दर्शन हमें संत साहित्य में नहीं होता। इसके न होने पर भी संत साहित्य में अधिकारभेद-वाद के संकेत मिलते हैं। अधिकारभेदवाद का प्रथम संकेत तो वही है कि 'निगुरा' को संतसाधना में कोई स्थान या अधिकार नहीं दिया गया है। अधिकारभेद के अंतर्गत केवल शिष्य के ही अधिकार का प्रश्न विचारणीय नहीं है, गुरु की दीक्षा देने के अधिकार का भी प्रश्न विचार्य है। गुरु के दीक्षाधिकार का विचार तंत्रों में भी मिलता है और इसी को ध्यान में रखकर गुरु के लक्षण भी बतलाये गये हैं। नाथसिद्ध भी स्वीकार करते हैं कि जब तक योग्य, ३६ लक्षणों से संपन्न गुरु न मिले तब तक साधक को गुरु नहीं करना चाहिए और न इस प्रकार अपना कुल ही नष्ट करना चाहिए। गुरु के कौन-कौन से लक्षण कबीर को मान्य हैं इसका विचार ऊपर किया गया है। कबीर के बहुत पहले तांत्रिक बौद्ध साधकों ने जैसे कहा था, उसी प्रकार कबीर ने भी स्वीकार कर कहा कि यदि गुरु अन्धा होगा तो शिष्य भी अंधा होगा। जिस प्रकार अन्धा अन्धे को निकालता है और दोनों ही कूएँ में गिर पड़ते हैं, वैसी ही हालत अज्ञानी गुरु-शिष्यों की होती है। यदि वास्तविक गुरु न मिले अथवा गुरु को सच्चा शिष्य न मिले तो दोनों ही लोभ की पत्थर की नाव पर चढ़ कर मझधार में डूब जाते हैं। यदि कहीं गुरु सभी प्रकार से संपन्न हो और शिष्य में गुरु के उपदेशों को ग्रहण करने की शक्ति न हो तो भी साधना नहीं चल सकती। शिष्य में ग्रहणशक्ति होने पर शिष्य की पात्रता के अनुकूल ही गुरु के उपदेशों का ग्रहण होता है। यदि शिष्य गुरु के सदैव एकरस रहनेवाले उपदेशों को ग्रहण करने में समर्थ नहीं होता तो इसमें गुरु या गुरु

के शब्दों का कुछ भी दोष कबीरदास नहीं मानते।[1] तात्पर्य यह है कि शिष्य में साधन के अधिकारग्रहण की क्षमता होनी ही चाहिए। गुरु का चयन भी समझ-बूझ कर करना चाहिए।

इस दृष्टि से विचार करने पर गुरु का सर्वोच्च लक्षण उसका परीक्षकत्व है। नाथपंथियों के 'पारख' तत्व का विचार कर उसमें अधिकारभेदवाद के लक्षण दिखलाये जा चुके हैं। 'गुरसिष हेरा कौ अंग' में कबीरदास ने बड़े विस्तार से गुरु और शिष्य के लक्षणों को बताया है किन्तु उन लक्षणों को नाथपंथियों की ३२–३६ लक्षणों की व्यवस्था के अनुकूल या समान नहीं बताया जा सकता। गुरु के लिये आवश्यक यह है कि वह शिष्य का प्रत्यभिज्ञान करे, उसकी योग्यता, पात्रता और आवश्यकता को ढूढ़े और फिर अपना कर, कृपालु होकर, उसे साधनक्षेत्र में प्रविष्ट करे। उस गुरु को भी घायल होना चाहिए, तभी वह घायल की गति समझ सकेगा। गुरु भी उसी को अपना साथी बनाने को तत्पर है जो गुरु से अपना घर जलवा कर उसके साथ चलने के लिये तैयार हो। यह केवल वही गुरु कर सकता है जो अपना घर अपने हाथ जला चुका हो। कबीर ऐसे घायल, प्रेमी और घरफूँक गुरु की तलाश में हैं।[2] गुरु-शिष्य के ये लक्षण इस रूप में नाथ साहित्य में दुर्लभ हैं। किंतु पारखी गुरु दोनों को स्वीकार्य हैं। कबीरदास, जैसा हम कह चुके है, मानते हैं कि गुरु शिष्य को परखकर कंचन बना देता है। 'अपारिष कौ अंग' और 'पारिष कौ अंग' में कबीर ने गुरु-शिष्य-संबंधी योग्यताओं, अधिकारों का विचार नहीं किया है। उन्होंने सामान्य रूप से यह बतलाया है कि हरिभक्ति अथवा अमूल्य पदार्थ के अति सुलभ होने पर भी 'परख' की शक्ति के राहित्य के कारण जगत् उसे ग्रहण नहीं कर पाता और उसके स्थान पर निस्सार और निरर्थक पदार्थों का संग्रह कर अपनी शक्ति और समय का अपव्यय करता है।[3] इस प्रकार कबीर का पारख जनसामान्य की ग्रहणशक्ति से सम्बन्धित है, गुरु-शिष्य की योग्यता और पात्रता से संबंधित नहीं। उनकी रचनाओं में गुरु को 'पारख' नहीं कहा गया है। वे हरि को हीरा और भक्तजन को जौहरी कहते

---

[1] कबीर ग्रंथावली, गुरदेव कौ अंग, साखी–१५, १६, २१, २४। अन्धा अन्धा कढाव तिम वेण्णि वि कूव पड़ेइ।—सरह।

[2] वही, गुरसिष हेरा कौ अंग, साखी—२, ११, १२, १३।

[3] वही, पृ० ७७–७८।

हैं ।[१] विभिन्न प्रसंगों की परीक्षा करने से यही प्रतीत होता है कि कबीरदास शिष्य या साधक या भक्त की परीक्षणशक्ति पर विशेष ध्यान देते हैं । अतः अधिकारभेद का वह व्यवस्थित एवं स्पष्टतः निरूपित रूप कबीर साहित्य में उपलब्ध नहीं है । नाथसिद्धों की रचनाओं में जैसे केवल नादपरम्परा या शिष्यपरम्परा को ही स्वीकार किया गया है तथा कहा गया है कि शिष्य का कुल गुरु के कुल के अनुसार चलता है और गुरुकुल की परम्परा प्रणव-परंपरा या नादपरम्परा है, उसी प्रकार संतों की रचनाओं में भी कुछ ऐसे ही संकेत मिलते हैं । कहा जा चुका है कि कबीर के मतानुसार गुरु से उपदेश अथवा दीक्षा मिलने पर शिष्य की जाति-पाँति-कुल आदि का लोप हो जाता है तथा गुरु-शिष्य अभिन्न हो जाते हैं । यह भी केवल गुरुकुल को ही स्वीकार करना है जो नाथसिद्धों के विचारों के समान ही है यद्यपि कबीर में इस विचार की उतनी व्याख्या नहीं है जितनी नाथसिद्धों की रचनाओं में मिलती है । इससे यह भी अनुमान किया जा सकता है कि ३६—३२ तत्वों की परीक्षा के आधार पर नाथसिद्धों ने सांप्रदायिकता को अधिक प्रगाढ़ बनाने की चेष्टा की है । कबीर की रचनाओं में बंधन शिथिल हैं । इसका कारण सम्भवतः यह है कि संतों ने गुरु के उपदेशों अथवा शब्दों के हृदय में साक्षात्कृत अथवा जीवन में आचरित होने को अधिक महत्व दिया है और बाह्य दीक्षा को कम । यद्यपि नाथों की अष्ट-परीक्षाओं में भी मानवोचित एवम् साधनोचित गुणों की परीक्षा का ही विधान किया गया है किंतु इस प्रकार का बंधन लगाना संतों ने उचित नहीं समझा । अतः ऐसा प्रतीत होता है कि संत लोग केवल गुरु के उपदेशों या शब्दों की जीवन में चरितार्थता को ही महत्व देते हैं और उतने में ही शिष्य होना मान लेते हैं । किन्तु ऊपर के विवेचन में एक बात यह भी कह दी गई है कि गुरु शिष्य की परीक्षा कर पात्रानुकूल उपदेश देता है और उसी से शिष्य की साधना में अभ्युन्नति होती है । इसका स्पष्ट संकेत यह है कि सभी गुरु और सभी उपदेश सभी शिष्यों के अनुकूल नहीं होते । उसमें भी शिष्य की प्रकृति का विचार करना पड़ता है । यही अधिकारभेदवाद का मूलाधार है और इसे कबीर जैसे संतों ने स्वीकार किया है ।

हमने पहले नाथपंथियों के गुरुशिष्यवाद के विवेचन के प्रसंग में गुरुमुख पारख, जरणा आदि शब्दों का विचार किया है । हम कबीर साहित्य में

---

[१] कबीर वचनावली—अयोध्यासिंह उपाध्याय, पृ० ११२ । द्रष्टव्य—'कबीर जुलाहा भया पारषू'—कबीर ग्रंथावली, पृ० १६, साखी ४७ ।

'पारख' शब्द का विचार कर चुके हैं। अन्य दो शब्द 'गुरुमुख' और 'जरणा' हैं। गुरुमुख शब्द का पुष्कल प्रयोग कबीर साहित्य में उपलब्ध नहीं। दो एक स्थानों पर इसके प्रयोग से इसका अर्थ स्पष्ट नहीं होता। एक स्थान पर 'गुरुमुख' शब्द का अर्थ 'गुरु के मुख से निकले मंत्र या उपदेश' प्रतीत होता है और यह नाथसिद्धों को भी स्वीकार्य है। वस्तुतः 'गुरुमुख' शब्द से 'दीक्षा' की ओर संकेत होता है। इसके विभिन्न अर्थों की ओर संकेत नाथपंथी 'गुरुमुख' शब्द के विवेचन में ही किया जा चुका है। वे अर्थ यहाँ भी स्वीकार किये जा सकते हैं।[1] हम पहले यह भी कह चुके है कि 'गुरुमुख' शब्द सिद्धान्त के रूप में स्वीकार कर लेने पर शास्त्र, लोक आदि की परमोच्च सत्ता व्यक्ति के लिये नहीं रह जाती। नाथपंथी और संत दोनों ही वेद और लोक की परंपरा का अनुसरण नहीं करते। लोकमुख, शास्त्रमुख, मनमुख, कामिनीमुख आदि का उनके वहाँ कोई महत्व नहीं। किन्तु इतना स्पष्ट है कि यद्यपि कबीर में इस शब्द का प्रयोग अवश्य मिलता है तथापि प्रयोगबहुलता के अभाव में अर्थ-निर्णय में कठिनाई है। तीसरा शब्द 'जरणा' है। कबीर ग्रंथावली में इसे 'जर्णा' कहा गया है। नाथवाणी में 'जरणा' शब्द का अर्थ हम 'जीर्ण होना', 'पचना', अहं का नाश होकर 'गुरु में मिलकर एक हो जाना' 'गुरु के शब्दों में तादात्म्य या एकरस या अभिन्न हो जाना' अर्थ किया गया है। कबीर ग्रंथा-वली के 'अंगों' के कुछ टीकाकारों ने 'जर्णा' शब्द का अर्थ 'परिपक्व होना' किया है। अर्थात् कबीर ने 'जर्णा कौ अंग' में साधक की परिपक्वावस्था का वर्णन किया है। यदि यह स्वीकार कर लिया जाय और नाथवाणी में प्रयुक्त 'जरणा' शब्द के साथ इसकी परंपरा बिठाई जाय तो 'जर्णा' साधक की उस अवस्था की ओर संकेत करता है जब साधक के 'अहं' का नाश हो जाता है, गुरु के शब्दों को या मंत्र को या उपदेश को वह जीवन में भलीभाँति उतार लेता है अर्थात् पूर्ण आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने लायक, दूसरे शब्दों में परिपक्व, हो जाता है। गुरु के शब्दों का पूर्ण साक्षात्कार परमात्मोपलब्धि होने पर होता है। इसी प्रकार की परमावस्था या परिपक्वावस्था का वर्णन इस अंग में मिलता है। वस्तुतः कबीर ने इस अवस्था की उन अनुभूतियों का वर्णन किया है जब साक्षात्कृत परमतत्व का निर्वचन असंभव हो जाता है। इसीलिये कबीर ऐसी अवस्था में 'हरि जैसा है तैसा रहौ' ही कह कर अनुभूति-मार्ग में और भी अग्रसर होने के लिये प्रेरित करते हैं।[2] वस्तुतः कबीर

[1] कबीर ग्रंथावली, पृ० १६१, १७५।

[2] कबीर ग्रंथावली—पृ० १७-१८, जर्णा कौ अंग।

ग्रंथावली का यह 'शब्द' अनुभूति में अधिक अग्रसर है केवल 'गुरु के मंत्र' में जीर्ण होने तक ही सीमित नहीं है।

कबीर के अतिरिक्त अन्य संतों ने भी गुरुशिष्यवाद और अधिकारभेदवाद पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। नानक का मन गुरुवचनों में ही अपनी निधि प्राप्त करता है और उसी से वह मन सत्य में समाहित रहता है। गुरु की साखी का हृदय में जागरण होने से चंचल गति का त्याग होता है और गुरु की साखी के ही प्रकाश से संपूर्ण अंधकार मिट जाता है। मन जब गुरु के वचनों में लग जाता है, तब यममार्ग की सत्ता नहीं रहती, अमृतमार्ग उद्घाटित हो जाता है। साधक के लिये केवल उसी की सत्ता रहती है। इस गुरु से ही निर्भयता तथा सहज की उपलब्धि होती है।[१] इस गुरु के शब्दों की सहायता के बिना मानस साधना भी नहीं हो सकती। साधक के लिये सबसे बड़ा दान ज्ञान-दान या उपदेशदान या दीक्षा है और सबसे बड़ा दानी गुरु है। गुरु ही देवता है, अलख है, अभेद है। गुरु की सेवा करने से त्रिभुवन अनुकूल हो जाता है। उसी के दान से अलख, अभेद परमतत्व की उपलब्धि होती है। यह साधन, उपलब्धि तब तक असंभव है जब तक मनोमारण न हो। गुरु के शब्दों से ही मनोमारण संभव है।[२] यह गुरु अड़सठ तीर्थों का अधिष्ठान है, इसीलिये उसे अनुपम तीर्थ कहा गया है। उसी की प्राप्ति से दुर्मति रूप मल का अपसारण होता है। पशु, प्रेत तक को वह दिव्यता प्रदान करता है। गुरुमुख से ही शिवगृह (सहस्रार) को जाया जा सकता है, उसी से साधक सत्य में समाहित हो सकता है, उसीसे निज पद (परमपद) की प्राप्ति हो सकती है। वह गुरु ही मर कर जीने के रस का अनुभव हृदय में कराता है। अहंकार और गर्व का नाश वही करता है। यम का भय उसी की साधना से दूर होता है, द्विविधा का अपसारण होता है। वही 'घर', 'महल' (परम विश्राम-स्थल) का ज्ञान कराता है किंतु उस 'गुरुमुख' से शिक्षा वही जन प्राप्त कर सकता है जिसके ऊपर 'करतार' की 'नजर' हो। हरिकृपा से जिसे गुरु की प्राप्ति हो जाती है, उसे गुरु से हरिलाभ का लाभ भी होता है।[3] नानक के गुरु संबंधी इन विचारों से स्पष्ट है कि बिना हरिकृपा के गुरु

---

[१] संत काव्य—पं० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० २३८, पद १।

[२] वही, पृ० २३९, पद २।

[३] संत काव्य—पृ० २३९-२४०, पद ३, ४; पृ० २४७, पद १५।

की प्राप्ति नहीं होती। हरि और गुरु अभिन्न हैं तथा गुरु सर्वोच्च दाता हैं, रक्षक हैं, बोधक आदि हैं।

सुन्दरदास (छोटे) ने स्पष्टता से अधिकारी के लक्षण दिये हैं। पुरोहित हरिनारायण शर्मा ने अपनी टिप्पणी में सुन्दरदास के जिज्ञासु लक्षण को ही अधिकारीलक्षण माना है। 'ज्ञानसमुद्र' में अधिकारी के लक्षणों को बतलाते हुए उसे गुरुभक्त, विरक्त, संतभाव, जिज्ञासु, उदास, राव-रंक में समभाव रखनेवाला, वाद-विवाद में अरुचि रखनेवाला, सुत-कलत्र, निज शरीर तथा अपने को 'बंधन' रूप ग्रहण करनेवाला बताया है। इन बंधनों से मुक्त होने की कामना उसके मन में रहती है। जन्म और मृत्यु की शंका सदैव उसके मन में रहती है। वह सदैव संतों की तथा गुरु की खोज में लगा रहता है। उस गुरु की कृपा से ही गतिप्राप्ति, भवदुःखविस्मरण, प्रेमाधिक्य, रामनामगुणगान, योगमुक्तिज्ञान, शून्य समाधि की उपलब्धि, तत्वज्ञान की प्राप्ति संभव है।[1] सुन्दरदास ने गुरु के लक्षणों की गणना करते समय उसके संबंध में कहा है कि 'गुरु का चित्त सदैव ब्रह्म में लयलीन' रहता है। वह नित्य शीतल और सहृदय होता है। उसमें क्रोधराहित्य और अनिर्दयता होती है। वह निरहंकार और सर्वसुखकारी होता है। सुंदरदास ने ऐसे ही गुरु को परखकर सोच-विचार कर स्वीकार करने के लिये कहा है। वह हृदयग्रंथि का भेदक और संशयों का उच्छेदक बतलाया गया है। ऐसा गुरु वस्तुतः सुन्दरदास की दृष्टि में जानकार, पंचतत्वों तथा तीन गुणों को मिथ्या माननेवाला तथा बुद्धिमान कहा गया है। केवल ऐसा ही गुरु सेव्य है।[2] गुरु की महत्ता-निर्वचन में सुन्दरदास गोविन्द से भी अधिक महिमाशाली गुरु को मानते हैं। यद्यपि वे एक स्थान पर ब्रह्म, गुरु और संत तीनों को अभिन्न मानते हैं तथापि साधक की दृष्टि से वे गुरु को ही अधिक महत्व देते हैं।[3] सुन्दरदास के इस गुरु-शिष्य-निर्वचन से यह स्पष्ट होता है कि गुरु योग, ज्ञान और भक्ति तीनों प्रदान करता है। दूसरे, शिष्य गुरु की परख करता है। हम कबीर के गुरुवाद में बतला चुके हैं कि वे गुरुशिष्यवाद में साधक पक्ष पर अधिक जोर देते दिखाई देते हैं। तीसरे, गुरु के जो विभिन्न गुणधर्म—प्रेमी, घायल और घरफूँक कबीर में मिलते हैं, वे यहाँ उपलब्ध नहीं। सुन्दरदास ने गुरु के दार्शनिक ज्ञान

[1] सुन्दर सार—पुरोहित हरिनारायण शर्मा, पृ० ४, ५।

[2] वही, पृ० ५-६।

[3] वही, पृ० १५२, २।

और अनुभूति पर ही अधिक जोर दिया है। नाथपंथियों ने जिन ३६-३२ लक्षणों का वर्णन किया है उनमें से कुछ अवश्य ही इन संतों के गुरु-शिष्य संबंधी विचारों से समानता रख सकते हैं किन्तु वास्तविक बात यही है कि संतों की रचनाओं में वह व्यवस्था उपलब्ध नहीं है। नाथपंथी लोग, विशेषकर गोरखनाथ, जहाँ गुरु को ब्रह्मग्रंथि का भेदक मानते हैं, जीवशक्ति को ब्रह्मग्रंथि से मुक्त करनेवाला मानते हैं, वहीं सुन्दरदास उसे हृदयग्रंथि का भेदक मानते हैं। निश्चय ही यहाँ भावसाधन में आनेवाली बाधाओं या अवरोधों की ओर संकेत किया गया है। प्रायः इसी प्रकार के विचार अन्य परवर्ती संतों में भी बड़ी सरलता से ढूँढ़े जा सकते हैं।

ऊपर संतों के गुरुशिष्यवाद तथा अधिकारभेदवाद संबंधी विचारों को उपस्थित किया गया है। इन विचारों की तुलना नाथों के विचारों से की जा सकती है। कुछ समताओं-विषमताओं की ओर तो ऊपर ही संकेत किया जा चुका है। हम नाथों के विवेचन में कह चुके हैं कि नाथों के अनुसार केवल अवधूत ही गुरुपद का अधिकारी हो सकता है। इसीलिये नाथों में अवधूतपद का विशेष सम्मान था, किन्तु संतों में गुरु और अवधूत में पर्याप्त अन्तर है। कबीर की रचनाओं में अवधूत के पर्याप्त सम्बोधन मिलते हैं। जब भी कबीर योग के विषय में साम्प्रदायिक वेष-भूषा की बात करते हैं तो अवधूत को पुकारना वे नहीं भूलते। कबीरदास ऐसा कोई बंधन नहीं लगाते कि केवल अवधूत ही गुरुपद का अधिकारी हो सकता है। उनकी ज्ञान और भक्ति की जिज्ञासाओं और भूख या तड़पन को जो व्यक्ति शांत कर दे, वही व्यक्ति गुरु हो सकता है। इसके विषय में विस्तार से उन्होंने बतलाया भी है। अवधूत भी यदि इस कार्य में समर्थ हो तो उसे भी कबीर गुरुरूप में स्वीकार करने में तनिक भी नहीं हिचकते। डा० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने भी इस तथ्य की ओर संकेत किया है—'यद्यपि कबीरदास अवधूत मत को मानते नहीं तथापि अवधूत के प्रति उनकी अवज्ञा नहीं है, उसे वे काफी सम्मान के साथ ही पुकारते हैं। वे कभी कुछ उपदेश दे देते हैं, कभी कुछ बूझने को ललकारते हैं, कभी उसकी साधनापद्धति की व्यर्थता दिखा देते हैं और कभी-कभी तो कुछ ऐसी शर्तें रख देते हैं जिनको अगर अवधूत समझ सके तो वह कबीरदास का गुरु तक बन सकता है।'[१] इस मत से यह आभास मिलता है कि कबीर के मन में अवधूत के अवधूतत्व के संबंध में संदेह अवश्य था अन्यथा वे उसको ललकारते नहीं

[१] कबीर—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २३।

और न वे उसके सामने शर्तें ही रखते। इस प्रकार की शर्त रखने के कारण उस समय की नाथपंथी साधना की अवस्था और सांप्रदायिक स्थिति में मिलते हैं। कबीर साहित्य से ही यह भासित होता है कि उस समय अवधूत वेशधारी और नामधारी योगियों की संख्या कम नहीं थी जिनमें साधना का अभाव था। परवर्ती कवियों में तो 'अवधू' को इस रूप में सम्बोधन और ललकार भी नहीं मिली है। नाथ साहित्य में गुरु और नाथ को अभिन्न माना गया है और संत लोग भी इस प्रकार की मान्यता देते हैं। वस्तुतः संत कवि इस प्रसंग में और भी आगे बढ़कर गुरु की महिमा गोविन्द से भी अधिक मानते हैं। कबीर ने कहा है कि गोविंद को बतलाने के कारण गुरु की महिमा बड़ी है।[१] सुंदरदास ने इसका स्पष्ट निरूपण किया है, जिसका निर्देश हम पहले ही कर चुके हैं। यह प्रवृत्ति प्राचीन वैष्णव ग्रंथों में मिलती है। नारद पंचरात्र भी गुरु और गोविंद में भेद नहीं मानता अपितु यहाँ तक कहता है कि शिष्य के कल्याण के हेतु श्री कृष्ण ही गुरुरूप में अवतीर्ण होते हैं। उसमें स्पष्ट रूप से यह बताया गया है कि विष्णु के रुष्ट हो जाने पर भी गुरु शिष्य की रक्षा करने में समर्थ है। शिष्य का सब कुछ गुरु ही है। यहाँ तक कि वह सभी प्रकार के संबंधों का समाहार है। कबीरादि भी जाति-पाँत-कुल सब कुछ गुरु में ही मानते हैं। सुन्दरदास ने भी गुरु को माता-पिता सब कुछ माना है।[२] नाथों की अष्ट परीक्षा और ३२-३६ लक्षणों की व्यवस्था पर आधारित गुरुशिष्यवाद और अधिकारभेदवाद संतों में उपलब्ध नहीं यद्यपि गुरु-शिष्य के लक्षणों, पात्रताओं और अधिकारों के संकेत यत्र-तत्र संत साहित्य में मिल जाते हैं। नाद की अवस्थाओं से संबंधित योगी या शिष्य की विभिन्न अवस्थाओं अथवा शिष्य के भेद भी संत साहित्य में उपलब्ध नहीं हैं।

४—साधन के लक्ष्य का स्वरूप

इस गुरुशिष्यवाद और अधिकारभेदवाद की साधन की दृष्टि से, यदि उपयोगिता का विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि बिना गुरु के द्वारा दीक्षा और ज्ञान प्राप्त किये साधनक्षेत्र में प्रवेश करना कठिन है, दूसरे बिना 'अधिकार' प्राप्त किये परमतत्वोपलब्धि भी संभव नहीं है। यह होने पर ही

---

[१] कबीर के नाम से प्रसिद्ध तथा प्रायः उद्धृत साखी—'गुरु गोबिन्द दोऊ खड़े काके लागूँ पाय। बलिहारी गुरु आपणीं, जिन गोबिंद दिया बताय॥'

[२] सुन्दरसार, पृ० १५१।

'उपलब्धि' और सिद्धि संभव है। दीक्षा और अधिकारप्राप्ति का लक्ष्य यह 'उपलब्धि' और सिद्धि है। परमतत्व की उपलब्धि और आध्यात्मिक सिद्धि के स्वरूप का निश्चय हो जाने पर साधन के स्वरूप का निर्णय किया जा सकता है। संतों ने जिस परमतत्व को उपास्य माना है, साधन का लक्ष्य माना है, उसका वर्णन प्रायः उन लोगों ने उसी रूप में किया है, जिस रूप में नाथ-वाणियों में मिलता है। नामदेव यद्यपि उसे एक, अनेक, व्यापक, पूरक, सर्व-व्यापक आदि मानते हैं तथा विश्व में ओतप्रोत मानते हैं, निरंतर भाव से उसे घट-घटव्यापी मानते हैं तथापि उसे वे नाथपंथियों की तरह द्वैताद्वैतविवर्जित अथवा निर्गुणसगुणातीत नहीं मानते। उसे वे सर्वत्र आनन्दपूर्ण होकर रमण करनेवाला मानते हैं। वे उसके नाम और रूप को सर्वाधिक सुन्दर मानते हैं। वे उसका अन्तर्यामित्व भी स्वीकार करते हैं। ये लक्षण नाथपंथियों के उपास्य नाथ में नहीं मिलते।[१] यद्यपि वे नाथपंथियों के समान ही उसके आकार को झिलमिल ज्योति मानते हैं तथा वहाँ से अनाहत शब्द का श्रवण भी करते हैं, विभिन्न प्रकार की अनाहत ध्वनियों का श्रवण करते हैं, इड़ा-पिंगला और सुषुम्ना में पवन को बाँध कर ही रहनी रहने की बात करते हैं, चंद्र-सूर्य में सामरस्य कर ब्रह्मज्योति में मिल जाने की बात करते हैं, घट के भीतर ही ६८ तीर्थों में स्नान करने को कहते हैं तथापि वे स्पष्ट रूप से सहस्रार या शून्यशिखर या उसके अन्य पर्यायवाची शब्द का प्रयोग कर परमतत्व के घटस्थ उपलब्धिस्थान की ओर संकेत नहीं करते। गोरख ने गोरखबानी की प्रथम 'सबदी' में ही उस परमतत्व के ध्वन्यात्मक साक्षात्कार की बात कही है। नामदेव शून्य समाधि में समाहित होने की बात करते हैं जिसे प्रकारान्तर और शब्दान्तर से सहस्रार में परमतत्व की उपलब्धि स्वीकार किया जा सकता है।[२] किंतु नामदेव ने अपने उपास्य को अनंतरूपात्मक माना है। नाथपंथी शिव या नाथ को अनंत-रूपात्मक नहीं मानते। अनंतरूपात्मकता (यदि अनेकरूपात्मकता अर्थ लिया जाय) से शिव या नाथ का नहीं अपितु शक्ति का संबंध मानते हैं। इस प्रकार का विचार हम पहले व्यक्त कर चुके हैं।[3] नामदेव ने विभिन्न पदों में मंदिर-स्थ विठोबा का वर्णन किया है। उनसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि नामदेव अपने जीवन की मूर्तिसंबंधी घटनाओं और चमत्कारों को भी परमतत्व के सर्व-

---

[१] संत काव्य—पृ० १४४, १४५, १४६, १४७।

[२] हिं० म० सं० दे०, पृ० २४४, २५१, २५२।

[3] वही, पृ० २५४।

व्यापकत्व का प्रमाण मानते है ।[१] इस प्रकार का कोई विचार नाथपंथी रचनाओं में उपलब्ध नहीं ।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि यद्यपि नामदेव के उपास्य या परमतत्व के कुछ लक्षण नाथपंथियों के 'नाथ' के समान हैं तथापि नामदेव की रचनाओं में ऐसी घोषणा कहीं नहीं दिखाई पड़ती कि उस परमतत्व का साक्षात्कार केवल ब्रह्मरंध्र या सहस्रार या गगन में ही ज्योति के रूप में या शब्द के रूप में होता है । उसका वे सर्वत्र साक्षात्कार करते हैं और विभिन्न रूपों में करते हैं । यद्यपि नामदेव योग की पद्धतियों का वर्णन अवश्य करते हैं और योग, हठयोग की शब्दावली का भी यत्रतत्र प्रयोग करते हैं, किंतु वे कहीं भी काय-सिद्धि को आवश्यक ठहरा कर केवल उसी से ब्रह्मसाक्षात्कार का उपदेश देते नहीं दिखाई देते । नाथसिद्धों के अनुसार घट में ही ब्रह्मसाक्षात्कार होने के कारण घट या काया की रक्षा करना अत्यावश्यक है किंतु नामदेव सर्वव्यापक ब्रह्म का सर्वत्र दर्शन करते हैं अतः उनके लिये इस प्रकार का उपदेश न देना स्वाभाविक ही है । अतः यदि यह मान लिया जाय कि नामदेव ने योगसाधन, ह+ठ साधन, को अपनी साधना में स्थान दिया था तब भी यह कहने के लिये कोई प्रमाण नहीं है कि नामदेव नाथसिद्धों की इच्छामृत्यु, पिण्डरक्षा और घट या पिंड में ब्रह्म के सक्षात्कार को ही मानते हैं । उनकी हिंदी रचनाओं में इच्छा-मृत्यु, पिंडरक्षा, कायसिद्धि आदि का कोई वर्णन उपलब्ध नहीं । उनके तथा नाथपंथियों के परमतत्वनिर्वचन में भी अंतर है, जैसा पहले बतलाया जा चुका है ।

रामानन्द के प्रसिद्ध गुरु राघवानन्द की रचनाएँ बहुत कम हैं और अव्यव-स्थित हैं । 'सिद्धान्त पंचमात्रा' के आधार पर डा० बड़थ्वाल ने बतलाया है कि 'इस पुस्तिका के अनुसार स्वामी राघवानन्द का साधनामार्ग योग और प्रेम का समन्वित रूप है जो पुस्तिका ही के अनुसार सनत्कुमार आदि ब्रह्मा के चार मानस पुत्रों के द्वारा चलाया गया था ।'[२] इस रचना में परमतत्व का कोई भी निर्वचन नहीं है। एक स्थान पर अस्पष्ट रूप में यह संकेत किया गया है कि शून्य गगन में ध्वजा फहराती है तथा शब्द का प्रकाश होता है ।[3] इसके आधार पर केवल यही कहा जा सकता है कि राघवानन्द केवल शून्य गगन में

---

[१] वही, पृ० २६२, २६८, २५६ ।

[२] रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ—परिशिष्ट ३, पृ० ४२ ।

[3] वही, परिशिष्ट ४, पृ० ४९ ।

स्वरूपनिर्वचन के विषय में कुछ भी नहीं कहते। वस्तुतः इस रचना के आधार पर किसी निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है। रामानन्द की रचनाओं में इन विषयों का परिचय अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट है। यद्यपि रामानन्द ने परमतत्व या ब्रह्म को सगुणनिर्गुणातीत तथा द्वैताद्वैतविवर्जित नहीं कहा है तथापि वे हरि को रक्षक, स्रष्टा, स्वामी, घटस्थ, ब्रह्मा-विष्णु-शिव से भी परे, मायायुक्त अखंड ज्योतिस्वरूप मानते हैं। उसे अखंड रूप से रमण करनेवाला मानते हैं। उसे वे 'एक' भी कहते हैं।[१] उसका गगन में साक्षात्कार भी होता है। वे गगन में गरजती हुई ध्वनि में ध्यान लगाने को भी कहते हैं। आकाश में भ्रमर के गुंजार को भी वे स्वीकार करते हैं। सहज शून्य में ब्रह्म का अखण्ड रमण वे मानते हैं। इस ज्योति को वे तेलबाती से रहित कहते हैं।[२] रामानन्द इस प्रकार यह मानते हैं कि विश्वस्रष्टा, रक्षक, ब्रह्मा-विष्णु शिव से अतीत परब्रह्म घटस्थ हैं और उसका ध्वन्यात्मक अथवा ज्योतिरूप साक्षात्कार गगन में होता है। इसीलिय वे स्पष्ट रूप से शरीर या काया की रक्षा करने के लिये भी कहते हैं। उनके अनुसार सूर को उलटकर, गगन का भेदन कर तथा चन्द्रमा की सारी कलाओं का पोषण कर अग्नि प्रज्वलित की जाती है जिससे जरा और वेदनाएँ जल जाती हैं। वे पिंड के निर्मलीकरण के लिये भी कहते हैं जिससे रोग-पीड़ा-व्यथा शरीर में व्याप्त नहीं हो पाती। गंगा-यमुना-साधन से अजरामरता की प्राप्ति की ओर भी संकेत किया गया है। उन्होंने उस तन की चिंता करने के लिये उपदेश किया है जिसमें राम का प्रकाश होता है। इसी प्रकार त्रिवेणी में स्नान करने से आवागमन का निरोध बताया गया है।[3] अतः रामानन्द के उपर्युक्त विचारों से भी यही स्पष्ट है कि उनकी रचनाओं में यद्यपि परब्रह्म के लक्षण अथवा गुण कुछ अंशों में नाथसिद्धों के नाथ के समान हैं तथापि वे द्वैताद्वैतविवर्जित और सगुण निर्गुणातीत नहीं है। दूसरे नाथपंथी संस्कृत रचनाओं में जैसे नाथ को सृष्टिकार्य से बिल्कुल पृथक् और मुक्त रखा गया है वैसा रामानन्द की रचना में नहीं है। नाथसिद्धों की तरह ही रामानन्द भी परब्रह्म का साक्षात्कार गगन में ज्योतिरूप में अथवा नाद या ध्वनि के रूप में अवश्य करते हैं। यह भी स्पष्ट है कि रामानन्द अपने साधन में योग को भी स्थान देते हैं और अजरामरता और

---

[१] वही, मूल, पृ० ७, ८, १०।

[२] वही, मूल, पृ० ३, ६, ८, १०।

[3] वही, मूल, पृ० ४, ५, ९।

शब्दब्रह्म या नादब्रह्म के प्रकाशित होने की बात करते हैं, परमतत्व के कायसिद्धि को भी स्वीकार करते हैं। किन्तु कहीं भी इसका कोई संकेत नहीं मिलता कि वे इच्छामृत्यु को लक्ष्य के रूप में स्वीकार करते हैं।

कबीरादि संतों के साहित्य में ये विचार अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट और व्यवस्थित रूप में मिलते हैं। भक्ति के प्रसंग में संकेत किया गया है कि नाथों के उपास्य के जो विशेषण उनकी हिन्दी रचनाओं में प्रायः मिलते हैं, वे प्रायः निषेधात्मक अथवा अभावात्मक हैं। इसके विपरीत संतों के उपास्य के जो विशेषण प्रायः मिलते हैं वे अधिकांशतः सद्भावात्मक हैं और उनका अधिक संबंध प्रेम अथवा भक्तिभाव से है। नाथों के योग के प्रसंग में यह दिखा चुके हैं कि गोरख ने उसे सत्, असत्, शून्य, अशून्य, द्वैत, अद्वैत आदि से परे माना है। इस परमतत्व का साक्षात्कार वे घट के अन्तर्गत ही संभव और उचित मानते हैं यद्यपि वे उसे सर्वव्यापक, विधाता, कर्ता आदि मानते हैं। वे उसे ज्योतिरूप मानते हैं और उस सर्वव्यापक का ध्वन्यात्मक एवं प्रकाश-रूपात्मक प्रत्यक्ष गगन-शिखर में करते हैं। किन्तु फिर भी नाथों ने नाथ में अन्तर्यामित्व, सर्वशक्तिमयत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वसुन्दरत्व, प्रेममयत्व, आनन्द-मयत्व आदि का दर्शन नहीं किया है। कबीर भी यद्यपि उसे विभिन्न अकथ, अलेख, अविगत, अगोचर आदि पदों से लक्षित करते हैं तथापि वे उसे अमृत-दाता, आनन्दस्वरूप आदि भी कहते हैं। वे उसे अनंत ज्योतिर्मय परमात्मा, अन्तर्यामी, सर्वदा आनन्दमय, सर्वव्यापक आदि कहते हैं।[१] यद्यपि सुविधा की दृष्टि से कबीरदास उस परमतत्व को सृष्टिकर्ता कह देते हैं, अपना साहब केवल 'एक' ही मानते हैं तथापि अनुभूति की अवस्था में निर्वचन करते समय वे उसे 'एक' भी नहीं कहना चाहते, दो भी नहीं कहना चाहते और अंत में 'वह जैसा है तैसा ही रहे' कह कर ही संतोष कर लेते हैं। यद्यपि वे सगुण की सेवा करने के लिये तथा निर्गुण का ज्ञान प्राप्त करने के लिये कहते हैं किंतु कबीर का ध्यान तो केवल उसी तत्व में है जो निर्गुण-सगुण से परे है। इस परमतत्व को वे रूप और रेखा से अतीत, अशरीरी मानते हैं फिर भी उस विदेह पुरुष का निवास वे गगन-मण्डल के मध्य मानते हैं।[२] उसमें वे सर्व-शक्तिमत्ता का आरोप करते हैं। राई से पर्वत करना और राई में पर्वत कर देना उसी के लिये संभव है। उसके समान समर्थ कोई नहीं है। मानव तो

---

[१] कबीर ग्रंथावली, पृ० १२, २४२, १६४, ५४, १००।

[२] कबीर बचनावली, पृ० ९४-९५।

केवल (कहने के लिये) माध्यम मात्र है। करता सब कुछ वही है। वह घटस्थ है, सर्वघटव्यापक है, सभी घटों में समाहित है। बिना उसके ज्ञान के संसार की छोटी से छोटी क्रिया भी नहीं होती।[१] उसके लक्षणों की ओर संकेत पहले किये जा चुके हैं।

इसी प्रकार कबीरदास ने परमतत्व की कल्पना परमज्योति के रूप में भी की है। जब वे 'ज्योति' में 'ज्योति' को मिलाने की बात करते हैं तो वे परमात्मा को 'ज्योतिमान्' ही मानते प्रतीत होते हैं। एक ही 'ज्योति' से वे सबकी ही उत्पत्ति मानते हैं। उसे 'ज्योतिसरूपी' कहते हैं।[२] इस ज्योति का दर्शन अथवा साक्षात्कार भी घट में ही 'शून्यमंडल' में होता है, वहीं मर्दलध्वनि सुनाई पड़ती है जिसे सुनकर मन मस्त हो जाता है। शून्यमंडल में ही कबीरदास उस परम ज्योति के प्रकाश की शोध करने के लिये कहते हैं।[३] जो ज्योतिस्वरूप परमतत्व सकल जग में व्याप्त है तथा अक्षय पुरुष है उसी अपार को स्वयम् ही निवास करते हुए सहस्रदलकमल में, झिलमिल रूप में देखने का उपदेश कबीर ने दिया है।[४] कबीर ने उसका दर्शन घटस्थ सहस्रार अथवा गगन अथवा शून्यशिखर में नाथरूप में भी किया है। कबीरदास गगन में एक 'जंत्री' (यंत्र या वाद्य बजानेवाले) की कल्पना कर उससे प्रीति लगाने के लिये कहते हैं तथा उसके शब्द का गर्जन भी गगन में स्वीकार करते हैं। उन्होंने राम की घन के रूप में भी कल्पना की है, जिसकी अमृत वर्षा में वे भीग जाते हैं। अनेक स्थानों पर अमृतवर्षा का अनुभव कबीर ने गगन या सहस्रार में किया है। वहाँ वे एक साथ बिजली की चमक और घन-वर्षा का अनुभव करते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि कबीर गोरखनाथ आदि की तरह अपने परमतत्व को द्वैताद्वैतविवर्जित तथा सगुण-निर्गुणातीत मानते हैं। दूसरे वे उसे घट-घट-व्यापक मानकर उसका ध्वन्यात्मक और प्रकाशात्मक साक्षात्कार घट में ही सहस्रार या गगन में करने का उपदेश देते हैं।[५]

५—कायासाधन और योगयुक्ति

नाथ सिद्ध तथा रामानंद भी, जैसा ऊपर कह चुके हैं, घटस्थ गगन या

---

[१] कबीर वचनावली, पृ० ९५-९६।
[२] कबीर ग्रंथावली, पृ० ९८, १०६, १०७, १११।
[३] वही, पृ० ११०, १२७। [४] कबीर वचनावली, पृ० १७९।
[५] कबीर ग्रंथावली, पृ० १३७, १५४, १५, ६८, ८८।

सहस्रार में नित्य साक्षात्कार के लिये मानव शरीर को अत्यधिक महत्वपूर्ण मानकर उसकी रक्षा करना आवश्यक मानते हैं। कबीरदास ने काया को देवालय माना है और मन को ध्वजा। मन के चंचल होने पर शरीर भी चंचल हो जाता है और फिर साधकका सब कुछ चला जाता है। अतः मन को अचंचल रखकर शरीर को भी अचंचल रखना चाहिए। कबीर भी कच्ची काया और अस्थिर मन का वर्णन करते हैं। वे भी योगयुक्ति से काया के कूड़ा-कपट को निकालने की बात कहते हैं। इस हेतु वे तन को खोजने के लिये युक्तिप्रयोग कर भक्ति प्राप्त करने का उपदेश करते हैं। यम के पाश को काटना आवश्यक है। यह शरीर तो कच्चा है, 'शब्द निरंजन राम नाम' सच्चा है।[१] नाथसिद्धों के साधन में काया का क्या स्थान है, उसके संबंध में पहले ही हम कह चुके हैं। बताया गया है कि वे कायसिद्धि को आवश्यक मानते हैं जिसका अर्थ है कच्ची अथवा अशुद्ध काया को शुद्ध कर परिपक्व बनाना जिससे यह शरीर अधिक से अधिक समय तक ज्ञानजल को सुरक्षित रख सके, कल्याणकार्य कर सके, इच्छामृत्यु की शक्ति अर्जित कर सके, क्योंकि वे मानते हैं कि कच्ची काया में न ज्ञानजल स्थिर रह सकता है और न घट की रक्षा हो सकने के कारण सहस्रार में परमशिव का साक्षात्कार ही नित्य हो सकता है। इसीलिये कायसिद्धि या परिपक्व काया की उपलब्धि आवश्यक है। जैसा कहा जा चुका है, नाथ लोग एक ऐसी मुक्ति चाहते हैं, जो जीवन्मुक्ति तो होती है, साथ ही उसमें इच्छामृत्यु की शक्ति भी साधक को उपलब्ध रहती है। नाथों का साधन योगयुक्त ज्ञान है। वे लोग योग की सहायता से परिशुद्ध एवं परिपक्व शरीर में 'द्वैताद्वैतपरिवर्ती' परमतत्व का साक्षात्कार करना चाहते हैं। यह साक्षात्कार गगन या गगनशिखर में वे करना चाहते हैं। दूसरे शब्दों में नाथसिद्ध परमात्मा या परमपद की प्राप्ति के अतिरिक्त अजर, अमर काया की प्राप्ति भी आवश्यक मानते हैं और इस काया की प्राप्ति योग से ही संभव मानते हैं। इस प्रकार नाथों के दो लक्ष्य स्पष्ट हैं। क्रमानुसार पहले वे कायसिद्धि अथवा इच्छामृत्युसिद्धि को स्थान देते हैं तथा क्रमशः दूसरा, चरम लक्ष्य उनका नाथरूप से अवस्थान है। नाथों का द्वितीय लक्ष्य तो संतों को भगवदुपलब्धि के रूप में स्वीकार्य है किंतु प्रथम लक्ष्य और उसके साधन के संबंध में उनके मत भिन्न हैं। हम भक्ति के प्रसंग में यह कह चुके हैं, संतों का चरम साधन भक्ति है और यह भी निश्चित

---

[१] वही, पृ० ३०, ७६, ९३, १३४।

है कि वे भगवान् और उनकी भक्ति के अतिरिक्त कुछ भी नहीं चाहते ।[1] यह भी ऊपर कह चुके हैं कि कबीर इस परमतत्व का साक्षात्कार नादरूप में अथवा ज्योति के रूप में घटस्थ सहस्रार में करते हैं। अतः यह संभावना हो सकती है कि वे नाथपंथियों के समान ही काया को अजर-अमर, सिद्ध, परिपक्व बना कर उसमें उस परमतत्व के नित्य साक्षात्कार की कामना करते हों तथा उसको लक्ष्य के रूप में भी स्वीकार करते हों। यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि नाथों ने कायसिद्धि या अजरामरता या इच्छामृत्यु का केवल अभिधेयार्थ ही ग्रहण किया है अर्थात् शरीर रहते शरीर की सभी प्रकार की मुक्ति वे चाहते हैं। इस मुक्ति या सिद्धि या अजरामरता का लक्ष्यार्थ यह हो सकता है कि जिस प्रकार साधक नाथों की उपर्युक्त प्रकार की मुक्ति अथवा सिद्धि में काल से पूर्ण निर्भय और निश्चित हो जाता है, उसी प्रकार साधक अपनी भावना और अनुभूति में काल, रोग, चिंता आदि से निश्चिंत और निर्भर हो जाय। यह देखना है कि कबीर में या अन्य संतों में इन दोनों में से कौन सा अर्थ गृहीत है। दूसरे यह भी विचार्य है कि यदि वे इस प्रकार की सिद्धकाया या अमर काया को आवश्यक मानते हैं तो इसकी उपलब्धि किस साधन से संभव है।

संत अपने आध्यात्मिक जीवन के प्रति अत्यधिक सावधान रहता है। काल को सर्वदा अपने सिर पर खड़ा जैसा अनुभव करने के कारण कभी भी उसे नींद नहीं आती। 'काल कौ अंग' में कबीर ने मानव जीवन की क्षणिकता तथा काल के आगे उसकी असमर्थता पर पर्याप्त विचार किया है। सारी सांसारिक संपत्ति और वैभव पड़े रह जायँगे और राम के नाम के बिना यह मनुष्य भी अन्त में काल के हाथ पड़ेगा। बिना राम की उपासना किये सभी सुर, नर, मुनिवर, असुर काल के बन्धन में पड़ेंगे। कबीर मानते हैं कि मन अस्थिर है और यह शरीर भी कच्चा है। मनुष्य स्थिरभाव से कामना करता हुआ निर्द्वन्द्व होकर घूमता है और यह देखकर काल भी हँसता है, प्रसन्न होता है। कबीरदास इससे मुक्ति पाने के लिये संजीवन मार्ग बतलाते हुए कहते हैं कि माया-मोह से टूट कर कबीर हरि की शरण में चला गया और उसने गगन-मंडल में आसन जमा लिया। परिणामतः काल भी हार कर चला गया। यदि मन को पराजित कर दिया जाय, उसके अहंकार का नाश कर दिया जाय तथा वह पंगु होकर केवल भगवान् के आसरे 'पिव-पिव' की रट लगाया करे तो उसे बाद में फिर काल का भय नहीं रह जायगा। विरह से संपर्कित और

[1] कबीर वचनावली, पृ० १२७, छं० ३८७।

तीक्ष्ण किया हुआ मन जब भगवान् के चरणों में लग जाता है तब साधक तक काल के पहुँचने का कोई भी भय नहीं रहता।[१] अतः कबीर का स्पष्ट मत है कि राम और रामनाम की बिना चिंता किये काल के पाश से मुक्ति पाना कठिन है।[२] वे बार-बार यह भी संकेत करते हैं कि मनुष्य का जीवन छोटा है, क्षण-क्षण बीतता जा रहा है, अतः बिना एक क्षण गँवाये ही सावधान और अनिद्र होकर परमात्मा की चिंता करनी चाहिए।[३] अतः इससे स्पष्ट है कि कबीरदास कालपाश से, काल से निर्भय होना चाहते हैं। नाथपंथी लोग भी काल से मुक्ति चाहते हैं, इसमें संदेह नहीं।

ऊपर कहा गया है कि कबीर के अनुसार यह शरीर कच्चा है और मन भी अस्थिर है। परिपक्व काया के संबंध में कबीर का क्या मत हो सकता है, यह अनुमान करने के लिये उपर्युक्त कथन अत्यधिक महत्वपूर्ण है। नाथपंथियों के समान ही कबीर का भी कथन है कि काया देवालय है अर्थात् इसमें परमात्मा का वास है। मन ध्वजा है जो विषयों की लहरों में फहरा रही है। मन के चंचल रहने से देवालय भी चंचल हो जाता है, नष्ट हो जाता है, वश में नहीं रहता और फिर साधक का सर्वस्व नष्ट हो जाता है।[४] अर्थात् मन और शरीर के चंचल होने पर साधन असंभव है। वे काया को काशी भी कहते हैं जिसके अन्तर्गत स्थित दशम द्वार के देवालय में ज्योति की वे पहचान करते हैं।[५] इससे स्पष्ट है कि कबीर यद्यपि शरीर की स्थिरता, उसकी काल से मुक्ति चाहते हैं किंतु उनका स्पष्ट अभिमत है कि चिन्त्याचिन्त्य माधव ही सबमें समाया हुआ है। उसे छोड़कर जो अन्य का भजन करते हैं वे सभी भ्रम में भूले हुए हैं। इसीलिये वे पिंडमुक्ति को अपना लक्ष्य नहीं मानते। यदि वास्तविक पदमुक्ति उपलब्ध न हो तो पिंडमुक्ति की कबीर को कोई आवश्यकता नहीं है।[६] यद्यपि लोग योग करके पिंड को शुद्ध करते हैं किंतु मुद्रा पहनने से योगसाधन नहीं होता। जो लोग हरिपद का प्रत्यभिज्ञान कर लेते

---

[१] क० ग्रं०, काल कौ अंग—पृ० ७२-७६, छं० ४, १८, २९; सजीवन कौ अंग, पृ० ७६, छं० ३–५।

[२] वही, सुमिरण कौ अंग, पृ० ५, छं० ५।

[३] वही, पृ० १९४, पद ३१२।

[४] वही, पृ० ३०, छं० २८।

[५] वही, पृ० ४४, छं० १०।

[६] वही, पृ० १००, पद ३६।

हैं, वस्तुतः वे ही मलिन पिंड को निर्मल कर पाते हैं ।[1] इसी प्रकार अमर भी वे ही हो पाते हैं जो 'राम' को जान लेते हैं । कबीर योगयुक्ति से शरीर को शुद्ध करने की बात करते हैं ।[2]

ऊपर के परिचय से स्पष्ट है कि कबीरदास काल से मुक्ति चाहते हैं, काया को अशुद्ध और कच्ची मानते हैं तथा जीवन को (साधन की दृष्टि से) अत्यंत छोटा मानते हैं । इसलिये वे इस लघु मानव जीवन की चिंता करते हुए स्पष्ट रूप से हरिचिंतन के लिये कहते हैं । शरीर का शोधन भी यद्यपि वे चाहते हैं, काल से, यम से मुक्ति भी चाहते हैं तथापि शोधन के लिये योगयुक्ति को स्वीकार करते हुए भी उस शोधन को सब कुछ नहीं मान लेते । यद्यपि वे मनस्थैर्य से कायस्थैर्य की सिद्धि मानते हैं तथापि वे स्पष्टतया कहते हैं कि पिंड या शरीर की मुक्ति या सिद्धि तब तक निरर्थक है, जब तक मुक्तिपद की प्राप्ति न हो । दूसरी बात यह है कि कबीरदास जब काल का वर्णन करते हैं तथा उससे मुक्त होने के साधन की बात करते हैं तब वे निर्भयता की ओर अवश्य संकेत करते हैं । उनके इस प्रकार के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि हरिचिंतन से कालभय नहीं रहता, यहाँ तक कि काल भी अपना सिर पीट कर चला जाता है । हरि का प्रत्यभिज्ञान होने पर, उसे जान लेने पर, अमरता की प्राप्ति हो जाती है । कबीरसाहित्य में यद्यपि अमृतपान आदि का पर्याप्त वर्णन है तथापि पिंडसिद्धि और इच्छामृत्यु का वैसा वर्णन उपलब्ध नहीं है, जैसा नाथ साहित्य में हम देख चुके हैं ।

हम पहले कह चुके हैं कि नाथों का लक्ष्य है पिंडपद का परमपद या ब्रह्मांड में समरसीकरण इस लक्ष्य का मूलाधार सिद्धान्त है पिंडब्रह्मांडवाद । परब्रह्म का सर्वव्यापकत्व नाथपंथी और कबीर दोनों ही मानते हैं । दोनों ही उसे घटस्थ भी मानते हैं । दोनों ही घट के भीतर ही उसका साक्षात्कार करने को कहते हैं । दोनों ही घट के भीतर ही सर्वव्यापक ब्रह्म और व्याप्य ब्रह्माण्ड को देखने का उपदेश देते हैं । इस वाद के भी दो रूप हो सकते हैं । पहला—ब्रह्माण्ड के विभिन्न अंग-उपांगों के समकक्ष पिंड में भी उनकी कल्पना । दूसरा-सर्वव्यापक भगवान् और ब्रह्म का घट के साथ तादात्म्य का अनुभव करना । संतों में पिंडब्रह्माण्डवाद का कौन सा रूप स्वीकृत है, इसका सविस्तर विचार आगे किया गया है । विचार करने से यही प्रतीत होता है कि

[1] वही, पृ० १६२, पद २१७ ।

[2] वही, पृ० १०२, पद ४३; पृ० ९३ ।

जो साधनपद्धति चक्र-नाड़ी-व्यवस्था को स्वीकार करती है, वह किसी न किसी रूप में पिंडब्रह्माण्डवाद और उसके मूलतत्व पिंडब्रह्माण्ड के समत्व को स्वीकार करती ही है। आगे संतों के योग का जो परिचय दिया जा रहा है, उससे यह बात और स्पष्ट हो जायगी। कबीरदास के अनुसार वह परमतत्व सकल ब्रह्माण्ड को पूर्ण करता है और दूसरे स्थानों में भी वह स्थित है। कबीर ने ब्रह्म और ब्रह्माण्ड आदि सबका अपने घट में दर्शन किया जब उसने समान नेत्रों से (सम दृष्टि से) देखा।[1] कबीरदास तो यह भी मानते हैं कि सृष्टिकर्ता ही संसार है, वह संसार में सर्वव्यापक है और ये सब ही घट में समाहित हैं। वे स्वयं ही सभी घटों में 'साहिब' का दर्शन करते हैं। वे मानते हैं कि राम-रहीम तो सर्वत्र भरपूर हैं और उस व्याप्य 'खलक' या 'दुनी' का दर्शन भी वे हृदय में करने को कहते हैं।[2] कबीर के विभिन्न कथनों पर विचार कर संत साहित्य के आलोचक संतों के इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं—'कबीरदास ने कितनी ही बार कहा है कि जो कुछ पिंड में है, वही ब्रह्माण्ड में है। पिंड में ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्ड में पिंड है।[3] पिंड में ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्ड में पिंड का अनुभव ही पिंडपद में परमपद के समरसत्व का अनुभव है।

नाथों के लक्ष्यनिरूपण में हम कह चुके हैं कि वे पिंडस्थैर्य के लिये पिंड-ज्ञान आवश्यक मानते हैं। बिना पिंडज्ञान के साधक साधनक्षेत्र में, उनके अनुसार, अग्रसर ही नहीं हो सकता। पिंडज्ञान का वर्णन भी उनके साहित्य में विस्तार से मिलता है। वहाँ पिंडज्ञान से ब्रह्मांडज्ञान साध्य माना गया है। कबीर भी यद्यपि पिंडज्ञान का वर्णन करते हैं किन्तु वे कोई ऐसा बन्धन नहीं लगाते कि बिना पिंडज्ञान के साधक अग्रसर हो ही नहीं सकता। उनके उप-र्युक्त विचारों से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि संत भी अन्तस्साधनावादी हैं और वे शरीर में ही परमात्मा के शोध की बात भी करते हैं किन्तु घटस्थ ब्रह्म की पहचान के लिये ही वे घट में शोध अथवा अपने भीतर का ज्ञान प्राप्त करने को कहते हैं। कायसिद्धि के लिये वे कायाज्ञान को आवश्यक मानते प्रतीत नहीं होते। इसके होते हुए भी वे पिंड का, नाड़ियों, चक्रों, कोठों का वर्णन करते हैं। बाह्याडम्बरनिषेध और अन्तस्साधनविधान के मूल में पिंडब्रह्माण्डवाद ही है। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि काया का 'मार्जन'

---

[1] क० ग्रं०, पृ० ९७-९८, पद ३०।

[2] वही, पृ० १०४, पद ५१, पृ० १०७, पद ६०।

[3] कबीर—डा० द्विवेदी, पृ० ५९।

निरर्थक है। वस्तुतः काया के भीतर शोधन करना चाहिए। हृदय की शुद्धि ही सबसे बड़ी चीज है। जल से बाहरी शरीर को धोना निरर्थक है। अपने उस (सूक्ष्म) शरीर की पहचान करनी चाहिए जहाँ से जीव आया है। विभूतिधारण, जटापट-धारण, जलस्नान, अग्नितप आदि से कोई लाभ नहीं है। जो लोग शरीर को दिन में तीन बार धोते हैं, वे वस्तुतः शरीर की खबर नहीं पाते। उनको तो शरीर का ज्ञान ही नहीं होता।[१] इससे स्पष्ट है कि कबीर पिंडज्ञान को साधक के लिये अनिवार्य नहीं मानते। यदि वे काया में शोध के लिये कहते भी हैं तो केवल पिंड में परब्रह्म की पहचान के लिये, मन और हृदय के वास्तविक रूप का पता लगाने के लिये, कायसिद्धि के लिये नहीं।

नाथसिद्ध लोग काया को गढ़ या नगर या पुरी भी कहते हैं और उसे जीतने का उपदेश भी देते हैं। रामानंद ने भी काया को विकट गढ़ के रूप में कल्पित कर उस पर चढ़ना कठिन बतलाया है। उस गढ़ को जूझकर ही सूर लोग अच्छी तरह बूझ पाते हैं क्योंकि इस बाँके गढ़ का पंथ अगम है और उस पर पाँव रखना कठिन है। स्वयं रामानन्द कबीर को कायानगरी का रहस्य बतलाते हुए पंचेन्द्रियों, मन, पवन, ज्ञान, दया, हृदय आदि का परिचय देते हैं।[२] कबीर साहित्य में कायागढ़ के विजय का स्पष्ट वर्णन उपलब्ध नहीं। कुछ संकेत अवश्य मिलते हैं। कबीरदास मैवासा (कायागढ़) को मार कर, उससे दुर्जनों का निष्कासन कर, प्रियतम राम के राज्य में, कायानगरी में पूरी तरह से बस जाते हैं। इसी प्रकार गुरुमुख के 'कलमा' और ज्ञानमुख की छूरी से वे पाँचों पुरियों (पंचभूतों) को हलाल करते हैं।[३] "सूरा तन कौ अंग" में कबीरदास इंद्रियों, मन, काम, क्रोध आदि से जूझने का उपदेश देते हैं।[४] रामानन्द आदि के इन विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये संत लोग कायाविजय को आवश्यक मानते हैं। जो मुख्य बातें स्पष्ट होती हैं, उनमें से प्रथम तो यह है कि आध्यात्मिक साधन में मन और शरीर दोनों ही सहायक होते हैं। दूसरे, मन के स्थैर्य से कायस्थैर्य साध्य है। तीसरे, काया-

---

१ क० ग्रं०, पृ० १८२, पद २७७; पृ० १८३, पद २७९; पृ० १८६–१८७, पद २९०।

२ रा० हिं० र०, पृ० ८, १६, १३।

३ क० ग्रं०, पृ० ४७, छं० २६; पृ० १७५, पद २५६।

४ वही, 'सूरा तन कौ अंग,' पृ० ६८, छं० २, ३, ७।

जय तो वे अवश्य चाहते हैं, कायाशोधन भी चाहते हैं किन्तु यह कायाशोधन शरीर के भीतर के विभिन्न अंगों का नहीं है, अपितु मन को तथा शरीर को भक्तिपथ से हटा देने वाले तत्वों से शुद्ध करना है। वे कायाजय केवल इसलिये चाहते हैं कि जिससे ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ साधक को भक्तिपथ से विचलित न कर दें। चौथे, काल से मुक्त होने एवम् अजर-अमर होने का अर्थ, उनके यहाँ काल से निर्भय और निश्शंक हो जाना है।

हम यह पहले ही कह चुके हैं कि कबीरदास केवल भगवान् और भक्ति को ही चाहते हैं। वे यह भी कहते हैं कि भक्तिप्राप्ति से ही काल से निर्भय हुआ जा सकता है। योगयुक्ति से वे शरीर के 'कूड़ा-कपट' को दूर करते हैं। योग से अजर-अमर काया या कायसिद्धि या सिद्धकाया की प्राप्ति की बात वे स्वीकार नहीं करते। उसका कारण यह है कि योग की सहायता से कायसिद्धि की बात स्वीकार करने के बाद साधक का लक्ष्य केवल कायसिद्धि और साधन केवल काया-साधन ही रह जाता है। ऐसा होने पर मन छूट जाता है। किंतु कबीर मनसाधन या हार्दिक साधन या भावसाधन पर ही जोर देते हैं। उनके समय में नाथपंथियों ने कायसिद्धि और कायासाधन को ही सब कुछ मान लिया था और उसी में वे फँसे रहते थे। मानस शोधन उन लोगों ने बिल्कुल छोड़ दिया था। उनके समय में शरीरसाधन या हठसाधन ही उनके लिये सब कुछ था किंतु प्राचीन नाथसाधना में कायासाधना या हठसाधना का लक्ष्य मानसिक या चैतसिक साधन अथवा राजयोग था। कबीर ने इसीलिये केवल कायासाधन और कायसिद्धि के पीछे पड़े रहनेवाले जोगियों का मजाक उड़ाया है। उनका तो कहना है कि कायसिद्धि तो मानस साधन से ही मिल जाती है। भक्तिप्राप्ति से व्यक्ति काल से निर्भय हो जाता है, अजर अमर हो जाता है जबकि नाथों के साधन में कायसिद्धि प्राप्त होने के बाद ही परमपदप्राप्ति और अजरामरता मानी गई है। भक्ति की प्राप्ति से ही अजरामरता अथवा काल से निर्भयता की उपलब्धि की कल्पना भक्तिशास्त्र में ही बहुत पहले से स्वीकृत मिलती है। नारद ने अपने भक्तिसूत्र में ही यह संकेत किया है कि भक्ति स्वयम् अमृतस्वरूपा है और जिसका लाभ कर पुरुष सिद्ध, अमृत और तृप्त हो जाता है।[1] कबीर ने अपनी रचनाओं में कायसिद्धि संबंधी मतों पर अपने विचार व्यक्त किये हैं जिससे यह

---

[1] नारद भक्तिसूत्र, सूत्र सं० ३, ४–'अमृतस्वरूपा च', 'यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवत्यमृतो भवति तृप्तो भवति'।

स्पष्ट हो जाता है कि कबीर अपने समय की साधनपद्धतियों और उनके लक्ष्यों के प्रति अत्यधिक सावधान और जागरूक थे। उन्होंने बीजक में कायसिद्धि के लिये प्राणायामादि हठयोगी क्रियाओं को संपादित करनेवालों का खंडन किया है। उनके अनुसार वे हठयोगी बार-बार प्राणों को चढ़ाते हैं और इस प्रकार अपने शरीर रूपी भांड को फोड़ते हैं। कालवंचन के लिये वे ये सब शारीरिक क्रियाएँ मानते हैं किन्तु वे यह नहीं जानते कि वास्तविक चोर तो मन है। उस मन की चोरी का रहस्य हठयोगी नहीं जान सकते। वस्तुतः वे योगी कालभय से सदैव पीड़ित रहते हैं।[१] देहावसान के बाद हठयोगी पुनः शरीर रूपी नगरी में चला जाता है और उसके साथ ही पंचप्राणरूप पाँच नारियाँ भी उस काया नगरी में बस जाती हैं। यह जोगी शरीर छोड़कर कहीं देशान्तर में चला जाता है किन्तु कहा नहीं जा सकता कि वह कहाँ चला गया। किन्तु यह भी सत्य है कि वह जोगी पुनः लौटकर उस गुफा (शरीर) में नहीं आ सकता। जोगी जब शरीर से निकल जाता है तब उसका भी शरीर सामान्य शरीरों की तरह ही नष्ट हो जाता है। इस प्रकार 'जोगी' को इन सब प्रपंचों में इसलिये घूमना पड़ता है कि कलि रूपी वह दुष्ट वासना योगी के मन में बसी रहती है। मन में वासना के रहने पर योगी को भी, विभिन्न शरीरों में घूमना पड़ता है।[२] अर्थात् कबीर की दृष्टि में नाथ-पंथी योगी उनके समय में केवल कायासाधन कर कायसिद्धि प्राप्त करने का प्रयास करता था और मानसशोधन पर ध्यान नहीं देता था। इसलिये उसे अपने साधनकाल में सदैव काल से भयभीत रहना पड़ता था। किन्तु कबीर के साधन में भक्ति के प्राप्त होते ही साधक काल से निर्भय हो जाता है, जैसा पहले बताया जा चुका है।

इस परिचय से स्पष्ट हो जाता है कि संत लोग परम विलक्षण अनिर्वच-नीय तत्व का साक्षात्कार नादरूप में गगनशिखर में करते हैं। वे परमतत्व को सभी द्विविधाओं और प्रपंचों से अतीत मानते हैं। उसकी प्राप्ति वे भक्ति से संभव मानते हैं। वे यह भी मानते हैं कि शरीर में जब तक मानसिक मलिनता वर्तमान है तब तक उस तत्व की प्राप्ति असंभव है। इस मल के अपसारण के लिये योगयुक्ति के प्रयोग का विधान करते हैं। संतों के अनुसार

---

[१] बीजक—सं० विचारदास शास्त्री, पृ० ६४, रमैनी ५९ तथा उसकी टीका।

[२] वही, पृ० १८४, शब्द ६५ तथा उसकी टीका।

मानस विजय से ही कायाजय संभव है। इस मानस जय को संत लोग अत्यधिक कठिन मानते हैं। इस मानस साधन का विस्तृत वर्णन आगे किया गया है। इसीलिये वे काया या घट के भीतर के विभिन्न अंग-उपांगों के ज्ञान पर अधिक जोर देते दिखाई नहीं पड़ते। वे मानस ज्ञान को आवश्यक मानते हैं। संतों में पिंड-ब्रह्माण्ड के एकत्वानुभव का वर्णन विवृत नहीं है। वे आत्मज्ञान—अपना ज्ञान—को अवश्य महत्व देते हैं और उनके अनुसार जब तक किसी ने अपने को नहीं जाना तब तक उसका बाहर का ज्ञान निरर्थक है। आत्मज्ञान से ही ब्रह्माण्डज्ञान भी हो जाता है। वे आत्मज्ञान को सब कुछ मानते हैं। यदि व्यक्ति ने अपना ज्ञान प्राप्त कर लिया तो उसने उस 'एक' परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कर लिया और उस एक के ज्ञान से 'सब' का ज्ञान हो जाता है क्योंकि अनेक उस एक से भिन्न नहीं हैं।[१] इसका यह अर्थ नहीं कि कबीरादि संत पिंडज्ञान और ब्रह्माण्डज्ञान को और उन दोनों की एकता को आवश्यक नहीं मानते। डा० द्विवेदी का उद्धरण देकर हम इसे पहले ही बतला चुके हैं। किन्तु उनके प्रयोजन और पद्धति में भिन्नता है।

६—पिण्डब्रह्माण्डवाद

यह भी हम पहले कह चुके हैं कि 'परमात्मा पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनों में व्याप्त है। फिर भी व्यक्ति को यह ज्ञान नहीं हो पाता कि वह दोनों में समानरूप से व्याप्त है। अहंकार तथा विभिन्न प्रकार के मानसिक दोष इस व्याप्तिज्ञान में बाधक हैं। नाथसिद्धों के 'पिंड में ब्रह्माण्ड की खोज' को संत लोग भी स्वीकार करते हैं। अर्थात् वे मानते हैं कि सब कुछ पिंड में ही है। पिंडपद में ब्रह्माण्ड के समरसीकरण का भी अर्थ यही है। जैसा आगे के विवेचन से स्पष्ट हो जायगा, शरीरगत ब्रह्माण्ड में जीवशक्ति कुंडलिनी को उत्थित कर पहुँचाना भी एक प्रकार से पिंडब्रह्माण्ड का समरसीकरण है जिसे नाथ साहित्य में भी विवृत किया गया है। संत साहित्य में ब्रह्माण्ड का 'चराचर सृष्टि' के अर्थ में पुष्कल प्रयोग मिलता है और उसका प्रतीकार्थ सहस्रार या शीर्षभाग है जहाँ ब्रह्म की झलक मिलती है तथा जहाँ कुंडलिनी पहुँच कर ब्रह्माण्डव्यापिनी महाकुंडलिनी की समशीला हो जाती है। इसको दूसरे शब्दों में समरसीकरण कहा जाता है। यह वस्तुतः जीवात्मा का परमात्मा से तथा जीवशक्ति कुंडलिनी का ब्रह्माण्डव्यापिनी शक्ति महाकुंडलिनी से समरसीकरण है। इसी को कभी-कभी आध्यात्मिक क्रीड़ा अथवा पिंड—

---

[१] क० ग्रं०, पृ० १९, साखी ८—९।

ब्रह्मांड की परस्पर क्रीड़ा भी कहा जाता है। नाथों ने अनन्त व्यापक परम-तत्व को समुद्र के समान माना है जिसमें यह पिंड एक क्षुद्र बूँद के समान है। पिंड और ब्रह्माण्ड में जिस प्रकार एकता है उसी प्रकार की एकता बूँद और समुद्र में है। इसी प्रकार के विचार कबीर में भी मिलते हैं। कबीर के अनुभव इस संबंध में थोड़े और विलक्षण हैं। बूँद का समुद्र में लीन होना और कभी समुद्र का (ब्रह्माण्ड) का बूँद (पिंड) में लीन हो जाना सचमुच विलक्षण है। इसीलिये सामान्य जनों के लिये परस्पर क्रीड़ा में लीन पिंड और ब्रह्माण्डों को अलग-अलग करना कठिन है।[१] दूसरे शब्दों में यह 'धर' (पिंड, मूलाधार, पृथ्वी) और अधर (ब्रह्माण्ड, सहस्रार, आकाश) का परस्पर परिचय है, संवाद है, प्रगाढ़ भावस्थापन है—ऐसा नाथपंथी और कबीरादि भी मानते हैं। कबीर तो इस क्रीड़ा के लिये 'हद' ओर 'बेहद' शब्दों का भी प्रयोग करते हैं। 'अरध' और 'ऊरध' की क्रीड़ा का भी यही अर्थ है।[२] इससे यह स्पष्ट है कि कबीर पिंडब्रह्माण्ड की क्रीड़ा को नाथपंथियों के समान ही स्वीकार करते हैं।

ऊपर के परिचय से यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीर आत्मज्ञान को पर्याप्त महत्व देते हैं किंतु उनके 'आत्मानं विद्धि' का अर्थ पिंडज्ञान या नाड़ी-चक्र-दश-वायु आदि का ज्ञान न होकर अपने मन, हृदय, आत्मा आदि का ज्ञान है। आत्मज्ञान को ही ब्रह्माण्डज्ञान का मूलाधार अथवा स्रोत नाथपंथियों के समान माना गया है। नाथों के समान ही कबीरादि भी कहीं-कहीं शरीर को गढ़, कोट, नगर आदि कहते हैं किंतु कबीर साहित्य में काया का वैसा सांग रूपक प्रायः नहीं मिलता जैसा गोरखबानी में मिलता है। इस सांगरूपक द्वारा वर्णन का विराट रूप तब उपलब्ध होता है जब नाथपंथी लोग शरीर में ब्रह्माण्ड के तत्वों का समशील दर्शन कराने लगते हैं। यद्यपि पिंडब्रह्माण्ड की समशीलता का वर्णन यत्र तत्र बिखरे रूप में संत साहित्य में मिल जाता है तथापि वैसा नहीं जैसा कि नाथपंथियों की 'प्राणसंकली' ग्रंथों में उपलब्ध है। उसके कुछ कारणों की ओर संकेत प्रसंगतः हम पहले कर चुके हैं किंतु मुख्य बात यह है कि संत लोग कायासाधन पर अधिक जोर नहीं देते। उनका लक्ष्य है युद्धक्षेत्र में चंचल

[१] क० ग्रं०, पृ० १७, साखी ३-४।

[२] क० ग्रं०, पृ० १३, सा० ११; पृ० २६ सा० ५०; कबीर—डा० द्विवेदी, पृ० २१३ पर उद्धृत छंद; क० ग्रं०, पृ० ४ सा० ३१; पृ० ५४ सा० ११; पृ० १८३ पद २८०।

मन को पराजित कर नियंत्रण में रखना, भक्ति में लगाये रखना। इसलिये पिण्डवर्णन का इतना विस्तार इनकी रचनाओं में उपलब्ध नहीं। जो भी संकेत उपलब्ध हैं, उनकी विवृत्ति नीचे प्रस्तुत है।

कबीरदास आदि पिण्ड और ब्रह्माण्ड की समशीलता मानते हैं। संतों ने यद्यपि यह संकेत नहीं किया कि इस पिंड में ब्रह्माण्ड के कौन-कौन से तत्व किस रूप में अलग-अलग स्थित हैं तथापि वे यह अवश्य बतलाते हैं कि इस पिंड में ब्रह्माण्ड के कौन-कौन से तत्व हैं। कबीर ने इस शरीर में ही अधः और ऊर्ध्व को गंगा और यमुना, मूलकमल को घाट, पटचक्र को गागर तथा त्रिवेणी को संगम-मार्ग बतलाया है। वे काबा तीर्थ हृदय में ही मानते हैं। इस पिंड में मन ही मथुरा है, दिल द्वारिका है और यह काया ही काशी है। दशम द्वार ही देवालय है जिसमें ज्योति की पहचान होती है। इस शरीर में ही गगन हैं, जिसमें दमामा बजता है। घटस्थ त्रिवेणी में ही स्नान करने के लिये कहते हैं। कबीरदास जिस गगनमंडल में घर बनाने को कहते हैं, वह पिंड में ही है। साधक जिस पाताल में तीर का संधान करता है वह भी पिंड में ही है और जिस गगन में वह तीर मारता है वह भी पिंड में है। चक्र और सूर्य के दो तूँबे तथा चैतन्य चित्त की डंडी भी आन्तरिक है। इस पिंड के धरती और गगन की क्रियाओं में विलक्षणता है। यहाँ धरती बरसती है और गगन भींगता है। यह गगन कभी भी, इस शरीर का नाश होने पर भी नष्ट नहीं होता। इसमें रात और दिन भी नहीं होते। इस आकाश में ही एक औंधे कूएँ की वे कल्पना करते हैं जिसमें जल निकालनेवाली भी पिंडस्थ पाताल में है। इस पिंड में ही पश्चिम दिशा भी है जहाँ भ्रमर गुफा का घाट है और जहाँ निर्झर झरता है।[1] नाथपंथियों ने अष्ट सिद्धियों और नौ निधियों को पिंडवर्णन करते समय शरीर में ही स्थित बतलाया है किंतु कबीर की रचनाओं में यह संकेत मिलता है कि ये सिद्धियाँ रामनाम में निवास करती हैं। ये सभी मुरारी का भजन करने से ही उपलब्ध हो जाती हैं।[2]

नानक के पदों और साखियों में भी केवल कुछ संकेत मिलते हैं। इन रचनाओं में उन्होंने कहा है कि गुरु अड़सठ तीर्थों का निधान है।

---

[1] क० ग्रं०—पृ० ९४ पद १८, १७४-१७५. २५५, ४४.१०, ६८.६, ८८.४, ११०.७, १३८.१५४, १५४-१९६, १८३. २८०, १८७. २९३, १५९.२१०, १६.४५।

[2] क० ग्रं०, पृ० १२७, पद १२३।

ये तीर्थ शरीर में ही हैं, ऐसा संकेत उनकी इन रचनाओं में उपलब्ध करना कठिन है। वे गुरु को ही अनुपम तीर्थ कहते हैं और उसका पूरा विवरण भी देते हैं। वे 'रतन पदार्थ' परमोपास्य को भी घट में मानते हैं। शरीर के भीतर ही इसका ज्ञान, अन्य सभी ज्ञानों को छोड़कर करना चाहिए। इस शरीर में ही अमृत है।[१] नानक ने 'प्राणसंगली' में पिंड का किंचित् विस्तार से वर्णन किया है। उनके अनुसार पाँच तत्व, सप्त द्वीप, सप्त समुद्र, सप्त पर्वत, नौ खंड, चौदह भुवन, अठारह भार की स्थिति इस पिंड में है। इसके अनुसार क्रमशः अवगत से आकाश, आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से जल की सृष्टि हुई। प्रलयप्रक्रिया की दृष्टि से क्रमशः पृथिवी का जल में, जल का तेज में, तेज का वायु में, वायु का आकाश में प्रलय होता है। 'प्राणसंगली' के टिप्पणीकार के अनुसार जब सहस्रदल-कमल में सुरति पहुँचती है तो पहले नीलम रंग का जो महातेजोमय गोलाकार सा प्रकाशित मंडल दृष्टिगत होता है, वास्तव में, आकाश उसी का नाम है और यह स्थूल आकाश उसी से प्रकट हुआ है। महा आकाश या अवगत उसी का नाम है। (टिप्पणीकार की इस व्याख्या के अनुसार नानक ने दो आकाश माने हैं—आकाश, महा आकाश। सर्वोच्च आकाश महा आकाश है जिसे अवगत कहते हैं तथा जिससे स्थूल आकाश की उत्पत्ति हुई है।) नानक ने बड़े विस्तार से पंचतत्वों के स्थान, द्वार, वर्ण, तत्व, देवता आदि का वर्णन किया है। इसे पिंड-ब्रह्माण्ड-विचार कहा गया है। इस ग्रंथ के अनुसार अधः और ऊर्ध्व दोनों का स्तम्भ पवन है। गगन-शिखर में शिव का स्थान माना गया है। कहा गया है कि यदि साधक भ्रमरगुहा में निवास करे तो गुरुप्रसाद से उसे जीवन्मृत्यु की प्राप्ति होती है। सप्तवार, चतुर्दश तिथियों की शोध, ज्ञान महारस से मन का प्रबोधन, दिन रात की लगी लगन, निर्मल सरोवर में निर्भ्रांत स्नान आदि की क्रियाओं में शरीर को छोड़कर बाहर नहीं जाना चाहिए, तभी साधक गुरु के शब्दों में समाहित हो सकता है। दस पवनों का साधन तथा द्वादशकलासंपन्न सूर्य का विपरीतकरण कर चंद्रस्थान भवन में स्थापन पिंडसाधन की ओर संकेत करते हैं। षट्चक्रों के छ स्थान हैं। उनके ऊपर ही ध्यान करने को कहा गया है। इन चक्रों के ऊपर एक नागिन का निवास माना गया है। टिप्पणीकार के अनुसार यहाँ नागिन से ग्रंथकार का तात्पर्य षट्चक्र की स्वामिनी माया (आद्या) से है। कुंडलिनी का स्थान नाभि में है। इसके अनुसार षटचक्रों

---

[१] संतकाव्य, पृ० २३९, पद ३; पृ० २४२ पद ७; पृ० २४७ पद १५।

के स्थान गुफा, लिंग, नाभि, हृदय, कंठ तथा भ्रूमध्य हैं जहाँ अगली ओर गड्ढा है, उसके ठीक पीछे चक्र का स्थान है। यह 'पिंडीचक्र' है। (यह पिंडीचक्र नाम परंपरा की दृष्टि से नवीन प्रतीत होता है)। इसी प्रकार 'प्राणसंगली' में 'वंकनाड़ि', 'शहरगनाड़ि', 'उहज नाड़ि', 'हहनाड़ि', 'इन्द्रीनाड़ि', 'गुहल नाड़ि', 'बेनी नाड़ि', 'गुहजा नाड़ि', 'आसमान' नाम की नौ नाड़ियों तथा दस द्वारों का वर्णन मिलता है। नानक ने काया के भीतर ही अड़सठ तीर्थों की स्थिति मानी है।[१]

संत दादू ने अपने 'कायावेली ग्रंथ' में बड़े विस्तार से पिंडब्रह्मांडवाद का परिचय दिया है। इस ग्रंथ के आरम्भ में हो कहा गया है—"अथ कायावेली ग्रंथ राग सूहौ अर्थ संयुक्त उपदेश पिंडब्रह्मण्ड सौधन अंग।" इससे स्पष्ट है कि इस रचना का प्रयोजन है—पिंड और ब्रह्माण्ड की शोध। यहाँ 'सौधन' का क्या अर्थ है? इसकी ओर टीकाकार ने कोई संकेत नहीं किया है। 'शुद्ध करना' और 'खोज करना' दो अर्थ हो सकते हैं। प्रथम अर्थ के अनुसार पिंड ब्रह्माण्ड को शुद्ध करना और दूसरे अर्थ के अनुसार 'पिंड में ब्रह्मांड की खोज करना' अर्थ संभव हो सकते हैं। इनमें से दूसरा अर्थ अधिक उचित प्रतीत होता है। इस 'कायावेली' ग्रंथ में कहा गया है कि सच्चा गुरु ही राम से मिला सकता है और वही सब कुछ काया में ही दिखाता है। इस काया में ही सृष्टिकर्ता है, ओंकार है, आकाश, धरती, पवन, जल, शशि और सूर हैं। इसकी टीका में कहा गया है—'जो ब्रह्मंडे सोइ प्यंडे'। उसमें षोडशकला संयुक्त शशिहर को मन कहा गया है। वे कलाएँ हैं—शांति, निवृत्ति, क्षमा, उदारता, निर्मलता आदि। ये वस्तुतः मानसिक वृत्तियाँ हैं। शशिहर किसी नाड़ी की ओर यहाँ संकेत नहीं करता। सूर्य ही पवन है तथा चिंता, तरंग, डिंभ, माया, परिग्रह आदि द्वादश कलाओं से युक्त है।[२] इस शरीर में ही अनाहत तूर्य की ध्वनि होती है। इस शरीर में तीन देवों का निवास है। टीकाकार ने बताया है कि रजस्प्रधान ब्रह्मा का स्थान नाभि में, सत्वप्रधान विष्णु का स्थान हृदय में तथा तमस्प्रधान महादेव का स्थान मस्तकरूपी कैलास में है।[३] इस शरीर में चारवेद, चार 'षांणी' (जरायुज, अंडज, उद्भिज, स्वेदज, क्रमशः

---

[१] प्राणसंगली-संतसंपूरण सिंह, पृ० ३८–४०, ४१–५५, ३–६, १४–१९, ६०।

[२] दादू दयाल की वाणी–पृ० ५४५-५४७, मूल तथा टीका।

[३] वही, पृ० ५४७, मूल तथा टीका।

शरीर में—नाड़ी, नेत्र, रोमावली और अस्थिओं के रूप में), चार वाणियाँ (परा नाभि में, पश्यंती हृदय में, मध्यमा कंठ में, वैखरी मुख में) है। इसमें ही रात और दिन क्रमशः अज्ञान और ज्ञान के रूप में हैं।[१] इस शरीर का दशम द्वार ही कैलास है। इसमें ही चतुर्दश भुवनों की स्थिति है। भक्ति के अंगों का विचार कर टीकाकार ने इसमें पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों तथा चतुष्टय अन्तःकरणों की गणना की है तथा योग के अनुसार जिस प्रकार १४ भुवनों का काया में स्थाननिरूपण किया है वह नाथों की धारणा के अनुकूल है। चौदह में से सात ऊर्ध्वलोकों (भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्य) को क्रमशः शरीर में नाभि, उर, हृदय, वक्षस्थल, कंठ, नासिका और दशमद्वार में अवस्थित माना है।[२] तान्त्रिकों तथा नाथों की परम्परा में प्राप्त विवरणों में, जिसे हम पहले ही यथास्थान उपस्थित कर चुके हैं, इन सात ऊर्ध्वलोकों को क्रमशः मूलाधार से सहस्रा तक के सात चक्रों से संबंधित माना गया है। किन्तु दादू के टीकाकार ने इस प्रकार का संबन्धनिरूपण नहीं किया है। 'कायाबेलि' में ही दादू ने नवखण्डों को भी घटस्थ ही माना है। टीकाकार के अनुसार पृथ्वी के नौ खण्ड इस काया में नौ द्वार हैं। अष्टांग योग का संदर्भ देकर टीकाकार ने इनका संबंध चक्रों से बताया है। इनका विवरण इस प्रकार है—

चक्र	दलों की संख्या	अक्षरों की संख्या	देवता	स्थान
१—आधार	४	४	गणेश	गुदा
२—स्वाधिष्ठान	८	८	ब्रह्मा	लिंग
३—मणिपूर	१०	१०	पवन	नाभि
४—निरंजन	८	८	मन	उदर
५—उद्यद	१२	१२	सूर्य	हृदय
६—विशुद्ध	१६	१६	चन्द्रमा	कंठ
७—बतीसा	३२	३२	विष्णु	तालु
८—आज्ञा	२	२	महादेव	मस्तक
९—ब्रह्मरंध्र	१०००	१०००	'दसौं दिशा'	दसवाँ द्वार।

इसके साथ ही टीकाकार ने इलावृत्त, रम्यक, हिरण्यमय, कुरू, हरिवर्ष, किंपुरुष, भारतवर्ष, केतुमालवर्ष, भद्राश्ववर्ष नाम के जम्बूद्वीप के नौ खण्डों को भी बताया है किंतु टीकाकार ने इनका चक्रों के साथ संबंधनिरूपण नहीं किया

[१] वही, पृ० ५४८-५४९, मूल तथा टीका।

[२] वही, पृ० ५५२, मूल तथा टीका।

है।[१] इसी प्रकार सात द्वीपों, सात सागरों, गंगा-यमुना-सरस्वती नाड़ियों, द्वारावती, काशी, पूजा-पत्र, तीर्थ, नौ निधियों, अष्ट सिद्धियों आदि का भी काया में स्थान-रूप-निरूपण किया गया है।[२] वास्तव में दादू ने इस ग्रंथ में बड़े विस्तार से ब्रह्माण्ड के सब कुछ को पिंड में ही प्रदर्शित किया है। पिंडब्रह्माण्डवाद अन्तस्साधना का मूलाधार है—यह बात इस ग्रंथ को आद्यन्त पढ़ने से सिद्ध हो जाती है क्योंकि इसके अन्तिम अंश में प्रेम, प्रेमास्पद, प्रेमी, आत्मा, परमात्मा आदि सबका आस्पद शरीर ही माना गया है। इस निरूपण में योग की अपेक्षा प्रेम और अध्यात्म का ही आधिक्य दिखाई पड़ता है।[३] टीका के विवरणों को ध्यान से देखने से यह मालूम होता है कि ब्रह्माण्ड और पिण्ड के विभिन्न तत्वों की समशीलता के निरूपण में टीकाकार ने किसी परंपरा का अवलम्बन नहीं किया है। यह निरूपण सर्वथा स्वतन्त्र है। योग के ग्रंथों में नौ अथवा दस नाड़ियों का सम्बन्ध सरिताओं से ही बताया गया है किन्तु टीकाकार ने नौ निधियों के प्रकरण में दस नाड़ियों में से प्रथम ९ को (अलम्बुषा से कुहू तक) नौ निधियों का समशील माना है किन्तु दसवीं नाड़ी शंखिनी का कोई समशील तत्व टीकाकार को उपलब्ध नहीं हो सका।[४] इसी प्रकार का संबंधनिरूपण टीकाकार ने अन्यत्र भी किया है। इसी कारण से नाथों के तत्संबंधी विवरण से इस विवरण की तुलना करना कठिन है। स्वयं दादू ने यह संकेत नहीं किया कि ब्रह्माण्ड का कौन सा तत्व इस पिंड में किस रूप में अवस्थित है।

किन्तु दरिया साहब (बिहारवाले) ने विस्तार से पिंड और ब्रह्माण्ड के समशील तत्वों का वर्णन किया है। उनके अनुसार इस पिंड-ब्रह्माण्ड में 'जल, थल, सरग, पताला' समाविष्ट हैं। उदाहरण के लिये पैर पाताल, सिर, आकाश, मध्य शरीर भूमध्यसागर, मांस मिट्टी, रक्त जल, नसें बड़ी और छोटी धाराएँ, हृदय गहरी नदी, हड्डी पहाड़, बाल वन-उपवन, वाटिका हैं। इसी प्रकार शरीर के 'सात गिरह' और 'नौ टक' ब्रह्माण्ड के सात द्वीप और नौ खण्ड के समान हैं। शरीर के दोनों श्वास चन्द्र और सूर्य, जाग्रत अवस्था दिन और सुप्तावस्था रात्रि, प्रसन्न अवस्था प्रातःकाल, दुःखमय अवस्था संध्या-

---

[१] वही, पृ० ५५३-५५४, मूल तथा टीका।

[२] वही, पृ० ५५४-५५६, मूल तथा टीका।

[३] वही, पृ० ५६१-५७६, मूल तथा टीका।

[४] वही, पृ० ५६०, मूल तथा टीका।

काल, आनन्द स्वर्ग और दुःख नरक है। दरिया ने श्वास की अनवरत क्रिया को दिन, पक्ष, मास, वर्ष, युग का बीतना बताया है।[1] इस वर्णन में बाल, सिर, पैर आदि के समशील तत्वों की ओर संकेत नाथपंथिओं और तांत्रिकों के वर्णन के अनुकूल हैं किंतु दुखमय अवस्था अथवा सुखमय अवस्था आदि के अनेक संकेत भिन्न भी हैं। पिंड-ब्रह्मांड की समशीलता का चक्रनिरूपण से अत्यधिक घनिष्ठ संबंध है। चक्रों की ब्रह्माण्ड के विभिन्न लोकों से समुतुल्यता बताई जाती है। चक्रों का विस्तृत विवरण हम आगे विशेष प्रकरण में करेंगे। डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने दरिया साहब के इस प्रकरण का विचार करते समय साधु प्रभुदास के 'ब्रह्मप्रकाश' से विशेष सहायता ली है। डा० ब्रह्मचारी का कहना है कि 'अन्तिम चक्र अर्थात् आज्ञाचक्र अति महत्वपूर्ण है क्योंकि यही शरीर के दो प्रधान भागों—पिण्ड और ब्रह्माण्ड—का संगमस्थल है। पिंड—अर्थात् निम्न प्रदेश में नौ द्वार हैं। यथा—दो आँखें, दो कान, दो नासिकाएँ, मुँह, गुदामार्ग और जननेन्द्रिय। दसवाँ द्वार ब्रह्माण्ड में खुलता है, जिसकी कुंजी इसी आज्ञाचक्र में निहित है। उनके अनुसार 'ब्रह्मप्रकाश' में शरीर के विभिन्न भाग बताये गये हैं। उनके विवरणों को समन्वित कर इस प्रकार उपस्थित किया जा सकता है—

१—स्वर्गलोक—भ्रूमध्य से गर्दन तक—(आज्ञाचक्र से गर्दन तक) सत्वगुण का स्थान,

२—मर्त्यलोक—गर्दन से नाभि तक—रजोगुण का स्थान,

३—पाताललोक—नाभि से नीचे—तमोगुण का स्थान।[2]

यह विवरण यद्यपि दादू के 'कायाबेलि' ग्रंथ के टीकाकार के विवरण से भिन्न है तथापि नाथों के विवरण से कुछ समानता है। अन्य संत कवियों की रचनाओं में भी इसी प्रकार विभिन्न लोकों अथवा ब्रह्माण्डगत विभिन्न तत्वों की स्थिति केवल सांकेतिक रूप में ही बताई गई है। विस्तृत वर्णन उपलब्ध नहीं। नानक, दादू, दरिया आदि की रचनाओं में जो विवरण मिलता है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि ये सभी यह मानते हैं कि ब्रह्माण्ड और पिंड में समशीलता है और इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने के कारण उनका अन्तस्साधनावाद भी नाथसिद्धों के समान ही पुष्ट हो जाता है तथापि यह

---

[1] संत कवि दरिया : एक अनुशीलन, डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी, पृ० ८३–८४।

[2] वही, पृ० १००-१०१ तथा पादटिप्पणी।

निश्चित है कि पिंड-ब्रह्माण्ड के समशील तत्वों के विवरण में भिन्नता मिलती है।

७—योगसाधन का स्वरूप

संतों के योग के इस प्रकरण में अभी तक जो कुछ भी प्रस्तुत किया गया है उसमें यथाशक्य संतों के गुरुशिष्यवाद, अधिकारभेदवाद, लक्ष्यनिरूपण तथा पिंडब्रह्माण्डवाद एवं तत्संबंधित अन्तस्साधना का विचार किया गया है। आगे हम यह विचार करेंगे कि पिंड में ही ब्रह्माण्ड की अथवा परमपद की उपलब्धि तथा मानसशुद्धि के कौन-कौन से साधन संतों ने स्वीकार किये हैं। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि गोरखनाथ ने योगयुक्त ज्ञान को साधन के रूप में स्वीकार किया है। भक्ति के प्रकरण में हम यह भी कह चुके हैं कि संतों का चरम साधन भक्ति है। इस प्रकार यहाँ यह भी विचार्य है कि योग, ज्ञान और भक्ति को संतों की रचनाओं में कौन-सा स्थान प्राप्त है। इसके बाद हम संतों के योग के स्वरूप का विचार करते हुए यथाप्रसंग नाथों के योग अथवा योगांगों के साथ उसकी तुलना भी करेंगे। कबीरादि की रचनाओं में कहीं-कहीं योगसाधन के खण्डन और अनावश्यकता के विचार भी मिलते हैं। उनके संपूर्ण साधन में योग का कोई न कोई रूप अवश्य स्वीकृत है, उसमें सन्देह नहीं। अतः यह भी देखना चाहिए कि संत योग के किस रूप को स्वीकार कर उसके किस रूप का निषेध करते हैं। नाथों के योग में हम यह बतला चुके हैं कि वे हठयोग को राजयोग के लिये सहायक के रूप में स्वीकार करते हैं। हिन्दी रचनाओं में प्राण, मन और शुक्र के परस्पर नियंत्रित हो जाने की बात कही गई है। अधिक जोर मन और प्राण के नियंत्रण पर दिया गया है और बिना शुक्रसंयम के मन-प्राण संयम को असंभव बताया गया है। मन से पवन नियंत्रित होता है अथवा पवन से मन, इसके संबंध में नाथ-पंथी एकमत नहीं हैं। किन्तु इतना निश्चित है कि राजयोग के सहायक के रूप में हठयोग (यम-नियम-आसन-प्राणायाम) को स्वीकार करने पर यह प्रायः स्वयंसिद्ध है कि साधन में नाथसिद्ध सबसे पहले आधिभौतिक और आधिदैविक (प्राण और शुक्र) तत्वों को साधना चाहते हैं और बाद में चित्तसाधन को महत्व देते हैं। इन बातों पर ध्यान रखने से आगे संतों के योग के स्वरूप का निर्वचन कर उसकी तुलना करने में सुविधा होगी।

पहले नाथों के योग का विवेचन करते समय योग का अर्थ, नाथों के अनुसार ह और ठ अथवा चन्द्र-सूर्य का योग बताया गया है। तांत्रिकों में 'अद्वय' को

भी एक अर्थ के रूप में स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार 'मिलन', समन्वय आदि भी इसके अर्थ कहे जाते हैं। किंतु वास्तविक बात यह है कि प्रत्येक साधन-संप्रदाय अलग-अलग अपना अर्थ स्वीकार करते हैं। साधनपद्धति की दृष्टि से भक्ति के समान ही योग भी एक साधनपद्धति विशेष के अर्थ में स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार योग के सामान्य अर्थ दो हैं—साधनपद्धति विशेष और दूसरा साधक की अवस्था विशेष। कबीर साहित्य में इन दोनों अर्थों में प्रयोग मिलते हैं। कुछ भिन्न अर्थों में भी प्रयोग मिलते हैं, जिनकी ओर यथास्थान संकेत किया गया है। यहाँ हमें विस्तार से केवल साधनपद्धति विशेष के अर्थ में योग का ही विचार करना है तथापि प्रसंगतः हम अन्य अर्थों का भी विचार कर लेते हैं। कबीरदास के भगवान् के दुर्लभ योग (मिलन) की उपलब्धि तब तक असंभव है जब तक रात दिन हरि का ध्यान न किया जाय। शरीर में प्रेम के प्रकाशित होने पर अनंत 'योग' (मिलन) का जागरण संभव है। यह 'जोग' (मिलन) सभी सांसारिक संबंधों का भक्षण करने पर ही संभव है। यह भक्षण राम में सर्वथा रमे रहने पर ही संभव हो सकता है।[१] यहाँ कबीर ने जिस 'जोग' (मिलन) का परिचय दिया है, वह विलक्षण है। वह कबीर की दृष्टि में दुर्लभ, अनन्त और सर्वस्व परित्याग के बाद उपलब्ध जोग है। इससे यह संकेत होता है कि अन्य उपलब्धियाँ सुलभ, सान्त और सांसारिक हैं। उपर्युक्त उद्धरणों में कबीर ने रामनामगायन, रामध्यान आदि की ओर संकेत किया है। यहाँ जिस मिलन की बात कही गई है, वह अद्वयोपलब्धि नहीं है क्योंकि कबीर नाथों के समान ही ऐसे परमतत्व का निर्वचन करते हैं जो द्वैत और अद्वैत दोनों से परे है, संख्याओं से परे है तथा संख्याओं के प्रपंचों से सर्वथा अतीत है। इस विषय में हम पहले ही कह चुके हैं। कबीर जिस साधनपद्धतिविशेषरूप योग की चर्चा करते हैं वह पोथी-पाठ से उच्चश्रेणी का है। संसार में कुछ लोग जिस योगसाधन को अधिक श्रेयस्कर मानते हैं वह एक साथ ही योग और भोग का प्रदाता है (ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे कबीर तांत्रिकों के भुक्तिमुक्तिप्रद योग की ओर इंगित कर रहे हैं), किंतु कबीरदास की युक्ति यह है कि सामान्य 'जुगति' (साधनोपाय) एक समय केवल एक ही प्रदान कर सकता है—योग अथवा भोग। यदि एक साथ दोनों ही प्रदान करने की शक्ति है तो केवल राम नाम के सिद्धियोग में।[२]

---

[१] क० ग्रं०, पृ० ७ छं० २८, पृ० १३ छं० १३; पृ० १६५ पद २२७।
[२] क० ग्रं०, पृ० ३८, अंग १९ छं० १; पृ० ८९ पद ५।

स्पष्ट ही कबीरदास यहाँ तांत्रिकों के मुक्तिभुक्तिप्रदायक योग के समानान्तर रामनामयोग को उपस्थित करते हैं। हम यह पहले ही कह चुके हैं कि कबीरदास तांत्रिकों के एक विशेष साधकवर्ग शाक्तों के कटु आलोचक थे। उनकी दृष्टि में शाक्त केवल भोगवादी ही रह गये थे।

कबीरदास ने जप, तप, योग सबको माया कहा है। जैसे माया बंधन में डालती है, उसी प्रकार ये सब भी साधक को बंधन में डालते हैं। ज्ञान, ध्यान, सिद्धि, योग सभी निरर्थक हैं। ये सभी नाना प्रकार के (सांसारिक) रोग उत्पन्न करनेवाले हैं। योग, यज्ञ, तप, दान आदि निष्प्रयोजन हैं यदि रामनाम का ज्ञान न हो।[१] इसका अर्थ यह है कि ये सभी तभी तक सप्रयोजन और सार्थक हैं जबतक वे रामनाम के ज्ञान अथवा साधन में लगाने में सहायक होते हैं। यदि ये सभी राम से वियुक्त एवं विमुख कर वासना, काम, भोग आदि में न्यस्त कर देनेवाले हैं तो ये सभी त्याज्य एवं निंदनीय हैं। योग के संबंध में भी यही बात, कबीर की दृष्टि से स्वीकार की जा सकती है। कबीरदास ने योग को सदैव गंभीर साधनोपाय के रूप में ही ग्रहण किया था, बाह्य दिखावटी भेषधारण के रूप में नहीं। इसीलिये वे कहते हैं कि मुद्रा पहनने से योगसाधन नहीं होता।[२] उनकी दृष्टि में यह अंतस् के शोधन का एक गंभीर साधन है। कबीर का स्पष्ट मत है कि मन ने जब से 'राम' कहना आरम्भ कर दिया, उसके बाद कुछ भी कहने-करने के लिये नहीं रह गया। उसके बाद इनकी कोई सार्थकता नहीं। यदि रामनाम में मन लीन हो जाय तो शेष साधन निरर्थक हो जाते हैं। मन 'रामनाम' में लीन हो, केवल इसीलिये इन्हें स्वीकार करना चाहिए। योगादि रामनामोपलब्धि में सहायक होते हैं।[3] वे सिद्धिसाधन को भी निरर्थक मानते हैं। रसेश्वरवादी रस का प्रयोग कर सिद्धकाया की प्राप्ति करते हैं किन्तु कबीर की (रामनाम जपनेवाली) रसना में ही वह रस है जो सिद्धि (कायसिद्धि-परिपक्व काया की सिद्धि) की उपलब्धि करा सकती है। ज्ञान, ध्यान, सिद्धियोग (रसेश्वरादि योग) तो जागतिक व्यवहारवत् हैं। ये मन को आशापाश से मुक्त करनेवाले नहीं। अतः इस रूप में ये त्याज्य ही हैं। रामनाम के बिना सिद्धि किसी को नहीं मिलती।[४] इससे स्पष्ट है कि

---

[१] क० ग्रं०, पृ० ११५, पद ८४, पृ० १३० पद १३०; पृ० १७८ पद २६५।

[२] वही, पृ० १६२ पद २१७।

[3] वही, पृ० १७८ पद २६५।

[४] वही, पृ० १३०, पद १३०, १३२।

कबीर रसेश्वर मत के रस (पारद और अभ्रक) के प्रयोग से प्राप्त सिद्धि को स्थायी और नित्य नहीं मानते। उनकी दृष्टि में सार्थक और नित्य फल प्रदान करनेवाला योग रामनामसिद्धियोग है। योग के विषय में कबीर के जो स्फुट विचार मिलते हैं उनमें 'जोग-जुगति' और 'जोग-जुग तारी' शब्द महत्वपूर्ण हैं। 'जोग-जुगति' शब्द का विचार करने में 'जुगति' शब्द सहायक हो सकता है जिसका अर्थ उपाय है। कबीर के एक पद के जिस अंश में 'जोग-जुगति' शब्द प्रयुक्त है वह गुरु ग्रंथ साहब में उपलब्ध नहीं। कबीर ग्रंथावली में यह पद मुद्रित है। इससे यह स्पष्ट होता है कि 'जोग-जुगति' का सामान्य अर्थ है—'योगसाधन की युक्ति'। पहले हमने एक स्थान पर 'जुगति' का अर्थ 'युक्ति' अथवा उपाय ही किया है। कबीर ने प्रेम अथवा भक्ति के लिये कहीं भी 'जुगति' शब्द का व्यवहार नहीं किया है। उपर्युक्त प्रसंग में 'जोग-जुगति' का प्रयोग शरीर के निकृष्ट तत्वों को दूर करने के लिये संकेतित है। उसी प्रसंग में ज्ञान की सहायता से भ्रमविध्वंस, माया से निर्बंधता, द्विविधा की हानि, मोहनाश, तृष्णा और कुबुद्धि का नाश बताया गया है। इन सबके बाद ही प्रेमजल की वर्षा की चर्चा की गई है।[1] स्पष्ट ही कबीर योग-युक्ति का प्रयोग कायाशोधन के लिये करते हैं। इस योग-युक्ति और ज्ञान की उपलब्धि के उपरान्त ही प्रेमा-भक्ति का उदय संभव बताया है। योग के इस उपयोग का प्रमाण कबीर के अन्य पदों में भी मिलता है। हरि से मिलन प्राप्त करने के लिये कबीर जिस साधनपद्धति का वर्णन करते हैं उसमें वे विषय-विकारों का त्याग आवश्यक मानते हैं। यह तभी संभव है जब साधक 'जोग-जुगति' को जानता हो तथा गुरु के शब्दों को मानता हो। लोग अपनी गंदी काया को देखकर प्रसन्न होते हैं, संसार को देखकर भूल जाते हैं। कबीरदास बार-बार हरिभक्ति का उपदेश देते हैं और इस प्रकार यह मान्यता देते हैं कि विषय-विकारों के त्याग के लिये (गंदे शरीर को शुद्ध करने के लिये) गुरु के शब्दों को मानना चाहिए तथा योग-युक्ति का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए जिससे हरिभक्ति की प्राप्ति होती है तथा बार-बार दुःख नहीं उठाना पड़ता।[2]

ध्यान अथवा समाधि की जो प्राप्ति कबीर को योग से होती है, उसे वे 'जोग-जुग-तारी' कहते हैं। गुरु की सहायता से ज्ञान का प्रकाश होता है,

---

[1] क० ग्रं०, पृ० ९३ पद १६ तथा पाठभेद के लिये द्रष्टव्य—संत कबीर—डा० वर्मा, पृ० ४६, राग गउड़ी पद ४३ तथा उसकी टीका; संत काव्य, पृ० १७८-१७९, पद ३१।

[2] क० ग्रं०, पृ० ९७, पद २९।

ब्रह्माग्नि का प्रज्वलन होता है, शशि और सूर्य (नाड़ियाँ, द्वैत अथवा काल-सूचक) दूर से दूर होते जाते हैं और अन्त में 'जोग-जुग-तारी' लगती है। इस योग की क्रियाओं में पवन का उलटना, षट्चक्रवेध, नादानुसंधान, मन का शून्य में प्रवेश आदि हैं। इस प्रकार त्रिकुटी में स्वामी से मिलन प्राप्त होता है।[१] कबीरदास सहज-शून्य में जिस रस का आस्वादन करते हैं, उसका आस्वादन शिव, सनकादिक ने किया था। इस आस्वादन के लिये 'जोग-जुग-तारी' में लीन होने के लिये वे शशि-सूर्य (नाड़ीसाधन—प्राणायाम), दसों द्वारों का मुद्रण, पंचेन्द्रियों का अनुकूलीकरण, कुंडलिनीजागरण आदि की ओर कबीर ने संकेत किया है।[२] इससे स्पष्ट है कि कबीरदास जिस योग युक्ति को भक्ति के सहायक के रूप में स्वीकार करते हैं, उनमें उपर्युक्त क्रियाओं अथवा योगांगों का समावेश है किंतु यह ध्यान रखना आवश्यक है कि इन सबका प्रयोजन विषय विकारों के दूरीकरण, कायाशोधन और अन्ततः चित्तशोधन है। कबीर, जैसा पहले इस प्रकरण में कई बार कहा जा चुका है, भक्ति के लिये चित्त की शुद्धि को आवश्यक मानते हैं और इसी के लिये वे योग की आवश्यकता मानते हैं। केवल कायशुद्धि को वे निरर्थक मानते हैं। इस प्रकार प्रकारान्तर से कबीरदास भी यह मानते हैं कि चन्द्र-सूर्य-साधन या प्राणायाम या हठयोग का लक्ष्य चित्तसाधन है। उन्होंने दो एक स्थानों पर यह भी संकेत किया है कि मानसशुद्धि और भक्ति के उदय से शरीर स्वतः शुद्ध हो जाता है। भक्ति के ही उदय से अजरामरता और परिपक्व काया की उपलब्धि हो जाती है। कबीर के उपर्युक्त विचारों से संबंधित जो विचार आधुनिक विवेचकों द्वारा उपस्थित किये गये हैं उनसे भी उपर्युक्त निष्कर्षों की पुष्टि होती है। बीजक के प्रसिद्ध टीकाकार विचारदास ने बताया है कि अंतःकरण के दोषों की निवृत्ति स्वरूपज्ञान से होती है। 'इसी प्रकार सहज-योग और भक्तियोग (ईश्वर प्रणिधान) का भी सत्वशुद्धि में उपयोग होता है। कबीरदास ने केवल हठयोग का खंडन किया है जो कामनामूलक होने के कारण अनर्थकारक है।' डा० श्यामसुन्दरदास का मत है—'योग की क्रियाओं के विषय में भी उनकी जानकारी थी। इंगला, पिंगला, सुषुम्ना, षट्चक्र आदि का उल्लेख किया है, परंतु वे योगी नहीं थे। उन्होंने योग को भी माया में संमिलित किया है।'[3]

---

[१] क० ग्रं०, पृ० ९०, पद ७। [२] क० ग्रं०, पृ० १११ पद ७४।

[3] बीजक (सटीक)—विचारदास शास्त्री, भूमिका, पृ० ३३; कबीर ग्रंथावली, भूमिका—डा० श्यामसुन्दरदास, पृ० ५३-५४।

प्रायः इसी प्रकार के विचार पलटू ने भी व्यक्त किये हैं। उनकी दृष्टि में भक्ति के अतिरिक्त और सब कुछ झूठा है। हठयोग का साधन करनेवाले को उन्होंने अनाड़ी कहा है। काया को जलाना अथवा कष्ट देना, प्राणायाम करना, मुद्रासाधन, धौती-नेती आदि षटक्र्मों का साधन, चौरासी आसनों को साधना, कुश के आसन बिछाकर तप करना आदि सभी प्रपंच हैं। इन सबका साधन करनेवाले को अंत में पछताना ही पड़ता है। नाथ और सिद्ध भी भक्ति का मार्ग छोड़कर बीच में ही अपना रास्ता भूल जाते हैं। वे झूठी समाधि लगाते हैं और उनका मन अन्यत्र अटका रहता है। परमात्मतत्व की उपलब्धि के पूर्व बीच मार्ग में ही ये सभी अटक जाते हैं। ये लोग जिस योग का साधन करते हैं वह तो सरल है किंतु उस वास्तविक योग का साधन करना अति कठिन है जिसमें चित्त को उलट कर परमात्मतत्व में लगाया जाता है, विषयवासनात्याग, प्राणायाम, कुंडलीजागरण, षट्चक्रभेद, नाड़ीशोधन, संयम आदि का साधन करना पड़ता है। इन सबका मुख्य लक्ष्य है मन का विपरीतकरण तथा विषय-वासना-त्याग और (परमात्म)रूप से भोग। पलटू का स्पष्ट मत है कि वे केवल भक्ति चाहते हैं, मुक्ति, सिद्धि आदि किसी की भी उन्हें आकांक्षा नहीं।[१] पलटू के इन विचारों से दो-तीन निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। प्रथम, संत की सर्व्वोच्च आकांक्षा भक्ति की है। दूसरे, षट्कर्म आदि काया को कष्ट देनेवाले योगांग निषिद्ध हैं। तीसरे, सिद्धि, मुक्ति, ऋद्धि आदि प्रदान करनेवाले योग के साधन भक्ति के उपकारक हों, तभी ग्राह्य हैं। यदि वे परमात्मा को भुला कर केवल बीच में ही अटकानेवाले हैं तथा विषय-वासना-त्याग एवं मन के विपरीतकरण के साधक नहीं हैं, तो सर्वथा त्याज्य हैं। स्पष्ट है कि कायसिद्धिप्रधान, कृच्छ्राचार-प्रधान योग पलटू को स्वीकार्य नहीं। पलटू के इस योग में उसके कौन-कौन से अंग ग्राह्य हैं तथा उनका स्वरूप क्या है, इसका परिचय ऊपर के विवरण से मिल जायगा। षट्कर्म और आसन का विरोध स्पष्ट रूप में मिलता है। प्राणायाम का निषेध नहीं मिलता। हठयोग के विवेचन में हम यह पहले ही बतला चुके हैं कि षट्कर्म और प्राणायाम दोनों ही कायशुद्धि के साधन हैं। नाथों की हिन्दी रचनाओं में षट्कर्म का मंडन नहीं, प्राणायाम का विवेचन और मंडन पर्याप्त मात्रा में मिलता है।

---

[१] संतकाव्य—पं० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ५२१-५२२, पद ३, ४, ५; पृ० ५२६ पद १३।

८—योग, ज्ञान और भक्ति

यहाँ योग, ज्ञान और भक्ति के संबंध का भी थोड़ा विचार कर लिया जाना चाहिए। ऊपर के उद्धरणों में भी इस ओर कुछ संकेत किये गये हैं। नाथों को योगयुक्त ज्ञान स्वीकार है। यद्यपि वे योगलभ्य ज्ञान को ही स्वीकार करते हैं तथापि ज्ञान के कई रूप और उसकी स्थितियाँ उन्होंने मानी हैं, जिसका परिचय दिया जा चुका है। सबसे पहले गुरु संसार की अनित्यता, पिंड के रहस्यों आदि का ज्ञान कराता है। योगसाधनोपरान्त जो परमज्ञान अथवा नाथपद का ज्ञान एवं उपलब्धि होती है, वही योगलभ्य ज्ञान है। उसी प्रकार कबीर की रचनाओं में ज्ञान के विभिन्न रूप एवं स्थितियाँ हैं किन्तु यहाँ ज्ञान की चरम स्थिति स्वीकार नहीं की गई है। योग और ज्ञान दोनों ही भक्ति की उत्पत्ति में सहायक होते हैं। योग किस प्रकार सहायक है, इसका परिचय ऊपर दिया गया है, ज्ञान की स्थिति एवम् स्वरूप का परिचय यहाँ दिया जा रहा है। ज्ञान और योग में से किसी की प्राथमिकता का निश्चय कठिन है क्योंकि ज्ञान के विभिन्न रूप साधन की विभिन्न अवस्थाओं में सहायक होते हैं। किन्तु यह निश्चित है कि अनेकता में एकता का ज्ञान, अनित्य तत्वों में नित्य एक परमतत्व का भेद और ज्ञान ही परम ज्ञान है। यह परम ज्ञान ही भक्ति का उदय करनेवाला और पोषक है। कबीर ने कहा है कि यदि अपने पास जीर्ण-शीर्ण कपड़ा (काया) है तो वह कभी भी सुरंग में रंजित (प्रेम से रंजित) नहीं हो सकता। उसे विनष्ट होने से बचाने के लिये ज्ञान की आवश्यकता है जिसकी सहायता से कनक और कामिनी दोनों का परित्याग किया जा सके। इस ज्ञान की उपलब्धि में ही भ्रमनाश, माया से निर्बंधता, द्विविधा का अपसारण, मोहनाश, तृष्णासंहार, कुबुद्धिविनाश संभव होते हैं। यह सब होने पर 'योगयुक्ति' का प्रयोग होता है जिससे काया के अशुद्ध तत्व दूर होते हैं। तत्पश्चात् भक्ति का उदय होता है। इस योगसाधन में भी ज्ञान सहायक और विनियुक्त होता है। भक्तिरस के निर्माण में ज्ञान गुड़, ध्यान (योगगत ध्यान) महुआ, संसार भाठी का भाड़ आदि का विनियोग कबीरदास करते हैं। उनके अनुसार बिना हरि (अथवा हरिभक्ति) के सब कुछ भ्रमग्रस्त है। योगी अपनी योगसिद्धि को ही सर्वोत्तम कहता है। किन्तु योगी, जैसे अन्य भी, जहाँ से अपना साधन आरम्भ करते हैं, वहीं नष्ट हो जाते हैं क्योंकि इन्हें हरिपद ही विस्मृत हो जाता है। यदि व्यक्ति ज्ञान प्राप्त कर ले तो उसे सर्वत्र हरि ही हरि दिखाई पड़ें तथा उसी ज्ञान की सहायता से व्यक्ति चंचल माया का भी ज्ञान प्राप्त कर ले। ज्ञान से भ्रमनाश होता है। जब तक मनुष्य भ्रम

में रहता है, बार-बार माया में पड़ता है। गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान से ही व्यक्ति का उद्धार हो सकता है। भक्ति अथवा प्रेम की चोट लगने पर (भक्ति के पूर्ण परिपक्व हो जाने पर) इस ज्ञान की भी सत्ता नहीं रहती। तन और मन दोनों ही उस प्रेम की चोट से व्याकुल हो जाते हैं और ज्ञान विस्मृत हो जाता है।[१] स्पष्ट है कि कबीर ने ज्ञान को वह स्थान नहीं दिया जो नाथों ने दिया था यद्यपि उसके कुछ रूपों में समानता अवश्य है। ऊपर के विवरण के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि कबीर की साधना में योग और ज्ञान का स्थान नारद पंचरात्र के योग और ज्ञान संबंधी विचार के समान है जिसमें तंत्र-मंत्र, योगज्ञान और हरिभक्तिप्रद ज्ञान को भक्ति का उपकारक माना गया है।

९—अध्यात्मवाद

नाथों की रचनाओं में विशेषकर गोरखनाथ की रचनाओं में अध्यात्मबोध का वर्णन मिलता है। आत्मिक साधन का विस्तृत वर्णन संतों में उपलब्ध है किन्तु अध्यात्मयोग अथवा अध्यात्मवाद शब्द का कहीं भी प्रयोग कबीर साहित्य में नहीं मिलता। यदि मानस साधन अथवा चैतसिक साधन को आध्यात्मिक साधन माना जाय, जैसी व्याख्या पहले दी जा चुकी है तो संतों की साधना में भावसाधना की प्रधानता होने के कारण उसमें आध्यात्मिक साधना को पुष्कल महत्व मिलता दिखाई पड़ता है। इसके साथ ही आधिभौतिक (प्राण) साधन और आधिदैविक (शुक्र) साधन भी संतों में स्वीकृत हैं। इन सबकी विवृति आगे प्रसंगानुसार की गई है। कबीरदास तथा अन्य संतों ने औपनिषदिक साधन अथवा वेदविद्या को ग्रहण किया था, इसके संबंध में विद्वानों ने पहले ही पुष्कल विचार कर लिया है।[२] व्यक्ति की चेतन सत्ता आत्मा है। वह सर्वशक्तिमान और सच्चिदानंदमय है। यह बात कबीर मानते हैं। वे आत्मा को आनंदी योगी मानते हैं।[३] इसी प्रकार विभिन्न स्थलों में उन्होंने आत्मा को परमात्मा का चैतन्य प्रेमी जैसा भी बताया है। आगे एक अलग प्रसंग में आत्मा का विचार किया गया है। जो साधक पिंडब्रह्मांडवाद, षट्चक्र-साधन, कुंडलिनीसाधन, आत्मसाधन को स्वीकार करते हैं उनकी स्वभावतः

---

[१] क० ग्रं०, पृ० ६० अंग ३७ साखी ४, पृ० ९३ पद १६; पृ० ११० पद ७२; पृ० १३०–१३१ पद १३३; पृ० १३६ पद १४९; पृ० ३ साखी २०; पृ० १९१ पद ३०३।

[२] कबीर साहित्य का अध्ययन—पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव, पृ० २३३–२३५।

[३] कबीर ग्रंथावली, पृ० १५८ पद २०४।

यह मान्यता होगी कि जाग्रत कुंडलिनी के साथ आत्मशक्ति भी उत्थित होकर परमशिव से मिलने के लिये आरोहण करती है। इसका विचार हम नाथों के अध्यात्मयोग के प्रसंग में कर चुके हैं। उसी प्रकार प्राणायाम को साधनांग के रूप में स्वीकार करनेवाले संतों में व्यक्तिप्राण विश्वप्राण का ही एक रूप माना जा सकता है। नाथों और संतों के अध्यात्मसाधन में कुछ अंतर है। नाथलोग प्राणों के आधिभौतिक साधन से ही चित्त के उत्प्रेरण का सिद्धांत मानते हैं और उसी से शरीर का नियंत्रण भी उन्हें स्वीकार्य है किन्तु संतों के मतानुसार, जैसा पहले कहा जा चुका है, मानस में भक्तिभाव के उदय से ही शरीर स्वयम् सिद्ध, शुद्ध और अजर-अमर हो जाता है। संतों की दृष्टि में शरीरशोधन नहीं, मानसशोधन आवश्यक है। संतों का अध्यात्मसाधन मुख्यतः भावसाधन अथवा मानससाधन है जबकि नाथों में कायसिद्धि के बिना साधना पूरी नहीं होती। इसके अतिरिक्त संतों को जीवात्मा और परमात्मा अथवा व्यक्तिशक्ति और सर्वव्यापक ब्रह्माण्डशक्ति परमात्मा का ऐक्य, संवाद, मिलन भी स्वीकार है जिसका विवेचन आगे उचित प्रसंग में किया गया है। यदि अध्यात्मसाधन के अन्तर्गत कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग और योग को स्वीकार किया जाय तब भी इसकी सिद्धि संतों में दिखाई जा सकती है। इन शब्दों में 'योग' के जिन दो अर्थों (उपाय, मिलन) की ओर हम पहले संकेत कर चुके हैं, वे दोनों ही अर्थ संतों में गृहीत हैं, इसका परिचय अभी इस प्रकरण के पूर्व दिया गया है। संतों ने भक्तियोग को स्वीकार किया है और उसमें भी 'योग' एक विशेष उपाय के रूप में अंगभूत है। ज्ञान का भी समायोग है जिसकी ओर संकेत किया जा चुका है। इस प्रकार संतों का अध्यात्मसाधन व्यक्ति की आत्मिक भावशक्ति का शोधन, जागरण और उसका परमात्मतत्व में उत्प्रेरण तथा लय है। आगे के कुछ प्रसंगों में इन विचारों की विवृति मिलेगी। कबीरदास अखंड राम को आत्मलीन मानते हैं। वे स्वयं अपने को हरि में ही समाहित मानते हैं। उनका प्रेमभगति का विचार ब्रह्मविचार है, आत्मसाधन का सार है। कबीर ने जिस प्रेम के हिंडोले में 'आत्माराम' को झुलाया है, उसके साधन में उन्होंने चन्द्रसूर्यसाधन, अमृतपान, षट्चक्रसाधन, कुंडलिनीसाधन आदि का भी विनियोग कर लिया है।[१] षट्चक्रभेद अथवा कुंडलिनीयोग को लययोग क्यों कहा जाता है, इसका विस्तृत विवेचन हम तांत्रिक योग के प्रकरण में कर चुके हैं। यह लययोग ही पिण्डशक्ति और ब्रह्माण्डशक्ति की परस्पर क्रीड़ा, संवाद, लय आदि की ओर संकेत करता है।

---

[१] क० ग्रं०, पृ० १५८ पद २०३, पृ० ९४ पद १८।

१०—वैष्णव योग और संतयोग

यहाँ संक्षेप में यह भी बतला देना आवश्यक है कि संतों के जिस योग की रूपरेखा उपस्थित की गई है वह प्राचीन वैष्णव साहित्य में वर्णित योग के बहुत कुछ समान है। संतों ने भक्ति के लिये योग को अंगरूप में स्वीकार किया है। विष्णु संहिता ने ऐसे साधन को भागवतयोग कहा था। जयाख्य संहिता ने भक्त को योगी कहकर योग के जिन साधनों की ओर (जैसे, प्राणायाम, प्रत्याहार, इन्द्रियनियमन, ध्यान, धारणा आदि) संकेत किया है, उनमें से प्रायः सभी किसी न किसी रूप में संतों के साधन में मिलते हैं। ऊपर उनकी ओर संकेत किया गया है और आगे स्वरूपनिरूपण में इनकी विवृति मिलेगी। जयाख्य संहिता की तरह ही संतों ने भी ब्रह्मरंध्रपथ के उद्घाटन की बात कही है। परम संहिता के समान ही संत लोग भी योगकी कष्टकर क्रियाओं का निषेध करते हैं। अहिर्बुध्न्य संहिता ने योग के दो भेद माने हैं—ध्यान की सहायता से किया हुआ हृद्योग और योग। हृद्योग ही भक्ति है और इसी पर अहिर्बुध्न्य संहिता का विशेष आग्रह है। संतों ने ध्यान के लिये योग की क्रियाओं का समन्वय कर लिया है। अहिर्बुध्न्य ने योग के अन्तर्गत जिन साधनाओं—नादानुसंधान, षट्चक्रभेद, नाड़ीशोधन, प्राणायाम, आसन, यमनियम आदि का वर्णन किया है वे सभी संतों को स्वीकार हैं। यद्यपि यम-नियम का शीर्षक देकर कबीरादि ने पृथक् वर्णन नहीं किया है तथापि उनके विभिन्न अंगों का वर्णन संत साहित्य में यत्र-तत्र मिल जाता है और सुन्दरदास (छोटे) ने तो योग पर पृथक् रूप से लिखते समय दशांग यम-नियम का भी वर्णन किया है। आगे इसकी विवृति मिलेगी। पद्मपुराण ने—लौकिकी, वैदिकी और आध्यात्मिकी नाम की तीन प्रकार की ब्रह्मभक्तियाँ बतलाई हैं। तीसरी के दो उपभेद हैं—(१) सांख्य भक्ति और (२)योग भक्ति। प्रथम प्रकार की आध्यात्मिकी ब्रह्मभक्ति में २४ तत्वों का ज्ञान, परमतत्व पुरुष से उनका भेदज्ञान, परमपुरुष और जीव का परस्पर संबंधज्ञान ग्राह्य है। यद्यपि कबीर इत्यादि में अनित्य तत्वों से नित्यतत्व परमात्मा के भेदज्ञान का परिचय मिलता है किंतु इसका स्पष्ट विवेचन सुन्दरदास (छोटे) ने सुन्दर ग्रंथावली में 'ज्ञान समुद्र' में किया है। किंतु सुन्दरदास ने भ्रमविध्वंस के लिये २५ तत्वों का वर्णन 'सांख्यनिरूपण' प्रसंग के अन्तर्गत किया है। भक्ति के विकास के प्रकरण में हम यह पहले ही बतला चुके हैं कि भागवत संप्रदाय के ऊपर सांख्य मतवाद का प्रभाव बहुत पहले पड़ चुका था। दूसरे प्रकार

की योगभक्ति के अन्तर्गत पद्मपुराण ने प्राणायाम आदि की गणना की है। ऊपर के संकेतों से स्पष्ट है कि संतों ने प्राणायामसाधन को भी स्वीकार किया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि पद्मपुराण द्वारा विवृत आध्यात्मिकी ब्रह्मभक्ति का पूरा निरूपण संतों में उपलब्ध है। मानस साधन की प्रमुखता तथा अन्तस्साधना के मूलाधार पिंडब्रह्माण्डवाद को संतों ने स्वीकार किया है, इसकी ओर संकेत कर चुके हैं। नारदीय पुराण ने मन के अन्तर्मुखी साधन को योग कहा है। नारद पंचरात्र में विवृत भक्ति में गृहीत योगसाधना से संतों के योग का क्या संबंध है, इसकी ओर ऊपर संकेत किये जा चुके हैं। संतों को किसी सिद्धि की, किंबहुना मुक्ति की भी भगवान् और भक्ति के बिना इच्छा नहीं है। हरिभक्तिप्रदज्ञान और योग संतों को स्वीकार हैं। योगसाधन में नाड़ीशोधन, जिसे प्रकारान्तर से प्राणायाम कहते हैं, नादानु-संधान आदि का पुष्कल वर्णन भी संतों में उपलब्ध है। नारद पंचरात्र में इन विचारों का पुष्कल विवेचन उपलब्ध है। इस तुलना और विवरण को देखने से इस बात की अधिकाधिक संभावना मालूम होती है कि कबीर चाहे 'जोगियों' की जातिगत परम्परा में उत्पन्न, पालित अथवा पोषित हुए हों और इसी प्रकार उन्होंने योग का ज्ञान भी प्राप्त किया हो किंतु उनके काल में, ऐसा कबीर के वचनों से मालूम होता है, नाथों का योग या तो कायसिद्धि-कृच्छ्राचार-भेष-प्रधान हो गया था तथा उसमें व्यक्ति अथवा साधक का मानस पक्ष उपेक्षित रह गया था अथवा उसमें व्यक्ति और समाज अथवा युग की समस्याओं का समाधान देने की शक्ति नहीं रह गई थी। ये दोनों त्रुटियाँ एक साथ भी नाथों के योग में हो सकती थीं। इसी एकांगिता और अनुदारता के कारण कबीर ने भक्ति को स्वीकार किया होगा। परम्परा से प्राप्त योग में उन्हें परिवर्तन की आवश्यकता न दिखाई पड़ी होगी क्योंकि तांत्रिक और सांख्ययोग दोनों का समान प्रभाव वैष्णव भागवत मत और शैव मत एवं साधना पर पड़ा था। केवल भक्ति को स्वीकार करने के कारण, भक्ति के संपर्क में योग और ज्ञान की, सापेक्ष स्थिति में वैष्णवों के योग के अनुकूल परिवर्तन करना पड़ा, जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है। इस प्रकार कबीरादि का योग नाथपरम्परा की रक्षा करता हुआ भी वैष्णव हो गया। (यहाँ वैष्णव शब्द का प्रयोग किसी संप्रदाय विशेष के अर्थ में नहीं है।)

११—नाथयोग और संतसम्मत योगसाधन

नाथों के योग के परिचय में बताया गया है कि वे साधन के तीन तत्वों

को प्रमुख मानते हैं—प्राण, शुक्र और मन। वे इनमें से किसी एक को प्राथमिकता देते दिखाई नहीं पड़ते। वे मानते हैं कि ये तीनों ही परस्पर नियंत्रण योग्य हैं। किंतु साधनक्रम में वे क्रमशः विंदुरक्षा, प्राणसंयम और मानस संयम को स्वीकार करते हैं। यह एक प्रकार का आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक साधनों का समन्वय है। यम-नियम के अंतर्गत ही, प्राणायाम के पूर्व, ब्रह्मचर्य को स्थान देने से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। संत लोग कायासाधन को महत्व नहीं देते। भक्ति में मन को लगा देने पर शरीर का नियंत्रण स्वयं हो जाता है। विशेषकर कृच्छ्राचारप्रधान साधन को वे बिल्कुल स्वीकार नहीं करते। नारी के कामिनी रूप से बचने का वे भी उपदेश करते हैं यद्यपि विंदुरक्षा का स्पष्ट वर्णन उनके साहित्य में उपलब्ध नहीं। योग संबंधी सारी क्रियाओं में उनका ध्यान मानस संयम पर ही रहता है। यह चैतसिक साधन ही शब्दान्तर से राजयोग है क्योंकि भावसाधन के बिना चित्तसंयम संभव नहीं है। प्राणायाम के बाद की प्रत्याहार और धारणा की विवृति यद्यपि संत साहित्य में उपलब्ध नहीं होती किंतु विभिन्न वर्णनों के आधार पर उनका अनुमान किया जा सकता है। यम-नियम-आसन-षट्कर्म का प्रत्यक्ष वर्णन कबीरादि में उपलब्ध नहीं। सुन्दरदास ने अवश्य ही योग-वर्णन करते समय इनका परिचय दिया है। इससे यही प्रकट होता है कि संतों ने चैतसिक साधन को ही महत्वपूर्ण माना है। यदि प्राणायाम को आधिभौतिक साधन स्वीकार किया जाय तो संत लोग इसे भी स्वीकार करते हैं। 'हठ' का अर्थ संतों ने कहीं नहीं दिया किंतु कृच्छ्राचारप्रधान हठयोग का, जैसा विभिन्न विद्वानों ने बताया है, विरोध और निषेध अवश्य किया है। 'सूर्य-चन्द्र-साधन' के अर्थ में संतों ने हठयोग को स्वीकार कर लिया है। इस दृष्टि से उनके विचार उन हिंदी रचनाकार नाथों से मिलते हैं जिन्होंने साधन में शरीर को बल-प्रयोग कर कष्ट देनेवाली क्रियाओं का निषेध किया है। इस प्रकार हठयोग राजयोग का सहायक है, इस बात को संत भी स्वीकार करते हैं। राजयोग अथवा पातंजल योग के अष्टांगों के अंतर्गत जिन क्रियाओं और साधनों का वर्णन नाथों के योग के प्रकरण में किया गया है, संक्षेप में हम यहाँ उन पर विचार करेंगे।

नाथ साहित्य में मन, पवन और विन्दु में से अन्तिम का भी बड़े विस्तार से वर्णन है किन्तु कबीर इत्यादि के साहित्य में विन्दुरक्षा अथवा विंदुसाधन का वर्णन नहीं मिलता। जहाँ भी विन्दु शब्द का प्रयोग है, वहाँ नाद-विन्दु का

एक साथ प्रयोग कर सृष्टि की द्वैतप्रधान प्रकृति की ओर ही संकेत किया गया है। किन्तु इसमें संदेह नहीं कि ब्रह्मचर्य और कामिनी रूप नारी से साधक की रक्षा की बार-बार आवश्यकता बताई गई है। बिन्दु सम्बन्धी जो साधन योग में गृहीत हैं, उनमें से स्पष्टतम वज्रोली, सहजोली आदि मुद्राएँ हैं। इनका कोई भी संकेत संत साहित्य में उपलब्ध नहीं। पवनसाधन प्राणायाम है और मानस साधनों में प्रत्याहार और धारणा हैं। इन्हीं के अन्तर्गत षट्चक्रभेद, लययोग, कुंडलिनीयोग, उन्मनीसाधन आदि हैं। इन दोनों तत्वों के साधनों में से संत साहित्य में प्राणायाम का उतना विस्तृत विवरण नहीं मिलता जितना कि मानस साधन का। केवल प्राणसाधन और मानस साधन को ही संतों ने क्यों महत्व दिया, इसके सम्बन्ध में हम पहले ही कह चुके हैं।

हम नाथों के विवेचन में यह दिखला चुके हैं कि नाथों की हिन्दी रचनाओं में यद्यपि अष्टांग योग का स्पष्ट निरूपण नहीं मिलता तथापि अष्टांग योग के प्रथम दो अंगों—यम और नियम—के तत्वों का परिचय मिल जाता है। शेष छ अंगों के यत्र तत्र संकेत मिल जाते हैं। बिन्दुसाधन और नाड़ियों का वर्णन पातंजल योग में नहीं है किन्तु नाड़ियों का वर्णन नाथों और संतों के साहित्य में उपलब्ध है। नाथ और संत साहित्य में योग के प्रकरण में समानता स्पष्ट है कि यद्यपि दोनों ने यम-नियम का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है तथापि उसके आचारों, संयमों का यत्र-तत्र वर्णन किसी न किसी रूप में मिल जाता है। इस-लिय स्पष्टतया हम यह नहीं कह सकते कि नाथों और संतों के योग अष्टांग योग हैं। इसी प्रकार अष्टांग योग अथवा षडंग योग के विभिन्न अंगों का जिस प्रकार अनुमान नाथ साहित्य में किया गया है, उसी प्रकार संत साहित्य में केवल अनुमान किया जा सकता है क्योंकि इनका स्पष्ट उल्लेख यहाँ भी नहीं किया गया है। प्राणायाम और ध्यान के विभिन्न उल्लेख अवश्य मिलते हैं।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार नाथवाणियों में नैतिक-ब्रह्मचर्य का स्वर-प्रधान है। संत साहित्य को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि उसमें भक्ति का स्वर ही प्रधान है। किन्तु संत साहित्य और मत की सात्विकता, नैतिकता और आचारप्रवणता भी कम महत्वपूर्ण नहीं; क्योंकि इसने आद्यन्त संत मत को भक्तिकालीन अन्य मतों से विलक्षण बनाये रखा। इस विचार को ध्यान में रखकर पं० रामचन्द्र शुक्ल का एक महत्वपूर्ण उद्धरण प्रस्तुत है जिससे संतों की, इस दृष्टि से, भक्तिकालीन स्थिति का स्पष्टीकरण हो जाता है तथा उनकी विलक्षणता की ओर संकेत भी हो जाता है। शुक्ल जी का मत है कि

'कबीर का 'ज्ञानपक्ष' तो रहस्य और गुह्य की भावना से विकृत मिलेगा पर सूफियों से जो प्रेमतत्व उन्होंने लिया वह सूफियों के यहाँ चाहे कामवासनाग्रस्त हुआ हो, पर 'निर्गुण पंथ' में अविकृत रहा। यह निस्संदेह प्रशंसा की बात है। वैष्णवों की कृष्णभक्ति-शाखा ने केवल प्रेमलक्षणा भक्ति ली, फल यह हुआ कि उसने अश्लील विलासिता की प्रवृत्ति जगाई। रामभक्तिशाखा में भक्ति सर्वांगपूर्ण रही, इससे यह विकृत न होने पाई। तुलसी की भक्तिपद्धति में कर्म (धर्म) और ज्ञान का पूरा सामंजस्य और समन्वय रहा। इधर आज-कल अलबत कुछ लोगों ने कृष्णभक्तिशाखा के अनुकरण पर उसमें भी 'माधुर्य भाव', गुह्य, रहस्य घुसाने का उद्योग किया है जिससे 'सखी संप्रदाय' निकल पड़े हैं और राम की भी 'तिरछी चितवन और बाँकी अदा' के गीत गाये जाने लगे हैं।'[1]

१२—यम

यम-नियम के, भारतीय साहित्य में, प्रायः दो प्रकार के वर्णन मिलते हैं। पातंजल योग में पंचांग यम-नियम स्वीकृत हैं, जबकि शारदातिलक जैसे तांत्रिक ग्रंथों तथा हठयोगप्रदीपिका जैसे हठयोगी ग्रंथों में दशांग यम-नियम स्वीकृत हैं। विष्णु संहिता में षडंग योग का वर्णन है किन्तु अहिर्वुध्न्य संहिता में अष्टांग योग का वर्णन मिलता है। अहिर्वुध्न्य ने तो दशांग यम-नियम का भी वर्णन किया है। सुंदरदास ने अष्टांग योग (यम, नियम, आसन, प्राणा-याम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) का निरूपण करते समय दशांग यम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धृति, दया, आर्जव, मिताहार और शौच) तथा दशांग नियम (तप, संतोष, आस्तिकता, दान, पूजा, सिद्धान्त-श्रवण, ह्री, मति, 'जाप' और होम) का विस्तार से वर्णन किया है।[2] सुंदरदास ने यम का निरूपण करते समय स्पष्ट रूप से 'हठप्रदीपिका' ग्रंथ का उल्लेख कर कहा है कि ये दश प्रकार के यम उपर्युक्त ग्रंथ में कहे गये हैं किन्तु नियम का निरूपण करते समय उन्होंने 'हठप्रदीपिका' का उल्लेख नहीं किया है। यम के अन्तर्गत सर्वप्रथम तत्व अहिंसा है। इस तत्व की महत्ता भक्ति की दृष्टि से स्वीकार की गई है। भक्ति और योग दोनों में इसे महत्व प्राप्त है। हठयोगप्रदीपिका में यम के विभिन्न अंगों का विवेचन अथवा व्याख्या नहीं है,

[1] हिं० सा० इ०, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ६७–६८।

[2] सुंदरसार—सं० डा० श्यामसुंदरदास, संग्रहकर्ता—पुरोहित हरिनारायण, पृ० १८–२४।

अतः उससे तुलना नहीं की जा सकती। किन्तु सुंदरदास के मत में मन-वचन-कर्म से दोष न करना और शरीर से घात न करने को अहिंसा कहा गया है।[1] पहले नाथों के यम-नियम के निरूपण में बताया गया है कि पं० रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार अहिंसा धर्म कबीर को भक्तिमत या वैष्णवों से मिला किन्तु विभिन्न आधारों पर इस प्रवन्ध में यह दिखलाने की चेष्टा की गई है कि कबीर को पहले यह धर्म नाथों के योग के यम से ही मिल गया था। नाथों की साधना में, तांत्रिक परम्परा में यह अहिंसा धर्म बहुत पहले से ही स्वीकृत था। यदि कबीर पूर्ववर्णित विभिन्न आधारों पर नाथपंथी वातावरण में पले तो निश्चय ही यह धर्म उन्हें नाथों से मिल गया होगा और बाद में वैष्णव भक्ति को स्वीकार करने पर इसे और भी पुष्ट एवं सबल बनाया होगा क्योंकि इसमें उन्हें परिवर्तन की आवश्यकता न दिखाई पड़ी। कबीर में यह अहिंसा धर्म अथवा यम का अहिंसा तत्व किस रूप में उपलब्ध है, इसका निरूपण हम भक्ति के प्रसंग में ही कर चुके हैं। यह तत्व समान रूप से अन्य संतों में भी सरलता से देखा जा सकता है। संतों ने भक्ति को अपने चरम साधन के रूप में स्वीकार किया था और अहिंसा को भक्ति का प्रमुख अंग माना था अतः यह कहा जा सकता है कि संतों का अहिंसा तत्व भक्ति का उपकारक है, जब कि नाथों का अहिंसा तत्व (जीव हिंसा, मांस भक्षण आदि जो प्राणायाम के घातक तत्व हैं) प्राणायाम का उपकारक है।

यम का दूसरा तत्व सत्य है जिसकी व्याख्या में सुन्दरदास ने उसे दो प्रकार का बताया है—वाणी का सत्य तथा केवल सत्य ब्रह्म। किन्तु कबीर-दास ने 'साँच कौ अंग में जिस सत्य का वर्णन किया है उसका संबंध साधक की केवल वाणी से ही नहीं अपितु उसके सम्पूर्ण जीवन और साधन से है। भक्ति में हृदय की भगवान् के प्रति सचाई ही इसका मूल है।[2] किन्तु नाथों में सत्य का विस्तृत विवरण उपलब्ध न होने के कारण केवल इतना ही कहा जा सकता है कि उनका सत्य केवल वाणी की सचाई तक सीमित है। दो-एक स्थानों पर गुरु के प्रति सच्चे होने की बात अवश्य मिलती है, जिसकी ओर संकेत किया जा चुका है। इसी प्रकार सुन्दरदास ने यम के अंगों का भी विवेचन किया है; किन्तु एक बात जो पूरे यम संबंधी विवरण को पढ़ने से स्पष्ट होती है, वह यह है कि सभी अंगों की व्याख्याएँ भक्ति के अनुकूल हैं। यम के शेष अंगों में ब्रह्मचर्य और मिताहार अधिक महत्वपूर्ण हैं।

---

[1] वही, पृ० १९, २१–२२ तथा १९।

[2] सुन्दरसार, पृ० १९, छं० १०; क० ग्रं०, पृ० ४२, अंग २२।

सुन्दरदास ने ब्रह्मचर्य के अन्तर्गत आठ प्रकार के कामों (मैथुनों) के त्याग को स्वीकार किया है। कबीरदास की रचनाओं में ब्रह्मचर्य का उल्लेख कर किसी संयम का वर्णन नहीं मिलता। उन्होंने 'काम', कामिनी आदि का अवश्य पुष्कल वर्णन किया है। कबीरदास ने साधकों को सबसे अधिक कनक और कामिनी से बचने के लिये कहा है। बिना रामनाम के मनुष्य कनक-कामिनी के कूप में डूब जायगा। कनक और कामिनी के साथ लग कर ही यह सारा संसार माया की ज्वाला में जलता है। यह कामिनी काली नागिन है। नारी ही तीनों प्रकार के सुखों (भक्ति, मुक्ति और निज ज्ञान) का नाश करती है। कबीर ने नाथपंथियों की तरह ही नारी को सांकेतिक रूप में 'भग' शब्द से सम्बोधित कर कहा है कि इससे पता नहीं कितने व्यक्ति नष्ट हो गये। भक्ति का साधन न करनेवाले ही उससे नष्ट होते हैं। नाथपंथियों ने नारी को नरक कहा है, उसी प्रकार कबीरदास भी नारी को नरक का कुंड कहते हैं।[1] उसी प्रकार वे नारी को नागिन, साँपिन इत्यादि भी कहते हैं। जहाँ तक नारी के कामिनी रूप का और उसकी निन्दा का प्रश्न है, वहाँ तक नाथपंथियों से पर्याप्त समानता है। नाथपंथियों ने व्यक्तिशक्ति कुंडलिनी को भी नागिन शब्द से तथा सुषुम्नासुन्दरी को नारी शब्द से संबोधित किया है। जहाँ सुषुम्ना को 'नारी' शब्द से संबोधित किया गया है, वहाँ कहीं-कहीं 'नाड़ी' और 'नारी' दोनों अर्थ हो सकते हैं। सुन्दरी शब्द का साथ में प्रयोग होने पर 'नारी' अर्थ ही ग्राह्य होना चाहिए। कबीर ने मन के मतवाला होने की अवस्था का वर्णन करते हुए सुषुम्ना नारी को सहज में समाहित बतलाया है। उस सुषुम्ना के पास गुरुप्रसाद से अमृतफल की प्राप्ति होती है। उन्होंने जीवशक्ति अथवा व्यक्तिशक्ति को नारी के रूप में, सुन्दरी के रूप में कल्पित किया है। जीवात्मा को 'सुन्दरी' का सम्बोधन दिया है। 'सुन्दरी कौ अंग' में इसका विस्तार से वर्णन है। यहाँ 'सुन्दरी' जागृत व्यक्तिशक्ति का प्रतीक है। कबीर नारी को सामान्य जननी शब्द से सम्बोधित न कर परमात्मा को ही जननी कहते हैं।[2] कबीर की रचनाओं में सामान्य नारी के कामिनी रूप के प्रति तीव्र निन्दाभाव नाथपंथियों के समान है। यदि सुषुम्ना नारी सुषुम्ना नाड़ीशक्ति के रूप में ही ग्रहण की जाय तो कबीरदास उसके साधन का

---

[1] सुन्दरसार—पृ० २०, छं० १२; क० ग्रं०, पृ० ३४ साखी १९, पृ० ३५ साखी ३२; ३९.१, ४०.१०, ४०.१३, १३२.१२८, ४०.१५।

[2] कबीर ग्रंथावली, ११०.७२, पृ० ८०-८१, अंग ५२।

उपदेश देते हैं। उन्होंने सामान्य नारी को जननी या माता के रूप में संबोधन नहीं दिया और न उससे नाथपंथियों की तरह साधक के पोषण की प्रार्थना ही की। भगवान् की माता के रूप में कल्पना नाथपंथियों में नहीं मिलती और न जीवात्मा को ही वे सुन्दरी के रूप में स्वीकार करते हैं। सुषुम्ना को पारमार्थिक सुन्दरी नारी के रूप में दोनों ही स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार विन्दुरक्षा अथवा नारीभग में शुक्र की रक्षा का साधन के रूप में निर्देश कबीरदास नहीं करते। मैथुन से या नारी से बचना उनकी दृष्टि में इसलिये आवश्यक है कि कामिनी और उसका संग भक्ति, मुक्ति और ज्ञान तीनों का नाश करते हैं। नाथों में मैथुन अथवा नारीसंग प्राणायाम का विनाशक है और इसी को दूसरे शब्दों में हम योगनाश, कायानाश कह सकते हैं। उनकी दृष्टि में ब्रह्मचर्यराहित्य से कायसिद्धि का लक्ष्य ही पूरा नहीं होगा। संत कायसिद्धि को लक्ष्य नहीं मानते। वे किसी भी रूप में, साधन के रूप में भी, नारी का संग त्याज्य मानते हैं। इसीलिये उन संतों ने कहीं-कहीं बड़ी ही कटु आलोचना की है। विंदु शब्द का जहाँ भी अकेला प्रयोग कबीर साहित्य में मिलता है, वहाँ वे मानवशरीर को विंदुनिर्मित बतलाते हैं किन्तु उस विंदु की रक्षा का कोई भी विधान उपलब्ध नहीं। दूसरे, विन्दु शब्द का वे प्रायः प्रयोग नाद के साथ करते हैं और ऐसे स्थलों में वे भी नाथपंथियों के उसी नाद-विंदु-साधन की ओर संकेत करते हैं जिसका विस्तृत दार्शनिक एवं साधनात्मक विवरण नाथपंथियों के योग में दिया जा चुका है।[१] वज्रोली का तो कबीर साहित्य में कोई उल्लेख ही नहीं है।

यम का अन्य महत्वपूर्ण तत्व मिताहार है, जिसका नाथपंथियों ने विस्तार से और अत्यधिक महत्व देकर विवेचन किया है। हम नाथों के योग के विवेचन में कह चुके हैं कि मिताहार प्राणायाम का सहायक है। मिताहार का जितना विस्तृत विवरण गोरख या अन्य नाथों की रचनाओं में उपलब्ध है, उतना संतों की रचनाओं में नहीं। सुन्दरदास ने मिताहार की परिभाषा में सात्विक अन्न का भक्षण, अत्यधिक मधुरस तथा चिकने पदार्थों को भली-भाँति देखकर भक्षण, चतुर्थ भाग का त्याग कर सारग्रहण की गणना की है। इसमें संक्षेप में नाथों के दिये प्रायः सभी लक्षण आ गये हैं।[२] कबीर की रचनाओं में भी मिताहार का विस्तृत वर्णन नहीं है। वहाँ मद्य-मांस का पान और

---

[१] क० ग्रं०, ९४·१८, १५४.१९६।

[२] सुन्दरसार, पृ० २१, छं० २०।

भक्षण ही निषिद्ध ठहराया गया है। निषिद्ध भोज्य पदार्थों का सेवन करने के कारण कबीर ने शाक्तों की कटु आलोचना और निंदा की है।[१] यम का अंतिम तत्व शौच है। भरथरी ने जिस प्रकार आन्तरिक और बाह्य शौच को इसमें स्थान दिया है, उसी प्रकार सुन्दरदास ने भी। सुन्दरदास (छोटे) ने भी कहा है कि इसके अन्तर्गत बाह्याभ्यंतर का मार्जन, मृत्तिका और जल का प्रयोग कर शरीर के मल का हरण, रागादिक त्याग, हृदय की शुचिता का ग्रहण होना चाहिए। कबीर ने केवल बाहर की शुचिता की निन्दा की है और आन्तरिक शुचिता का उपदेश दिया है।[२] इस प्रकार यम के जिन अंगों का परिचय दिया गया है, उनके संतों और नाथों के विवेचन में पूर्णतया समानता नहीं है; किन्तु यदि सुन्दरदास (छोटे) के यम-लक्षण-निरूपण को संतों द्वारा ग्राह्य यम मान लिया जाय तो उन दोनों में पर्याप्त समानता मिलती है। दोनों में उपर्युक्त अंगों को ही समान रूप से स्वीकार किया गया है।

१३—नियम

नाथों ने नियम के अन्तर्गत (जैसा हठयोगप्रदीपिका में दिया हुआ है) तप, संतोष, आस्तिक्य, दान, ईश्वरपूजा, सिद्धान्तवाक्यश्रवण, ह्री, मति, जप और होम की गणना की है। सुन्दरदास (छोटे) ने भी नियम के उपर्युक्त दस अंगों को ही स्वीकार किया है किन्तु उनकी व्याख्याएँ-परिभाषाएँ भिन्न हैं। नाथपंथियों के कृच्छ्राचार का निषेध तप को ध्यान में रखकर किया है। सुन्दरदास ने लक्षण में तप को शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध का परित्याग तथा अहंकार का मारण (जैसा टिप्पणीकार पुरोहित हरिनारायण जी ने बताया है) कहा है। सुन्दरदास ने इसकी व्याख्या नहीं की है। उन्होंने जप को मौन मुख से करने का उपदेश देकर उसके लक्षणों में कहा है कि इसमें पवन से मन को नियंत्रित रखना चाहिए। कबीरदास ने जप-तप दोनों को उनके प्रचलित रूपों में निरर्थक बताया है। उनके अनुसार जप और तप थोथे हैं। उनसे कोई फल नहीं मिलता। तप के लिये वनखंड में जाना निरर्थक है। यदि भगवान् की भावभक्ति न हो तो जप, तप, संयम, तीर्थ, व्रत, स्नान आदि सभी निष्फल हैं। वे मन का जप-तप करने के लिये कहते हैं। राम

---

[१] क० ग्रं०, पृ० ४३ साखी १२, १३।

[२] सुन्दरसार, पृ० ४३ साखी २१; क० ग्रं०, पृ० ६६ साखी ३, अंग ४२।

के बिना जप-तप झूठे हैं ।[१] संतों को जप का कौन सा रूप स्वीकृत है, इसका संकेत यहाँ कर दिया गया है । संतों के जप का निरूपण भक्ति के प्रकरण में हम कर चुके हैं । प्राणायाम के प्रसंग में उसके योगपरक रूप का वर्णन किया जायगा । दूसरा नियम संतोष है जिसके लक्षण में सुन्दरदास ने प्रारब्ध-लब्ध को ही ग्रहण करने, कल्पनात्याग तथा यथालाभसंतोष को ग्रहण किया है । कबीरदास ने संतों के लिये संतोष को आवश्यक मानते हुए कहा है कि संतोष धन की उपलब्धि होने पर अन्य सभी धनों का कोई मूल्य नहीं रह जाता । जो व्यक्ति कुछ भी नहीं चाहता वही शाहंशाह है ।[२]

नियम के शेष प्रकारों में से आस्तिकता, पूजा, सिद्धान्तश्रवण, जप और होम अधिक महत्वपूर्ण हैं । आस्तिक्य के लक्षणों में सुन्दरदास ने कहा है—शास्त्र, वेद और पुराण ब्रह्म का कथन करते हैं और फिर उसीको गुरु और संत सुनाते हैं । ब्रह्म है या नहीं, इसका विचार ही बुद्धि में नहीं आना चाहिए । हृदय से अप्रतीति को हटा देना चाहिए और हृदय में प्रतीति को स्थान देना चाहिए । यदि इन लक्षणों को ध्यान में रखकर विचार किया जाय तो संतों के साहित्य में पूरी आस्तिकता है । इन लक्षणों में शास्त्र, वेद और पुराणों के कथन को पुनः गुरु और संत द्वारा कहे जाने की बात विचारणीय है । भक्ति के प्रसंग में हमने लोक-वेद से निश्चित संतों की भक्तिप्रवृत्ति की ओर संकेत किया है । भावसाधन में ग्रंथप्रामाण्य को न स्वीकार कर स्वसंवेदन को या स्वानुभूति को प्रमाणरूप में स्वीकार करते हैं । ब्रह्म का निर्वचन शास्त्र-वेद-पुराण करते हैं किंतु संतों ने उसके केवल उसी रूप को स्वीकार किया है, जो स्वानुभूति से पुष्ट हो सका है । वेदनिंदा का प्रयोजन संतों का उसके द्वारा निर्वचित ब्रह्म के रूप की निंदा नहीं है । वे कर्मकांड का विरोध करते थे जिसका मूल स्रोत लोग वेद को मानते हैं । 'ब्रह्म है' इसमें संतों की, भक्त होने के कारण, दृढ़ प्रतीति है । अतः उनकी आस्तिकता में, सुन्दरदास के लक्षणों के अनुसार किसी भी प्रकार का संदेह नहीं है । नाथ और संत, दोनों ही, इस प्रकार, आस्तिक हैं । नाथों ने आस्तिकता के लक्षणों का स्वयं कोई निरूपण नहीं किया है, अतः तुलना करना कठिन है ।

---

[१] सुन्दरसार, पृ० २१–२२, छं० २३, २४; पृ० २४ छं० ३२; क० ग्रं०, पृ० ४४, ९९, ११५, ११६, १२६, १५८, १७४ ।

[२] सुन्दरसार, पृ० २२ छं० २५; क० वचनावली, पृ० १४३, साखी ५७९–५८० ।

किंतु उस प्रसंग में नाथों की आस्तिकता का जो अनुमान किया गया है उससे हम यह कह सकते हैं कि नाथ और संत दोनों ही आस्तिक हैं। ये संत लोग नाथपंथियों की तरह कर्मवाद और मृत्यूपरान्त जीवन में विश्वास करते हैं, ईश्वर में विश्वास करते हैं, उपनिषदादि वेदान्तों की स्वानुभूत प्रामाणिकता में विश्वास करते हैं।[१]

नियम का पाँचवाँ तत्व पूजा है। हम पहले ही अनेक प्रसंगों में कह चुके हैं कि संतों ने मानसी पूजा का विधान किया है। सुन्दरदास (छोटे) ने लक्षण में भावना के पद्म-पुष्प, गंध-धूप से की हुई सेवा को पूजा कहा है। नाथों ने भी भावनात्मक पूजा को ही स्वीकार किया है। इस पूजा के लिये किसी समय का बंधन सुन्दरदास ने स्वीकार नहीं किया है। इसे उन्होंने रात-दिन करने का उपदेश दिया है।[२] सिद्धान्तवाक्यश्रवण के संबंध में नाथों के शास्त्र ग्रंथ सिद्धों द्वारा निश्चित सिद्धान्तों को सिद्धान्त कहते हैं। नारद-भक्तिसूत्र आदि ग्रंथ भक्तिशास्त्र को शास्त्र कहते हैं। किन्तु सुन्दरदास ने सिद्धान्तश्रवण का जो लक्षणनिरूपण किया है उसमें अधिकारभेदवाद की प्रमुखता मालूम पड़ती है। वे शिष्य को उत्तर देते हुए कहते हैं कि वाणी के प्रकारों का अन्त नहीं है। इन वाणियों में केवल वही वाणी सिद्धान्त होने योग्य है, जो अपने काम की हो। साधक की पात्रता के अनुकूल जो भी वाणी हो, केवल वही वाणी सिद्धान्त है। नाथों से अन्तर यह है कि संत लोग गुरु और संत के मुख से निकली प्रत्येक वाणी को प्रत्येक साधक के लिये सिद्धान्त नहीं मानते। ये सिद्धान्त भिन्न-भिन्न साधकों के लिये भिन्न-भिन्न हो सकते हैं जब कि नाथों ने किसी ऐसे भेद का निरूपण नहीं किया।[3]

नियम के अन्तिम चार अंग हैं—ह्री, मति, जाप और होम। इनमें से प्रथम दो का वर्णन संत साहित्य में, नाथसाहित्य की तरह ही, स्पष्ट शब्दों में उपलब्ध नहीं है। सुन्दरदास के अनुसार गुरु और संतों से लज्जा, इन दोनों के प्रति व्यवहार में लोकलाज की रक्षा, कुल की लज्जा की रक्षा, कुटुम्ब की लज्जा की रक्षा लज्जा में गृहीत हैं। संसार के नाना प्रकार के सुखों को देखकर उनके प्रति लोलुप न होना, स्वर्गादिक की इच्छा न करना, लोक-परलोक

---

[१] कबीर ऐंड हिज फालोअर्स, डा० की, पृ० ७६, ७१-७३।

[२] सुन्दरसार, पृ० २३, छं० २८।

[3] वही, पृ० २३, छं० २९।

की इच्छा न करना, पूजा-मान-वड़ाई-आदर-निंदा आदि के किये जाने पर निश्चलमति रहना ही मति के अन्तर्गत गृहीत हैं।[१] सुन्दरदास के लक्षणों के अनुसार परीक्षा करने पर कहा जा सकता है कि कवीरादि में ह्री और मति दोनों के प्रायः सभी लक्षण मिलते हैं। गुरु और संत के प्रति संतों में कितना आदरभाव है, यह अनेक वार कहा जा चुका है। नाथसिद्ध भी, इस दृष्टि के अनुसार, गुरु के प्रति तथा अवधूत के प्रति अत्यधिक आदर भाव व्यक्त करते हैं। कवीरदास कुल और कुटुम्व की लज्जा की रक्षा भक्ति में समझते हैं। उन्होंने वैष्णव के कुल, भक्त के कुल की वार-वार प्रशंसा की है। इसके विपरीत उन्होंने शाक्त की निंदा भी की है। मति के प्रायः सभी लक्षण नाथों और संतों, दोनों में, मिलते हैं। कनक और कामिनी, जो संसार के सुखों के मूल, लोगों के द्वारा माने जाते हैं, दोनों की कटु निन्दा नाथों और संतों, दोनों, ने की है। कवीर के सामने माया की विनती में इसी तथ्य की ओर संकेत है। निंदक को कवीर अच्छा समझते हैं। वे संसार में केवल भक्ति और भगवान् चाहते हैं, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं।[२] नियम का नवाँ अंग जप है जिसे सुन्दरदास ने 'जाप' कहा है तथा जिसके लक्षणों का निरूपण हम तप के साथ कर चुके हैं। इसका विस्तृत विवेचन हमने भक्ति के प्रसंग में कर दिया है। मौखिक जाप दोनों को ग्राह्य नहीं, श्वासक्रिया के साथ नैसर्गिक हो जानेवाला 'जाप', जिसे ये लोग अजपाजाप कहते हैं दोनों को स्वीकार है।[3] नियम का अंतिम अंग होम है। सुन्दरदास (छोटे) ने दो प्रकार के होम बताये हैं। प्रथम प्रकार के होम में अग्नि में शाकल्य का हवन है। यह प्रवृत्तिपरक प्रकार है। दूसरे प्रकार को निवृत्तिपरक जिज्ञासु का होम कहा है जिसमें ज्ञानाग्नि में इन्द्रियों के हवन की क्रिया गृहीत है।[४] कबीर-दास ने अपनी रचनाओं में ब्रह्म और ब्रह्माग्नि को एक माना है और घट में ही ब्रह्माग्नि को प्रज्वलित करने के लिये वार-वार उपदेश दिया है। उपर्युक्त लक्षणों के अनुकूल ही वे ब्रह्माग्नि में काया को जलाने को भी कहते हैं।

---

[१] सुन्दरसार, पृ० २४, छं० ३०-३१।

[२] क० ग्रं०, पृ० ८२ साखी ३; पृ० १८० पद २६९।

[3] क० ग्रं०, पृ० १४ साखी २३; पृ० १२९ पद १२८; पृ० १५८ पद २०६; पृ० ६ साखी २२; पृ० १३१. टेक; पृ० १५८ पद २०४, पृ० १५९ पद २०९।

[४] सुन्दरसार, पृ० २४, छं० ३३।

अन्यत्र उन्होंने इस ब्रह्माग्नि से ममता के भी जल जाने की बात कही है।[1] नाथसाहित्य में भी इसी प्रकार ब्रह्माग्नि के प्रज्वलन और उसमें काया के हवन की प्रक्रिया स्वीकृत है। दोनों ही इस प्रकार पारमार्थिक हवनपद्धति को स्वीकार करते हैं। वस्तुतः यहाँ दोनों प्रकार के साधकों ने हवनक्रिया, होम, हुत पदार्थ सभी को पारमार्थिक प्रतीकों के रूप में ही ग्रहण किया है, सांवृतिक क्रियाओं के रूप में नहीं। इस पद्धति का विस्तृत विवेचन हमने नाथों के योग के प्रसंग में किया है।

१४—षडंग और अष्टांग योग

नाथसिद्धों के षडंग योग का परिचय हम पहले दे चुके हैं। उनके ग्रंथों में कहीं-कहीं अष्टांग योग का भी वर्णन मिलता है। वैष्णव ग्रंथों में षडंग और अष्टांग दोनों प्रकार के योगों के उल्लेख हैं। सुन्दरदास (छोटे) ने अष्टांग योग का वर्णन किया है। शारदातिलक नामक तांत्रिक ग्रंथ में अष्टांग योग का ही वर्णन मिलता है। संतों को योगी नहीं, भक्त कहा जाता है। उनके साधन में जो स्थान भक्ति को प्राप्त है, वह योग को नहीं। भक्ति अंगी है और योग अंग—यह कथन की एक पद्धति हो सकती है। अतः संतों के योग का निरूपण उस प्रकृष्ट, स्पष्ट और विस्तृत रूप में संभव नहीं जिस रूप में वह नाथों की विभिन्न रचनाओं में उपलब्ध है। यह भी हम कह चुके हैं कि संतों ने योग-गत शारीरिक साधनों का वर्णन नहीं किया और न उसको महत्व ही दिया है। प्राणायाम का यत्किंचित् वर्णन, नाड़ियों का साधन, अद्वैतभाव और तत्परवर्ती भाव को व्यक्त करने के लिये किया गया है। मानस साधन का पुष्कल विवरण अवश्य मिलता है। इस प्रकार उनके योगसाधन का वास्तविक आरंभ प्रत्याहार से होता है। आसन, बंध, वेध, मुद्रा, षट्कर्म का वर्णन इन रचनाओं में केवल सुन्दरदास (छोटे) जैसे कवियों की रचनाओं को छोड़कर अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। नाथों के साधन में यमनियमगत सभी आचारों का प्रयोजन प्राणायाम है किंतु संतों के यम-नियम का प्रयोजन भक्ति प्रतीत होता है। सुन्दरदास (छोटे) के अष्टांग योग के यम-नियम के लक्षणनिरूपण से ऐसा प्रतीत होता है। नाथों की हिन्दी रचनाओं में जिस प्रकार 'हठयोग' या 'हठ' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता उसी प्रकार संतों की रचनाओं के विषय में भी कहा जा सकता है। सुन्दरदास ने अवश्य उनका निरूपण किया है।

---

[1] क० ग्रं०, पृ० ९०, पृ० १०९ पद ६९, पृ० ११०, १११, १३८, पृ० १५८ पद २०४, पृ० १७८ पद २६३, पृ० १८३–१८४ पद २८१।

१५—हठयोग

नाथपंथी संस्कृत रचनाओं में 'हठ' के हकार को सूर्य तथा ठकार को चन्द्र कहा गया है। इन्हें ही क्रमश: प्राण और अपान भी कहा जाता है। संतों की हिंदी रचनाओं में इस प्रकार का कोई निर्देश नहीं मिलता। सूर्य और चन्द्र तथा तत्कोटीय विभिन्न शब्दों के प्रयोग अवश्य मिलते हैं। यद्यपि 'हठ' शब्द के हकार और ठकार का विचार संतों में नहीं है तथापि सूर्य और चन्द्र के साधन का वर्णन अवश्य है। सूर्य और चन्द्र वस्तुत: द्वैत की ओर संकेत करते हैं। हठ-योग इन दोनों का योगसाधन है। इस द्वैत की ओर संकेत करने-वाले जो शब्द प्राय: कबीर साहित्य में मिलते हैं, उनको नाथों की पूर्ववर्णित पदावली के प्रकाश में इस प्रकार उपस्थित किया जा सकता है—

ह—सूर्य, रवि, यमुना, पिंगला, शक्ति, पवन, अध:।
ठ—चन्द्र, शशि, गंगा, इड़ा, शिव, मन, ऊर्ध्व।

सूर्यनाड़ी और चन्द्रनाड़ी, प्राण और अपान, रज और बिंदु आदि शब्दों का प्रयोग कबीर साहित्य में अवश्य है किंतु वे हठयोग के पारिभाषिक और साधना-त्मक अर्थ को व्यक्त करनेवाले नहीं हैं। सूर्य का चन्द्र में समाहित होना, दोनों का एक घर में होना, आत्माराम के हिंडोले में चन्द्र-सूर्य का दो स्तम्भ के रूप में प्रयुक्त होना, रामरस को तैयार करने के लिये चन्द्र-सूर्य का दो भट्ठियों के रूप में प्रयुक्त होना, शशिहर का सूर्य को ग्रस्तकर लेना, गगन में अनाहत नाद के ध्वनन के लिये चन्द्र और सूर्य का मंत्र के दो तत्वों के रूप में विनियुक्त होना, शशिहर के घर में सूर्य का आगमन, चन्द्र-सूर्य मिलन, चन्द्र-सूर्य का एकत्व, चन्द्र सूर्य के बीच में 'तारी' (ध्यान) का लगना, सोलहकला-युक्त चन्द्र का पूरी तरह से छा जाना, गंगा-यमुना के बीच में सहज शून्य की लौ (लय) का घाट या गंगा-यमुना के बीच में अपनी 'मड़इया' को छाना, रस-निर्माण के लिये इड़ा-पिंगला को भट्ठी बनाना और उसमें ब्रह्माग्नि को प्रज्व-लित करना, शिवशक्ति की सुषुम्ना दिशा का दर्शन, 'अरध-उरध' की गंगा-यमुना की ओर संकेत करना आदि वस्तुत: इसी अद्वैतप्रधान हठयोग की साधना की ही विवृत्ति करते हैं।[1] कबीर ने गगन और पृथिवी के उन प्राचीन प्रतीकों

---

[1] क० ग्रं०, पृ० १३ छं० १०, ९४. १८, ११०. ७१, १४१-१४२.१६२, १५४.१९६, १५७.२०२, १८३.२८०, १६२.२१९, १४६.१७३, पृ० २२३, पृ० १५७ छं० २०२, पृ० १८ अंग १० साखी ३, पृ० १११ पद ७४, पृ० १६ साखी ४६, ९४.१८; कबीर—पृ० ३३४ पद १८५।

का भी व्यवहार किया है जिनका शब्दान्तर से प्रयोग वैदिक साहित्य में मिलता है तथा जिनके नाथ साहित्य में उपलब्ध प्रयोग की ओर मैं संकेत कर चुका हूँ। कबीर ने धरती के बरसने और गगन के भीगने की जिस विलक्षण दृश्यावली का वर्णन किया है, उससे इस प्रतीकपरंपरा और शब्दों के पारंपरिक प्रयोग का एक विकास स्पष्ट हो जाता है। वैशिष्ट्य यह है कि कबीर ने इनका अपनी साधना के अनुकूल तथा उलटबाँसी की पद्धति से प्रयोग किया है।[1]

द्वैत और प्रपंच की ओर संकेत करनेवाले इन शब्दों से संबंधित जिन क्रियाओं की ओर संकेत किया गया है उससे मालूम होता है कि संतों में भी इस द्वैत से परे जिस अद्वैत की स्थिति की ओर संकेत किया गया है, उसके बोधक शब्द हैं—समाना (या समाहित होना), अविरुद्ध स्थिति, शशि (अमृत) की प्रधानता, एकत्व, मिलन, ध्यान अथवा समाधि की स्थिति, सहज शून्य, बीच अथवा मध्य, सुषुम्ना, गगन और धरणी अथवा ऊर्ध्व और अधः में नैरन्तर्य। योग शब्द के अर्थनिरूपण में उसके 'मिलन' अर्थ की ओर हम संकेत कर चुके हैं। इस भाव अथवा स्थिति की ओर संकेत करने के लिये कबीर ने समिता, योग, त्रिकुटी संधि, त्रिकुटी संगम, समाधि आदि विभिन्न शब्दों का प्रयोग किया है। इसी प्रकार सुषुम्ना शब्द का प्रयोग भी ध्यान देने योग्य है।[2] समाधि के समकक्षी विभिन्न शब्दों का विचार आगे उचित प्रसंग में किया गया है। इस भाव अथवा स्थिति अथवा मार्ग के बोधक शब्द उस रूप और मात्रा में संत साहित्य में, विशेषकर कबीर साहित्य में, उपलब्ध नहीं, जिस रूप और मात्रा में नाथसाहित्य में उपलब्ध हैं। इस योग की विस्तार से व्याख्या नाथों के हठयोग के विवेचन के प्रसंग में कर दी गई है। जिन प्रक्रियाओं की ओर ऊपर संकेत किया गया है तथा कबीरादि के योगसाधन में जिन यौगिक प्रक्रियाओं को स्वीकृति दी गई है, वे हैं—पवनसाधन, षट्चक्रभेद, सूर्य-चन्द्र-साधन, मन-पवन की अचंचलता, इड़ा-पिंगला की त्रिवेणी में संधि, अध्यात्मसाधन, नादानुसंधान, महारससाधन, मनोमारण अथवा मानससाधन, ब्रह्माग्निप्रज्वलन, अमृतसाधन, आदि। इनके अतिरिक्त पंचेन्द्रियनियमन, मानससंयम, पंचभूतसाधन, कुंडलिनीयोग, ध्यान, समाधि आदि के भी विभिन्न संदर्भ संतों की रचनाओं में मिलते हैं।

---

[1] क० ग्रं०, पृ० ५४ साखी ११, पृ० १८३ पद २८०।

[2] क० ग्रं०, पृ० ६३ अंग ३९ साखी ३, पृ० १०९ पद ६९, पृ० १५७ पद २०२, पृ० ८८, १५८ आदि।

१६—आसन

साधन की दृष्टि से विचार करने पर यम-नियम के बाद आसन का सबसे पहले स्थान है। कबीरादि संतों की रचनाओं में आसनों का विस्तृत निरूपण नहीं मिलता। कबीरदास ने हरिभजन के बिना आसन और पवनसाधन को कपट कहा है और उनके त्याग का उपदेश दिया है। शून्य गुफा में आसन लगाना उन्हें स्वीकार है।[1] नाथपंथी रचयिताओं ने भी आसन के इस रूप की ओर संकेत करते हुए गंगा-यमुना के मध्य सुषुम्ना में लगाये जानेवाले आसन को ही सच्चा आसन माना है। नाथसिद्धों की हिन्दी रचनाओं में कहीं-कहीं पद्मासन और वज्रासन की ओर संकेत मिलते हैं। सुन्दरदास (छोटे) ने भी केवल सिद्धासन (वज्रासन) और पद्मासन का ही परिचय अपने ज्ञानसमुद्र में दिया है। इनमें से सिद्धासन से मोक्षकपाट का उद्घाटन तथा पद्मासन से व्याधिहरण संभव बताया गया है।[2] इसमें स्पष्ट है कि संत लोग हरिभजन के लिये यद्यपि सामान्य आसनों को स्वीकार करते हैं तथा जिनमें मुख्य सिद्धासन और पद्मासन हैं, किंतु उनका वास्तविक आसन अन्तस्साधनापरक है। आसन के लिये आसन करना, जिसमें आध्यात्मिक साधना का लक्ष्य छूट जाता है, नाथों को भी स्वीकार नहीं। अन्तस्साधनापरक आसन की दृष्टि से नाथों और संतों के विचार समान हैं।

१७—प्राणायाम

नाथसिद्धों की हिन्दी रचनाओं में दशवायुओं का वर्णन नहीं मिलता, केवल प्राण-वर्णन मिलता है। किंतु सुन्दरदास ने इन वायुओं का वर्णन करते हुए प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय नाम के दस वायुओं के शरीर में स्थान क्रमशः हृदय, गुदा, नाभि, कंठ, संपूर्ण घट, डकार, पलक, क्षुधा और मुख बतलाये हैं।[3] कबीर की रचनाओं में केवल पवन का वर्णन मिलता है। 'प्राण' शब्द के जो प्रयोग हैं, वे पारिभाषिक हठयोगपरक नहीं हैं। पवन शब्द का प्रयोग करते हुए कबीर ने पवन से अम्बर धोना, इस पवन का लौ लगाकर क्रीड़ा करना, पवन को उलट कर षट्चक्र का भेदन करना, सुषुम्ना नाड़ी में पवन को दृढ़ करना, दसों दिशाओं में अन्तर्हित पवन (प्राणायाम) से शरीर का आन्दोलन (?), प्राणों के कुंजी और ताले से आत्मा की सुरक्षा आदि की पदावली में इस पवनक्रिया

---

[1] संत कबीर, पृ० १५९, ५६।

[2] सुन्दरसार, पृ० २५–२६।

[3] वही, पृ० २७।

अथवा प्राणायाम का वर्णन किया है।[1] कबीरादि के साहित्य में पवन-साधन का जिन स्थलों पर वर्णन है, उनसे यह स्पष्ट होता है कि संत लोग भी इस पवनसाधन की उपयोगिता नाड़ीसाधन, चन्द्रसूर्यसाधन, षट्चक्रभेद, कुंडलिनीयोग अथवा लययोग, ध्यानयोग, मानससाधन इत्यादि के लिये स्वीकार करते हैं। प्राणायाम अथवा पवनसाधन का इन साधनों से संबंध है। किंतु बिना इसके इनका साधन सुन्दर नहीं है। इस बात को संत लोग भी स्वीकार करते हैं। ऊपर के विवरण में पवन को परावृत करने अथवा उसके प्रत्यावर्तन की क्रिया की ओर संकेत मिलता है। कबीर साहित्य में जिस प्रकार पवन के प्रकारों का वर्णन नहीं है, उसी प्रकार प्राणायाम की पूरक, कुंभक और रेचक क्रियाओं का भी इन शब्दों में वर्णन उपलब्ध नहीं। गोरखनाथ की तरह ही कबीर ने भी 'सोहं' वायु का वर्णन अपने पवनसाधन के अन्तर्गत किया है। पवन का उलटना एक प्रकार से विपरीतकरण की एक क्रिया है। प्राणायाम का इससे अधिक विस्तृत एवं सूक्ष्म वर्णन कबीर साहित्य में नहीं मिल सकता। सुन्दरदास ने पवनसाधन से षट्चक्रसाधन का विशेष संबंध स्वीकार किया है, ऐसा प्रतीत होता है। वायु के प्रकारों का वर्णन करने के बाद वे षट्चक्रों का वर्णन करते हैं। पुरोहित हरिनारायण की टिप्पणियों से यह ज्ञात होता है कि 'इन चक्रों के नामनिर्देशनादि से यह प्रयोजन है कि प्राणायामादि साधनों से इन चक्रों का भेदन करके सुषुम्ना मार्ग से समाधि-सुख की प्राप्ति होती है। सुन्दरदास (छोटे) ने, विस्तार से, प्राणायाम का वर्णन किया है। उनके अनुसार इड़ा नाड़ी में पूरक, बीच में कुंभक और पिंगला में रेचक करने से सभी पातकों का निकृन्तन होता है। नाथों के योग के शास्त्रीय ग्रंथों में प्राणायाम की मात्रा का भी वर्णन मिलता है। तांत्रिक ग्रंथ वीज, मंत्र आदि का भी समावेश इस साधन में करते हैं। इनका वर्णन हम पहले ही कर चुके हैं। सुन्दरदास (छोटे) ने भी बीज और मंत्र से संयुक्त कर १६ मात्रा तक पूरक, ६४ मात्रा तक कुंभक और ३२ मात्रा तक रेचक करने का विधान किया है। पुनः इस क्रिया का विपर्यय करना चाहिए अर्थात् पिंगला में पूरक कर इड़ा में रेचक करे। इस प्रकार प्राण को जीतने की क्रिया सुन्दरदास ने बतलाई है। टिप्पणियों के अनुसार इसमें 'ओंकार' के विनियोग का विधान किया गया है। सुन्दरदास ने आठ प्रकार के कुंभकों

---

[1] क० ग्रं०, पृ० १८३ पद २८०, १८८. २९६, ९०. ७, ९१. ८; संत कबीर, पृ० २० पद १८, ४९. ४६, ५०. ४७, ७६. ७३ तथा इनकी टीकाएँ।

और दस प्रकार की मुद्राओं का भी उल्लेख किया है।[1] विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि सुन्दरदास ने 'ज्ञानसमुद्र' में अष्टांगयोग का वर्णन करते समय षट्कर्मों का परिचय नहीं दिया है। सर्वांगयोगग्रंथ के योगप्रकरण में हठयोग के अन्तर्गत षट्कर्मों का वर्णन कर उसके अन्तर्गत 'नेती, धौती, वस्ती, त्राटक, नौली, कपालभाती' की गणना की है। इनका प्रयोजन नाड़ियों की शुद्धि है।[2] संतों में से कबीर की रचनाओं से ऐसा प्रतीत होता है कि यम-नियम का प्रयोजन वे प्राणायाम के लिये नहीं मानते। नाथपंथियों की हिंदी रचनाओं में भी षट्कर्म का विवेचन अथवा उनका साधन उपलब्ध नहीं, ऐसा संकेत हम कर चुके हैं।

१८—प्राणायाम

प्राणायाम का प्रारम्भिक संबंध नाड़ियों से है। नाड़ियों के शोधन का एक अन्य उपाय षट्कर्म भी है, किंतु उनका केवल साधनरूप में परिचय देते हुए सुन्दरदास ने उनका वर्णन किया। अपेक्षाकृत अधिक कृच्छ्राचारप्रधान होने के कारण ही संभवतः कबीर आदि संतों ने उसे निरर्थक समझा। तुलना की दृष्टि से प्राणायाम का अधिक वर्णन उपलब्ध है। पिण्डब्रह्माण्डवाद तथा हकार और ठकार के निरूपण के प्रसंग में प्रमुख नाड़ियों का परिचय दिया जा चुका है। सुन्दरदास (छोट) ने आसन के बाद १०९ अथवा १०१ नाड़ियों में १० को प्रधान माना है। इनमें भी इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना नाम की तीन नाड़ियाँ अग्रवर्ती हैं। इनका विवरण इस प्रकार है—

वामभाग :—इड़ा—चन्द्रनाड़ी—वामस्वर से संबंधित।

दक्षिणभाग :—पिंगला—सूर्यनाड़ी—दक्षिण स्वर से संबंधित।

मध्यवर्ती :—सुषुम्ना—अग्निनाड़ी।[3]

---

[1] सुन्दरसार, पृ० २७–२९, छं० ५७–५९ तथा ६४ तथा टिप्पणियाँ।

[2] वही, पृ० ५७–५८, छं० १०, ११ तथा टिप्पणियाँ।

[3] वही, पृ० २६, टिप्पणियाँ। कबीर ने एक स्थान पर शरीर रूपी बटुए में बहत्तर आधारों (नाड़ियों) की कल्पना की है। यह बहत्तर संख्या नाथपंथियों की ७२००० नाड़ियों की संख्या का प्रतीक मालूम पड़ती है। द्रष्टव्य—संत कबीर, पृ० ९७, पद ७ तथा टीका।

कबीर की विभिन्न रचनाओं में इनके अतिरिक्त अन्य नाड़ियों का वर्णन उपलब्ध नहीं है। कबीर ने बंकनाल का वर्णन किया है। उनके अनुसार बंक-नाल के अन्तर्गत ही पश्चिम दिशा का मार्ग है। नाथवाणी के विवेचन में पश्चिम दिशा को सुषुम्ना कहा गया है। कबीर के आत्माराम का हिंडोला चन्द्र-सूर्य के दो खंभों पर स्थित है तथा उसमें बंकनाल की डोर लगी हुई है। साधक उसी बंकनाल में रस का पान करता है। इस नाल को यदि समभाव में रखे तो आवागमन का निरोध होता है।[१] इन नाड़ियों का संबंध द्वारों तथा शरीरगत विभिन्न विशेष पवित्र स्थानों से है। तीर्थों को इस शरीर में किस रूप में स्थान दिया गया है, इसका वर्णन संक्षेप में पिंडब्रह्माण्डवाद के प्रसंग में हम कर चुके हैं। नाथपंथी रचनाओं की तरह ही संतों की हिंदी रचनाओं में भी दस द्वारों अथवा रन्ध्रों का वर्णन नहीं मिलता। दस द्वारों की ओर संकेत करते हुए कबीर ने उनके साधन के संबंध में भी कुछ बातें कह दी हैं। उनके अनुसार दस द्वारों के रुद्ध हो जाने पर काल अवश्य आक्रमण करेगा। इस शरीर में पाँच चोर हैं तथा दस दरवाजे हैं। वस्तुतः महत्वपूर्ण द्वार तो दसवाँ द्वार है जो देवालय है तथा जहाँ ज्योति का प्रत्यभिज्ञान होता है। सामान्य व्यक्ति को तो नौ दरवाजों तथा दसवें दरवाजे का वास्तविक ज्ञान ही नहीं हो पाता। साधन में इन दस द्वारों को मुद्रित कर देना चाहिए। किंतु समाधि तो केवल दशम द्वार में ही लगती है।[२] कबीरदास के दशम द्वार का अर्थ ब्रह्मरंध्र है। इस प्रसंग में कबीर ने त्रिकुटी को छोड़कर दशम द्वार को खोलने की चर्चा की है, जिससे यह प्रतीत होता है कि यह द्वार त्रिकुटी से भी ऊपर स्थित है। एक अन्य द्वार की जो चर्चा मिलती है, वह मूल द्वार है जिसका अर्थ है—मूलाधार चक्र का द्वार। इसी प्रकार पश्चिम द्वार का अर्थ डा० रामकुमार वर्मा ने किया है—इड़ा नाड़ी का मुख। इस मुख के ओर पर आज्ञाचक्र है और उसके ऊपर ब्रह्मरन्ध्र है और उसके ऊपर दशम द्वार है।[3] ऊपर के विवेचन से एक बात यह दिखाई पड़ती है कि कबीर भी नाथपंथियों की तरह ही दशम द्वार की उपलब्धि में आवागमननिरोध की बात स्वीकार करते हैं।

---

[१] क० ग्रं०, पृ० ८८ पद ४, ९४. १८, ११०. ७०, १४०. १५७, १५९. २०९।

[२] क० ग्रं०, पृ० ७ साखी २६, पृ० २१ साखी ७, पृ० ४४ साखी १०, पृ० १०२ पद ४२, १०७. ६१, १११. ७४, १८१. २७३।

[3] संत कबीर, पृ० २०२ पद ३, पृ० २१६ पद १० तथा टिप्पणियाँ।

हम पहले कह चुके हैं कि प्राणायाम का नाड़ियों से संबंध है तथा नाड़ियों का द्वारों से। प्राणायाम का नाद-विंदु और रज-विन्दु से भी संबंध है। नाद-विन्दु शब्द भी अन्य युग्मकों की तरह ही है। कबीर ने नादविन्दुसाधन का वर्णन किया है। उनके अनुसार नाद और विन्दु के गगन में गर्जन करने से अनाहत नाद होता है।[1] विन्दु शब्द का प्रायः कबीर ने शुक्र अर्थ में ही प्रयोग किया है। विन्दुरक्षा का एक संदर्भ कबीर की रचनाओं में अन्य मतों के योग-परिचय के प्रसंग में उपलब्ध है। काजी के संबंध में उन्होंने कहा है कि वास्तविक काजी वही है जो काया का विचार करता है, काया में अग्नि का प्रज्वलन करता है, स्वप्न में भी विन्दु को क्षरित नहीं होने देता। एक अन्य स्थान पर केवल विन्दुरक्षा की खिल्ली भी वे उड़ाते हैं।[2] अन्य युग्मकों की तरह ही यह युग्मक भी शिवशक्ति के अद्वययोग की ओर संकेत करता है। कबीर ने रज-विन्दु अथवा रज-वीर्य के मिश्रण से केवल शरीर की उत्पत्ति की ओर संकेत कर इस विचारपरम्परा को छोड़ दिया है। उसके साधनक्रम का विस्तार हमें नहीं मिलता। नाद-विन्दु का विस्तृत, दार्शनिक और साधना-त्मक निरूपण कबीरादिक की रचनाओं में उस रूप में उपलब्ध नहीं जिस रूप में नाथ साहित्य में उपलब्ध है। इस साधन के संदर्भ इतने कम उपलब्ध हैं कि उनके आधार पर एक व्यवस्थित निरूपण कर नाथों के तत्संबंधी साधन से, प्रत्येक दृष्टि से, तुलना करना बहुत कठिन है।

१९—बंध, वेध और मुद्रा

नाथपंथियों की हिन्दी रचनाओं में बंध, वेध और मुद्रा का विस्तृत वर्णन उपलब्ध नहीं। संतों की हिन्दी रचनाओं में उनका विस्तृत वर्णन उपलब्ध नहीं है। बंध और वेध के तो नाम भी नहीं मिलते। कबीरदास ने अवश्य ही मुद्रा का परिचय दिया है। गोरख की हिन्दी रचनाओं में तो वज्रोली और अमरोली आदि का भी वर्णन मिल जाता है किन्तु कबीर ने किसी भी मुद्रा का नाम नहीं लिया है। उसके अर्थ के संबंध में भी कबीर का कोई मत उपस्थित नहीं किया जा सकता। नाथपंथियों ने पिण्डस्थ अन्तस्साधनात्मक मुद्राओं का वर्णन कर उन्हें ही वास्तविक माना है। कबीर भी मानसिक अथवा अन्तस्साधनात्मक मुद्रा का ही वर्णन करते हैं और उसे ही वास्तविक

---

[1] क० ग्रं०, पृ० १५४ पद १९६।

[2] संत कबीर, पृ० ६ पद ४, पृ० २१, पद ११।

मुद्रा मानते हैं। 'जोगी' को सम्बोधित कर वे मुद्रा के वास्तविक अर्थ को समझाने की चेष्टा करते हैं। उनके अनुसार निरति ही मुद्रा है। यहाँ मुद्रा का अर्थ वह कुंडलविशेष प्रतीत होता है जिसे बाद के नाथपंथी लोग धारण करना ही सब कुछ समझ बैठे थे। इसलिये वे वास्तविक 'जोगी' उसी को कहते हैं जो मनमुद्रा रखता हो। कान में मुद्रा पहनने से योग नहीं होता।[1] सुन्दरदास ने इन मुद्रा-बंध-वेधों का स्पष्ट वर्णन किया है। उन्होंने दस मुद्राएँ बताई हैं जिनमें से तीन बंध हैं और एक वेध है—महामुद्रा, महाबंध, महावेध, खेचरी, उड्यान, मूलबंध, जालंधरबंध, विपरीतकरणी, वज्रोली, शक्तिचालन। अष्टकुंभकों का साधन हो जाने पर और मुद्राओं का भी अभ्यास हो जाने पर दस प्रकार के नाद सुनाई पड़ते हैं।[2] कबीर ने एक स्थान पर मूलबंध का उल्लेख किया है। उसी प्रकार खेचरी का यद्यपि नाम लेकर उन्होंने कोई वर्णन नहीं किया है तथापि अमृतरसपान संबंधी प्रसंगों को देखने से इस खेचरी साधन के कुछ संकेत अवश्य मिल जाते हैं।[3]

२०—प्राणायाम, प्रणवसाधन, अजपाजाप, नादानुसंधान और सुरति-शब्द-योग

प्राणायाम का प्रणवसाधन, नादानुसंधान आदि से भी संबंध है। संतों के इस प्रकार के साधन का विचार करते हुए डा० बड़थ्वाल ने जप, अजपाजाप, और नादसाधन को सुमिरन का ही प्रकारभेद माना है। उनके अनुसार सुमिरन तीन प्रकार का होता है—'जाप' (बाह्य क्रिया), 'अजपाजाप' (बाहरी जीवन का परित्याग तथा आभ्यंतरिक जीवन में प्रवेश), अनाहत (आत्मा के गूढ़तम अंश में प्रवेश)। सुमिरन एक प्रकार की प्रेमसाधना है, इस संबंध में हम भक्ति के प्रसंग में भी लिख चुके हैं। उन्होंने बतलाया है कि 'नाद-सुमिरन' जिसे हम 'मन्त्रयोग' भी कह सकते हैं, 'सुरति-शब्द-योग' का ही एक दूसरा रूप है। इस प्रकार वह सारे योगों का भी योग है। भक्तियोग, राजयोग, मंत्रयोग कर्मयोग, लययोग, हठयोग, एवं ज्ञानयोग भी उसी के विविध रूपान्तर कहे जा सकते हैं। अपनी प्रारम्भिक दशा में यह मन्त्रयोग है, जो राजयोग द्वारा

---

[1] क० ग्रं०, पृ० १०९ पद ६९, पृ० १५८ पद २०६, पृ० १६२ पद २१७।

[2] सुन्दरसार, पृ० २८–२९, छं० ६४ तथा टिप्पणियाँ।

[3] क० ग्रं०, पृ० ९८ पद ३१।

अनुप्राणित रहा करता है और अपनी अंतिम दशा में यही ज्ञानयोग है जिसमें उस निर्विकार के वास्तविक स्वरूप की अनुभूति प्राप्त होती है।...इन सबकी सिद्धि एक प्रकार की प्रेमसाधना द्वारा होती है।[1] हम पहले सुन्दरदास के अनुसार बतला चुके हैं कि संतों के अनुसार भी प्राणायाम सबीज और समन्त्र होना चाहिए। तांत्रिक योग के प्रकरण में हम इसका सविस्तर वर्णन कर चुके हैं। नाथपंथियों ने तथा अन्य संप्रदायों ने भी ओंकार, प्रणव को इस दृष्टि से अत्यधिक महत्ता दी है। ओंकारसाधन भी एक प्रकार से अद्वैत साधन है। अ—उ—म का विवेचन करते समय हम इसे स्पष्ट कर चुके हैं। जैसा हम कह चुके हैं कबीर ने परमतत्व के अनेक नामों का प्रयोग करते हुए भी 'राम' नाम को विशेष महत्व दिया है तथा उसके प्रति विशेष अनुराग सूचित किया है। 'ररां' और ममां' का भी हम विवेचन कर चुके हैं। सुमिरन के लिये वे बार-बार इसी नाम का उपदेश देते हैं। जैसे यही उनका मन्त्र है। कबीरदास ने सुमिरन के उपर्युक्त तीन प्रकारों की ओर संकेत कर बताया है—'जाप मर जाता है, अजपा जाप भी नष्ट हो जाता है और अनाहत भी नहीं रह जाता, जब सुरति शब्द से लीन हो जाती है, तब उसका जन्म व मरण के चक्कर का भय छूट जाता है।[2] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुतः एक मूल नाद अथवा शब्द ही साधन की विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न रूपों में साक्षात्कृत होता है। नाथों के योग के विवेचन में इसी तथ्य की ओर संकेत किया गया है। इस प्रकार नामस्मरण, अजपाजाप, नादानुसंधान और प्रणवसाधन अथवा ओंकारसाधन, सभी मंत्रयोग के अन्तर्गत गृहीत हैं और एक ही साधन की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। संतों के सुरति-शब्द-योग का परिचय देते हुए डा० बड़थ्वाल ने बताया है कि वह योग जिसके द्वारा सुरति एवं शब्द का संयोग सिद्ध होता है और उक्त सीमाएँ शब्द में फिर लीन हो जाती हैं, शब्दयोग अथवा सुरति-शब्द-योग कहलाता है और वह शब्द सर्वप्रथम भगवन्नाम के रूप में मुँह से निकलता है और अन्त में स्वयं शब्द रूप ब्रह्म हो जाता है।[3] इन सभी साधनाओं का प्राणायाम से संबंध है। प्राणायाम के विषय में हम पहले ही कह चुके हैं कि यह व्यष्टिप्राण और समष्टिप्राण का संयोगसाधन है। पिण्डब्रह्माण्डवाद इसका भी मूलाधार है। संतों की साधना में गृहीत शब्द-

---

[1] हिं० का० नि० सं०, पृ० २२५-२२६, २२८।

[2] वही, पृ० २१७, २१८, २२०, २२५।

[3] वही, पृ० २२९।

योग में भी इसी प्रक्रिया एवं सिद्धान्त को ग्रहण किया है। अतः इसमें भी षट्चक्र आदि की पूरी साधना गृहीत है।[१] इस विवेचन से स्पष्ट है कि 'निर्गुणियों के लिये प्राणायाम एक सहायक साधन है, जो नामस्मरण के पूरक के रूप में किया जाता है और उन्हें प्रत्येक निश्वास व प्रश्वास के साथ इसे करते समय, ईश्वर का नामस्मरण करना पड़ता है।[२] पं० परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार संतों ने इस साधन का उपयोग मानसनियमन के लिये किया है। उनके अनुसार भी 'इस योग की साधना में अपनी 'सुरति' को अपने भीतर निरन्तर उठते रहनेवाले 'अनाहत नाद' के साथ सद्गुरु की बतलायी युक्ति द्वारा जोड़ना पड़ता है। वह अनाहत नाद ही वस्तुतः भगवन्नाम है और अपन का ही एक सूक्ष्म रूप वह सुरति भी है जिसे उसके साथ जोड़ना आवश्यक होता है।'[३] इस प्रकार के विवेचन से नाथों के उपर्युक्त साधनों से संतों के इस साधन का वैलक्षण्य भी स्पष्ट हो जाता है। संतों ने सुमिरन, प्रेम, भक्ति के लिये प्राणायाम तथा तत्संबंधी अन्य साधनों का विलक्षण समन्वय किया था।

बतलाया गया है कि अष्टकुंभक का साधन हो जाने पर और मुद्राओं का भी अभ्यास हो जाने पर दस प्रकार के नाद क्रमशः सुनाई देते हैं। इसी को अनाहत नाद कहते हैं, जो बिना कारण, प्रमाण वा उद्योग के स्वयम् भासता है। सुंदरदास ने ये दस प्रकार के नाद बताये हैं—भ्रमरगुंजार, शंखध्वनि, मृदंगवाद्य, ताल शब्द, घंटानाद, वीणाध्वनि, भेरिनाद, दुंदुभिनाद, समुद्र-गर्जना, मेघघोष।[४] नाथों ने भी मृदंग, घड़ी, भ्रमर, मर्द्दल, शंख आदि के विभिन्न नादों अथवा शब्दों का वर्णन किया है। कबीरदास ने इन विभिन्न शब्दों को सुना है। शून्यमंडल में मर्द्दल के वादन को सुनकर उनका मन नाच उठता है। वे कमल के प्रकाशित होने पर, निर्मल सूर्य के उदित होने पर अज्ञान-निशान्धकार के मिट जाने पर अनाहद तूर्य का वादन सुनते हैं। इसी प्रकार उन्होंने गगन में 'दमांमा' (नगाड़ा), घंटा आदि के शब्दों का भी वर्णन किया है।[५] कबीर ने इन नादों में अनवरत रूप से मन को लगाये रखने के लिये

---

[१] वही, पृ० २२९-२३०।
[२] वही, पृ० २४३।
[३] कबीर साहित्य की परख, पृ० १०३।
[४] सुंदरसार, पृ० २८-२९।
[५] क० ग्रं०, १६.४७, ६८.६, ९०.६, १६.४३, ११०.७२।

कहा है। नाद की अखंड धारा के साधन का उपदेश वे अवधूत को भी देते हैं। उनका मन जहाँ अनाहत किंगरी (छोटी सारंगी, चिकारा) बजती है, वहीं उस दीर्घ नाद में उनका मन लगता है। गगनमंडल का भृंगीनाद भी उन्हें आकर्षित करता है। इसी प्रकार उन्होंने जंत्री (यंत्री, वीणा आदि) आदि के स्वर का श्रवण कर मानस संयम किया है।[१] वे 'राम राम' को अनाहत किंगरी का वादन कहते हैं। उनके अनुसार यह अनाहत शब्दातीत है। शरीर के दस द्वारों का मुद्रण अथवा अवरोध कर देने से ही ऐसे नाद का उदय और श्रवण संभव है।[२] पलटूदास ने भी वंशीरव, भ्रमरगुंजार आदि का वर्णन किया है।[३] नाथों की तरह ही संतों ने भी 'सबद' शब्द का दो अर्थों में प्रयोग किया है। पहला अर्थ है गुरु के उपदेश तथा दूसरा अर्थ है अनाहत शब्द।[४] नाथों की हिन्दी रचनाओं के समान ही संतों की भी रचनाओं में नाद की चार अवस्थाओं का वर्णन उपलब्ध नहीं। नाद की विभिन्न अवस्थाओं के आधार पर योगियों का जो वर्गीकरण अथवा उनकी अवस्थाओं का वर्णन नाथों की हिन्दी रचनाओं में मिलता है, वह भी कबीरादि की रचनाओं में उपलब्ध नहीं।

इसी प्रकार प्राणायाम से संबन्धित हैं प्रणवसाधन, अजपाजाप और सोहं। नाथपंथी रचनाओं के योग में हम कह चुके हैं कि ओंकार या प्रणव ही मूल-ध्वनि है। इसी को नाथसिद्धों ने स्वसंवेद्य और सूक्ष्मवेद कहा है। इसी को सभी वेदों का मूल कहा है। वस्तुतः यही वेद वेद्य है। संतों ने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेदादि के सामान्य पाठ की निन्दा और खंडन किया है। इन वेदों को मिथ्या तो वे कभी नहीं मानते। उनकी दृष्टि में इनका प्रत्यभिज्ञान न करनेवाले का ही दोष है। दोष तो व्यक्ति के मन में होता है जिससे संसार की चीजों में दोष दिखाई पड़ता है।[५] वेद में मूल तत्व क्या है, इसका उत्तर नाथपंथियों के अनुसार प्रणव है। प्रणव अथवा ओंकार अथवा सूक्ष्मवेद ही वेद का सार है इसे लोग पहचान नहीं पाते। कबीरदास ओंकार से जगत् की

---

[१] क० ग्रं०, १०९.६९, १३७-१३८.१५३।

[२] संत कबीर, पृ० २ पद २, पृ० २० पद १८, पृ० १३९ पद १०।

[३] संत काव्य, पृ० ५२७, ५३३, ५३४।

[४] क० ग्रं० (१) २९.१८, ६४.८.६१८, ९७.२९, (२) ६३.१, ९८-९९.३२।

[५] संत कबीर, पृ० २४५ पद ४; क० ग्रं०, पृ० १०७-१०८, पद ६२।

उत्पत्ति मानते हैं। वही आदि है, मूल है।[१] कबीर के ओंकार सम्बन्धी विचारों पर नाथों से तुलना करते हुए डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा है कि 'स्थूल वेद यज्ञ-याग का विधान करते हैं, योगियों को इससे कोई वास्ता नहीं। उनका मतलब समस्त वेदों के मूलभूत ओंकार मात्र से है। क्योंकि ओंकार ही वेद का सार है। कबीरपंथ में भी स्थूल वेद और सूक्ष्म वेद की कल्पना की गई है।......'ज्ञानचौंतीसा' के आदि में कबीरदास ने मानों इसी मत का समर्थन करते हुए कहा है कि जो ओंकार या प्रणव को जानता है, वह उस परा-शक्ति को जानता है जो लिखकर मिटा सकती है अर्थात् जो सब कुछ करने में समर्थ है। और इसके बाद ही शायद ओंकार पर बहुत अधिक जोर देनेवाले इन योगियों को लक्ष्य करके कहा है कि ओंकार की बात तो सभी किया करते हैं, पर इसे समझ सकनेवाले बिरले ही हैं।[२] संतों के साहित्य में, विशेषकर कबीर के साहित्य में प्रणवसाधन का विस्तृत निरूपण उपलब्ध नहीं। अजपा-जाप का वर्णन पहले ही हो चुका है। 'सोऽहं' वस्तुतः हंसपवन का ही सिद्ध रूप है। 'हंस' का 'सोऽहं' में परिवर्तन अथवा विपरीतकरण भी साधन है और इसके साथ भी साधक की भावसाधना संबंधित है। अद्वैतानुभूति के लिये इसकी व्याख्या में कहा जाता है कि हं और स दो प्रकार के पवनों की ओर संकेत करते हैं। हंस पवन का 'लौ' में क्रीड़ा करना 'सोऽहं' में परिवर्तन है जिसमें प्रपंच, प्रसारित हाट का संहार होता है, मेल होता है।[३] श्वास को दोनों क्रियाओं में 'हं-स' की ध्वनि होती है किन्तु साधन करने पर इसी ध्वनि का परिवर्तन अथवा दिव्यान्तर होता है। 'हंस' सांसारिक प्रक्रिया की ओर संकेत करता है और 'सोऽहं' पारमार्थिक प्रक्रिया की ओर। पलटू ने 'सोहंगम' शब्द की ध्वनि का उदय आठवें महल में माना है। यह आठवाँ महल सात चक्रों से भी ऊपर परमपद का स्थान प्रतीत होता है। अन्यत्र उन्होंनें 'सोऽहं' वाणी का उदय भँवर गुफा में माना है।[४] कबीर ने इसी 'सोऽहं' का जप करने के लिये कहा है। सुंदरदास (छोटे) ने प्राणायाम के साथ 'सोऽहं'साधना का उल्लेख गोरख के मत के अनुसार किया है।[५]

---

[१] क० ग्रं०, पृ० १२६-१२७ पद १२१; पृ० २४४।

[२] कबीर, पृ० ३४; बीजक, पृ० २४६, टीका भी द्रष्टव्य।

[३] क० ग्रं०, पृ० १८८-१८९ पद २९६।

[४] संतकाव्य, पृ० ५२७,५२९।

[५] संत कबीर, पृ० २२६-२२७, पद १९ तथा उसकी टीका; सुंदर ग्रंथा-वली, भाग १, पृ० ४७-४८।

संतों के योग में गृहीत प्राणायाम के इस परिचय से यह स्पष्ट हो जाता है कि नाथों के समान ही वे भी प्राणायाम की बहुमुखी उपयोगिता को स्वीकार करते हैं। प्राणायाम से षट्चक्रभेद, चन्द्रसूर्यसाधन, नादानुसंधान, प्रणवसाधन, लययोग, मानसनियमन आदि साध्य होते हैं, ऐसा संत भी मानते हैं। अष्टांग योग के अनुसार प्राणायाम के बाद प्रत्याहार की गणना की जाती है। नाथपंथियों ने जिस प्रकार हठयोग को ही योग के अन्तर्गत मुख्यतम साधन मान लिया था, उस प्रकार संतों ने उसे महत्व नहीं दिया। अपितु वह भी नामसाधना, स्मरण आदि का उपकारक अथवा सहायक होकर ही आया है। प्राणायाम के बाद के साधन क्रमशः मानससाधन के अधिक समीप तथा उसके लिये अपेक्षाकृत अधिक उपयोगी हैं। ये हैं—प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। क्रम से इनका तथा उनसे संबंधित अन्य साधनों का विस्तार नीचे किया जा रहा है।

२१—प्रत्याहार

प्रत्याहार मानस का सभी विकारों से आहरण है। नाथसिद्धों की एक भिन्न परिभाषा के अनुसार चन्द्रामृतमयी धारा का भास्कर से प्रत्याहरण ही प्रत्याहार है। वस्तुतः जैसा पहले बताया गया है, प्रत्याहार मानससाधन है। इन्द्रियों से मन अलग नहीं है। कुछ मतों के अनुसार प्रत्याहार इंद्रियों का उनके विषयों से प्रत्याहरण है। सुंदरदास ने इन्द्रियों के प्रत्याहार का उल्लेख किया है।[1] इन्द्रियों का पंचभूतात्मक विषयों तथा उनके गुणों से सम्बन्ध है। कबीरदास ने 'इन्दीपसर' (इन्द्रियप्रसार) को मिटाने का उपदेश दिया है। जो व्यक्ति इसमें समर्थ होगा, वही सहज को प्राप्त कर सकेगा।[2] नाथपंथियों के सिद्धसिद्धान्तपद्धति में आद्यंत पाँच संख्या का प्रभुत्व है। कबीरदास ने अपनी रचनाओं में 'पंच', 'पाँच' शब्द का अत्यधिक प्रयोग किया है। वे कभी इससे पंचभूत कभी पंचेन्द्रिय, कभी काम-क्रोध-मद-लोभ-मोह, कभी पंचविषय आदि की ओर संकेत करते हैं। शैवों में त्रिपुरदाह का बहुत महत्व है, किन्तु कबीर पाँच पुरियों के मारण का उपदेश देते हैं। इन सभी 'पाँच' संख्यायुक्त शब्दों का प्रत्यक्ष अथवा परोक्षभाव से किसी न किसी प्रकार पंचेन्द्रियों, पंचभूतों और पंचदोषों (काम, क्रोध आदि) से है। इन्द्रियों का प्रत्याहरण करने पर ही मानस प्रत्याहरण संभव है। इन पंचसमूहों को दोस्त बनाना, साधन के अनुकूल बनाना अत्यधिक कठिन है। जब शरीर के पाँच संगी 'पिव-पिव'

---

[1] सुन्दरसार, पृ० २९, टिप्पणी।

[2] क० ग्रं०, पृ० २८ साखी २।

करने लगे तथा छठाँ मन भी उसका स्मरण करने लगे, तभी रामरत्न की उपलब्धि संभव है। जब कबीर के आध्यात्मिक विवाह के प्रसंग में पंचेन्द्रियाँ उनके लिये मंडप बनाती हैं, वे पंचतत्वों के बाणों का संधान कर मनमृग को मारते हैं। विवाह के समय जब राम आते हैं तो कबीर शरीर (इन्द्रियों) को उनमें अनुरक्त कर मन को भी अनुरक्त करने की चर्चा करते हैं। इसमें पाँचों तत्व बराती के रूप में प्रस्तुत होते हैं। यह मन ही गोरख है, यह मन ही गोविन्द है। अतः इस मन की ही रक्षा करनी चाहिए। यह मन ही कर्ता है। यह मन मदमत्त है, पानी से भी पतला, धूआँ से भी झीना, पवन से भी अधिक तीव्र गतिवाला है। ऐसे मन को दोस्त बनाना चाहिए। इसके अहंकार को दूर करना चाहिए। जब गगन में गर्जन होता है, तब यह मन शून्य में समाहित हो जाता है।[1] प्राणायाम के बाद पंचेन्द्रियों के उनके विषयों से आहरण के साथ छठीं इन्द्रिय मन के साधन की क्रिया समीचीन है। मन-पवन की यह साधना नाथों में भी इसी रूप में मिलती है। किन्तु नाथों में यह साधन कायसिद्धि में सहायक होता है और इसकी पूर्णता के बाद ही नाथ-पद की प्राप्ति मानी गई है। संतों ने हरि और हरिभक्ति के लिये, प्रेममय आध्यात्मिक विवाह के लिये उपर्युक्त साधन को आवश्यक माना है। इन्द्रियों तथा मन के साधन से संबंधित उपर्युक्त वर्णन नाथसिद्धों के तत्संबंधी वर्णन के पर्याप्त समान हैं। नाथों में पवनसाधन की जितनी महिमा है उतनी ही महिमा संतों के साधन में मानस साधन को प्रदान की गई है।

२२—धारणा और कुंडलिनीयोग, षट्चक्रभेद और लययोग

प्रत्याहार के बाद धारणा का क्रम आता है। तांत्रिक योग के विवेचन में इस धारणा के अन्तर्गत ही कुंडलिनीयोग, लययोग, षट्चक्रभेद आदि का वर्णन किया गया है। बाह्य और अंतस् के साथ एकमात्र निजस्वरूप के अंतःकरण में साधन को धारणा कहा गया है। इसमें पंचभूतों का पृथक्-पृथक् धारण एवं मानस का निश्चलत्वसंपादन होता है। पंचभूतों के क्रमानुसार ही पाँच प्रकार की धारणा भी बतलाई गई है। प्रत्याहार में मुख्य क्रिया इंद्रियों का उनके विषयों से प्रत्याहरण है और धारणा में पंचभूतों का लय तथा आज्ञाचक्र में मनोलय स्वीकार किया गया है। जब तक इंद्रियों को उनके विषयों से प्रत्याहृत न कर लिया जाय तब तक इंद्रियाँ अन्तर्मुखी नहीं हो सकतीं और

[1] क० ग्रं०, २९. १५, ५. ७, १६४—१६५. २२६, ३०. ३०, ८७. १, १७५. २५६, २९. १०, २९. १२, ३०. २६, ९०. ७।

जब तक ये अन्तर्मुखी न होंगी तब तक मन भी स्थिर न होगा। परिणाम-स्वरूप ध्यान में मन आलौकिक विषय में केंद्रीभूत न होगा। पंचभूत वस्तुतः संपूर्ण शरीर के मूलतत्व हैं। इनके साथ मन का आज्ञाचक्र में लय ही वस्तुतः तन-मन का समन्वित आध्यात्मिक विनियोजन है। इसी संगति से लोग इस धारणा के अन्तर्गत लययोग को ही भिन्न-भिन्न पक्षों और क्रियाओं की दृष्टि से विचार कर कुंडलिनीयोग अथवा षट्चक्रभेद कहा जाता है।

संत साहित्य में धारणा नाम देकर इसका वर्णन उपलब्ध नहीं है। सुन्दर-दास ने अवश्य ही अष्टांग योग के अन्तर्गत इसका वर्णन किया है।[1] टिप्पणी-कार के अनुसार सुन्दरदास (छोटे) ने धारणा का वर्णन गोरक्षपद्धति के अनुसार किया है। तांत्रिकों तथा नाथपंथियों की संस्कृत रचनाओं में जिस प्रकार पाँच तत्वों की धारणा का वर्णन मिलता है, उसी प्रकार सुन्दरदास ने भी पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश तत्वों की धारणा का वर्णन किया है। टिप्पणीकार के अनुसार 'तत्वों को ध्यानस्थ कर बीज मंत्रों से ध्यान कर तत्वों पर जपाधि-कार करना ही धारणा है।' इनमें से प्रथम धारणा पृथ्वी तत्व की है। वह धारणा चतुष्कोण, लकारयुक्त पीत वर्ण हृदयमंडल में की जाती है। इसी प्रकार सभी तत्वों की धारणा का विवरण इस प्रकार है—

तत्व	आकार	अक्षर	स्थान	वर्ण	देवता
१—पृथ्वीतत्व	चतुष्कोण	लकार	हरिमंडल	पीत	विधि
२—जलतत्व	अर्द्धचन्द्राकार	वकार	कंठ	पारद	ऋषी केश (विष्णु)
३—अग्नितत्व	त्रिकोण	रेफसंयुक्त	तालुका-मध्य	पद्म-राग (इंद्रगोपद्युति)	रुद्र
४—वायुतत्व	षट्कोण	यकार	भ्रूमध्य	मेघ वर्ण	ईश्वर
५—आकाशतत्व	वर्तुलाकार	हकार	ब्रह्मरंध्र	शुभ्रवर्ण	सदाशिव

ये धारणाएँ स्तम्भिनी, द्राविणी, दहनी, भ्रामिणी, शोषिणी नाम की कही गई हैं। यह नामकरण भी गोरक्षपद्धति के अनुसार ही है। टिप्पणीकार के अनुसार यह पंचधारणाओं का वर्णन गोरखनाथ की पद्धति के दूसरे शतक के श्लोकों के प्रायः अनुसार है।[2] यहाँ सुन्दरदास (छोटे) ने धारणा का कोई

[1] सुन्दरसार, पृ० २९।

[2] सुन्दर ग्रंथावली, भाग १, पृ० ५१-५३ तथा पादटिप्पणियाँ।

भी संबंध कुंडलिनीयोग से नहीं बताया है। कुंडलिनीयोग का दूसरा नाम लययोग है। सुन्दरदास ने सर्वाङ्गयोगप्रदीपिका में लययोग का जो वर्णन किया है, वह राम में 'लय' लाने का वर्णन है जो लययोग के मानसलय से अधिक साम्य रखता है।

जैसा ऊपर कहा गया है पंचेन्द्रियों का संबंध पंचतत्वों से है, पंचभूतनिर्मित-विषयों से है। इंद्रियाँ पंचभूतों की अपेक्षा अधिक स्थूल हैं। अष्टांग योग में उत्तरोत्तर सूक्ष्म साधनों को स्वीकृति दी गई है। लययोग के जिस साधन का शास्त्रीय साधनात्मक निरूपण किया गया है, उसमें प्रत्येक भूततत्व का क्रमशः ऊर्ध्वस्थित चक्रों में निवास बताया गया है। उनका साधन भी उसी क्रम से किया जाता है। किन्तु सुन्दरदास के अतिरिक्त अन्य संतों ने इसका इस रूप में निरूपण नहीं किया है। यों, लययोग को सिद्धान्तरूप में स्वीकार कर लेने के कारण उन लोगों ने पंचभूतों अथवा तत्वों के इस क्रमविधान को भी स्वीकार कर लिया होगा, ऐसा अनुमान कर लिया जा सकता है। सामान्य रूप से कबीर ने पंचतत्वों और मनस्तत्व के लय का वर्णन अवश्य किया है। आध्यात्मिक विवाह के प्रसंग में पाँच जन (पाँच भूत तत्व) ही परावृत होकर, दिव्य होकर, साधक के विवाह के लिये मंडपनिर्माण करते हैं। उन्होंने सहज भी उसी को कहा है जिसमें पंचभूततत्व दिव्य होकर परमतत्व का स्पर्श करते हैं, उसके अनुकूल हो जाते हैं। जब पाँच तत्व परमतत्व में लीन हो जाते हैं, तभी मन सुरति में समाहित होता है। ये पाँच तत्व आध्यात्मिक विवाह में बराती होकर चलते हैं। यह परिवर्तन ही महत्वपूर्ण है। पंचतत्वों की प्रापंचिक रचना से वियुक्त होना आवश्यक है और तभी साधक को राम की प्राप्ति हो सकती है। वस्तुतः यह परिवर्तन पाँचों तत्वों का अखंड निराकार मंडल में समाहित होना है।[१] इसी प्रकार वे मन को भी उलट कर उस परमतत्व में समाहित करने को कहते हैं। जीव की सामान्य गति प्रपंचोन्मुख होती है। मन उसी दिशा में चलने को प्रेरित करता है। उस मन को उसी प्रकार उलट देना चाहिए जिस प्रकार ताकू के सूत को, उसे उलट कर लपेट दिया जाता है। यह भी एक प्रकार से 'परावृत्ति' है। सामान्य मन प्रपंच में निरत रहता है किन्तु उसे शून्य में समाहित होना चाहिए और तभी अनाहत तूर्य का श्रवण संभव है।[२] यहाँ 'समाना' ही लय की क्रिया की ओर संकेत करता है।

---

[१] क० ग्रं०, पृ० १६४-१६५ पद २२६, ४२. २, ५७.४, ८७.१ १३६-१३७. १५०, १३९-१४०.१५७। [२] क० ग्रं०, २८.१, ९०.७।

किन्तु इस शब्दविशेष से व्यक्तशक्ति की सचेष्टता की ओर भी विशेष संकेत होता है।

संतों के योग में चक्रसाधन अथवा षट्चक्रभेद भी स्वीकृत है। हम यह पहले ही कह चुके हैं कि चक्रों की संख्या तथा विभिन्न कमलों के दलों की संख्या में मतभेद पाये जाते हैं। नाथों ने चक्रों का विवरण देने के लिये कुछ अलग रचनाएँ भी लिखी हैं, किंतु कबीरादिक की रचनाओं में ऐसा कोई प्रयास नहीं मिलता। सुन्दरदास ने षट्चक्रों (आधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा) का वर्णन किया है। उन्होंने उसका पूरा विवरण भी दिया है किन्तु अन्य संतों ने ऐसा नहीं किया है। कबीरदास ने षट्चक्रों की साधना को स्वीकार किया है किंतु वे उनका अधिक स्पष्ट विवरण नहीं देते। नाथों की रचनाओं में षट्चक्र, अष्टचक्र और नौ चक्रों तक का वर्णन मिलता है। किन्तु कबीर और सुन्दरदास ने केवल षट्चक्रों का निर्देश और वर्णन किया है। कबीर ने एक पद में कई कमलों का उल्लेख किया है। उसमें उन्होंने 'षट्दल कँवल, 'अष्ट कँवल दल'', 'दुवादस' 'षोडस कँवल' के साधन की ओर संकेत किया है। इसी प्रकार त्रिवेणी और गगन का भी उल्लेख करते हैं। त्रिवेणी से आज्ञा तथा गगन से सहस्रार चक्र अभिप्रेत हैं। इसी प्रकार षट्दलकमल से स्वाधिष्टान की ओर, द्वादस से अनाहतचक्र तथा षोडशदलकमल से विशुद्धिचक्र की ओर संकेत हो सकता है। अष्टदलकँवल का कोई निरूपण षट्चक्रनिरूपण अथवा नाथों की रचनाओं में नहीं मिलता।[1] उनके अनुसार जब तक नाभि-कमल का शोधन नहीं किया जाता तब तक हीरे का हीरे से बेध नहीं किया जा सकता।[2] यह नाभिकमल ही मणिपूरचक्र है जिसके दलों की संख्या १० तांत्रिकों और नाथों द्वारा स्वीकार की गई है। उन्होंने विभिन्न स्थलों पर हृदयकमल का भी उल्लेख किया है जिसे तांत्रिकों और नाथों की परंपरा में अनाहतचक्र कहा जाता है। किन्तु कबीर की रचनाओं में उन प्रयोगों को देखने से वहाँ सामान्य हृदय का ही अलंकृत वर्णन सा प्रतीत होता है।[3] उनके चक्र संबंधी विवरणों से मालूम होता है कि वे सहस्रार के अतिरिक्त षट्चक्रों को

---

[1] क० ग्रं०, ८८.४। डा० द्विवेदी के अनुसार यह चक्रकल्पना सर्वांश में ऊपर बताई हुई व्याख्या (तांत्रिक और कबीरपंथी) के अनुकूल नहीं है। कबीर, पृ० ६६।

[2] क० ग्रं०, १५७.२०२।

[3] क० ग्रं०, ८९-९०.६, १२७.१२३।

मान्यता देते हैं और उनके भेदन के लिये पवनसाधन अथवा पवन को उलटना आवश्यक समझते हैं।[1] इस संबंध में नाथों से उनकी समानता है, यद्यपि नाथों की कुछ रचनाओं में आठ और नौ चक्रों की भी कल्पना मिलती है। नाथों के समान ही संतों ने भी 'अधः' और 'ऊर्ध्व' शब्द का प्रयोग किया है। संतों के ऐसे अनेक प्रयोगों से भी, नाथों के समान ही, क्रमशः साधक के घटस्थ निम्नतम साधनकेंद्र से ऊर्ध्वतम साधन केंद्र की ओर आरोहण ही प्रतीत होता है।

सुन्दरदास (छोटे) ने अनेक स्थानों पर चक्रों का वर्णन किया है। उनके द्वारा दिया गया विवरण इस प्रकार है—

चक्रनाम	दल संख्या	अक्षर (वर्ण)	स्थान	रंग
१–आधारचक्र	४	व, स, ष, श	+	कंचन
२–स्वाधिष्ठानचक्र	६	ब, भ, म, य, र, ल	+	माणिक्य
३–मणिपूरचक्र	१०	ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न प, फ	नाभि	तरुण अर्क
३–अनुहात(अनाहत)चक्र	१२	क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ट, ठ	हृदय	विद्युत् प्रभा
५–विशुद्धा (विशुद्ध) चक्र	१६	अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः	कंठस्थान	दीपक प्रभा
६–आज्ञाचक्र	२	हं, क्षं	भ्रूमध्य	नील वर्ण

इन चक्रों पर जो ध्यान लगाया जाता है, उसे सुन्दरदास ने सगुण ध्यान कहा है और आत्मा-ध्यान को निर्गुण ध्यान कहा है किन्तु बिना सगुण ध्यान के निर्गुण का प्रत्यभिज्ञान असंभव है।[2] नाथों और संतों के चक्र संबंधी विवरणों को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि नाथों और संतों, दोनों में, चक्रों की संख्या तथा कमलों के दलों की संख्या में मतभेद मिलता है किन्तु तान्त्रिकों की सर्वमान्य षट्चक्रव्यवस्था को दोनों ने स्वीकर कर वर्णन किया है। जैसे गोरख की रचनाओं में षट्चक्र, नौ चक्र और अष्टचक्रों का वर्णन मिलता है तथा उनके विवरणों में भी भिन्नता है, उसी प्रकार संतों में भी दादू के नौ चक्रों के विवरण

[1] क० ग्रं०, ९४.१८, ९०.७, ९१.८; संत कबीर, ५०.४७; क० ग्रं०, ९६.२३, १५९.२१०।

[2] सुन्दरग्रंथावली, भाग १, पृ० ५४-५६, १०७।

में तथा सुन्दरदास के षट्चक्रों के विवरण में भिन्नता है। सुन्दरदास का वर्णन तांत्रिक 'षट्चक्रनिरूपण' के अनुकूल प्रतीत होता है।

यहाँ संक्षेप में हम कुंडलिनी और 'लय' के संबंध में भी विचार कर लेते हैं। षट्चक्रभेद की क्रिया के लिये कुंडलिनीयोग का ज्ञान आवश्यक है। कुंडलिनी का जागरण तभी संभव होता है जब पवन और इंद्रियों पर पूर्ण प्रभुत्व हो। पाँच 'जानों' (पंचभूत अथवा पंचदोष) को अपने साधन का संगी बना लेने पर (अमृतपान होता है) नशा चढ़ता है। बार-बार प्रेम का प्याला पीते पीते सोती हुई नागिन (कुंडलिनी) जाग जाती है। आकाश को औंधे कूएँ के रूप में कबीर ने नाथों की तरह ही कल्पित किया है। पाताल (मूलाधार के निम्न भाग) में पनिहारी (कुंडलिनी) का निवास है। हम पहले ही कह चुके हैं कि कबीर ने षट्चक्रों को कुंभों के रूप में कल्पित किया है। कुंडलिनी पनिहारी है जो षट्चक्रों के कुंभों से आध्यात्मिक अनुभूति का जल भरती है। (आध्यात्मिक अनुभूति) जल तो विश्व में चारों ओर प्रसारित है किंतु इसके बीच रहनेवाली हंसिनी (जीवात्मा) प्यासी रहती है क्योंकि उसे युक्ति का ज्ञान नहीं रहता। जीवात्मशक्ति का प्रतीक कुंडलिनीशक्ति तो सभी घटों में वर्तमान है। षट्चक्रों के रूप में कुंभ भी हैं किंतु युक्ति न जानने के कारण, गुण (रस्सी न होने के कारण) के बिना वह कुंडलिनी किस प्रकार जल भर सकती है।[१] यदि प्रत्याहार इंद्रियों का उनके विषयों से प्रत्याहरण है तो धारणा भूततत्वों का दिव्य रूप में परिवर्तन है। इस कुंडलिनीसाधन को भूतशुद्धि कहते हैं। पंचतत्व का परमतत्व में विलीनीकरण कबीर स्वीकार करते हैं, ऐसा कह चुके हैं। कहा गया है कि इंद्रियों के प्रत्याहार से मन अन्तर्मुख हो जाता है। यह भी मन का विपरीतकरण है। पवन को उलटने से ही षट्-चक्रभेद साधित होता है, ऐसा कबीर, नाथपंथियों के समान ही मानते हैं। इसी प्रकार सुषुप्त नागिन (कुंडलिनी) भी जाग्रत की जाती है। यदि कबीरादि षट्चक्रभेद की बात स्वीकार करते हैं तो यह भी स्वीकार किया जा सकता है कि वे कमलों का उलटना भी मानते हैं। तांत्रिकों ने कुंडलिनी की तीन अवस्थाएँ मानी थीं—कुमारी, योषित और पतिव्रता। पतिव्रता ही सर्वोत्कृष्ट अवस्था है। कबीर ने तथा अन्य संतों ने अपनी साखियों के 'पतिव्रता कौ अंग' में पातिव्रत और पतिव्रता जीवात्मा का विस्तार से निरूपण किया है। भक्ति के विभिन्न शास्त्रीय ग्रंथों में जीवात्मा अथवा जीवशक्ति की,

---

[१] क० ग्रं०, १११. ७४, १६. ४५, १८९. २९८।

जो भक्तिभाव से आप्लुत है, इन तीन अवस्थाओं का कोई विवरण उपलब्ध नहीं। हम पहले कबीर को उद्धृत कर यह बतला चुके हैं कि जीवात्मा तन-मन सब कुछ सर्मपित कर, समाहित कर परम प्रियतम से मिल गई। यहाँ तन और मन का समाहित होना या समर्पण वस्तुतः तन और मन का विपरीत-करण है। कबीर ने एक स्थान पर कहा है जबतक प्रिय का परिचय नहीं मिलता तब तक कन्या को कुमारी ही समझना चाहिए।[१] तांत्रिक विचार-सरणि के अनुसार यदि कुंडलिनी साधक की घटस्थ जीवात्मशक्ति का प्रतीक है तो इस आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि कबीर को पतिव्रता, कुमारी आदि की जीवात्मा के लिये कल्पना इसी तांत्रिक प्रभाव से संपन्न योग से ही मिली होगी। नाथसाहित्य में यह कल्पना उपलब्ध नहीं। कबीर ने 'जोगणी' शब्द का प्रयोग भी 'कुंडलिनी' के लिये ही किया है। किंतु वहाँ उसका योगी साधक के साथ कोई संबंध नहीं बतलाया गया है।[२] नागिन शब्द भी कुंडलिनी के लिये ही प्रयुक्त है, ऐसा हम पहले कह चुके हैं।

अधः और ऊर्ध्व, धरणी और गगन, शक्ति और शिव के युग्मकों का परिचय पहले दिया जा चुका है। कुंडलिनीयोग भी शिवशक्तियोग है। शक्ति द्विविधा है। कुंडलिनी भी द्विविधा है। शक्ति मायाशक्ति भी है और मुक्तिदायिनी शक्ति भी। कुंडलिनी की सुषुप्त और जाग्रत दो अवस्थाओं की ओर हम संकेत कर चुके हैं। ऊपर के कुंडलिनी के विवेचन से कुंडलिनी-साधन के पक्षों पर तो प्रकाश पड़ता है किंतु उसके दार्शनिकपक्ष पर प्रकाश नहीं पड़ता। उसके साधनात्मक पक्ष पर जितना विवरण ऊपर उपस्थित है उतने से स्पष्ट हो जाता है कि कबीर ने उसके उन सभी रूपों का विस्तृत वर्णन नहीं किया है जिनका वर्णन नाथसाहित्य में उपलब्ध है। दूसरे, गागर और पनिहारी की जो कल्पना नाथसाहित्य में मिलती है, वह संत साहित्य में वर्णित गागर और पनिहारी की कल्पना से भिन्न है। पाताल की गंगा के रूप में भी कबीर ने उसका वर्णन नहीं किया है किन्तु पाताल में उसका निवास अवश्य माना है। 'द्यावापृथिवी' की प्रतीकपरम्परा और साधनपरम्परा कबीर में भी उसी रूप में उपलब्ध है, जिस रूप में नाथसाहित्य में है। नाथों के अमृतसाधन के समान ही वैदिक सोमसाधना, के साथ संतों के अमृतपान की तुलना की जा सकती है। नाथों ने मूलाधार से लेकर सहस्रार तक के विभिन्न

---

[१] क० ग्रं०, ४७. २४।

[२] क० ग्रं०, ११०. ७०।

साधनात्मक स्थलों का जिस प्रकार जिन शब्दों से वर्णन किया है, उसी प्रकार कबीर ने भी किया है। कैलास, औंधा कूआँ, कूप, काशी, केदार, त्रिकुटी, दशमद्वार, पश्चिमद्वार, पश्चिम, ब्रह्मकुंड, भँवरगुफा, ब्रह्माण्ड, ब्रह्मग्रंथि, विषमी संधि, शिवपुरी, शून्यद्वार, धरती, पाताल, मानसरोवर, संधि आदि शब्द प्रायः उसी रूप में व्यवहृत हुए हैं।

कुंडलिनीयोग, षट्चक्रभेद का एक भिन्न पक्ष से नामकरण लययोग किया गया है। कबीर ने जिस 'लौ' (लय) का वर्णन किया है, वह प्रेम और योग से समन्वित लय है। कबीर एक अगम, अनिर्वचनीय अकल्पनीय लोक में 'लौ' लगाते हैं। इस 'लय' के साधन हैं सुरति, लय, मन, कमलकूप और प्रेमरस। यह लयक्रिया संपन्न होती है गंगा यमुना के हृदय के बीच में स्थित सहजशून्य के लय के घाट पर।[१] पाँच महादोषों (काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह) को पटक कर, नष्ट कर ही राम में, परमतत्व में, लय संभव है। इस अवस्था में पाँच पहरुआ (पंचेन्द्रियाँ अथवा पंचभूत) सुषुप्त हो जाते हैं। जब लयक्रिया होती है तो संपूर्ण प्रसारित प्रपंच भी प्रलयीभूत हो जाता है।[२] यह तांत्रिकों की प्रलयक्रिया की ओर संकेत करता है जिसका कर्ता साधक ही होता है। शून्य में यह समाहित होना, इस प्रकार, लयक्रिया है। मन भी परिवर्तित कर दिया जाता है अथवा उलट दिया जाता है, शून्य में समाहित हो जाता है तो द्विविधा, दुर्मति का अपसारण हो जाता है। इन सबका एक परिणाम देखने में आता है कि रामनाम में 'लय' लग जाती है।[3] तांत्रिकों की विचारणा के अनुसार प्रथम पाँच चक्रों में पंचभूतों का स्थान है तथा छठें आज्ञाचक्र में मन का। अन्ततः पंचभूत तथा मन सभी छठें चक्र में, विशुद्ध होकर प्रलयीभूत होते हैं। तभी उन्मनी अवस्था की प्राप्ति होती है। इसके साधनात्मक और सैद्धांतिक पक्ष का वर्णन हम पहले कर चुके हैं। जैसे नाथों के योग की अन्तर्धारा का निरूपण करने के लिये तांत्रिक पद्धतियों और प्रवृत्तियों पर ध्यान देना आवश्यक है, उसी प्रकार संतों के योग के निरूपण के लिये भी उन्हें ध्यान में रखना चाहिए।

२३—ध्यान

इस धारणा के बाद अष्टांगयोग के साधनक्रम में सातवाँ स्थान ध्यान को

---

[१] क० ग्रं०, १८. १, २, ३,।

[२] क० ग्रं०, ६६. ४, ९६. २३, १८८–१८९. २९६।

[३] संत कबीर, पृ० ४९ पद ४६।

दिया गया है। इसमें परमाद्वैतभाव, तत्वों की आत्मस्वरूपानुसार भावना और भूतों में समदृष्टि, मन के पूर्ण निश्चलत्व को ग्रहण किया गया है। सुंदरदास (छोटे) ने चार प्रकार के ध्यानों का वर्णन किया है—पदस्थ, पिंडस्थ, रूपस्थ और रूपातीत। ये क्रमशः सूक्ष्म ध्यान के सोपान हैं। पदस्थ ध्यान किसी चित्र मूर्ति या वर्ण या स्वेच्छा या रुचि से ध्यान करना है। पिंडस्थ ध्यान में षट्चक्रों का ध्यान किया जाता है। रूपस्थ ध्यान में नाना प्रकार के ज्योतिस्वरूपों का विकास ध्येय है। रूपातीत में शून्य वा लयध्यान है, जिसमें ज्ञाता-ज्ञेय, ध्याता-ध्येय, आधार-आधेय-रूपी सब भेद अविभाज्यभावेन मिलकर एक हो जाते हैं। इस अंतिम उत्कृष्टतम ध्यान के करने पर अखंड समाधि लगती है। उसी को योगनिद्रा कहते हैं।[१] कबीर ने 'तारी' और ध्यान दोनों शब्दों का प्रयोग किया है। समाधि ध्यान की परिपक्व और पुष्ट अवस्था है, ऐसा हम पहले कह चुके हैं। मानसस्थैर्य प्राप्त होने पर साधक को स्थिति मिलती है। तब बाहर वह परमतत्व को नहीं खोजता। वह घट के भीतर ही उन्मनी अवस्था को प्राप्त कर लेता है। मन परमतत्वानुधावक होकर स्थिर हो जाता है। यह क्रिया 'लय'क्रिया करने के बाद ही संभव होती है। लय प्राप्त करने पर (इन्द्रियों, पंचभूतों और मन के लयीभूत होने पर) ही ध्यान लगता है। तब साधक (आत्मा) शून्यमंडल में अपना घर बना लेता है। यदि यह सब क्रिया बिना राम की है, राम के लिये नहीं की जा रही है, तब झूठी है। मन भी उसके ध्यान में तभी लगता है, जब उसे शुद्ध कर लिया जाता है।[२] कबीर ने पिंडस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानों का वर्णन किया है। नाथों ने इन तीनों प्रकार के ध्यानों की अनुभूतियों का वर्णन किया है। इस प्रकार के वर्णनों का अनुमान उन दृश्यों, रूपों, प्रकाशों के आधार पर किया जा सकता है जिनकी नाथों और संतों ने अनुभूति की। कबीर नें षट्दल-अष्टदल-द्वादस-षोडशकमलों के साथ, त्रिवेणी, गगन, बंकनाल आदि पर भी ध्यान लगाने की ओर संकेत किया है।[३] इनसे सम्बद्ध विभिन्न अनुभूतियों का वर्णन किया है। जिस प्रकार नाथों ने नाड़ियों के संगमों, चक्रों, ग्रंथियों पर ध्यान लगाने के लिये कहा है, उसी प्रकार कबीर ने भी। शरीर के बाहर किसी दृश्य, रूप, वस्तु पर ध्यान लगाने का कोई वर्णन न तो

---

[१] सुंदरसार, पृ० २९–३१ छं० ७९, ८०, ८३, ८४ तथा टिप्पणियाँ।

[२] क० ग्रं०, ९४.१७, १३८.१५४, १७४.२५२, पृ० २४४।

[३] क० ग्रं०, ८८.४।

गोरख में उपलब्ध है और न कबीर में, क्योंकि दोनों ही अन्तस्साधनावादी हैं। इसे ही एक प्रकार से निर्गुण ध्यान कहा जा सकता है। कबीर अनंत के तेज को सूर्य की श्रेणियों का प्रकाश कहते हैं। वह प्रकाश रवि-शशि के बिना उदित होनेवाला प्रकाश है। उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। वह तो केवल अनुभूत हो सकता है, देखा जा सकता है। उसे वे अगम, अगोचर कहते हैं। वह (नित्य) जगमगानेवाली ज्योति है।[१] कबीर ने यद्यपि 'तारी' और ध्यान दोनों शब्दों का प्रयोग किया है किन्तु उनके 'तारी' शब्द के प्रयोग से उसका अर्थ 'समाधि' ही प्रतीत होता है। कबीर की सारी साधना पर दृष्टिपात करने पर वह सहज साधना ज्ञात होती है। संपूर्ण नैसर्गिक दैनिक जीवन में ही यह साधन अनुस्यूत है। फिर ध्यानक्रिया भी उसी प्रकार समझी जानी चाहिए। योगसाधना संबंधी विभिन्न विचारों की आलोचना करते हुए उन्होंने उसे नैसर्गिक जीवन में अनुस्यूत एवम् सहज नहीं माना है। कबीर की साधना स्वाभाविक रूप से सदैव चलती रहती है। वह क्षण भर के लिये लुप्त और क्षण भर के लिये प्रकट नहीं। सामग्री, साधन, उपकरण, साधक, साध्य नित्य एवम् सहज हैं।[२] सुंदरदास ने रूपातीत ध्यान को शून्य ध्यान कहा है। वे ब्रह्म को शून्याकार कहते हैं। इस दशा को टिप्पणीकार पुरोहित हरिनारायण ने निर्विकल्प समाधि की अवस्था में शून्यता की एक दशा कहा है। सुंदरदास ने इस ध्यान के विषय को दस दिशाओं में पूर्ण और 'अमायु' कहा है।[3] वस्तुतः 'प्रकाश' का ध्यान भी एक प्रकार से रूप का ही ध्यान है। उसमें भी सीमा है। किन्तु कबीरदास के कुछ अनुभव ऐसे हैं जो सीमातीत हैं। वे बार-बार 'बेहद' असीम की बात कहते हैं। हद (सीमा, रूप) को छोड़कर बेहद (असीम, अरूप) में विहार कर शून्य में स्नान करने की बात जब कबीर करते हैं तब उनके साधन की इस रूपातीत अवस्था की ओर ही संकेत होता है।[४]

२४—समाधि और उसके पर्याय

सुंदरदास (छोटे) ने अष्टांग योग के अन्तर्गत, परंपरानुसार ही, आठवाँ

---

[१] क० ग्रं०, पृ० १२ साखी १–४।

[२] संत काव्य, पृ० १६५ पद ६; कबीर, पृ० ३०४ पद १२३ तथा पाद-टिप्पणी।

[3] सुंदरसार, पृ० ३०, छं० ८३ तथा पादटिप्पणी।

[४] क० ग्रं०, पृ० १३ साखी ११।

अंग समाधि को बताया है। यह अष्टांगयोगसाधन का अंतिम अंग है। नाथों के अनुसार यह तत्वों की समस्थिति है, निरुद्यमत्व और अनायास की अवस्था है। इसमें विश्वतोमुख अनंत परम ज्योति का साक्षात्कार होता है, समरस की उपलब्धि हो जाती है। यह लयावस्था के बाद की अवस्था है। सुंदरदास (छोटे) ने इस अवस्था के लक्षणों का निर्वचन किया है—साध्य-साधक-एकता, क्रिया-कर्म-निवृत्ति, नित्य निरुपाधि होना, अभिन्नभाव, शीत, उष्ण, क्षुधा, तृषा, मूर्च्छा, आलस्य, जागर्ति, सुषुप्ति, स्वप्न आदि से मुक्त अवस्था। जिस प्रकार जल में नमक गल कर एक हो जाता है, उसी प्रकार साध्य और साधक में अभिन्नता हो जाती है। हर्ष, शोक, सुख, दुख, मान, अमान, ज्ञान, अज्ञान, जाति, कुल, वर्ण, आश्रम, जीव, ब्रह्म आदि के जो भिन्न भाव हैं, वे सब बिल्कुल नहीं रहते। शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श, काल, कर्म, स्वभाव, उदय, अस्त, प्रपंच आदि की भेदस्थिति नहीं रहती। जैसे दूध दूध में, घी घी में, जल जल में मिलकर अभिन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार समाधि में भी समझना चाहिए।[१] ये लक्षण नाथों के योग के समाधिप्रकरण में वर्णित लक्षणों से पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। इस अवस्था के लिये हठयोगप्रदीपिका में जो नाम दिये गये हैं, उनमें से अधिकांश संत साहित्य में भी उसी प्रयोजन से प्रयुक्त मिलते हैं। वे नाम हैं—राजयोग, समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, लय, तत्व, शून्या-शून्य, परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालंब, निरंजन, जीवन्मुक्ति, सहजा, तुर्या। संक्षेप में इन शब्दों का नीचे विचार किया जा रहा है।

संतों के साहित्य में प्रायः योग शब्द का प्रयोग मिलता है, राजयोग का नहीं। योग शब्द का एक अर्थ 'मिलन' बताया गया है। उसका परिचय हम 'हठयोग' शब्द के विवेचन में दे चुके हैं। 'समाधि' शब्द का विचार करने के पूर्व 'तारी' शब्द पर विचार कर लेना चाहिए। ब्रह्मज्ञान की उप-लब्धि सहज समाधि में होती है। यही परमसुख की अवस्था है। यहीं नित्य विश्राम की उपलब्धि भी होती है। इसमें अपनी आत्मा का स्वयं निरीक्षण होता है, अपने से अपनी आत्मा का साक्षात्कार होता है। उसमें आत्मपरिचय होता है, तारी (समाधि) लगती है। आत्मा अपने में ही समा जाती है, आवागमन मिट जाता है।[२] यहाँ सहजसमाधि, ब्रह्मज्ञान की उपलब्धि की अवस्था तथा तारी शब्द परस्पर पर्याय के रूप में व्यवहृत प्रतीत होते हैं।

---

[१] सुंदरसार, पृ० ३१-३२, छं० ८५-८९।

[२] क० ग्रं०, पृ० ९० पद ६।

तांत्रिक योग के विवरण में बताया गया है कि यह अद्वैतावस्था कही जाती है। यहाँ योग शब्द के विवेचन में भी उसी स्थिति की ओर संकेत किया गया है। कबीरदास भी इसी स्थिति का वर्णन करते हैं। वे शशि और सूर्य और दस द्वारों को मुद्रित कर देते हैं और तभी योगयुक्त तारी (समाधि=योग-समाधि) लगती है। दशम द्वार में ही यह समाधि लगती बताई गई है जिससे आवा-गमन का निरोध हो जाता है। दूसरे शब्दों में, इसे चन्द्र-सूर्य के बीच में लगनेवाली तारी (समाधि) कहा गया है।[1] कबीर ने एक स्थान पर ब्रह्माग्नि से काया को जलाकर अजपाजाप से उन्मनी तारी (उन्मनी समाधि) की उप-लब्धि की बात कही है। इसी अवस्था में महारस अमृत के भोग की बात कही है। यही वह अवस्था है जब साधक त्रिकुटी में आसन लगाता है तथा सहजसमाधि में आकर सभी विषयों का परित्याग कर देता है, निर्विषय हो जाता है। त्रिवेणी की विभूति से अपने मन का मज्जन कर देता है।[2] कबीर ने जहाँ केवल 'समाधि' शब्द का प्रयोग किया है वहाँ, यह समाधि कहाँ उप-लब्ध होती है तथा उसकी विशेषताएँ क्या हैं, स्पष्ट नहीं है।[3] उन्होंने सहज समाधि का अवश्य ही स्पष्ट वर्णन किया है जिसका विचार उचित प्रसंग में आगे किया गया है।

हठयोगप्रदीपिका के श्लोकों में तथा उसकी टीका में उन्मनी और मनो-न्मनी का भेद नहीं बतलाया गया है। स्वात्माराम ने प्रायः "उन्मनी" शब्द का ही प्रयोग किया है। उन्मनी के विषय में कहा गया है कि इसमें नेत्रता-रकों को नासिका के अग्रभाग पर केंद्रित कर दे। इस क्रिया में भौहों को किंचित् उन्नत करना पड़ता है। इसकी अगली क्रिया में मन (अन्तःकरण) को बाह्य लक्ष्य अथवा अन्तर्लक्ष्य से युक्त कर देना चाहिए। इस अवस्था में आधे नेत्र खुले रहते हैं, मन स्थिर रहता है, दृष्टि नासिका के अग्रभाग पर केंद्रित रहती है, प्राणों को स्थैर्य प्राप्त हो जाता है। स्वात्माराम के अपने मत के अनुसार उन्मनी अवस्था की प्राप्ति के लिये भृकुटियों के मध्य ध्यान आवश्यक है। इसमें इन्होंने नाद से चित का विलय बतलाया है। अनाहत-ध्वनिरूप नाद के अनुसंधान से चित्त एकाग्र हो जाता है और समाधि लग जाती है। किंतु उन्मनी समाधि की उपलब्धि हो जाने पर योगी शंख--

---

[1] क० ग्रं०, पृ० ८९-९०. ६, १११. ७४, १८१. २७२, पृ० २२३।

[2] क० ग्रं०, पृ० १५८ पद २०४।

[3] क० ग्रं०, पृ० ८८।

दुंदुभि आदि के नाद को कभी नहीं सुनता।[1] कबीर के अनुसार इस अवस्था में चंचल मन का मरण हो जाता है तथा वह सांसारिक विषयों के प्रति न तो प्रसन्न होता है न कुछ कहता है। उसकी सारी चेष्टायें रूद्ध हो जाती हैं। आध्यात्मिक अनुभव की उसकी बाह्य प्रसन्नता भी व्यक्त नहीं होती और न वह उसके संबंध में कुछ कहता ही है। परमावस्था की स्थिति की प्राप्ति तभी होती है जब इस प्रकार मन स्थिर हो जाता है। फिर बाहर उस परम ध्यान को ढूँढ़नें की कोई आवश्यकता नहीं रहती। घट के भीतर ही उन्मनी ध्यान की प्राप्ति हो जाती है। जब मन 'उन्मन' से लग जाता है और उसकी पहुँच गगन में हो जाती है तब विलक्षण कार्य-कारण-रहित दृश्य दिखाई पड़ते हैं।[2] उपर्युक्त कथनों में, कबीर की दृष्टि से मन के दो रूप प्रतीत होते हैं। एक तो संसारोन्मुख मन है तथा दूसरा उन्मन परमात्मा की ओर लगा हुआ। कभी-कभी केवल मन शब्द का प्रयोग कर "उन्मन" रूप की ओर संकेत कर दिया गया है। कबीर ने कहा है, मन (सांसारिक मन) का दान करने से मन (परमात्मोन्मुख मन) की उपलब्धि होती है। वस्तुतः साधन में इस संसारोन्मुख का ही परिवर्तन होता है। बिना सांसारिक मन के आध्यात्मिक मन की उपलब्धि असंभव है। इस प्रकार के उन्मन मन का साधक तन से क्षीण होता है। वह जगत् से रूठते हुए भी इस संसार में विचरण करता है।[3] कबीर के समय में सामान्यतया जो योगसाधना, प्रचारित थी तथा जैसे योगी दिखाई पड़ते थे, उनमें मानस योग नहीं था। इसीलिये कबीर ने उन्मनी योग, जिसे मानस योग कहा जा सकता है, की विशेष महत्ता को स्वीकृति दी। मानसयोग से विहीन समाधि स्थायी नहीं होती। समाधिसूत्र के टूट जाने पर गगन विनष्ट हो जाता है, तब नाद की सत्ता कहाँ समाहित हो जाती है। कबीर के अनुसार यदि मानसयोग किया जाय तो यह गगन कभी भी विनष्ट नहीं होगा। इस मानस योग की बिना सहायता के परमपद में समाहित होना संभव नहीं है। पढ़ने-सुनने से कुछ भी नहीं होता। इस उन्मनी समाधि की सिद्धि के लिये अजपाजाप का साधन आवश्यक है।[4] हम पहले ही यह कह चुके हैं कि अजपाजाप का

---

[1] हठयोगप्रदीपिका, पृ० १८४ श्लो० ३९, पृ० २०३-२०४, श्लो० ८०, ८१; पृ० २१५ श्लोक १०६ तथा इनकी टीकाएँ।

[2] क० ग्रं०, २. ९, ९४. १७, १३. १५।

[3] क० ग्रं०, २८. ९, ५१. ३।

[4] क० ग्रं०, ९८-९९, २३, १५८. २०४।

प्राणायाम तथा नादानुसंधान से बड़ा घनिष्ठ संबंध है। इस प्रकार उन्मनी-साधन के साथ कबीरदास प्राणायाम, अजपाजाप और नादानुसंधान के संबंध को भी स्वीकार कर लेते हैं। पं० परशुराम चतुर्वेदी ने कबीर तथा अन्य संतों के उन्मनी तथा तत्संबंधी विभिन्न शब्दों, अवतरणों पर विचार कर उसके चार अर्थों पर प्रकाश डाला है—१—उन्मनी ध्यान, २—उन्मन विशेषण के रूप में, ३—उन्मन परमतत्व, ४—उन्मनी रहनी, सहज समाधि से अभिन्न। इस अंतिम अर्थ की पुष्टि "उन्मन धागा" के उपर्युक्त पद से भी हो जाती है। मानससाधन सहजसाधन का मूलाधार है। चतुर्वेदी जी के परमतत्व संबंधी अर्थ से संबंधित कबीर की रचना का एक अर्थ ऊपर देने की चेष्टा की गई है।

समाधि की अवस्था अमरता की अवस्था है। इस अमृतसाधन में विष का त्याग और अमृत का ग्रहण तथा विष का अमृत में परिवर्तन किया जाना कबीर ने स्वीकार किया है। प्रियतम के मिल जाने पर संसार का जो कुछ भी विष है, सब अमृत हो जाता है। जब तक शरीर में विष है, तब-तक उसमें अमृत के समावेश का कोई अवकाश नहीं है। इसके लिये कबीर "प्रेमभक्ति" के साधन का उपदेश देते हैं जिससे मुख में चन्द्रमा की अमृतवर्षा होने लगती है। किंतु इस अमृत अथवा अमृतफल की प्राप्ति के लिये गुरु-प्राप्ति अति आवश्यक है। उसी की कृपा से सहज ही सुषुम्ना के समीप अमृतफल की प्राप्ति होती है। अमृतरस का स्राव गगन में होता है। अन्य स्थलों पर कबीर ने उसे बंकनाल रस कहा है। वे विषय को विष कहते हैं। पश्चिम दिशा (सुषुम्ना) के मार्ग में बंकनाल के भीतर यह अमृत रस निर्झर स्रवित होता है। वहीं भँवरगुफा का घाट है। एक अन्य पद में वे अवधूत को गगनमंडल में अपना निवास बनाने की प्रेरणा देते हैं। वहीं वे उस बंकनाल रस, अमृत को पीने के लिये कहते हैं जो नित्य सुख देनेवाला है। संसार में बहुत से रस हैं। किन्तु कबीर ने सभी रसों को चख कर देख लिया है। वे सब रामनामरस के समान मीठे नहीं हैं। दूसरे संसार के रस कफ आदि उत्पन्न करते हैं, जबकि हरिरस अधिक से अधिक, जितना ही उसका पान किया जाय, सुख देनेवाला है। इस अमृतरस को वे विलक्षण मदिरा भी कहते हैं।[१] कबीर के इन विचारों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह अमृतसाधन, जिससे अमरता, अमरपद, अमरपुर की प्राप्ति होती है,

---

[१] क० ग्रं०, ६०.१२, ८४.८, ८९.५, ११०-१११.७२, १११.७४, १३८.१५३, १५९.२०९, ४०.१९, १३९.१५५, १५५.१९७, ८८.४, ११०.७०, १५९.२०९, १३६.१४८।

नाथों के अमृतसाधन के पर्याप्त समान है। अंतर यह है कि कबीर बंकनाल से जिस रस का सुख प्राप्त करते हैं, वह अमृत तो अवश्य है किंतु उसके साथ भावनानंद का समन्वय भी है। प्राणायामसाधन में भी रामनाम का जाप ही स्वीकार्य है। वे जिस रस की कल्पना करते हैं, वह भक्तिरस है जो अमृत है, जिसका विवरण-विवेचन हम भक्ति रस के प्रसंग में कर चुके हैं। वारुणी और रस भी अमृत के पर्याय के रूप में ही व्यवहृत हुए हैं। इस प्रकार इस वर्णन में वारुणी-साधन, रस-साधन भी समन्वित है। इसी की परंपरा वैदिक सोमपान से मिलाई जाती है। विष का अमृत में परिवर्तन भी वस्तुतः साधक की अमृतसाधना है।

अन्य शब्दों में तत्व शून्य, अशून्य शब्द हैं। कबीर साहित्य में तत्व शब्द का प्रयोग प्रायः तीन अर्थों में मिलता है—१–परमतत्व–इस अर्थ में प्रायः अपने उपास्य अथवा लक्ष्य की ओर संकेत किया है। जब वे तत्वोपलब्धि की बात करते हैं, तब कबीर का अभिप्राय इस समाधि की अवस्था की ओर ही संकेत करना होता है।[1] २—सार वस्तु–इस अर्थ में प्रयोग से भी अप्रत्यक्षरूप से उसी प्रथम अर्थ को व्यक्त करने की चेष्टा की गई है। संसार में नित्य, साधनोचित और अनुकूल ग्राह्य तत्व के लिये इस शब्द का इस अर्थ में प्रयोग मिलता है। संसार में सार वस्तु वह परमात्मा अथवा उसकी भक्ति है जिसका संत उपदेश देता है।[2] ३—पंचतत्वों के अर्थ में भी इस शब्द का प्रयोग मिलता है।[3] इनमें से प्रथम अर्थ का प्रयोग ही समाधिवाचक हो सकता है। दूसरे शब्द शून्य और अशून्य हैं। अशून्य का प्रयोग प्रायः कबीर साहित्य में नहीं मिलता। केवल शून्य अथवा भिन्न पारिभाषिक शब्दों के साथ इसका प्रयोग मिलता है। कबीर के अनुसार पवन को उलट कर षट्चक्रों का भेदन करने पर गगनगर्जन होता है और मन शून्य में समाहित हो जाता है। फिर अनाहत तूर्य की ध्वनि सुनाई पड़ती है। इसी क्रिया के उपरान्त शून्य में लगनेवाले सुरतिलय की प्राप्ति होती है। नाथपंथियों के समान ही कबीर ने 'सूक्ष्म' के अर्थ में भी इस शब्द का प्रयोग किया है। इस अर्थ में यह बतलाया गया है कि वह परमतत्व शून्य और स्थूल दोनों से अतीत है।[4] इस प्रकार यहाँ क्रमशः शून्य के तीन

---

[1] क० ग्रं०, १५.३५, ५४.१, ६०.४.५८४, १३१.१३५, ४.३०।

[2] क० ग्रं०, १००-१०१. ३९।

[3] क० ग्रं०, १०२-१०३.४४।

[4] क० ग्रं०, ९०.७, ९१.८, पृ० २३०, १६२-१६३.२९०।

अर्थ मिलते हैं—१—ब्रह्मरन्ध्र, २—परमतत्व निरंजन, ३— सूक्ष्म । शून्य (परमात्मा) में समाहित होने के बाद पुनः आवागमन नहीं होता ।[1] पं० परशुराम चतुर्वेदी ने मुख्यतया दो अर्थों का उल्लेख किया है—१—गगन के पर्याय के अर्थ में, २—परमतत्व के वाचक के रूप में ।[2] परमतत्व निरंजन का जो निरूपण कबीर ने किया है, उसमें उन्होंने उसे सर्वोपाधिविनिर्मुक्त बताया है। वह नागार्जुन के चतुष्कोटिविनिर्मुक्त से भी अधिक सूक्ष्म है, वहाँ किसी भी कोटि की बात नहीं की जा सकती। वे उसे शून्य भी नहीं कहना चाहते। वह उससे भी अतीत है। (ऊपर के वर्णन से यह बात स्पष्ट हो जाती है)। फिर भी पारंपरिक रूप में शब्द के प्रयुक्त होने के कारण उन्होंने भी उस शब्द का प्रयोग परमतत्व के लिये किया है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने शून्य का अर्थ समाधि बताया है। यह वह स्थिति है जब 'आत्मा छह चक्रों को भेदकर सहस्रार या शून्यचक्र में अवस्थित होता है। ऐसी अवस्था में उसके भीतर भी शून्य है, बाहर भी शून्य है—आसमान में जैसे कोई सूना घड़ा रखा हो परन्तु असल में वह भीतर से भी पूर्ण होता है बाहर से भी पूर्ण होता है—समुद्र में जैसे भरा घड़ा डुबा कर रखा गया हो।' कबीरदास ने भी एक पद में हठयोगप्रदीपिका के इस भाव का अनुवाद किया है।[3] डा० धर्मवीर भारती ने नाथों के शून्यविवेचन में जिन अर्थों (१—परमतत्व नाद, परमज्ञान, परम स्वभाव, २—ब्रह्मरन्ध्र, दशमद्वार अथवा मध्यपथ तथा सहस्रारचक्र, गगन मण्डल, ३—शिवलोक।) का परिचय दिया है, वे मूलतः दो ही अर्थ हैं जैसा पं० परशुराम चतुर्वेदी ने बतलाया है। इसका कारण यह है कि नाथसिद्ध लोग किसी अन्य लोक की, जो इस घटस्थ सर्वोच्च लोक से भिन्न हो, कल्पना नहीं करते। वे अन्तस्साधनावादी हैं। गगनमंडल ही उनके अनुसार शिवलोक है। यही बात संतों के शून्य सम्बन्धी विचारों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है क्योंकि उनके अनुसार परवर्ती संत तथा सूफी सम्प्रदायों में इन्हीं तीनों परंपराओं का विकास मिलता है और इन्हीं तीनों प्रसंगों में शून्य का प्रयोग हुआ है। संतों में उन्होंने उन्हीं तीन रूपों का विकास देखा है—१—परमतत्व नाद तथा परमज्ञान के रूप में २—ब्रह्मरन्ध्र तथा तथा सहस्रारचक्र के रूप में, ३—परमलोक के रूप में। उनके उद्धरणों के अर्थनिरूपण में भी

---

[1] क० ग्रं०, १३७.१५०।

[2] कबीर साहित्य की परख, पृ० २४०-२४२।

[3] कबीर, पृ० ५०-५१।

मतभेद हो सकता है, जिसके लिये यहाँ उचित अवकाश नहीं। वस्तुतः शून्य का विवेचन पुष्कल मात्रा में विद्वानों द्वारा किया गया है। डा० भारती ने संतों की शून्यसाधना पर विस्तार से लिखा है, इसी प्रकार डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा परशुराम चतुर्वेदी ने इसका निरूपण किया है।[1]

समाधिवाचक अन्य शब्दों में परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालंब, निरंजन, जीवन्मुक्ति, सहजा आदि हैं। कबीरदास जिस परमपद अथवा हरिपद की उपासना करते हैं, उसका परिचय हम पहले दे चुके हैं। समाधि परमपद की प्राप्ति की अवस्था है। उस पद में ही अगम ज्ञान की उपलब्धि होती है। इस पद अथवा परमपद अथवा हरिपद में समाहित होना ही वे मुक्ति मानते हैं। पिंडमुक्ति उन्हें स्वीकार नहीं। यहाँ प्रथम 'पद' का अर्थ परमावस्था है तथा दूसरे 'पद' का अर्थ परमतत्व है। इसी प्रकार वे ऐसी अवस्था (पद) की याचना करते हैं जिसमें हरि का प्रत्यभिज्ञान हो। यह पद अनुभवगम्य है, कलाओं से अतीत है, आदि है, निर्मल है। वह सम्पूर्ण संसार में व्याप्त है।[2] नाथों ने तो इसे हठयोगी साधनों से साध्य माना है, किंतु ऐसा कोई प्रतिबंध संतों ने स्वीकार नहीं किया। वे भक्ति को उसके लिये साधनरूप में स्वीकार करते हैं। वह परमपद नाथों के समान ही पिंडस्थ तो है ही, ब्रह्मांड में सर्वत्र व्याप्त भी है। वह परमपद स्वसंवेद्य या अनुभवैकगम्य है, यह नाथ और संत दोनों ही स्वीकार करते हैं।

'अमनस्क' शब्द का प्रयोग यद्यपि कबीर ने नहीं किया है तथापि इस अवस्था के वाचक शब्द 'उन्मनी' को उन्होंने अवश्य स्वीकार किया है। इस शब्द का मानस साधन से संबंध है। इस मानस साधन का वर्णन हम कर चुके हैं। नाथसिद्धों की रचनाओं में जिस प्रकार 'अद्वैत' अथवा 'अद्वय' शब्द उपलब्ध नहीं है, उसी प्रकार कबीर के साहित्य में भी वह उपलब्ध नहीं है। हठयोगप्रदीपिका में अद्वैत और 'तुर्या' को परस्पर पर्याय माना गया है। सुन्दरदास (छोटे) ने यद्यपि सर्वोच्च अवस्था तुर्यातीत मानी है तथापि 'तुर्यातीत' और अद्वैत को उन्होंने भी पर्यायवत् ही ग्रहण किया है। तुरीया ब्रह्म का साधन है जिसमें 'अहं ब्रह्म' की अनुभूति होती है। 'तुर्यातीत' (तुरीयातीत) अवस्था

---

[1] सिद्ध साहित्य, पृ० ३३६-३५६; कबीर साहित्य की परख, पृ० २३९-२४२; कबीर, पृ० ७२-७९।

[2] क० ग्रं०, ९१.१०, ९९.२३, १००.३६, ११२-११३.७७, १३९-१४०.१५७, १७९.२६७।

एक ऐसी अनुभूति की अवस्था है जिसमें 'हूँ तूँ' की कोई अनुभूति नहीं रहती। 'यह तुरीया नाम चतुर्थ अवस्था से भी आगे है जो निर्गुण और निर्विकल्प शुद्ध चेतन ब्रह्म है, वही अद्वैत अनिर्वचनीय है।' इसी को सुन्दरदास ने अन्यत्र अत्यन्ताभाव कहा है। इसी को वे तुरीयातीत और अद्वैत कहते हैं। यह एक ऐसी अवस्था है जिसका वर्णन 'नहीं' और 'है' के बीच किया जा सकता है। उन्होंने इस अवस्था के निर्वचन के लिये जैसे 'चतुष्कोटियों' का वर्णन किया हो। अन्ततोगत्वा वे इन कोटियों का उपयोग न कर 'गूँगे की सैन' की बात कहते हैं। केवल अनुभव कर ही इस अवस्था का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। वाणी यहाँ असमर्थ हो जाती है।[1] हम यह पहले कह चुके हैं कि सहस्रारचक्र में अद्वैतानुभव होता है। किन्तु नाथों ने एक आठवें चक्र की कल्पना की है जिसमें वे द्वैताद्वैतविवर्जित तत्व का अनुभव करते हैं। पहले बताया गया है कि कबीरदास द्वैताद्वैतपरवर्ती ब्रह्म का अनुभव करते हैं। वस्तुतः वे भी एक ऐसी अनिर्वचनीय अवस्था का ही वर्णन करते हैं जो द्वैत-अद्वैत की अवस्था से अतीत होती है। नाथों के समान ही कबीर ने भी उस ब्रह्म को भी एक कहा है। डा० बड़थ्वाल ने नाथों के 'एक' का अद्वैत या अद्वय अर्थ किया है। कबीर ने एक शब्द का प्रयोग 'ब्रह्म' के लिये किया है जिसको जान लेने से 'सब कुछ' का ज्ञान हो जाता है। वे केवल उसी एक से मन लगाने को कहते हैं। वे द्वैतभावना का त्याग करने के लिये कहते हैं। ब्रह्म को दो कहनेवाले को 'दोजख' का अभिशाप देते हैं।[2] अवस्था का वर्णन करते समय वे स्पष्ट रूप से द्वैत का निषेध करते ही हैं, अनुभूति का वर्णन करते समय वे प्रायः सुन्दरदास जैसी शब्दावली का ही प्रयोग करते हैं। अविगत, अकल, अनुपम तत्व का दर्शन होने पर कुछ कहने की इच्छा के रहने पर भी कुछ कहा नहीं जाता। गूँगा जैसे मिठाई को जानता है और कह नहीं पाता, केवल संकेत से ही बताने की चेष्टा करता है, मन ही मन पुलकित होता है, आनंदानुभव करता है, उसी के जैसी स्थिति हो जाती है।[3] डा० बड़थ्वाल ने संतों को परात्परवादी बतलाया है। चक्रों के सम्बन्ध में भी कबीरपंथी तथा अन्य संत उत्तरोत्तर ऊर्ध्वतर नवीन चक्रों की कल्पना करते हैं। तुरीया-

---

[1] सुन्दरसार, पृ० ४१ छं० ७, पृ० ४४ छं० ४०-४३।

[2] क० ग्रं०, पृ० १९-२० साखी ८-१२ तथा आगे, पृ० ६८ साखी ३, पृ० १०५ पद ५५।

[3] वही, पृ० ९०-९१ पद ६।

तीत से भी ऊर्ध्वतर अनुभूति की स्थितियों की कल्पना मिलती है। इस प्रकार की कल्पना में परात्परवाद सहायक है। ब्रह्म के सम्बन्ध में जैसी ऊर्ध्वतर कल्पना की गई उसी प्रकार उसकी चरमानुभूति के विषय में भी। डा० बड़थ्वाल ने संत शिवदयाल आदि विभिन्न संतों की रचनाओं की परीक्षाकर इस तथ्य की व्याख्या की चेष्टा की है। डा० द्विवेदी ने कबीरपंथियों की निरंजन और सृष्टि संबन्धी कल्पनाओं का, विभिन्न ऊर्ध्वतर विलक्षण लोकों की कल्पना का विस्तार से विचार किया है। इन सबके आधार पर एक बात यह कही जा सकती है कि इन सबके मूल में अपने सम्प्रदाय को सभी सम्प्रदायों से ऊपर स्थापित करने की चेष्टा नहीं है अपितु विभिन्न संतों के अनुभूति-वैलक्षण्य ने ऐसे अनेक भेद-विभेद प्रदर्शित कर दिये हैं। द्वैतानुभूति, अद्वैतानुभूति, द्वैताद्वैतविवर्जितानुभूति आदि भेद सांप्रदायिक आधार पर नहीं अपितु अनुभूति और लक्ष्य के आधार पर स्थित हैं। इस लोकसंस्थान अथवा अनुभूतिस्थल के विधान में संतों के सृष्टि संबन्धी विशिष्ट वाद भी कम महत्वपूर्ण स्थान नहीं रखते।[१] यहाँ प्रसंग के अनुकूल निष्कर्ष यह है कि कबीरदास अनुभूति की दृष्टि से अद्वैतवादी नहीं थे। ब्रह्म के संबन्ध में जैसे उनका मत द्वैताद्वैतविलक्षणवाद से संबन्ध रखता था, उसी प्रकार अनुभूति के संबंध में भी। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने स्पष्ट रूप से यह कहा है कि 'नाथपंथी लोग जोर देकर इस द्वैताद्वैतसमतत्ववाद का समर्थन करते हैं। इस विषय में कबीरदास का उनसे सीधा संबन्ध है।' 'कबीरदास द्वैताद्वैतविलक्षणवाद में योगियों से प्रभावित थे।'[२] कबीर ने हठयोगप्रदीपिका की तत्संबंधी शब्दावली का भी प्रयोग किया है। प्रदीपिका में कहा गया है कि जिस प्रकार सैन्धव जल के संयोग का लाभ कर जल के संग एकता को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा और मन की एकता को समाधि कहते हैं। प्राण के क्षय और मानस के प्रलय को समरसतत्व कहा गया है।[३] प्राण और मन संबंधी प्रलय का वर्णन हम कर चुके हैं। सिंधु-जल में सैन्धव के प्रलय जैसी स्थिति का वर्णन कबीर ने भी किया है।[४] किंतु यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि कबीर ने इस प्रकार का वर्णन "परचा कौ अंग" में किया है।

---

[१] वही, पृ० ५७-६८।   [२] कबीर, पृ० ३२, ६५।

[३] हठयोगप्रदीपिका, पृ० १५३, उपदेश ४, श्लोक ५–७ तथा उसकी टीकाएँ।

[४] क० ग्रं०, पृ० १३ साखी १६, परचा कौ अंग; संतकाव्य, पृ० १९९, साखी १७ तथा टिप्पणियाँ।

२५—अन्य समाधिवाचक शब्द

शेष समाधिवाचक महत्वपूर्ण शब्द हैं—निरंजन, जीवन्मुक्ति और सहजा। हठयोगप्रदीपिका में 'निरंजन' की व्याख्या नहीं है। 'निरंजन समाधि' शब्द से दो अर्थ अनुमित किये जा सकते हैं—१–साधक की वह अवस्था जिसमें व्यक्तिशक्ति सर्वथा निरंजन हो जाती है—इन्द्रिय, मन, पवन आदि निरंजन हो जाते हैं। २–परमतत्व निरंजन। प्रथम अर्थ में साधन का निरूपण करते समय बहुत कुछ बातें कही जा चुकी हैं। हमने समाधि के विभिन्न पर्यायों का विचार करते समय उनसे संबंधित विभिन्न शब्दों का भी विचार कर लिया है। इसी प्रकार यहाँ निरंजन संबंधी मतवाद का विचार संक्षेप में किया जा रहा है। 'निरंजन' संबंधी विचार, पर्याप्त विस्तार से, विद्वानों ने किया है, इसलिये उसके विस्तार की यहाँ आवश्यकता नहीं। केवल तुलना के लिये कुछ संकेत यहाँ दिये जा रहे हैं। कबीर के अनुसार जब मन उन्मन से संलग्न होकर गगन में पहुँचता है तब वह वहाँ चन्द्रविहीन चाँदनी, अलखनिरंजन का दर्शन करता है। वह निरंजन रूप-रेखा-वर्ण आदि से विहीन है। वहाँ न पंचतत्व, शब्द, स्वाद हैं न विद्या और वाद हैं। यह निरंजन जन्ममरण आदि में नहीं आता। निरंजन का रामनाम शब्द ही सच्चा है। यह निरंजन सबसे न्यारा है। यह प्रपंचमय संसार ही अंजन है।[1] किंतु बाद में स्थिति बदल गई। डा० बड़थ्वाल के अनुसार 'यद्यपि आरम्भ में निरंजन परब्रह्म परमात्मा का ही पर्याय समझा जाता था फिर भी आगे चलकर परमात्मा उससे ऊपर समझा जाने लगा और वह कालपुरुष कहाने लगा। निर्गुण, अक्षर आदि नाम भी कालपुरुष ही के समझे जाने लगे। कबीरपंथ की पौराणिक दंतकथाओं में यह बात पूणरूप से पाई जाती है। हाँ, इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कबीरपंथ की ये बातें कबीर की शिक्षाओं से विकसित होने पर भी उनके अनुकूल न थीं। इन कबीरपंथी कथानकों में (वह) परम पुरुष के······पुत्रों में से एक था।······कुछ अन्य संत भी इसी प्रकार निरंजन को परमपुरुष से अलग, उससे नीचा पदवाला धोखेबाज पुरुष समझते हैं।[2] इस तथ्य को उन्होंने शिवनारायण जी, तुलसी साहब,

---

[1] क० ग्रं०, पृ० १३ साखी १५, पृ० १०० पद ३७, पृ० १०३ पद ४७, पृ० २०१-२०२ पद ३३६।

[2] हिन्दी काव्य में निर्गुण संप्रदाय, पृ० १६१-१६२।

शिवदयाल आदि की रचनाओं से प्रमाण देकर सिद्ध किया है। इस पर साम्प्रदायिक दृष्टि से विचार करते हुए उन्होंने अपना यह मत उपस्थित किया है कि 'कबीर आदि पहले संतों ने 'निरंजन' से गीता ही का सा अर्थ लिया है। किंतु आगे आनेवाले संतों ने अपने आपको निरंजन अथवा निरंजनी संप्रदाय से ऊँचा चढ़ा हुआ सिद्ध करने के अभिप्राय से निरंजन को उस पद से नीचे ढकेल दिया, यद्यपि वस्तुतः निरंजनी सम्प्रदाय और कबीर के तात्विक सिद्धान्तों में कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता।.........इस प्रकार कबीर पंथ स्वयं कबीर की शिक्षाओं के विरुद्ध जा रहा था, यह औरों से आगे बढ़कर जताने की प्रवृत्ति का शिवदयाल में भी अभाव नहीं है।'[१] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस 'निरंजन' के अर्थोद्घाटन में भारत के अन्य संप्रदायों का भी विचार कर बतलाया है कि नाथपंथ में यह शब्द साधारण रूप में निर्गुण ब्रह्म का तथा और विशेष रूप में शिव का वाचक है। नाथपंथ के समान ही एक अन्य पंथ भी निरंजन पद को परमपद मानता था। नाथपंथियों के परमाराध्य नाथ थे तथा इनके परमाराध्य निरंजन। डा० द्विवेदी के मतानुसार निरंजन का संबंध बुद्ध से था, कबीरपंथ के अध्ययन से ऐसा भी अनुमान होता है। नाथपंथ में तो निरंजन की खूब महिमा है ही। उन्होंने शिवसंहिता तथा कपिलगीता के विभिन्न उद्धरणों के आधार पर निरंजन को योगियों का परम साध्य, सभी उपाधियों से रहित अखंड ज्ञानरूप, ओंकार में सर्वोच्च स्थिति-वाला, सृष्टि-स्थिति-लय के कारण के रूप में बतलाया है। 'स्वयं कबीरदास की उक्तियों में से ऐसी ढूँढ़ी जा सकती हैं जिसम उन्होंने निरंजन को परमा-राध्य माना है। पर आगे चलकर कबीरपंथ में निरंजन की बड़ी दुर्गति हुई है। निरंजन वहाँ पक्का शैतान बना दिया गया है।' 'कबीर मंसूर' में विस्तार से जिस पौराणिक पद्धति का अनुसरण कर सृष्टिप्रक्रिया और निरंजन का निरूपण किया गया है, उसका विचार भी डा० द्विवेदी ने किया है। 'इसके आधार पर कबीरदास का निरंजन से सदैव झगड़ा होता रहता है। 'उन्होंने सदैव ज्ञानियों और भक्तों को निरंजन के जाल से छुड़ाने का प्रयत्न किया है। इस कलिकाल में ही अब तक वे लगभग एक दर्जन बार आ चुके हैं।'[२] इस पौराणिक सृष्टिप्रक्रिया को स्वीकार करने के कारण अन्ततः कबीर को भी अवतार के रूप में स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार की कल्पनाओं का वर्णन

---

[१] वही, पृ० १६२-१६४।

[२] कबीर, पृ० ५२-६२।

डा० द्विवेदी ने 'कबीर मंसूर', बीजक, शब्दावली आदि के आधार पर किया है। डा० बड़थ्वाल ने अनुरागसागर, ज्ञानसागर आदि के आधार पर इसका विचार किया है।

नाथों की हिंदी रचनाओं में उपलब्ध 'निरंजन' शब्द का विचार हम पहले कर चुके हैं। वहाँ हमने नाथवाणी में उपलब्ध तीन अर्थों की ओर संकेत किया है--१-माया के संसर्ग से मायात्मक पिंड का निर्माण करनेवाला, २—परब्रह्म, मायातीत परमेश्वर जिसकी स्वानुभूति गगनशिखर में होती है, ३—नादरूपा सृष्टि का लयस्थान। पं० परशुराम चतुर्वेदी ने बताया है कि 'निरंजन शब्द नाथपंथी योगियों के यहाँ ब्रह्मरन्ध्र तथा ब्रह्मरन्ध्र में अवस्थित नादस्वरूप निर्गुण ब्रह्म का भी बोधक समझा जाता था।......कबीर साहब ने 'निरंजन' शब्द का व्यवहार करते हुए प्रायः नाथपंथ एवं भारतीय दार्शनिक साहित्य का ही अनुसरण किया है।'[१] डा० द्विवेदी की स्थापना है कि 'नाथपंथी योगियों के सूक्ष्म, द्वैताद्वैतविलक्षण निरंजनपद, नाथपद आदि के भीतर ही ऐसी उद्भट कल्पना (जैसी पौराणिक ग्रंथों में मिलती है) के बीज वर्तमान थे।' कबीर के नाम से प्रचलित बहुत से पदों में निरंजन का यह महाठग रूप मिलता है। बीजक में भी ऐसे पद प्राप्त हो सकते हैं। किंतु यदि निरंजन से संबंधित उपर्युक्त कल्पना को हटा दें तो वह कम से कम बीजक के कुछ पदों में, सर्वशक्तिमान निर्दोष ब्रह्म के रूप में प्रकट हो सकता है। सांप्रदायिक दृष्टि से विचार कर कहा जा सकता है कि निरंजन या धर्मराज को परम दैवत समझनेवाला संप्रदाय बाद में जब कबीरसंप्रदाय में अन्तर्भुक्त हुआ, उसी समय निरंजन की महिमा घटाने का प्रयत्न किया गया होगा।[२] ऊपर की नाथवाणी में उपलब्ध तीन अर्थों में से प्रथम अर्थ ही इस प्रकार की, निरंजन की पौराणिक कल्पना का मूल कहा जा सकता है। इन सारे विवेचनों को देखने से यह बात स्पष्ट होती है कि १—परवर्ती कबीरपंथियों ने पौराणिक सृष्टिवर्णन की पद्धति को स्वीकार कर लिया था, २—तदनुरूप, कबीर के विभिन्न अवतारों की कल्पना की गई, ३—तदनुरूप, विभिन्न विलक्षण लोकों की कल्पना की गई, ४—तदनुरूप एक प्रकार के लीलावाद को स्वीकर कर कहा गया कि केवल कहने-सुनने के लिये जिसने जगत् रचना की और सारा जगत् भ्रांत हो गया, किसी ने उसे पहचाना नहीं। उसने सत्व, रजस् और तमस् से

[१] कबीर साहित्य की परख, पृ० २४५।

[२] कबीर, पृ० ६३-६४।

माया उत्पन्न की, अपने में ही अपने को छिपा लिया ।[१] ५—कबीरपंथ के विभिन्न ग्रंथों में कबीर के विभिन्न अवतारों और लीलाओं का वर्णन मिलता है। इस प्रकार की पौराणिक प्रवृत्तियों का प्रभाव भारतवर्ष के प्रायः सभी संप्रदायों पर कालान्तर से पड़ता रहा है। बौद्ध पुराणों में, जातक कथाओं में भी, यह बात मिलती है। नाथसिद्धों की हिंदी रचनाओं में यद्यपि इसी प्रकार की कोई रचना देखने में नहीं आई है तथापि मत्स्येन्द्र, गोरक्ष आदि से संबंधित चरितग्रंथों में ऐसी कल्पनाएँ ढूँढ़ी जा सकती हैं। निष्कर्ष यह है कि निरंजन के परब्रह्मवाले रूप को नाथसिद्ध तथा कबीरादि पूर्ववर्ती संत समान रूप से स्वीकार करते हैं किंतु परवर्ती कबीरपंथियों तथा अन्य परवर्ती संतों ने निरंजन को एक भिन्न पद और रूप प्रदान किया। नादरूपा सृष्टि के लयस्थान निरंजन की ओर एक संकेत हमें कबीर में मिलता है ।[२]

जीवन्मुक्ति शब्द नाथों और संतों के लक्ष्यनिरूपण की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण शब्द है। जीवित अवस्था में देहपात के पूर्व जो मुक्ति होती है, उसे जीवन्मुक्ति कहते हैं तथा पार्थिव स्थूल और सूक्ष्म देहनाश के बाद जो मुक्ति होती है, उसे विदेहमुक्ति कहते हैं। नाथों ने विदेह मुक्ति को आदर्श मुक्ति नहीं माना। कबीरदास ने पिंडमुक्ति को आवश्यक नहीं माना अपितु मुक्तिपद (परमात्म मुक्ति) को आवश्यक माना। यह हम पहले ही दिखला चुके हैं कि वे इच्छामृत्यु और कायसिद्धि को महत्व नहीं देते। यह भी हम पहले बतला चुकें हैं कि कबीर को भगवान् और भक्ति चाहिए। उनके अनुसार जीव के लिये कोई दूसरा लक्ष्य है ही नहीं। बैकुंठ के प्रति भी वे निराकांक्षी ही हैं। आत्मपरमात्म का पूर्ण प्रत्यभिज्ञान जिसमें हो जाय, उसे ही वे मुक्ति मानते हैं। वे उस पद को मुक्ति नहीं मानते जिसमें व्यक्ति भ्रम से भ्रांत हो जाय। वे मृत्यु के उपरान्त प्रिय का दर्शन भी नहीं चाहते। उनकी दृष्टि में उसका कोई मूल्य नहीं है। वे इसी जीवन में ही परमात्मोपलब्धि चाहते हैं ।[३] इससे स्पष्ट है कि कबीर जीवन्मुक्ति चाहते हैं किन्तु इच्छामृत्यु और नाथसिद्धि नहीं चाहते। पहले हम बतला चुके हैं कि उन्हें अजरामरता

---

[१] क० ग्रं०, पृ० २२५।

[२] वही, पृ० २०१-२०२, पद ३३६; कबीर साहित्य की परख, पृ० २४५।

[३] क० ग्रं०, पृ० १०० पद ३६, १०५.५२, पृ० २३३, पृ० ८ साखी ७–८।

की उपलब्धि भक्ति की उपलब्धि के साथ स्वभावतः हो जाती है। यह अजरा-मरता काल से निर्भयता है। इसी भाव को दूसरे शब्द 'जीविना मुआ' से व्यक्त किया गया है। गोरख की वाणियों में इस शब्द का प्रयोग जीते जी मृतक के समान अर्थ में हुआ है। वहाँ सोनेवाले योगी के लिये 'मृतक' का संबोधन किया गया है। किन्तु कबीर ने, जैसा स्पष्ट है, सांसारिक दृष्टि से मृतक के अर्थ में प्रयोग किया है। वे जीवन में ही मरने, सांसारिक जीवन को समाप्त करने के लिये कहते हैं। जीवित रहते ही मृत्यु को प्राप्त करना अथवा दूसरे शब्दों में जीवन्मृत्यु को प्राप्त करना अपने अहंकार का नाश करना है। तभी कर्ता की उपलब्धि हो सकती है। इसके लिये जगत् की आशा का त्याग आवश्यक बताया है। किन्तु इस प्रकार मरना भी सभी लोग नहीं जानते। सांसारिक जीवन व्यतीत करने से, यदि कोई मरना जानता हो तो, उसके लिये मरना ही अच्छा है। देहमृत्यु के पूर्व ही यदि कोई व्यक्ति मर जाय (सांसारिक आशाओं का त्याग कर दे, अहंकार का नाश कर दे) तो वह कलियुग में अजर-अमर हो जायगा। ऐसी मृत्यु की स्थिति में मन संसार से उलट कर सनातन हो जाता है और तभी व्यक्ति 'जीवन्मृत' (जीवन्मुक्त) होता है।[१] कबीर ने इस संबन्ध में यौगिक प्रणालियों का विवेचन नहीं किया। मन को पलटने की क्रिया को पूर्वोक्त मानससाधन से संयुक्त किया जाता है। जगत् कल्याणसाधन भी परमार्थसाधन है। देहपात के पूर्व जीवन्मुक्त का जीवन जगत्कल्याणसाधन के लिये ही है। ऐसे व्यक्ति के लक्षणों को बतलाते हुए कबीर ने कहा है कि उस दीन, गरीब और संसार की तुच्छ से तुच्छ वस्तु के समान जीवन को धारण कर भी जगत् कल्याणसाधन करना चाहिए। उसके जीवन से किसी को भी, तनिक भी, दुःख न हो।[२]

२६—सहजशून्य

समाधि का अंतिम पर्यायवाची शब्द है 'सहजा।' समाधि सहजावस्था है। 'सहजा' शब्द का प्रयोग संतों के साहित्य में सामान्यतः उपलब्ध नहीं। सहज समाधि शब्द का प्रयोग अवश्य ही संतों ने बहुलता से किया है। सबसे पहले 'सहज' शब्द पर ही विचार करें। कबीर के अनुसार इंद्रियों के प्रसार

---

[१] क० ग्रं०, पृ० ६४, साखी १,२,३,५,८, पृ० ३ साखी २६, पृ० ९३ पद १५।

[२] क० ग्रं०, पृ० ६५ साखी ११–१४; कबीर वचनावली, पृ० ११६ साखी २६१–२६६।

को मिटाने से वह परमतत्व सहज ही (सरलता से—स्वाभाविक ढंग से) मिल जाता है। यद्यपि 'सहज-सहज' सभी लोग कहते हैं किन्तु सहज उसे ही कहते हैं जिसमें विषय का सहज ही त्याग हो जाता है। इसमें पाँचों इंद्रियों को परमतत्वोन्मुख होना चाहिए। जब सहज ही भगवान् की उपलब्धि हो जाय तभी 'सहज' कहना चाहिए।[१] यहाँ उपलब्धि के साधनों की प्रकृति की सहजता-सरलता-नैसर्गिकता का अर्थ मालूम पड़ता है। सहज शब्द का दूसरा प्रयोग परमतत्व के अर्थ में मिलता है। कबीर के अनुसार जो व्यक्ति बंकनाल को समभाव से रखता है, उसका आवागमन नहीं होता। इस समय ध्वनिलहरी का प्रकटीकरण होता है, वह व्यक्ति सहज में सम्मिलित हो जाता है। जो रात-दिन नहीं सोता, उसे काल नहीं खाता। गुरुप्रसाद से वह सहज में ही समाहित हो जाता है।[२] इसी प्रकार सहज शब्द विशेषण के रूप में भी प्रयुक्त हुआ है, जैसे—सहज सुख, सहज ध्वनि आदि। ऐसे प्रसंगों में सहज शब्द का अर्थ 'पारमार्थिक और कृच्छ्राचार रहित' हो सकता है।[३] कबीर ने इसी प्रकार सहज शब्द से सम्बन्धित 'सहज-सुंनि',' सहज सील', 'सहज भाइ', 'सहज सुभाई', 'सहज समाधि' आदि शब्दों का प्रयोग किया है। 'सहज शून्य' शब्द अत्यधिक महत्वपूर्ण है। सहजशून्य कबीर के अनुसार, गंगा-यमुना के मध्य में घाट है जहाँ मन लीन होता है। सहजशून्य का नूपुर (नाद) भी वे गगनमंडल में सुनते हैं। वहीं रस (अमृतरस) का पान किया जाता है।[४] यहाँ इन प्रयोगों से सहजशून्य का अर्थ ब्रह्मरंध्र या गगन या गगनमंडल प्रतीत होता है। शून्य शब्द आकाश अथवा गगन के लिये सामान्यतया प्रयुक्त होता रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि सहज परमतत्व के वासस्थान गगन को सहजशून्य कहा गया है जहाँ अमृतरसपान होता है तथा मनोलय होता है। कबीर ने अन्य शून्यों का वर्णन नहीं किया है अतः नाथों के अधःशून्य, मध्यशून्य आदि से उसकी तुलना नहीं की जा सकती। ऐसा प्रतीत होता है कि यह अनुभूति की परमोच्च अवस्था है। सहज शब्द विशेषण के रूप में 'शील' के साथ भी प्रयुक्त हुआ है जिससे सहज रहनी की ओर संकेत होता है। इसमें साधक के लिये सती, संतोषी, सावधान, शब्दभेद का सुविचारक होना आवश्यक

[१] क० ग्रं०, २८.२, ४१.१–४।

[२] क० ग्रं०, १४०.१५७, १६०.२११।

[३] क० ग्रं०, १३८-१३९.१५५।

[४] क० ग्रं०, १८.३.१८२, ९४.१८, १११.७४।

माना गया है। यह सहजशील ही मत का सार है।[१] सहजभाव और सहजस्वभाव शब्द भिन्न-भिन्न हैं। सहज भाव गंगायमुना का अद्वैतभाव, सहयोगीभाव, पंचतत्वों की साधनानुकूलता का भाव है। इस भावावस्था में ही सहजभाव (आध्यात्मिक प्रेमभाव—बौद्धों सिद्धों में सहज, जो प्रेम का वाचक है) उदित होता है। उसके ही उदित होने पर साधक राम में समाहित होता है। सहज स्वभाव एक उपाय है। बिना इसकी सहायता के हरिजल की उपलब्धि नहीं हो सकती। यह आत्मा का स्वाभाविक गुण-धर्म है जिसको बतानेवाले गुरु हैं।[२] सहज समाधि एक ऐसी अवस्था है जिसमें व्यक्ति की सभी शक्तियाँ और पक्ष संसार से विमुख होकर भगवान् की ओर उन्मुख हो जाते हैं। तभी साधक सभी प्रकार से अपना कुशल मानता है, उसे शांति मिलती है जब वह गोविन्द को जानता है। शरीर में करोड़ों उपाधियाँ होती हैं किन्तु उनके विपरीतकरण पर सुखमयी सहज समाधि लगती है। इस स्थिति में दुःख विस्मृत हो जाता है, वैरी मित्र हो जाते हैं, शाक्त सज्जन हो जाते हैं, जीवात्मा उलट जाती है, उसका ज्ञान हो जाता है, त्रिताप पीड़ित नहीं करते, मन उलट कर सनातन (स्थिर) हो जाता है, तभी जीवन्मृत्यु का वास्तविक ज्ञान होता है। ऐसी सुखमयी सहजावस्था में समाहित होने पर साधक न तो स्वयं भयभीत होता है, न दूसरों को भयभीत करता है। (आत्मसुख-परसुख, आत्मकल्याण और परकल्याण में एकत्व हो जाता हैं।) यह परम विश्रांति की अवस्था है जिसमें ब्रह्मज्ञान की उपलब्धि हो जाती है, भ्रमनाश हो जाता है, परम ज्योति का प्रकाश हो जाता है। यह अनिर्वचनीय स्थिति है। यहाँ सब कुछ 'आत्मा' ही है। इसमें आवागमन का भी निरोध हो जाता है। त्रिकुटी के कोट में साधक आसन लगा लेता है तथा सहज समाधि की अवस्था में सभी विषयों का त्याग हो जाता है।[3] लययोग की जिस प्रक्रिया का कई बार वर्णन किया गया है उसका विवरण देकर कबीर ने सहजसमाधि का वर्णन किया है। धारणान्तर्गत लययोग की दृष्टि से कबीर का यह वर्णन अत्यन्त शास्त्रीय है। प्रलय की प्रक्रिया के बाद साधक का पूर्ण परिवर्तन (तन और मन—दोनों दृष्टियों से) साधित होता है। यह लय-क्रिया से ही साधित होता है। पुनः साधक उस सांसारिक रूप में संसार में

[१] क० ग्रं०, ६३.२।

[२] क० ग्रं०, ९४.१४, १८९.२९८।

[3] क० ग्रं०, ९३. १५, ८९–९०. ६, १५८. २०४।

नहीं आता। कबीर के अनुसार पंचतत्वों की रचना से विमुक्त होने पर राम की प्राप्ति होती है। यह पंचतत्वों की बिछुड़न देह त्याग नहीं, देहपरिवर्तन है। यह परिवर्तन पृथ्वी के गुण का पानी में लय, पानी के गुण का तेज में विलय, तेज के गुण का पवन में लय और पवन के गुण का शब्द में लय होने से साधित होता है। इस प्रलयक्रिया का ही स्वाभाविक परिणाम सहज समाधि है।[1] इस प्रकार सहज समाधिपूर्ण प्रलयावस्था है। साधक की दृष्टि से, उसकी आत्मा की प्रकृति के अनुकूल सहज परमात्मा के प्रति अनुकूलता ही है।

निरंजन के समान ही जिन दो अन्य शब्दों का बड़े विस्तार से विद्वानों ने विचार किया है, वे हैं—सहज और शून्य। संक्षेप में उनके विचारों को यहाँ उपस्थित किया जा रहा है। डा० बड़थ्वाल ने बतलाया है कि जब स्थूल बुद्धि से ऊपर उठकर अपरोक्षानुभूति के राज्य में प्रवेश हो, तभी स्वानुभव से यह ज्ञात हो सकता है कि वस्तुतः हमारे ही भीतर ब्रह्म की सत्ता है। इसी अनुभवज्ञान को निर्गुणी संतों ने सहज ज्ञान कहा है। 'दादू के अनुसार सहज बिना अंगवाले ब्रह्म को बिना आंखों के देखना, उससे बिना जिह्वा के बातें करना, बिना कान के उसकी बातें सुनना और बिना चित्र के उसका चिंतन करना है। कबीर उसे अति रहस्यमय और अनिर्वचनीय मानते हुए सामान्य जनों के लिये उसे अविश्वसनीय समझते हैं। डा० बड़थ्वाल ने उस ज्ञान को अन्तरज्ञान अथवा 'इंट्यूशन' कहा है। यह प्रत्येक व्यक्ति में सहजात होता है। इन्द्रियातीत होते हुए भी इसकी उपलब्धि विचारवृत्तियों और इन्द्रियों को कुंठित करने से नहीं, संस्कार से होती है। यह विचारवृत्ति अथवा सहजानुभूति के क्षेत्र में नहीं पहुँच पाता, नीचे ही रह जाता है। यह सहजज्ञान अथवा सहजानुभूति संत के व्यवहारों, कार्यों में अनुस्यूत रहती है। यह सहजज्ञान और ब्रह्म दोनों ही एक हैं, उनकी अलग-अलग सत्ताएँ नहीं हैं। यह सर्वोत्कृष्ट आनन्ददायिनी अनुभूति होती है।[2] आचार्य क्षितिमोहन सेन ने सहज के दो अर्थ बताये हैं—१—इन्द्रियोपभोग की धारा में अपने को अबाध गति से छोड़ देना अथवा निश्चेष्ट भाव से अपने को किसी एक धारा में बहा देना। २—सत्वगुण के द्वारा दिव्य होना और उससे सर्वांशतः जीवन को दिव्य करना। इस द्वितीय अर्थ को ही वे साधनानुकूल समझते हैं। यह वस्तुतः शिवभावापन्न

---

[1] क० ग्रं०, १३६-१३७. १५०।

[2] मकरंद (निबंध संग्रह), डा० बड़थ्वाल, पृ० २१-२४, २६-२७।

होना, उस विश्व की चराचरव्यापिनी भागवत धारा में अपने को छोड़ देना है। ऐसी अवस्था में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से निरंतर सहज साधना चलती रहती है। वह धर्म-कर्म एवं आचार-अनुष्ठानादि में बद्ध नहीं रह जाती। अतः व्यवहार में भी इस सहज की ही साधना करनी चाहिए। वाद-विवाद, संसार से निर्लिप्तता तथा आत्मविचार कर सहज के बीच स्वभाव में समदृष्टि की साधना करने की आवश्यकता है। इस सहज साधना का भी एक क्रम है— १–पहले अन्तर में एक की उपलब्धि, २–विश्वमय ऐक्यबोध, ३–समदृष्टि। आचार्य सेन ने सहजशून्य को ब्रह्मशून्य बताया है। यह ब्रह्मशून्य अध्यात्म-धाम है जहाँ साधक अवस्थित होता है। उनके अनुसार 'अखिल छंद के साथ छंदमय होना ही सहज हुआ।'[१] आचार्य सेन ने इस प्रकार सहजसाधना की विशेषताएँ बताई हैं और उनका सहज का अर्थ शरीर नहीं अपितु आत्मा के अनुकूल साधन है। आत्मवृत्ति के अनुकूल होने के कारण वही सहज है।

सहज और शून्य के अर्थनिरूपण में उनका ऐतिहासिक संबंध भी महत्वपूर्ण हो सकता है। मध्ययुगीन रहस्यवादियों ने शून्य को अपने ढंग से ग्रहण किया। अमूर्तिपूजकों के लिये शून्य शब्द 'असीम' भाव को व्यक्त करनेवाला था। यह उनलोगों के अपने सहज, समरस, एकरस आदि सिद्धान्तों से भी मिश्रित हो गया है। उत्तरी भारत में, रामानंद के समय में, शून्यसिद्धान्त सहज संप्रदाय के साथ मिश्रित हो गया है। ग्रन्थसाहब के अनुसार जयदेव और रामानंद सहज के उपासक थे। रामानंद सहजभक्त थे। सुंदरदास के 'सहजानंद' ग्रंथ में कहा गया है कि सहजनिरंजन सभी में व्याप्त है। सभी संत उस सहज में ही मिलते हैं। सेना और पीपा भी सहज में समाहित हैं। सेना और धना ने भी सहजरस का पान किया है।[२] कबीर की वाणी में इसका पूर्ण समन्वय मिलता है। शून्य के अभावात्मक वैशिष्ट्य से कबीर संतुष्ट नहीं हैं। वे उस शून्यमंडल को ही पुरुष का निवासस्थान मानते हैं। दादू ने बाउलों के समान तीन प्रकार के शून्य बताये हैं—कायशून्य, आत्मशून्य और परमशून्य। बाउलों के अनुसार महाशून्य, परमशून्य, अनिलशून्य नाम के

---

[१] संस्कृतिसंगम—आचार्य क्षितिमोहन सेन, पृ० १२७-१२९, १३७।

[२] दि विश्वभारती क्वार्टरली, १९३५-१९३६, वा० १, पार्ट ४, न्यू सिरीज, दि कांशेप्सन ऐंड डेवलपमेंट आव शून्यवाद इन मेडिएवेल इंडिया-क्षितिमोहन सेन, पृ० २१-२२। सुंदरसार, पृ० ११०-१११।

तीन शून्य हैं। दादू के कायशून्य में पंचभूतों की स्थिति, आत्मशून्य में जीवन की अभिव्यक्ति तथा परमशून्य में ब्रह्मशून्य से एकात्म होता है। ब्रह्मशून्य अनन्त असीम, अरूप ब्रह्म का निवासस्थान है। प्रथम तीन शून्य रूपात्मक जगत् से संबंधित हैं तथा चतुर्थ शून्य निर्गुण है। सहजशून्य में प्रेमलीला होती है। रज्जब के अनुसार शून्य वह अवकाश है जहाँ जीवन की अभिव्यक्ति होती है तथा उसके विकाश की पूरी संभावना रहती है। यह आकाश की पूर्ण निर्मुक्तता से आच्छादित रहता है। इसी प्रकार आचार्य सेन ने बड़े विस्तार से नानक के शून्य संबंधी विचारों का विवेचन किया है।[१]

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने बताया है कि नाथपंथी लोग अपने सबसे ऊपरी सहस्रारचक्र को शून्यचक्र कहते हैं। जीवात्मा यहाँ पहुँचकर केवल रूप में विराजता है। यही शून्यावस्था है। सहजयानी सिद्ध लोग इसी केवलावस्था को शून्यपद से पुकारते हैं। इन लोगों ने प्रायः शून्य और सहज शब्द का व्यवहार एक साथ किया है। सहजिया सिद्धों का यह प्रयोग नाथसिद्धों में भी ज्यों का त्यों चला आया है और कबीरदास आदि सन्तों ने भी इस परंपरा को लुप्त नहीं होने दिया है। कबीरदास प्रायः सहजशून्य का एक ही साथ प्रयोग करते हैं और कितनी ही जगह एक ही अर्थ में भी प्रयोग किया है। बौद्ध सिद्धों में शून्य को धनात्मक अवस्था बताकर 'सुखराज' कहा गया है। किंतु कबीर ने 'शून्य' और 'सहज' से जिस प्रकार की समाधि की बात कही है, वह योगियों की सहजावस्था से भिन्न है। राम ही उनकी सहजावस्था का सुख है। कबीरदास के मत से सहजावस्था भी वह अवस्था है जहाँ भक्त सहज ही भगवान् को पा सके। इस प्रकार सहज शून्य का नैरात्म्य, कैवल्य, महासुख, रामरस निर्झर के अर्थों में विकास हुआ।[२] सहजयानी सिद्धों ने एक अन्य शब्द 'खसम' का प्रयोग इस सहजावस्था या शून्यावस्था को बताने के लिये किया था। इसी प्रकार नाथों ने गगनोपम शब्द व्यवहृत किया था। कबीर को यह 'खसम' शब्द दो अर्थों में मिला—१—आत्मा का शून्यचक्र में पहुँचकर समभाव की अवस्था को प्राप्त होना, २—पति। कबीरदास कृच्छ्राचार से उपलब्ध समाधि को बहुत ऊँची अवस्था नहीं मानते थे। उन्होंने शून्य समाधिवाली गगनोपमावस्था या खसमभाव को सामयिक आनंद माना, अस्थायी माना। इससे भी बड़ी है—सहज समाधि, जिसके लिये किसी बाह्याचार,

---

[१] विश्वभारती क्वार्टरली में आचार्य सेन का उपर्युक्त लेख, पृ० २२-२८।

[२] कबीर, पृ० ७२--७५।

कृच्छ्राचार आदि की आवश्यकता नहीं होती। योगियों की कचाई बताने के लिये भी कबीर ने खसम की तुलना निकृष्ट पति से की है। कबीर की रचनाओं में खसमभाव की अपेक्षा भगवद्भाव श्रेष्ठ बतलाया गया है।[१] नाथपंथियों की सहजसमाधि किस तरह कबीर की सहज समाधि से भिन्न हो गई इसके संबंध में डा० द्विवेदी का मत है, जो सर्वथा उचित और समीचीन प्रतीत होता है कि कबीर पहले योगमार्ग की ओर झुके हुए थे। उनके कुल में कुल-गुरु-परंपरा म, वह मार्ग प्रतिष्ठित था। "बाद में उनका समागम रामानंद से हुआ। यह बात कुछ असंभव नहीं कि रामानंद के प्रभाव में आने के पूर्व उन्होंने ऐसे बहुत से पद लिखे हों जिनमें योगसंप्रदाय की परम्परा से प्राप्त अक्खड़ता ही परिलक्षित होती हो और भक्ति रस का लेश भी न हो।" जिस दिन से महागुरु रामानंद ने कबीर को भक्तिरूपी रसायन दिया उस दिन से उन्होंने सहजसमाधि की दीक्षा ली, आँख मूँदने और कान रूँधने के टंटे को नमस्कार कर दिया, मुद्रा और आसन की गुलामी को सलामी दे दी। उनका चलना ही परिक्रमा हो गया, काम-काज ही सेवा हो गये, सोना ही प्रणाम बन गया, बोलना ही नाम-जप हो गया और खाने-पीने ने ही पूजा का स्थान ले लिया।[२] इस प्रकार की सहजरहनी कुछ भिन्न रूप में नाथों में उपलब्ध है, जिसका वर्णन हम पहले कर चुके हैं। पृथ्वीनाथ की रचनाओं में इस प्रकार की भावना विशेष रूप से मिलती है।

नाथों के संस्कृत ग्रंथों में विवेचित योग का परिचय देते समय पिपीलक योग और विहंगम योग जैसे योग के भेदों की ओर संकेत किया गया है। वहाँ केवल उनका संकेत ही उपलब्ध है। संतों की रचनाओं में भी इनका परिचय मिलता है। दरियासाहब के अनुसार सभी यौगिक क्रियाओं का समावेश इन्हीं दो योगों के अंतर्गत हो जाता है। पिपीलक योग और हठयोग एक ही हैं। पिपीलक की साधना कुंडलिनीयोग की साधना है जिसके अन्तर्गत कुंडलिनीजागरण और षट्चक्रभेद भी गृहीत हैं। डा० रामकुमार वर्मा ने 'कबीर का रहस्यवाद' के हठयोग के प्रकरण में इसी पिपीलक योग या हठयोग का वर्णन किया है। डा० ब्रह्मचारी ने इसका विवरण दरियापंथी ग्रंथों (ज्ञानदीपक, ब्रह्मप्रकाश, दरियासागर आदि) के आधार पर दिया है। इस विवरण में कुंडलिनी, नाड़ी, आसन, मुद्रा, षट्चक्र आदि का परिचय देने के बाद कुंडलिनी

---

[१] कबीर, पृ० ७५-७९।

[२] कबीर, पृ० १५१।

के षटचक्रों का भेदन कर ऊपर सहस्रदलपद्म तक पहुँचने की क्रिया की तुलना चींटी के वृक्ष पर चढ़कर माधुर्य का आस्वादन करने और उससे वंचित होने पर नीचे उतर आने से की गई है। इसी प्रकार योगी के भी योगविरहित अवस्था में बार-बार लौट आने की आशंका बनी रहती है। वह निरंतर परमानंद का आस्वादन नहीं कर पाता। इसलिये दरियासाहब ने एक अन्य महत्वपूर्ण विहंगम (पक्षी) योग को महत्व दिया है। पिपीलका से पक्षी में अंतर यह है कि पक्षी का निवासस्थान वृक्ष है। इसे ध्यानयोग भी कहा जाता है। डा० वर्मा ने कबीर के योगनिरूपण में केवल हठयोग को ही ग्रहण किया है और डा० ब्रह्मचारी का कहना है कि विहंगम योग कबीर की साधनापद्धति में भी उतनी प्रधानता रखता था जितनी दरिया की पद्धति में। दरिया के अनुसार इस योग में वह विहंगम 'शून्य गगन में विचरण करते हुए अमृतपान करता है और अमृतपान करते हुए शून्यगगन में विचरता रहता है। इस विचरण और परमानंदास्वादन की निरंतर अवस्था में उसका शरीर के 'पिंड भाग' से कोई मतलब नहीं रह जाता। 'उसकी सुरति (दृष्टि) नेत्र के अष्टदलकमलस्थित सूचिद्वार से होकर ब्रह्माण्ड में प्रवेश कर, त्रिवेणी में मज्जन करते हुए, सहस्रदलकमल में विचरण करते हुए 'बंकनारी' अथवा 'बंकनाल' होकर ऊपर चढ़ती है और भँवरगुफा में प्रविष्ट होती है। इस गुफा में शब्द गुंजायमान रहता है।···इसी गुफा से होकर उस प्रदेश का मार्ग है जिसे 'सचखण्ड' (सत्य का राज्य) कहते हैं और जो निराकार सत्पुरुष (ईश्वर) का निवासस्थान है। सच्चखण्ड से सुरति विद्युत्वेग से उस अवर्णनीय 'अकह लोक' की ओर प्रधावित होती है जिसे 'अवाच' भी कहते हैं। फिर यहाँ से वह अगम 'नगरी' या अमरलोक तक पहुँचती है जो परमानंद की आश्चर्यमयी नगरी और अद्भुत लोक है। दरिया ने विहंगम योग को पिपीलक योग से श्रेष्ठ माना है क्योंकि हठयोग में शरीर पर तो हठयोगी अधिकार प्राप्त कर लेता है किन्तु वह आत्मपरिचय और आत्मप्राप्ति नहीं कर पाता, जो अत्यावश्यक है तथा जिनके बिना योग विडम्बना है। डा० ब्रह्मचारी के अनुसार दरिया हठयोग का सर्वथा निराकरण न कर विहंगम योग के साथ उसका सामंजस्य करते हैं।[१] कबीर साहित्य में ये दोनों प्रकार के योग मिलते हैं, इसका वर्णन हम कर चुके हैं। वस्तुतः पातंजल योग के अन्तिम तीन अंग अथवा अंतिम दो अंग कबीर साहित्य में हठयोग से समन्वित होकर विस्तार

---

[१] संत कवि दरिया : एक अनुशीलन, पृ० ९३ तथा आगे, पृ० १०३-१०४।

से वर्णित हुए हैं। नाथों ने हठयोग और राजयोग का समन्वय किया था, यह हम कह चुके हैं।

अभी तक संतों की योगसाधना की प्रवृत्तियों और प्रक्रियाओं का संक्षेप में परिचय देते हुए नाथों की योगसाधना से उसकी तुलना की गई है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि सहजावस्था के लाभ के लिये गुरु के प्रयोजन को नाथों और संतों, दोनों ने, स्वीकार किया है। शिवदयाल, कबीर आदि संतों के अनुसार आज्ञाचक्र के नीचे गुरुलाभ नहीं होता। देहस्थ चक्रों का अतिक्रमण करके देहबाह्य अर्थात् ब्रह्माण्ड के सकल चक्रों का भी अतिक्रमण कर सत्यलोक में पहुँचा जाता है, उसकी कबीरपंथी और राधास्वामी मत में विशेष चर्चा है। कबीरादि के मत से सत्य सगुण और निर्गुण से अतीत है।[१] हम पहले ही यह कह चुके हैं कि नाथों के अनुसार नाथतत्व निर्गुण-सगुण से अतीत है। ऊपर की तुलना से भी यह विदित हो जाता है कि मध्ययुग के रहस्यवादी संतों, सूफियों और नाथों की साधना में एक योगसूत्र अवश्य है। यद्यपि इन लोगों की दृष्टिभंगी भिन्न है तथापि इन लोगों में कुछ साधनागत ऐक्य है। 'प्राचीन युग के पातञ्जल, बौद्ध, जैनादि संप्रदायों की योगसाधना तो सुविदित है ही, नाथ, संत और सूफियों की साधना के अंतराल में भी यह योग स्पष्टतया विद्यमान है। संत कबीर के उपदेश में वैष्णवीय प्रेम और भक्ति के साथ वेदान्त के 'तत्वमसि' का अपूर्व मिश्रण है साथ ही नाथयोग के अनुरूप साधना भी है। नाथयोग में सूफी और सन्त साधना के अनुरूप प्रेम वा भक्ति की दृष्टिभंगी नहीं होने पर भी नाथ, निरंजनी और संतमत में ऐक्य है।[२] कबीर कमाल, दादू के दर्शन के साथ निरंजनियों के दर्शन का अपूर्व साम्य दिखाई पड़ता है। संतों के मूलगत सिद्धान्त तीन थे—ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास, जीवात्मा-परमात्मा की स्वरूपगत एकता में विश्वास, ३—आत्मा की नित्यता और 'सोहं' साधना में प्रत्यय। कबीरादिक ने सुरत-शब्द-योग द्वारा मिलन-स्थापना का उपदेश दिया है। यह सुरत-शब्द-योग वस्तुतः कबीरादि के बहुत पूर्वकाल में प्रचलित था। नाथमार्ग में इसका विशेष साधन था। वे लोग इसे "अजपाजाप" कहते थे। योगमार्ग का नादानुसंधान ही संतों का अनहदनाद साधन है। इस नाद का आश्रयण कर परमतत्व की उपलब्धि की जाती है—यह दोनों मार्गों का वैशिष्ट्य है। चित्तवृत्ति को शब्द या मंत्र में लय

[१] ना० सं० इ० द० सा० प्र०, पृ० ३६७-३६८।

[२] वही, पृ० १८१।

करने का उपदेश प्राचीन युग से ही मिलता रहा है। इसी का नामान्तर मंत्र-चैतन्य है। संत लोग सुरत-शब्द-योग द्वारा नाद से परे जिस अतीत भूमि में पदार्पण करते हैं, उसे निःशब्द या अनामीलोक कहा जाता है। कबीर भी इसका वर्णन करते हैं। यह अवस्था भी तत्वातीत अवस्था है जो सहजिया संप्रदाय की सहजावस्था कही जाती है। संत लोग इसे विषमदेश कहते हैं। इस अवस्था में जिस सुख की अनुभूति होती है, उसे "निरति" वा "नृत्य" आख्या दी गई है। साधक को जब स्मृतिलाभ हो जाता है तब किसी प्रकार की दैहिक क्रिया निष्प्रयोजन हो जाती है। यह अनुभूति वर्णनातीत है। इसे नाथसिद्ध लोग उन्मनी अवस्था नाम देते हैं—अर्थात् यह मनहीन अवस्था है। सहजसमाधि या उन्मनी दशा स्थायी है। सन्त साधना का मूल मंत्र है—नाम जप या सुमिरन। इसके द्वारा ही मर्त्यलोकवासी स्वर्ग का आस्वाद पाता रहता है। कबीर की तरह ही अद्वैतवादी दादू के संप्रदाय का रामनाम-जप उसकी विशेषता है। संतवाणी में वैराग्य और सत्संग का बार-बार उपदेश दिया गया है। सदगुरु ही एक मात्र पथप्रदर्शक माना गया है। नाथयोगी भी बार-बार सद्‌गुरुलाभ के लिये उपदेश देते हैं। इस शरीर में अनेक आध्यात्मिक केंद्र हैं। संत लोग सांकेतिक भाषा में उन्हें कमल कहते हैं तांत्रिक साधना में भी उन्हें कमल कहते हैं। इन विभिन्न केन्द्रों का साधन करने से ब्रह्माण्ड के सभी लोकों से संबन्धस्थापन संभव है, यह राधास्वामी संप्रदाय, संत संप्रदाय, नाथसंप्रदाय प्रभृति ने विवृत किया है। शरीर की सुप्त शक्ति को जागृत कर उसकी सहायता से ब्रह्माण्ड के साथ संबंधस्थापन किया जाता है। सुमिरन या नामस्मरण इस सुप्ता शक्ति को जागृत करने के लिये प्रक्रियाविशेष है। संतों में यह गोपनीय साधन है। नाथयोगी लोग हठयोग की सहायता से सुप्ता शक्ति को जागरित करते हैं। दोनों में यही भेदक तत्व है। दोनों का उद्देश्य पिंड और ब्रह्माण्ड के योग की स्थापना है किंतु प्रणाली भिन्न है। तथापि नाथसाधनमार्ग के जीवन्मुक्ति, त्रिकुटी, सहस्रदलकमल, नाड़ी, चक्र, अजपासाधन प्रभृति का उल्लेख संतों की साखियों में पाया जाता है। संतों में शून्य की भी साधना मिलती है।[1]

२७—निष्कर्ष

इन विवेचनों और तुलनाओं के संबंध में कुछ बातें कहनी आवश्यक हैं। यह तुलना का कार्य तभी अपेक्षाकृत अधिक सुगमता, विस्तार और सूक्ष्मता से

---

[1] वही, पृ० १८३-१८८।

संभव होता जब नाथों और संतों की हिंदी की रचनाओं के आधार पर उनके योग और भक्ति का पूरा निरूपण हो गया होता। उसके अभाव में यहाँ भक्ति और योग की केवल कुछ प्रवृत्तियों और प्रक्रियाओं का निरूपण संक्षेप में करके संक्षेप में ही उनकी तुलना भी की गई है। उनके शास्त्रीय आधार के निरूपण में भी परिश्रम करना पड़ा है। योग के निरूपण में तुलना के लिये अष्टांग योग को आधार मान कर, उसके अंगों के अंतर्गत ही हठयोग, कुंडलिनीयोग आदि को अन्तर्भूत कर विचार किया गया है। तुलना के लिये यम-नियम, प्राणायाम, हठयोग, षट्चक्रभेद, कुंडलिनीयोग, लययोग, ध्यान और समाधि का विचार किया गया है। इन सबके मूल में जो तीन सिद्धान्त देखे गये हैं, वे हैं—गुरुशिष्यवाद, अधिकारभेदवाद और पिण्डब्रह्माण्डवाद। प्राय: इन सभी साधनों और सिद्धान्तों को संत लोग स्वीकार करते हैं। इनके रूप, प्रयोग, लक्ष्य, प्रक्रिया, स्थान, मूल्य आदि के संबंध में मतभेद अवश्य हैं, जिनकी ओर यथास्थान संकेत कर दिये गये हैं। किंतु इतनी बात भेदक तत्वों के संबंध में कही जा सकती है कि १–संतों का 'सुरत-शब्द-योग' भक्तिपरक है, भक्ति के भावसाधन का एक अंग है, वैसे तो पहले का वर्णित सम्पूर्ण भक्ति-साधन का ही अंग है। २–जिस प्रकार अजपाजाप आदि का स्पष्ट निरूपण संतों ने किया है, उस प्रकार कुंडलिनी का नहीं किया है। कुछ विद्वानों के अनुसार तो कुंडलिनीयोग को संत लोग स्वीकार नहीं करते। नाथों के संबंध में भी यही बात कही जाती है। डा० मोहन सिंह ने अपने ग्रंथ में नाथों के साधन को नादानुसंधान ही कहा है। इसी प्रकार संतों के योगपरक साधन को सुरत-शब्द-योग कहा है। ३–पिपीलक योग और विहंगम योग में से यद्यपि नाथों की हिन्दी रचनाओं में, किसी एक का भी नाम नहीं मिलता तथापि 'हठयोग' को अनिवार्य रूप में स्वीकार करने के कारण उनमें पिपीलक योग की प्रधानता दिखाई देती है किन्तु उनके अनुसार भी यह पिपीलक योग विहंगम योग की प्रारम्भिक सीढ़ी है। संतों ने विहंगम योग को प्रधानता दी है जिसमें मानस साधन (धारणा, ध्यान और समाधि) की प्रधानता है, यद्यपि वे पिपीलक योग का सर्वथा तिरस्कार नहीं करते। नाथों के समान ही दरिया (बिहारवाले) को छोड़कर अन्य कबीरादि संतों में नाम देकर इन दोनों योगों का इस रूप में वर्णन उपलब्ध नहीं। शेष तुलनात्मक संकेत प्रसंगानुसार ही कर दिये गये हैं।

—ooo—

बारहवाँ परिच्छेद

नाथ और संत साहित्य में रहस्यवाद

अभी तक नाथ और संत साहित्य में भक्ति और योग नाम की दो मुख्य प्रवृत्तियों का विचार किया गया है। ये दोनों ही भारतीय मार्ग हैं और अति प्राचीन हैं। भारत के विभिन्न प्राचीन ग्रंथों में इनका पुष्कल विवेचन मिलता है। विभिन्न भारतीय मत-मतान्तरों को भक्ति, ज्ञान, योग, कर्म आदि किसी वर्गविशेष में रखकर विचार करने की चेष्टा प्रायः की जाती रही है। हम पहले ही कह चुके हैं कि संतों की मुख्यतम प्रवृत्ति भक्ति है और नाथों की मुख्यतम प्रवृत्ति योग है। इन दोनों ने अपनी साधनपद्धति में इन दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों के योगायोग को कहाँ तक किस रूप में स्वीकार किया है, इसका एक परिचय पीछे के परिच्छेदों में दिया गया है। किन्तु विद्वानों ने एक अन्य प्रवृत्ति 'रहस्यवाद' का भी विचार इन दोनों प्रकार के साहित्यों का विवेचन करते समय किया है। 'रहस्यवाद' जो प्रायः अंग्रेजी के 'मिस्टिसिज्म' शब्द के रूपान्तर के रूप में प्रयुक्त होता है, एक शब्द के रूप में प्राचीन ग्रंथों में उपलब्ध नहीं। इसे कुछ लोग पाश्चात्यों की एक विचारदृष्टि मानते हैं, जो भारतीय साधनात्मक शब्दावली के लिये नवीन है। कुछ पाश्चात्य विचारकों ने अपने साहित्य का विवेचन करने के बाद भारतीय विचारसरणि, अनुभूति-प्रक्रिया, अध्यात्मसाधन का विचार करते समय, 'रहस्यवाद' की विचारदृष्टि के प्रसार के अन्तर्गत उपनिषदों को भी अन्तर्भूत कर लिया है। औपनिषदिक विद्या को, यह सर्वविदित है, गुह्य विद्या भी कहा जाता है। प्रायः इसी को अध्यात्म-विद्या अथवा ब्रह्मविद्या भी कह देते हैं। इनमें से 'गुह्य' शब्द यदि 'रहस्य' का पर्याय मान लिया जाय तो, यह विद्या अथवा एक विशेष विचारदृष्टि एक पुरातन भारतीय दृष्टि के रूप में भी स्वीकार की जा सकती है। भारतीय रहस्य-वाद का विचार करते समय लोग प्रायः वैदिक रहस्यवाद, औपनिषदिक रहस्यवाद, कर्मकाण्डीय रहस्यवाद, पौराणिक रहस्यवाद, भक्तिपरक रहस्यवाद आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं और उसी पाश्चात्य दृष्टि से विचार करते हुए इन विभिन्न विभागीय साहित्यों में उसके कुछ तत्त्वों, विशेषताओं को लक्षित करा कर उसे रहस्यवादी कहते हैं। यदि इसी सरणि का अनुसरण किया जाय तो नाथ और

संत साहित्य को भी रहस्यवादी साहित्य कहा जा सकता है। इसके दो कारण हैं। प्रथम तो यह है कि उपर्युक्त प्रकार के विचारक नाथों और संतों के साहित्य का रहस्यवादी साहित्य[1] कह कर विचार करते हैं, दूसरे इन दोनों प्रकार के साहित्यों का विकास भी उसी गुह्यविद्या-ब्रह्मविद्या-अध्यात्मविद्या से सम्पन्न औपनिषदिक एवं भक्तिपरक साहित्य की परम्परा में मानते हैं। इस परम्परा का कुछ परिचय पिछले परिच्छेदों में दिया गया है। कुछ भारतीय विचारक ऐसे भी हैं जो, भक्तिसाहित्य में, विशेषकर हिन्दी की सगुणभक्ति-धारा के कवियों के साहित्य में रहस्यवाद की स्थिति नहीं स्वीकार करते। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'सूरदास' ग्रंथ के 'भक्ति का विकास' नाम के विस्तृत निबंध में अपने इस मत का पूर्ण प्रतिपादन किया है। पाश्चात्य दृष्टि से रहस्यवाद के तत्वों को ध्यान में रखकर विचार करनेवाले विवेचक, जैसे डा० रानाडे, रहस्यवाद की उदार परिभाषा के अन्तर्गत उपनिषद्, भगवद्गीता, पुराण, भक्तिसूत्र, योग, ज्ञानदेवादि मराठी संतों, हिन्दी के भक्तिकालीन सभी कवियों, गोरखनाथादि नाथों को, सभी को, अन्तर्भूत कर लिया है। हमें यहाँ केवल नाथों और संतों के साहित्य का विचार करना है। यह मानकर कि इनकी रचनाओं में रहस्यवाद के तत्व, लक्षण मिलते हैं, इनकी रचनाओं को हम रहस्यवादी साहित्य की कोटि में रख कर विचार करेंगे।

नाथों और संतों के साहित्य में उपलब्ध रहस्यवाद का विचार करने के पूर्व रहस्यवाद (सामान्य) तथा भारतीय रहस्यवाद की एक संक्षिप्त रूपरेखा उपस्थित करना आवश्यक है। रहस्यवाद शब्द सामान्यतया दो प्रकार के विचारों को अन्तर्भूत करने के लिये प्रयुक्त किया जाता है—(१) परमात्मा के साथ प्रत्यक्ष संयोग (डाइरेक्ट इंटरकोर्स) का स्वयं अनुभव (फर्स्ट हैन्ड एक्सपीरियेंस)। (२) परमतत्व अथवा ईश्वर के साथ आत्मा के सम्भव एकात्म का धर्मदर्शन-तत्ववैज्ञानिक (थियोलॉजिको-मेटाफिज़िकल) सिद्धान्त। इनमें से द्वितीय विचार के लिये रहस्यवाद को सीमित रूप में प्रयुक्त करना अच्छा है। इसी प्रकार ईश्वर के साथ आत्मा के एकातम के प्रत्यक्ष अनुभव के लिये रहस्यानुभव (मिस्टिकल एक्सपीरियेन्स) शब्द को सीमित रूप में प्रयुक्त करना अधिक उचित है। इस अवस्था में विषयी और विषय (सब्जेक्ट और आब्जेक्ट) दोनों ही एक दूसरे में अविभाज्य भाव से विमिश्रित रहते हैं। इन क्षणों में जो कुछ भी देखा, सुना अथवा अनुभव किया जाता है, वह आन्तरिक जीवन (इनर लाइफ) के आवेगमय प्रवाह से भरपूर रहता है। अत्यधिक गंभीरता में छिपी रहनेवाली व्यक्ति की शक्तियाँ, जो सामान्यतया क्रियाशील नहीं रहतीं,

अकस्मात् मुक्त हो जाती हैं। सर्वातीत शक्तियाँ (ट्रान्सेन्डैन्ट इनर्जीज़) जीवात्मा को विजित (आक्रान्त-इनवेड) करती प्रतीत होती हैं। जे० ए० स्टुअर्ट ने इन्हें सर्वातीत चेतना (ट्रान्सेन्डेन्ट कांशसनेस) कहा है। ये विभिन्न रूपों, मार्गों, गहराइयों में प्रकट होती हैं। सौन्दर्य अथवा विराट् का अत्युच्च साक्षात्कार, संगीत में विलीन आनंदानुभव, प्रकृति के साथ परम शांत सौख्य, किसी सत्य के अर्थ में अकस्मात् अन्तर्दृष्टि की प्राप्ति, प्रेमोदय, कर्त्तव्यानुसरण में जीवन का नैतिक उत्थान आदि कुछ इस प्रकार की अनुभूतियाँ हैं जो असीम भाव से 'ज्ञान' का अतिक्रमण करती हैं, उससे परे होती हैं। ये ऐसी अनुभूतियाँ हैं जिनमें विषयी और विषय दोनों ही एक दूसरे में अविभाज्य भाव से संपृक्त हो जाते हैं तथा जिनमें आत्मा अपने विषय से अभिन्न हो जाती है।[१] दूसरी ओर रहस्यवाद परमात्मा से एकात्म का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त में परमात्मा और जीवात्मा का एक तत्ववैज्ञानिक (मेटाफिजिकल) स्वरूप भी गृहीत है। इससे उस रहस्यमय मार्ग का भी संकेत होता है जिससे पूर्ण ब्रह्म परमात्मा के साथ एकात्म प्राप्त किया जा सकता है। इस परमात्मा के स्वरूप की जो कल्पना की गई है, उसमें वह पूर्ण तत्त्व (ऐब्सोल्यूट रियलिटी), शुद्ध सत्त्व (प्योर बींग), पूर्ण रूप (परफेक्ट फार्म), भूततत्वों के मिश्रणों से सर्वथा मुक्त, एक, नित्य (परमानेन्ट), स्थिर (इम्मुटेबल), अपरिवर्तनशील, मन की परिवर्तनशील अवस्थाओं में तथा संसार की ससीम परिवर्तनशील वस्तुओं में अनुपलभ्य, देश-काल से मुक्त, नाम-रूप-ज्ञेय-दृश्य आदि सभी से अतीत माना गया है।[२] इस आत्मा में भी कुछ ऐसे तत्त्व हैं जो उस पूर्ण ब्रह्म से तत्वतः अभिन्न हैं जिन्हें प्रायः 'चेतना का आधार' (ग्राउन्ड आव कांशसनेस), दिव्य स्फुलिंग (डिवाइन स्पार्क), 'ईश्वरवाणी' (वर्ड आव गाड), अन्तरोन्मुख दृष्टि या अन्तर्दृष्टि (इनवर्ड साइट) आदि कहा जाता है। यही पूर्ण सत्य के वास्तविक ज्ञान का स्रोत है। वैश्व स्तर के समस्त विचारों का भी यही स्रोत है। जब आत्मा अपने इस गंभीरतम केन्द्र में अवगाहन करती है तो वह उस सत्ता से एकात्म प्राप्त कर लेती है, ज्ञेय से अभिन्न हो जाती है।[3] तत्वज्ञान की यही अन्तर्धारा ऐतिहासिक रहस्यवाद में परिलक्षित होती है। इसमें आवश्यकतावश ही एक अभावात्मक पद्धति (वाया-निगेटिव) को स्वीकार

---

[१] इन्साइक्लोपीडिया आव रेलिजन ऐंड एथिक्स-जेम्स हेस्टिंग्स, वा० ९, पृ० ८३-८४।

[२] वही, पृ० ८४।

[3] वही, पृ० ८४।

किया गया। इसके अनुसार पूर्ण ब्रह्म तत्व (ऐब्सोल्यूट रियलिटी) ईश्वर, जिससे आत्मा एकात्म प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील रहती है, सब स्थूल और ससीम से सर्वोपरि और सर्वातीत है। किसी ससीम गुण अथवा विशेषण (फाइनाइट क्वालिटीज़ ऑर कैरेक्टरेस्टिक्स) का उसके ऊपर आरोप करना उसको भी सीमित करना है। उसकी पूर्णता और असीमता का पूरा अनुभव हम तभी कर सकते हैं जब उसके सभी विवरणों से सभी 'ससीमों' को तिरस्कृत कर दें। वह 'यह' नहीं है, वह 'वह' नहीं है। आत्मा उसके साथ एकात्म में आनन्द के लक्ष्य को प्राप्त करेगी। तब यह आत्मा भी सभी अवस्थाओं, क्रियाओं, संवेगों (इमोशंस), विचारों (थाट्स), एषणाओं (ऐस्पिरेशंस) और महत्कार्यों (डीड्स) से ऊपर हो जायगी, अतीत हो जायगी (अथवा डूब जायगी)। उस निःशब्द संयोग (वर्डलेस कम्युनियन) में, सभी प्रकार के विचारों, प्रतिमाओं (इमेजेज़) या स्थितियों से अतीत होनेवाली चेतना में, जीवात्मकेन्द्र परम पूर्ण ब्रह्म तत्त्व के सम्मिलन को, 'एकाकी का एकाकी की ओर अभ्युत्थान' को प्राप्त करेगी।[१]

रहस्यवाद दिव्य सत्तत्त्व अथवा संसार की वस्तुओं के चरम सत्य को ग्रहण करने (साक्षात्कार करने) का मानव मन का प्रयत्न है। तथा यह मानव मन का वह प्रयत्न है जिससे उस परमोच्च सत्ता के साथ वास्तविक संयोग के आनंद का आस्वादन किया जाता है। इसमें प्रथम अंश तो रहस्य-वाद का दार्शनिक पक्ष है तथा दूसरा उसका व्यावहारिक पक्ष है। प्रथम प्रयत्न सैद्धान्तिक और चिन्तनात्मक (स्पेक्युलेटिव) है तथा दूसरा प्रयत्न व्याव-हारिक अथवा क्रियात्मक है। रहस्यवादी का सबसे अधिक सघन भाव यह रहता है कि 'वह' परमोच्च, सर्वव्यापक, अन्तर्यामी शक्ति है जिसमें सभी वस्तुएँ एक हो रहती हैं। अतः रहस्यवाद के चिन्तनप्रधान कथन सदैव प्रकृत्या समधिक विश्वदेववादी होते हैं। व्यावहारिक पक्ष से रहस्यवाद इस परमात्मा के साथ आत्मा के प्रत्यक्ष समागम (डाइरेक्ट इंटरकोर्स) की सम्भावना का पालन करता है। यह संयोग बाह्य माध्यम (एक्सटर्नल मेडिया) से नहीं होता जैसे—ऐतिहासिक प्रकटीकरण, चामत्कारिक कथन, प्रार्थना के उत्तर इत्यादि; अपितु यह एक प्रकार के विमिश्रण अथवा अभिन्नत्व से साधित होता है जिसमें व्यक्ति सत्यतः परमात्म प्रकृति का अंशभोगी हो जाता है। उस समय ईश्वर

---

[१] वही, पृ० ८४।

उसके लिये कोई एक विषय न होकर एक अनुभवरूप हो जाता है।[१] किन्तु रहस्यवाद सामान्य विश्वदेववाद से भी एक अर्थ में भिन्न है। विश्वदेववाद अपनी प्रवृत्ति (मोटिव) में ही धार्मिक होता है। एक ओर धर्म के सामने एक प्रबल समस्या व्यावहारिकता की होती है और वह अपने सिद्धान्तों का विकास नैतिक (एथिकल) संदर्भ में करता है, जब कि, दूसरी ओर रहस्यवाद की मुख्य प्रवृत्ति चिन्तनात्मक (स्पेक्युलेटिव) होती है। इसका आरम्भ भी दिव्य प्रकृति से होता है, धर्म के समान मनुष्य और उसके वातावरण (सराउंडिंग्स) से नहीं होता। यह धार्मिक भावों के प्रतीकवाद (सिम्बोलिज़्म) को अभिधेयार्थतः अथवा तत्त्वज्ञान की दृष्टि से सत्य मानकर ग्रहण कर लेता है। यह विलक्षण योग (यूनियन) के लिये प्रयत्नशील रहता है।[२]

रहस्यवाद शब्द किसी एक विशेष मतवाद (सिस्टम) के लिये ही प्रयुक्त नहीं होता। यह विभिन्न विचारसरणियों (मोड्स आव थॉट) और भावनाओं के विकास के लिय भी हो सकता है। प्रायः ऐतिहासिक रूप में, यह एक उस विशेष मत-विश्वास (डेफिनिट सिस्टम आव बिलीफ) के लिये भी प्रयुक्त होता है जो स्थूल के विरुद्ध चेतना की प्रतिक्रिया में प्रकट होता है। जब कोई धर्म कुछ बँधे हुए सिद्धान्तों, व्रतों, आचारों आदि में संकुचित हो जाता है तब जो लोग 'हृदय के धर्म' के नाम पर उसका विरोध करते हैं वे प्रायः रहस्यवादी कहे जाते हैं। समय आने पर वे पुनः व्यक्ति के चिर उज्जीवित धार्मिक अनुभवों के तथ्यों को प्रमुखता प्रदान करते हैं और फिर बाद में रहस्यवाद कुछ निश्चित सिद्धान्तों (डाग्माज़) के रूप में विकसित होता है। विश्व के सभी उच्चतर धर्मों में रहस्यवाद विभिन्न रूपों में प्रकट होता है। इसकी विलक्षण विशेषताएँ भारत एवं फारस के धर्मों के साथ ही समान रूप से इस्लाम मत में भी दिखाई पड़ती हैं।[३]

रहस्यवाद शब्द से कभी-कभी चिन्तनात्मक रहस्यवाद का भी अर्थ लिया जाता है। इस रूप में रहस्यवाद वह तत्वज्ञानात्मक सिद्धान्त है जो परम दैवत (गाडहेड) की सूक्ष्म एकता तथा उसमें जीवात्माओं के अंहभाव, ससीम वस्तुओं के अभाव की घोषणा करता है। इसी प्रकार कुछ ऐसी विशेषताएँ

---

[१] इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका—सन् १७६८, वा० १६, पृ० ५१।
[२] वही, पृ० ५१।
[३] वही, पृ० ५१।

भी हैं जो रहस्यवादी को अन्य व्यक्तियों से विलक्षण स्पष्ट कर देती हैं। बेनेट के अनुसार रहस्यवादी कोई मरीज़ (पैथोलाजिकल केस) नहीं, क्योंकि मरीज़ अपनी शारीरिक और मानसिक पीड़ाओं से आक्रान्त रहता है, जबकि रहस्य-वादी कुछ हद तक इन सबका स्वामी होता है। इसी प्रकार हिस्टीरिया के रोगी से भी रहस्यवादी की तुलना नहीं की जा सकती।[१] रहस्यवादी की उपलब्धि की प्रक्रिया भी यद्यपि अस्वाभाविक नहीं होती तथापि कठिन और असामान्य अवश्य होती है। इसमें मनुष्य की सामान्य इच्छाशक्ति की कठोर परावृत्ति (परावर्तन-रिवर्सल) आवश्यक है। रहस्यवादी प्रत्येक वैसी वस्तुओं से विमुख हो जाता है जिन्हें हम संस्कृति और सभ्यता शब्द के अन्तर्गत ग्रहण करते हैं। वे सांसारिक जीवन की सम्पूर्ण वस्तु-व्यवस्था का परित्याग कर देते हैं जिन्हें मनुष्य ने स्थिर निवास के लिये आविष्कृत किया है, जिन पर परिश्रम किया है। वे अपनी क्रियाशीलता के लिये इनके स्थान पर विचारणा (कान्टेंप्लेशन) को महत्व देते हैं। समाज के स्थान पर एकान्त और तर्क के स्थान पर आध्यात्मिक आनन्द को स्वीकार करते हैं। यह स्पष्ट है कि इस रूप में हमें जो दिखाई पड़ता है वह जीवन की विपत्तियों और उत्तरदायित्वों से पलायन का एक प्रयत्न है।[२] किन्तु बेनेट इस प्रकार के अभिमत से सह-मत नहीं हैं। इस पर विचार करने के लिये सहानुभूति की आवश्यकता है। एक बाहरी द्रष्टा की दृष्टि में ज्ञान प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील एक कलाकार और एक विद्वान् निरर्थक, सुविचारमय जीवन (कान्टेम्प्लेटिव लाइफ) के लिये प्रयत्नशील एक भक्त आयोग्य (इनएफीशिएन्ट) और समाज-विरोधी (ऐन्टी-सोशल) प्रतीत हो सकते हैं। किन्तु इस प्रकार की बाह्य प्रतीतियाँ हमें किस प्रकार वास्तविक प्रेरक वृत्ति (मोटिव) का ज्ञान करा सकती हैं और परि-णामतः हमें किस प्रकार ऐसे जीवन के मूल्य का ज्ञान करा सकती हैं?[३] अतः स्पष्ट है कि इस प्रकार के रहस्यवादी के जीवन का मूल्य समझने के लिये सहानुभूति और अन्तःप्रवेशिनी दृष्टि की आवश्यकता है। ऐसे वास्तविक रहस्यवादियों को बौद्धिक (इन्टेलेक्चुअल) शंकाएँ बाधा नहीं पहुँचातीं। उनका दार्शनिक उलझनों अथवा समस्याओं से भी संबन्ध नहीं रहता। उनके लिये दर्शन भी, उन विभिन्न बाधाओं में से एक है, जिसे वे हटाना चाहते हैं।[४]

---

[१] दि फिलास्फिकल स्टडी ऑव मिस्टिसिज्म—चार्ल्स ए० बेनेट, पृ० ७।

[२] वही, पृ० १५।

[३] वही, पृ० १६।

[४] वही, पृ० २०।

रहस्यवादी के संबंध में ऐसा कहा जा सकता है कि उसके ऐसे जीवन का आरंभ असफलता के क्षणों से होता है, किंतु यह अन्याय है। यह कहा जाना चाहिए कि उसके ऐसे जीवन का आरंभबिन्दु वह ज्योति-साक्षात्कार अथवा ज्ञान का क्षण हैं जिसमें वह अचानक परम मूल्यवान् साक्षात्कार करता है। उसके सामने एक दृश्यावली गतिशील हो जाती है और विश्व एक नवीन ज्योति में प्रकाशित हो उठता है। तब, उस समय संसार की वस्तुएँ सामान्य वस्तुएँ नहीं रह जातीं। उस रहस्यवादी को तब यह निश्चय हो जाता है कि यही वास्तविक विश्व है जिसके वास्तविक स्वरूप को मनुष्य के अन्धत्व ने अब तक छिपा रखा था।[१]

रहस्यवाद के संबंध में जो कुछ ऊपर कहा गया है उसका स्पष्टीकरण यह है कि रहस्यवादी वह व्यक्ति है जो सामान्य समझ (अंडरस्टैंडिंग) से अतीत सत्य के अध्यात्मिक ज्ञान (साक्षात्कार, स्पिरिचुअल एप्रिहेन्सन) में विश्वास करता है। बहुत प्राचीन काल में रहस्यवादी के संबन्ध में कहा जाता था कि वह दिव्य तत्वों का ज्ञान प्राप्त करता था किन्तु वह उनके सम्बन्ध में कुछ कहता नहीं था। रहस्यवाद के सम्बन्ध में दो बातें मुख्य रूप से कही जा सकती हैं। पहली तो यह कि यह रहस्यवाद पूर्वी और पश्चिमी कुछ महान् विचारकों की प्रमुख विशेषता थी। दूसरे, कभी कोई भी रहस्यवादी, मन्दोत्साह(lukewarm), उदासीन (इनडिफरेंट) या दुःखी नहीं रहा। रहस्यवाद उसकी आत्मा का केन्द्र होता है। यही उसके सम्पूर्ण जीवन का पोषण करता है। वह जैसे ही इसमें प्रवेश करता है, परमोच्च सघन प्रसन्नता का अनुभव करता है।[२] कुछ लोगों के अनुसार रहस्यवाद एक दर्शन अथवा सिद्धान्त भी है किंतु स्पर्जन ने इसे केवल एक भाव विशेष (टेम्पर) ही माना है। वे उसे दर्शन भी नहीं मानते। सभी रहस्यवादी इस बात को स्वीकार करते हैं कि अनेकता के अंतर्गत ही एकता है। यहीं से उनका आरम्भ भी होता है और यही उनका लक्ष्य भी है। 'अनेकता में एकता' की उपलब्धि से ही उनके सभी रहस्यवादी विचारों का उदय होता है।[3] पाश्चात्य विचारक भी श्रीमद्भगवद्गीता के इन विचारों को विश्व के सभी प्राचीन-नवीन रहस्यवादियों का विचार मानते हैं :—

---

[१] वही, पृ० २३।

[२] मिस्टिसिज्म इन इंगलिश लिटरेचर—स्पर्जन, पृ० १-२।

[3] वही, पृ० २-३।

"यही सात्त्विक ज्ञान है और तू इसे ही जान—सभी भूतों (जीवों) में एक अव्यय को देखना, विभक्त में उस एक अविभक्त को देखना।"[१]

इस 'एक' में मूलभूत विश्वास से एक अन्य विश्वास भी उदित होता है कि हमारे चारों ओर सभी वस्तुएँ उस एक दिव्य जीवन की ही विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। यह भी प्रकट होता है कि ये भौतिक वस्तुएँ क्षणभंगुर और अस्थायी हैं तथापि उनको स्वरूप प्रदान करनेवाली शक्ति अमर है। यदि संसार की वस्तुओं के मूल में ही एकता है तो मनुष्य भी उस परमात्मप्रकृति का अंशाधिकारी है क्योंकि वह उस दिव्य तत्व का एक स्फुलिंग है। परिणामतः मनुष्य अपने इसी दिव्य अंश ईश्वर का ज्ञान प्राप्त कर सकता है क्योंकि रहस्यवादी को यह विश्वास है कि भौतिक वस्तुओं के अभिज्ञान के लिये तथा आध्यात्मिक वस्तुओं के अभिज्ञान के लिये उसे अलग-अलग शक्तियाँ मिली हैं। अतः तर्क में विश्वास करना मूर्खता है। मानसिक और आध्यात्मिक ज्ञान की पद्धतियाँ उससे पूर्णतया भिन्न हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से हम किसी वस्तु का ज्ञान केवल तद्‌भूत (वही होकर) ही प्राप्त कर सकते हैं। उसे देखने अथवा उसके सम्बन्ध में कहने से उसका ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता। यदि हम यह जानना चाहते हैं कि प्रेम क्या है, तो प्रेममय होना चाहिए; हमें ईश्वर को जानने के लिये 'ईश्वरसमान' (गाडलाइक) होना चाहिए। रहस्य के विश्वास का आधार भावना (फीलिंग) और प्रातिभ आन्तरिक ज्ञान होता है। यही तत्व उसे तार्किक, ईश्वरवादी (थियोलाजियन), बुद्धिवादी, दार्शनिक, वैज्ञानिक आदि से पृथक् कर देता है। उसने उसका भावन किया है, उसे देखा है और परिणामतः वह विश्वस्त हो गया है किन्तु उसकी अनुभूति किसी अन्य को विश्वस्त नहीं करती।[२] फिर भी रहस्यवादी अपने अनुभवों में एकाकी नहीं रहता। देश और काल की सीमाओं का अतिक्रमण कर समान अनुभूतियाँ सभी रहस्यवादियों में मिलती हैं। किन्तु सामान्य लोग उसकी इन अनुभूतियों से विश्वस्त नहीं हो पाते। अंधों के देश में यदि किसी एक को सूर्योदय के दर्शन की दृष्टि हो जाय तो उसके द्वारा किये गये वर्णन पर उसके साथ के अंधे विश्वास नहीं करेंगे। इससे भिन्न संसार में उन्मुक्त नेत्रवाले उसी के समान ही उस सूर्योदय का दर्शन कर विश्वस्त हो गये हैं, और होते हैं।[3] किन्तु इस स्थिति में दर्शन का वर्णन सम्भव नहीं होता। रहस्यवादी

---

[१] वही, पृ० ३; श्रीमद्‌भगवद्‌गीता—अध्याय १८, श्लो० २०।

[२] मिस्टिसिज्म इन इंग्लिश लिटरेचर—पृ० ४-६। [3] वही, पृ० ६।

इसे अनिर्वचनीय, अवर्णनीय मानते हैं। इस इन्द्रियप्रत्यक्ष (सेन्सेशन) को रहस्यवादी इतनी सूक्ष्मता से विकसित करते हैं कि यह उनकी एक निश्चित दर्शनशक्ति बन जाती है। इस शक्ति को ही विभिन्न लोगों ने सर्वातीत भावना' (ट्रान्सेन्डेन्टल फीलिंग), 'कल्पना' (इमैजिनेशन), 'रहस्यवादी युक्ति' (मिस्टिक रीज़न), वैश्व चेतना (कास्मिक कांशसनेस), आध्यात्मिक आनंद (एस्टैसी), दृष्टि (विज़न) आदि शब्दों से अभिहित किया है।[1]

रहस्यवादी सामान्य युक्तिप्रक्रिया का प्रयोग नहीं करता। वह उसकी विपरीत प्रक्रिया का उपयोग करता है। पहले वह विश्वास करता है और फिर बाद में वह ज्ञान प्राप्त करता है। उसके लिये बुद्धि ऐसी शक्ति नहीं है जिससे आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त किया जा सके। सामान्य बौद्धिक पद्धतियाँ रहस्यवादी के विभिन्न रहस्यमय प्रश्नों के सामने निरर्थक और असमर्थ हो जाती हैं। रहस्यवाद में प्रतीकवाद अत्यधिक महत्वपूर्ण तत्व है। प्रतीकवाद और पौराणिक कथाएँ (मिथोलाजी) रहस्यवादी की भाषा के मूल तत्व हैं। यह प्रतीकवाद 'एकता में विश्वास' का ही एक अंश है क्योंकि वास्तविक प्रतीकवाद का सार तत्व यह है कि प्रकृति की सभी वस्तुओं में एक समानता है।[2] प्रतीकवाद के सम्बन्ध में हम आगे विस्तार से विचार करेंगे क्योंकि इसका रहस्यवाद के अभिव्यक्तिपक्ष से सम्बन्ध है। इसी प्रकार रहस्यवादियों (अथवा रहस्वादी कवियों) के भी प्रेम, सौन्दर्य, प्रकृति, ज्ञान (विज़डम) और भक्ति (डिवोशन) के आधार पर विभिन्न वर्ग स्वीकार किये जा सकते हैं। इन वर्गों के रहस्यवादियों की साक्षात्कारपद्धति (मेथड आव एप्रोच), भावों (आइडिया) के अर्थनिरूपण अथवा प्रयोग आदि में पर्याप्त भेद है। उदाहरण के लिये प्रेमोन्मुख रहस्यवादी प्रेम को ही जीवन-रहस्य का एकमात्र समाधान मानते हैं जैसे यही मनुष्य और परमात्मा के बीच का सेतु है।[3] वर्गभेद के आधार सम्बंधी विभिन्न विवेचनों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि ये विभेद केवल उपर्युक्त तत्वों की प्रमुखता को ध्यान में रखकर ही किये जाते हैं। देखा यह जाता है कि प्रायः सभी रहस्यवादियों में उपर्युक्त में से एक से अधिक तत्व किसी न किसी रूप में न्यूनाधिक मात्रा में अवश्य मिलते हैं।

इस संपूर्ण विवेचन का निष्कर्ष है—१–रहस्यवाद आत्मा-परमात्मा के एकात्म का धर्मदार्शनिक एवं तत्वज्ञानात्मक सिद्धान्त है। २–यह प्रत्यक्ष

---

[1] वही, पृ० ७। [2] वही, पृ० ८-९।

[3] वही, पृ० ३३-३४।

संयोगानुभव की प्रक्रिया विशेष है। ३–रहस्यानुभूति की अवस्था में विषयी और विषय का अविभाज्य एकात्म-मिश्रण हो जाता है। ४–परमात्मा सर्वातीत है और आत्मा उसकी प्रकृति की अंशाधिकारिणी है। ५–अनुभूति की अवस्था भी सर्वातीत होती है। ६–यह एकाकी का एकाकी की ओर अभ्युत्थान है। ७–आत्मा की नैसर्गिक अन्तर्दृष्टि ही उपलब्धि का साधन है। ८–यह हृदय का धर्म है। ९–रहस्यवादी सामान्य व्यक्ति, हिस्टीरिया के रोगी, मरीज, तार्किक, दार्शनिक, धार्मिक, ईश्वरवादी आदि से विलक्षण होता है। १०–यह अपने जीवन में विचारणा, एकान्त, आध्यात्मिक आनंद को ही स्वीकार करता है। ११–दार्शनिक उलझनों से मुक्त रहता है और उन्हें बाधा समझता है। १२–उसके जीवन का आरम्भ असफलता से नहीं अपितु अन्तर्दृष्टि के उन्मेष के बिंदु से होता है। १३–वह केवल आध्यात्मिक ज्ञान में विश्वास करता है। १४–साक्षात्कार की स्थिति अनिर्वचनीय और मूक होती है। १५–सभी रहस्यवादियों की अनुभूतियों में कालदेशमुक्त वैश्व एकता है। १५–वे रहस्यवादी 'अनेकता में एकता' की उपलब्धि में विश्वास करते हैं। यही उनके जीवन का आरम्भस्रोत और अंत है। १७–संसार की सभी वस्तुएँ उस एक की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। १८–आत्मा दिव्य स्फुलिंग है। १९–इसी से वह उस दिव्य का साक्षात्कार करता है। २०–'वही होकर' वह ज्ञान प्राप्त करता है। २१–उसकी दृष्टि सर्वथा विलक्षण होती है। २२–विभिन्न पद्धतियाँ उसके लिये असमर्थ हैं। २३–वह अपनी अभिव्यक्ति के लिये प्रतीकवाद और पौराणिक शैली का प्रयोग करता है। यही उसकी भाषा है। २४–रहस्यवादियों का वर्गीकरण प्रेम, सौन्दर्य, प्रकृति, ज्ञान और भक्ति के आधार पर किया जाता है।

ऊपर विभिन्न देशों और धर्मों के रहस्यवादियों की ओर संकेत कर कहा गया है कि विश्व के प्रायः सभी उच्चतर धर्मों में रहस्यवाद प्रकट हुआ है। हमें यहाँ नाथों और संतों के साहित्य में उपलब्ध रहस्यवाद का विवेचन करना है। इनका साहित्य, साधना, दर्शन सब कुछ भारतीय परम्परा में विकसित हुआ है जिसका परिचय पिछले परिच्छेदों में दिया गया है। ऊपर रहस्यवाद के जिन उपकरणों का वर्णन किया गया है, उनकी परीक्षा भारतीय रहस्यवाद के प्रकाश में आगे की गई है। इस प्रयोजन के लिये भारतीय रहस्यवाद का भी एक संक्षिप्त परिचय आवश्यक है। इससे इन पाश्चात्य विचारकों की दृष्टि से शैव नाथों और वैष्णव परम्परा के संतों का भारतीय रहस्यवाद की धारा में कहाँ स्थान है, इसकी ओर संकेत हो जायगा।

एडवर्ड कियार्ड के अनुसार रहस्यवाद धर्म का केन्द्रोंन्मुख (अन्तरोन्मुख) और सर्वबहिष्कारी (कांसेंट्रेटेड ऐंड एक्सक्ल्यूसिव) रूप है। वह मन की वह अभिप्रवृत्ति (ऐटीट्यूड) है जिसमें संसार के सभी सम्बन्ध आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में समाहित हो जाते हैं। यह परिभाषा संभवत: विश्व के विभिन्न युगों और लोगों के बीच उदित होनेवाले रहस्यवाद के विभिन्न रूपों को ध्यान में रखकर की गई है। हिन्दुओं की इस प्रकार की विचारधारा में कम से कम दो विशेषताएँ दिखाई पड़ती हैं—१—मायावाद, २—अद्वैत वेदान्त। ये दोनों विशेषताएँ परस्पर घनिष्ठभावेन संबद्ध हैं तथा वस्तुत: परस्पर पूरक भी हैं। दोनों ही रहस्यवाद की अपनी प्रकृति से भी संबद्ध हैं। वैदिक सूक्तों और मंत्रों का धर्म अधिकांशत: विषयप्रधान या वस्तुप्रधान है। तप और काम के दो तत्वों में कुछ रहस्यवादी प्रकृतियाँ अवश्य मिलती हैं। पुरुष सूक्त में अवश्य ही एक भिन्न प्रकार का रहस्यवाद मिलता है। पुरुष संबंधी जिन आदिकालीन पुराणकथात्मक तत्वों के मूलभावों (कांशेप्सन) की अवतारणा यहाँ की गई है, उनके ऊपर रहस्यवादी और विश्वदेववादी विचारों का आवरण है। उसके अनुसार यह विश्व ही सभी देवताओं की उस 'पुरुष' के लिये अञ्जलि (आफरिंग) है। इसी प्रकार रहस्यवाद के अनेक स्वयंसिद्धों (ऐक्जियम) में से एक यह भी है कि पिण्ड और ब्रह्माण्ड (मिक्रोकाज्म ऐंड मैक्रोकाज्म) अथवा दृश्य और अदृश्य के बीच संवाद होता है। सृष्ट विश्व मूर्तिमान् पुरुष है'—इस उक्ति में प्रतीकवाद स्पष्ट है।[१]

उपनिषदों में हमें वास्तविक रहस्यवादी चिन्तन के दर्शन होते हैं। इस युग के बाद से इस विचारधाराविशेष का अभाव कभी भी नहीं दिखाई पड़ता। जिन दो बाधाओं ने इसे अपने मध्यम मार्ग से—ईश्वर से एकात्म प्राप्त करने के धार्मिक मार्ग से—विरत करने की चेष्टा की, वे हैं—१—शुद्ध तत्वविज्ञान २—केवल इन्द्रजाल या चमत्कार या जादू। संपूर्ण भारतीय धर्मसाधना के मार्ग में उस काल के बाद के इतिहास में, ये बाधाएँ आती रहीं। इनमें से प्रथम बाधा तो उपनिषदों में ही स्पष्ट है जिसके आधार पर विभिन्न दार्शनिक मतवाद स्थिर हुए। दूसरी बाधा जनप्रचलित उपासना (वर्शिप) में दिखाई पड़ती है। एक विवेचक के मतानुसार उपनिषदों में तत्वत: संपूर्ण रहस्यवादी मतविश्वास की अभिव्यक्ति हुई है। प्रथमत: वे उपनिषद् अपरिवर्तनशील 'एक' तत्व का अनुसंधान करते हैं। दूसरे वे इस तत्व की उपलब्धि एक

---

[१] इं० रे० ए०, पृ० ११३-११५।

ऐसे प्रदेश में करते हैं जो विभिन्न प्रकार के सांसारिक शोधों से परे है, जो अन्तर्विरोधों और निषेधों (निगेटिव्स) का स्थान है। जिस परमतत्व का उपनिषदों में निर्वचन किया गया है वह एक साथ ही 'सब कुछ' है और 'कुछ नहीं है' क्यों कि उसमें संपूर्ण विश्व अन्तर्भूत है तथा वह सभी प्रकार की वाणी और विचारों से अतीत (अवाङमनोगोचर) है। यह अन्तर्विरोध इस प्रकार के संपूर्ण आध्यात्मिक चिन्तन में निगूढ़भाव से अन्तर्निविष्ट है। अद्वैतवाद यद्यपि रहस्यवादी चिन्तन की सामग्री प्रदान कर सकता है तथापि एक न्यूनता यह है कि यह धर्म के लिये कोई भी अवकाश नहीं रहने देता। शांकर वेदान्त के ऊपर यह अभियोग इसी दृष्टि से लगाया जा सकता है। जब रहस्यवाद सर्वाधिक बुद्धिवादी हो जाता है, तब विपत्तिग्रस्त हो जाता है। उपनिषदों के संबंध में भी यही बात कही जा सकती है क्योंकि ये मनुष्य और विश्व के परस्पर संबंधों के उद्घाटन के लिये प्रयत्नशील दिखाई देते हैं, मनुष्य और ईश्वर के संबंधों के प्रति नहीं। धार्मिक और नैतिक दृष्टिकोण की अपेक्षा इनमें तत्ववैज्ञानिक दृष्टिकोण अधिक प्रबल दिखाई पड़ता है। गंभीर संवेगों से पूर्ण परम योग की लालसा जो एक विस्तृत रूप में इनमें दिखाई पड़ती है वह रहस्यवादी मूल्य की दृष्टि से अतुलनीय है। कठोपनिषद् जैसे अपेक्षाकृत अधिक ईश्वरवादी (थीस्टिक) उपनिषदों में ईश्वरवादी संवेगों का दर्शन सर्वाधिक होता है।[1]

संसार और कर्मवाद भारतीय विचारधारा के लिये स्वयंसिद्ध हैं। सभी रहस्यवादों का लक्ष्य है 'एकात्म जीवन' (यूनिटिव लाइफ), किंतु इस लक्ष्य और मार्ग के स्वरूप 'पाप या संसार' सबंधी मूल भावों से अलग अलग प्रभावित होते हैं। इनसे प्रत्येक रहस्यवादी मुक्ति चाहता है। कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त इतने स्थूल हैं कि नैतिक तत्व, यहाँ मुक्तिमार्ग में उतना प्रमुख नहीं हो पाया है जितना पश्चिमी रहस्यवाद में। भगवद्गीता में नैतिक तत्व बड़े आग्रह के साथ वर्णित है तथा उसके साथ भक्ति की बहुमूल्यता को भी उसमें स्वीकृति दी गई है। यह भक्ति, दर्शनप्रधान मत न होकर हिन्दुओं का संवेगप्रधान रहस्यवाद है। "आत्मा उसमें परमात्मा के एक अंश के रूप में स्वीकृत है जिसे दूसरे रहस्यवादी ब्रह्मतत्व का 'अनुत्पादित स्फुलिंग' कह सकते हैं। वह आत्मा अपने निवास परमात्मा में पुनः परावर्तित होती है।" ये शब्द उस संवेगप्रधान रहस्यवाद के सूत्र हैं जो मुख्यतः राम और कृष्ण में केन्द्रित हैं

[1] वही, पृ० ११५–११६।

तथा जिसे भक्ति के सामान्य नाम से संबोधित किया जाता है। सभी प्रकार के रहस्यवादों की पद्धति (मेथड) प्रेम ही है और अपने पूर्ण रूप में, संपूर्ण भक्ति आन्दोलन में, यही सर्वस्वीकृत माध्यम है जिससे उपासक (वर्शिपर) तथा उपास्य (आब्जेक्ट आव वर्शिप) एक दूसरे के अधिक समीप हो जाते हैं। इस रहस्यमयी एषणा के उच्चतम पक्ष रामानंद और तुलसीदास, तुकाराम जैसे मराठी संत (सेंट), दक्षिण के शैव संतों (सेंट) में दिखाई पड़ते हैं। इन सभी संतों में जो मुख्य बात दिखाई पड़ती है, वह यह है कि इनमें अपने ईश्वर के अधिक से अधिक समीप आने की इच्छा थी तथा वे उसे अपनी वैयक्तिक आंतरिक अनुभूति (पर्सनल इनवार्ड एक्सपीरियंस) से प्राप्त करना चाहते थे। इस प्रकार इस संपूर्ण भक्ति आन्दोलन की विशेषता है—भगवान् के सामीप्य की अभिलाषा।[1]

कबीर तथा उनके वर्ग के तथा उनकी विचारसरणियों से संबंधित नानक तथा अन्य सिख गुरु, दादू आदि का उपर्युक्त संतों (सेंट) से भेद इस प्रकार है कि इनके ऊपर हिन्दू धर्म के साथ ही इस्लाम धर्म के उपदेशों का भी प्रभाव है। कबीर जन्मतः मुसलमान रहे हों या हिन्दू, केवल उनका रामानंद से ही संबंध नहीं था अपितु वे सूफी प्रभाव में भी आये थे। इन संतों (सेंट) का यही मत-विश्वास है कि यद्यपि ईश्वर अधिक दूर है, उसका नामकरण कठिन है तथापि उसे अवतार की सहायता से, गुरु की सहायता से या दिव्य नाम की सहायता से मनुष्य ने अपने समीप कर लिया है। अवतार (इमैनेशन) की सहायता से सभी रहस्यवादियों ने भगवान् के विश्व के साथ बने संबंधों की रक्षा की है। इसी प्रकार की व्यूहों की कल्पना में भी पौराणिक कथाकल्पना का समन्वय है।[2]

सामान्य रहस्यवाद के जो लक्षण बताये गये हैं, उनमें तीन बातें मुख्य दिखाई पड़ती हैं —१—रहस्यवादियों का एकत्व (यूनिटी-सभी प्रकार की) में विश्वास, २—अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से उपलब्ध सर्वातीत आध्यात्मिक आनन्द की सर्वोच्चता में विश्वास। ३—आनन्दमय एकात्मक अनुभूति का संपूर्ण जीवन में अवतरण। इसी प्रकार भारतीय रहस्यवाद में मायावाद और अद्वैतवाद को स्वीकार कर उसी 'एकत्व' में विश्वास व्यक्त किया गया है। एकत्व की भावना के लिये अपरिवर्तनशील, एक, सर्वातीत परमतत्व को स्वीकृति यहाँ भी दी गई है। ब्रह्माण्ड की सृष्टि उस एक से ही हुई है, अतः उसका अंश

---

[1] वही, पृ० ११६।

[2] वही, पृ० ११६-११७।

इसमें भी है। उस विश्वरूप और आत्मरूप का संवाद भी इसी एकता के सिद्धान्त का पोषक है। रहस्यवाद हृदय का धर्म है। उपनिषदों में जिस संवेगप्रधान धर्म की न्यूनता तथा तत्वज्ञानप्रधान विचारणा की अधिकता दिखाई पड़ती है, उसकी पूर्णता भक्ति में दिखाई पड़ी। यह भक्तिवाद भी मूलत: औपनिषदिक विचारधारा पर ही आधारित था। बुद्धि भी एक स्थूल उपकरण है। इन्द्रियों के नियंत्रण से मुक्त मन उत्थित और उन्मुख होकर हृदय के संवेगों की सहायता से अलौकिक विषयों का साक्षात्कार करता है, अनुभूति प्राप्त करता है। यह अनुभूति जीवन में अवतरित होकर जब संपूर्ण जीवन में अनुस्यूत हो जाती है, उसे संचालित करती है, संपूर्ण जीवन में उस एकात्मता की अनुभूति होती है, तभी 'एकात्म जीवन' का दर्शन होता है। मनुष्य के जीवन में पाप और संसार का कालुष्य भी व्यक्ति को उनसे मुक्त होने के लिये प्रेरित करता है। इस मुक्ति में नैतिक तत्व सहायक होते हैं और एकात्म की उपलब्धि होती है। इस प्रकार उपर्युक्त तीन लक्षण ही प्रमुख प्रतीत होते हैं।

दूसरी मुख्य बात यह है कि पाश्चात्य विचारकों की दृष्टि से यद्यपि भक्ति-काल के सभी संत (सेंट) रहस्यवादी मान लिये गये हैं, किंतु हमें नाथों और संतों के साहित्य में उपलब्ध रहस्यवादी प्रवृतियों की तुलना करनी है। पर ध्यान देने योग्य है कि ऊपर जिन शैवों को रहस्यवादी माना गया है, वे दक्षिण के शैव संत हैं। महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज के प्रमाण पर हम पहले यह बतला चुके हैं कि नाथों का संबंध काश्मीर शैवमत अथवा उत्तरी शैवमत से है। कुछ आधुनिक भारतीय विद्वानों ने गोरखनाथादि की रचनाओं में रहस्यवाद का दर्शन किया है। डा० मोहनसिंह ने गोरख-नाथ को हिन्दू रहस्यवाद तथा मध्ययुगीन भाषा-साहित्य का सर्वप्रथम ऐति-हासिक रहस्यवादी माना है। बतलाया है कि उनके पहले 'संस्कृत' साहित्य और संस्कृति दोनों थीं। इसलिये उनकी दृष्टि में भारतीय 'भाषा'-विदों और योग के अध्येताओं के लिये गोरख का अत्यधिक महत्व है।[१] डा० मोहनसिंह के इस मत से जहाँ एक ओर गोरखनाथ भारतीय रहस्यवादी सिद्ध होते हैं वहीं दूसरी ओर यह भी सिद्ध हो जाता है कि उस रहस्यवाद के अन्तर्गत वे योग को महत्व देते हैं। गोरख को रहस्यवादी स्वीकार करने

[१] गोरखनाथ ऐंड मेडिएवेल हिन्दू मिस्टिसिज्म —डा० मोहन सिंह, आथर्स नोट, पृ० ७।

में डा० आर० डी० रानाडे की भी सहमति है ।[१] अतः हम इन दो विवेचकों के आधार पर गोरख तथा अन्य नाथ-रचनाकारों की रचनाओं में रहस्यवादी तत्वों की परीक्षा करेंगे। संतों की रहस्यवादिता के संबंध में कोई विवाद नहीं है। इसका विचार आगे यथास्थान किया जायगा। हिन्दी के सगुण मार्ग के कवियों को जिस प्रकार रहस्यवादी उपर्युक्त पाश्चात्य लेखक ने माना है, उसी प्रकार डा० रानाडे ने भी अपने ग्रंथ 'पाथवे टु गाड' में माना है किंतु पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष' के तत्व को रहस्यवाद का मुख्यतम तत्व मानकर सगुणमार्गियों में इसका अभाव दिखलाया है। उनका कथन तो यहाँ तक है कि भक्ति के अन्तर्गत 'रहस्य और गुह्य' नाम की किसी चीज का कोई स्थान नहीं है। इस संबंध में हम उनके मत का परिचय विस्तार से पहले ही दे चुके हैं। सगुणमार्गियों में रहस्यवादी तत्व हमारा विवेच्य नहीं है।

तीसरी बात यह है कि भारतीय रहस्यवाद के अन्तर्गत कुछ अधुनातन रहस्यवादियों की चर्चा नहीं की गई है, जो हमारे विषय की दृष्टि से लाभकर हो सकती है। मैंने ऊपर बताया है कि योग को रहस्यवाद के अन्तर्गत स्वीकार कर लिया गया है। डा० मैत्र ने रहस्यवादी अरविंद के संबंध में लिखते समय भी यही संकेत किया है कि यह स्वीकार कर लिया गया है कि सभी योग तत्वतः एक ही हैं तथा सभी योग सत्य के साक्षात्कार की रहस्यवादी पद्धतियाँ हैं। इंसाइक्लोपीडिया आव रेलिजन ऐंड ऐथिक्स के उपर्युक्त विवेचनों की आलोचना करते हुए उन्होंने बताया है कि रहस्यवाद जब एक सिद्धान्त (डाक्ट्रिन) बन जाता है तो निस्संदेह ही वह एक तत्ववैज्ञानिक समस्या के रूप में भी उपस्थित हो सकता है। उनके अनुसार एवलिन अन्डरहिल ने यह स्वीकार नहीं किया है कि रहस्यवाद एक सिद्धान्त बन सकता है। अन्डरहिल के अनुसार रहस्यवाद परमतत्वों का विज्ञान (साइंस आव अल्टिमेट्स) है, पूर्ण परमतत्व से मिलन का विज्ञान (साइंस आव यूनियन विथ दि ऐब्सोल्यूट) है। रहस्यवादी वही व्यक्ति हो सकता है जो इस मिलन या योग (यूनियन) को प्राप्त करता है। वह रहस्यवादी नहीं है जो उसके विषय में चर्चा करता है। इस प्रकार किसी के 'विषय में जानना' और वही 'हो जाना' सच्चे साधक का लक्षण है। महान् रहस्यवादी के लिये पूर्ण ब्रह्म सिद्धान्त (डाइलेक्टिक) के रूप में नहीं अपितु एक 'जीवन' के रूप में उपस्थित होता है। अतः रहस्यवाद

---

[१] पाथवे टु गाड—आर० डी० रानाडे।

एक सम्मति (ओपिनियन) नहीं है, एक दर्शन नहीं है अपितु यह उस पूर्ण संगठित प्रक्रिया (आर्गेनिक प्रासेस) का नाम है जिसमें ईश्वरप्रेम (लव आव गाड) का पूर्ण सामंजस्य (कान्जुमेशन) है। यह पूर्ण तत्व से सचेतन सम्बंधस्थापन की क्रिया है। इसी प्रकार अंडरहिल इसे अतीन्द्रिय क्रिया भी मानती हैं। उनके अनुसार रहस्यवाद की पद्धति प्रेमपद्धति है। यह छिछला राग अथवा संवेग नहीं है। यह प्राणमयीधारा है। अन्तर्विरोधों में छिपा हुआ परमतत्व केवल प्रेम से ही प्राप्य है। न वह तर्क से ज्ञेय है और न विचारगम्य है। अंडरहिल के इन विचारों से डा० मैत्र ने दो बातें निष्कर्षरूप में उपस्थित की हैं १—रहस्यवाद उस अनुभव का निर्वचन करता है, जो सघनभाव से व्यक्तिगत होता है। २—यह अपने विषय की तर्काश्रित बौद्धिक अथवा आनुमानिक उपलब्धि नहीं है। दूसरे तथ्य से अंडरहिल के बताये रहस्यवाद की दुर्बलता इस बात में प्रकट होती है कि रहस्यवाद 'विषय' को 'जानने' में नहीं अपितु विषयभूत (वही हो जाने) हो जाने में है। इससे 'जानना' और 'होना'—एक दूसरे से अलग हो जाते हैं। डा० मैत्र ने संदेह व्यक्त किया है कि वह जानना या ज्ञान क्या है जिसकी परिणति 'होने' में न हो? वह 'होना' क्या है जो 'ज्ञान' न हो। उनकी दृष्टि में ज्ञान एक पूर्ण तत्व है। ज्ञान अंश को अनुभव अंश से पूर्णतया अलग कैसे किया जा सकता है? अंडरहिल के रहस्यवाद संबंधी उपर्युक्त विवरणों से ऐसा स्पष्ट होता है कि वे स्वयं एक कठिनाई में हैं और वह यह है कि रहस्यवाद को केवल 'अनुभूति' मानती हुई भी वे उसे 'पूर्ण' से "एकात्म या मिलन या योग का विज्ञान" कहती हैं। किंतु प्रश्न यह है कि विज्ञान बिना ज्ञान के कैसे हो सकता है? अतः जब तक हम यह स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं हो जाते कि केवल अन्तिम वस्तु व्यक्तिगत—उन्नत सत्यप्रेमी आत्मा का वैयक्तिक अन्वेषण—है, तब तक हम यह नहीं कह सकते कि पूर्ण तत्व के साथ एकात्म होता है, ज्ञान नहीं। हम यह कह सकते हैं कि अंतिम उपलब्धि केवल अनुभवगम्य है, बुद्धि और ज्ञान से ऊपर है।[1] डा० मैत्र के आलोचन का निष्कर्ष यह है कि अरविंद को यदि रहस्यवादी कहा जायगा तो उसका तात्पर्य यही होगा कि वे डा० मैत्र द्वारा रहस्यवाद की संशोधित परिभाषा के अनुकूल ही रहस्यवादी कहे जा सकेंगे।

एवेलिन अंडरहिल की रहस्यवाद की परिभाषा की जो आलोचना यहाँ उपस्थित की गई है उसके कई प्रयोजन हैं। पहली बात तो यह है कि योग

[1] दि मीटिंग आव दि ईस्ट ऐण्ड दि वेस्ट इन श्री अरविंदोज फिलासफी—एस० के० मैत्र, पृ० १५५-१५९।

को रहस्यवाद के अन्तर्गत उसमें भी स्वीकार किया गया है। दूसरे, इस रहस्यवाद में ज्ञान को भी प्राथमिक स्थान दिया गया है। तीसरे, यद्यपि रहस्यवाद अनुभूतिप्रधान है तथा उसकी अंतिम उपलब्धि केवल अनुभूतिगम्य होती है तथापि प्रेम के साथ ज्ञान को स्थान दिया गया है। रहस्यवाद के अन्तर्गत योग और ज्ञान की स्वीकृति हमारे आगे के विवेचन एवं तुलना में सहायक होगी। यह ध्यान में रखना चाहिए कि यहाँ प्रायः सभी प्रकार के योगों को रहस्यवाद के अन्तर्गत स्वीकार कर लिया गया है। चौथे, ये दोनों तत्व नाथों और संतों में किस प्रकार मिलते हैं ? इसका परिचय हम पहले दे चुके हैं। इस प्रकार इस रहस्यवाद के अन्तर्गत प्रेम, ज्ञान और योग ये तीनों ही स्वीकृत हैं।

हिन्दू रहस्यवाद का विचार करते हुए डा० दासगुप्त ने बतलाया है कि निम्न कोटि के रहस्यवाद (तर्कविरहित, युक्तिविरहित चामत्कारिक सिद्धि इत्यादि की अलौकिक शक्तियों से उपलब्धि) से उच्चतर रहस्यवाद का भेद इस आधार पर किया जा सकता है कि इसके अनुसार केवल युक्ति (रीज़न) से ही नहीं अपितु अन्य उपायों से, जैसे इच्छाशक्ति के दृढ़ और स्थिर नियंत्रण से, उचित संवेगों (इमोशंस) के विकास से अथवा दोनों के समन्वय से या दोनों के साथ ही युक्ति के उच्चतम प्रयोग से—परमोच्च तत्व (हाइएस्ट रियल्टी) या चरम साक्षात्कार (अल्टिमेट रियलिजेशन) और सिद्धि की उपलब्धि हो सकती है। इसी को वे उच्चतर और वास्तविक रहस्यवाद मानते हैं; क्योंकि इस रहस्यवाद का लक्ष्य है आत्मशक्ति की मुक्ति और परमानन्द की उपलब्धि। इस्लामी, ईसाई और भारतीय भक्त रहस्यवादियों का एक सामान्य विश्वास है कि ईश्वरदर्शन और उसकी कृपा की प्राप्ति, भक्तिपूर्ण संयोग (डिवोशनल कम्युनियन) या विभिन्न प्रकार के भक्ति के आनन्दों (रसों ?) से हो सकती है। इन सभी रहस्यवादियों में जो समान बातें मिलती हैं, वे हैं—१–मानस की शुद्धता के प्रति तीव्र सावधानी, (ए कीन सेन्स आव दि नेसेसिटी आव प्योरिटी आव माइन्ड), २—संतुष्टि (कान्टेन्टमेन्ट) ३—नैतिक सात्त्विकता के प्रति सतत जागरूकता, ४—आत्मोत्सर्ग (ऐब्नेगेशन), ५—ऐकान्तिकता (वन-प्वाइन्टेडनेस टु गॉड)। बिना नैतिक महानता के सच्चा रहस्यवाद संभव नहीं। रहस्यवाद के अन्य विवेचकों के समान ही डा० दासगुप्त भी रहस्यवाद को कोई बौद्धिक सिद्धान्त (इंटेलेक्च्युअल थिअरी) नहीं मानते। यह जीवन का तत्वतः क्रियात्मक, निर्माणात्मक, सर्जनात्मक, उत्थानात्मक, अनश्वर सिद्धान्त है। यह

जीवन के लक्ष्य अथवा समस्याओं का, अपेक्षाकृत अधिक सत्य और चरमान्त रूप में, केवल युक्ति और तर्क का सहारा लेकर समाधान नहीं देता है अपितु यह उनकी एक आध्यात्मिक पकड़ है। स्वयं डा० दासगुप्त ने यह बतलाया है कि उन्होंने यह विस्तृत परिभाषा इसलिये स्वीकार की है जिससे इसके अन्तर्गत, इस्लामी, ईसाई, भारतीय भक्तिवादी रहस्यवाद ही न आ सकें, अपितु अन्य भारतीय रहस्यवाद भी अन्तर्भूत हो जायँ। इस प्रकार की परिभाषा के अन्तर्गत वैदिक कर्मकाण्डप्रधान रहस्यवाद को भी स्वीकार कर लिया गया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने औपनिषदिक, यौगिक, बौद्ध और भक्तिपरक रहस्यवाद को भी इसमें अन्तर्भूत कर लिया है। उन्होंने 'हिन्दू' शब्द का व्यवहार भी भारतीय (इंडियन) के लिये किया है।[1] डा० दासगुप्त के इस मतविचार से हम चार बातें स्थिर करना चाहते हैं—१–वैदिक रहस्यवाद में कुछ बातें ऐसी अवश्य हैं जिनका विकास आगे हुआ है। २—योग का एक पृथक् रहस्यवाद है। ३—अपने विषय के विवेचन के अनुकूल हम इस विस्तृत परिभाषा को न स्वीकार कर डा० मैत्र की उस संशोधित परिभाषा को स्वीकार करते हैं जिसका परिचय ऊपर दिया जा चुका है। ४—रहस्यवादी (व्यक्ति, साहित्य, विचारधारा या भावधारा) के लिये निष्कर्ष रूप में प्रस्तुत तीन लक्षणों को ध्यान में रखेंगे।

ऊपर हम कह चुके हैं कि मत्स्येन्द्र गोरक्ष आदि को भी लोग रहस्यवादी मानते हैं। पहले के परिच्छेदों के विवेचन से यह बात स्पष्ट हो गई है कि नाथों और संतों के भक्ति और योग पर तांत्रिक साधना का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में है। नाथ मुख्यतया योगी हैं और संत मुख्यतया भक्त हैं। इस दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि नाथों का रहस्यवाद योगपरक है और संतों का रहस्यवाद भक्तिपरक। नाथों के रहस्यवाद का मूल काश्मीर शैव मत है तथा संतों के रहस्यवाद का मूल वैष्णव भक्तिमत। नाथों के रहस्यवाद के संबंध में इस प्रकार की विचारणा अभी तक नहीं की गई है किंतु शैवमत की दार्शनिक एवं साधनात्मक भूमिका के कारण, जिनकी ओर कुछ संकेत पिछले परिच्छेदों में यत्र-तत्र किये गये हैं, यह बात स्वीकार की जा सकती है। संतों के रहस्यवाद के संबंध में अधिकांश विवेचक एकमत हैं कि वह शांकर अद्वैतवाद, नाथों के योग और सूफियों के प्रेमप्रधान रहस्यवाद का समन्वय है। पहले हम नाथों के रहस्यवाद का एक संक्षिप्त परिचय योग-प्रधान रहस्यवाद की भूमिका के साथ प्रस्तुत करेंगे।

---

[1] हिन्दू मिस्टसिज्म–डा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, प्रीफेस, पृ० ७-११।

नाथों के योग के परिचय में बताया गया है कि हठयोग, राजयोग अथवा ध्यानयोग का सहयोगी है। पातंजल योग का साधन चित्तवृत्तिनिरोध है। यम-नियम से लेकर प्रत्याहार तक उसी के लिये तैयारी की जाती है। धारणा और विशेषकर ध्यान के साथ मानस नियमन-संयम-निरोध की मुख्य प्रक्रिया आरम्भ होती है। उपनिषद् के ऋषियों ने ही एक प्रज्ञाविशेष (इंट्यूशन) को स्वीकार कर लिया था जो मन-चित्त-बुद्धि आदि से अतीत थी। इसे हम अतिचेतना कह सकते हैं। यह सत्य का साक्षात्कार कराने में समर्थ थी। इसके लिये दैवी कृपा की भी आवश्यकता होती थी। पातंजल योग ने इस चेतना के उज्जीवन के लिये एक पद्धति उपस्थित की। वह पद्धति चित्तवृत्ति निरोध थी। यह योग व्यक्ति के चेतन और उपचेतन चित्त के प्रवाह को पूर्णतया और समग्रतया निरुद्ध कर देना चाहता था। चित्त की यह अवस्था तब तक उपलब्ध नहीं हो सकती थी जब तक उच्चतम नैतिक विकास न हुआ हो। इसके लिये यम-नियम के अन्तर्गत अनेक निषेधात्मक और विध्यात्मक अभ्यास बताये गये हैं। आसन और प्राणायाम शरीर की क्रियाओं पर नियंत्रण प्राप्त करने के लिये बताये गये। बहुत पहले योगीगण शरीर को निरोग रखने के लिये ईश्वर से प्रार्थना करते थे किन्तु बाद में षट्कर्म जैसी पद्धतियों के शोध से योगी समधिक ईश्वरकृपा से मुक्त होने की चेष्टा करने लगे। पर इतना सच है कि ऐसी सारी क्रियायें बाह्य थीं और योगाभ्यास के योग्य बनाने के लिये थीं जिससे योगी वास्तविक योगाभ्यास ध्यान के उपयुक्त हो जाय। ये सारी क्रियायें चित्त की वृत्तियों के निरोध के लिये थीं। इसी प्रक्रिया से अन्ततः उसकी आत्मा ज्योतित हो उठती है और वह स्वयं निर्बंध हो जाता है, कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है। जिस प्रज्ञा की चर्चा की गई है, वह भी अतीन्द्रिय है।[१]

पातंजल योग के इस प्रातिभ (प्रज्ञात्मक) ज्ञान और अष्टांग योग की जो चर्चा प्रस्तुत है, उसमें यम-नियम का नैतिक उच्चता की दृष्टि से विशेष महत्त्व है। इसी प्रकार अन्य साधनों की जो चर्चा है वह शरीर की स्थिरता तथा शुद्धता से सम्बन्ध रखते हैं तथा ध्यान और समाधि की निरुद्ध चित्त की स्थिति के बाद, आत्मा की कैवल्य अवस्था की विभिन्न स्थितियों की ओर संकेत करते हैं। डा० दासगुप्त ने जिस ज्ञानप्राप्ति को भी रहस्यवाद के लक्ष्य के रूप में स्वीकार कर लिया है तथा जिसके साधन के लिये इच्छाशक्तिनियमन, चित्त-

---

[१] वही, पृ० ६३,६४,६८,७०–७४,७४–७६,७७–८२।

निरोध आदि को स्वीकार किया है, उसके अनुसार यह व्याख्या उचित है। यह अष्टांग साधन नाथों में भी स्वीकृत है। पातंजल योग की अपेक्षा नाथों के योग में नैतिक सावधानी और उच्चता को और भी महत्त्व दिया गया है। पुरुष के कैवल्य और आत्मा के एकात्म जीवन अथवा अद्वैत स्थिति में अंतर है। यदि हम एकात्म जीवन अथवा एकता को लक्ष्य मानें तो ऐसी स्थिति में पातंजल योग अथवा उसकी कोटि के अन्य योगों को रहस्यवाद मानने में अड़चन आ सकती है। दूसरी बात यह है कि इस पातंजल योग अथवा हठ-योगसमन्वित राजयोग में ज्ञान का समावेश तो अवश्य है किन्तु हार्दिक अनुभूति का कोई स्थान नहीं दिखाई देता। संवेग और संवेदन दोनों का अभाव है। तीसरे यद्यपि चैतसिक साधन और अन्ततोगत्वा ज्ञानोपलब्धि के लिये ही यहाँ विभिन्न प्रकार के शारीरिक बाह्य साधन स्वीकृत हैं तथापि इस प्रकार के साधन में 'हृदय का धर्म' वाक्य चरितार्थ होता दिखाई नहीं पड़ता। अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष तो अवश्य ही स्वीकृत है किन्तु अन्य तत्त्व उपलब्ध नहीं। इन्द्रियसुख का त्याग और उससे ऊपर जाने की बात अवश्य ही मिलती है किंतु अन्तिम स्थिति विशुद्ध ज्ञानात्मक ही है। कुछ ऐसी ही बातें नाथयोगियों के योगसाधन के संबंध में भी कही जा सकती हैं।

नाथों ने, जैसा पिछले वर्णन से स्पष्ट है, कायसिद्धि को लक्ष्य माना था जो रहस्यवादी प्रकृति के अनुकूल प्रतीत नहीं होता। यदि अद्वैतवादी काश्मीर शैवमत के आधार को स्वीकार किया जाय, शिवशक्तियोग साधन को स्वीकार किया जाय, पिंडब्रह्माण्डसंवाद अथवा एकात्म को स्वीकार किया जाय, माया-त्मक प्रपंच या अनेकता के बीच एकता के ज्ञान की उपलब्धि की बात मानी जाय तो नाथयोगी भी रहस्दवादी स्वीकार किये जा सकते हैं। इस संबन्ध में विस्तार से योग के प्रकरण में लिखा जा चुका है। जैसा कहा गया है, नाथसिद्ध योगयुक्तज्ञान को साधन के रूप में स्वीकार करते हैं। जो विशेष महत्वपूर्ण लक्षण शेष रह जाते हैं, वे हैं सुख अथवा आनन्द, अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष और एकात्म का जीवन में अवतरण। गोरखनाथ की वाणी में ऐन्द्रिक सुख का तीव्र विरोध और निषेध मिलता है तथा उससे ऊपर उठने के लिये कहा गया है; किन्तु अतीन्द्रिय सुख का स्पष्ट वर्णन उपलब्ध नहीं। एक स्थान पर गोरख द्वारा यह पूछे जाने पर कि 'अविगत का सुख किस प्रकार प्राप्त किया जाय', मत्स्येन्द्र ने बतलाया है कि 'गुरुमुख' से ही इसकी उपलब्धि हो सकती है।[१]

---

[१] गोरखबानी—पृ० १९७।

अमृतरस का जो वर्णन किया गया है, वह भी यदि प्रतीकवादी पद्धति से निरूपित किया जाय तो अद्वैतरस अथवा अद्वैतानन्द सिद्ध किया जा सकता है। उसकी परंपरा वैदिक सोमरस के प्रतीक से सम्बद्ध की जा सकती है। गोरख आदि की रचनाओं में जिस योग का अनुभव वर्णित है, उसमें उन्मनावस्था रहती है, सांसारिक मन नहीं रहता। वह आत्मशक्ति से अभिन्न हो जाता है। इन्द्रियों को मारने अथवा उनके निग्रह का वर्णन नाथ साहित्य में पर्याप्त मात्रा में मिलता है। जब गोरख कहते हैं कि "वेदों, शास्त्रों, किताबी धर्मों की किताबों, कुरान आदि ग्रंथों में उस परब्रह्मपद का वर्णन नहीं पढ़ा जा सकता, उस पद को बिरले योगी ही जानते हैं। बाकी दुनिया तो माया में लिप्त होकर धंधों ही में लगी रहती है।" तब वे योगी के प्रातिभ साक्षात्कार अथवा अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष का ही पोषण करते हैं ओर कहना चाहते हैं कि वह परम-तत्व शास्त्रपाठ अथवा चर्चा का विषय नहीं, वैयक्तिक प्रातिभ ज्ञान का विषय है।[१] इस प्रकार का ज्ञान अथवा अनुभूति जब जीवन में उतर आती है, जीवन की संपूर्ण क्रियाओं, भावनाओं में अनुप्राणित रहती है, उन्हें संचालित करती रहती है, तभी वास्तविक रहस्यवादी का जीवन समझना चाहिए। इस संबंध में रहनी और सहज जीवन ये दोनों ध्यान में रखने योग्य हैं। हमारी समझ में सहज जीवन ही इस प्रकार का जीवन कहा जा सकता है। इसी को सहजरहनी भी हम एक अर्थ में कह सकते हैं। गोरखनाथ ने इसी जीवन की ओर संकेत करते हुए कहा है "कहना आसान होता है किन्तु उस कहने के अनुसार रहना कठिन है और बिना रहनी के कहना किसी काम का नही; खोखला या छूछा है। तोता पढ़-गुन कर कुछ शब्दों को दुहराना भर सीख सकता है, उनके अनुसार काम नहीं कर सकता। उनका अर्थ नहीं समझ सकता।"[२] नाथों की रचनाओं में अवधूत की जिस स्थिति का पुष्कल वर्णन मिलता है, वह ऐसी ही स्थिति है जिसमें व्यक्ति सदैव उसी में लीन रहता है। विलक्षणता यह है कि नाथयोगी अपनी इस अवस्था में परमतत्व को तथा इस अवस्था को भी, न तो द्वैत मानते हैं, न अद्वैत। अपितु इन दोनों से भी अतीत, सर्वातीतावस्था मानते हैं जिसका परिचय हम पहले दे चुके हैं।

यदि नाथसिद्धों को उपास्य, अनुभूति या विषय की दृष्टि से रहस्यवादियों के वर्गों में वर्गीकृत किया जाय तो उन्हें ज्ञानपरक रहस्यवादी कहा जा सकता है और उसका कारण है कि उन लोगो ने उपास्य के केवल ज्ञानमय साक्षात्कार

[१] गोरखबानी—पृ० ३।

[२] वही, पृ० ४२–४३, सबदी सं० ११९–१२०।

का ही निरूपण किया है। साधन की दृष्टि से यदि विचार करें तो उन्हें योगमार्गी रहस्यवादी कहा जा सकता है। जिस प्रकार पातंजल योग को डा० दासगुप्त की परिभाषा के अनुसार रहस्यवाद कहा गया है, उसी प्रकार हम नाथों के योगप्रधान साधन को भी रहस्यवाद कह सकते हैं। भारतीय रहस्यवाद के जिन दो तत्वों--मायावाद और अद्वैतवाद—की ओर संकेत किया गया है, वे दोनों तत्व नाथपंथियों में उपलब्ध हैं। संसार के मिथ्यात्व का अर्थ इस 'संसार की क्षुद्रता' लेने पर साधनात्मक जीवन में श्रेय केवल परमतत्व ही ठहरता है और दृष्टि-उन्मेष होने पर यह क्षुद्रता भी महत्ता में परिणत हो जाती है। संसार में ही रह कर अवधूत जिस प्रकार का जीवन व्यतीत करता है, उसमें संसार के सभी तत्व साधक होकर ही आते हैं। काश्मीर शैव मत और तांत्रिक मत के अनुसार माया भी 'उसकी' एक शक्ति है और उसका साधन, सहायिका के रूप में उसका ग्रहण साधना में आवश्यक है। दूसरी दृष्टि से विचार करने पर संसार का मिथ्यात्व व्यक्तिसापेक्ष है। नेत्रोन्मीलन के बाद 'मिथ्यात्व' 'नित्यत्व' के रूप में परिलक्षित होता है। रहस्यवाद की एक परिभाषा है—'संसार की वस्तुओं के चरम सत्य को साक्षात्कृत करने का मानव मन का प्रयत्न'। इसे रहस्यवाद का तत्वज्ञानात्मक पक्ष कहा जा सकता है। नाथसिद्धों के मायावाद, परमतत्वनिरूपण, जागतिक प्रपंच का स्वरूप आदि इसी के अन्तर्गत हैं। दूसरा पक्ष क्रियात्मक है जिसमें मानव मन परमोच्च सत्ता से प्रत्यक्ष संयोगानुभव की चेष्टा करता है। इसके अंतर्गत नाथों की संपूर्ण योगसाधना, क्रिया, यम से ध्यान-समाधि तक की सारी क्रियापद्धति गृहीत है। यम-नियम नैतिक जागरूकता के प्रमाण हैं। इसी पक्ष के अन्तर्गत उन्मनीसाधन, षट्चक्रवेध आदि भी हैं। यदि इन साधनों को उनके केवल स्थूल क्रिया के रूप में लेंगे तो अन्य आलोचकों के समान ही नाथयोगियों के साधन को निम्नकोटि का रहस्यवाद कहना पड़ेगा। किंतु योग के प्रकरण में, विशेषकर तांत्रिक योग के प्रकरण में इन सारी क्रियाओं का जो आध्यात्मिक निरूपण किया गया है, उसके आधार पर नाथों के योग को हम शुद्ध रहस्यवाद कहेंगे, जिसके कुछ अभावों की ओर हम ऊपर संकेत कर चुके हैं। नाथों की हिन्दी रचनाओं में जिस अध्यात्मसाधन की चर्चा मिलती है, उससे यह स्पष्ट होता है कि यह कोई एक स्थूल धर्मसाधना नहीं अपितु व्यक्ति की चेतनशक्ति का विकास और उत्थान है। रहस्यवाद के अन्तर्गत मानव की विभिन्न आन्तरिक शक्तियों की परावृत्ति की बार-बार चर्चा की जाती है, वह नाथों के

योग में पवन पलटने, मन पलटने, कुण्डलिनीजागरण में, विपरीतकरण आदि में उपस्थित है। शास्त्रीयता, बौद्धिकता, तार्किकता, वादविवाद का नाथों ने बार-बार निषेध और तिरस्कार किया है। गुरुवाद को वे स्वीकार करते हैं। साधक की दृष्टि के उन्मेष के लिये वही उत्तरदायी है। तब से ही साधक का जीवन परावर्तित होता है। 'एकत्व' के सिद्धान्त को भी ये नाथ-सिद्ध मानते हैं; यह हम दिखा चुके हैं। नाथसिद्ध कथन में विश्वास नहीं करते, साधन कर 'वही होने में', एकत्व प्राप्त करने में, अद्वययोग में विश्वास करते हैं। 'नाथ रूप में अवस्थान' 'वही होना' है। नाथसिद्धों के आध्यात्मिक ज्ञान का आधार 'भावना' नहीं, प्रातिभ आन्तरिक ज्ञान है, जिसे पहले पातंजल योग के रहस्यवाद के प्रकरण में डा० दासगुप्त ने 'प्रज्ञाविशेष' कहा है। नाथों के योग के प्रकरण में पिण्डब्रह्माण्डवाद का विस्तार से निरूपण किया गया है। तांत्रिक योग के मूल में सक्रिय यह सिद्धान्त रहस्यवाद का भी एक मुख्य सिद्धान्त माना गया है। नाथसिद्धों की हिन्दी रचनाओं में इस शुद्ध तत्वज्ञान का अभाव है, जिसे कुछ लोग शुद्ध रहस्यवाद की बाधा के रूप में स्वीकार करते हैं। साधनात्मक क्रियाओं के आद्यन्त वर्णन में यह तत्वज्ञान पूर्ण विवृत नहीं है। कुछ संकेत अवश्य मिलते हैं। इसी प्रकार दूसरी बाधा जादू, चमत्कार, इन्द्रजाल आदि की अभिव्यक्ति भी इन रचनाओं में नहीं मिलती। बीच-बीच में साधनात्मक क्रियाओं के फलों, सिद्धियों की ओर संकेत अवश्य मिलते हैं किन्तु उन क्रियाओं के वे लक्ष्य नहीं हैं। सभी हिन्दी रचनाओं को पढ़ जाने पर नाथों का रहस्यवाद 'हृदय का धर्म' प्रतीत नहीं होता।

भक्तिपरक रहस्यवाद का एक संक्षिप्त परिचय ऊपर दिया जा चुका है जिसके अनुसार भक्ति हिन्दुओं का संवेगप्रधान रहस्यवाद है। विशेषकर गीता के विचारों का वहाँ परिचय दिया गया है। डा० दासगुप्त ने भक्तिप्रधान रहस्यवाद के भी दो विभाग किये हैं—१-भक्तिप्रधान रहस्यवाद के शास्त्रीय रूप (क्लासिकल फार्म) जिनके अन्तर्गत उन्होंने श्रीमद्भागवत-गीता, पञ्चरात्र साहित्य, विष्णु पुराण, रामानुज आदि का साहित्य, भागवत पुराण, वल्लभाचार्य, चैतन्य आदि का विचार किया है।[1] २—सामान्य भक्ति-परक रहस्यवाद, जिसके अन्तर्गत मुख्यतया उन्होंने संत (सेंट) विल्वमंगल, चंडीदास, आल्वार संत (सेंट), नामदेव, तुकाराम, कबीर, नानक, दादू, रैदास,

[1] हिन्दू मिस्टिसिज्म—पृ० ११३-१३७।

मीराबाई, तुलसीदास, आदि का विचार किया है।[1] डा० दासगुप्त की जिस व्यापक परिभाषा की ओर संकेत किया गया है. उसे देखते वैष्णव आचार्यों को भी रहस्यवादियों की कोटि में माना जा सकता है। यहाँ उनके भक्तिपरक रहस्यवाद के विवेचन का परिचय अपनी मान्यताओं को ध्यान में रखते हुए समीचीन प्रतीत नहीं होता। हमारा विवेच्य संतों, नामदेव, कबीर, रैदास, नानक, दादू आदि का रहस्यवाद है। डा० दासगुप्त की कबीर आदि के रहस्यवाद के संबंध में मान्यता महत्वपूर्ण है। भक्तिपरक रहस्यवाद का जो पहले संक्षिप्त परिचय दिया गया है उसमें तुलसीदास, तुकाराम, रामानंद, दक्षिणी शैव संतों (सेन्ट) के रहस्यवाद से कबीर, नानक, दादू आदि के रहस्यवाद का भेद यह बताया गया है कि इनके ऊपर हिन्दू धर्म के साथ ही मुसलमान धर्म के उपदेशों का भी प्रभाव पड़ा था। कबीर के विषय में कहा गया है कि वे सूफियों के भी प्रभाव में आये थे। डा० दासगुप्त का कथन है कि कबीर, नानक आदि के नायकत्व में विकसित होनेवाले भक्ति आन्दोलन (रहस्यवाद) ने गीता और भागवत के विचारों का अनुसरण किया। भाषा (सामान्य बोलचाल की भाषा) में विकसित होने के कारण इसने सीधे जनसामान्य के ऊपर प्रभाव डाला। इसने जटिल हिन्दू पौराणिक कथाओं (मिथोलोजी) अथवा पुराणों के उन बंधनों से अपने को असम्बद्ध कर लिया जिन्होंने कृष्ण आदि की कथाओं में परमात्मा के प्रति व्यक्त होनेवाली भागवत धर्म की आध्यात्मिक शुचिता को अव्यावहारिक और कठिन बना दिया था। कबीरदास यद्यपि महान् वैष्णव आचार्य रामानुज के शिष्य रामानंद के शिष्य थे तथापि, समान रूप से ही, वे कुछ मुसलमान पीरों के संपर्क में भी आये थे तथा संभवतः वे सूफीमत के किसी रूप से भी परिचित थे। उनके 'धर्म' ने समान प्रकार से हिन्दू और इस्लाम धर्म के सर्वोत्तम अंशों से बहुत कुछ लिया था।[2] किन्तु उन्होंने नामदेव के रहस्यवाद का जो परिचय दिया है, उसमें किसी भी प्रकार के मुस्लिम प्रभाव की ओर संकेत नहीं किया है।[3] कबीर की साधना का परिचय देते हुए पं० रामचन्द्र शुक्ल ने सूफियों से उनके प्रभावित होने की बात स्वीकार की है। कबीर के रहस्यवाद की ओर संकेत करते हुए पं० रामचन्द्र शुक्ल ने यही बात कही है और जायसी आदि के रहस्यवाद से भेद स्थिर करते हुए उन्होंने कबीरादि के रहस्यवाद के प्रेम तत्व को सूफियों का मानते

---

[1] वही, पृ० १४७-१६८।

[2] वही, पृ० १५६-१५७।

[3] वही, पृ० १५१-१५४।

हुए भी उसे साधनात्मक रहस्यवाद कहा है।[1] इसी प्रकार डा० रामकुमार वर्मा ने कबीर के रहस्यवाद का पृथक् रूप से विवेचन करते हुए कहा—"वे सच्चे रहस्यवादी थे।……रामानंद का शिष्यत्व उनके हिन्दू धार्मिक सिद्धांतों का कारण था और जुलाहे के घर पालित होना तथा शेख तकी आदि सूफियों का सत्संग होना उनके मुसलमानी विचारों से परिचित होने का कारण था। ……कबीर का रहस्यवाद अपनी विशेषता लिये हुए है। वह एक ओर तो हिन्दुओं के अद्वैतवाद के क्रोड़ में पोषित है और दूसरी ओर मुसलमानों के सूफी सिद्धान्तों को स्पर्श करता है।……रहस्यवाद में भी उन्होंने अद्वैतवाद और सूफी मत की 'गंगाजमुनी' साथ ही बहा दी।…… हम यह निश्चय रूप से नहीं कह सकते कि उन्होंने सूफी मत के प्रतिपादन के लिये ही अपने 'शब्द' कहे हैं पर यह निश्चय है कि मुसलमानी संस्कारों के कारण उनके विचारों में सूफी मत का तत्व मिलता है।"[2] पं० चन्द्रबली पांडेय का मत बतलाते हुए पहले कहा गया है कि कबीरदास 'बेशरा' सूफी थे। पं० परशुराम चतुर्वेदी ने कबीर के रहस्यवाद का विचार करते हुए यद्यपि यह स्पष्टतया कह दिया है कि 'दार्शनिक दृष्टिकोण के अनुसार वे शांकराद्वैतमत के अनुयायी थे।' किंतु कहीं भी इस प्रकार की स्पष्ट घोषणा नहीं की कि कबीर का रहस्यवाद सूफियों के रहस्यवाद से प्रभावित था। इसके विपरीत उन्होंने सूफी रहस्यवाद से कबीर के रहस्यवाद का कई स्थानों पर अन्तर भी निरूपित किया है।[3]

डा० रामकुमार वर्मा ने कबीर के रहस्यवाद के प्रकरण में रहस्यवाद की जो परिभाषा दी है, उसका विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है—१—रहस्यवाद जीवात्मा की अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है, २—इसमें आत्मा की दिव्य और अलौकिक शक्ति से संबंध जोड़ने की इच्छा की अभिव्यक्ति होती है, ३—यह संबंध शांत और निश्छल होता है, ४—यह संबंध बढ़ कर अन्ततः निरन्तर हो जाता है, कोई अन्तर नहीं रह जाता।[4] इस परिभाषा में 'एकत्व' 'अन्तर्हित प्रवृत्ति' और 'शांत निश्छल संबंध' पद महत्वपूर्ण हैं। इनसे क्रमशः

---

[1] जायसी ग्रंथावली-भूमिका, पृ० २०५-२१८, विशेष रूप से द्रष्टव्य पृ० २०८ तथा २१२, द्वितीय संस्करण, सन् १९३५।

[2] कबीर का रहस्यवाद—डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ६, १८, १९।

[3] कबीर साहित्य की परख—पं० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ११४-११५; अन्तर के लिये द्रष्टव्य—पृ० ११६, १२१-१२२, १२७।

[4] कबीर का रहस्यवाद, पृ० ६।

एकात्मक जीवन, अथवा एकत्व में विश्वास, प्रेम और प्रेम की प्रकृति—शांति और निश्छलता की ओर संकेत होता है। अन्तर्हित प्रवृत्ति से अतीन्द्रिय और संवेगों की प्रधानता की बात स्वीकार की जा सकती हैं। डा० वर्मा ने इस एकात्म के अनुभव को एक प्रकार से अतीन्द्रिय ही स्वीकार किया है।[1] उपर्युक्त उद्‌देश्य की प्राप्ति में वे रहस्यवादी की क्रमोत्तार तीन स्थितियों को स्वीकार करते हैं—१—ईश्वर के समीप पहुँच कर दिव्य विभूतियों को देखकर चकित होना। २—परमात्मा के प्रति आत्मा में प्रेमोदय—इस स्थिति में भावनाओं की तीव्रता के कारण एक प्रकार से उन्माद की स्थिति दिखाई देती है। इस समय वासनाएँ इस वेग में बह जाती हैं। ३—रहस्यवादियों की चरम स्थिति—आत्मा और परमात्मा का एकीकरण। इन तीनों ही स्थितियों का दर्शन डा० वर्मा ने कबीर की रचनाओं में किया है।[2] सूफीमत का परिचय देकर उन्होंने भेदों की ओर भी संकेत किया है—१—सूफी मत में भी यद्यपि बन्दे और खुदा का एकीकरण हो सकता है पर उसमें माया का कोई विशेष स्थान नहीं है। २—सूफीमत में ईश्वर की भावना स्त्री रूप में की गई है। इनको ध्यान में रखते हुए ही उन्होंने अपना निर्णय दिया है—उन्होंने अद्वैतवाद से माया और चिंतन तथा सूफीमत से प्रेम लेकर अपने रहस्यवाद की सृष्टि की है। सूफीमत के स्त्रीरूप भगवान् की भावना ने अद्वैतवाद के पुरुष रूप भगवान् के सामने सिर झुका लिया है" ३—सूफीमत में भगवान् से मिलने के पहले आत्मा को चार दशाएँ पार करनी पड़ती हैं—शरियत, तरीफ़त, हकीक़त, मारिफत। चौथे में जाकर आत्मा और परमात्मा का सम्मिलन होता है।[3] डा० वर्मा ने यह स्पष्टीकरण नहीं दिया कि कबीर की रचनाओं में इन भेदों के आने का कारण क्या है। कबीर की संपूर्ण साधना के निरूपण के संबंध में अभी तक जितने भी प्रयास हुए हैं, उनमें एक बात आद्यन्त दिखाई देती है कि कबीर को 'समन्वयवादी' 'सामंजस्यवादी' 'सारग्राही' आदि सिद्ध करने के प्रयास में उनमें भिन्न-भिन्न, परस्परविरोधी विचारधाराओं का एक विचित्र जमघट दिखा दिया गया है। यदि कबीर की संपूर्ण विचारधारा और प्रवृत्तियों की एक पूरी व्यवस्था की संगति किसी एक विशेष विचारव्यवस्था और परम्परा से न बैठे तो ऐसी स्थिति में इस प्रकार का प्रयास कुछ संगत

[1] वही, पृ० ७।

[2] वही, पृ० ११-१५।

[3] वही, पृ० १९-२१।

मालूम पड़ सकता है। इस प्रकार के प्रयास का आरंभ हमें 'इंसाइक्लोपीडिया आव रेलिजन ऐंड एथिक्स' के विभिन्न लेखों से ही दिखाई पड़ता है। इस संबंध में हम पूरे विचार इसी प्रकरण में आगे व्यक्त कर रहे हैं।

इसके पूर्व हम पं० परशुराम चतुर्वेदी के विचारों की भी परीक्षा कर लेना चाहते हैं जो हमारे मत के अपेक्षाकृत अधिक अनुकूल है। चतुर्वेदी जी ने विश्वात्मक सत्ता की प्रत्यक्ष, गंभीर एवं तीव्र अनुभूति की अभिव्यक्ति को रहस्यवाद कहा है। रहस्यवादी यद्यपि अद्वैतवादी होता है किंतु वह उस 'वस्तु' तक अपनी अन्तर्दृष्टि के सहारे प्रवेश करता है और उसके साथ तन्मयता के आनन्द में मग्न भी हो जाता है। इस "परमात्मतत्व की अनुभूति का परिचय प्रायः उसकी तीन विभिन्न स्थितियों के वर्णन द्वारा किया जाता है। सर्वप्रथम उसके लिये विरह जाग्रत होने की दशा आती है जो किसी गुरु की सहायता से ही संभव है।" इस अनुभूति की दूसरी अवस्था में साधक को उस तत्व का परिचय मिल जाता है। "इस अवस्था में एक प्रकार का विचित्र आह्लाद उत्पन्न हो जाता है जो उसे वस्तुतः आनन्दविभोर कर देता है।" तीसरी अथवा अन्तिम स्थिति वह स्थिति है जब साधक के जीवन में पूरा कायापलट हो जाता है और वह सिद्धावस्था को पहुँच जाता है। "अद्वैतवादी लोग इसी को जीवन्मुक्त की दशा कहा करते हैं और कबीर साहब ने यहाँ तक पहुँचे हुए महापुरुषों को ही 'संत' नाम से अभिहित किया है।"[१] सूफी रहस्यवादी कवियों का रहस्यवादी कबीर से अन्तर बतलाया गया है। सूफी रहस्यवादी कवियों ने उपर्युक्त आध्यात्मिक अनुभूति की दशाओं का वर्णन प्रेमगाथाओं की सहायता से किया है। वे प्रथम स्थिति का विस्तार से वर्णन करते हैं। शेष दो स्थितियों का वे बहुत कम वर्णन करते हैं। कभी-कभी दूसरी स्थिति का केवल उल्लेख मात्र कर देते हैं तथा तीसरी स्थिति का नाम तक नहीं लेते। इसके विपरीत कबीर ने उक्त तीनों स्थितियों का वर्णन प्रायः एक समान भाव से किया है। चतुर्वेदी जी ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि परमात्मा को पुरुष के रूप में तथा आत्मतत्व को उसकी पत्नी के रूप में ग्रहण करना जायसी जैसे सूफी कवियों की परंपरा के नितांत विरुद्ध पड़ता है। सूफी खुदा को अपनी प्रियतमा के रूप में देखते हैं और उसी विचार से प्रेमगाथाओं की कल्पना भी करते हैं। "जायसी आदि सूफी रहस्यवादी कवियों ने भी" तीसरी स्थिति की समान "भावनाओं का उल्लेख अनेक

[१] कबीर साहित्य की परख—पृ० ११३, ११५-१६।

स्थलों पर किया है। परंतु वे ऐसा अधिकतर उन अवसरों पर करते हैं जब कि उनका प्रेमी अपनी प्रियतमा के विरह में संतप्त रहा करता है।" कबीर की रहस्यानुभूति की तीसरी अन्तिम स्थिति संतों की सिद्धावस्था है। परिपक्व अवस्था को ही उन्होंने सहजसमाधि का भी नाम दिया है। उस प्रकार की रहस्यानुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिये कबीर ने सूफी रहस्यवादियों की भाँति किसी प्रेमगाथा का सहारा नहीं लिया है।[1] अन्यत्र संतों के रहस्यवाद के संबंध में लिखते हुए उन्होंने उसकी विलक्षण स्वानुभूति और उसकी विलक्षण अभिव्यक्ति पर भी विशेष प्रकाश डाला है।[2] इसका विशेष संबंध अभिव्यक्ति और शैली से है, इसलिये आगे इसका विचार किया गया है।

कबीर अथवा अन्य संतों के रहस्यवाद के संबंध में विभिन्न विवेचकों के मतों और उनकी विवेचनाओं को इस प्रकार उपस्थित करने के हमारे प्रयोजन थे— १—पाश्चात्य पद्धति से विवेचन करनेवाले प्रायः सभी विद्वान् भक्तिसाधन को अत्युच्च कोटि का रहस्यवाद मानते हैं। २—कबीरादि भी भक्तिपरक रहस्यवादी थे। ३—किंतु उनके रहस्यवाद के ऊपर सूफियों के प्रेमप्रधान रहस्यवाद का भी प्रभाव था। ४—सामान्य सूफी रहस्यवादियों तथा कबीर के समकालीन अथवा उनके समय के आस-पास के विभिन्न रहस्यवादियों, रहस्यवादी कवियों के रहस्यवाद में तथा कबीर के रहक्यवाद में अंतर था। ५—एक मत के अनुसार उनके ऊपर योगप्रधान रहस्यवाद का भी प्रभाव था जिसे लोग साधनात्मक रहस्यवाद कहते हैं। सूफी रहस्यवाद से प्रभावित कबीरादि के रहस्यवाद के संबंध में मुख्य बात जो कही जाती है, वह यह है कि कबीर ने विभिन्न सूफी पीरों और रहस्यवादियों का सत्संग किया था तथा उनमें से कई को कबीर का गुरु तक सिद्ध करने की चेष्टा की जाती है। किंतु विभिन्न प्रमाणों पर यह पर्याप्त रूप से विचार कर विद्वानों ने सिद्ध कर दिया है कि कबीर किसी सूफी पीर के शिष्य नहीं थे। उनके सूफी होने का भी कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। यदि कहीं कबीर को सूफी कहा भी गया है तो यह समझना चाहिए कि गोरखनाथ को बौद्ध लोग जिस प्रकार बौद्ध मानते थे उसी प्रकार कबीर को सूफी मान लिया गया। दूसरी बात प्रेम तत्व को लेकर कही जाती है। प्रेम तत्व केवल सूफियों के लिये ही सुरक्षित नहीं समझना चाहिए। भारतीय परम्परा के विभिन्न ग्रंथों में भी प्रेम की उन्मत्त

---

[1] वही, पृ० ११६, १२१–१२२, १२६, १२७।

[2] संत काव्य—भूमिका, पृ० ५५–५८।

अवस्था का वर्णन मिलता है। कुछ लोग यह भी सिद्ध कर सकते हैं कि चैतन्य के ऊपर सूफियों के प्रेमोन्माद का ही प्रभाव था जो उनकी भावसाधना में इतनी मस्ती और तरलता आ सकी किंतु सच्ची बात यह है कि नारद भक्तिसूत्र में प्रेम का जो वर्णन मिलता है, वह किसी भी मर्यादित रूप में सूफियों के प्रेम से कम नहीं है। वहाँ प्रेमोपलब्धि कर लेनेवाले व्यक्ति को भी 'प्रमत्त' कहा गया है, अमृत कहा गया है। 'प्रमत्त' और 'अमृत' दोनों ही शब्द संतों के साहित्य में अपनी अर्थपरम्परा सुरक्षित रख सके हैं। कबीर बार-बार कहते हैं कि प्रेमामृत का पान कर वे मस्त हो गये हैं, अमर हो गये हैं। अमृत की, रस की दूसरी परंपरा इससे भी अधिक पुरानी है। प्रतीक के रूप में वह वैदिक 'सोमरस' से सम्बद्ध की जा सकती है और वही यौगिक एवं तांत्रिक रहस्यवाद की परम्परा से विकसित होकर संतों को मिली है। इस प्रेमरस या अमृतरस का पान कर आत्मा में पातिव्रत और नित्यसूरत्व, दोनों ही दिव्य गुण, आयत्त होते हैं। आत्मा की पत्नी के रूप में कल्पना तो भारतीय है ही, साथ ही उसकी पतिव्रता के रूप में मर्यादित कल्पना भी कबीरदास की भारतीय परम्परा के अनुरूप कल्पना है। आलंबन के स्वरूपभेद तथा आश्रय के स्वरूपभेद से भावोज्जीवन एवं रसग्रहण में तब और अधिक अंतर आ सकता है, जब देश, काल, परम्परा, संस्कृति आदि का भी भेद हो। यह पूर्णतया सत्य है कि रहस्यवादी की चरम अनुभूतियाँ देशकाल की बाधा स्वीकार नहीं करती किंतु उसके पूर्व की अनुभूतियों, स्थितियों के आधार पर ही विभेद स्थिर किया जा सकता है। अतः मदिरा, प्याला आदि का कोई विशेष महत्व नहीं। जिन विद्वानों ने स्पष्ट घोषणा की है कि कबीर 'बेशरा' सूफी थे, अथवा उनके ऊपर सूफी रहस्यवाद के प्रेम का प्रभाव था, उन लोगों ने यह दिखाना आवश्यक नहीं समझा कि सूफी प्रेमभावना और भारतीय प्रेमभावना में क्या अंतर है कि जिसके आधार पर कबीर को सूफी सिद्ध किया जा सके। इसी बात को ध्यान में रखकर ऊपर सूफियों के रहस्यवाद और कबीर के रहस्यवाद के अंतरों की ओर ध्यान आर्कषित करने की चेष्टा की गई है। डा० रामकुमार वर्मा ने सूफी रहस्यवाद के जिन पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या दी है, उनके प्रयोगों को उन्होंने कबीर साहित्य में नहीं दिखाया। यह बात दूसरी है कि पलटू आदि विभिन्न संतों ने उनकी शब्दावली का प्रयोग किया है[१] किंतु केवल शब्दों के

---

[१] संत काव्य—पृ० ५२० कुंड० १, पृ० ५२५ कुंड० ११, पृ० ५२५-५२६ कुंड० १२।

प्रयोग के बल पर किसी भी साधक की साधनपद्धति को विमिश्रित नहीं माना जा सकता। हम पहले ही दिखा चुके हैं कि कबीर की भक्ति (प्रेमाभक्ति) भारतीय परम्परा की है। भारतीय परम्परा, भारतीय भक्तिपद्धति और कबीर की रचनाओं की, इस संबंध में, पुनः परीक्षा की आवश्यकता है। पाश्चात्य विवेचकों के निर्देशों की प्रामाणिक परीक्षा की आवश्यकता है। इस प्रकार की समीक्षा का यह अर्थ नहीं है कि कबीर अथवा अन्य संतों के रहस्यवाद के ऊपर सूफी रहस्यवाद का प्रभाव नहीं पड़ा होगा। किन्तु इतना स्पष्ट है कि 'प्रभावित होना' और 'तत्वतः एक होना' में अंतर है। गौड़ीय वैष्णवों के ऊपर यद्यपि सहजयानी बौद्धों की विचारधारा का प्रभाव पड़ा था किन्तु कोई भी विवेचक चैतन्य को तत्वतः बौद्ध मानने के लिये तैयार नहीं होगा। इसी प्रकार की स्थिति हमें शब्दान्तर से कबीर के 'बेशरा सूफी' तथा 'तत्वतः सूफी रहस्यवादी' होने में भी प्रतीत होती है।

अंत में हम रहस्यवाद संबंधी अपने तीन निष्कर्षों की संतों के साहित्य में परीक्षा कर लेना चाहते हैं तथा नाथों और संतों के रहस्यवाद के अंतर को भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं।

संतों ने अनेकता में एकता का दर्शन किया है। वे इस विश्व का उद्भव, प्रसार और लय 'एक' तत्व में ही मानते हैं। वह एक तत्व ही संपूर्ण सृष्टि में व्याप्त है। 'यह' सृष्टि 'उस' में है और 'वह' 'इस' में है। संसार का जो कुछ भी है, आने-जानेवाला है। यदि कोई स्थिर तत्व है तो वह एक है। संसार के पदार्थों में, आत्मा में, मणियों में सूत्र की भाँति अनुस्यूत वह एक तत्व ही स्थिर और नित्य है। इन्हीं विश्वासों को संतों ने अनेक भाव से अपनी रचनाओं में व्यक्त किया है। नामदेव को परमावस्था की अनुभूति में संसार के सब कुछ की गोविंद रूप में प्रतीति होती है। संसार के किसी पदार्थ की गोविंद के बिना सत्ता ही नहीं मालूम पड़ती। जलतरंग, फेन, बुद्बुद की सत्ता जल से अलग नहीं होती। इस प्रकार यह विश्वप्रपंच भी उनसे भिन्न नहीं है। यह अनेकता, प्रपंच तो परब्रह्म की लीला है। किन्तु इस अनेकता में एकता की प्रतीति तभी होती है, जब मन का जागरण होता है और यह जागरण भी बिना गुरु की कृपा के नहीं होता।[1] रैदास को भ्रांति के कारण ही द्वैत दर्शन होता था। वस्तुतः ब्रह्म और जीव का निसर्गसिद्ध एकत्व जल-तरंग और पाहन-प्रतिमा के समान है। वह तत्व विमल, एकरस, उदयास्तरहित है,

[1] संत काव्य—पृ० १४४, पद १।

सभी वस्तुओं में व्याप्त है। सभी पदार्थों में हरि है और हरि में ही सभी पदार्थ हैं। यह प्रपंचरचना झूठी है, यदि सत्य है तो उसका बनानेवाला है, वही नित्य है।[१] कबीर ने उस एक ही व्यापक ब्रह्म को सब में व्याप्त माना है। इन सभी पदार्थों में वह आत्म तत्व है और वह स्वयं सब में वर्तमान है। वह रूपधारण भी करता है और रूपातीत भी हो जाता है।[२] खालिक (स्रष्टा) खलक में है और खलक खालिक में। वह सभी घटों में दीख पड़ता है। देखने पर वह एक ही अनेक भाव से दिखाई पड़ता है।[3] यही एकत्व की भावना संतों के पिण्डब्रह्माण्डवाद, सृष्टिप्रक्रिया, मानस साधन आदि में भी दिखाई देती है। यही उनकी संपूर्ण साधना का स्रोत है, प्रेरक बिंदु है और उसी एकत्वानुभूति में उनकी साधना का 'अंत' दिखाई पड़ता है। इसकी विवृति संतों की भक्ति और योग की विवेचना में पहले ही प्रस्तुत की जा चुकी है।

इसी प्रकार संत लोग वाद-विवाद, शास्त्रपाठ, शास्त्रज्ञान आदि को इस अनुभूति का साधन नहीं मानते। वे उन्मन मन से, इन्द्रियातीत, विषयातीत मन से इसकी अनुभूति प्राप्त करते हैं। 'अनुभव' और 'अनभै' दोनों शब्द घुलमिल गये हैं। रहस्यानुभव के प्राप्त होने पर एक भवातीत तथा भयहीन निर्भय अवस्था की उपलब्धि होती है। देखना, जानना और होना, ये तीनों वे आवश्यक मानते हैं। कथनी-बदनी सब जंजाल हैं, केवल भावभगति और राम ही निराले हैं। यह भक्ति कहने-सुनने, वाद-विवाद से नहीं, करने से होती है, सैंधव और जल के समान मिल कर एक हो जाने से होती है। देखना, गाना और सुख पाना, बिना परिचय (स्वानुभूति बिना) राम के नाम का मर्म न जान पाना जीवन में उसके स्वयं अनुभव की ओर संकेत करते हैं।[४] सामान्य इन्द्रियोन्मुख मन से, व्यक्ति की शक्ति से यह अनुभूति उपलब्ध नहीं हो सकती। उसे अतीन्द्रिय बनाने के लिये गुरु और साधन की आवश्यकता होती है। इन सब की योग और भक्ति के प्रसंग में विवृति की गई है। संतों ने जिस रस अथवा आनंद की अनुभूति को प्राप्त करना चाहा है वह आत्मा संबंधी है, विषय सुख से अतीत एवं परे है। संसार में अन्य किसी सुख

---

[१] वही, पृ० २१३ पद ३, पृ० २१४ पद ४।

[२] वही, पृ० १७६ पद २६।

[3] कबीरग्रंथावली—पृ० १०४ पद ५१, पृ० १७९ पद २६७।

[४] संत काव्य—पृ० १८८ पद ४७, १८५.४१, १९१.५३।

की आकांक्षा उन्हें नहीं। उसकी मादकता कभी घटती ही नहीं। केवल ऐसे ही नित्यानंद में उन्हें विश्वास है। इसका भी परिचय भक्ति और योग के प्रकरणों में दे चुके हैं। किन्तु संतों ने इस एकात्म अनुभूति को क्षणिक नहीं माना है। वे इस आनन्दमयी एकात्म अनुभूति को जीवन की प्रत्येक क्रिया में उतार देना चाहते हैं। वस्तुतः संतों का सहज जीवन और सहज रहनी जीवमुक्ति की वह अवस्था है जिसमें यह एकात्म जीवन की प्रत्येक क्रिया का प्रेरक, उज्जीवक और अलौकिकताप्रदायक हो जाता है। योगसाधन की दृष्टि से विचार करने पर कुण्डलिनी के अवतरण की प्रक्रिया के बाद, उसके पुनः पृथिवी में निवास करने के बाद, पंचभूतों, मन, इन्द्रियों, के दिव्य हो जाने के बाद की सृष्टि दिव्य सृष्टि होती है और फिर उस एकात्म की अनुभूति जीवन की प्रत्येक क्रिया में होने लगती है। यही वह स्थिति है जिसमें साधक आठों पहर मत्त बना रहता है। वह एकात्म जीवन में जब सहज हो जाता है तब मन भी निर्मूल हो जाता है, अनायास स्थिति आ जाती है। तभी संत शैवों की "यत्रयत्र मनो गच्छेत् तत्र तत्र शिवं पदम्" की उक्ति कहता है- –

रे मन जाहि जहाँ तोहि भावै, अब न कोई तेरै अंकुस लावै। टेक
जहाँ जहाँ जाइ तहाँ तहाँ रामा, हरिपद चीन्हि कियौ विश्रामा ॥
···लीन निरंतर वपु बिसराया, कहै कबीर सुख सागर पाया ॥[१]

नाथों की दृष्टि से यही अवधूत की स्थिति है। इसी को शुद्ध सहज स्थिति कहना चाहिए। "सिद्धसिद्धान्तपद्धति" के अंतिम उपदेश में इसी स्थिति का विस्तार से वर्णन किया गया है। कबीर के समय में योगियों की क्षणिक अथवा अस्थायी सामाधिक अनुभूतियों का बड़ा जोर था। अवधूतस्थिति को प्राप्त करनेवाले लोग कम ही थे। इसीलिये कबीर ने बार-बार तत्कालीन अवधूत को भी सहज समाधि लगाने का उपदेश दिया है।

योगप्रधान रहस्यवाद की परम्परा में नाथों के रहस्यवाद का विचार कर कहा जा सकता है कि मानसनियंत्रण, इच्छाशक्तिनियंत्रण कर प्रज्ञा से ज्ञान प्राप्त करने की विशेषता के कारण नाथों का रहस्यवाद योगज्ञान प्रधान रहस्यवाद कहा जा सकता है। संतों का रहस्यवाद भक्तिपरक रहस्यवाद या संवेगप्रधान रहस्यवाद है। योग को संतों ने भी स्वीकार किया है किंतु वह योग प्रेमसाधन या भावसाधन का सहायक है। वस्तुतः संतों का रहस्यवाद हृदय का धर्म है। डा० मैत्र की परिभाषा के अनुसार विचार करने पर नाथों

[१] कबीर ग्रंथावली—पृ० १३६ पद १४९।

का रहस्यवाद केवल ज्ञान एवं अद्वैतावस्था तक ही रह जाता है। उसका अनुभूति पक्ष उनकी रचनाओं में प्रबल और विवृत नहीं है। अतः हम उसे पूर्ण रहस्यवाद नहीं कह सकते। संतों का रहस्यवाद क्रमिक प्रक्रिया के अनुसार योग, ज्ञान और भक्तिभावानुभूति तक विकास को प्राप्त करता है। इसीलिये हम उसे पूर्ण रहस्यवाद कह सकते हैं। इनके रहस्यवाद में व्यक्तित्व का शरीर-पक्ष, बुद्धिपक्ष और मानसपक्ष सभी एक साथ एकत्व के लिये सचेष्ट हैं जबकि नाथों का मानसपक्ष (भावनापक्ष) अति दुर्बल है। व्यक्तित्व के ऐसे एकत्व को पूर्ण एकत्व नहीं कह सकते। अतः अवतरण के बाद की उनकी सृष्टिप्रक्रिया भी पूर्ण नहीं कही जा सकती। उसमें व्यक्ति की आनंदवृत्ति के लिये कोई अवकाश नहीं। योग और भक्ति के विवेचन के प्रसंग में कुछ और संकेत प्रसंगतः कर दिये गये हैं। नाथों और संतों के रहस्यवाद की समानता के कई बिन्दु हैं—१–दोनों ही 'एकत्व' में विश्वास करते हैं। पिंडब्रह्माण्डएकत्व, आत्म-परमात्म-एकत्व, अनेकता में एकता, जीवात्मशक्ति और ब्रह्माण्डशक्ति या महाशक्ति में एकत्व, पिण्डशक्ति कुंडलिनी और ब्रह्माण्डशक्ति महाकुंडलिनी में एकत्व, नाद अनाहतनाद और मूल नाद प्रणव में एकत्व आदि इसी तथ्य की ओर संकेत करते हैं। २–नैतिक जागरूकता, शुद्धता, उच्चता को दोनों समान प्रकार से महत्व देते हैं। दोनों ही यम-नियम की चिरपरिचित दशांगपद्धति को स्वीकार करते हैं। ३–मनुष्य की मूलशक्तियों की परावृत्ति-परावर्तन (रिवर्सल) को दोनों महत्व देते हैं। मन-पवन नाम की शक्तियों के अतिरिक्त कामशक्ति (शुक्र और मानस काम) के नियंत्रण और परावर्तन को दोनों स्वीकार करते हैं। यद्यपि 'कामशक्ति' के साधन के संबंध में दोनों की दो पद्धतियाँ हैं। नाथ मारण और जारण में विश्वास करते हैं और संत उसके विकास-दिशापरिवर्तन-दिव्यान्तर (ट्रांसफार्मेसन) में विश्वास करते हैं। रहस्यवाद के भावनापक्ष के सम्बंध में मूल अन्तर यहीं से आरंभ होता है। ४—दोनों ही अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष को ही स्वीकार करते हैं। नाथों के प्रत्यक्ष में बुद्धि, विवेक और चिन्तन-मनन प्रधान हैं तथा संतों के प्रत्यक्ष में इनके साथ भावना, कल्पना, अनुभूति, आनंदवृत्ति का समन्वय है। इनके लिये क्रमशः विवेकवादी और आनन्दवादी शब्दों का प्रयोग भी किया जा सकता है। इन दोनों शब्दों की परम्परा बहुत प्राचीन सिद्ध की जा सकती है। दूसरे शब्द हैं—हठवादी और सहजवादी जो अपेक्षाकृत कम अनुकूल हैं। इन दृष्टियों के कुछ प्रमाण भक्ति और योग के प्रकरणों में दिये गये हैं। नाथों के रहस्यवाद पर विद्वानों ने उपर्युक्त प्रकार से विचार करने की तनिक भी आवश्यकता नहीं

समझी है। इस प्रकार नाथों का रहस्यवाद प्रायः अभी अछूता विषय है। यहाँ उनके रहस्यवाद की केवल एक रूपरेखा उपस्थित की गई है कारण कि यह स्वयं ही एक स्वतंत्र विषय है। संतों के रहस्यवाद पर विद्वानों ने बहुत काम किया है फिर भी समग्र संत साहित्य को लेकर तथा विषय की समग्र दृष्टि को लेकर अभी भी शोध की आवश्यकता है। विभिन्न विद्वानों द्वारा अलग-अलग दृष्टियों से उनके रहस्यवाद के अनेक पक्षों पर विचार अवश्य किया गया है। फिर भी यहाँ उनके रहस्यवाद संबंधी सभी विवेचनों की उद्धरणी न कर, केवल संक्षिप्त रूपरेखा उपस्थित कर, केवल मुख्य बातों को ध्यान में रख कर तुलनात्मक अध्ययन उपस्थित किया गया है।

तेरहवाँ परिच्छेद

रहस्यवादी कविता की दृष्टि से

नाथ और संत साहित्य

रहस्यवाद के प्रकरण में कहा जा चुका है कि रहस्यवादी अपनी अभिव्यक्ति के लिये प्रतीकवाद और धार्मिक भावों के प्रतीकों को स्वीकार कर लेता है। वह अपने जीवन में भी प्रत्येक वैसी वस्तु से विमुख हो जाता है जिन्हें हम संस्कृति और सभ्यता के अन्तर्गत ग्रहण करते हैं। यहाँ विमुख होने का अर्थ परावर्तन लेते हैं। वस्तुतः रहस्यवादी सामान्य सभ्यता और संस्कृति की वस्तुओं और उनकी अभिव्यक्ति करनेवाले विभिन्न शब्दों के अर्थों को परावर्तित रूप में ग्रहण करता है और उनका वैसा ही प्रयोग करता है। इसके अतिरिक्त स्पर्जन के अनुसार यह भी बताया गया है कि रहस्यवाद में प्रतीकवाद अत्यधिक महत्वपूर्ण तत्व है। प्रतीकवाद और पौराणिक शैली रहस्यवादी की भाषा है। यह प्रतीकवाद 'एकता' में विश्वास का ही एक अंश है क्योंकि वास्तविक प्रतीकवाद का सारतत्व यह है कि संसार की सभी वस्तुओं में एक समानता होती है। रहस्यवाद और रहस्यानुभूति संबंधी उपर्युक्त विचारों के आधार पर रहस्यवादी काव्य के संबंध में भी हम कुछ सोच सकते हैं। शुद्ध काव्य में कवि और वर्ण्य विषय की सत्ता पृथक् रहती है और कवि उस पृथक् वस्तु से संबंधित अपनी अनुभूतियों अथवा विचारों की अभिव्यक्ति करता है। दोनों अभिन्न नहीं हो जाते। रहस्यवादी अनुभूति अथवा अनुभूति की परवर्ती छाया का वर्णन करता है। विषय किसी स्थूल रूप में उसके समक्ष उपस्थित नहीं रहता। अतः उसके सामने विषय की केवल उज्वल अथवा अत्यधिक उभरी रेखाएँ शेष रह जाती हैं। उनके आधार पर ही उसे समग्र दृश्य, समग्र अनुभूति को उपस्थित करना होता है। अतः संकेतों की आवश्यकता होती है। ये संकेत ही प्रतीक हैं, यद्यपि ये संकेत से अधिक सामर्थ्य रखते हैं। हम पहले यह भी कह चुके हैं कि 'रहस्यवाद हृदय का धर्म है।' यह भी माना जाता है कि काव्य हृदयों का संवेदनात्मक व्यापार है। रहस्यवादी काव्य में इस हृदय के धर्म को प्रतीक और पौराणिक शैली का मोहक आवरण दिया जाता है। धर्म का कोई भी रूप अपने स्थल और अनगढ़ रूप में काव्य नहीं

हो सकता। उसे काव्य का रूप धारण करने के लिये प्रतीक और पौराणिक शैली का मधुर आवरण धारण करना पड़ेगा। यह भी कहा गया है कि रहस्यानुभूति 'गूँगे का गुड़' है। असीम का ससीम साधन से यदि निर्वचन करना है तो उसके लिये केवल संकेत ही साधन के रूप में उपयुक्त हो सकते हैं। कविता में आद्यन्त 'नेति-नेति' की पद्धति का प्रयोग, उसकी प्रकृति के विपरीत हो सकती है। अतः सांकेतिक पद्धति अथवा शब्दान्तर से प्रतीक-पद्धति और पौराणिक शैली एकमात्र साधन रह जाते हैं। स्पर्जन के अनुसार सच्चे प्रतीक के लिये आवश्यक है कि वह वस्तु उस वस्तु के अंशतः समान अवश्य हो जिसका वह प्रतीक है। इस प्रकार, मानव प्रेम दिव्य प्रेम का प्रतीक होता है क्योंकि यद्यपि यह मानव प्रेम एक दूसरे स्तर पर क्रियाशील रहता है तथापि उसका संचालन समान प्रकार के नियमों से होता है तथा समान प्रकार के परिणाम होते हैं। इसी प्रकार और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं।[१]

प्रतीक और रहस्यवादी प्रतीकों की व्याख्या बहुत विस्तार से की जाती है। विश्व के पूर्वीय देशों के धर्मों में से हिन्दू धर्म ने सर्वाधिक प्रतीकों का प्रयोग किया है। इस धर्म ने पहले ही घोषणा कर दी है कि परमसत्य अज्ञेय और अनिर्वचनीय है। अपनी संपूर्ण साधना और उपदेशों में इस धर्म ने सत्य तक भलीभाँति पहुँचने के लिये सांकेतिक शैली या प्रतीकों का उपयोग किया है। यह पहुँचने की एक ऐसी प्रक्रिया है जो लक्ष्य तक तो कभी नहीं पहुँचती किंतु केवल अधिक से अधिक समीप पहुँचा सकती है। प्रतीकों का प्रयोजन दो प्रकार का होता है—१—भौतिक नेत्रों अथवा कानों या मन को जो दृश्य अथवा शब्द अथवा भाव अभिव्यक्त कर प्रेषित नहीं किये जा सकते उनके सामने समान दृश्य अथवा शब्द अथवा भावों को प्रस्तुत करना या प्रत्यक्ष करना। अन्ततः सभी भाषाएँ, और विशेष मात्रा में धार्मिक भाषाएँ, प्रतीकात्मक हो जाती हैं। २—प्रतिमा (इमेज) या प्रतीक का दूसरा प्रयोजन किसी श्रद्धेय वस्तु को भौतिक (मैटीरियल) और उपयुक्त रूप प्रदान करना है जिससे अदृश्य और अरूप देवता की धारणा करने में असमर्थ, अज्ञान और अंधकार से आच्छन्न मनवालों की आवश्यकता पूरी हो सके। यदि ऐसा न किया जाय, तो वे या तो अंधकार, संदेह, अशांति और अविश्वास में घूमते रहेंगे या श्रद्धा अथवा भय से होनेवाली उपासना में भी प्रवृत नहीं होंगे। ऐसी स्थिति में

[१] मिस्टिसिज्म इन इंगलिश लिटरेचर—पृ० ९।

प्रतिमा की उपासना ही उनके लिये उचित है। यह वस्तुतः उच्चतर और स्पष्टतर विश्वास के लिय एक सोपान है।[1] अर्बन ने सामान्य रूप से प्रतीकों को दो भागों में विभाजित किया है। एक विभाग तो कला, काव्य और धर्म के प्रतीकों का है जो भावना उत्तेजित करते हैं। दूसरा विभाग विज्ञान के प्रतीकों का है जो पदार्थों या विषयों (आब्जेक्ट) को संदर्भित रखते हैं। काव्यात्मक प्रतीक सामान्यतया सौन्दर्यप्रतीक होते हैं।[2] भाषा के विकास का सामान्य नियम है कि इसका विकास अनुकृति से उपमा (या रूपक --एनालाजी या रूपक) और रूपक से प्रतीक तक क्रमशः होता है। धर्म की भाषा तथा कविता की भाषा में घनिष्ठ संबंध है। कुछ के मतानुसार काव्य और धर्म में अभिन्नता है। तत्वतः धर्म और कविता में एकता है किन्तु व्यावहारिक विषयों से संबंधित होने के मार्गों की दृष्टि से भिन्नता है। काव्य को तब धर्म कहा जाता है जब वह जीवन में अनुस्यूत हो जाता है और धर्म तब काव्य हो जाता है, जब वह जीवन पर सफल हो जाता है।[3] धार्मिक प्रतीक तीन प्रकार के होते हैं— १--दिव्य विषयों अथवा पदार्थों (आब्जेक्ट) के प्रतीक, २—पवित्र धार्मिक क्रियाओं के प्रतीक। प्रथम प्रकार के प्रतीकों को भी दो भागों में बाँटा जा सकता है—(१) देवता या ईश्वर के प्रतीक, (२) दिव्य गुणों (ऐट्रीब्यूट) के प्रतीक। ३—तीसरे प्रकार के धार्मिक प्रतीक दिव्य आदान-प्रदान अथवा कार्यों के होते हैं।[4] ये धार्मिक प्रतीक अधिकतर मनुष्य के अनुभवों के भीतर आनेवाले प्रायः सभी क्षेत्रों से लिये जाते हैं किंतु मुख्यतया वे प्रकृति और मानव प्रकृति के बीच के महान् और मूलभूत संबंधों से ही उनका ग्रहण होता है। 'मिथ' या पौराणिक कथाओं में ही इस प्रकार की प्रतिक्रियायें नाटकीय रूप में अभिव्यक्त मिलती हैं। इस प्रकार पौराणिक कथाओं से धार्मिक प्रतीकों की शब्दावली मुख्यतया गृहीत होती है। पौराणिक कथाएँ सामान्यतया वे कथाएँ कही जाती हैं जो सामान्यतया अतर्क्य और अविचारणीय चेतना से उद्भूत होती हैं तथा जिनमें प्रकृति की विभिन्न शक्तियाँ विभिन्न मानवीय अथवा अतिमानवीय कार्य करती हैं। नवीन व्याख्या के अनुसार ये शक्तियाँ प्रकृति की न होकर किसी सत्य अथवा तत्व (रियलिटी) की शक्तियाँ मानी जाती है। परमतत्व की रूपात्मक अभिव्यक्ति

---

[1] इं० रे० ए०, जे० हेस्टिंग्स, वा० १२, पृ० १४१–१४२।
[2] लैंग्वेज ऐंड रियलिटी—डब्ल्यू० एम० अर्बन, पृ० ४५६–४५७।
[3] वही, पृ० ४७०-४७१, ५७१-५७२।
[4] वही, पृ० ५८६।

को ही अब ईश्वर की नराकार (ऐन्थ्रोपोमार्फिक) कल्पना कहा जाने लगा है।[१] इन परिभाषाओं व्याख्याओं और विभेदों का केवल एक प्रयोजन यह था कि रहस्यवादी कविता में प्रतीकवाद और पौराणिक शैली का प्रयोग अनिवार्य है तथा उसमें धार्मिक प्रतीकों का सर्वाधिक उपयोग होता है। धर्म और रहस्यवाद के संबंध के विषय में यह पहले ही कहा जा चुका है कि संसार के प्रायः सभी उच्चतर धर्मों में रहस्यवाद का उदय हुआ है और रहस्यवाद का उदय प्रायः सूक्ष्मता और हार्दिकता से विमुख होने की प्रतिक्रिया में होता है। रहस्यवाद को हृदय का धर्म कहते हैं। इसलिये ऐसे काव्य में धार्मिक प्रतीकों का, जो काव्य में अधिक प्रयुक्त होते हैं, प्रयोग उचित और संगत है। हिन्दू धर्म ने अथवा हिन्दू धर्म के अन्तर्गत उदित होनेवाले विभिन्न साधन-संप्रदायों ने प्रतीकों का सर्वाधिक उपयोग किया है। यहाँ हमारा प्रयोजन भारतीय परंपरा में विकसित होनेवाले शैवों और वैष्णवों से, अथवा दूसरे शब्दों में, नाथों और संतों से है।

नाथों और संतों की प्रतीकयोजना का विचार स्वयं अपन में एक स्वतंत्र विषय हो सकता है। उन प्रतीकों की परम्परा ढूँढ़ निकालना तो और भी कठिन है तथा अत्यधिक विस्तृत ज्ञान और प्रयास की अपेक्षा रखता है। यहाँ कुछ प्रतीकों का विचार किया जा रहा है। इनका विस्तृत अर्थनिरूपण तो हम पहले ही भक्ति और योग के प्रसंगों में कर चुके हैं किंतु उनकी प्रतीकात्मक प्रकृति की पुनः एक बार व्याख्या कर देना चाहते हैं। नाथों और संतों के प्रतीकों का विभाजन तो उपर्युक्त प्रकार से किया ही जा सकता है किंतु उनके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि उनके प्रतीक दो प्रकार के हो सकते हैं:—१-स्वयं विशेष कवि द्वारा प्रयुक्त, २-पारम्परिक। पारम्परिक प्रतीक भी तीन प्रकार के हो सकते हैं—१—काव्यपरंपरा से गृहीत, २—लोकपरंपरा से गृहीत, ३—धार्मिक-सांस्कृतिक प्रतीक। स्वयं कवि विशेष द्वारा प्रयुक्त प्रतीकों में कवि का अपना जोवन विशेष रूप से प्रतिबिम्बित होता है। कबीर चर्खे का, दादू धुनकी का, पलटू तेल की धारा या महाजन के प्रतीक का अधिकतर प्रयोग करते हैं। ऐसे प्रतीक इनकी रचनाओं में इतनी अधिक मात्रा में प्रयुक्त हैं कि जैसे मालूम पड़ता है कि इनमें इन संत कावियों का पूरा साधनात्मक जीवन ही प्रतिबिम्बित हो रहा है। पारम्परिक प्रतीकों में काव्यपरम्परा से गृहीत प्रतीकों में व्याकुल आत्मा के लिये मीन, विरह-व्याकुल आत्मा के लिये कुररी, सेज पर विकल

---

[१] वही, पृ० ५८६-५८८।

शयन करनेवाली वधू आदि के प्रतीक प्रायः सभी संतों में मिल जाते हैं। उसी प्रकार अन्तःस्थ परम प्रियतम को न पहचाननेवाले व्यक्ति के लिये जंगल-जंगल घूमनेवाले कस्तूरीमृग आदि के प्रतीक काव्यप्रसिद्ध प्रतीक हैं। इसी प्रकार के और भी बहुत से प्रतीक शुद्ध काव्य की परम्परा से गृहीत हैं। किंतु कुछ ऐसे भी प्रतीक हैं जिनका प्रयोग केवल तत्कोटीय रचनाओं, बौद्ध सिद्धों और नाथों की रचनाओं में उपलब्ध है। उदाहरण के लिये सास, ससुर, माई, ननद आदि के प्रतीक हैं। माई माया के, सास चंचल श्वास आदि के प्रतीक के रूप में गृहीत हैं। योगसाधन से संबंधित विभिन्न प्रतीक भी पारम्परिक काव्य-परम्परा से ही गृहीत माने जाने चाहिएँ। विवाह, गौना आदि के प्रतीक लोकजीवन की परम्परा से ग्रहण किये गये हैं। आध्यात्मिक विवाह की प्रतीकात्मक कल्पना किसी न किसी रूप में विश्व के अधिकांश रहस्यवादी कवियों की रचनाओं में मिलती है किन्तु कबीर के तत्सम्बन्धी प्रतीक पूर्णतया भारतीय लोकजीवन से अनुप्राणित हैं। विवाह तो परमप्रियतम से परिचय है और गौना का कहीं-कहीं चित्रण मृत्यु अथवा इहलोक के त्यागके प्रतीकार्थ में है। धार्मिक और सांस्कृतिक प्रतीकों की परम्परा में संगम-स्नान त्रिकुटी या सरस्वती या सुषुम्ना में साधन करने के अर्थ में प्रयुक्त है। उसी प्रकार गंगा और यमुना के बीच 'मड़ई छवा कर' निवास करना मध्यम-मार्ग-साधन है यद्यपि सांवृतिक अर्थ है कुंभादि के अवसरों पर गंगा यमुना के बीच कल्पवास करना। इसी प्रकार और भी बहुत से प्रतीकों की व्याख्या हो सकती है। वस्तुतः ये प्रतीक संख्या में इतने अधिक हैं और इनमें भारतीय जीवन, परम्परा, संस्कृति, सभ्यता, धर्म, दर्शन इतने निगूढ़ तथा जीवन्त रूप में प्रस्तुत हैं कि उन सबको प्रस्तुत करना यहाँ संभव नहीं है।

अर्बन ने प्रतीकों के जो भेद बताये हैं, उनके आधार पर हम यहाँ नाथों और संतों के प्रतीकों का कुछ और परिचय उपस्थित करना चाहते हैं। दिव्य विषय अथवा पदार्थों के प्रतीकों में परमोपास्य अथवा उनकी शक्तियों से संबंधित प्रतीकों की गणना की जा सकती है। कबीर और गोरख दोनों ने, तथा अन्य संतों ने भी, राम, निरंजन, गोविंद, शून्य, खसम, आदि शब्दों का प्रयोग किया है। राम का प्रतीकार्थ देश और काल का व्यक्तिविशेष न होकर वह तत्व है जो देशकालातीत होकर संसार के सभी पदार्थों में रमण करता है। वह परमतत्व का वाचक हो गया है। उसी प्रकार गोविन्द शब्द भी है। सगुणवादी वैष्णवों ने इसकी परम रमणीय प्रतीकात्मक व्यवस्थाएँ दी हैं। निरंजन भी उसी का वाचक है किंतु बाद में इसके प्रतीकार्थ में ह्रास हो गया,

जिसकी व्याख्या पहले दी जा चुकी है। शून्य का अर्थ 'सर्वथा अभाव' नहीं है अपितु भारतीय परम्परा में इसके कई अर्थ विकसित हुए हैं जिनमें से अनेक अर्थ सद्भाव के द्योतक हैं। इनकी व्याख्या की जा चुकी है। खसम शब्द भी शून्य के कुछ अर्थों से साम्य रखता है और प्रेमास्पदवाचक है यद्यपि सांवृतिक अर्थ पति के लिये ही मिलता है। इस शब्द का नाथसाहित्य में प्रायः अभाव है। एक अन्य शब्द 'लाल' है जिसका प्रयोग कबीर साहित्य में उपलब्ध है। परम अनुरागमय प्रेमास्पद की अभिव्यक्ति इस प्रतीक से की गई है। नाथों में यह प्रतीक नहीं है। उसके दिव्य गुणों में अनन्तता एक दिव्य गुण है जिसको सागर और आकाश के प्रतीकों से व्यक्त करने की चेष्टा की गई है। ये दोनों ही प्रतीक पर्याप्त पुराने हैं। जल इनकी अपेक्षा अधिक प्राचीन दार्शनिक और साधनात्मक प्रतीक है। यह आदिकारणत्व, तरलता, सूक्ष्मता, सांसारिकता (भव) का प्रतीक है।

दूसरे प्रकार के प्रतीक धार्मिक क्रिया के वर्ग के हैं। धार्मिक क्रियाओं में नदीस्नान, मंदिरप्रवेश, विवाह, दीक्षा आदि हैं। नदीस्नान और विवाह के प्रतीकार्थ ऊपर दे चुके हैं। मंदिरप्रवेश का अर्थ साधनक्षेत्र में प्रवेश करना अथवा शरीर के भीतर के मंदिर में प्रवेश करना है। कबीर ने तथा अन्य संतों ने प्रायः मंदिर का तीन अर्थों में प्रयोग किया है। १—बाह्यमंदिर, जिसमें विभिन्न धातुओं की मूर्तियाँ रहती हैं। कबीरादि ने इसका खंडन किया है। २—शरीर, जिसमें उपास्य या देवता का निवास है। साधना के प्रसंग में प्रायः इसकी रक्षा का उपदेश मिलता है। ३—हृदय के अर्थ में, जिसमें देवता का ध्यान किया जाता है, उसको स्मरण किया जाता है। यह मानसी उपासना का स्थान है।[1] साधनक्रम में, धार्मिक क्रियाओं में, दीक्षाक्रम में गुरु शिष्य की परख उसी प्रकार करता है जिस प्रकार सोनार सोने की परख करता है। 'परख', पारखू, सिकलीगर आदि शब्द उसी दीक्षा की धार्मिक एवं साधनात्मक क्रिया की ओर संकेत करते हैं। दिव्य आदान-प्रदान के प्रतीकों में घन-वर्षा, अमृतरसपान, वंशीध्वनिश्रवण, सूर्यचन्द्र को ग्रहण लगना, धरणी का बरसना और गगन का भीग जाना, सरस्वती आदि की गणना की जा सकती है। इनमें अमृतसाधन, रससाधन और सरस्वतीसाधन का संबंध वैदिक प्रतीक परंपरा से, वंशीध्वनिश्रवण[2] का कृष्ण की रसमयी लीला से संबंध जोड़ा जा

---

[1] कबीरग्रंथावली—पृ० २३, ५८, ८७।

[2] संतकाव्य—पृ० ५२७।

सकता है। चन्द्र-सूर्य, गंगा-जमुना आदि की विस्तृत प्रतीकात्मक व्याख्या डा० प्रबोधचन्द्र बागची ने की है।[1] इन शब्दों की व्याख्या से इनका संबंध पौराणिक कथाओं से भी जोड़ा जा सकता है। इसी प्रकार और भी शब्दों का विचार किया जा सकता है—सास, ससुर, माई, पतिव्रता, सुहागिन, दुहागिन, जननी, कायागढ़ आदि। कुछ संत कवियों ने पौराणिक कथाओं को लेकर भी इस प्रतीकपद्धति और रहस्यवादी अभिव्यक्तियों को उपस्थित करने का प्रयास किया है। इस दृष्टि से दरियासाहब (बिहारवाले) का ज्ञानरत्न विशेष रूप से द्रष्टव्य है। किंतु इस प्रकार की पद्धति संतों में अधिक नहीं दिखाई पड़ती। नाथों की रचनाओं में भी इसका अभाव ही है। सृष्टिप्रक्रिया के वर्णन में भी कहीं-कहीं इस पौराणिक शैली के दर्शन होते हैं। इस प्रकार की पद्धति की बहुत अधिक उपयोगिता है। सूफी कवियों ने रहस्यकथन के लिये लोक-कथाओं का आश्रय लिया। कबीर आदि ने ध्रुव, प्रह्लाद आदि विभिन्न पौराणिक पात्रों के माध्यम से इस प्रकार का स्फुट प्रयास किया। बीजक में सृष्टि-प्रक्रिया के वर्णन की पद्धति पौराणिक प्रतीत होती है। इस शैली के प्रयोग की दृष्टि से संत साहित्य की विभिन्न रचनाओं की परीक्षा की जा सकती है। परवर्ती संत कवियों के ऊपर सूफियों की इस पद्धति का विशेष प्रभाव पड़ा था। नाथों में जहाँ इस प्रकार की पौराणिक कथायोजना का अभाव है, वहीं दूसरी ओर दाम्पत्यभाव संबंधी प्रतीकों का भी नितान्त अभाव मिलता है जो उनकी योग की मूल प्रवृत्ति के अनुकूल भी है। योगसाधन संबंधी प्रतीकों का पर्याप्त प्रयोग उन लोगों ने किया है और उस क्षेत्र में नाथों और संतों में पर्याप्त समानता भी है। साथ ही नाथों ने लोकजीवन से और काव्यपरम्परा से भी प्रतीकों का चयन नहीं किया। ऐसी स्थिति में उनकी रचनाओं में धर्म धर्म ही होकर आया है, काव्य का आवरण उसे नहीं मिला। पौराणिक कथाशैली में रचना मित्रवाक्यरचना है किंतु इसका उपयोग वे नहीं कर सके। उनकी रचनाओं में प्रभुवाक्यों की अधिकता है जिन्हें हम रहस्यवादी काव्य में स्थान नहीं दे सकते। रहस्यानुभूति पूर्णता की अनुभूति है। आन्तरिक और बाह्य, आध्यात्मिक और आधिभौतिक जीवन की एकत्र पूर्णता रहस्यजीवन में दिखाई पड़ती है। इस पूर्णता में काव्य और जीवन पूर्ण समन्वित रूप में दिखाई पड़ते हैं। जहाँ तक रहस्यवादी भाषा और शैली का प्रश्न है संतों का काव्य पूर्ण रहस्यवादी काव्य है किंतु लौकिक शुद्ध काव्य की पूर्णता उनमें नहीं दिखाई पड़ती। शुद्ध लौकिक काव्य की दृष्टि से आगे विचार किया गया

---

[1] स्टडीज इन दि तंत्रज—प्रथम भाग, डा० प्रबोधचन्द्र बागची, सूर्यचंद्र आदि शब्दों पर लेख।

है। आध्यात्मिक और लौकिक काव्यों का एकत्र उत्कर्ष संत कवियों में प्रायः अनुपलभ्य है। सुन्दरदास (छोटे) की पूर्णता इस संबंध में बेजोड़ है। रहस्यवादी काव्य की कुछ और विशेषताओं का परिचय आवश्यक है।

बौद्ध सिद्धों, नाथों और संतों की रचनाओं में एक विशेष प्रकार की शैली अथवा रहस्यवादी भाषा का प्रयोग मिलता है जिसे बहुत प्राचीन काल से ही 'संधा भाषा' कहा जाता रहा है। अपने 'तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य' नामक ग्रंथ में हमने विस्तार से इस 'भाषा' पर विचार किया है और उसे भारतीय परम्परा से अनुप्राणित प्रदर्शित करने की चेष्टा की है। संधा भाषा में भी दो प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं। सादृश्यमूलक अलंकारविधानयुक्त तथा वैषम्यमूलक अलंकारविधानयुक्त। इनमें भी तांत्रिक पद्धति का प्रभाव दिखाया गया है। वैषम्य और विरोधाभासमूलक रचनाओं को 'उलटबाँसी' कहा जाता है।[1] उलटबाँसी के ऊपर डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने विस्तार से विचार किया है। उनका मत भी इस संबंध में देखा जा सकता है। उन्होंने बतलाया है कि संपूर्ण साधनात्मक जीवन और दर्शन में सांसारिक से विपरीत प्रक्रिया अथवा पद्धति को स्वीकार करने के कारण ही उनकी शैली इस प्रकार की हो गई है। नाथों के दर्शन और साधनात्मक आदर्श में ही इसके मूल विद्यमान हैं। उन्होंने हठयोगप्रदीपिका, शिवसंहिता, घेरण्डसंहिता आदि ग्रंथों में उपमान रूप में प्रयुक्त भ्रमर, मत्त गजेन्द्र, सिंह, गज, व्याघ्र, बिल, शिकारी, कल्पलता, सूर्य, वरुण, गंगा, चंद्र, यमुना, असी, शून्यपदवी, राजपथ, ब्रह्मरन्ध्र, महापथ, श्मशान, शाम्भवी, मध्यमार्ग, ब्रह्मनाड़ी, सरस्वती, कुटिलांगी, भुजंगी, शक्ति, ईश्वरी, कुण्डली, अरुन्धती, बालरण्डा, सोमरस, अमरवारुणी, त्रिवेणी, शून्य, कमल, कूप, गगन आदि शब्दों का संग्रह कर उनकी व्याख्या की है। वस्तुतः ये प्रतीक हैं और अधिकांशतः धार्मिक और साधनात्मक परम्परा से गृहीत प्रतीक हैं जो क्रमशः उपमा से विकसित होकर प्रतीक की स्थिति तक पहुँच गये हैं। उन्होंने सांकेतिक शब्दों (प्रतीकों) के अभिप्रायों को विभिन्न सांप्रदायिक टीकाओं के आधार पर खोलने की चेष्टा की है।[2] पं० परशुराम चतुर्वेदी ने 'उलटबाँसी' शब्द के अनुमित अर्थ को प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। उन्होंने वैदिक साहित्य तक में इसकी प्रयोगपद्धति के स्रोतों को खोज निकाला है। नाथों ने इसी प्रकार की शैली के लिये 'उलटी चरचा',

---

[1] तान्त्रिक बौद्ध साधना और साहित्य—पृ० २९८–३१४।

[2] कबीर—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ८०—९४।

'अमृतवाणी', 'सिद्धसंकेत', आदि शब्दों का प्रयोग अपनी हिन्दी रचनाओं में किया है।[1] सिद्धसंकेत जैसे शब्द नाथों की संस्कृत रचनाओं में भी मिल सकते हैं। इस प्रकार की रचनाओं में ऐसे ज्ञान अथवा अनुभूतियों का वर्णन रहता है जो शास्त्रज्ञान अथवा शास्त्रपाठ, तर्क, वाद-विवाद आदि से उपलब्ध नहीं हो सकतीं; इसीलिये प्राय: बौद्ध सिद्धों, नाथसिद्धों और संतों ने पोथी के पंडितों को ऐसी रचनाओं के अर्थ समझने-समझाने के लिये ललकारा है। इस प्रकार के गुह्य और रहस्यमय विषयों को ध्यान में रख कर पं० परशुराम चतुर्वेदी ने कबीर साहब की उलटबाँसियों का पाँच वर्गों में विभाजन किया है। जैसे—१—जिनमें सांसारिक, भ्रम, प्रपंच, व्यवहार के विषय हैं तथा वे जो कबीर साहब की व्यक्तिगत समस्याओं की चर्चा करती हैं। २—जिनमें साधनात्मक रहस्यों का परिचय पाया जाता है। ३—जिनमें ज्ञानविरह, सहजानुभूति, अथवा आध्यात्मिक जीवन का वर्णन रहा करता है। ४—जिनमें आत्मज्ञान, माया, काल, सृष्टि एवं मन जैसे विषयों का परिचय दिया गया है। ५—जिनके द्वारा कबीर साहब सर्वसाधारण को किसी न किसी रूप में अपना संदेश देते जान पड़ते हैं।[2] चतुर्वेदी जी ने कबीर की अनेक उलटबाँसियों की व्याख्या कर विभिन्न प्रतीकों का अर्थनिरूपण किया है। अन्य संतों की उलटबाँसी की चर्चा करते हुए यह बताया गया है कि इस प्रकार की रचनाएँ अन्य परवर्ती संतों में भी मिलती हैं। संत सुन्दरदास ने ऐसी रचनाओं का नाम 'विपर्यय' दिया है। शिवदयाल ने 'उल्टी' तथा तुलसी साहब ने 'उलटी रीति' आदि कहा है। वस्तुत: यह प्रवृति बहुत विस्तृत क्षेत्र में मिलती है।[3]

वस्तुत: नाथों और संतों की उलटबाँसी और प्रतीकात्मक शब्दों के ऊपर विद्वानों ने बहुत कार्य किया है जिनमें डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, परशुराम चतुर्वेदी, पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव आदि ने इस पर विस्तार से विचार किया है। इन विवेचनों के उद्धरण-पिष्टपेषण की आवश्यकता नहीं है। जहाँ तक उलटबाँसियों का प्रश्न है, नाथों और संतों में पर्याप्त समानता है किंतु समतामूलक या सादृश्यमूलक अलंकारप्रधान रचना-शैली में दोनों में कुछ खास बातें मिलती हैं—१-नाथों के प्रतीक संतों के समान विस्तृत लोकजीवन से गृहीत नहीं हैं। २-नाथों की रूपकयोजना सांग, पुष्ट

---

[1] कबीर साहित्य की परख, पृ० १५०-१६१।

[2] वही, पृ० १६१-१६२।

[3] वही, पृ० १६३-१८१।

और सूक्ष्म नहीं है यद्यपि परम्परागत पिण्डब्रह्माण्डवाद संबंधी विचारों के प्रभाव से नाथों और संतों के तत्कोटीय कायागढ़ आदि के वर्णन में पर्याप्त समानता मिलती है। ३—अन्तस्साधना, आन्तरिक जीवन, रहस्यसाक्षात्कार, परावर्तित जीवन के विभिन्न पक्षों की अभिव्यक्ति दोनों में मिलती है किंतु संतों के इस प्रकार के वर्णनों में भावना का जो वेग दिखाई पड़ता है, वह नाथों में नहीं है। नाथों में प्रतीकपद्धति से केवल विचारकथन मात्र मिलता है। अमर चर्चा, उलटी चर्चा, सिद्ध संकेत आदि शब्द वस्तुतः परावर्तित जीवन की अभिव्यक्ति की ओर संकेत करते हैं। ४—संख्यात्मक शब्दों के प्रयोग दोनों में समान रूप से मिलते हैं। वे कहीं भी प्रत्युक्त हों उनके शब्दों में प्रायः स्पष्टता रहती है। सन्तों ने संख्यात्मक-प्रतीकात्मक शब्दों का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक किया है। ५—गोरखनाथ की रचनाओं में यद्यपि उलटबाँसी प्रकृति की रचनाएँ अधिक हैं किंतु अन्य परवर्ती नाथों में ऐसी प्रवृत्ति बहुत कम दिखाई पड़ती है। वह प्रायः नहीं के समान है। परवर्ती संतों ने इस प्रकार की शैली का परित्याग नहीं किया।

इस प्रकार की शैली का, जिसमें सामान्य जनों को केवल चमत्कारप्रदर्शन की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है, प्रयोग लोग काव्योचित नहीं मानते किंतु इस प्रकार की शैली की रचनाएँ संपूर्ण रहस्यवादी साहित्य में ही नहीं मिलतीं अपितु शुक्ल जी द्वारा स्वीकृत सूरदास के अरहस्यवादी साहित्य में भी मिलती हैं। वस्तुतः यह मध्ययुगीन साधनात्मक, धार्मिक, रहस्यवादी साहित्य की प्रवृत्ति थी जिसका पालन हिन्दी के विभिन्न कवियों ने किया। किंतु इस प्रकार की शैली अलंकारविहीन नहीं होती। यद्यपि ऐसी रचनाएँ वैसी गोपनीय नहीं मानी गई हैं जैसी बौद्ध सिद्धों की, और न उन्हें उसी प्रकार गोपनीय रखने का उपदेश ही मिलता है तथापि शैली में अन्तर नहीं आया। सामान्य साधनमार्ग के उद्घाटन और सहज-सरल बनाने की आवश्यकतावश इस प्रकार का बंधन लगाना उचित भी नहीं था। रचनाओं का, उनकी विषय वस्तु का, उनकी शैली का स्तर वही रखा गया और सबके लिये द्वार उसी प्रकार उन्मुक्त कर दिया गया जिस प्रकार भक्ति का द्वार सबके लिये मुक्त था। हम कह चुके हैं कि "इस प्रकार की शैली में रूपक, उत्प्रेक्षा, अन्य सादृश्यमूलक अलंकारों, विपरीत लक्षणा, विपर्यय, विरोधाभास आदि का बहुलता से प्रयोग मिलता है।[1] बौद्ध सिद्धों ने किसी आध्यात्मिक भाव, अवस्था, सिद्धान्तविशेष के लिये लोक-जीवन से किसी न किसी वस्तु, प्राणी या क्रिया विशेष को चुन लिया था और फिर उसी के व्याज से अपने संपूर्ण सिद्धान्त, साधना अथवा अनुभव का वर्णन

किया था। इस प्रकार परोक्ष सिद्धान्तों के लिये जिन प्रत्यक्ष वस्तुओं का चयन कर उनके माध्यम से परोक्ष को भी प्रत्यक्ष करने का प्रयत्न कियागया है, उन्हें प्रतीक मान लिया गया है।[१] पं० परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार "उलटबाँसी द्वारा, किसी को व्यर्थ भुलावा न देकर, उससे भरसक वर्ण्यविषय की ओर आकृष्ट किया जाता है जिसका उद्देश्य विनोद न होकर उसे सजग और सचेष्ट करना रहता है।" इसी प्रकार पहेली में वर्ण्यविषय के रूप-रंग आकार-प्रकार अथवा गुण, स्वभाव आदि का श्लेषात्मक संकेत रहा करता है जिसके सहारे उसके मूल की खोज करनी पड़ती है किंतु उलटबाँसी में श्लेष से कहीं अधिक काम पारिभाषिक शब्दों से लिया जाता है और इसमें बाह्य संकेतों का भी अभाव रहता है।"[२] उन्होंने यह बतलाया है कि कबीर-दास की कुछ उलटबाँसियाँ तो केवल प्रतीकों पर अथवा पारिभाषिक शब्दों पर आश्रित हैं किंतु कुछ का संबंध ऐसे अलंकारों के साथ जुड़ा हुआ है जो अधिक असंगति, विषम, विरोध, विभावना, रूपक, विशेषोक्ति, और अति-शयोक्ति जैसे नामों द्वारा प्रसिद्ध हैं और शेष में इन दोनों का सम्मिश्रण पाया जाता है।[3] उन्होंने संतों और नाथों की उलटबाँसी का जो विवेचन किया है उसके निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि—१—संधाभाषा का प्रयोग प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण ग्रंथों में मिलता है। २—तांत्रिक रचनाओं में अपनी साधनाओं को गुप्त रखने के लिये रहस्यमयी भाषा का प्रयोग किया जाता था। ३—बौद्ध सिद्धों के चर्यापदों में भी इनके उदाहरण मिलते हैं। ४—इस वर्णनशैली का सादृश्य संतों में मिलता है। ५—यह सादृश्य नाथपंथियों के द्वारा संतों तक पहुँचा जान पड़ता है। ६—कबीर की बहुत सी उलटबाँसियों की समानता गोरखनाथ की उलटबाँसियों से सिद्ध की जा सकती है। ७—अन्य परवर्ती संतों में भी इनका प्रयोग मिलता है। ८—इस शैली में अनेक अलंकारों का प्रयोग मिलता है।[४] ९—विपर्यय-प्रधान शैली में गोपनीयता की भावना नाथों और संतों में विद्यमान थी, इस पर मतभेद की संभावनाएँ हैं।

सामान्यतया शुद्ध काव्य का विवेचन करते समय अलंकारों का निरूपण

[१] तां० बौ० सा० सा०, पृ० ३००, ३०९।
[२] कबीर साहित्य की परख—पृ० १६०।
[3] वही, पृ० १६०-१६१।
[४] संत काव्य भूमिका, पृ० ९६-१०३।

आवश्यक माना जाता है। कहा गया है, अपनी रहस्यानुभूतियों का वर्णन करते समय संतों ने तथा नाथों ने विभिन्न साम्य-वैषम्यमूलक अलकारों का प्रयोग किया है। इस दृष्टि से अलंकारों का विवेचन करनेवाले विद्वानों का मत है कि संतों ने अधिकतर अर्थालंकारों का प्रयोग किया है। अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष में उपलब्ध रहस्यानुभूति को मूर्त रूप देने के लिये प्रतीकों, पौराणिक शैली, अलंकारों के प्रयोग उनके लिये अनिवार्य थे। संतों ने रूपक, विभावना अन्योक्ति, उदाहरण, अर्थान्तिरन्यास, दृष्टान्त, तुल्ययोगिता, एकावली, काव्य-लिंग, उपमा, अनन्योपमा, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास, विचित्र, विषम, व्यतिरेक कारणमाला, क्रम, परिणाम, भदेकातिशयोक्ति, लोकोक्ति आदि अर्थालंकारों का प्रयोग किया है किन्तु इनमें से उन लोगों ने सर्वाधिक प्रयोग रूपक का किया है। यही इनका सर्वाधिक प्रिय अलंकार है। इसके अतिरिक्त दृष्टांत, विभावना और उदाहरण अलंकारों के अधिक प्रयोग मिलते हैं। शब्दालंकारों मे अनुप्रास, यमक, वीप्सा आदि हैं।[1] संत सुन्दरदास (छोटे) अलंकारप्रयोग में अति कुशल हैं। यों सामान्यतया संत-नाथ कवियों को अपढ़ और अशिक्षित कहा जाता है और जैसा आगे कहा गया है, यद्यपि काव्यरचना के लिये काव्यरचना उनका उद्देश्य नहीं था तथापि उनकी रचनाओं में अलंकार अनायास ही आ गये हैं किंतु संत कवि सुन्दरदास तो विद्वान् थे तथा काव्यकला के पण्डित थे। उनकी रचना में भी अलंकार परिश्रमपूर्वक लाये गये थे ऐसा नहीं कहा जा सकता। यत्नज अलंकृत रचना में एक प्रकार का बोझ मालूम पड़ता है, कृत्रिमता मालूम पड़ती है। संत कवियों में सुन्दरदास की रचना सर्वाधिक सहज और सरल है फिर भी अलंकारहीन नहीं है। पुरोहित हरिनारायण शर्मा ने भी इसी बात को स्वीकार कर कहा है—"सुन्दरदास जी की कविता में अलंकारों की कमी नहीं है। यद्यपि अलंकार का अपने काव्य में बलात् प्रवेश करना ग्रंथकर्ता का अभिप्राय नहीं था, जैसा कि शृंगारी वा अन्य मनुष्य-प्रसन्नकारी कवि अलंकारों को, येन-केन उपायों वा प्रयत्नों से, अपने काव्य में घुसाकर अपनी रचना को सुशोभित करते ही हैं।" "वे स्वाभाविक कवि थे।" अर्थालंकार और शब्दालंकार दोनों ही उनकी रचनाओं में उपलब्ध हैं। उन्होंने छत्रबंध, कमलबंध, नागबंध, सर्पबंध जैसे चित्रकाव्यों का भी निर्माण किया था।[2]

---

[1] संत काव्य भूमिका, पृ० ७६-९४।

[2] सुंदर ग्रंथावली, प्रथम खंड, भूमिका, पृ० ११६-१२३।

हम यह पहले कह चुके हैं कि संवेगात्मक रहस्यवादी काव्य का मुख्य तत्व प्रेम है। रहस्यवादी का मुख्य साधन ही प्रेम है। जब प्रेम आध्यात्मिक प्रेम-प्रतीकों द्वारा व्यक्त होता है तो वर्णन तो वह सामान्य प्रेम का होता है किन्तु उसका लक्ष्य आध्यात्मिक प्रेम ही रहता है। इस दृष्टि से यदि विचार करें तो संतों में प्रेमवर्णन का आधिक्य होना चाहिए। प्रेम और सौन्दर्य जब सामान्य भूमिका पर वर्णित होते हैं तो उन्हें हम शृंगाररस के अन्तर्गत ही ग्रहण करते हैं। इसमें भी दांपत्यभाव की प्रधानता रहती है। इसमें भी यौवन, सौन्दर्य, प्रेम, विरह, संयोग के मादक वर्णन मिलते हैं। अतः उसे शृंगार के अन्तर्गत ग्रहण किया जाता है। सामान्य व्यक्ति यदि इन रचनाओं को संतों की वाणी न समझकर पढ़े तो उसे वह कभी-कभी उत्तान शृंगार का काव्य समझ बैठेगा। किंतु वास्तविक बात यह है कि उत्तम काव्य में रस वाच्य नहीं होता। व्यंग्य होता है। उत्तम काव्य सदैव सहृदयहृदयसापेक्ष होता है। हृदय का विस्तार जितना ही अधिक होगा उसे रसानुभव उतना ही होगा। कहना यह है कि संतों की प्रेममूलक रचनाएँ सामान्य शृंगार की रचनाएँ नहीं हैं। उसे दिव्य शृंगार कहा जा सकता है। यह दिव्य शृंगाररस ही उज्वलरस है जिसकी शास्त्रीय मीमांसा बहुत से भक्ति के आचार्यों ने की है। भक्ति के प्रसंग में इसका विस्तार से विचार किया गया है। कबीर के नाम से प्रसिद्ध दो पदों को ध्यान से देखने से बात स्पष्ट हो जायगी। एक स्थान पर कबीर ने पति के आगमन पर संयोग शृंगार का वर्णन किया है। यहाँ जो वर्णन है, वह स्वकीया पतिव्रता और सौभाग्यवती का वर्णन है यद्यपि उसमें व्याकुलता परकीया की है। कबीर पूर्ण मादक यौवन की अवस्था में राम जैसे पति को प्राप्त कर अति प्रसन्न होते हैं, अपने को सौभाग्यशाली समझते हैं तथा विवाह का पूरा सात्विक वातावरण उपस्थित कर देते हैं। इसी प्रकार अन्यत्र बहुत दिनों के बाद प्रियतम के आगमन पर जिस संयोग-सुख, सौभाग्यसुख की उपलब्धि करते हैं, वह सामान्य नारी के आनन्द से विलक्षण है। वे प्रिय को बरजोरी कर जाने भी नहीं देते।[1] इसी प्रकार कबीर का एक दूसरा पद है जिसकी प्रथम पंक्ति सुनकर ही व्यक्ति कुछ अन्य भावना कर सकता है, यदि उसे यह न मालूम हो कि यह कबीर का पद है—

साईं बिन दरद करेजे होय।

दिन नाँहि चैन रात नाँहि निंदिया, कासे कहूँ दुख होय।

---

[1] कबीर ग्रंथावली—पृ० ८७, पद १–३।

आधी रतियाँ पिछले पहरवा, साईं बिन तरस रही सोय।
कहत कबीर सुनो भाई प्यारे, साईं मिले सुख होय।

इसी प्रकार के और भी बहुत से पद उपस्थित किये जा सकते हैं।[१] किंतु कबीर की साखियों और कुछ पदों में जिस प्रकार के विचार और भाव व्यक्त हैं, वे यद्यपि प्रेम का निरूपण तो अवश्य करते हैं तथापि उनमें उपदेशात्मकता अधिक है। यही बात अन्य संतों की रचनाओं में भी उपलब्ध है। पलटू का प्रेम जोगी के प्रति इतना प्रगाढ़ और रंजित है कि उसके पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे किसी 'जोगी' के लिये कोई 'जोगिन' बन गई हो—

प्रेम बान जोगी मारल हो, कसकै हिया मोर ।।टेक।।
जोगिया कै लालि लालि अँखिया हो, जस कँवल के फूल।
हमारी सुरुख चुनरिया हो, दूनो भये समतूल ।।१।।[२]

विभिन्न साखियों के उपदेशों को देखते सम्पूर्ण संत साहित्य में उज्वल भक्तिरस अथवा दिव्य श्रृंगार रस को अंगी भाव से स्वीकार करने में कठिनाई हो सकती है। किंतु यदि हम भक्ति को पूर्वोक्त सिद्धान्तों के आधार पर एक रस मानें जिसमें अलौकिक पात्रों—परमात्मा, देवता अथवा गुरु के प्रति रति स्थायी भाव के रूप में स्वीकार किया जाय तो अंगी स्थायी भाव रति के अनुसार ही हम उसे भी अंगी रस मान सकते हैं। हमने पहले ही यह प्रदर्शित करने की चेष्टा की है कि संतों का मुख्यभाव अथवा प्रवृति भक्ति है। ऐसी स्थिति में फिर अन्य रस, साधनक्रम में योग, ज्ञान, और भक्ति (प्रेमाभक्ति) के अनुसार ही, अंग रस के रूप में स्वीकार किये जा सकेंगे। इसका प्रमाण तो यह भी है कि कबीरादि संत भक्ति और भगवान् को चाहते हैं, दुःख से अथवा प्रपंच से शांति नहीं चाहते। उनकी दृष्टि में प्रपंचमुक्ति अथवा दुःखनिवृत्ति, भगवदुपलब्धि अथवा भक्ति की उपलब्धि से स्वभावतः हो जाती है। वे सारे संसार से वैराग्य, विरति नहीं चाहते अपितु अपने प्रपंचोन्मुख मन को उन्मन कर देना चाहते हैं, फिर भी संसार छोड़ कर बन में नहीं जाना चाहते। किंतु अन्य विवेचकों के मंत इससे भिन्न हैं।

पं० परशुराम चतुर्वेदी ने संतकाव्य को स्वभावतः शांतरसप्रधान माना

---

१ कबीर—डा० द्विवेदी, पृ० २५८ पद ३५, पृ० २६६ पद ५२, पृ० ३२९ पद १७३।

२ संतकाव्य—पृ० ५१८ पद ३

है। दूसरा स्थान उन्होंने उस श्रृंगाररस को दिया है जो अधिकतर मधुररस के रूप में ही दीख पड़ता है। शेष रस, जैसे वीर, वीभत्स, अद्‌भुत के भी उदाहरण पर्याप्त मात्रा में संतसाहित्य में मिलते हैं। उनके अनुसार करुण, हास्य, रौद्र तथा भयानक का प्रायः अभाव है। विभिन्न उलट-बाँसियों को उन्होंने अद्‌भुत रस के उदाहरणों में माना है।[१] चतुर्वेदी जी ने किसी रस को क्यों प्रधानता दी है और शेष रसों को गौण स्थान दिया है, इसके कारणों को उपस्थित नहीं किया है। अतः उनके मत को स्पष्ट रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार पुरोहित हरिनारायण शर्मा ने भी सुन्दरदास (छोटे) की रचनाओं को शांतरसप्रधान माना है। इस शांत-रस में ही उन्होंने अन्य रसों की भी स्थिति मानी है। शांतरस वहाँ फल-रूप है। विभिन्न स्थलों पर श्रृंगाररसमय शांतरस, वीररसमय शांतरस का निरूपण किया है।[२] इस संपूर्ण विवेचन पर यदि विचार कर देखा जाय तो निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि संतों के पदों में ज्ञान और प्रेम के वर्णन पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। उसी प्रकार सुन्दरदास के सवैयों में भी इनका वर्णन है। प्रत्येक कवि में अलग-अलग रसों की प्रधानता हो सकती है। सुन्दरदास (छोटे) की रचनाएँ ज्ञानप्रधान अवश्य हैं। उनमें प्रेम की वह व्याकुलता उपलब्ध नहीं जो कबीर और पलटू में दिखाई पड़ती है। इसके कारण भी हैं। वस्तुतः कबीरदास का अभ्युदय संत साहित्य के प्रारंभिक युग में हुआ था। इससे भिन्न सुन्दरदास (छोटे) का काल मध्ययुग का उत्तरार्द्ध है जिसमें शास्त्रीय चर्चा, शास्त्रनिरूपण, पंथव्यवस्था आदि प्रधान हो गये थे। पलटू का युग कबीर आदि अनुभूतिप्रधान संत कवियों की ओर परावर्तन का आधुनिक काल है। इसे देखते यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि संपूर्ण संत साहित्य में किस रसविशेष का प्राधान्य रहा। किंतु यह निश्चित है कि भक्तिरस या माधुर्यरस की धारा क्षीण अथवा पृथुल भाव से संपूर्ण संत साहित्य में प्रवाहित रही है जिसके साथ दूसरी धारा शांतरस की थी जिसका मूलस्रोत ज्ञान था। कभी किसी कवि में शांतरस और किसी कवि में माधुर्यरस का उत्थान देखा जा सकता है।

सामान्यतया नाथों की वाणियों में रस और अलंकार का विवेचन करते समय लोगों को निराश होना पड़ता है किंतु यदि रस की दृष्टि से विचार

---

[१] संत काव्य—भूमिका, पृ० ६६, ७५-७६।

[२] सुन्दर ग्रंथावली, भूमिका, पृ० ९८, १०६, १०८, ११०।

किया जाय तो गोरख के कुछ पदों में शांतरस की झलक मिल सकती है। रस के लिये राग असावरी के अन्तर्गत संगृहीत एक पद देखा जा सकता है—

तुझ परि वारी हो अणघड़ीया देवा।
घड़ी मूरति कूं सब कोइ सेवै, ताहि न जांणै भेवा ।।टेक।।
तूं अविनासी आदू कहिए, मोहि भरोसा पडीया।
सब संसार घड़्या है तेरा, तू किनहूँ नहिं घड़ीया ।। १ ।।
दस औतार औतिरिया तिरिया, बै पणि राम न होई।
कमाई अपणी उनहूँ पाई, करता औरै कोई ।। २ ।।
तू पूरण ब्रह्म पुरुष प्रिथमी का, सूरति मूरति सारा।
श्रवणां सुण्यां न नैनां देष्या, तेरा घड़णैं हारा ।। ३ ।।
तूं तौ आप आप तैं हूवा, तूं देष्यां उजियारा।
गोरष कहै गुरु कै सबदां तूं हो घड़नै हारा ।। ४ ।।[1]

इस पद में शांतरस अथवा भक्तिरस का सांग निरूपण करना कठिन है किंतु परिवर्तनशील अनित्य संसार से विरक्ति तथा नित्य, सृष्टिकर्ता, पूर्ण, सर्वव्यापक के प्रति अनुरक्ति का भाव इस पद में स्पष्ट है। अंतिम चरणों में विस्मय का भाव है। जिस प्रकार संतों की उलटबाँसियों में अद्‌भुत का दर्शन लोग करते हैं, उसी प्रकार नाथों की उलटवाँसियों में किया जा सकता है।[2] नाथों की रचनाओं में भी यत्र-तत्र अलंकार के दर्शन हो सकते हैं। रहस्यवादी रचना होने के कारण इनकी वाणियों में प्रतीकपद्धति का प्रयोग मिलना स्वाभाविक है। प्रतीकों का विकास उपमा और रूपक से होता है। कामिनी को बाघिन, शुक्र को रत्न, आत्मा को गाय आदि प्रतीक रूप में ही कहा गया है। तत्वबेलि का सांग रूपक में वर्णन भी यह बतलाता है कि उनकी रचनाओं में अलंकारों का पूर्ण अभाव नहीं है।[3] इसी प्रकार अन्य नाथों की रचनाओं में ये रस और अलंकारादि संबंधी मान्यताएँ देखी जा सकती हैं। ज्ञानयुक्त भक्तिरसप्रधान संत कवियों के समान नाथपंथियों की रचनाएँ भी रस और अलंकार की दृष्टि से परखी जा सकती हैं। यद्यपि भक्तिभाव के संकेत यत्र-तत्र नाथों की रचनाओं में भी उपलब्ध हैं तथापि उनके आधार पर भक्तिभाव एवं रस का पूर्ण निरूपण कठिन है। सामान्य-

---

[1] गोरखबानी—पृ० १५४ पद ५८।
[2] वही, पृ० १४१-१४२ पद ४७।
[3] वही, पृ० १०६-१०८ पद १७।

तया विवेचक नाथों की रचनाओं में रस-अलंकारादि के परीक्षण को व्यर्थ का परिश्रम ही मानते हैं।

इसी प्रकार नाथों और संतों की रचनाओं में छंद और संगीत का भी विचार किया जा सकता है। छंदों का विचार करते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि नाथों ने काव्यरचना के लिये छंदों का प्रयोग नहीं किया। अभिव्यक्ति और गायन के समय जब जो छंद जिस रूप में लय-ताल-स्वर में बैठ जाय, वही उन्हें स्वीकार था। दूसरी बात यह है कि इनकी रचनाओं का कोई भी प्रामाणिक संपादन अभी तक उपलब्ध नहीं है। जो रूप उपलब्ध है उनमें पाठभेदों की मात्रा अधिक है। किसी प्रामाणिक प्राचीन हस्तलेख की उपलब्धि नहीं हो सकी है। श्रुतिपरंपरा से एकत्रित एवं लिखित ये रचनाएँ छंदशास्त्र के वैज्ञानिक परीक्षण के साँचे में बड़ी कठिनाई से आ सकती हैं। हिन्दी के प्राचीन छंदों के विकास में अधिक परिश्रम करने पर संभव है कुछ नवनीत मिले किन्तु उसमें भी कुछ रचनाओं की अप्रामाणिकता के कारण किसी निश्चय पर पहुँचने में कठिनाई बनी रहेगी। फिर भी कुछ प्रयास किया जा रहा है।

नाथपंथी रचनाओं में प्राय: अधिक मात्रावाले छंदों का ही प्रयोग किया गया है। २२, २४, २६, २८, ३०, ३२, ३६ मात्रा के छंदों की संख्या अधिक है। गोरख ने प्राणसंकली में चौपाई का प्रयोग किया है। सबदी में १६+१६ के चार चरणोंवाले कई छंद मिलते हैं। उन्होंने सबदी में १३+१५=२८, १३+१६=२९, १४+१२=२६, १६+१२=२८, १५+१५=३० मात्रा-वाले छंदों का प्रयोग अधिक किया है। इनमें सर्वाधिक प्रयोग १६+१२=२८ मात्रावाले छंदों का प्रयोग हुआ है जिसे सार छंद कहा जा सकता है। इसी प्रकार २८ मात्रा के एक अन्य छंद १३+१५=२८ का यतियों के साथ प्रयोग हुआ है।[१] इसी प्रकार नाथों द्वारा प्रयुक्त अन्य छंद हैं-- रोला, कुण्डल, चौपाई, सोरठा, दोहा, आदि। इनकी मात्रागणना में भी सबसे अधिक कठिनाई लघु और दीर्घ की है। शब्दों के विभिन्न पाठों में लघु-दीर्घ का कोई विचार नहीं किया गया है। विभिन्न पाठभेदों को मिला-कर जब एक छंद ठीक कर लिया गया और उसे पढ़ने में भी प्रवाह में अवरोध न हो तो उनके छंदों का कुछ विचार संभव हो सकता है। गोरक्ष के अतिरिक्त अन्य नाथपंथियों ने १०+१४, १३+११, २०+२६, १२+१०, १५+१५,

[१] वही, पृ० १ स० १, पृ० ९ स० २३। वही पृ० ६० स० १७६।

१२+११, ११+१३ की यति और मात्रावाले छंदों का अधिक प्रयोग किया है। केवल मात्रागणना कर लेने पर विभिन्न स्थल ऐसे हैं जहाँ छंद का एक लक्षण मिलता है तो दूसरा नहीं मिलता। पिंगल की दृष्टि से नाथों की रचनाओं से बड़ी निराशा होती है।

संतों की रचनाओं में छंदों के प्रयोग में अपेक्षाकृत अधिक स्थिरता दिखाई पड़ती है। कबीर ने अपनी भिन्न-भिन्न रचनाओं में भिन्न-भिन्न छंदों का प्रयोग किया है—साखियों में दोहा, दोही, सोरठा, चौपाई, श्याम, उल्लास, हरिपद, गीता, सार, छप्पै छंदों का; पदों में दोहा, सरसी, शुभगीता, रूपमाला, ताटंक, विष्णुपद आदि का; रमैनियों में दोहा-चौपाई का, बावनी में दोहों के अतिरिक्त अन्य छंदों का भी प्रयोग किया है। श्री अगरचंद नाहटा के अनुसार बावनी साहित्य के छंद हैं—दोहा, सवैया, कवित्त, छप्पय, कुण्डलिया। इसी प्रकार ग्यान चौतीसा में चौपाई, चाँचर में दोहा तथा १७+८ और १५+८ मात्रावाले छंदों का, हिंडोल में रूपमाला का, ककहरा में १६+१४ मात्रावाले किसी छंद का, बेलि में उपमान का, विरहुली में किसी २७ मात्रा-वाले छंद का तथा विप्रमतीसी में चौपाइयों का प्रयोग मिलता है।[१] सुंदरदास ने संतकवियों में संभवत: सर्वाधिक प्रकार के छंदों का प्रयोग किया है। उनकी सर्वाधिक कुशलता सवैया और कवित्त में व्यक्त हुई है। उन्होंने सवैया के किरीट, बीर, केतकी आदि अनेक रूपों का प्रयोग किया है। कुण्डलिया और मनहर कवित्तों में उनकी रचना सफल है। इसी प्रकार त्रिभंगी बरवै, झूलना आदि में भी रचनाएँ की हैं।[२] पुरोहित हरिनारायण शर्मा के अनुसार सुंदरदास (छोटे) ने कुल ५२ प्रकार के छंदों में रचना की है।[3] इसी प्रकार अन्य संतकवियों में से पलटू और दीनदरवेश की कुण्डलियारचना में यारी की झूलना में, भीषजन की छप्पय में, वाजिद की अरिल्ल में, गरीबदास की रेखते में कुशलता व्यक्त हुई है।[४] सुंदरदास जैसे कुछ निर्गुण संतकवियों को छोड़कर कबीर जैसे संतों में भी छंद संबंधी चार बातें दिखाई पड़ती हैं—

---

[१] कबीर साहित्य की परख—पृ० १८२-२०७।

[२] संत काव्य, भूमिका, पृ० ११५-११६, ११७।

[3] सुंदर ग्रंथावली, प्रथम खंड, भूमिका-परिशिष्ट (ग) और (घ), पृ० १६१-१७१।

[४] संतकाव्य—भूमिका, पृ० ११५।

१—किसी छंद विशेष के सभी नियमों का पालन नहीं। २—कई छंदों को जाने या अनजाने मिला दिया गया है तथा ३—पूरा भाव व्यक्त करने के लिये, छंदों के नियमों को मानते हुए शब्दचयन की आवश्यकता नहीं समझी, जो शब्द सामने आ गया, चाहे वह मात्रा वा अक्षर की दृष्टि से बड़ा हो या छोटा, उसका प्रयोग वे कर देते हैं। ४—लघु और दीर्घ का कोई विचार उनकी रचनाओं में नहीं मिलता। इनमें से अनेक दोष श्रुति-दोष या लिपिकार दोष से भी आ सकते हैं। अतः इन सबके लिये हम दोषी संतों को नहीं ठहरा सकते। जिन संतों की रचनाएँ प्रामाणिक रूप में उपलब्ध हैं तथा उचित रीति से संपादित हैं, उनमें तथा विशेषकर परवर्ती संतों की रचनाओं में इस प्रकार के दोष कम मिलते हैं। ऊपर जो छंद संकेतित हैं, उनमें से अनेक, जैसे दोहा, चौपाई, सार, रोला गीतिका आदि छंद, नाथों की रचनाओं में भी प्रयुक्त मिलते हैं किंतु जिन कठिनाइयों, न्यूनताओं की ओर संकेत संतों के छंदःप्रयोग के संबंध में किया गया है, वे ही संकेत नाथों की रचनाओं के विषय में भी किये जा सकते हैं।

संतों के साहित्य के इतिहास के प्रथम काल में अनुभूति और ज्ञान का वर्णन करनेवाली रचनाएँ हुईं किंतु मध्यकाल के पूर्वार्द्ध में संप्रदायस्थापन और संप्रदाय वैशिष्ट्य की प्रक्रियाएँ आरंभ हुईं। मध्यकाल के उत्तरार्द्ध में प्रत्येक संप्रदाय के लिये कुछ शास्त्रीय ग्रंथों की आवश्यकता अनुभूत हुई और उस कोटि की रचनाएँ भी लिखी गईं किंतु आधुनिक काल परावर्तन, पुनः कबीर की प्रवृत्ति की ओर लौटने, का काल है और अनुभूतिप्रधान संतकाव्य की रचना पुनः इस काल में हुई। इस विकासक्रम में मध्यकाल से तीन प्रभावस्रोत क्रमशः सामने आये—सूफीमत, हिन्दी की रीतिकालीन काव्यप्रवृति तथा आधुनिक विचारधारा। इन प्रभावस्रोतों ने संतों के काव्यरूपों को भी प्रभावित किया। उत्तरमध्यकाल के संत कवि सुन्दरदास (छोटे) ने सिद्धान्तों का निरूपण करने वाले ग्रंथ 'ज्ञान समुद्र' की रचना की थी। चरणदास आदि ने संस्कृत भाषा के उपनिषदों एवं विभिन्न उपख्यानों का हिन्दी में अनुवाद किया। बाबा धरणीदास ने प्रेमप्रगास तथा संत दुखहरण ने 'पुहुपावती' ग्रंथों की रचना सूफियों की प्रेमगाथाओं के ढंग पर की थी। बाद में कुछ छोटे-मोटे पुराण ग्रंथों की भी रचना हुई।[१] साखियों और पदों की पद्धति बहुत प्राचीन है। विद्वान् बौद्ध सिद्धों के काव्यरूपों पर पर्याप्त विस्तार से विचार कर चुके हैं।

[१] संतकाव्य—भूमिका, पृ० ३१।

उनकी आवृत्ति की कोई आवश्यता नहीं। प्राय: सभी का यह निष्कर्ष है कि नाथों और संतों के पदों और दोहा आदि में उपदेश देने की पद्धति बौद्ध सिद्धों की अपभ्रंश की रचनाओं से आई है। पं० परशुराम चतुर्वेदी ने भी इसी बात का विवेचन किया है। पदों अथवा प्रबंधों के उद्ग्रह, मेलापक, ध्रुव, अंतरा और आभोग नाम के पाँच भागों में से संतों के पदों अथवा 'सबद' या 'शब्द' में 'ध्रुव' और आभोगवाले अंश अवश्य ही मिलते हैं। संतों के पदों में 'टेक' नाम से तथा गुरु ग्रंथ साहब के पदों में 'रहाउ' नाम से 'ध्रुव' अंश मिलता है। गुरु ग्रंथ साहब में 'रहाउ' (ध्रुव) का स्थान भी भिन्न है।[१] संतों के पदों में टेक सबसे प्रारंभ में तथा गुरु ग्रंथ साहब में पद के बीच में कहीं तीसरी पंक्ति में आता है। इन पदों को प्राय: गेयपदों के रूप में ही ग्रहण किया जाता रहा है और संगीत के विभिन्न रागों में उनका विभाजन भी मिलता है। इस संगीत तत्व का परिचय आगे दिया गया है।

साखियों की रचना प्रधानतया दोहों में हुई है। 'साखी' शब्द को लोगों ने 'साक्षी' शब्द का रूपान्तर माना है "जिसका अर्थ किसी बात को देखने-सुनने-वाला और इसी कारण उसके संबंध में किसी प्रश्न के उठने पर प्रमाणस्वरूप भी समझा जानेवाला व्यक्ति हुआ करता है।" संतों के जीवन में अनुभूत एवं वैयक्तिक अनुभूति-निकष पर परीक्षित बातों का वर्णन रहता है। इनमें संतों के अनुभूत सिद्धान्त रहते हैं। बीजक का एक कथन भी इसी की पुष्टि करता है।[२] डा० दासगुप्त ने भी इस शब्द को प्रातिभ ज्ञान (इंट्यटिव नालेज) से संबंधित मानकर इसे प्रत्यक्ष प्रातिभ साक्षात्कार (डाइरेक्ट इंट्यूटिव परसेप्शन) कहा है।[3] इस संबंध में कुछ बातें और कही जा सकती हैं। पहली बात तो यह है कि साखियों की इस प्रकार की व्याख्या से वे ज्ञानपरक और सिद्धान्त-परक प्रतीत होती है। दूसरे, ये सिद्धान्त दर्शन और साधनाप्रक्रिया दोनों से संबंधित हैं। तीसरे, साखियों का जो अंगों में विभाजन है, वह साधन के विभिन्न अंगों की ओर संकेत करता है। साधन को अंगों में विभाजित करने पद्धति बहुत प्राचीन है। अष्टांग योग में यह पद्धति स्पष्ट दिखाई पड़ती है। इसी प्रकार अन्य धर्म और दर्शनों में अंगों के विभाजन की पद्धति दिखाई जा सकती है। अंगों के नाम प्राय: सभी साखियों के संग्रहों में एक ही दिखाई पड़ते हैं—

---

[१] संतकाव्य—भूमिका, पृ० ३२-३५।

[२] वही, भूमिका, पृ० ३५।

[3] हि० इं० फि०, एस० एन० दासगुप्त, वा० ३, पृ० १७३।

गुरदेव कौ अंग, सुमिरण कौ अंग, परचा कौ अंग, विरह कौ अंग, सूरातन कौ अंग आदि। पं० परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार "अंग शब्द का अर्थ साधारणतः शरीर अथवा उसका कोई न कोई भाग समझा जाता है, जिस कारण उक्त प्रत्येक अंग को हम साखी वा साक्षी पुरुष की देह अथवा उसके अव्यय विशेष का बोधक साक्षी मान सकते हैं। इस प्रकार अंग शब्द से अभिप्राय यहाँ पर साखीसंग्रह के किसी खंड का होगा। परन्तु कबीर साहब ने इस शब्द का प्रयोग इस स्थल पर 'लक्षण' के अर्थ में भी किया है जिससे सूचित होता है कि साखियों के रचयिताओं ने उक्त शीर्षकों द्वारा कतिपय विषयों का परिचय देने के प्रयत्न किये होंगे। इस कथन के लिये अभी तक कोई भी आधार उपलब्ध नहीं कि कबीर साहब की साखियाँ आरंभ से ही इस प्रकार विभाजित थीं।"[१] गुरु ग्रंथ साहब में इस प्रकार का कोई विभाजन 'सलोकों' का नहीं मिलता। उसकी विभाजनपद्धति के संबंध में हम पहले ही कह चुके हैं। साखियों का अंगों में सर्वप्रथम विभाजन दादू के शिष्य रज्जबजी ने अपने गुरु की साखियों का किया था। अंगों में विभाजन की परवर्ती प्रवृत्ति के विषय में दो बातें कही जा सकती हैं—१—अंगों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती हुई एवं बदली हुई मालूम पड़ती है। २—उनके नामों में भी यत्किंचित परिवर्तन मिलता है। ३—बाद में साखी में सामान्यतया गृहीत बहुविध छंदों के विभाजन के अतिरिक्त सवैये, झूलने, अरिल्ल आदि के पृथक-पृथक् अंगविभाजन होने लगे। इनमें से कुछ निष्कर्षों की ओर चतुर्वेदी जी ने भी संकेत किये हैं।[२]

इसी प्रकार संतों की रचनापद्धति और काव्यशैलियाँ हैं—दोहा-चौपाई-पद्धति, बावनी, तिथि के अनुसार रचना, वारों के अनुसार रचना, बारहमासा, व 'पदी' रचना, गोष्ठी पद्धति, बोध साहित्य, वणजारा, व्याहलो, बसंत, चाँचर, संकली साहित्य, हिंडोला, आरती, मंगल काव्य आदि। इनमें से अधिकांश का विस्तार से विचार पं० परशुराम चतुर्वेदी ने किया है।[३] इनके नामों को देखने से ऐसा मालूम होता है कि नामकरण-शैली, शैली का विशिष्ट आधार, ऋतु, छंद विशेष की संख्या, संवाद, लोकजीवन में प्रचलित विशिष्ट वर्णनपद्धति, कोई विशिष्ट सामाजिक संस्कार से संबंधित गीत, ऋतु संबंधी

---

[१] संत काव्य--भूमिका, पृ० ३७।

[२] वही, भूमिका, पृ० ३७-३८।

[३] वही, भूमिका, पृ० ३८-४९।

लोकगीत, साधनविचारविशेष को ध्यान में रख कर किये गये हैं। स्थूल रूप से इनके मूल स्रोत साहित्यिक परम्परा, लोक-जीवन-परम्परा और साधन-विशेष की परम्परायें हैं। चौपाइयाँ लिख कर उनके बीच किसी अन्य छंद से घत्ता देने की पद्धति का प्रयोग अपभ्रंश साहित्य में ही दिखाई पड़ता है। चौपाई लिखकर दोहे से घत्ता देने की पद्धति कबीर की रमैनियों में सबसे पहले मिलती है। गोरखनाथ की प्राणसंकली में चौपाई लिख कर घत्ता देने का बहुत विकास नहीं दिखाई पड़ता। बीच में जो एक भिन्न छन्द मिलता है वह भी दोहा नहीं है।[1] पं० परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार रमैनी अपनी वर्णनशैली की दृष्टि से 'प्राण संकली' से बहुत भिन्न नहीं कही जा सकती। प्रबंधकाव्यों के लिये विशेष रूप से उपयुक्त इस रचनापद्धति का प्रयोग संतों ने सृष्टि-रचना के वर्णन के लिये प्रारंभ में किया था पर बाद में पौराणिक रचनाओं और प्रेमगाथाओं में भी इसका प्रयोग किया जाने लगा, किंतु यह विकास १७ वीं ई० शताब्दी के बाद का है। नानक के नाम से प्रसिद्ध 'प्राणसंगली' ग्रंथ में भी चौपाई के विविध रूपों के प्रयोग के साथ-साथ बीच-बीच में दोहा अथवा अन्य छंदों से भी घत्ता दिया गया है। किंतु चौरंगीनाथ के नाम से प्रसिद्ध 'प्राण सांकली' की रचनाशैली इनसे सर्वथा भिन्न है। इसमें आदि से अंत तक एक ऐसे गद्य का प्रयोग किया गया है जिसमें कहीं-कहीं तुक का आग्रह भी दिखाई पड़ता है। जैसे—

'ग्यान रा गुर अम्हारा सिध मछींद्र नाथ, ता प्रसादै भइला पग हाथ।
त्रिभवने किरत थाकली अम्हारी अनदाता श्री गोरषनाथ ॥१२॥'[2]

इन तीनों प्राण संकलियों का विषय एक ही है—पिंड-ब्रह्माण्ड-सृष्टि आदि का विचार। इनमें यत्र-तत्र साधनात्मक संकेत भी मिलते हैं।

इस-दोहा-चौपाई-पद्धति का प्रयोग कबीर की एक अन्य रचना में भी पाया जाता है, जिसे 'ग्रंथबावनी' कहा जाता है। गुरु ग्रंथ में इसे 'बावन अषरी' कहा गया है।' प्रत्येक अक्षर से, अक्षरानुक्रम से लिखने की यह प्रणाली

[1] गोरखबानी—पृ० १६६ छं० ८। कबीर ने भी घत्ता देने के लिये भिन्न-भिन्न छंदों को चुना है। उदाहरण के लिये—बीजक में प्रथम रमैनी के बाद घत्ता देने के लिये 'हरिपद' छंद का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार एक दूसरा घत्ता दोहा छंद से दिया गया है। द्रष्टव्य—बीजक, शिशुबोधिनी टीका, प्रथम भाग, पृ० ५ तथा १३।

[2] नाथसिद्धों की बानियाँ, पृ० ३७।

भी कम पुरानी नहीं है। इसके भी प्रमुख छंद दोहा-चौपाई ही हैं किंतु कई रचनाओं में कवित्त, छप्पय, सवैये वा कुंडलिया छंद भी पाये जाते हैं। अक्षरानुक्रम से लिखी हुई रचनाएँ रज्जब, हरिदास, सुन्दरदास, भीषजन आदि की भी मिलती है, किंतु इन सबमें कुछ न कुछ अन्तर अवश्य मिलता है। अक्षरों के ग्रहण एवं उनकी संख्या के विषय में पर्याप्त अन्तर मिलता है। कभी-कभी ५२ संख्या पूरी नहीं मिलती। ऐसा प्रतीत होता है कि बावनी' शब्द एक प्रचलित परम्परा से गृहीत शब्द मात्र है। संख्या के प्रति संत कभी भी कोई आग्रह रखते दिखाई नहीं देते। इसी प्रकार की रचनाएँ 'चौंतीसा', ककहरा आदि हैं। कुछ संतों ने फारसी वर्णानुक्रम और अक्षरों का भी इस प्रकार की रचना में उपयोग किया है। यारी और बुल्लेशाह की रचनाएँ इस क्रम में मिलती हैं। केवल संख्या (१ से ११ तक) के अनुसार भी रचनाएँ उपलब्ध हैं जैसे धरनीदास और गुलाल की क्रमशः 'दहाई' और 'एकादश'।[१] संख्या को तिथि, वार, नक्षत्र और ग्रह से मिला कर भी उनके अनुसार लिखी हुई रचनाएँ मिलती हैं। नाथों में गोरखनाथ के नाम से (गोरखबानी में संगृहीत) 'पंद्रह तिथि', 'सप्तवार', 'सप्तवार नवग्रह' आदि नाम से रचनाएँ मिलती हैं। संत रज्जब की १५ तिथि नाम से एक रचना मिलती है। सहजोबाई की 'सोलह तिथि निर्नय' नाम की भी रचना इसी प्रकार की मानी जाती है। इसी प्रकार हरिदास की 'बड़ी तिथियोग' तथा 'लघुतिथियोगी' रचनाएँ इसी क्रम में हैं। 'संत कबीर' में संपादित 'थिंती' रचना भी विचारणीय हो सकती है। समय और संख्या को ध्यान में रख कर की गई रचनाओं में 'बारहमासा' का विशेष स्थान है कारण कि भक्ति काल में ही 'बारहमासा' आदि रचनाएँ सुष्ठ काव्य के अन्तर्गत रचित होने लगीं। भिन्न-भिन्न ऋतुओं और महीनों से आरंभ करने के अनुसार इसकी भिन्न-भिन्न परम्पराएँ भी मानी जाने लगी हैं। विरह काव्य का यह एक विशेष रूप स्वीकार किया जाता रहा है। गुरु ग्रंथ साहब में इसे 'बारहमाहा' कहा गया है। संत सुन्दरदास ने भी 'बारहमासा' लिख कर उसके माध्यम से विरह का वर्णन किया है। भीखा, गुलाल, पलटू, तुलसी साहब, शिवदयाल, संत सालिगराम आदि ने भी बारहमासों की रचना की है। इन सभी की रचनाओं में विषय, आरंभ, अंत, पद्धति आदि में कुछ अन्तर अवश्य मिलते हैं।[२] नाथों की इस प्रकार की कोई रचना अभी तक

---

[१] संतकाव्य, भूमिका, पृ० ३९-४२।

[२] वही, भूमिका, पृ० ४२-४४।

देखने में नहीं आई। 'पदी' साहित्य भी संख्याओं को जोड़ कर ही लिखा गया है किंतु बहुत कम ऐसी रचनाएँ हैं जिनमें संख्याओं का पूरा पालन किया गया है। "संत कबीर साहब के प्रसिद्ध रमैणी ग्रंथ में सतपदी, बड़ी अष्टपदी, दुपदी, अष्टपदी, बारहपदी, चौपदी रमैणियों का संग्रह है। परंतु इनमें भी उक्त नियम का पालन किया गया जान नहीं पड़ता।" इसमें दोहा-चौपाइयों का प्रयोग है किंतु इसमें क्रमपालन नहीं है। गुरुग्रंथ साहब में 'असटपदीया' नाम की रचनाएँ विभिन्न गुरुओं की मिलती हैं। संत हरिदास ने चालीसपदी योग, चतुर्दशपदी योग, तीसपदी योग एवं बारहपदी योग नाम की रचनाएँ लिखी हैं।[१] गोरखनाथ ने भी अपनी रचना को एक स्थान पर 'षट्पदी' कहा है जिसके अन्तर्गत ६ छंद प्रतीत होते हैं। यह रचना 'राग रामग्री' के अन्तर्गत एक पद के रूप में संकलित है।[२]

इसी प्रकार 'गोष्ठी' और 'बोध' नाम से प्रचलित रचनाएँ नाथों और संतों, दोनों ने लिखी हैं जिनमें वे परस्पर वार्तालाप के रूप में शंकासमाधान करते हैं। अलौकिक शक्तियों और उपलब्धियों की सहायता से असमकालीन और इतरदेशीय महात्माओं से किया हुआ वार्तालाप इनमें मिलता है। पं० परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार ऐसी गोष्ठियों का ही नाम बोध भी पाया जाता है। यह बोध किसी के शिष्य रूप में प्रश्न करने पर आरंभ होता है। गोरखबानी में 'गोरष गणेश गुष्टि', 'गोरषदत्त गुष्टि', 'महादेव गोरष गुष्टि' नाम की तीन गोष्ठियों का संकलन मिलता है। मुख्यतम और प्रामाणिकतम माना जाने वाला 'बोध' 'मछींद्र गोरष बोध' है। इसी प्रकार कबीरपंथी साहित्य में 'गोरष गोष्ठी, 'रामानंद गोष्ठी, 'लक्ष्मण बोध', 'मुहम्मद बोध', 'सुलतान बोध', 'भूपाल बोध', 'गरुड़ बोध', 'जगजीवन बोध', जैसी अनेक रचनाएँ अन्तर्गृहीत हैं। अन्य संत कवियों में दरिया लिखित एक 'गोष्ठी' में दरिया साहब (बिहारी) तथा रामेश्वर जोगी का वार्तालाप पाया जाता है। इसी प्रकार के वार्तालाप, संवाद 'घटरामायन', 'रत्नसागर', 'पद्मसागर' नाम की तुलसी साहब की रचनाओं में मिलते हैं। गुलाल की 'ज्ञानगुष्टि' में गुलाल और भीखा का वार्तालाप है। ये दोनों गुरु-शिष्य थे।[3] अन्य रचनाओं में वणजारा, व्याहलो, चाँचर, हिंडोला आदि लोकजीवन और लोककाव्य से गृहीत प्रतीत होते हैं। 'सहस्रनाम' संस्कृत की धर्मप्रधान रचनापद्धति है, जो विभिन्न

---

[१] वही, भूमिका, पृ० ४४-४५।

[२] गोरखबानी पृ० ८७-८८ पद २।

[3] संत काव्य—भूमिका, पृ० ४५-४६।

देवियों देवताओं के संबंध में लिखी जाती थी। इसे भी संतों ने स्वीकार कर लिया। वस्तुतः ये सभी काव्यप्रकार एवं रचनाशैलियाँ किसी काव्यात्मक प्रयोजन को ध्यान में रख कर संतों द्वारा प्रयुक्त नहीं हुईं। ये केवल साधन और माध्यम मात्र हैं। गोरखबानी की 'गोरष गणेश गुष्टि', 'महादेव गोरष गुष्टि', 'सिष्ट पुराण', चौबीस सिद्धि', 'बत्तीस लछन', 'अष्टरचक्र' नामक रचनाओं में, चौरंगी की 'प्राणसांकली' में, परबत सिद्ध के 'भूगोलपुराण' में गद्य का प्रयोग मिलता है।[1] इनमें उपलब्ध गद्य शुद्ध और निर्दोष नहीं है तथा तुकों का सहारा लिया गया है। संतों की रचनाओं में विक्रम की १७ वीं शताब्दी के चतुर्थ चरण से लेकर विक्रम की १८ वीं शताब्दी के मध्य काल तक गद्य का आरंभ हो गया था। किंतु ऐसी रचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं। संतों की गद्य की रचनाओं का यथार्थ आरंभ १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध काल से ही होता है "जब कुछ संत लेखक अपने-अपने मान्य ग्रंथों एवं अन्य प्रसिद्ध रचनाओं पर भी अपने भाष्य एवं टीकाएँ रचने लगते हैं और साधु निश्चलदास जैसे कुछ लोग स्वतंत्र रचनाओं की ओर भी प्रवृत्त हो जाते हैं।"[2] नाथों की गद्य की रचनाओं का समय कुछ निश्चित नहीं किया जा सकता।

शेष विचारणीय प्रकरण हैं—संगीत और भाषा। संतों की साधना में नामजप, स्मरण, कीर्तन आदि स्वीकार किये जाते रहे हैं। अनेक संतों के जीवनचरित से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्रभुगुणगान, भजन को वे आवश्यक मानते थे तथा वैसा ही वे आचरण करते थे यद्यपि उसमें मानस योग अनिवार्य हुआ करता था। भक्तिकाल में भजन गाने की पद्धति थी। संस्कृत के कवि जयदेव के काल में संगीत के रागों में बद्ध रचना की परिपाटी थी। बौद्धसिद्धों के चर्यापदों के साथ भी रागों का उल्लेख मिलता है। बौद्धों के 'संगीति' शब्द पर हम अपने ग्रंथ में प्रकाश डाल चुके हैं। नाथों की रचनाओं का, गोरख की भी रचनाओं का, समय निश्चित नहीं है। गोरख के पद 'राग रामग्री', 'राग असावरी', 'राग रामगरी', के अंतर्गत संकलित मिलते हैं। इसी प्रकार अन्य नाथों के पद 'राग गुंड', 'राग रांमग्री', 'राग काल्यंगड़ौ', 'राग धनासी', 'राग रावंगरी', 'राग आसावरी', आदि के अन्तर्गत

---

[1] गोरखबानी – पृ० २२२, २३३, २३६, २४८, २४९; ना० सि० बा०, पृ० ३६–४७, परिशिष्ट १ पृ० १–४; संतकाव्य—भूमिका, पृ० ४७।

[2] संतकाव्य—भूमिका, पृ० ४७–४८।

संगृहीत मिलते हैं।[1] इनमें 'रामग्री', 'राग रामगरी', 'राग रांमग्री', 'राग रावंगरी' एक ही राग के नाम के ध्वन्यंतर मात्र हैं। इनमें से 'बौद्ध गान ओ दोहा' में 'राम रामक्री', 'राग धनासी', आदि मिलते हैं। विद्यापति, चंडीदास आदि के पद भी इसी प्रकार रागों के अंतर्गत मिलते हैं। संतों की परम्परा में सबसे पहला प्रामाणिक विभाजन गुरु ग्रंथ साहब में मिलता है। उसके बाद के बहुत से पद भिन्न-भिन्न परम्पराओं में रागों के अंतर्गत विभाजित मिलते हैं। यह रागबद्ध करने या रागों में विभाजित करने की परंपरा कितनी पुरानी है, इस सम्बंध में जितने भी प्रयत्न किये गये हैं उनसे किसी निश्चय पर नहीं पहुँचा जा सका है। पं० परशुराम चतुर्वेदी ने संतों की संगीत सम्बंधी प्रकृति एवं प्रवृत्ति का एक परिचय दिया है।[2] सगुण धारा के कवियों के केवल पदों का ही रागों के अन्तर्गत संग्रह किया जाता था किंतु गोरख के अतिरिक्त नाथसिद्धों तथा विभिन्न परवर्ती संतों को पदों के अतिरिक्त रचनाओं को भी रागों में बाँध दिया गया है। यहाँ तक कि नानक लिखित 'प्राण संगली' में भी रागों का उल्लेख किया गया है। नाथों की रचनाओं में छोटे-छोटे छंदों में लिखे संवादों को भी रागों के अन्तर्गत उल्लिखित किया गया है। 'गोपीचंद जी का पदसंवाद' इसका प्रमाण है। गुरु ग्रंथ साहब में सलोकों को भी रागों में विभाजित किया गया है।

नाथों और संतों की भाषा और छंदों के ऊपर सर्वाधिक गंभीर आरोप लगाये गये हैं। नाथों और संतों की भाषा में किसी साहित्यिक भाषा विशेष का परिनिष्ठित रूप न पाकर पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में उनकी भाषा को 'सधुक्कड़ी भाषा' कह किया था। उनके अनुसार यह रमते साधुओं की भाषा थी। किसी भी कवि की, प्रवृति विशेष के काव्य की भाषा का विचार उसके भाषागत वैशिष्ट्य को ध्यान में रख कर दिया जाता है। नाथों की भाषा के संबंध में अब विद्वान् एक निष्कर्ष पर पहुँच गये हैं और वह यह है कि— १—यद्यपि उनकी रचना की भाषा पर्याप्त बदल गई है तथापि उसमें अभी भी अपभ्रंश, परवर्ती अपभ्रंश और १३-१४वीं शताब्दी की सामान्य प्रचलित भाषा के अवशेष सुरक्षित हैं। २—उसमें गुजराती, मराठी, राजस्थानी, पंजाबी आदि का प्रभाव भी मिलता है। ३—मुख्य रूप से उनकी भाषा वह पुरानी हिन्दुस्तानी है जिसके ऊपर राजस्थानी का प्रभाव पड़ा

---

[1] गोरखवानी तथा ना० सि० बा० द्रष्टव्य।

[2] संतकाव्य—भूमिका, पृ० १०८–११२।

है। इस प्रकार के निर्णय में डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल तथा डा० कल्याणी मल्लिक सहमत हैं।[1] डा० रामकुमार वर्मा ने भी अपने 'आलोचनात्मक इतिहास' में इस सम्बन्ध में पर्याप्त विचार किया है। इस प्रकार के विचारों के पीछे एक कारण यह भी है कि नाथपंथ का कार्यक्षेत्र राजस्थान, पंजाब, गुजरात, मारवाड़ आदि प्रदेश रहे हैं। यद्यपि उनकी भाषा में कुछ पूर्वी प्रयोग भी मिलते हैं तथा उनके संप्रदाय का प्रसार भी इस क्षेत्र में हुआ है किंतु इस प्रकार के प्रयोग हिन्दी के अधिकांश कवियों में मिलते हैं।

संतों की रचनाओं की भाषा के संबंध में जो कारण निरूपित किये जाते हैं, वे उनकी भाषा पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करने के लिये उपयोगी हो सकते हैं। संत लोग सुदूर एवं विभिन्न क्षेत्रों के निवासी थे जहाँ की बोलियाँ अथवा भाषाएँ भिन्न-भिन्न थीं। संत लोग अधिकांशतः अशिक्षित अथवा अर्द्धशिक्षित थे। संत लोग भाव अथवा साधन को अधिक महत्व देते थे। भ्रमणशील होने के कारण विभिन्न क्षेत्रों, प्रदेशों की भाषाओं, बोलियों का उनके ऊपर प्रभाव पड़ता था। विभिन्न प्रदेशों के अनुयायियों ने अपने उपदेशक की रचनाओं को ज्ञान अथवा अज्ञानवश अपनी भाषा अथवा बोली में पूर्णतः अथवा अंशतः परिवर्तित कर लिया है। इन सब कारणों से उनकी भाषा का कोई स्थिर और व्यवस्थित रूप नहीं रह सका। इस वैविध्य और लोकजीवन के अधिक नैकट्य के कारण संतों की भाषा का महत्व भाषावैज्ञानिक दृष्टि से और भी बढ़ जाता है। ये ही बातें नाथों की भाषा के संबंध में भी कही जा सकती हैं। अनेक संत कवियों ने विविध भाषाओं में भी रचनाएँ की हैं। ऐसे संत कवियों में दादू और सुंदरदास (छोटे) का नाम विशेषरूप से लिया जा सकता है। उन लोगों ने गुजराती, मारवाणी, पंजाबी आदि भाषाओं में भी अलग से रचनाएँ की थीं। इस दृष्टि से इन रचनाओं का भी विशेष महत्व है। नाथों की जो हिन्दी बानियाँ इस समय उपलब्ध हैं, उनके साथ इस प्रकार की इतर भाषाओं में रचित कोई रचना प्रकाशित नहीं है किन्तु इतना पूर्णतया सत्य है कि विभिन्न नाथसिद्धों के नाम से समग्र भारत की अधिकांश भाषाओं में कुछ न कुछ रचनाएँ अवश्य मिल जायँगी। उनकी प्रामाणिकता का पक्ष दूसरा है। पं० परशुराम चतुर्वेदी ने विभिन्न भाषाक्षेत्रों के अनुसार विचार कर कबीर, रैदास, भीखा, शिवनारायण, दरिया आदि को भोजपुरी क्षेत्र से; मलूक

[1] योगप्रवाह में भाषा संबंधी लेख; सि० सि० अ० ना० यो०, डा० मल्लिक, भूमिका में हस्तलेखों की भाषा का विवेचन प्रकरण।

जगजीवन, दूलन, भीषम, पलटू आदि को अवधी क्षेत्र से; गुरुनानक, अंगद आदि गुरु, बुल्लेशाह, फरीद, गरीबदास को पंजाबी क्षेत्र से; दादू, रज्जब, सुंदरदास, आदि को राजस्थानी क्षेत्र से; तुलसीसाहब, शिवदयाल, यारी, बावरी आदि को ब्रजभाषा और खड़ी बोली के क्षेत्रों से सम्बद्ध माना है। उनका निष्कर्ष यह है कि "सन्तों की भाषा, कम से कम शब्दभंडार एवं वर्णनशैली के अनुसार मूलतः एक है और क्रियापद, संयोजक वा कारक चिन्ह संबंधी जो कुछ अंतर दीख पड़ते हैं, वे वस्तुतः उतने स्पष्ट एवं निश्चित नहीं हैं जिनके आधार पर हम उसे भिन्न-भिन्न वर्गों में विभाजित कर सकें।"[१]

नाथों और संतों की भाषा में अन्तर है। पहली बात तो यह है कि संतों की भाषा नाथों की भाषा की अपेक्षा भावों और विचारों को व्यक्त करने में अधिक समर्थ है। भक्ति और प्रेम के सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों को व्यक्त करने में समर्थ है। दूसरे, इस प्रकार की अभिव्यक्ति के लिये संतों ने विभिन्न विदेशी-स्वदेशी भाषाओं से शब्द तो लिये ही हैं साथ ही जनप्रचलित भाषा के शब्दों, प्रतीकों, मुहावरों, कहावतों, अभिव्यक्तिपद्धतियों को भी ग्रहण किया। नाथों की रचनाओं, विशेषकर पूर्ववती गोरखनाथ आदि की रचनाओं की भाषा में लोक-भाषा की सरसता उपलब्ध नहीं है। तीसरे, संतों का विभिन्न प्रदेशों से यद्यपि संबंध अवश्य था किंतु उनकी भाषा में अन्य भाषाओं का मिश्रण उस मात्रा में नहीं है, और न वह मिश्रण इतना अव्यवस्थित है कि उससे किसी भाषा विशेष की मुख्यता मालूम ही न हो। चौथे, संतों ने, विशेषकर दादू, सुन्दरदास इत्यादि ने भिन्न-भिन्न भाषाओं में रचना की है और वे नागरी लिपि में उपलब्ध भी हैं। यद्यपि उनका संबंध भिन्न-भिन्न भाषा के प्रदेशों से था, उनकी मातृभाषा भी हिन्दी से भिन्न थी किंतु उन लोगों ने हिन्दी की विभिन्न बोलियों में रचनाएँ की हैं। उदाहरण के लिये दादू की मातृभाषा गुजराती मानी जाती है किन्तु उन्होंने केवल कुछ पदों को छोड़ कर अपनी अधिकाँश रचना हिन्दी में की है। नामदेव मराठे थे किन्तु उन्होंने भी हिन्दी में रचनाएँ की हैं। ऐसी स्थिति में यह अनुमान किया जा सकता है कि संतों ने जिस प्रकार की व्याकरण की दृष्टि से असंस्कृत भाषा का प्रयोग किया है, वह उस समय की, लगभग १४-१५ वीं शताब्दी से लेकर १८-१९ वीं ईस्वी शताब्दी तक जनसामान्य के नित्यप्रति के व्यवहारों, भावों की भाषा थी। दूसरा अनुमान यह किया जा सकता है कि इन संतों की रचनाओं के जो विभिन्न रूप और पाठभेद मिलते हैं, उसमें

[१] संतकाव्य, भूमिका, पृ० १२०।

भी उनके अनुयायियों का विशेष हाथ है। कबीर की एक ही रचना के पंजाबी, राजस्थानी, हिन्दुस्तानी आदि से प्रभावित रूप मिल सकते हैं। अधिक संभावना इस बात की है कि मूल रचना उस समय की जनसामान्य की किसी सर्वाधिक प्रचलित भाषारूप में रही होगी किन्तु भिन्न-भिन्न प्रदेशों के श्रद्धालु जनों के प्रसाद से उसके विभिन्न रूप मिलने लगे। यह सामान्य भाषा तत्कालीन साहित्यिक एवं परिनिष्ठित भाषा ब्रजभाषा और अवधी से कुछ भिन्न रही होगी। स्पष्ट ही वह साहित्यिक भाषा नहीं थी किंतु भावों को व्यक्त करने की शक्ति उसमें कम न थी और इसका प्रमाण कबीर की भाषा से मिल जाता है। कबीरादि संतों को भाषा के भावों को व्यक्त करने की सामर्थ्य से ही प्रयोजन था भाषा के संस्कार और सौन्दर्य से नहीं। यद्यपि रीतिकालके आसपास के कवियों में इस प्रकार की प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। वे भाषा के प्रति अधिक सजग हैं। नाथों में यदि भाषा के प्रति थोड़ी बहुत सजगता और उसकी सामर्थ्य की चिन्ता दिखाई पड़ती है तो पृथ्वीनाथ में।

रस, छंद, अलंकार, भाषा आदि के प्रति इस प्रकार की प्रवृति के होने के भी कई कारण हो सकते हैं। सुन्दरदास जैसे कुछ कवियों को छोड़कर इनके प्रति कोई संतकवि सजग नहीं दिखाई पड़ता। मुख्य बात यह है कि संतों और नाथों की रचना की कोटि ऐसे शुद्ध काव्य की कोटि से अलग है जिसका लक्ष्य ही काव्य-रचना है। वह किस कोटि की है, इसके संबंध में संतों के ही कुछ विचार ध्यान में रखे जा सकते हैं। कबीरदास ने कवि को अहंवादियों की कोटि में रखा है। पंडित, गुनी, सूर, कवि, दाता—ये सभी अपने को ही बड़ा कहते हैं। दूसरे, कवि लोग कविता कर के अमरत्व नहीं प्राप्त कर सकते। बिना राम के यह अमरत्व उपलब्ध नहीं हो सकता। इस अमरत्व की व्याख्या पहले की जा चुकी है।[१] प्रेम के लिये अहंकारत्याग कितना अधिक आवश्यक है, यह प्रेमवादियों और रहस्यवादियों की रचनाओं को पढ़ने से ही स्पष्ट होता है। सुन्दरदास की दृष्टि में थोड़ा-सा अंतर है। उनके अनुसार जब तक काव्य जोड़ना न आता हो तब तक रचना न करनी चाहिए। रचना ऐसी होनी चाहिए जिसमें तुक, छंद और अनूप अर्थ की उपलब्धि होती हो। ऐसी वाणी की रचना नहीं करनी चाहिए जिसमें तुकभंग, छंदभंग और अर्थराहित्य हो।[२] कविता के लक्षणों में वे उसका नख-शिख शुद्ध होना आवश्यक मानते हैं।

---

[१] कबीर ग्रंथावली, पृ० १३०-१३१ पद १३३, पृ० १९५ पद ३१७।

[२] सुंदर ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ४६७, सवैया ४।

उसमें अक्षर कम या अधिक न होने चाहिएँ। मात्रा में घट-बढ़ नहीं होना चाहिए। उसमें अनमिल तुक और अर्थहीनता न होनी चाहिए। ऐसी कविता का जीव (प्राण, आत्मा) 'हरिजस' है। इसके बिना कविता मृत मानी गई है।[1] हम पहले संकेत कर चुके हैं कि पूर्ण रहस्यवादी कविता वह है जिसमें काव्य के नैसार्गिक अंग स्वतः रहस्यवादी प्रवृत्तियों के साथ समन्वित होकर आ जाते हैं। संतों की रचनाओं में रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ हैं, यह हम देख चुके हैं। उनमें शैली संबंधी पूर्णता—प्रतीक और पौराणिक शैली—भी मिलती है किंतु काव्यपक्ष, यदि शुद्ध काव्य की परिभाषा की दृष्टि से विचार करें, दुर्बल दिखाई पड़ता है। सुन्दरदास का काव्य रहस्यवादी तो है ही साथ ही उसमें सुष्ठु काव्य की व्यवस्था, नियमबद्धता, सरसता और सरलता भी है। ऐसी पूर्णता अन्य संतकवियों में नही दिखाई पड़ती। भाषा की दृष्टि से भी सुंदरदास अतुलनीय हैं किंतु तीव्र भावना का जो वेग हमें कबीर जैसे कवियों की रचनाओं में दिखाई पड़ता है, वह उतनी मात्रा में विभिन्न उत्तर मध्ययुगीन संत कवियों में, सुंदरदास में भी, नहीं दिखाई पड़ता। संतों का अभिव्यक्तिपक्ष प्रत्येक दृष्टि से, नाथों की तुलना में अपेक्षाकृत अधिक सुदृढ़, व्यवस्थित और सरस है। युग के आग्रह से संतों की काव्य संबंधी दृष्टि में परिवर्तन तो अवश्य दिखाई पड़ता है किन्तु रहस्यानुभूति, भक्ति, प्रेम को, भगवान् के लक्ष्य को उन्होंने कभी नहीं छोड़ा। हमारी दृष्टि में संपूर्ण नाथसाहित्य और संत साहित्य की एकमात्र कसौटी है आध्यात्मिक साक्षात्कार भागवत साधन। योग और ज्ञान से नाथ तत्वोपलब्धि अथवा भक्ति और भगवान् की उपलब्धि को ध्यान में रख कर संपूर्ण साहित्य की परख करनी चाहिए। भिन्न दृष्टि को लेकर जो विवेचक संत एवं नाथ साहित्य का विवेचन एवं मूल्यांकन करने की चेष्टा करेंगे, उनके भ्रम में पड़ने और अन्याय करने की संभावनाएँ अधिक हैं। ऊपर रस, छंद अलंकार आदि का विचार केवल विवेचनपद्धति के आग्रह से किया गया है। विभिन्न विद्वानों द्वारा किये गये विचारों को संक्षेप में उपस्थित कर दिया गया है और नवीन सामग्री को जहाँ-तहाँ उपस्थित कर तुलना का कार्य संक्षेप में किया गया है। यह संक्षेप क्यों है, इसके कारणों और कठिनाइयों की ओर यथास्थान संकेत कर दिये गये हैं।

---

[1] वही, द्वितीयखण्ड, पृ० ९७२, छंद २५।

उपसंहार

'नाथ' शब्द नाथों के परमतत्व के लिये तथा सम्प्रदायविशेष के अनुयायियों के लिये प्रयुक्त हुआ है। परम्परानिरपेक्ष भक्त कवि संत थे। नाथ सिद्ध बौद्ध सिद्धों से संप्रदाय, दर्शन, परम्परा, साधना, साहित्य की दृष्टि से भिन्न हैं। उनकी एक ही परम्परा सिद्ध करना उचित नहीं। उनमें साम्य कम और वैषम्य अधिक है। जो साम्य है वह भी एक सामान्य तांत्रिक धर्मसाधना के प्रभाव के कारण है। नाथों का साहित्य, उनकी रचना, विषय-सामग्री भी बौद्धों से भिन्न है। नाथों की उपलब्ध रचनाओं एवं रचनाकारों के समय और विवरण शुद्ध ऐतिहासिक निकष पर खरे नहीं उतरते। इनका अनुमित विस्तारकाल ९वीं ई० शताब्दी से १६ वीं ई० शताब्दी तक है। इनके प्रेरक और केन्द्र गोरख हैं। हिन्दी के संत रचनाकारों के अन्तर्गत मराठी संतों का भी अन्तर्भाव कर लिया गया है। मराठी संतों के ऊपर नाथों का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में है। कुछ तो ऐसे हैं जो दीक्षापरंपरा से नाथपंथी हैं तथा कुछ नाथपंथ से केवल प्रभावित हैं। प्रमुख मराठी संत नामदेव प्रथम कोटि में आते हैं। उनकी रचनाओं का, समय की दृष्टि से, रचनाकार का समकालीन होना अथवा कवि द्वारा ही लिखा जाना संदेह से परे नहीं है। उत्तरी भारत के विभिन्न संतों में कुछ साहित्यिक गुण भी विवेचकों द्वारा स्वीकार किये जाते हैं। इन संतों की परम्परा सुदीर्घ कालव्यापिनी है। इस परम्परा के मुख्य प्रेरक और केन्द्र कबीर हैं। संतों के अत्यधिक विस्तृत, बहुविध और प्रभूत साहित्य में अभी भी सर्वथा प्रामाणिक मानी जाने योग्य रचनाएँ कम हैं। नाथ और संत वस्तुतः भिन्न-भिन्न वर्गों और मतों के साधक कवि हैं फिर भी इनमें संबंध के कई बिन्दु हो सकते हैं जैसे जातीय, सामाजिक, सांप्रदायिक आदि। साथ ही उनके साम्य-वैषम्य के भी कई बिन्दु हो सकते हैं, जैसे, भक्ति, योग, रहस्यवाद, रहस्यवादी कविता आदि।

उनके साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन करने में भूमिका और पृष्ठभूमि के रूप में उनके सामाजिक और साम्प्रदायिक संबंध के निरूपण सहायक सिद्ध हुए हैं। हर्ष के बाद से लगभग १८वीं ई० शताब्दी तक के भारतीय समाज में वर्णाश्रमव्यवस्था की कठोरता से, विदेशियों के संपर्क से, प्रतिलोम विवाह से, आश्रम संबंधी नियमों के उल्लंघन से अनेक जातियाँ और उपजातियाँ बन गई

थीं। विभिन्न संन्यासप्रधान वर्गों को परंपराविरोधी और आचारविहीन माना जाता था। नाथपंथी आचारविहीन, परम्पराविरोधी, संन्यासप्रधान पाशुपत मत से संबद्ध थे। इनका एक धार्मिक संप्रदाय से जाति के रूप में विकास हुआ। ऐसी विभिन्न जातियाँ ऐसे विभिन्न संप्रदायों की अनुयायिनी होने के कारण अतिवर्णाश्रमी और पंचमाश्रमी कहलाईं। कभी-कभी इन जातियों को राज्याश्रय भी मिला था और बाद में हीन अवस्था को प्राप्त होने पर इन सब ने परिश्रमसाध्य जीविकाओं को अपनाया। व्यवसायानुकूल विभिन्न उपजातियों में विभाजित होकर कई जातियाँ मुस्लिम आक्रमण तथा शासन-काल में सामूहिक रूप में धर्मान्तरित भी हुईं। संपूर्ण नाथयोगी जाति हिन्दू होकर भी अतिवर्णाश्रमी और पंचमाश्रमी थी और उनमें से कुछ का धर्मान्तर हो गया था। एक भिन्न अर्थ में अतिवर्णाश्रमी लोगों की परम्परा श्वेताश्वतरोपनिषद् काल से ही चली आ रही थी। 'अकाल संन्यास' की भावना इस परम्परा में कार्य कर रही थी। 'अकाल संन्यास' के विश्वासी पाशुपतों की परम्परा में विकसित नाथगण कर्मकाण्डविरोधी, आचारविहीन, अतिवर्णाश्रमी समझे गये थे। वेदबाह्यता, वैदिक आचारभ्रष्टता, स्मृतिविरोध और पाशुपत जैसे सम्प्रदायों के अनुसरण ने नाथयोगी जाति का निर्माण किया। इसी से यह जाति भी अतिवर्णाश्रमी कहलाई। मुसलमान होने पर भी ऐसी जातियों में हिन्दू संस्कार जीवित रहे। इस प्रकार नवधर्मान्तरित जाति 'ना हिन्दू ना मुसलमान' की स्थिति में रही। संतपरम्परा के केन्द्रबिन्दु कबीर प्राचीन काल की अतिवर्णाश्रमी और पंचमाश्रमी धार्मिक नाथयोगी जाति की 'ना हिन्दू ना मुसलमान' अवस्था में उदित हुए थे। संत परम्परा के अनेक कवि उस अतिवर्णाश्रमी और पंचमाश्रमी परम्परा से होकर मुसलमान हुई जाति में पैदा हुए थे। ऐतिहासिक समाजविश्लेषण से ही यह परम्परा सिद्ध होती है। वर्णाश्रम व्यवस्था का घोर विरोध नाथों और संतों में मिलता है। इस विरोध-भाव का विश्लेषण इसी ऐतिहासिक और सामाजिक विश्लेषण के आधार पर कर सकते हैं। इस प्रकार उपलब्ध तथ्य यह है कि गोरखनाथ अतिवर्णाश्रमी एवं पंचमाश्रमी नाथों के केन्द्रबिन्दु थे तथा उसी प्रकार कबीर संत-परम्परा के।

लगभग ९ वीं ई० श० से लेकर लगभग १७ वीं ई० श० तक का युग ज्ञान, योग और भक्ति की विचारधाराओं, जीवनदर्शनों के मिश्रित आदर्शों से संपर्कित विभिन्न साधनापद्धतियों का युग है। नाथ लोग शैव थे। उसी प्रकार संतों का वैष्णव परंपरा से संबंध था। जिस प्रकार प्राचीन युग में बौद्धों

और शैवों में एक दूसरे से आदान-प्रदान हुआ था, उसी प्रकार, परवर्तीकाल में शैवों और वैष्णवों में हुआ। भारतीय इतिहास एवं समाज में ऐसे बहुत से प्रमाण मिलते हैं। प्राचीन पाशुपत मत से विकसित होनेवाले नाथ संप्रदाय का प्रभावक्षेत्र बहुत अधिक विस्तृत था। शंकराचार्य और गोरखनाथ दोनों ही शैव और संन्यासी थे और दोनों नें ही शैव संप्रदायों का संगठन किया था। एक दृष्टि से दशनामी वेदान्तिक संन्यासी थे और नाथपंथी तांत्रिक संन्यासी। विभिन्न शैव सम्प्रदायों में से नाथ संप्रदाय पाशुपत शैव मत से निःसृत था जिसमें गोरक्ष का सम्प्रदाय प्रधान था। इसमें तत्कालीन विभिन्न शैव मतों, पंथों का संगठन किया गया था। रामानुज के समय से वैष्णव मत का संगठन आरंभ होता है जिसका उत्तरीभारत के जनसामान्य में प्रचार-प्रसार रामानंद ने कुछ विशिष्ट परिस्थितियों के अनुकूल किया। १४ वीं ई० श० के मध्य के बाद से भारत में बौद्ध धर्म का कोई इतिहास नहीं मिलता। कबीर के समय में भेष धारण कर संन्यासी कहे जानेवाले अनेक समूह वर्तमान थे जिनका कबीर ने विरोध किया था। कबीर ने संप्रदायनिर्माण और पंथ चलाने की खिल्ली उड़ाई थी। इसलिये कबीर को किसी न किसी संप्रदाय से संबद्ध करने का खंडन किया जाता है। उनमें विभिन्न संप्रदायों और मतवादों की सारग्राहिता को सिद्ध किया जाता है। किन्तु ऐसी स्थिति में कबीरसाहित्य से किसी भी दृष्टि से, किसी भी क्षेत्र में, किसी एक निश्चित विचार या सिद्धान्त पर नहीं पहुँचा जा सकता। हमारे पास संदिग्ध असंदिग्ध सामग्रियों के आधार पर कबीर को रामानंदी संप्रदाय से संबंधित करने का पूरा अवसर है। किसी संप्रदाय से संबद्ध होकर भी गुरु-शिष्यों के बीच पर्याप्त मतभेद की संभावना रहती है और यह बात ऐतिहासिक प्रमाणों से पुष्ट भी की जा सकती है।

नाथों और संतों, दोनों ने, अपनी समकालीन विभिन्न साधनापद्धतियों, मतों, सम्प्रदायों का खंडन मंडन क्रमशः योगसाधन और साध्य नाथ तथा भक्ति और भगवान् को ध्यान में रखकर किया। तांत्रिक परंपरा इन दोनों से पर्याप्त पुरानी है जिसकी साधनापद्धति और जीवनादर्श ने इन दोनों को प्रभावित किया था। शैवों और वैष्णवों में भी इसी प्रकार के खंडन-मंडन चलते रहे हैं। परन्तु साम्प्रदायिक जीवन में रहते हुए भी इनमें सौमनस्य सौहार्द्र और उदारता एक दूसरे के धर्म के प्रति रही है। इस बात को अनेक ऐतिहासिक प्रमाणों से पुष्ट किया जा सकता है। शिव और विष्णु, शैवों और वैष्णवों

के सहयोग की अनेक पौराणिक ऐतिहासिक घटनाएँ प्रसिद्ध हैं। महाराष्ट्र का वारकरी सम्प्रदाय, भारत के विभिन्न वैष्णव कवि शैव सम्प्रदायों से सहयोग करते दिखाई पड़ते हैं। अनेक वैष्णव सम्प्रदायों ने कभी योगप्रधान शैव धर्म को अपना आश्रय माना और कभी अनेक शैव संम्प्रदाय वैष्णव पम्परा में आने की चेष्टा करते रहे। हिंदी के विभिन्न सगुण कवियों का संबंध शैवों से था और योगसाधन को शैवों के समान ही उन्होंने स्वीकार किया। संतों के निरंजनी मत को लोग नाथों और संतों के बीच की कड़ी मानते हैं। इस आदान-प्रदान के युग में नाथ लोग शैव थे तथा रामानंदादि और उनकी शिष्य-परंपरा के लोग वैष्णव थे। पाशुपत शैव मत के ऊपर तंत्र का प्रभाव था। वे तांत्रिक शैव संन्यासी थे और उनके साधन में योग की प्रधानता थी। उसी प्रकार रामानंदादि की पूर्वपरंपरा में पांचरात्र मत तंत्र से प्रभावित था। इस तंत्रप्रभावित पांचरात्र मत को रामानुज ने प्रतिष्ठित किया था। बाद में रामानंद के रामावत सम्प्रदाय में रामभक्ति के साथ ही नारद का प्राचीन एकांतिक धर्म (नारदीया भक्ति से समन्वित होकर) भी विकसित हुआ। इस प्रकार के तंत्रप्रभावित शैवों और वैष्णवों के विभिन्न संप्रदायों में आदान प्रदान होते रहे। संपर्क और मिश्रण भी होता रहा। युगीन धार्मिक सहिष्णुता के प्रमाण रूप में 'हरिहर' की कल्पना भी मिलती है। विभिन्न वैष्णव और शैव परम्परा में और विभिन्न शैव वैष्णव परंपरा में दीक्षित हुए थे। इसी प्रकार शैव भी वैष्णव धर्म में दीक्षित हुए नाथ भी वैष्णव धर्म में दीक्षित हुए तथा विभिन्न वैष्णव भक्तों और संतों में भी शैवों और वैष्णवों की तरह ही दीक्षागत परिवर्तन होते रहे।

वैष्णवों की परंपरा में भक्ति धर्म का विकास हुआ। श्वेताश्वतर उपनिषद् में जिसे कुछ लोग शैवतत्व प्रधान उपनिषद् मानते हैं, भक्ति का विचार मिलता है। महाभारत, भागवत, पांचरात्र साहित्य, रामानुजी साहित्य, भक्ति-सूत्र साहित्य इन सबका विचार करने से तथा विभिन्न रचनाओं के विभिन्न संदर्भों के विचार से एक बात स्पष्ट होती है कि संपूर्ण भागवत धर्म और भक्तिभावना के विकास में नारद का व्यक्तित्व अति महत्वपूर्ण है। जिस पांचरात्र मत का विकास आगे होता है, उसमें नारद का व्यक्तित्व सर्वाधिक महिमान्वित है। एकांतिक धर्म और भक्तिभावना के विकास के इतिहास में किसी न किसी रूप में किसी न किसी प्रसंग में उनका नाम अवश्य आता है। नारद पंचरात्र तथा अहिर्बुध्न्य, जयाख्य आदि संहिताओं में भक्तिभाव

के साथ ही उस योग का भी निरूपण है जिसके अन्तर्गत कुंडलिनी, षट्चक्रभेद, प्राणायाम, नाड़ीसाधन आदि भी गृहीत हैं। नारद के भक्तिसूत्र में प्रेमाभक्ति का निरूपण है। भक्ति संबंधी अन्य रचनाओं से तुलना करने पर इन रचनाओं के बहुत से विचार, पद्धतियाँ समान रूप से रामानुजी साहित्य, वैष्णव-मताब्जभास्कर आदि में भी मिलती हैं। नारदभक्तिसूत्र और नारदपंचरात्र के आधार पर नारदीयाभक्ति का एक रूप निरूपित हो सकता है जिसके अन्तर्गत योग, ज्ञान और प्रेमाभक्ति का समन्वय हो। इस भावसाधन के संपूर्ण विकास में मुख्यतः भक्ति, प्रपत्ति, गुरु, भगवत्कृपा, महज्जनसंग आवश्यक प्रतीत होते हैं। आचारों और बाह्य आचरणों को बहुत अधिक महत्व न प्रदान करनेवाले भक्ति के विचारकों में नारद का विशेष स्थान है। वे वस्तुतः 'जनजल्पनिर्भया' भक्तिभावना के उपदेष्टा थे।

नारद नाम के व्यक्ति के साथ भक्ति की विचारधारा विकसिक होती रही है। सांप्रदायिक विचारों और मान्यताओं को छोड़ देने पर 'भास्कर' में नारद से बिषमताएँ अधिक नहीं मिलती। नाभादास के भक्तमाल में कबीर की भक्ति के संबंध में जो मान्यता मिलती है, वह नारदीया भक्ति के अनुकूल है। नाभादास ने स्वयं नारद को भक्ति के महिमान्वित उपदेष्टा के रूप में स्वीकार किया है। नारद की महिमा तथा उनके भक्ति संबंधी विचारों और पद्धतियों को कबीर ने भी स्वीकार किया था। उन्होंने बार-बार 'नारदी भगति' का आश्रय लेने को कहा है। यह भक्ति प्रेमाभक्ति है। इस प्रेमाभक्ति की शास्त्रीय पद्धति से विवेचना नाभादास, सुन्दरदास (छोटे) तथा निरंजनी संतों ने की है। ये निरूपण सर्वथा भारतीय परम्परा के अनुकूल है। नारदीया भक्ति में गुरु को महनीयता प्रदान की गई है। वह कबीरादि की भक्ति में भी सुलभ है। सिखगुरुओं की भी उपर्युक्त भक्ति से पर्याप्त समताएँ मिलती हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् में रुद्र शिव और गुरु के लिये भक्ति सुरक्षित है। नाथों में गुरुभक्ति दिखाई पड़ती है किन्तु ईश्वरभक्ति के कुछ क्षीण संकेत उपलब्ध होते हैं। यदि शैव परम्परा का विचार किया जाय तो श्वेताश्वतरोपनिषद् की गुरुभक्ति का प्रकृष्ट रूप नाथों में उपलब्ध है। सुरति-निरति, जप, परचा, पिछांण, भ्रमविध्वंस, भक्ति के अनुकूल अहिंसा आदि आचार, भक्तिसाधनानुकूल तत्व, क्रियाएँ और आचार, नाथों की रचनाओं में उपलब्ध हैं। इस दृष्टि से पृथ्वीनाथ की रचनाओं का विशेष महत्व है। इस प्रकार संतों को प्रेमाभक्ति स्वीकार है जिसमें ज्ञान, कर्म, योग उपकारक तत्व होकर

आते हैं। नारद और सुन्दरदास की बताई हुई प्रेमाभक्ति के लक्षण नाथों में नहीं मिलते । प्रेमाभक्ति अथवा भक्ति के अन्य प्रकार भी नाथों में उपलब्ध नहीं। नाथों का भक्ति को दृष्टि से, अनुभूतिपक्ष, भावपक्ष दुर्बल है जबकि संतों में वही सब कुछ है। नाथों में भक्ति का रसरूप उपलब्ध नहीं। उनके यहाँ रस का रसेश्वरवादी रूप ग्राह्य है। संतों में भक्तिरस रसेश्वरवादी रस से समन्वित होकर व्यक्त हुआ है। इसी प्रकार भक्ति से संबंधित अनेक साम्य-वैषम्य हैं।

पांचरात्र साहित्य तथा भक्ति सबंधी अन्य साहित्य केवल भक्ति की दृष्टि से ही विचार्य नही हैं अपितु उनका विचार भक्ति की धारा के साथ चलनेवाली वैष्णव योगधारा की विवेचना करने के लिये भी किया जाना चाहिए। भागवत सम्प्रदाय के साथ चलनेवाली इस योगधारा का संतमत और साधना की दृष्टि से अत्यधिक महत्व है। नाथों और संतों ने जिस प्रकार के योग को प्रश्रय दिया था वह तांत्रिक प्रकार का था। दोनों के योग के कुछ विवरणों में भेद मिलता है। नाथपंथियों के योग में हठयोग राजयोग का सोपान है। नाथों के संस्कृत ग्रंथों में उपलब्ध चक्र कुंडलिनी, नाड़ी आदि का वर्णन प्रकारान्तर से वैष्णव ग्रंथों में भी उपलब्ध है। वैष्णव ग्रंथों में से अहिर्बुध्न्य संहिता, जयाख्य संहिता, विष्णु संहिता, नारद पंचरात्र आदि में योग के पुष्कल विवेचन उपलब्ध हैं। तांत्रिक ग्रंथों, वैष्णव ग्रंथों, नाथपंथी ग्रंथों के योग संबंधी विवेचन नाथों और संतों के योग के विवेचन में पर्याप्त सहायक हैं। हठयोग और राजयोग दोनों समन्वित होकर कायसिद्धि और कैवल्यसिद्धि की उपलब्धि कराते हैं।

नाथों का काश्मीर शैवों से घनिष्ठ सम्बंध था। इन शैवों में तांत्रिक साधना प्रचलित थी। नाथयोगियों में भी तांत्रिक उपासनापद्धति अभी भी प्रचलित है । नाथधर्म को तंत्र और पाशुपत मत का सम्मिश्रण कहना चाहिए। नाथों के संस्कृत ग्रंथोंमें गुरुशिष्यवाद, अधिकारभेदवाद, पिंडब्रह्मांडवाद आदि के पर्याप्त विवरण मिलते हैं। हठयोगप्रदीपिका में दशांग यम और नियम मिलते हैं जो मूलतः तांत्रिक हैं। प्राणायाम को नाथों ने प्रधानता दी। उससे संबंधित ओंकारसाधन, नादानुसंधान, अजपासाधन आदि का निरूपण संस्कृत ग्रंथों में मिलता है। इसी प्रकार षट्चक्रसाधन, कुंडलिनीयोग, लययोग, मंत्रयोग आदि का भी निरूपण मिलता है। नाथों के संस्कृत ग्रंथों की तीन मुख्य बातें हैं : १. इस योग के दो लक्ष्य हैं कायसिद्धि और नाथरूप से अव-

स्थान, २. योगयुक्तज्ञान, ३. यमनियमादि या मिताहार आदि का प्राणायामादि के लिए महत्व। ब्रह्मचर्य और बिंदुरक्षा इस साधन के लिये सर्वाधिक आवश्यक हैं। नाथसिद्ध अपनी पूर्णावस्था में 'भोग में योग' तो स्वीकार करते हैं, किंतु 'भोग से योग' को स्वीकार नहीं करते।

हिन्दी रचनाओं में नैतिक स्वर ब्रह्मचर्यप्रधान है। वस्तुतः यम-नियम का ही विस्तृत निरूपण मिलता है, पर एकत्र नहीं। ये प्राणायाम के लिये अनिवार्य तत्त्व हैं। हठयोग की प्रधानता या कायसिद्धि नाथों का वैलक्षण्य है। नादानुसंधान अजपाजाप, मंत्रसाधन, षट्चक्रवेध, कुंडलिनीयोग आदि का भी परिचय मिलता है। कुंडलिनी का विस्तृत निरूपण नहीं मिलता। मुद्रा, बंध, वेध, षट्कर्म आदि का भी वर्णन नहीं है। सहज सरल जीवन के लिये आग्रह किया गया है। चक्रों के वर्णनों में संगति नहीं है। हठयोगी ग्रंथों की शब्दावली का पूर्ण प्रयोग हिन्दी रचनाओं में मिलता है। ब्रह्मचर्य और बिंदु की रक्षा का स्वर संस्कृत रचनाओं की अपेक्षा अधिक प्रबल है। साधन के लिये योगयुक्त ज्ञान को स्वीकार किया गया है। गौण लक्ष्य के रूप में पिंड-सिद्धि को तथा मुख्य चरम लक्ष्य के रूप में पिंडपद के परमपद में समरसीकरण को स्वीकार किया गया है।

संतों के योग पर पुर्नविचार करने के लिये वैष्णव ग्रंथों में उपलब्ध योग अत्यधिक महत्वपूर्ण है और उसका कारण यह है कि इन ग्रंथों में भक्ति को ही उपाय माना गया है। तंत्रप्रभावित वैष्णव ग्रंथों के योग के साधन की पर-म्परा का विकास आगे रामानुज तथा उनके पूर्ववर्ती, समकालीन और परवर्ती आचार्यों एवं वैष्णवों में भी दिखाई पड़ता है। कबीर को, अधिक सम्भावना है, योग इसी परम्परा से मिला हो। कबीर ने चमत्कारप्रधान, भक्तिहीन योग का विरोध किया था। कबीर तथा अन्य संत योगयुक्त ज्ञान को वह स्थान नहीं दे सके जो नाथपंथियों ने उसे दिया था। इससे एक ही पारम्परिक व्यवस्था में कबीर की साधना के सभी तत्व योग, ज्ञान, प्रेम, भक्ति, अहिंसा, आदि हमें मिल जाते हैं। सुन्दरदास ने अष्टांग योग के विवेचन में पतंजलि का अनुसरण न कर शारदातिलक, हठयोगप्रदीपिका आदि के दशांग यम-नियम का अनुसरण किया है। संतों का सुरत-शब्द-योग भक्ति का एक अंग है जब कि नाथों के सुरत-शब्द-योग का स्वरूप स्पष्ट नहीं है। अमृतपान, खेचरी मुद्रा आदि का वर्णन नाथों और संतों में मिलता है। संतों को मुख्यतया विहंगम योग स्वीकार्य है जब कि नाथ लोग पिपीलक या हठयोग का साधन

अनिवार्य मानते हैं। नाथों और संतों के इसी प्रकार के साम्य-वैषम्य के अनेक बिंदु हैं।

पाश्चात्य दृष्टि से भारतीय साधनात्मक साहित्य का विचार करते समय लोग रहस्यवाद को सर्वप्रथम स्थान देते हैं। पाश्चात्य विचारक अपनी परिभाषा में कर्म, भक्ति योग, ज्ञान आदि से संबंधित समग्र साधना को ग्रहण कर लेते हैं। तुलसीदास, सूरदास, रामानन्द आदि के रहस्यवाद से लोग कबीरदास के रहस्यवाद को भिन्न मानते हैं। यद्यपि कबीर के रहस्यवाद को लोग सूफियों के रहस्यवाद से अभिन्न मानते हैं तथापि पूरी तुलना कर, प्रमाण देकर इसे उपस्थित नहीं किया गया। यदि केवल एक भक्तिपरम्परा में कबीर को रखा जाय तो कोई अन्तर्विरोध नहीं मिलेगा। कुछ व्यापक परिभाषाओं के अनुसार शंकराचार्य, योगमार्गी, दार्शनिक, कर्मकांडी सभी रहस्यवादी हो सकते हैं किन्तु 'भावना' के अभाव में उन्हें पूर्ण रहस्यवादी स्वीकार नहीं किया जा सकता। यही बात नाथसिद्धों के विषय में भी कही जा सकती है।

रहस्यवादी की भाषा प्रतीकपद्धति और पौराणिक शैली से युक्त होती है। संतों और नाथों द्वारा प्रयुक्त ऐसी भाषा पर भक्ति, योग तथा तत्संबंधी साहित्य का पर्याप्त प्रभाव है। संतों और नाथों की शैली प्रतीकात्मक और पौराणिक है। उनमें अलंकारों का भी किसी न किसी रूप में प्रयोग है। संतों की रचनाओं में साहित्यिकता अपेक्षाकृत अधिक है। वैज्ञानिक रीत्या संपादन के अभाव में संतों और नाथों के छंदों का पूर्ण विवेचन संभव नहीं। सामान्य रूप से नाथों और संतों की रचनाओं में छंद संबंधी नियमों का उल्लंघन मिलता है।

इस संपूर्ण अध्ययन में अतिवर्णाश्रमी और पंचमाश्रमी की परम्परा का निरूपण-विश्लेषण ध्यान देने योग्य है। सांप्रदायिक दृष्टि से वैष्णवों और शैवों के परस्पर आदान-प्रदान नाथों और संतों की तुलना की भूमिका उपस्थित करते हैं। विभिन्न बिन्दुओं की दृष्टि से इस अध्ययन को पूर्ण नहीं कहा जा सकता, केवल कुछ पक्षों और तत्वों को प्रकाशित कर संक्षेप में तुलना की गई है। दूसरी बात यह है कि तुलना और विचार के अनेक बिंदु हो सकते थे किन्तु अधिक व्यापक और सामान्य बिंदु समझकर ही केवल भक्ति, योग, रहस्य-वाद नाम के केवल तीन बिंदुओं को ग्रहण किया गया है। वस्तुतः भक्ति, योग और रहस्यवाद संबंधी पृथक्-पृथक् पूर्ण विवेचन हो जाने के बाद यदि यह तुलनात्मक कार्य किया गया होता तो अधिक पूर्ण होता। फिर भी जिन बिंदुओं

को विचार के लिये लिया गया है उनके महत्वपूर्ण पक्षों पर प्रकाश डालने की चेष्टा की गई है। विस्तारभय से जिन विषयों और पक्षों को विद्वानों ने भलीभाँति प्रकट कर दिया है, उनकी ओर संकेत कर आगे बढ़ने की चेष्टा की गई है। अपनी प्रतिज्ञा और योजना के अनुसार हमें भक्ति, योग, रहस्यवाद, दर्शन और साहित्य के अतिरिक्त सम्प्रदाय का विचार करके तुलना करना अपेक्षित था। इनमें से दर्शन का पृथक् विवेचन छोड़ दिया गया है क्योंकि जिस अर्थ में सामान्य आलोचक संत साहित्य के दर्शन की चलती समालोचना किया करते हैं, वह हमारी खोज में ग्राह्य नहीं प्रतीत हुआ। हमने अपने प्रबंध में यह स्थिर कर दिया है कि नाथों और संतों पर तंत्रों और आगमों का प्रभाव है। अत: उनका विवेचन प्रचलित प्रथा के अनुसार वैदिक दर्शन, शास्त्रीय विवेचन अथवा आधुनिक दर्शनप्रणाली के अनुसार करना उचित नहीं था। उसका संबंध तो तंत्र और आगम की परम्परा से ही स्थिर किया जा सकता था। अत: अपने विद्वान् निर्देशक के अनुसार यह स्थिर किया गया कि यह दार्शनिक विवेचन एक स्वतंत्र प्रबंध का विषय है। अत: केवल इतना स्थिर कर देना पर्याप्त है कि नाथों और संतों, दोनों पर पर्याप्त तांत्रिक प्रभाव है और रहस्यवाद का विवेचन भी इन लोगों के साधनात्मक दर्शन और जीवनदर्शन को स्पष्ट करने के लिये पर्याप्त है। इस प्रकार हम संतोषपूर्वक कह सकते हैं कि हमने संत साहित्य के साहित्यिक मूल्यांकन के लिये अपेक्षित भक्ति, योग, रहस्यवाद, दर्शन, कविता आदि का ध्यान रखकर तुलना का कार्य किया है। अपने निष्कर्षों को स्थिर करने में सदा विद्वानों की उपलब्धियों और मूल ग्रंथों के प्रमाणों को यथामति ध्यान में रखा है।

परिशिष्ट

१—'गोरक्षनाथ मल्लिका संवाद'—एक हस्तलेख का परिचय

२—मल्लिकानाथ

३— कुछ पारिभाषिक शब्द

४—सहायक सामग्री का विवरण

५—अनुक्रमणिका

परिशिष्ट—१

'गोरक्षनाथ मल्लिका संवाद' — एक हस्तलेख का परिचय

हस्तलेख का विवरण

१—लम्बाई १२. ६ इंच, चौड़ाई ४. ६ इंच।

२—हाथ के बनाये हुए कागज पर लिखित। उसे किसी चीज से माठ कर चिकना किया गया है।

३—पन्नों की संख्या ८, पृ० १५। 'प्रीष्ठाः १' का पृष्ठ भाग सादा है।

४—प्रथम पृष्ठ में १० पंक्तियाँ तथा शेष में ११ पंक्तियाँ। अन्तिम पृष्ठ में लगभग ३ पंक्तियाँ।

५—प्रथम पृष्ठ की अक्षरावली, अन्य पृष्ठों की अक्षरावली की अपेक्षा बड़ी है किंतु प्रथम तथा शेष पृष्ठों की हस्तलिपि एक सी प्रतीत होती है। संपूर्ण पोथी एक ही व्यक्ति के हाथ की लिखी हुई प्रतीत होती है।

६—बीच-बीच में अक्षरों को मिटा कर शुद्ध किया गया है। एक दूसरी हस्तलिपि में, पृष्ठों के हासिये में सुधार किया गया है। मूल ग्रंथ और सुधार के अक्षरों की हस्तलिपि में भेद प्रतीत होता है। सुधार दूसरे व्यक्ति द्वारा किये गये प्रतीत होते हैं। सुधार की लिपि कहीं नागरी और कहीं बँगला है।

७—कागज को पीले रंग से रँग दिया गया है। लिखने के लिये काली स्याही का प्रयोग किया गया है और अशुद्ध अक्षरों को मिटाने के लिये किसी सफेद द्रव पदार्थ का प्रयोग किया गया है।

८—ल, ज्ञ, घ, अ आदि के आकारों को देखने से मूल हस्तलेख की लिपि स्पष्ट ही बँगला है और लगभग ३००—४०० वर्ष प्राचीन प्रतीत होती है।

९—भाषा भी बँगला है। इसमें षष्ठी में 'एर', द्वितीया में 'के' आदि के प्रयोग मिलते हैं। धातुरूपों में 'कहिलाम' इत्यादि प्रयोग हैं। अव्ययों में 'एखन' आदि प्रयोग बँगला के विशिष्ट प्रयोगों की ओर संकेत करते हैं। शब्दों के रूप प्रायः भ्रष्ट हैं और प्रायः इनमें व्याकरण की त्रुटियाँ हैं। शब्दों को प्राचीन शैली के अनुसार ही एक दूसरे से मिलाकर लिखा गया है।

१०—ग्रंथ की पुष्पिका में लिपिक का नाम नहीं दिया हुआ है। ग्रंथनिर्माण अथवा ग्रंथलेखन अथवा हस्तलेख का भी सन्-संवत् पोथी में नहीं है। ग्रंथ का लेखक कौन है ? इसका भी पता नहीं चलता।

११—ग्रंथ संवादशैली में लिखा गया है। यह संवाद गोरक्षनाथ और मल्लिकानाथ में हुआ है। इस ग्रंथ के गोरक्षनाथ के गुरु 'मछन्द्रनाथ' थे। मल्लिकानाथ का थोड़ा सा विवरण 'माडर्न बुद्धिज्म एण्ड इट्स फालोअर्स इन ओरिसा' में मिलता है। मयूरभंज राज्य में मल्लिकानाथ संबंधी कुछ स्मारक और ध्वंसावशेष मिले हैं। सम्भव है कि इस ग्रंथ के मल्लिकानाथ गोरक्षनाथ के उड़ीसादेशीय शिष्य रहे हों। ८४ सिद्धों में अन्तर्गणित मालीपाव से इन्हें अभिन्न बतलाने के लिये अनुमान किया जा सकता है।

१२—सुविधा के विचार से, उपर्युक्त अधिकांश विवरणों की पुष्टि के लिये 'गोरक्ष मल्लिका संवाद' के प्रथम और अंतिम पृष्ठों के लिप्यंतर देने की भी चेष्टा की गई है। वस्तुतः इस रचना पर पर्याप्त सावधानी और परिश्रम से स्वतंत्र विचार करने की आवश्यकता है।

१३—पुष्पिका में इस ग्रंथ का नाम 'श्री गोरकनाथ मल्लिका संवाद' दिया हुआ है।

१४—इसी प्रकार के एक हस्तलेख की सूचना 'श्रीनाथ ग्रंथ सूची' (योगप्रचारिणी सभा, गोरक्षटिल्ला, काशी) से मिलती है। कहा गया है कि जोधपुर दुर्ग में 'मल्लिकानाथ गोरक्षनाथ संवाद' (सं० १७९४ क–५८१ क) की एक प्रति है। किंतु काशी हिंदू विश्वविद्यालय के पुस्तकाध्यक्ष के आधिकारिक प्रयत्न करने पर भी इस प्रति से संबंधित कोई भी विवरण नहीं मिल सका। उत्तरों से ज्ञात होता है कि जोधपुर के पुस्तकालयों, संग्रहालयों में ऐसी कोई रचना नहीं है। संभव है और प्रयत्न करने पर प्रति की उपलब्धि हो सके।

१५—हस्तलेख को देखने से ऐसा मालूम होता है कि इस हस्तलेख के लिपिक ने या तो किसी हस्तलेख से इसे नकल करके लिखा है या स्मृति की सहायता से पुनरुद्धार किया है। कारण यह है कि कई स्थानों पर लगभग पूरे वाक्य को चिह्न बनाकर पंक्ति के ऊपर लिखा गया है।

१६—हस्तलेख का प्रथम और अंतिम पृष्ठ :

प्रथम पृष्ठ

(कर्त्ता) २

प्रीष्ठाः १

पंक्ति १—ओं नमो गणेशाय ।।ईश्वर उवाच।। नमः नमस्ते गुरुदेव योगाख्य प्व(पु)रुष । अन्तर्यामि नाथ प्रभु महिमा विशेषः । नमस्ते गु-

पंक्ति २—रुदेव सर्व्व योग दाता । नमस्ते गुरुदेव सर्व्व सुख दाता । नमस्ते गुरुदेव सर्व्व एव सार । नमस्ते गुरु तुमि ब्रह्मा विष्णु हर । न-

पंक्ति ३—मस्ते गुरुदेव ज्ञान कल्पतरु । सर्व्व योगेश्वर प्रभु अचल महामेरु । नमस्ते गुरुदेव करुणा ज्ञान सिन्धु । अन्ध तिमिर ना-

पंक्ति ४—सन तुमि सर्व्व ज्ञान इन्दु । नमस्ते गुरुदेव परं ब्रह्म रासि । शनी हइते उद्धार प्रभु काल दण्ड फासि । स्तुति करे मल्लिका गो-

पंक्ति ५—रक मुख (सुख?) पाणे चाहि । गुप्त कथा जिज्ञासि मोरे देह कहि । प्रसन्न हइया स्वामि कहिबा अमारे । तबे से छांडिबे स्वामि-

पंक्ति ६—जन्म मृत्तु मोरे । चरणे प्रणांम स्वामि कह योग विधि । महा-योगेश्वर प्रभु ज्ञान घट सिद्धि । उपदेस आज्ञा मोरे कर गुरु-

पंक्ति ७—देव । हइते प्राण मोरे के मते ना छाडिबे । से सकल कथा मोरे बुझाइया कह स्वामि । आत्माराम ज्ञानि तुमि सर्व्व-

पंक्ति ८—योग गामि । भो स्वामि परम दिक्षा भावे मोरे कह । जे मते रहिबे स्वामि अत्र(?) स्वर देह । योग मानक्षर(?) राजयो-

पंक्ति ९—ग मानक्षर (?) सार । से उपासना स्वामि दिया पिण्ड के उद्धार । जिव परम मोक्ष निरखि अछ जाहा । संसय फिटाइ मो-

पंक्ति १०—ते कहिबा क ताहा (?) । जिव परम सम्भू त केमन्ते होइले ।
= (पिंड)
प्राण ४

प्रथमे कि रूपे स्वामी काहि रे रहिले । केवन प्रकारे स्वा-

हस्तलेख का अन्तिम पृष्ठ

पृष्ठाः ८

पंक्ति १—गौतम कहिल याहा मिल्लका ष्वणिल ।। श्री गुरु व सिष्य पुत्र रे योग आत्मा विहरिल ।। आत्मा जे काष्ठेर करिआ पवन धारण करिब्रे । गुरु व

पृष्ठा: ८

पंक्ति २—क्त् मन्द्रे ते स्वरूप ब्रह्म के देखिबो इति श्री पव(र)म योग सारे पव(र)म हंस निर्णये श्री गुरु कथने श्री गोरकनाथ मल्लिका सम्वादे श्री सप्तांग यो

पंक्ति ३—ग धरणा जिव परम जाता याते अनुभव योग कथने श्री पव(र)-म हंस योगः समाप्तोयमं ग्रन्थः ।। लिपियत्री

+ + +

१७—हस्तलेख का विषय—सामान्य नाथसाधना के ग्रंथों के समान ही इस रचना का विषय भी योग है। प्रारम्भ में गुरुस्तुति की गई है। मल्लिकानाथ ने पिण्ड में आत्मा की स्थिरता, जन्म-मृत्यु से अतीत होने, शरीर की अचलता, सप्तवारयोग, घटयोग आदि के विषय में जिज्ञासा की है। उत्तर में गोरक्षनाथ ने पवनसाधन, मन-पवन-साधन, सप्तखण्ड-ज्ञान, सप्तवार, सप्तभूमि, योगांग, भोगांग, धारणा, कालजय, मायाजय, कायानगरविजय, अविनाशी पिण्ड, रसरक्षा, कालसिद्धि, मन-पवन का एकत्र साधन, नाड़ी (इड़ा पिंगला-सुषुम्ना)-साधन, दस पवन, सप्तांग योग का उपदेश दिया है। इस रचना में वारानुसार साधन (दे० गोरख-बानी में 'सप्तवार' और 'सप्तवार नवग्रह') पर विशेष आग्रह दिखाई पड़ता है। 'सात' संख्या भी रचनाकार को विशेष प्रिय (जैसे सिद्ध-सिद्धान्तपद्धति में 'पाँच' संख्या की महिमा है) मालूम होती है। इसमें त्रयों का परिचय भी मिलता है, जैसे—इड़ा पिंगला सुषुम्ना, गंगा यमुना, सरस्वती, उदयाचल अस्ताचल शून्याचल। स्पष्ट ही इनका साधना से संबंध है। कालजय की दृष्टि से चन्द्र-सूर्य-अग्नि-साधन की कुछ व्याख्या भी दी जा सकती है। चन्द्र का इड़ा से सूर्य, का पिंगला से तथा अग्नि का सुषुम्ना से संबंध है। इसी प्रकार साधन (अमृतसाधन की दृष्टि से उदय चन्द्र (अमृत) में, अस्त सूर्य (अमृतशोषक) में तथा शून्यपद अग्नि या सुषुम्ना (द्वैतविवर्जितस्थान) में है। यह भी कहा गया है कि सात वारों में से तीन पर चन्द्र का और चार पर सूर्य का प्रभाव है। वारानुसार साधन का बार-बार उपदेश है। गोरक्ष स्वीकार करते हैं कि यह उपदेश मत्स्येन्द्र ने उन्हें दिया था। बताया गया है कि नाना कर्मों के कारण ही जीव संसार में भ्रमित होता रहता है। 'अष्टांग योग' और 'अष्ट वार' की ओर भी संकेत इस रचना में

पृष्ठा: ८

उपलब्ध हैं। अंतिम पृष्ठ को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि 'परम योग सार' नामक किसी महाग्रंथ के 'परमहंस निर्णय' अनुच्छेद से यह संवाद गृहीत है। गोरक्ष और मल्लिका के इस संवाद में 'सप्तांग योग धारणा' नामक अनुभवयोग का उपदेश किया गया है। इन सब विवरणों को केवल इसलिये उपस्थित किया गया है जिससे 'अनुसंधित्सु जनों को इस हस्तलेख की सूचना मात्र मिल सके। हस्तलेख के विचारों की भलीभाँति परीक्षा कर किसी निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयत्न स्वतन्त्र रूप से पुनः किया जायगा। अंतिम पृष्ठ के 'गौतम' का संबंध-संकेत किस व्यक्ति से है, यह स्पष्ट नहीं हो सका है।

१७—इस हस्तलेख की उपलब्धि मुझे काशी के श्री शिवकुमार शर्मा 'मानव' से हुई। उन्होंने हस्तलेख के लिप्यंतर में भी सहायता की थी। महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ जी कविराज ने भी इस हस्तलेख को देखने की कृपा की है, कुछ सुझाव दिये हैं तथा हस्तलेख के कुछ आरंभिक अंशों के लिप्यंतर का संशोधन किया है।

परिशिष्ट—२

मल्लिकानाथ

मल्लिकानाथ के संबंध में अद्यतन प्रकाशित सामग्री बहुत कम है। मल्लि-कानाथ का थोड़ा-सा परिचय 'माडर्न बुद्धिज्म एण्ड इट्स फालोअर्स इन ओरिसा' में उपलब्ध था। इस परिचय संबंधी सामग्री को संकलित करने में भी श्री शिवकुमार शर्मा ने मेरी सहायता की। संसदसदस्य स्व० श्री प्रफुल्लचन्द्र भंजदेव 'मानव' जी के परिचित थे। मेरा यह अनुमान सत्य ही निकला कि यदि मल्लिकानाथ का संबंध मयूरभंज प्रदेश से है तो निश्चय ही मयूरभंज के राजवंश के व्यक्तियों को मल्लिकानाथ के संबंध में कुछ ज्ञान होगा क्योंकि इतिहासग्रंथों में यह तथ्य मिलता है कि भंज राजवंश के ऊपर बहुत प्राचीनकाल से ही शैव संप्रदाय का प्रभाव था। श्री 'मानव' के पत्र के उत्तर में श्री प्रफुल्लचन्द्र भंजदेव ने मल्लिकानाथ के परिचय तथा 'मल्लिकामकरंद' के इतिहासखण्ड की प्रतिलिपि से युक्त एक पत्र भेजा। उन्होंने साथ ही मल्लिकानाथ सिद्धेश्वर की समाधि के ऊपर स्थापित शिवलिंग तथा मल्लिकानाथ के स्वहस्तार्चित शिवलिंग के छायाचित्र भी भेजे। इन शिवलिंगों पर मंदिर का निर्माण श्री प्रफुल्लचन्द्र भंजदेव के पितामह (महाराज श्री कृष्णचन्द्र भंजदेव) के कनिष्ठ भ्राता राजोत्तरराज श्री गोकुलचन्द्र भंजदेव ने कराया था। राज्य के विलय के बाद मंदिर दुरवस्था में है। श्री गोकुलचन्द्र भंजदेव ही मयूरभंज के अधिकांश शिवालयों के प्रतिष्ठाता तथा संस्कर्ता थे। वारुणीनाथ के स्थल की खोज इन्होंने ही की थी। श्री प्रफुलचन्द्र भंजदेव के पिता राजोत्तरराज श्री दामचन्द्र भंजदेव ने पुत्र के जन्म पर मयूरभंज के शिल्पियों को उत्तर काशी के विश्वनाथ मंदिर का मानचित्र लाने के लिये भेजा और उसी के अनुसार मल्लिकानाथ से संबंधित पंचशिख मंदिर का निर्माण हुआ।

वारुणीनाथ के पूर्व भी मयूरभंज का प्रदेश प्राचीन शैव क्षेत्र था। श्री प्रफुल्लचन्द्र भंजदेव ने ताड़पत्र पर लिखित 'मल्लिकामकरंद' के इतिहासखंड को उद्धृत करते हुए अपने पत्र में बताया है कि पहले मल्लिकानाथ नीवार देश के एक क्षत्रिय योद्धा थे और उस समय उनका नाम बिबुधेन्द्रमल्ल था। किसी समय मृगयायात्रा में उन्होंने समाधिस्थ कापालिक गोरक्षनाथ का दर्शन किया।

नमस्कार करने पर आशीर्वाद न मिलने के कारण विबुधेन्द्रमल्ल ने गोरक्ष को दंभी समझा और क्रुद्ध होकर समाधिस्थ कापालिक के मस्तक पर खंग से प्रहार किया। जटाजूट से टकराकर खंग के टूट जाने पर विबुधेन्द्रमल्ल को अत्यधिक पश्चात्ताप हुआ और वे संसार त्याग कर गोरक्ष के शिष्य बने। गोरक्ष की तरह ही उन्होंने भी कालीकुल तथा ताराकुल की सिद्धि प्राप्त की और सिद्ध पद पर अभिषिक्त हुए। सिद्धिप्राप्ति के बाद ये विश्वनाथ नाम से प्रख्यात हुए किंतु इनका गुप्त नाम 'स्वानंद' था। गुरु के आदेश से त्रिपुरा की उपासना के लिये उड्डीयान गये। कौलों के साथ विभिन्न चक्रार्चनों में त्रिपुरा देवी की उपासना में लीन रहने के बाद उड्डीयानादि पर सिद्धिलाभ कर चक्रार्चन में अपनी उत्तरसाधिका के रूप में एक ब्रह्मवादिनी ब्राह्मणकन्या का वरण किया। इस कन्या से ही इनका चक्र में शैव विवाह भी हुआ। उड्डीयान के सिद्धों के क्रमानुसार उन्होंने अपनी सिद्धा भैरवी का नाम मल्लिका रक्खा और तत्पश्चात् ही वे मल्लिकानाथ के नाम से प्रसिद्ध हुए। महानिर्वाण के दिन उन्होंने अपने मुख्य शिष्य योगी वारुणीनाथ को मृत्यूपरान्त शरीर को अरण्य में गाड़कर उसके उपर शिवलिंग स्थापित करने का आदेश दिया। तदनुसार ही वारुणीनाथ ने किया तथा पास में ही उन्होंने मल्लिकानाथ के स्वहस्तार्चित शिवलिंग को भी प्रतिष्ठित कर दिया। गोरक्ष आकाशमार्ग से उड्डीयान आये थे तथा मल्लिकानाथ ने उनका दर्शन किया था, इसका वर्णन 'मल्लिकामकरंद' में मिलता है। वारुणीनाथ भी रससिद्ध और परम ज्ञानी थे। सिद्धा भैरवी मल्लिका मल्लिकानाथ के इहलोकत्याग के बहुत दिनों बाद तक जीवित रहीं। ये कालिका मंत्र में दीक्षित थीं तथा पागलों जैसी रहती थीं। 'मल्लिकामकरंद' में इस स्थान को दण्डभुक्ति कहा गया है। इस रचना में मीननाथ और गोरक्षनाथ का भी कुछ विवरण उपलब्ध है।

ताड़पत्र पर लिखित 'मल्लिकामकरंद' नामक हस्तलेख की प्रतियाँ मयूरभंज के प्राचीन ब्राह्मणों के घरों में अब भी मिलती हैं। इसकी तीन लहरी ही तीन खंडों में विभक्त कही जा सकती हैं। पहला खंड इतिहास खण्ड है जिसे सामान्यतया स्थूल खण्ड कहा जाता है तथा जिसमें सिद्धों का इतिहास है। दूसरे खण्ड (क्रियाकलाप खण्ड) या सूक्ष्म खण्ड में उनका साधनविवरण है तथा तीसरे खण्ड (रहस्य खण्ड) या गुह्य खण्ड में तत्व का, गुप्त साधन का उल्लेख है। 'मल्लिकामकरंद' के वास्तविक रचयिता विमलनाथ सिद्ध हैं। इन्होंने अपने गुरु वारुणीनाथ योगीन्द्र से इसे सुनकर, उन्हीं के आदेश से इसे

लिखा था। 'मल्लिकामकरंद' की दो लहरियों की प्रतिलिपि ताड़पत्र पर करके श्री प्रफुल्लचन्द्र भंजदेव के पैतृक पुस्तकालय में सुरक्षित रखी हुई है। इस लेख के इतिहास खण्ड को ओड्र लिपि से नागरी लिपि में परिवर्तित कर श्री प्रफुल्लचन्द्र भंजदेव ने श्री 'मानव' के पास भेजी थी जिसकी टंकित प्रति हमारे पास सुरक्षित है।

जिन भंज महानुभावों के संदर्भ ऊपर आये हैं, उनके पूर्वज उड़ीसा में ९वीं ई० श० में सर्वप्रथम प्रकाश में आये। नेत्तभंज प्रथम ही सर्वप्रथम भंजप्रमुख थे, ऐसा माना जाता है, जिनकी स्थिति ८वीं ई० शताब्दी में स्वीकृत है। इन भंजवंशियों का क्रम इस प्रकार बताया जाता है—

नेत्तभंज →शीलभंज प्रथम →शत्रुभंज →रणभंज प्रथम →नेतृभंज द्वितीय। रणभंज प्रथम को स्तंभेश्वरी और शिव का दृढ़ उपासक कहा गया है।[1] इन प्रमाणों से यह स्पष्ट होता है कि मयूरभंज बहुत प्राचीन काल से शैवों से प्रभावित क्षेत्र रहा है। भंजवंश बहुत प्राचीनकाल से ही शिवोपासक रहा है किंतु कुछ धर्मैतिहासकार यह भी कहते हैं कि उड़ीसा के ऊपर बौद्ध प्रभाव भी कम नहीं रहा है। श्री नगेन्द्रनाथ वसु ने अपने ग्रंथ में तथा उसके प्राक्कथन में महामहोपाध्याय पं० हरप्रदाद शास्त्री ने इस बात को सिद्ध करने की चेष्टा की है। शास्त्री जी के अनुसार पूरबी भारत में बौद्ध मत के अवशेष चैतन्य के समय तक देखे जा सकते हैं। बौद्धों के दर्शनिक और चिन्तनात्मक उत्थान के बाद ब्राह्मणों और शैवों के उत्थान तथा मुसलमानों के आक्रमण से क्रमशः उस बौद्ध मत का ह्रास होता रहा। किन्तु बौद्ध समाज ने जिन विभिन्न धर्मों को आत्मसात कर लिया था उनमें से एक नाथमत भी था जिसके नेता मत्स्येन्द्र और गोरक्ष थे और ये दोनों ही बौद्ध धर्मेतर मतों से आये थे।[2] श्री वसु ने यह बताया है कि परवर्ती बौद्धों में प्रवृत्तिमार्गियों और निवृत्तिमार्गियों के दो वर्ग हो गये थे। ये दोनों ही मार्ग एक दूसरे से तत्वतः भिन्न थे। प्रथम मार्ग आदि-बुद्ध और आदिप्रज्ञा (पुरुष और प्रकृति के एकात्म को प्रेम और संसार के भोग से उपलब्ध करना चाहता था तथा दूसरा महाशून्य में आत्मा के लय को शुद्धता, प्रेम और संन्यास से प्राप्त करना चाहता था। गौड़ देश में इन दोनों

---

[1] हिस्ट्री आव ओरिसा, आर० डी० बनर्जी, वा० १, पृ० १६३, १६७, १७३।

[2] माडर्न बुद्धिज्म एण्ड इट्स फालोअर्स इन ओरिसा, इंट्रो० पृ० १–२८।

मार्गों ने जन्म लिया और विकास पाया।[1] संकेत किया गया है कि (बौद्ध गान ओ दोहा नामक 'संग्रह' की) महा० पं० हरप्रसाद शास्त्री द्वारा प्राप्त रचनाएँ बौद्धों के उपर्युक्त प्रवृत्तिमार्ग की रचनाएँ हैं।

जब देश से बौद्ध धर्म का पूरी तरह से लोप भी नहीं हो पाया था, तभी प्रवृत्तिमार्ग ने वैष्णवों के सहजिया मत में प्रवेश किया। शीघ्र ही प्रवृत्तिमार्ग प्रभावशाली हो गया। निवृत्तिमार्ग भी समाज के विचारों के नियंत्रण और दिशापरिवर्तन में महत्वपूर्ण योग देता रहा। इसका प्रमाण शून्य पुराण, धर्म-मंगल तथा मयूरभंज में सद्यः प्राप्त ओड़ हस्तलेखों के आलोचनात्मक अध्ययन से मिलता है।[2] निवृत्तिमार्ग के परवर्ती विकसित विशिष्ट रहस्यवाद के साधक श्रीज्ञान, रामाइ पंडित आदि की सिद्धियों से बहुत प्रभावित थे। ये लोग बौद्धों के निर्वाण के समान ही 'बम्म' और 'निब्बान' की उपलब्धि को आवश्यक मानते थे। अतिश का प्रभाव तो उस समय दक्षिण बंगाल से लेकर भोट तक फैला हुआ था। रामाइ पंडित की प्रसिद्धि पूरे राढ़ प्रदेश में थी। मयूरभंज राढ़ देश के अत्यधिक समीप स्थित है किंबहुना उड़ीसा के लोगों में मयूरभंज ही राढ़ के रूप में परिचित है और हाड़ी सिद्ध के नाम का विलक्षण प्रभाव बंगाल के पूरबी प्रदेशों में बहुत अधिक था।[3]

श्री नगेन्द्रनाथ वसु ने एक अन्य स्थल पर लिखा है कि बौद्धों का अनुत्तर-योग हठयोग है और उड़ीसा के गुप्त बौद्धों में पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। यह साधन, लामा तारानाथ के अनुसार, तांत्रिक साधनयोग का एक निम्न प्रकार था किन्तु साथ ही सर्वप्रचलित साधन था। यह साधन असंग और धर्मकीर्ति के समय से ही चला आ रहा था। डा० कर्न ने उपर्युक्त बात को पुष्ट करते हुए कहा है कि 'धर्मकीर्ति के बाद अनुत्तरयोग अधिक से अधिक सर्वप्रचलित और प्रभावशाली होता गया।' बलरामदास तथा अन्य लेखकों की रचनाओं से इस मत की पुष्टि होती है। बौद्ध और शैव, दोनों ही, गोरक्षनाथ को हठ-योग का पुरस्कर्ता मानते हैं। वैष्णव-बौद्ध ग्रंथ अमरपटल का आरम्भ गोरक्षनाथ और मल्लिकानाथ के संवाद से होता है।[4]

---

[1] वही, मूल, नगेन्द्रनाथ वसु, पृ० ७, ८।

[2] वही, मूल, पृ० ९।

[3] वही, पृ० ९।

[4] वही, पृ० ११४–११५; दि आर्क्योलाजिकल सर्वे आव मयूरभंज, वा० १, इंट्रो० २, सी. सी. ४, सी. सी. ५।

नालंदा के पतन के बाद उत्कल में बौद्ध कई प्रमुख संप्रदायों में विभक्त हो गये और ये सभी सम्प्रदाय बौद्ध धर्म से क्रमशः विकसित होनेवाले विभिन्न रूपों के परस्पर सम्पर्क से उत्पन्न हुए थे। यहाँ तक कि १६वीं ई० श० तक उत्कल में उनके धर्मग्रंथों के अवशेष और प्रभाव उपलब्ध थे। अच्युतानंददास ने अपनी 'शून्य संहिता' में इन धर्मसम्प्रदायों के संबंध में लिखा है—

नागान्तक वेदान्तक योगान्तक जेते।
नाना प्रति विधि रे काहिले तोष चिते॥
गोरखनाथांक विद्या वीरसिंह आज्ञा।
मल्लिकानाथांक योग बाउली प्रतिज्ञा॥
लोहिदास कपिलंक साक्षिमन्त्र जेते।
काहिले जे येमन्त से होइछि गुपते॥

(अध्याय १०)

इन पद्यों में नागान्तक का तात्पर्य नागार्जुन के अनुयायियों से है। इसी प्रकार वेदान्तक का सौत्रान्तिकों से, योगान्तक का योगाचारियों से है। गोरक्षनाथ और वीरसिंह की आज्ञा से धार्मिक नियम, साधन और अभ्यास, मल्लिकानाथ का योगमत, बाउली मत के सिद्धान्त तथा लोहिदास और कपिल के साक्षिमंत्र ये गुह्यता में भूमिगत (छिपे हुए थे ? या गुप्त) थे।[1]

ऊपर उड़ीसा के जिन लेखकों के नाम आये हैं, वे हैं—बलरामदास और अच्युतानन्द दास। दोनों का स्थितिकाल चैतन्यकाल है।[2] इससे यह प्रकट होता है कि मल्लिकानाथ का अभ्युदय चैतन्य के पूर्व ही हो गया था। 'माडर्न बुद्धिज्म एण्ड इट्स फालोअर्स इन ओरिसा' के प्राक्कथनलेखक और मूल लेखक के विचारों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि गोरखनाथ और मल्लिकानाथ का अभ्युदय बौद्ध क्षेत्र, प्रभाव और परम्परा के अंतर्गत ही हुआ किंतु इस संबंध में हम तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य के अन्तिम परिच्छेद तथा इस प्रबंध के आरम्भ में प्रमाण देकर कह चुके हैं कि गोरखनाथ की परम्परा साधनपद्धति और प्रभावक्षेत्र, सभी भिन्न और शैव हैं। ऊपर मल्लिकानाथ संबंधी जो सांप्रदायिक विवरण श्री प्रफुल्लचंद्र भंजदेव द्वारा प्रेषित सामग्री के आधार पर दिया गया है, उससे भी यही स्पष्ट होता है कि मल्लिकानाथ का

---

[1] माडर्न बुद्धिज्म एण्ड इट्स फालोअर्स इन ओरिसा, पृ० १२३-१२४; दि आर्क्योलाजिकल सर्वे आव मयूरभंज, इंट्रो० २, पृ० सी.सी. १२।

[2] दि हिस्ट्री आव ओरिसा—हरेकृष्ण महताब, अपेन्डिक्स, पृ० १७२-१७३।

संबंध शैवों से था तथा भारतीय तंत्रसाधना से उनका घना संबंध था। सिद्धों की सूचियों में 'मल्लिकानाथ' अथवा 'मल्लिका' नाम का कोई भी सिद्ध नहीं है। डा० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने इस संबंध में विचार-विमर्श करते समय बताया कि मल्लिकानाथ का 'मालीपाव' नाम के सिद्ध से अभिन्न होने का अनुमान किया जा सकता है। किंतु इस संबंध में किसी निर्णय पर पहुँचने के पूर्व अभी पर्याप्त छानबीन की आवश्यकता है। फिर भी इतना निश्चित है कि 'मल्लिकानाथ' का यहाँ सबसे पहली वार परिचय उपस्थित किया गया है। इससे भविष्य में शोधकार्य करने में, संभव है, किसी नवीन दिशा अथवा तथ्य अथवा सामग्री का उद्घाटन हो।

———

परिशिष्ट—३

कुछ पारिभाषिक शब्द

अन्तरोन्मुख दृष्टि अथवा अंतर्दृष्टि	—Inward Sight
अंतर्यामी	—Indwelling
अनेकता में एकता	—Unity in Diversity
अभावात्मक पद्धति	—Via-Negative
अयोग्य	—Inefficient
आंतरिक जीवन	—Inner Life
आक्रांत करना	—To Invade
आध्यात्मिक आनंद	—Ecstacy
आध्यात्मिक ज्ञान	—Spiritual Apprehension
इंद्रियप्रत्यक्ष	—Sensation
ईश्वरवाणी	—Word of God
ईश्वरवादी	—Theologian
ईश्वरसमान	—God-like
उदासीन	—Indifferent
एषणा	—Aspiration
कल्पना	—Imagination
ग्रहण या साक्षात्कार	—Grasp
चिंतनात्मक	—Contemplative
चेतना का आधार	—Ground of Consciousness
ज्ञान (बौद्धिक)	—Wisdom
तत्ववैज्ञानिक	—Metaphysical
दिव्य स्फुलिंग	—Divine Spark
दृष्टि	—Vision
धर्मदर्शन-तत्ववैज्ञानिक	—Theologico-Metaphysical
नित्य	—Permanent
नि:शब्द संयोग	—Wordless Communion
नैतिक	—Ethical

परम दैवत —Godhead
परावृत्ति, परावर्तन —Reversal
पूर्ण ब्रह्म तत्व —Absolute Reality
पूर्ण रूप —Perfect Form
पौराणिक कथा —Mythology
प्रतिमा —Image
प्रत्यक्ष समागम —Direct Intercourse
प्रतीकवाद —Symbolism
प्रवृत्ति —Motive
प्रातिभ आन्तरिक ज्ञान —Intuitive Inner Knowledge
बाह्य माध्यम —External Media
बौद्धिक —Intellectual
भक्ति —Devotion
भाव —Idea
भावना —Feeling
मतवाद —System
मरीज या रुग्ण —Pathological Case
महत्कार्य —Deeds
योग —Union
रहस्यमयी युक्ति —Mystical Reason
रहस्यानुभव, रहस्यानुभूति —Mystical Experience
वातावरण —Surroundings
विचार —Thoughts
विचारणा —Contemplation
विचारसरणि —Modes of thought
विशेष मतविश्वास —Definit System of Belief
विश्वदेववादी —Pantheistic
वैश्व चेतना —Cosmic Consciousness
व्यावहारिक अथवा क्रियात्मक —Practical
शुद्ध सत्व —Pure Being
संवेग —Emotions

समाज विरोधी	—Anti-Social
सर्वातीत चेतना	—Transcendental Consciousness
सर्वातीत भावना	—Transcendental feeling
सर्वातीत शक्तियाँ	—Transcendental Energies
ससीम गुण अथवा विशेषण	—Finite qualities or Characteristics
साक्षात्कार पद्धति	—Method of Approach
सिद्धान्त	—Dogmas
सुविचारमय जीवन	—Contemplative Life
सैद्धान्तिक	—Theoretical
स्वयं अनुभव (स्वानुभव)	—First Hand Experience

परिशिष्ट—४

सहायक सामग्री का विवरण

संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश

अमरौघशासनम्—पं० मुकुंदराम शास्त्री, काश्मीर सिरीज आव टेक्स्ट्स ऐंड स्टडीज, नं० १९, २०, २१, बाम्बे, १९१८।

ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिशद्—काश्यां रामघट्टस्थ बाबू शिवप्रसाद राघोराम सर्व हितैषी कम्पनी द्वारा प्रस्तुत, सन् १९३८।

एट उपनिषद्स—(अंग्रेजी अनुवाद सहित) श्री अरविंद आश्रम, पांडिचेरी, १९५३, प्रथम संस्करण।

कौलज्ञाननिर्णय—डा० प्रबोधचन्द्र बागची, कलकत्ता, १९३४।

गोरक्षपद्धति—पं० महीधर शर्मा कृत भाषानुवाद सहित, खेमराज श्रीकृष्ण दास, श्रीवेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई–४, सन् १९५४।

गोरक्ष संहिता—श्रीगोरक्षविरचिता, इंद्र जी शर्मा द्वारा प्रकाशित, अहमदाबाद, सं० १९५०।

गोरक्षसिद्धांतसंग्रह—सं० गोपीनाथ कविराज, गवर्नमेन्ट संस्कृत लाइब्रेरी, बनारस, १९२५, सरस्वती भवन टेक्स्ट्स नं० १८, पार्ट १।

घेरण्ड संहिता—भाषा टीका सहित, गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास, लक्ष्मीवेंकटेश्वर स्टीम प्रेम, कल्याण, बम्बई, सं० २०१३।

दि नारद पंचरात्र—एशियाटिक सोसायटी आव बेंगाल, एडिटेड बाई रेव०के०एम०बनर्जी, कलकत्ता, बिशप्स कालेज प्रेस, १८६५।

दि योग उपनिषद्स—एडिटेड बाइ पं०ए०महादेव शास्त्री, बी०ए० पब्लिश्ड फार दि आड्यार लायब्रेरी (थियोसोफिकल सोसायटी), १९२०।

दि वर्ड आव लल्ला—एनोटेटेड बाई सर रिचार्ड कार्नक टेम्पल, केम्ब्रिज, ऐट दि युनिवर्सिटी प्रेस, प्रथम संस्करण।

दि शांडिल्य संहिता—भक्ति खण्ड, पार्ट १, दि प्रिंस आव् वेल्स्, सरस्वती भवन टेक्स्ट्स, नं० ६०, गवर्नमेन्ट संस्कृत लाइब्रेरी, बनारस १९३५।

नारद भक्तिसूत्र—(दि गास्पेल आव डिवाइन लव)—स्वामी त्यागीशानंद श्री रामकृष्ण मठ, मैलापुर, मद्रास, १९५५।

नारद भक्ति सूत्र—हिन्दी टीका सहित—पंड्या बैजनाथ बी०ए०, मास्टर खेलाड़ीलाल ऐंड संस, काशी, १९३३।

परशुरामकल्पसूत्र—ए०महादेव शास्त्री, सेकेण्ड एडिसन बाइ शंकरलाल यज्ञेश्वर शास्त्री दवे आव बड़ौदा, १९५०, बड़ौदा ओरियंटल इन्सटीट्यूट।

पातंजल योग दर्शन—गीताप्रेस, गोरखपुर, चौदहवाँ संस्करण, २००७।

भगवद्गीता—(गुटका) गीताप्रेस संस्करण।

भक्ति दर्शन—शाण्डिल्य कृत, निगमागमी भाष्य सहित, क्षेमराज श्री कृष्णदास, बम्बई, १९५५।

भास्करी—वा० १, के०ए० सुब्रह्मण्य अय्यर ऐंड डा० के०सी०पाण्डेय, इलाहाबाद, सुपरिन्टेन्डेन्ट प्रिंटिंग ऐंड स्टेशनरी, यूनाइटेड प्राविंसेज, इंडिया, १९३८।

महार्थमंजरी—गोरक्षटिल्ला, वाराणसी से योगप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित, प्रथम आवृत्ति।

योगदर्शन—पतंजलिकृत, हिन्दी व्याख्या सहित, ीताप्रेस, गोरखपुर, द्वि० सं० २०११।

योगबीजम्—गोरक्षविरचित, योगप्रचारिणी सभा, गोरक्ष टिल्ला, काशी, २००८, प्रथमावृत्ति।

योग साहस्री—(पूर्वार्द्ध), प्रकाशिका-योगप्रचारिणी सभा, गोरक्ष टिल्ला, काशी, सं० २००९, प्रथमावृत्ति।

लल्ल वाक्यानि—सर जार्ज ग्रियर्सन ऐंड लियोनेल डी० बेनेट, पब्लिश्ड बाइ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी, लंडन, १९२०।

वैष्णवमताब्जभास्कर—रामानंदाचार्य प्रणीत, हिन्दी टीका सहित, प्रकाशक महन्त श्री कृष्णदास, श्री रामानंद साहित्य मंदिर, अट्टा, अलवर, राजपूताना, सं० २००२।

शांडिल्यभक्तिसूत्र—गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २०१२, द्वितीय संस्करण।

श्री नाथशतकम्—गोरक्षटिल्ला, योगप्रचारिणी सभा, काशी, प्रथम संस्करण।

श्वेताश्वतरोपनिषद्—सटीक, सभाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २००९।

षट्चक्रनिरूपण—तारानाथ विद्यारत्न, थर्ड एडिशन, १९५१, सेक्रेटरी, आगमानुसंधान समिति, ७-ए, चालदाबागान लेन, कलकत्ता।

संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी—सर एम० मोनियर विलियम्स, फर्स्ट एडिशन, १८९९, आक्सफोर्ड, इम्प्रेशन १९५१।

सात्वत तन्त्रम्—पंडित अनन्त शास्त्री फडके, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, ग्रंथ ७९, नं० ४२७, १९३४, बनारस।

सिद्धसिद्धान्तपद्धति—मूल एवं भाषा टीकासहित, नाथब्रह्मचर्याश्रम, हरद्वार।

सिद्धसिद्धान्तपद्धति एंड अदर वर्क्स आव नाथयोगीज—श्रीमती कल्याणी मल्लिक, पूना ओरियंटल बुक हाउस, पूना, १९५४।

सिद्धसिद्धान्तसंग्रह—गवर्नमेंट संस्कृत लाइब्रेरी, सं० १३, बनारस, १९२५।

हठयोगप्रदीपिका—स्वात्माराम योगीन्द्र विरचिता, क्षेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, सं० २००९, शाके १८७४।

बँगला

नाथसम्प्रदायेर इतिहास, दर्शन ओ साधनाप्रणाली—डा० कल्याणी मल्लिक, कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९५०।

दादू—क्षितिमोहन सेन, शांतिनिकेतन बुकडिपो, कलकत्ता, १३४२ बंगाब्द।

बौद्ध गान ओ दोहा—सं० महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री, बंगीय साहित्य परिषद्, कलकत्ता, द्वितीय मुद्रण (संस्करण), भाद्र, बंगाब्द १३५८।

राजगुरु योगिवंश—श्री सुरेशचन्द्र नाथ मजुमदार, प्रकाशक श्री प्रमथनाथ नाथ, राणाघाट, नदीया, आग्रहायण १३५१ (बंगाब्द), तृतीय संस्करण।

मराठी

पंजाबांतील नामदेव—शंकर पुरुषोत्तम ढवले, प्रकाशक—केशव भिकाजी ढवले, श्री समर्थ सदन, बंबई, १९४०।

अंग्रेजी ग्रंथ तथा पत्र-पत्रिकाएँ

A History of Indian Philosophy, Vol.I-S.N. Dasgupta, Cambridge, At the University Press, 1922 and 1951 ; Vol. II, 1952 ; Vol. IV, 1949.

A History of Mithila Literature—Jayakanta Misra, Vol. I, Tirabhukti Publication, I, Sir P.C. Banerji Road, Allahabad, 1949.

Annals and Antiquities of Rajasthan or Central and Western Rajput States of India—Leiut. Col. James Tod, London, 1950 (Two Volumes in one)

An Outline of the Religious Literature of India—J.N. Farquhar, London, 1920.

Caste and Class in India—G.S. Ghurye, Philosophical Library, New York, 1952.

Collected Works of Sir R. G. Bhandarkar, Vol. IV—edited by Narayana Bapuji Utgikar, Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, 1929.

Comparative and Critical Study of Mantrasastra (with special treatment of Jain Mantrasastra) —Mohanlal Bhagwandas Jhavery, Ahmedabad, V.S. 2000, 1944 A.D.

Encyclopaedia Britanica—Encylcopaedia Britanica Ltd. Chicago, London, Taronto—
Vols.—16, 21, 20—edition of 1768.
Vols.—1, 2—edition of 1955.

Encyclopaedia of Religion and Ethics—James Hastings, Edinburgh—

Vol. 9 edition of 1917
Vol. 11 ,, 1020
Vol. 12 ,, 1921
Vol. 10 ,, 1918
Vol. 2 ,, 1909
Vol. 7 ,, 1914
Vol. 4 ,, 1911

Essays and Lectures Cheifly on the Religions of Hindus—H. H. Wilson, Dr. Reinhold Rost, Vol. I, London : Trubner & Co., 60 Paternoster Row, 1862.

Garland of Letters (Varnamala)—Sir John Woodroffe, Ganesh & Co., (Madras) Ltd., 1955.

Gorakhanath and Kanphata Yogis—G. W. Briggs, G.M.C.A. Publishing House, 5 Russel Street, Calcutta; Humphery Milford, Oxford University Press, London, 1938.

Gorakhnath and Mediaval Hindu Mysticism—Dr. Mohan Singh, Lahore, 1937.

Hindi Religious Poetry—Rev. A. Shah, Cawnpore, 1925.

Hindu Castes and Sects—Jogendranath Bhattacharya, Thacker Spink & Co., 1896.

Hinduism and Buddhism (A Historical Sketch)—Sir Charles Eliot, in Three Volumes, Vol. III, Routledge & Keegan Paul Ltd., London, E.C.4, 1954.

Hindu Mysticism—Dr. S. N. Dasgupta, Chicago : London : The open Court Publishing Co., 1927.

Hindu Tribes and Castes—Rev. M.A. Sherring, Vol. II ; Calcutta, 1879.

History of Bengali Language and Literature—Prof. Dinesh Chandra Sen, University of Calcutta, 1954.

History of Dharmasastra, Vol. I— Panduranga Vaman Kane, Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, 1930.

History of Mediaval Hindu India, Vol. II—C.V. Vaidya, Poona, The Book Supplying Agency, 1924 ; Vol. III, 1926.

History of Orissa, Vol. I—R. Chatterji, Calcutta, 1930.

History of Philosophy : Eastern and Western—Ed. by S. Radhakrishnan, Vol. one, London, George Allen & Unwin Ltd., 1952.

Indian Philosophy : S. Radhkrishnan, Vol. II, London, George Allen & Unwin Ltd., Ruskin House, 40 Museum Street, W.C. 1948.

Indian Sadhus—G. S. Ghurye, The Popular Books Depot., Lamington Road, Bombay 7, 1953.

Influence of Islam on Indian Culture–Dr. Tarachand, The Indian Press publications Ltd., Allahabad, 1954.

Introduction to Pancaratra and Ahirbudhnya Samhita—F.Otto Schrader, Adyar Library, Adyar, Madras, 1912.

Introduction to Tantrasastra—Sir John woodroffe, Ganesh & Co. Ltd., Madras 17, 1952.

Kabir and His Followers—Rev. F.E. Keay, Association Press, 5 Russel Street, Calcutta, 1931.

Language and Reality—Wilber Marshall Urban, London, George Allen & Unwin Ltd., Museum Street, 1939.

Mediaval Mysticism of India—Kshitimohan Sen, Luzak and Co., London, 1935.

Monograph on the Religious Sects in India among the Hindus—D.A. Pai, Bombay, the Times Press, 1928.

Mysticism in English Literature—C.F.E. Spurgeon, Cambridge, At the University Press, 1913.

Mysticism in Maharastra-S. K. Belvalkar and R. D. Ranade, Aryabhushan Press Office, Shaniwar Peth, Poona, 1933.

Mysticism in Religion—W.R. Inge, Hutchinson's University Library, 47, Princess Gate, London, New York.

Myths and Symbols in Indian Arts and Civilization—Heinrich Zimmer, edited by Joseph Campbell, Bollignen Series VI, New York. 1953.

Nathyoga—Aksayakumar Banerji, Publisher—Digvijaya Nath Trust, Gorakhpur.

Obscure Religious Cults—Dr. Shashibhushan Dasgupta, University of Calcutta, 1946.

Outlines of Hinduism—T. M. P. Mahadevan, Chetan Ltd., Bombay, 1956.

Pathway to God in Hindi Literature—R. D. Ranade, Published by Adhyatma Vidya Mandir, Sangali, Nimbal (R.S.) 1954.

Philosophy of Sikhism—Sher Singh, Sikh University Press, Lahore, 1944.

Poets and Mystics—E. .I. Watkins, Sheed and Ward, London and New York, First Published, 1953.

Principles of Tantra—Arthur Avalon, Ganesh & Co., Madras, 1952.

Ramanand to Ramatirtha--First Edition, G. A. Nateson & Co., George Town, Madras.

Studies in Indian Literature History, Vol. I—P. K. Gode.

Studies in the Tantras, Part I—Dr. Prabodha Chandra Bagchi, University of Calcutta, 1939.

The Archeological Survey of Myurbhanja, Vol.I—Narendra Nath Vasu, Published by the Mayurbhanja State, 1911.

The Bijak of Kabir—Translated into English by the Rev. Ahmad Shah, Published by the author at Hamirpur, U.P. 1917.

The Cols—K.A. Nilakantha Sastri, University of Madras, 1955.

The Cultural Heritage of India, Vol. IV. edited by Haridas Bhattacharya, Calcutta, the Ramkrishna Mission, Institute of Culture, 1956.

The Foundations of Indian Culture—Sri Aurobindo, The Aurobindo Library, inc. New York, 1953.

The Hindu View of Life—S. Radhakrishnan, London, New York, 1948.

The History of Bengal, Vol. I (Hindu Period) by R. C. Majumdar, Published by the University of Dacca, 1953.

The History of Orissa—Harekrishna Mahtab, Published by Lucknow University, 1947.

Theism in Mediaval India—J. E. Carpenter, The Hibbert Lectures, Second Series, London, Williams & Norgate, 14 Henritta Street, Gardner, W.C. 2, 1921.

The Meeting of the East and West in Sri Aurobindo's Philosophy—S. K. Maitra, Sri Aurobindo Ashram, Pondichery, 1956.

The Modern Buddhism and its followers in Orissa —Nagendra Nath Vasu, Published by the author, Bagbazar, Calcutta, 1911.

The Nigruna School of Hindi Poetry—Dr. Pitamber Datta Barthwal, The Indian Book Shop, Banaras, 1936.

The Philosophical Study of Mysticism—Charles A. Bennet, oxford University Press, March, 1931.

The Philosophy of Visistadvaita—P. N. Srinivasachari, The Adyar Library, Adyar, 1946.

The Post-Chaitanya Sahajiya Cult of Bengal—Manindra Mohan Bose, Published by the University of Calcutta, 1930.

The Religions of India—A. Barth, Translation by Rev. J. Wood, London, Trubner & Co., Ludgate Hill, 1882.

The Religions of India—A. P. Karmarkar, Mira Publishing House, Lonavla (India), 1950.

The Sikh Religion—Max Arthur Macauliffe, in six volumes, Vols. I, III, IV, V, VI, Oxford, at the Clarendon Press, 1909.

The Serpent Power—Sir John Woodroffe, Ganesh & Co., Madras, 1953.

Vaishnavism, Saivism and Minor Religious Systems —Sir. R. G. Bhandarkar, Stresburg, Verlog Vow Karl J. Trubner, 1913.

Research Journals

Indian Historical Quarterly—Vol. I, 1925, Vol. XVI, 1940.

Journal of the Department of Letter, Vol. XVII, 1928, Vol. XXVIII, 1935, University of Calcutta, Calcutta.

Journal of Royal Asiatic Society, 1922, Vol. XIII.

Journal of Royal Asiatic Society of Great Britain, 1918.

Proceedings and Transactions of the All India Oriental Conference, Twelth Session, B.H.U. 1943,-1944, Vol. II, (Published in 1946); Third Session at Madras, 1924.

Sarasvati Bhavan Studies, Vol. II, 1923, Vol. VI, 1927.

The Vishwa Bharati Quarterly—New Series, Vol. I Part IV, 1935-1936, 1952-53, Vol. XVIII and Vol. XIX, 1953-54.

University of Allahabad Studies, 1951, Part II, (Prose Section) Introduction to the Folk Literature of Mithila by Jayakanta Misra.

हिन्दी

आदि श्री गुरु ग्रंथ साहिब जी के धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्त—श्री जयराम मिश्र, आगरा विश्वविद्यालय, १९५५ में प्रस्तुत (अप्रकाशित स्वीकृत शोध प्रबंध के रूप में गृहीत, अब प्रकाशित)

उत्तरी भारत की संत परम्परा—पं० परशुराम चतुर्वेदी, भारती भंडार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, संवत् २००८ वि०।

औरंगजेब—सर यदुनाथ सरकार, प्रकाशक, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बंबई, १९५०।

कबीर—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रकाशक, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १९५०।

कबीर का रहस्यवाद—रामकुमार वर्मा, प्रयाग, गाँधी हिन्दी पुस्तक भंडार, मार्च, १९३१।

कबीर ग्रंथावली—सं० श्यामसुन्दरदास, नागरीप्रचारणी सभा, काशी, चतुर्थ संस्करण, सं० २००८।

कबीरपदावली—श्री रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, २००१।

कबीर वचनावली—सं० पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय, काशी नागरीप्रचारिणी सभा, १९८६।

कबीर साहब का बीजक—सं० हंसदास शास्त्री, महाबीरप्रसाद, कबीर ग्रंथ प्रकाशन समिति, बाराबंकी, सं० २००७।

कवीर साहित्य का अध्ययन—श्री पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव, प्रकाशक—साहित्य रत्नमाला कार्यालय, २० धर्मकूप, बनारस, सं० २००८।

कवीर साहित्य की परख—पं० परशुराम चतुर्वेदी, भारती भंडार, प्रयाग सं० २०११।

काव्यांग कौमुदी, तृतीय कला—पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, प्रकाशक—नंदकिशोर ब्रदर्स, वाराणसी, २०१४।

कोषोत्सव स्मारक संग्रह—सं० महा० पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा, प्रकाशक काशी नागरीप्रचारिणी सभा, सं० १९८५।

गोरखबानी (जोगेसुरी बानी, भाग १)—संपादक और टीकाकार—डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, द्वितीय संस्करण, २००३ वि०।

जायसी ग्रंथावली—सं० पं० रामचन्द्र शुक्ल, ना० प्र० सभा, काशी, पंचम संस्करण, २००८।

ज्ञानस्वरोदय—सद्गुरु कबीर साहब का, संपादक—दीवान श्री बालकदास जी गुरु श्री बल्लभदास जी साहब, प्रकाशक—कबीर धर्मवर्धक कार्यालय, ठि० सीयाबाग, कबीर साहब का मंदिर, बड़ौदा (गुजरात) सन् १९२८।

ज्ञानेश्वरी—अनुवादक श्री भगाड़े, अनु० पं० रघुनाथ माधव भगाड़े, इंडियन प्रेस, प्रयाग, १९५५।

तसव्वुफ अथवा सूफीमत—पं० चंद्रबली पांडेय, सरस्वती मंदिर, जतनबर, बनारस, १९४८, द्वितीय संस्करण।

तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य—नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, २०१५ वि०।

दरिया ग्रंथावली—संत कवि दरिया, एक अनुशीलन (प्रथम ग्रंथ)—डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, सं० २०११, सन् १९५४ ई०।

दादूदयाल की बानी—प्रथम एवं द्वितीय भाग, इलाहाबाद, बेल्वेडियर स्टीम प्रिंटिंग वर्क्स, बम्बई, सन् १९१४, प्रथम संस्करण।

दोहाकोश—सिद्ध सरहपाद कृत, सं० राहुल सांकृत्यायन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९५७ ई०।

नाथपंथ के हिन्दी कवि— एस० पी० चन्दोला (अप्रकाशित स्वीकृत शोध प्रबंध), जनवरी, ११५६, लखनऊ विश्वविद्यालय।

नाथ संप्रदाय—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तरप्रदेश, इलाहाबाद, १९५०।

नाथसिद्धों की बानियाँ—प्र० सं० रुद्र काशिकेय, सं० डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, काशी नागरीप्रचारिणी सभा, प्रथम संस्करण, सं० २०१४।

पदमावत—संजीवनी व्याख्या सहित—वासुदेवशरण अग्रवाल, प्रकाशक—साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी, प्रथम संस्करण।

पुरातत्व निबंधावली—राहुल सांकृत्यायन, इंडियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद, १९३७ ।

प्राणसंगली—(प्रथम भाग) श्री गुरु नानक साहब रचित, बेल्वेडियर प्रेस, इलाहाबाद, १९१२, द्वितीय भाग, १९१३ ।

बीजक—टीकाकार विचारदास शास्त्री, प्रकाशक—रामनारायणलाल, इलाहाबाद १९५४ तीसरी बार ।

बौद्ध धर्म दर्शन—आचार्य नरेन्द्रदेव, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना १९५७ ।

भागवत संप्रदाय—पं० बलदेव उपाध्याय, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, वि० सं २०१० ।

भारतवर्ष में जातिभेद—आचार्य क्षितिमोहन सेन, साहित्यभवन लिमिटेड, इलाहाबाद, नवीन संस्करण. १९५२ ई० ।

भारतीय मध्ययुग के संधिकाल का मनन—गोरखनाथ—श्री टी० एन वी० आचार्य, आगरा विश्वविद्यालय में १९४८ ई० में प्रस्तुत अप्रकाशित स्वीकृत शोध प्रबंध ।

मकरंद (निबंधसंग्रह)—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, अवध पब्लिशिंग हाउस, पानदरीबा, लखनऊ, (प्रकाशन वर्ष निर्दिष्ट नहीं) ।

मराठी संतों के सामाजिक कार्य—डा० विष्णु भिकाजी कोलते, सोल एजेण्ट-हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई-४, पहली बार, १९५४ ।

मिश्रबंधुविनोद—मिश्रबंधु, प्रथमसंस्करण ।

योगप्रवाह—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, संपादक-संपूर्णानंद, प्रकाशक श्री काशी विद्यापीठ, बनारस, २००३, प्रथम संस्करण ।

योगिसंप्रदायाविष्कृति—चन्द्रनाथ योगी, अहमदाबाद, १९२४ ।

रामचरितमानस—गीताप्रेस, गोरखपुर, द्वितीय संस्करण, सं० १९९९ ।

रामानंद की हिन्दी रचनाएँ—प्रधान संपादक डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, सं० स्व० डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०१२ वि० ।

रामानंद संप्रदाय और हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव—श्री बदरीनारायण श्रीवास्तव, आगरा विश्वविद्यालय, (अप्रकाशित स्वीकृत शोधप्रबंध), १९५४ में प्रस्तुत।

विचार विमर्श—पं० चन्द्रबली पांडेय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं० २००८।

श्री तुकाराम चरित—श्री लक्ष्मण रामचंद्र पांगारकर (अनुवाद), गीताप्रेस गोरखपुर, तृतीय संस्करण।

श्री भक्तमाल—गोस्वामी श्री नाभा जी कृत, श्री प्रियादास जी प्रणीत टीका कवित्त, श्री अयोध्यानिवासी श्री सीतारामशरणप्रसाद 'रूपकला' विरचित भक्तिसुधास्वाद तिलक सहित, लखनऊ, नवलकिशोर प्रेस में मुद्रित, सन् १९२६ (१९२५ ई०?)।

श्री भक्तमाल—नाभादास विरचित, प्रियादास कृत भक्तिरसबोधिनी टीका सहित, चौथी आवृत्ति, श्री वल्लभ हरिप्रसाद, बम्बई द्वारा प्रकाशित सन् १९२४।

संत कबीर—डा० रामकुमार वर्मा, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, १९५७ ई०।

संत काव्य—पं० परशुराम चतुर्वेदी, किताब महल, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९५२ ई०।

संस्कृति संगम—आचार्य क्षितिमोहन सेन, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, द्वितीयावृत्ति, १९५२ ई०।

सारनाथ—वासुदेवशरण अग्रवाल, भारतीय पुरातत्व विभाग, नई दिल्ली, १९५८।

सिद्ध साहित्य—डा० धर्मवीर भारती, किताब महल, इलाहाबाद, १९५५।

सुन्दर ग्रंथावली—प्रथम खंड, पं० हरिनारायण शर्मा, प्रकाशक—राजस्थान रिसर्च सोसायटी, कलकत्ता, १९६३।

सुन्दर सार—सं० श्यामसुन्दरदास, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, संग्रहकर्ता पुरोहित हरिनारायण बी० ए०। द्वितीय संस्करण।

सूफी काव्य संग्रह—सं० पं० परशुराम चतुर्वेदी, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग, प्रथम संस्करण।

सूफीमत साधना और साहित्य—श्री रामपूजन तिवारी, प्रकाशक—ज्ञानमंडल लिमिटेड, सं० २०११।

सूरदास—पं० रामचन्द्र शुक्ल, सं० पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, सरस्वती मंदिर, जतनबर, बनारस, चतुर्थ परिवर्द्धित संस्करण, २००५ वि०।

स्वामी दादूदयाल की वाणी (अंगबंधू सटीक)—सं० चन्द्रिकाप्रसाद त्रिपाठी, वैदिक मंत्रालय, अजमेर, सन् १९०३।

हिन्दी और मराठी का संतकाव्य—प्रभाकर माचवे (अप्रकाशित स्वीकृत शोध प्रबंध) आगरा विश्वविद्यालय।

हिन्दी काव्य में निर्गुण संप्रदाय—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, अनुवादक श्री परशुराम चतुर्वेदी, संपादक भगीरथ मिश्र, अवध पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ २००७।

हिन्दी को मराठी संतों की देन—आचार्य विनयमोहन शर्मा, प्रका० बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, मार्च १९५७।

हिन्दी विश्वकोश—संपादक श्री नगेन्द्रनाथ वसु, तृतीय भाग, प्रकाशक नगेन्द्रनाथ वसु और विश्वनाथ वसु, ९ विश्वकोष लेन, बागबाजार, कलकत्ता, द्वितीय भाग, सन् १९१७। तृतीय भाग १९१९।

हिन्दी साहित्य का आदिकाल—आचार्य डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९५२।

हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा, रामनारायण लाल, प्रयाग, १९५४।

हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, प्रवर्द्धित संस्करण, २००३।

हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास—प्रथम भाग, सं० राजबली पांडेय, काशी, नागरीप्रचारिणी सभा, सं० २०१४।

हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई १९५०।

हिन्दी पत्रिकाएँ

कल्याण (योगांक), वर्ष १०, अंक १, गीता प्रेस, गोरखपुर।

नागरी प्रचारिणी पत्रिका (त्रैमासिक), वैशाख १९९७, ओरियंटल कांफरेंस के हिन्दी विभागाध्यक्ष डा० बड़थ्वाल का 'हिन्दी साहित्य की निरंजन धारा' शीर्षक भाषण, बाद में मकरंद नामक निबंध संग्रह में भी प्रकाशित; १९९९ में डा० बड़थ्वाल का 'सुरति-निरति' शीर्षक लेख, भाग १४, अंक ४, भाग ४।

विश्वभारती पत्रिका—सं० २००६, वैशाख-आषाढ़, खंड ६, अंक २, अप्रिल-जून, १९४७, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखित 'कबीर के मूल वचन' शीर्षक लेख।

वीणा—माघ, सं० १९९४, सन् १९३८, वर्ष ११, अंक ४।

अनुक्रमणिका

शुद्धि-पत्र

पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२२	चमत्कार	चमत्कारी
२५	निकाला है	निकाले हैं
२२	बौद्धगान दोहओ	बौद्ध गान ओ दोहा
११	प्रमाणित	प्रामाणिक
४	भमिका	भूमिका
२८	बानिया	बानियाँ
६	हस्तिनापुर को	हस्तिनापुर का
१२-१३	शताब्दी तक	शताब्दी से १६वीं शताब्दी तक
२६	थी	थीं
२७	अतिवर्णाश्रमौ	अतिवर्णाश्रमी
२७	गौरक्षनाथ	गोरक्षनाथ
१	महार्थमजरी	महार्थमंजरी
१५	ह	है
२३	ऐकान्तिक	एकान्तिक
२	,,	,,
४	,,	,,
१२	भागवत्	भागवत
२२	कैंकर्यभावी	कैंकर्यभाविक
२४	विज्ञान	विज्ञात
१९	पंचरात्र	पांचरात्र
१३	अहिबुध्न्य	अहिर्बुध्न्य
१५	अहिर्बध्न्य	अहिर्बुध्न्य
२०	पंचरात्र	पांचरात्र
१३	ह	है
२४	भगवान् की	भगवान् के
१२	नमस्मरण	नामस्मरण
१६	जह	जहाँ
२	य	ये
५	वहिन	बह्नि

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२३१	२४	यम	प्रथम में यम
,,	२९	धर्ममेधा	धर्ममेघा
२३२	२७	गरुकृपा	गुरुकृपा
२७६	५	नियय	नियम
२९१	२१	वस्तुओं	वायु
२९९	२३	समरसीकरण	समरसीकरण को
३१६	१३	ब्रह्य	ब्रह्म
३२१	१	स्वीकृत	स्वीकृति
,,	२४	उसके	उसको
३३२	२२	आध्यात्मविद्या	अध्यात्मविद्या
३३४	१२	आध्यात्मसिद्धि	अध्यात्मसिद्धि
३३७	२३	इसके	इनके
३४१	१०	कुलेगार्ग	कुलमार्ग
३५२	२	अन्त्स्साधना	अन्तस्साधना
२५७	३	आचानक	अचानक
३७५	११ और १२ के बीच में	—	११—आसन
३७९	१६ और १७ के बीच में	—	१३—नाड़ीसाधन
३८५	२९ के ऊपर	—	१४—नादानुसंधान
३८७	१०	अवश्व	अवश्य
,,	२०	वारूणी	वारुणी
३९९	२६	औंर्ध	औंधे
४०९	४	जहाँ	जहाँ तक
४१२	२५	सतावान्	सत्तावान्
४१९	७	पथ्वी	पृथ्वी
४२१	३१	साध	साधन
४२२	१०	बह्याचार	बाह्याचार
४२६	१९	अथ	अर्थ
४२९	१	द्वारा	और

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४३४	१२	ज्योतिर्ध्यान	ज्योतिर्ध्यान
४५३	२७	कंबीर	कबीर
४५५	१२	योगमुक्तिज्ञान	योगयुक्तिज्ञान
४६०	६	मायायुक्त	मायामुक्त
४६१	१	परमतत्व के	परमतत्व के साथ
४६४	१२	निश्चित	निश्चित
४७३	१५	चक्र	चन्द्र
४७५	१	गुफा	गुदा
४७६	१२	सहस्रा	सहस्रार
४९९	१२	सामने	सामने की गई
५०२	६	उलटबाँसी	उलटवाँसी
५०५	१०	प्राणायाम	नाड़ीसाधन
५१३	२२	बे	वे
५१७	१	व्यक्तशक्ति	व्यक्तिशक्ति
५५१	२४	इस	इस प्रकार
५५३	२०	आयोग्य	अयोग्य
५७०	२७	पञ्चरात्र	पाञ्चरात्र
५७९	६	जीवमुक्ति	जीवन्मुक्ति
५८२	२८	स्थल	स्थूल
५८३	१२	प्रकार	प्रकार के
५८४	२०	वे	×
५८६	३१	व्यवस्थाएँ	व्याख्याएँ
५९७	१६	उलटबाँसियों	उलटवाँसियों
५९९	८	छप्पै	छप्पय
६००	२२	काव्यप्रवृति	काव्यप्रवृत्ति
६०१	२५	करने	करने की
६०२	४	अव्यय	अवयव
६०७	२१	किया	दिया
"	२३	दिया	किया
६०८	२२	मारवाणी	मारवाड़ी
६१५	१७	वैष्णव और शैव	वैष्णव शैव

—•—